स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी
सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

विक्रय कार्यालय : ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

•

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० • विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी १९४४



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी श्री शान्तिप्रसाद जैन

ṢAḌDARŚANASAMUCCAYA

of

HARIBHADRA SŪRI

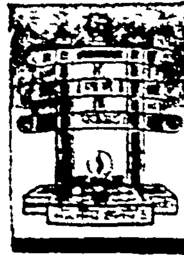
[With the Commentaries of Tarka-rahasya-dīpikā of Guṇaratnasūri and Laghuvṛtti of Somatilaka Sūri and an Avacūrṇi]

Edited by

[The Late] **Dr. Mahendra Kumar Jain,** Nyāyācārya, M. A , Ph. D.

With the Introduction of

Pt Dalasukh Malavaniya



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṀVATA 2496 : V. SAṀVATA 2026 : 1969 A D

First Edition : Price Rs 22/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL,
PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAMṢA, HINDI,
KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED
IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES
AND
CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS,
STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR
JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED



General Editors

Dr Hiralal Jain, M. A., D. Litt.

Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.



Bharatiya Jnanapitha

Head office 9 Alipore Park Place, Calcutta-27
Publication office Durgakund Road, Varanasi-5
Sales office 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6



Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam, 2470, Vikrama Sam. 2000 18th Febr 1944

GENERAL EDITORIAL

Though Haribhadra (c 750 A D) has left behind very little of autobiographical details, the vast range of his works, both in Sanskrit and Prākrit, embracing almost an encyclopaedic vista of subjects, holds out an outstanding personality in Indian literature (H JACOBI *Samarāiccakahā*, Intro., Bibliotheca Indica, No 169, Calcutta 1926, SUKHALALAJI SANGHAVI *Samadarśi Ācārya Haribhadra*, Rajasthan Oriental Series, No 68, Jodhpur 1963). Though his contributions pertain mainly to Jainism, his equipment in the field of learning was extensive He is the first Sanskrit commentator of the Ardhamāgadhī canonical texts Secondly, his commentary on the *Nyāyapravcśa* of Dinnāga clearly shows that his erudition was not confined to the limits of his religious fold alone Thirdly, he shows great mastery over Brahmanic mythology and schools of philosophy as is seen from his *Dhūrtākhyāna* and *Śāstravārtāsamuccaya* Fourthly, his Prakaranas show how he was bringing extensive scholarship and fresh mind to bear upon the exposition of Jaina doctrines and even to enrich and supplement them as in the case of his discourses on Yoga Fifthly, his was really a master mind, essentially tuned to the spirit of Anekānta, which has explicitly expounded many Jaina tenets not in isolation but in comparison with, and if necessary by refuting, other doctrines in a dispassionate manner Sixthly, he is an adept story teller and a mature religious Teacher Lastly, he is almost the pioneer in Indian literature to give a compendium of Six Darśanas in his *Saddarśanasamuccaya*

Religious philosophers in India, generally speaking, studied other systems than their own more with a view to criticising them than to understanding them for getting a comparative perspective in the pursuit of Truth. Haribhadra is perhaps a notable exception His *Saddarśanasamuccaya* is the earliest known compendium giving authentic details about Six Darśanas, namely, Bauddha, Naiyāyika, Sāṃkhya, Jaina, Vaiśesika, and Jaiminīya His enumeration differs from the orthodox, and it is really comprehensive as an overall view of Indian religio-philosophical speculation

The idea of writing compendiums in this manner has its value, and Pt. DALASUKH MALAVANIYA has shown in his Hindi Introduction how many such works have been subsequently written

Haribhadra's *Saddarśanasamuccaya* got a worthy commentator in Gunaratnasūri, and his commentary, *Tarkarahasyadīpikā*, is quite exhaustive Some of the details which we get in his exposition have something characteristic about them. He flourished in A D 1343 to 1418 The necessary details about him and his works are given in the Hindi Introduction by Pt MALAVANIYA. Besides Gunaratna's *Tarkarahasyadīpikā*, the *Laghuvṛtti* of Somatilaka and an *Avacūrṇi* of an anonymous author are included in the present edition

The *Saddarśanasamuccaya* and *Tarkarahasyadīpikā* have caught the attention of Oriental scholars since long, because Haribhadra's treatise is a good manual of

कण्ट्रीब्यूशन टुवर्ड्स एन इण्डेक्स टु दि बिब्लियोग्राफी आफ द इण्डियन फिलासफीकल सिस्टम्स, कलकत्ता १८५९ में किया है। उसके बाद एफ० एल० पुलेने हरिभद्रके विषयमें कुछ सूचनाएँ संगृहीत कीं तथा मूल और टीकाका अध्ययन जारी रखा। (जिओर्नाल डेला सोसाइटिआ एशियाटिका इटालियाना वाल्युम १, पृष्ठ ४०-७३, वाल्युम ८, पृष्ठ १५९-१७७, वाल्युम ९, पृष्ठ १-४२, वाल्युम ११, पृष्ठ २५५-३६, फ्लोरेन्स १८८७ १८९५-९६-९८)। एल० सुआलीने इसके एक भागका इटालियन अनुवाद एशियाटिक सोसाइटी आफ इटलीके जर्नल भाग १७, पृ० २४२-७१ फ्लोरेन्स १९०४ में प्रस्तुत किया तथा बादमें उन्होंने गुणरत्नकृत टीकाके साथ मूलका सम्पादन बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता १९०५ में किया।

कुछ समय पूर्व प्रो० के० एस० मूर्तिने इसका तेलुगुके साथ अंग्रेजीमें अनुवाद किया है और 'ए कम्पेण्डियम आफ सिक्स फिलासफीज'के नामसे ओरियण्टल पब्लिशिंग हाउस, तेनाली १९५७ में प्रकाशित किया है।

स्वर्गीय पण्डित महेन्द्रकुमार उन इनेगिने नैसर्गिक प्रतिभाशाली विद्वानोंमें-से एक थे, जिन्होंने हमें जैन न्यायके अनेक ग्रन्थोंके आदर्श संस्करण दिये। जैसे न्यायविनिश्चयविवरण भाग १-२, राजवार्तिक भाग १-२ और सिद्धिविनिश्चय भाग १-२ जो इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हैं। उनने सिंघी जैन सीरिज, बम्बई १९३९ के लिए अकलंकग्रन्थत्रयम् तथा माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई १९४१ के लिए न्यायकुमुदचन्द्रका सम्पादन किया। और निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४१ के लिए प्रमेयकमलमार्तण्डका सम्पादन किया। ये संस्करण उनकी दुरूह ग्रन्थोंकी तलस्पर्शी विद्वत्ताको व्यक्त करते हैं और उन्होंने प० सुखलालजीकी प्रणालीसे तुलनात्मक टिप्पणोंकी जो परम्परा उद्भावित की वह उनके समस्त भारतीय ज्ञानके विशाल अध्ययनकी साक्षी है। उनके दुःखद अवसानके समाचार सुनकर प्रो० डॉ० ई० फ्राउवाल्नर, आस्ट्रिया, ने उनके विषयमें मुझे लिखा था (उनका पत्र ७-३-१९६०) 'पण्डित महेन्द्रकुमारजीका निधन जैन विद्याके लिए एक बहुत बड़ी क्षति है। वे आश्चर्यकारी विद्वत्ताके धनी एक अच्छे पण्डित थे।'

स्व० प० महेन्द्रकुमार जी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी अनुवाद सहित षड्दर्शनसमुच्चयका गुणरत्न तथा सोमतिलककी टीकाओं तथा अज्ञात कर्तृक अवचूर्णिके साथ यह संस्करण प्रकाशित करते हुए ग्रन्थमाला सम्पादकोंको हार्दिक प्रसन्नता है। पण्डित दलसुख मालवणियाने पण्डित महेन्द्रकुमारजी की सामग्रीका प्रेसके लिए पुनरवलोकन किया तथा वर्तमान रूपमें उसके प्रकाशनके लिए महती सहायता की। उन्होंने हिन्दीमें विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना भी लिखी है। यह सन्तोषका विषय है कि हम दोनोंके समान मित्र पण्डित महेन्द्रकुमार-जी का यह ग्रन्थ समुचित रूपमें उस ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहा है जिसके प्रारम्भिक विकासकी शुरुआत स्वयं उन्हींके हाथों हुई थी।

हम श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमाजीके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं जो इस ग्रन्थमालाकी प्रगतिमें गहरी रुचि लेते तथा ऐसे ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिए उदारतापूर्वक सहायता करते हैं। हम प० दलसुख मालवणियाके उदार सक्रिय सहयोगके लिए आभारी हैं।

हम श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनको सोत्साह मार्गदर्शनके लिए धन्यवाद देते हैं तथा डॉ० गोकुलचन्द्र जैन-को भी जिन्होंने एकसे अधिक तरहसे इस प्रकाशनमें सहयोग किया, विशेष रूपसे अनुक्रमणिका आदि तैयार करनेमें।

—हीरालाल जैन
—आ० ने० उपाध्ये

कोल्हापुर
१० फरवरी १९७०

प्रस्तावना

पं० दलसुख मालवणिया
डायरेक्टर, ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद

प्रास्ताविक

षड्दर्शन समुच्चय मूल और गुणरत्नकृत टीकाका अनुवाद श्री पं० महेन्द्रकुमारजी ने ता० २५-६-४० चार बजे पूरा किया था ऐसी सूचना उनकी पाडुलिपिमे मिलती है। और टिप्पण लिखनेका कार्य उन्होने ई० १९५९ मे अपनी मृत्यु (ई० १९५९ जून) के कुछ मास पूर्व किया ऐसा डॉ० गोकुलचन्द्रजीकी सूचनामे प्रतीत होता है। टिप्पणीके लिखनेमे डॉ० गोकुलचन्द्रजीने सहायता की थी ऐसा भी उनसे मालूम हुआ है। अनुवाद करके उन्होने छोड रखा था और प्रकाशककी तलाश थी यह तो मै जानता हूँ। किन्तु खेद इस बातका है कि उनके जीवनकालमे इस ग्रन्थको वे मुद्रित रूपमे देख नही सके। और इस कार्यको मित्रकृत्यके रूपमे करनेमें दु खमिश्रित सन्तोषका अनुभव मैं कर रहा हूँ।

उनकी जो सामग्री मुझे मिली उसे ठीक करके, यत्र-तत्र संशोधित करके मैंने प्रेस-योग्य बना दी थी। कुछ पृष्ठोके प्रूफ भी मैंने देखे और पूरे ग्रन्थके प्रूफ मुद्रण-कार्य शीघ्र हो इस दृष्टिसे मेरे पास भेजे नही गये। आनन्द इस बातका है कि मेरे परम मित्रका यह कार्य पूरा हो गया।

प्रस्तुत ग्रन्थमे परिशिष्टरूपसे मणिभद्रकृत संक्षिप्त टीका और अज्ञातकर्तृक अवचूरि भी मुद्रित की गयी है। उनका संशोधन भी पं० महेन्द्रकुमारजीने किया था। मणिभद्रकृत टीका वस्तुतः सोमतिलकसूरिकी रचना है यह स्पष्टीकरण करना जरूरी है। इसकी चर्चा आगे की गयी है।

उन्होंने इस ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखी थी कि नहीं यह पता नहीं लगता। जो सामग्री मेरे समक्ष आयी उसमें तो उसकी कोई सूचना है नहीं। अतएव मैंने प्रस्तावनाके रूपमें थोड़ा लिख देना उचित समझा है।

ज्ञानपीठके संचालकोंने मित्रकृत्य करनेका यह शुभ अवसर दिया एतदर्थ मैं ग्रन्थमालाके संपादकोंका और ज्ञानपीठके संचालकोंका आभारी हूँ।

षड्दर्शन

दर्शनोंकी छह संख्या कब निश्चित हुई उसका इतिहासमें पक्का पता नहीं लगता। विद्यास्थानोंकी गिनतीके प्रसंगमें दर्शनों या तर्कोंकी संख्याकी चर्चा होने लगी थी इतना ही कहा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१-२) में अध्ययनके अनेक विषयोंकी गिनतीमें वाकोवाक्यका उल्लेख मिलता है। उसका अर्थ है वाद-प्रतिवाद। परन्तु[1] अर्थशास्त्रमें आन्वीक्षिकी आदि चार ही विद्याओंका उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकी विद्यामें भी सांख्य, योग और लोकायतोंका उल्लेख है तथा आन्वीक्षिकीके विषयमें कहा है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

स्मृतियोंमें याज्ञवल्क्यस्मृति (१-३) में १४ विद्यास्थानोंको गिनाया है, उनमें केवल न्याय और मीमांसाका उल्लेख है। पुराणोंमें भी जहाँ विद्याओंका उल्लेख है वहाँ भी प्रायः याज्ञवल्क्यस्मृतिका अनुसरण है[2]। किन्तु न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने तो न्यायशास्त्रको ही आन्वीक्षिकी विद्या माना है। उनका कहना है कि "सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥"

—न्यायभाष्य १ १ १

वात्स्यायन ने ठीक ही कहा है क्योंकि त्रयी हो या वार्ता या दण्डनीति—इन सभी विद्याओंके विषयमें आन्वीक्षिकी ही निर्णायक है—ऐसा कौटिल्यका मत है—क्योंकि आन्वीक्षिकी हीके द्वारा अर्थात् हेतुप्रयोगद्वारा तीनों विद्याओंका अन्तिम ध्येय सिद्ध होता है। सुखके अवसरपर या आपत्तिके अवसरमें बुद्धिको स्थिर रखनेवाली आन्वीक्षिकी ही है। प्रज्ञामें, वचनमें और क्रियामें वैशारद्य आन्वीक्षिकीके कारण ही आता है। अतएव आन्वीक्षिकी सर्वविद्याओंकी विद्या है। सब विद्याओंके लिए प्रदीप है।[3] सांख्य हो या योग या लोकायत—ये सभी आन्वीक्षिकीका आश्रय लेकर ही अपनी बातको सिद्ध करते थे अतएव कौटिल्यने भले उन तीनोंका नाम आन्वीक्षिकीमें गिनाया किन्तु उन तीनोंका आधार आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या ही है। वे प्रमाण, न्याय या तर्कका आश्रय लेकर ही अपनी बातको सिद्ध कर सकते हैं ऐसा अभिमत न्यायभाष्यकारका है। इस परसे हम कह सकते हैं कि कौटिल्यके समय तक भले ही न्यायशास्त्रको पृथक् दर्शनके रूपमें स्थान मिला नहीं था किन्तु आन्वीक्षिकीके रूपमें उसकी सत्ता माननी चाहिए। न्यायशास्त्रमें जब वैशेषिक दर्शनको समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओंका आधार रूप न रहकर एक स्वतन्त्र दर्शन बन गया। यही

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१-२ (कांगले)। २ हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भा० ५, पृ० ८२०, ९२६, ११५२। ३ सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।१०। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्तायां नयापनयौ दण्डनीत्यां बलाबलौ चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति।११।—कौटिलीय अर्थशास्त्र १.२।

कारण है कि पुराणो और स्मृतियोमे न्याय और मीमासाको पृथक् गिनाया गया। इस प्रकार पुराण कालमे न्याय, साख्य, योग, मीमासा और लोकायत—ये दर्शन पृथक् सिद्ध होते है। स्मृति और पुराणोमे विद्या-स्थानोमे साख्य-योग-लोकायतको स्थान मिलना सम्भव नही था क्योकि उनका आधार वेद नही था। किन्तु महाभारत और गीतासे स्पष्ट है कि दर्शनोमे साख्य-योगका स्थान पूरी तरहसे जम चुका था। और वे अवैदिक नही, किन्तु वैदिक दर्शनमे शामिल कर लिये गये थे। इस प्रकार ईसाकी प्रारम्भकी शताब्दियोमे न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, मीमासा—ये दर्शन वैदिकोमे पृथक्-पृथक् रूपसे अपना स्थान जमा चुके थे। उनके विरोधमे जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तीन अवैदिक दर्शन भी ईसा पूर्व कालसे वैदिक दार्शनिकोके लिए समस्या रूप बने हुए थे। मीमासामे कर्म और ज्ञानके प्राधान्यको लेकर दो भेद हो गये थे। अतएव वैदिकोमे षट्तर्क या षड्दर्शनकी स्थापना हो गयी थी जिसमे न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग और पूर्व और उत्तर मीमासा—ये प्राधान्य रखते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थमे षड्दर्शनोका विवरण है किन्तु दर्शनोकी छह सख्या और उस छह संख्यामे भी किन-किन दर्शनोका समावेश है—इस विषयमे ऐकमत्य नही दीखता। वैदिक दर्शनोके अनुयायी जब छह दर्शनोकी चर्चा करते है तब वे छह दर्शनोमे केवल वैदिक दर्शनोका ही समावेश करते हैं। किन्तु प्रस्तुत षड्दर्शनसमुच्चयमे वैदिक-अवैदिक सब मिलाकर छह सख्या है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दर्शनोको छह गिननेकी प्रक्रिया भी ईसवी सन्के प्रारम्भकी कई शताब्दियोके बाद ही शुरू हुई है। वाचस्पति मिश्रने एक वैशेषिकदर्शनको छोडकर न्याय, मीमासा—पूर्व और उत्तर, साख्य और योग—इन पाँचोकी व्याख्या की। इससे यह तो पता लगता है कि उनके समय तक छहो वैदिक दर्शन प्रतिष्ठित हो चुके थे। उन्होने वैशेषिक दर्शनपर पृथक् लिखना इसलिए जरूरी नही समझा कि उस दर्शनके तत्त्वोका विवेचन न्यायमे हो ही जाता है। वाचस्पति एक अपवादरूप वैदिक लेखक है। इनके पहले किसी एक वैदिक लेखकने तत्तद्दर्शनोके ग्रन्थोका समर्थन तत्तद्दर्शनोकी मान्यताके अनुसार नही किया केवल वाचस्पतिने यह नया मार्ग अपनाया और जिस दर्शनपर लिखने बैठे तो उसी दर्शनके होकर लिखा। आचार्य हरिभद्र और वाचस्पतिमे यह अन्तर है कि वाचस्पतिने टीकाकारके रूपमे या स्वतन्त्ररूपसे विरोधी दर्शनका निराकरण करके तत् तद्दर्शनोका समर्थन किया है। जब कि हरिभद्रने मात्र परिचय दिया है। यह भी अन्तर है कि वाचस्पतिने दर्शनोपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे किन्तु हरिभद्रने एक ही ग्रन्थमे छहो दर्शनोका परिचय दिया। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि वाचस्पतिके दर्शनोमे चार्वाक दर्शनका समर्थन नही है और न अन्य अवैदिक जैन बौद्धका। जब कि हरिभद्रने वैदिक-अवैदिक सभी दर्शनोका अपने ग्रन्थमे समावेश परिचयके लिए कर लिया है। आचार्य हरिभद्रने बौद्ध, नैयायिक,साख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह दर्शनोका समावेश षड्दर्शनसमुच्चयमे किया है।

दार्शनिकोमे प्रथम तो यह प्रवृत्ति शुरू हुई कि अपने विरोधी मतोका निराकरण करना। किन्तु आगे चलकर वैदिकोमें यह प्रवृत्ति भी देखी जाती है कि सच्चे अर्थमे वेदके अनुयायी केवल वे स्वय है और उनका ही दर्शन वेदका अनुयायी है, अन्य दर्शन वेदकी दुहाई तो देते है किन्तु वस्तुत. वेद और उसके मतसे उनका कोई सम्बन्ध नही। जब स्वय वैदिक दर्शनोमें ही पारस्परिक ऐसा विवाद हो तब अवैदिक दर्शनोका तो ये वैदिक दर्शन तिरस्कार ही करे यह स्वाभाविक है। इस भूमिका मे हम देखते है कि न्यायमजरीकार जयन्त केवल वैदिक दर्शनोको ही तर्कमे या न्यायमे समाविष्ट करते है और बौद्धादि अन्य दर्शनोका बहिष्कार घोषित करते है[1]। यह प्रवृत्ति उनसे पहलेके [2]कुमारिलमे भी स्पष्टरूपसे विद्यमान हैं। और [3]शकराचार्य भी उसका अनुकरण करते है। विशेषता यह है कि वे साख्य-योग-बौद्ध, वैशेषिक, जैन और न्यायदर्शनको तथा शैव और वैष्णव दर्शनोको भी वेद विरोधी मानते है।

---

१. न्यायमजरी पृ० ४। २. तन्त्रवार्तिक १,३,४। हिस्ट्री ऑफ् धर्मशास्त्र भाग० ५, पृ० ९२६ मे उद्धरण है। अन्य उद्धरण उसीमे पृ० १००९,-१२६७ मे है। ३ ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य २.१,१, २,१ ३,२,१,११-१२, २,२,१-४४

षड्दर्शनसमुच्चयकी रचनाभूमिका

ईसाकी तीसरी शताब्दी तक भारतीय चिन्तनधारा उन्मुक्त रूपसे बह रही थी। अनेक आश्रमो और प्रतिष्ठानोमे अनेक ऋषि-मुनि और चिन्तक अपने-अपने विचार शिष्यो और जिज्ञासुके समक्ष रख रहे थे। उन विचारोकी गणना भी नही। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीरके बाद यह स्पष्ट हुआ कि वैदिक और अवैदिक ऐसी दो धाराएँ मुख्य है। अवैदिकोमें भी गोशालक आदि कई विचारक थे उनमेसे बौद्ध, जैन और चार्वाक ऐसे तीन स्वतन्त्र दर्शनरूपसे स्थिर हुए। वैदिकोमे भी कई शाखाएँ स्पष्ट हुई। और सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक और मीमासा (कर्ममीमासा, ज्ञानमीमासा अथवा पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा) आदि दर्शन स्थिर हुए। उनमेसे सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक प्रारम्भमे अवैदिक दर्शन थे किन्तु बादमे वैदिक हो गये।

वस्तुत देखा जाय तो विविध दर्शन एक ही तत्त्वको अनेक रूपसे निरूपित करते थे। अतएव जैसा भी तत्त्व हो किन्तु उसके निरूपणके ये अनेक दृष्टिबिन्दु थे—यह स्पष्ट है। किन्तु ये दार्शनिक अपने ही मतको दृढ करनेमे लगे हुए थे और अन्य मतोके निराकरणमे तत्पर थे। अत उन दार्शनिकोसे यह आशा नही की जा सकती थी कि वे अनेक दृष्टियोसे एक ही तत्त्वका निरूपण करें। नैयायिकादि सभी दर्शन वस्तु तत्त्वकी एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चले थे और उसी ओर उनका आग्रह होनेसे तत्-तत् दर्शनकी सृष्टि हो गयी थी। तत्-तत् दर्शनके उस परिष्कृत रूपसे बाहर जाना उनके लिए सम्भव नही था।

जैन दार्शनिकोके विषयमे ऐसी बात नही है। वे तो दार्शनिक विवादके क्षेत्रमे नैयायिकादि सभी दर्शनोके परिष्कारके बाद अर्थात् तीसरी शतीके बाद आये। अतएव वे अपना मार्ग निश्चित करनेमे स्वतन्त्र थे और उनके लिए यह भी सुविधा थी कि जैनागम ग्रन्थोमे वस्तुविचार नयोके द्वारा अर्थात् अनेक दृष्टियोसे हुआ था। जैन आगमोमे मुख्यरूपसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियोसे तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोके द्वारा विचारणा करनेकी पद्धति अपनायी गयी है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयोसे भी विचारणा देखी जाती है। इन आगम ग्रन्थोकी जब व्याख्या होने लगी तब

सात नयोका सिद्धान्त विकसित हुआ। यही समय है जबसे लेकर जैनदार्शनिक भारतीय दर्शन क्षेत्रमे जो वाद-विवाद चल रहा था उसमे क्रमसे शामिल होते गये। परिणाम स्वरूप विविध मतोके बीच अपने मत-का सामंजस्य कैसा है और कैसा होना चाहिए—इस विषयकी ओर उनकी दृष्टि गयी। यह तो स्पष्ट हो गया कि वे जब द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तुविचार करते है तब वस्तुको नित्य माननेवाले दार्शनिकोसे उनका ऐकमत्य होता है और जब पर्यायदृष्टिसे विचार करते है तब वस्तुको अनित्य माननेवाले बौद्धोसे ऐकमत्य होता है। अतएव इस बातको लेकर वे दर्शनोके अन्य विचारोसे भी परिचित होनेकी आवश्यकताको महसूस करने लगे और अन्य दर्शनोसे जैन दर्शनका किन-किन बातोमे मतैक्य और विभेद है—इसकी तलाशमे प्रवृत्त हुए। उस प्रवृत्तिके फलस्वरूप जैन आचार्योमें अपने नयसिद्धान्तका पुनरवेक्षण करना जरूरी हो गया। तथा अन्य मतोका सही-सही ज्ञान भी आवश्यक हो गया। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति नयसिद्धान्तकी समयानुकूल व्याख्या करके की गयी और अन्य दर्शनोके विषयमे सही ज्ञान देनेवाले प्रकरण लिखकर और अन्य दर्शनोका नयसिद्धान्तसे सम्बन्ध जोडकर भी की गयी। इसी प्रवृत्तिके फल आचार्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चयमे हम विभिन्न रूपसे देखते है। इन दोनो ग्रन्थोकी अपनी-अपनी क्या विशेषता है यह हम आगे कहेंगे। किन्तु उसकी पूर्वभूमिका किस प्रकार बनी यह प्रथम बताना जरूरी है। अतएव इसीकी चर्चा यहाँ की जाती है।

नयोके विषयमे सर्वप्रथम आचार्य उमास्वातिने प्रश्न उठाया है कि एक ही वस्तुका विविध रूपमे निरूपण करनेवाले ये नय क्या तन्त्रान्तरीय मत है या अपने ही मतमे प्रश्नकर्ताओने अपनी-अपनी समझके अनुसार कुछ मतभेद खडे किये है? उत्तर दिया है कि न तो ये नय तन्त्रान्तरीय मत है और न ये अपने ही मतके लोगोने मतभेद खडे किये है। किन्तु एक ही वस्तुके जाननेके नाना तरीके है। पुन प्रश्न किया कि तो फिर एक ही वस्तुके विषयमे नाना प्रकारका निरूपण करनेवाले नयोमे परस्पर विरोध क्यो नही? उत्तरमे स्पष्ट किया है कि एक ही वस्तुको अनेक दृष्टियोसे देखा जा सकता है अतएव इनमे विरोधको अव-काश नही है। जैसे एक ही वस्तु नाना प्रकारके ज्ञानोसे अनेकरूप देखी जा सकती है वैसे ही नाना नयोसे उसे अनेक प्रकारसे जाना जा सकता है—उसमे कोई विरोध नही।

स्पष्ट है कि विविध नयोके द्वारा किया गया दर्शन एक ही मतके अनुयायी द्वारा—अर्थात् जैनधर्मके अनुयायी द्वारा नाना प्रकारके अध्यवसाय = निर्णय है। उनका सम्बन्ध परवादीके मतोसे नही है—ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आचार्य उमास्वातिका है। किन्तु चिन्तनशील व्यक्तिको आचार्य उमास्वातिके इस उत्तरसे सन्तोष हो नही सकता। क्योकि दार्शनिक वाद-विवादके क्षेत्रमे परस्पर ऐसे कई विरोधी मत वह देखता है और उनका साम्य जैनोके द्वारा विविध रूपसे किये गये निर्णयोके साथ भी वह देखता है, तब नयोका जैनेतर मतोसे सामजस्य या सयोजन बिठानेका प्रयत्न वह न करे यह हो नही सकता। इसी प्रक्रियामेसे प्रथम तो सर्वदर्शनोका अभ्यास बढानेकी ओर जैनाचार्य प्रवृत्त हुए। और उसके फलस्वरूप नय और जैनेतर विविध मतोका किस प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है इस विचारणाकी प्रक्रिया शुरू हुई।

वादोके अलावा गौण भी अनेकवादोकी चर्चा देखी जा सकती है जैसे कि प्रत्यक्षलक्षण, सत्कार्य-असत्कार्य वाद आदि ।

नयचक्रके नयविषयक मतका साराश यह है कि अशसे किया हुआ दर्शन नय है अतएव वही एकमात्र दर्शन नही हो सकता । उसका विरोधी दर्शन भी है और उसको भी वस्तुदर्शनमे स्थान मिलना चाहिए । उन्होने उस समय प्रचलित विविध मतोको अर्थात् विविध जैनेतर मतोको ही नय माना और उन्हीके समूहको जैनदर्शन या अनेकान्तवाद माना । ये ही जैनेतर मत पृथक्-पृथक् नयाभास है और अनेकान्तवादके चक्रमे यथास्थान सन्निहित होकर नय है ।

स्पष्ट है कि आचार्य उमास्वातिकी नयकी समझ और आचार्य मल्लवादीकी नयकी समझमे अन्तर है । उमास्वाति नयोको परमतोसे पृथक् ही रखना चाहते है वही मल्लवादी परवादो—परमतोको ही नयचक्रमे स्थान देकर अनेकान्तवादकी स्थापनाका प्रयत्न करते है । नयचक्रका यह प्रयत्न उन्ही तक सीमित रहा । केवल नयाभासोके वर्णनमे परमतोको स्थान दिलानेमे वे निमित्त अवश्य हुए । अकलकसे लेकर अन्य सभी जैनाचार्योने नयाभासके दृष्टान्तरूपसे विविध दर्शनोको स्थान दिया है किन्तु नयोके वर्णनमे केवल जैनदृष्टि ही रखी है । उसे किसी अन्यदीय मतके साथ जोडा नही है ।

यहाँ यह भी प्रासगिक कह देना चाहिए कि विशेषावश्यकके कर्ता आचार्य जिनभद्र नयचक्रके इस मतसे सहमत है कि विविध नयोका समूह ही जैनदर्शन है (गा० ७२) । किन्तु उन्होने भी नयवर्णनके प्रसगमे नयरूपसे अन्यदीय मतका निरूपण नही किया किन्तु जैनसम्मत नयोका निरूपण किया । इस अर्थमे वे उमास्वातिका अनुसरण करते है, नयचक्रका नही । साराश कि इतना तो सिद्ध हुआ कि सर्वनयोका समूह ही जैनदर्शन या सम्यग्दर्शन हो सकता है । यही मत सिद्धसेनने भी स्पष्ट रूपसे स्वीकृत किया था ।

षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय

आचार्य हरिभद्रने ये दो ग्रन्थ लिखे । उन दोनोमे उनकी रचनाकी दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है । षड्-दर्शनसमुच्चयमे तो छहो दर्शनोका सामान्य परिचय करा देना ही उद्दिष्ट है । इसके विपरीत शास्त्रवार्ता-समुच्चयमे जैनदृष्टिसे विविध दर्शनोका निराकरण करके जैनदर्शन और अन्य दर्शनोमे भेद मिटाना हो तो तद्दर्शनमे किस प्रकारका सशोधन होना जरूरी है यह निर्दिष्ट किया है । अर्थात् जैनदर्शनके साथ अन्य-अन्य दर्शनोका समन्वय उन दर्शनोमे कुछ सशोधन किया जाय तो हो सकता है—इस ओर इशारा आचार्य हरिभद्रने किया है । नयचक्रकी पद्धति और शास्त्रवार्ताकी पद्धतिमे यह भेद है कि नयचक्रमे प्रथम एक दर्शनकी स्थापना होनेके बाद उसके विरोधमे अन्य दर्शन खडा होता है और उसके भी विरोधमे क्रमश अन्य दर्शन—इस प्रकार तत्कालके विविध दर्शनोका बलाबल देखकर मल्लवादीने एक दर्शनके विरोधमें अन्य दर्शन खडा किया है और दर्शनचक्रकी रचना की है । कोई दर्शन सर्वथा प्रबल नही और कोई दर्शन सर्वथा निर्बल नही । यह चित्र नयचक्रमे है । तब शास्त्रवार्तासमुच्चयमे अन्य सभी दर्शन निर्बल ही है और केवल जैनदर्शन ही सयुक्तिक है—यही स्थापना है । दोनो ग्रन्थोमे समग्रभावसे भारतीय दर्शनोका संग्रह है । नयचक्रमे गौण-मुख्य सभी सिद्धान्तोका और शास्त्रवार्तामे मुख्य-मुख्य दर्शनोका और उनमे भी उनके मुख्य सिद्धान्तोका ही संग्रह है ।

जिस रूपमे आचार्य हरिभद्रने दर्शनोकी छह सख्या मान्य रखी है वह उनकी ही सूझ है । सामान्य रूपसे छह दर्शनोमे छह वैदिक दर्शन ही गिने जाते है किन्तु आचार्य हरिभद्रको छह दर्शनोमे जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन भी शामिल करना था अतएव उन्होने १ साख्य, २ योग, ३ नैयायिक, ४ वैशेषिक, ५ पूर्व-मीमासा और ६ उत्तरमीमासा इन छह वैदिकदर्शनोके स्थानमे छह संख्याकी पूर्ति इस प्रकार की—१ बौद्ध, २ नैयायिक, ३ साख्य, ४ जैन, ५ वैशेषिक और ६ जैमिनीय । और ये ही दर्शन है और इन्हीमे नव

वायडगच्छके जीवदेवसूरिके शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (वि० १२६५) ने 'विवेक विलास'[1] की रचना की है (प्रकाशक, सरस्वती ग्रन्थमाला कार्यालय, आगरा, वि० १९७६) उसके अष्टम उल्लासमे 'षड्दर्शनविचार' नामका प्रकरण है—उसमे जैन, मीमासक, बौद्ध, साख्य, शैव (नैयायिक और वैशेषिक) और नास्तिक—इन छहो दर्शनोका संक्षेपमे परिचय दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थमे शैवमे न्याय-वैशेषिकका समावेश है—यह ध्यान देने योग्य है। यह भी आचार्य हरिभद्रके समान केवल परिचयात्मक प्रकरण है। अन्तमे जो उपदेश दिया है वह ध्यान देने योग्य है—

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरत. । एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षित निष्फल नहि ॥ ८.३११

यह प्रकरण ६६ श्लोक प्रमाण है।

आचार्य शकरकृत माना जानेवाला 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' अथवा 'सर्वदर्शनसिद्धान्तसग्रह' मद्रास सरकारके प्रेससे ई० १९०९ मे श्री रंगाचार्य-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। श्री पं० सुखलालजी-को यह प्रसिद्ध अद्वैत वेदान्तके आद्यशंकराचार्यकी कृति होनेमे सन्देह है (समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४२)। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह कृति सर्वदर्शनसग्रह (माधवाचार्य) से प्राचीन है। इस ग्रन्थकारके मतसे भी वैदिक और अवैदिक ऐसा दर्शन विभाग है। वैदिकोमे इनके मतसे जैन, बौद्ध और बृहस्पतिके मतोका समावेश नही है। इस ग्रन्थमे भी माधवाचार्यके सर्वदर्शनसग्रहकी तरह पूर्व-पूर्व दर्शनका उत्तर-उत्तर दर्शनके द्वारा निराकरण है। दर्शनोका इस प्रकार निराकरण करके अन्तमे अद्वैत वेदान्तकी प्रतिष्ठा की गयी है। दर्शनोका क्रम इस ग्रन्थमे इस प्रकार है—

१. लोकायतिकपक्ष, २. आर्हतपक्ष, ३ माध्यमिक, ४ योगाचार, ५ सौत्रान्तिक, ६. वैभाषिक, ७. वैशेषिक, ८ नैयायिक, ९ प्रभाकर, १० भट्टाचार्य (कुमाराग = कुमारिल), ११ साख्य, १२ पतञ्जलि, १३ वेदव्यास, १४ वेदान्त। इन दर्शनोमे-से वेदव्यासके दर्शनके नामसे जो पक्ष उपस्थित किया गया है वह महाभारतका दर्शन है। जैनदर्शनको आर्हतपक्षमे उपस्थित किया गया है किन्तु लेखकने भ्रमपूर्ण बातोका उल्लेख किया है। पता नही उनके समक्ष जैनदर्शनका कौन-सा ग्रन्थ था। लेखक जैनोके मात्र दिगम्बर सम्प्रदायसे परिचित है। बौद्धोके चार पक्षोको अधिकारी भेदसे स्वीकृत किया है। इतना ही नही किन्तु बृहस्पति, आर्हत और बौद्धोके मतोको भी अधिकारीके भेदसे भिन्न माने है। अन्य वैदिक मतोके विषयमे भी इनका कहना है कि ये सभी वेदान्त शास्त्रके अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए ही तत्पर है—

वेदान्तशास्त्रसिद्धान्त सक्षेपादथ कथ्यते । तदर्थप्रवणा प्राय सिद्धान्ता परवादिनाम् ॥ १२ १

वेदबाह्य दर्शनोको लेखक नास्तिककी उपाधि देता है—

''नास्तिकान् वेदबाह्यास्तान् बौद्धलोकायतार्हतान् ॥ ५ १

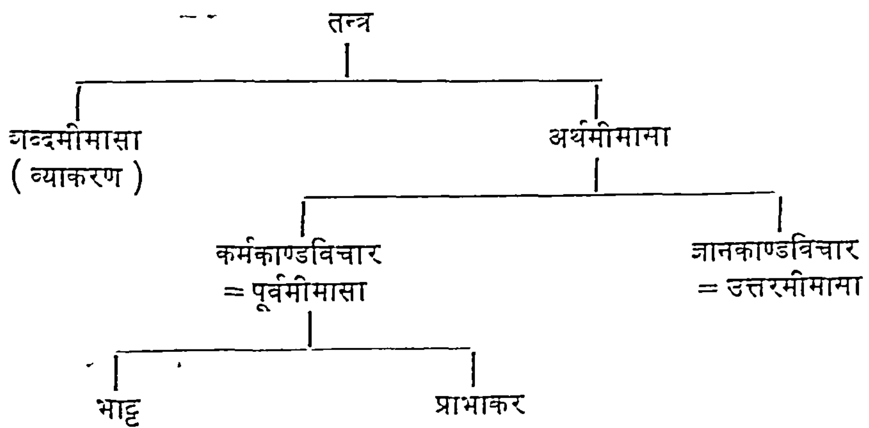
सायण माधवाचार्य (ई० १३००) ने 'सर्वदर्शनसग्रह' नामक ग्रन्थकी रचना की। उसकी पद्धति नयचक्रसे मिलती है। भेद यह है कि उन्होने क्रमश नयचक्रकी तरह पूर्व-पूर्व दर्शनका उत्तर-उत्तर दर्शनसे खण्डन करा कर भी अन्तमे अद्वैतवेदान्तकी प्रतिष्ठा की है। उस अन्तिम दर्शनका खण्डन किसी दर्शनसे नही कराया। जब कि नयचक्रगत अन्तिम मतका निराकरण सर्वप्रथम उपस्थित मतसे कराया गया है और खण्डन-मण्डनका चक्र प्रवर्तित है। 'नयचक्र'के मतसे उपस्थित सभी दर्शनोका सम्मिलित रूप ही सम्यग्दर्शन या अनेकान्त होता है। जब कि 'सर्वदर्शनसग्रह'के मतसे अन्तिम अद्वैतदर्शन ही सत्य है। सायण माधवाचार्यने क्रमश जिन दर्शनोका निराकरण किया है और अन्तमे अद्वैतवाद उपस्थित किया है—वे ये है—१ चार्वाकदर्शन, २ बौद्धदर्शन (चारो भेद) ३ दिगम्बर आर्हतदर्शन ४ रामानुज, ५ पूर्णप्रज्ञदर्शन ६ नकुलीशपाशुपतदर्शन, ७ माहेश्वर शैवदर्शन ८ प्रत्यभिज्ञादर्शन ९ रसेश्वर.

१ [illegible]

दर्शन, १० ओलूक्यदर्शन (वैशेषिक), ११ अक्षपाददर्शन (नैयायिक), १२ जैमिनिदर्शन (मीमासा), १३ पाणिनिदर्शन, १४ साख्यदर्शन, १५ पातजलदर्शन, १६ शाकरदर्शन (वेदान्तशास्त्र) ।

'प्रस्थानभेद'के लेखकने जिस उदारताका परिचय दिया है वह भी इस सर्वदर्शनसग्रहमे नही। वह तो अद्वैतको ही अन्तिम सत्य मानता है। नयचक्रमें सर्वदर्शनोके समूहको अनेकान्तवाद कहा है और प्रत्येक दर्शनको एकान्त कहा है। उसके अनुसार अद्वैत मत भी एक एकान्त ही ठहरता है अन्तिम सत्य नही। जब कि 'सर्वदर्शन संग्रह'के मतसे अद्वैत ही अन्तिम सत्य है। बाकी सब मिथ्या है। वस्तुत नयचक्र और सर्वदर्शनसग्रह इन दोनोका एक ही ध्येय है-और वह यह कि अपने-अपने दर्शनको सर्वोपरि सिद्ध करना।

माधवसरस्वती (? ई० १३५०) ने 'सर्वदर्शनकौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा है जो त्रिवेन्द्रम् सस्कृत ग्रन्थमालामे ई० १९३८ मे प्रकाशित है। इस ग्रन्थकारने भी वैदिक-अवैदिक—इस प्रकारका दर्शनविभाग स्थिर किया है। वेदको प्रमाण माननेवालोको वह शिष्ट मानता है और वेदके प्रमाणको स्वीकार नही करनेवाले बौद्धको अशिष्ट[1]। माधव सरस्वतीने वैदिक और अवैदिक ऐसे दो भेद दर्शनोके किये है। वैदिक दर्शनोमे इनके अनुसार तर्क, तन्त्र और साख्य ये तीन दर्शन है। तर्कके दो भेद है—वैशेषिक और नैयायिक। तन्त्रका विभाजन इस प्रकार है—



साख्यदर्शनके दो भेदोका निर्देश है—सेश्वरसाख्य = योगदर्शन और निरीश्वरसाख्य = प्रकृतिपुरुषके भेदका प्रतिपादक। इस प्रकार वैदिक दर्शनोके छह भेद है—योग, साख्य, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा, नैयायिक, और वैशेषिक।

अवैदिकदर्शन के तीन भेद है—बौद्ध, चार्वाक और आर्हत। तथा बौद्धदर्शनके चार भेद है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक[2]।

इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि वह इस क्रममे दर्शनोका निरूपण करता है—वैशेषिकदर्शनका सर्वप्रथम निरूपण है। किन्तु वैशेषिकोके ही द्वारा विपर्ययके निरूपण प्रसगमे ख्यातिवादकी चर्चा की गयी है—उसीमे सदसत्ख्यातिको माननेवाले जैनोका दर्शन पूर्वपक्षमे निरूपित है। और वैशेषिको द्वारा विपरीतख्यातिकी स्थापनाके लिए उसका निराकरण किया गया है। अतएव जैनदर्शनका निरूपण पृथक् करनेकी आवश्यकता लेखकने मानी नही है[3]।

वैशेषिकके अनन्तर नैयायिक दर्शनका निरूपण है (पृ० ६३) और क्रमश मीमासा, साख्य और योगदर्शनका निरूपण है।

---

१ वेदप्रामाण्याभ्युपगन्ता शिष्ट। तदनभ्युपगन्ता बौद्धोऽशिष्ट।—पृ० ३। २ सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ४। ३ सर्वदर्शनकौमुदी पृ० ३४ और पृ० १०८। लेखकने जैनदर्शनका पूर्वपक्ष जो उपस्थित किया है वह अभ्रान्त नही है।

राजशेखरका 'षड्दर्शनसमुच्चय' आचार्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका अनुकरण होते हुए भी सामग्रीकी दृष्टिसे विस्तृत है। इसमे तत्तत् दर्शनोके आचारो और वेशभूषाका भी निरूपण है। इस ग्रन्थमे दर्शनोका परिचय इस क्रमसे है—

१ जैन, २ साख्य, ३ जैमिनीय, ४ योग, ५ वैशेषिक और ६ सौगत। योगदर्शनका परिचय, अष्टाग-योग, जो कि सर्वदर्शन साधारण आचार है, उसका परिचय देकर सम्पन्न किया है। तथा उक्त सभी दर्शन जीवको मानते हे जब कि नास्तिक उसे भी नही मानते यह कहकर चार्वाकोकी दलीलोका सग्रह करके उस दर्शनका भी परिचय अन्तमे दे दिया है। ये राजशेखर वि० १४०५ मे विद्यमान थे ऐसा उनके द्वारा रचित प्रबन्ध कोशकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। यह षड्दर्शनसमुच्चय यशोविजय जैन ग्रन्थमालामे वाराणसीसे वीर स० २४३८ मे प्रकाशित है।

आचार्य मेरुतुगकृत (ई० १४ वीका उत्तरार्ध) 'षड्दर्शननिर्णय' नामक ग्रन्थकी हस्तप्रति न० १६६६ बाम्बे ब्राच, रॉयल एसियाटिक सोसायटीमे विद्यमान है। उसकी फोटो कापी लालभाई द० विद्यामन्दिर, अहमदाबादमे हे। उसकी प्रतिलिपि डॉ० नगीन शाहने की है। उसे पढनेसे ज्ञात होता है कि उसमे आचार्य मेरुतुगने क्रमश बौद्ध, मीमासा (वेदान्तके साथ), साख्य, नैयायिक, वैशेषिक और जैनदर्शन—इन छह दर्शनो-सम्बन्धी मीमासा की है। इस ग्रन्थमे तत्तत् दर्शन-सम्बन्धी खासकर देव, गुरु और धर्मके स्वरूपका निरूपण करके जैनमतानुसार उसकी समीक्षा की गयी है। और अन्तमे जैनसमत देव-गुरु-धर्मका स्वरूप निरूपित करके वैसा ही स्वरूप महाभारत, पुराण, स्मृति आदिसे भी समर्थित होता है ऐसा दिखानेका प्रयत्न किया गया है। आ० मेरुतुंगकी यह रचना वि० १४४४ और वि० १४४९ के बीच हुई है ऐसा श्री देसाई कृत 'जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास' (पृ० ४४२) से प्रतीत होता है।

मधुसूदन सरस्वती (ई० १५४०–१६४७) द्वारा रचित 'प्रस्थानभेद' भी सर्वदर्शनसग्राहक ग्रन्थ कहा जा सकता है। उसमे सभी प्रधान शास्त्रोका परिगणन किया है। तदनुसार वेदके उपागोमे पुराण, न्याय, मीमासा और धर्मशास्त्रका सग्रह किया गया है। और उनके मतानुसार वैशेषिक दर्शनका न्यायमें, वेदान्तका मीमासामे तथा साख्य और पातंजल, पाशुपत और वैष्णव आदिका धर्मशास्त्रमे समावेश है।[1] और इन सभीको उन्होने 'आस्तिक' माना है।[2]

मधुसूदन सरस्वतीने नास्तिकोके भी छह प्रस्थानोका उल्लेख किया है—वे ये है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—ये चार सौगत प्रस्थान तथा चार्वाक और दिगम्बर[3]। मधुसूदनका कहना है कि शास्त्रोमे इन प्रस्थानोका समावेश उचित नही क्योकि वेदबाह्य होनेसे पुरुषार्थमे परम्परासे भी म्लेच्छ आदि प्रस्थानोकी तरह उनका कोई उपयोग नही है[4]। साराश यह है कि उनके मतमे न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमासा—इन छह प्रसिद्ध वैदिक दर्शनोके अलावा पाशुपत और वैष्णव = पाचरात्रोका भी वैदिक आस्तिक दर्शनोमे समावेश है। और नास्तिक अवैदिक दर्शनोमे भी छह दर्शन उनको अभिप्रेत है।

वैदिकदर्शनोके पारस्परिक विरोधका समाधान उन्होने यह कहकर किया है कि ये सभी मुनि भ्रान्त तो हो नही सकते क्योकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु बाह्य विषयमे लगे हुए लोगोको परमपुरुषार्थमे प्रविष्ट होना कठिन होता है अतएव नास्तिकोका निराकरण करनेके लिए इन मुनियोने प्रकारभेद किये है। लोगोने इन मुनियोका आशय समझा नही और कल्पना करने लगे कि वेदसे विरोधी अर्थमे भी इन मुनियोका तात्पर्य है और उसीका अनुसरण करने लगे है[5]।

---

१. प्रस्थानभेद (पुस्तकालय स० स० मंडल, बरोडा, ई० १९३५) पृ० १। २ वही पृ० १।

है कि जिस प्रतिसे यह प्रशस्ति मुद्रित है वह प्रति वि० १४३६ मे लिखी गयी प्रतिको आदर्शभूत मानकर प्रतिलिपिरूप है।

गुणरत्नको आचार्यपद वि० १४४२ मे मिला इस तथ्यके आधारपर उनके जीवनका प्रारम्भिक समय और उनकी अन्तिम अवधिका विचार किया जाय तो उल्लेखोंके अनुसार वि० १४५७ मे कल्पान्तर्वाच्य, वि० १४५९ मे कर्मग्रन्थ अवचूरि और वि० १४६६ में क्रियारत्नसमुच्चयकी रचना की और १४६९ मे बिकानेरमे प्रतिष्ठा की। इससे माना जा सकता है कि वे प्राय वि० १४०० से १४७५ तक जीवित रहे होंगे। अतएव उनका समय प्राय ई० १३४३ से ई० १४१८ माना जा सकता है। यह समय इस आधारपर स्थिर किया जा सकता है कि उनको जब आचार्यपद मिला तब वे ४२ वर्षकी उम्रके होंगे। यदि इस आयुमे हानि-वृद्धि किसी प्रमाणसे की जा सके तो उनका समय भी तदनुसार थोडा इधर-उधर हो सकता है।

आचार्य गुणरत्नके ग्रन्थ

आ० गुणरत्नने ये ग्रन्थ लिखे हैं—

(१) कल्पान्तर्वाच्य—आ० गुणरत्नने इसकी रचना स० १४५७ मे की है। अभीतक अमुद्रित है। इसमे प्रारम्भमे पर्युषणपर्वकी महिमाका निरूपण है। उसके बाद कल्पसूत्रके श्रवणकी महिमाका वर्णन है तथा कल्पश्रवणकी विधि तदनन्तर बतायी गयी है। इस प्रसगमे कथाएँ भी दी गयी है। तदनन्तर कल्पसूत्रके जिनचरित आदि विषयोकी चर्चा की गयी है।

(२) क्रियारत्नसमुच्चय—इस ग्रन्थको आचार्य हेमचन्द्रके शब्दानुशासनके आधारपर धातुओका सकलन करके आचार्य गुणरत्नने निर्मित किया है। प्रशस्तिमे निर्दिष्ट है कि यह ग्रन्थ वि० १४६६ (ई० १४०९) मे समाप्त किया गया था। इसमे सभी कालके धातुओंके रूप किस प्रकार होते हैं यह प्रयोगोंके उदाहरणोंके साथ दिखाया गया है। सर्वप्रथम कालोके विभागका स्पष्टीकरण करके भ्वादिगणके क्रमसे गणोके धातुओंके रूपोको निर्दिष्ट किया गया है। तदनन्तर सौत्रधातु और नामधातुके रूप दिये गये हैं। अन्तमे प्रशस्तिमे गुरुपर्वक्रमसे सुधर्मासे लेकर अपने गुरु आचार्य देवसुन्दरका काव्यमय परिचय दिया है। यह ग्रन्थ यशोविजय जैनग्रन्थमाला, काशीके दसवे पुष्पके रूपमे वीर स० २४३४ (ई० १९०७) मे मुद्रित हुआ है।

(३) चतु शरणादि प्रकीर्णकावचूरि—चतु शरण, आतुरप्रत्याख्यान, सस्तारक और भक्तपरिज्ञा—इन चार प्रकीर्णकोकी अवचूरि जिसे विषमपदविवरण भी कहा गया है, आचार्य गुणरत्नने लिखी है। प्रतोके विषयमे जिनरत्नकोषमे निर्देश है। किन्तु अभीतक यह अमुद्रित है।

(४) कर्मग्रन्थ-अवचूरि—देवेन्द्रसूरिकृत कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक—ये पाँच और चन्द्रर्षिमहत्तरकृत सप्ततिका—इन छह कर्मग्रन्थोकी अवचूरि वि० १४५९ मे आचार्य गुणरत्नने लिखी है। प्रशस्तिके लिए देखो, ला० द० विद्यामन्दिरगत पू० पुण्यविजयजीके सग्रहगत नं० ४५२३ की प्रति। अन्य प्रतियोमें भी यह रचनाकाल उपलब्ध होता है। देखे जिनरत्नकोषगत उल्लेख। अभी यह अमुद्रित है।

(५) क्षेत्रसमास-अवचूर्णि—आचार्य सोमतिलकसूरिके पूर्व भी क्षेत्रसमास नामक प्रकरण जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिने लिखे थे। अतएव आचार्य सोमतिलकके क्षेत्रसमासको आचार्य गुणरत्नने नव्यक्षेत्रसमासकी सज्ञा दी है और उसकी सक्षिप्त टीका अवचूर्णिके नामसे लिखी है। इसकी कई प्रतियाँ मिलती हैं (जिनरत्नकोष, पृष्ठ ९९ देखे) किन्तु अभीतक यह अप्रकाशित है।

ला० द० विद्यामन्दिरके पू० मुनिराज श्री पुण्यविजयजीके सग्रहकी न० ३६६८ की प्रतिके अनुसार इसका प्रारम्भ और प्रशस्तिकी कारिकाएँ यहाँ दी जाती हैं। प्रारम्भ है—

"श्रीवीरजिनवरेन्द्रं सर्वैकान्ततमोरविम् । नत्वा नव्यबृहत्क्षेत्रसमासो ह्यवचूर्ण्यते ॥१॥
ऐदंयुगीनान् जनान् संक्षिप्तरुचीनपेक्ष्य भगवद्भिः । श्रीसोमतिलकसूरीश्वरैर्विदधेऽयमतिमहार्थः ॥२॥
तत्रेदमादिसूत्रम्—सिरिनिलय० स्पष्टम् ॥"

अन्तमें प्रशस्ति है—

"स्फूर्जद्गुणप्रकरवासितविष्टपानाम् , श्रीदेवसुन्दरमहत्तमसूरिराजाम् ।
शिष्योऽवचूर्णिमकरोद्गुणरत्नसूरिः संस्कारबोधविधये स्वपरार्थमेताम् ॥१॥
श्रीवृद्धक्षेत्रसमासस्य के विलोक्य लघुबृहद्वृत्ती । श्रीज्ञानसागरसूरिकृतावचूर्णिर्विरचितेयं ॥२॥

इति पूज्याराध्यभट्टारकराजश्रीसोमतिलकसूरिविरचितस्य नव्यबृहत्क्षेत्रसमासस्यातिगम्भीरार्थस्य श्रीगुणरत्नसूरिकृतावचूर्णि संपूर्णा ॥छ॥ सं० १४८० प्र० आषाढवदि ३ अनन्तर ४ गुरौ लषत ॐ श्री सीमंधरस्वामिने नमः ॥छ॥ श्री ॥छ॥

प्रस्तुत संस्करणमें भी परिशिष्टरूपसे वह लघुवृत्ति मुद्रित की गयी है। वहाँ भी चौखम्बा संस्करणका अनुसरण करके मणिभद्रकृत उसे पं० महेन्द्रकुमारजीने माना है। किन्तु उसमें संशोधन कर उसे सोमतिलक सूरिकृत समझना आवश्यक है। अन्तिम प्रूफ मेरे पास नहीं आनेसे यह मुद्रण दोष रह गया है। उसे टाइटल पृष्ठपर ठीक कर दिया गया है।

प्रशस्तिसे मालूम होता है कि विद्यातिलक मुनिने अपनी स्मृतिके लिए यह विवृति बनायी है। इन्हीं विद्यातिलकका दूसरा नाम [1]सोमतिलकसूरि था, यह भी प्रशस्तिके अन्तिम वाक्यसे पता लगता है। यह भी प्रशस्तिसे प्रतीत होता है कि आदित्यवर्धनपुरमें उन्होंने इसकी रचना वि० सं० १३९२ (ई० १३३५) में की है। अतएव यह कृति गुणरत्नसे प्राचीन है। सोमतिलकसूरिका जन्म वि० १३५५, दीक्षा वि० १३६९, आचार्यपद वि० १३७३ और मृत्यु वि० १४२४ में है।—गुर्वावली २७३, २९१।

(२) वाचक उदयसागरकृत अवचूरि—ला० द० विद्यामन्दिरके नगरसेठके भण्डारगत नं० ८६९ की दो पत्रकी पंचपाठी प्रतिमें बीचमें मूल लिखकर चारों ओर यह अवचूरि लिखी गयी है—अन्तमें लिखा है—

"इति षड्दर्शनसमुच्चयस्य ससूत्रावचूरिः वा० उदयसागरेण स्वपठनार्थमलेखि महानादरेण"।

यह जैसा नामसे सूचित है अतिसंक्षिप्त टिप्पणरूप है।

प्रतिकी प्राचीनता देखते हुए यह उदयसागर अचलगच्छके उत्तराध्ययनसूत्रकी दीपिकाके रचयिता उदयसागर ही यह सम्भवित है।

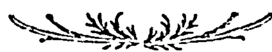
इसमें मंगलके बिना ही सीधा टिप्पण शुरू किया गया है।

(३) ब्रह्मशान्तिदासकृत अवचूर्णि—ला० द० विद्यामन्दिरगत श्री देवसूरिसंग्रहकी नं० ६३२४ की हस्तप्रतिमें यह अवचूर्णि लिखी गयी है। प्रतिलिपि नं० १९६० में की गयी है। आठ पत्र हैं। प्रारम्भमें मंगल है—

श्रीहरिभद्रसूरिविरचितः

षड्दर्शनसमुच्चयः

[श्रीगुणरत्नसूरिकृततर्करहस्यदीपिकया श्रीमणिभद्रसूरिकृतलघुवृत्त्या च समन्वितः।]



जयति विजितरागः केवलालोकशाली सुरपतिकृतसेवः श्रीमहावीरदेवः।
यदसमसमयाब्धेश्चारुगाम्भीर्यभाजः सकलनयसमूहा बिन्दुभावं भजन्ते ॥१॥

श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत्स्याद्वाददावानले भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे [1]तृण्यन्ति सर्वेऽप्यहो।
संशीतिव्यवहारलुब्व्यतिकरानिष्ठाविरोधप्रमाबाधासंभवसंकरप्रभृतयो दोषाः परैः रोपिताः ॥२॥

वाग्देवी संविदे नः [2]स्यात्सदा या सर्वदेहिनाम्। चिन्तितार्थान् पिपर्तीह कल्पवल्लीव सेविता ॥३॥
नत्वा निजगुरून् भक्त्या षड्दर्शनसमुच्चये। टीकां संक्षेपतः कुर्वे स्वान्योपकृतिहेतवे ॥४॥

§ १ इह हि जगति गरीयश्चित्तवतां महतां परोपकारसंपादनमेव सर्वोत्तमा स्वार्थसंपत्तिरिति मत्वा परोपकारैकप्रवृत्तिसारश्चतुर्दशशतसंख्यशास्त्रविरचनाजनितजगज्जन्तूपकारः श्रीजिन-

---

रागादि जीतनेके कारण जो वीतराग हैं, जिनकी केवलज्ञानज्योति जगमगा रही है, जिनकी इन्द्रादि देव सेवा करते हैं, तथा जिनके अनुपम अतिगम्भीर जिनशासनरूप समुद्रके समग्र नयसमूह बिन्दुमात्र हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्र अनन्त जल-बिन्दुओंको अपनेमें समा लेनेवाला आधार है, उसी तरह जिनका अनेकान्तशासन-समुद्र भी सभी दर्शनोंको नयरूपसे अपनेमें समन्वित कर लेनेवाला है—वे महावीर देव जयवन्त हैं ॥१॥ जिनके समस्त कुतर्करूपी काष्ठराशिको भस्मसात् करनेवाले स्याद्वाद दावानलमें परवादियों-द्वारा दिये जानेवाले संशय, व्यवहारलोप, व्यतिकर, अनवस्था, विरोध, प्रमाबाध, असम्भव, संकर आदि दोष तिनकेके समान देखते-ही-देखते जल जाते हैं, वे तीर्थंकर श्री वीर हमारा कल्याण करें ॥२॥ जिसकी सम्यक् आराधना करनेसे जो कल्पलताके समान समस्त प्राणियोंके मनोरथ सदैव पूर्ण करती है वह श्रुतदेवता सरस्वती हमारे सम्यग्ज्ञानके लिए हो ॥३॥ मैं (गुणरत्न) अपने गुरुजनोंको नमस्कार करके अपने तथा अन्यके उपकारके लिए षड्दर्शनसमुच्चयकी संक्षेपसे टीका करता हूँ ॥४॥

§ १ इस संसारमें उदारचेता महापुरुषोंका परोपकार-सम्पादन ही सर्वोत्तम स्वार्थ-सम्पादन है, यह मानकर जिन्होंने परोपकारको ही प्रवृत्तिमय जीवनका एक-मात्र सार माना है जिनने चौदह सौ

---

[1] तृण्यन्ति प० १, २ भ० १, २। [2] स्तात् प० १, २ भ० १, २।

शासनप्रभावनाप्रभाताविर्भावनभास्करो याकिनीमहत्तरावचनानवबोधलब्धबोधिबन्धुरो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनीवाच्यस्वरूपं जिज्ञासूना तत्तदीयग्रन्थविस्तरावधारणशक्तिविकलाना सकलाना विनेयानामनुग्रहविधित्सया स्वल्पग्रन्थं महार्थं सद्भूतनामान्वयं षड्दर्शनसमुच्चयं शास्त्र प्रारभमाण शास्त्रारम्भे मङ्गलाभिधेययोः साक्षादभिधानाय सबन्धप्रयोजनयोश्च समूचनाय प्रथम श्लोकमेनमाह—

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः संक्षेपेण निगद्यते ॥१॥

§ २ सत् शश्वद्विद्यमान छद्मस्थिकज्ञानापेक्षया प्रशस्त वा दर्शनम् उपलब्धिर्ज्ञानं केवलाख्यं यस्य स सद्दर्शन । अथवा सत् प्रशस्तं दर्शन केवलदर्शन तदव्यभिचारित्वात्केवलज्ञान च यस्य स सद्दर्शन सर्वज्ञ सर्वदर्शी चेत्यर्थ, तम् । अनेन विशेषणेन श्रीवर्धमानस्य भगवतो ज्ञानातिशयमाविरबीभवत् । अथवा सद् अर्चित मकलनरासुरामरेन्द्रादिभिरभ्यर्चित दर्शन जैनदर्शनं यस्य स

शास्त्रोकी रचना करके जगत्के प्राणियोका महान् उपकार किया है, जो जिन-शासनकी प्रभावना-रूपी प्रभातको प्रकट करनेवाले तेजस्वी सूर्य है, [1]याकिनी महत्तराके वचनोको नही समझ सकनेके निमित्तमे जिन्हे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई थी, ऐसे श्री हरिभद्रसूरि, जिनमे षड्दर्शनके बडे-बडे ग्रन्थोके समझनेकी तो शक्ति नही है पर षड्दर्शनके स्वरूपको समझना अवश्य चाहते है, उन सभी जिज्ञासु विनेयोके अनुग्रहकी इच्छासे इस यथार्थ नामवाले, बहुअर्थगर्भित षड्दर्शनसमुच्चय नामके छोटे-से शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए उस शास्त्रके आरम्भमे मगल और अभिधेयका साक्षात् शब्दो-द्वारा प्रतिपादन करनेके लिए तथा सम्बन्ध और प्रयोजनकी परम्परासे सूचना देनेके लिए प्रथम श्लोक कहते है—

सद्दर्शन स्याद्वाद देशक श्री वीर जिनको नमस्कार करके समस्त दर्शनोके प्रतिपाद्य अर्थका संक्षेपसे कथन करता हूँ ॥१॥

§ २. **सद्दर्शन**—जिसका दर्शन अर्थात् उपलब्धि अर्थात् केवल नामक ज्ञान सत् अर्थात् सदा विद्यमान या हम लोगोके ज्ञानकी अपेक्षा प्रशस्त है वह सद्दर्शन है । अथवा जिसका दर्शन अर्थात् केवल दर्शन और अवश्य तत्सहचारि होनेसे केवलज्ञान भी सत् अर्थात् प्रशस्त है वह सद्दर्शन सर्वदर्शी सर्वज्ञ । इस प्रकार 'सद्दर्शन' पदका केवलज्ञानी या सर्वदर्शी और सर्वज्ञ अर्थ करनेसे वर्धमान भगवान्के ज्ञानातिशयका सूचन होता है । अथवा, जिसका दर्शन अर्थात् जैनदर्शन समस्त नरेन्द्र, असुरेन्द्र और देवेन्द्र आदिसे सत् अर्थात् पूजित है, वह सद्दर्शन । इस तरह सद्दर्शन पदके इस अर्थसे

१ ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि—विप्र हरिभद्रकी यह प्रतिज्ञा थी कि 'मै जिसके वचनोका अर्थ नही समझ सकूँगा उसीका शिष्य हो जाऊँगा' । एक दिन उपाश्रयमें याकिनी महत्तरा नामकी साध्वी "चक्किदुगं हरि पणग चक्कीण केसवो चक्की केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य ।"—अर्थात् चक्रवर्ती और नारायणोकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—दो चक्री, पाँच नारायण, पाँच चक्री, छठवाँ नारायण, आठवाँ चक्री, सातवाँ नारायण, नवाँ चक्री, आठवाँ नारायण, दसवाँ और ग्यारहवाँ चक्री, नवाँ नारायण और बारहवाँ चक्री । यह गाथा पढ रही थी । इस चकारबहुल गाथाका अर्थ जब हरिभद्रकी समझमे नही आया तब वे अपनी प्रतिज्ञानुसार याकिनी महत्तराके पास गये और उन्हे अपना गुरु मानकर उनसे इस गाथाका अर्थ पूछा । आर्या सघके नियमानुसार हरिभद्रको आचार्य जिनभटके पास ले गयी । विप्र हरिभद्र आचार्य जिनभटके पास जैनी दीक्षा लेकर हरिभद्रसूरि हुए ।

सद्दर्शनस्तम्। अनेन च तदीयदर्शनस्य त्रिभुवनपूज्यतामभिदधानः श्रीवर्धमानस्य त्रिभुवनविभोः सुतरां त्रिभुवनपूज्यतां व्यनक्तीति पूजातिशयं प्राचीकटत्।

§ ३. तथा जयति रागद्वेषादिशत्रूनिति 'जिनस्तम्, अनेनापायापगमातिशयमुदवीभवत्।

§ ४. तथा स्यात्—कथंचित् सर्वदर्शनसंमतसद्भूतवस्त्वंशानां मिथः सापेक्षतया वदनं स्याद्वादः, सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषाभिलाप्यानभिलाप्योभयात्मानेकान्त इत्यर्थः। ननु कथं सर्वदर्शनानां परस्परविरुद्धभाषिणामभीष्टा वस्त्वंशाः के सद्भूताः संभवेयुः येषां मिथः सापेक्षतया स्याद्वादः सत्यवादः स्यादिति चेत्, उच्यते— यद्यपि दर्शनानि निजनिजमतभेदेन परस्परं विरोधं भजन्ते तथापि तैरुच्यमानाः सन्ति तेऽपि वस्त्वंशा ये मिथः सापेक्षाः सन्तः समीचीनतामञ्चन्ति। तथा हि—सौगतैरनित्यत्वम्, साङ्ख्यैर्नित्यत्वम्, नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च परस्परविविक्ते नित्यानित्यत्वे, सदसत्त्वे, सामान्यविशेषौ च, मीमांसकैः स्याच्छब्दवर्जं भिन्नाभिन्ने, नित्यानित्यत्वे, सदसदंशौ, सामान्यविशेषौ, शब्दस्य नित्यत्वं च, कैश्चित् कालस्वभावनियतिकर्मपुरुषादीनि जगत्कारणानि,

---

जैनदर्शनकी जग-पूज्यताके द्वारा उसके प्ररूपक वर्धमान भगवान्की त्रिभुवन पूज्यताका स्पष्ट सूचन किया गया है। इससे भगवान्का पूजातिशय प्रकट हो जाता है।

§ ३. जिन—जो राग-द्वेष आदि समस्त अन्तःशत्रुओंको जीत लेता है वह 'जिन' है। इस विशेषणसे वीर भगवान्का अपायापगम अपाय = दोषका, अपगम = निरसन नामक अतिशय प्रकट होता है।

शब्द-ब्रह्म-ज्ञानाद्वैतवादिभिश्च शब्द-ब्रह्म-ज्ञानाद्वैतानि चेत्यादयो ये ये वस्त्वंशाः परैरङ्गीक्रियन्ते, ते सर्वेऽपि सापेक्षाः सन्तः परमार्थसत्यतां प्रतिपद्यन्ते निरपेक्षास्त्वन्योन्येन निरस्यमाना नभोनलिनायन्त इत्यलं विस्तरेण। स्याद्वादस्य देशक सम्यग्वक्ता स्याद्वाददेशकस्तम्। अनेन च वचनातिशयमचकथत्।

§ ५ तदेव चत्वारोऽत्रातिशया.[1] शास्त्रकृता साक्षादाचचक्षिरे। तेषा हेतु-हेतुमद्भाव एवं

भिन्न-भिन्न वादी हैं। शब्दाद्वैतवादी जगत्को शब्दमय मानता है ता ब्रह्माद्वैतवादी उसे ब्रह्ममय एव विज्ञानाद्वैतवादी उसे क्षणिक ज्ञानक्षणरूप स्वीकार करते है। इस तरह भिन्न-भिन्न वादियो-द्वारा जिन-जिन वस्त्वशोका निरूपण किया जाता है, वे ही वस्त्वश जब वस्तुस्थितिके आधारसे परस्पर सापेक्ष रूपसे समन्वित हो जाते है, तो वे ही परमसत्यरूप होकर अपने प्रतिपादक दर्शनको सद्दर्शन बना देते है। पर यदि इन वस्त्वशोका परस्पर समन्वय न किया जाये और उन्हे निरपेक्ष छोड दिया जाये तो ये वस्त्वश परस्पर विरोधी होकर एक दूसरेका प्रतिक्षेप करके आकाशके फूलकी तरह असद्रूप हो जाते है। तात्पर्यार्थ यह है कि वस्तु परस्परसापेक्ष गुण-पर्यायरूप वस्त्वशोका एक आम्रेडित अखण्ड पिण्ड है। यदि उसके प्रत्येक अश एक-दूसरेकी अपेक्षा रखना छोड दे तो वे सबके सब परस्परविरोधी होकर आकाशके फूलकी तरह असत् ही हो जायेगे। जब कोई एक दर्शन अपने-द्वारा कहे गये वस्तुके अशको ही पूर्ण वस्तु माननेका आग्रह करता है तब वह सहज ही दूसरे दर्शनका—जो पहले दर्शनकी तरह अपने द्वारा माने गये वस्त्वशमे वस्तुकी पूर्णताका अभिमान कर रहा है, विरोधी हो जाता है। पर यदि हर एक दर्शन यह समझने लग जाये कि—'मेरे द्वारा कहा गया वस्तुका स्वरूप इस अपेक्षासे है, और दूसरे दर्शनके द्वारा कहा जानेवाला वस्तुका स्वरूप इस अपेक्षासे है' और इस तरह दूसरे दर्शनोके सत्याशका आदर करने लग जाये तो परस्पर सापेक्षताके कारण समन्वय हो जानेसे उनका वह विरोध मैत्रीका रूप धारण कर लेगा। वस्तुके अनेकान्त स्वरूप तक पहुँचनेका यही एकमात्र प्रशस्त मार्ग है। इस तरह अपने द्वारा माने गये एक-एक वस्त्वशमे पूर्णताके मिथ्या अभिमानके कारण सभी दर्शन एक दूसरेका खण्डन करते है और परस्परविरोधी भासित होते है। पर जब उनके द्वारा माने गये वस्त्वशोकी वस्तुमे यथार्थ स्थिति होनेके कारण परस्पर सापेक्ष भावसे समन्वय किया जाता है तब वे ही परस्पर सापेक्ष वस्त्वश समीचीन बन जाते है और ऐसे परस्पर सापेक्ष वस्त्वशोके प्रतिपादक दर्शन अनायास ही स्याद्वादके समर्थक हो जाते है। अत अनेक धर्मोका परस्पर सापेक्ष कथन करनेवाला स्याद्वाद ही सद्वाद है। स्याद्वादका देशक अर्थात् सम्यग्वक्ता स्याद्वाददेशक है। इसमे वचनातिशयका कथन हुआ।

§ ५ इस तरह शास्त्रकारने श्लोकमे आये हुए 'सद्दर्शन, जिन और स्याद्वाददेशक' इन विशेषणोमे भगवान्के ज्ञानातिशय आदि चारो अतिशयोका साक्षात् प्रतिपादन किया है। इन

१ तुलना—'मूलातिशयाश्चत्वारः। तद्यथा—अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, पूजातिशय, वागतिशयश्च।" —अनेकान्तज० स्व० पृ० ८। "यथाक्रम भगवतो मूलातिशयाश्चत्वारः स्तुतिकुसुमभूमिमानीयन्ते। तद्यथा-अपायापगमातिशयो एतेषा चातिशयानामित्थमुपन्यासे तथोत्पत्तिरेव निमित्तम्, तथाहि—नाविच्छिन्नरागद्वेषो विश्ववस्तुज्ञाता भवति। न चाविश्ववस्तुज्ञ सत्पूज्य सम्पद्यते। न च सत्पूज्यतारहितो भगवान्यथा गिर प्रयुङ्क्त इति।" —स्या० र० पृ० ८। स्या० म० का० १। कान्त्यो० श्लो० १०३।

भाव्य'- यत एव नि.शेषदोषशत्रुजेता तत एव सर्वज्ञ. । यत एव सर्वज्ञस्तत एव सद्भूतार्थवादी । यत एव सद्भूतार्थवादी, तत एव त्रिभुवनाभ्यर्च्य इति ।

§ ६. एवमतिशयचतुष्टयीप्रवरं वीरं महावीरं वर्तमानतीर्थाधिपतिं श्रीवर्धमानापराभिधानं नत्वा मनसा तदतिशयचिन्तनेन, वाचा तदुच्चारणेन, कायेन भूमौ शिरोलगनेन च प्रणिधायेत्यर्थ ।

§ ७. एतेनादिम' मङ्गलमभिदधौ । मध्यमङ्गलं तु 'जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जित'। [षड्द० श्लो० ४५] इत्यादिना जिनमतकीर्तनेन कीर्तयिष्यति । अन्त्यमङ्गलं पुन. 'अभिधेयतात्पर्यार्थं पर्यालोच्य सुबुद्धिभि' [षड्द० श्लो० ८७] इत्यत्र सुबुद्धिशब्दसंशब्दनेन वक्ष्यति ।

§ ८. तस्य त्रिविधस्यापि' फलमिदम्—

अतिशयोका परस्पर-कार्यकारणभाव इस प्रकार है—यत भगवान् रागद्वेषादि समस्त अन्त शत्रुओको जीतकर जिन हुए है अतएव वे ज्ञानावरण रूप शत्रुका भी क्षय करनेके कारण सर्वज्ञ है। यत वे सर्वज्ञ है अतएव वे यथार्थवादी है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष और अज्ञानसे ही वचनोमे मिथ्यात्व आता है पर मिथ्यावादित्वके इन कारणोमे-से एक भी कारण वीर भगवान्के नही है इसलिए वे सद्भूतार्थवादी है। यत भगवान् सद्भूतार्थवादी है इसीलिए वे त्रिलोकपूज्य है।

§ ६ इस तरह उक्त चारो अतिशयोसे समन्वित, वर्तमान जिन-शासनके स्वामी व [illegible] जिनका दूसरा नाम है ऐसे वीर भगवान्को नमस्कार करके अर्थात् मनमे उनके ज्ञानातिशय आदिका चिन्तन कर वचनसे गुणगान कर तथा कायसे भूमिपर मस्तक लगाकर प्रणाम करके ग्रन्थकार षड्दर्शनका स्वरूप कहते है।

§ ११. नन्वयं शास्त्रकारः सर्वदर्शनसंबन्धीनि शास्त्राणि सम्यक्परिज्ञायैव परोपकाराय प्रस्तुतं शास्त्रं दृब्धवान्, तत्कथमनेनैवेहेदं नाभिदधे–'अमुकममुकं दर्शनं हेयम्, अमुकं चोपादेयम्' इति चेत्, उच्यते–इह[1] सर्वदर्शनान्यभिधेयतया प्रक्रान्तानि, तानि माध्यस्थ्येनैवाभिदधानोऽत्रौचिती नातिक्रामति। 'इदमिदं हेयम्, इदं चोपादेयम्' इति ब्रुवाणस्तु प्रत्युत सतां सर्वदर्शनानां चानादेयवचनो वचनीयतामञ्चति।

§ १२. नन्वेवं तर्ह्यस्याचार्यस्य न परोपकारार्था प्रवृत्तिः। कुत एवं भाषसे। नन्वेष दर्शयामि– ये केचन मादृशाः श्रोतारः स्वयमल्पबुद्धित्वेन हेयोपादेयदर्शनानां विभागं न जानीयुस्तेषां सर्वदर्शनसतत्त्वं[2] निशम्य प्रत्युतैवं बुद्धिर्भवेत्–'सर्वदर्शनानि तावन्मिथो विरुद्धाभिधायीनि, तेषु च कतरत्परमार्थसदिति न परिच्छिद्यते। तत्किमेतैर्दर्शनैर्दुर्ज्ञानैः प्रयोजनम्। यदेव हि स्वस्मै रोचते तदेवानुष्ठेयम्' इति। एवंविधाश्चाविभागज्ञा अस्मिन्काले भूयांसोऽनुभूयन्ते। तदेवं शास्त्रकारस्य सूरेरुपकाराय प्रवृत्तस्य प्रत्युत प्रभूतानामपकारायापि प्रवृत्तिः प्रबभूव, ततश्च लाभमिच्छतो मूलहानिरजनिष्टेति चेत्। न, शास्त्रकारात्सर्वोपकारायैव प्रवृत्तात् कस्याप्यपकारासिद्धेः। विशेषणद्वारेण हेयोपादेयविभागस्यापि कतिपयसहृदयहृदयसंवेद्यस्य संसूचनात्। तथाहि–सद्दर्शनं जिनं नत्वा–

उपादेयका ग्रहण करके परम्परासे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप सिद्धिका प्राप्त करना।

§ ११ शंका—जब शास्त्रकारने सभी दर्शनोके ग्रन्थोका अच्छी तरह आलोडन करके ही परोपकारके लिए इस शास्त्रको रचा है तब उन्होने ही 'अमुक-अमुक दर्शन हेय है तथा अमुक-अमुक दर्शन उपादेय है' यह स्पष्टरूपसे क्यो नही कह दिया? **समाधान**—इस ग्रन्थमे सभी दर्शनोका समुच्चयरूपसे कथन करना ग्रन्थकारको इष्ट है। अत वह पूर्ण मध्यस्थ भावसे उनका यथार्थ निरूपण करे यही उचित है। इसके विपरीत यदि वह अपनी इस मर्यादाका उल्लंघन कर 'ये दर्शन हेय है और यह उपादेय है' इस प्रकार उनकी हेयोपादेयतामे अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है तो तटस्थ सज्जन तथा अन्यदर्शनावलम्बी उसके वचनोमे आदर तो करेगे ही नही प्रत्युत शास्त्रकारकी निन्दा ही होगी।

§ १२. **शंका**—यदि आचार्य दर्शनोकी हेयोपादेयताका विवेक नही बताते है तब तो उनकी यह शास्त्रप्रवृत्ति परोपकारके लिए नही हुई। **प्रश्न**—ऐसा कहनेका कारण क्या है? **उत्तर**—यह मैं बताता हूँ। जो मुझ-जैसे मन्दबुद्धि श्रोता है वे बुद्धिकी मन्दताके कारण स्वयं तो 'ये दर्शन हेय है तथा ये उपादेय' इस प्रकार दर्शनोमे हेयोपादेय विवेक कर ही नही सकते, अतएव वे समस्त दर्शनोके स्वरूपको सुनकर स्वभावत यही सोचेगे कि 'जब सभी दर्शन परस्पर विरोधी कथन करनेवाले है, तथा इनमे 'कौन सत्य है और कौन असत्य' यह जानना कठिन है तब इन दर्शनोको—जिनका समझना ही अत्यन्त कठिन है—जानकर ही हम क्या करेगे? जो अच्छा लगे सो करो। इस समय ऐसे दर्शनोके विवेकको नही जाननेवाले ही बहुत है। इसलिए शास्त्रकार आचार्यकी परोपकारके लिए की गयी यह प्रवृत्ति विवेकविमुख बहुत लोगोके अपकारके लिए ही सिद्ध हुई। अत ग्रन्थकारका लाभके लिए किया गया यह व्यापार मूलका ही नाश करनेवाला सिद्ध हुआ। **समाधान**—सबके उपकारके लिए ही प्रवृत्ति करनेवाले शास्त्रकारसे किसी भी व्यक्तिका अपकार हो ही नही सकता। आचार्यने स्वय 'सद्दर्शन' आदि विशेषणो-द्वारा दर्शनोके हेयोपादेय विवेककी भी बडी कुशलतासे सूचना की है, जो कुछ सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते है। वह इस

[हैम० ५।१।१७१] इति डः, कं वचनम्, स्याद्वाददेशं कं वचनं यस्य तम्। अनेन विशेषणेन प्रागुक्तानुक्तानामशेषाणां बौद्धादीनां संभवैतिह्यप्रमाणवादिचरकप्रमुखाणां च मतानामुच्छेदकारि वचनमित्यर्थ.। 'जिनं नत्वा मया सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते' इत्युक्तं ग्रन्थकृता। अत्र च नमनक्रिया प्राक्कालसंबन्धिनी, क्त्वाप्रत्ययस्य प्राक्कालवाचकत्वात्, निगदनक्रिया तु वर्तमानजा। ते चैकेनैव ग्रन्थकृता क्रियमाणे नानुपपन्ने, अपरथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसंगात्। न चैवं भिन्नकालयोः क्रिययोरेककर्तृकता बौद्धमते संभवति, तेन क्षणिकवस्त्वभ्युपगमात्। ततः कश्चिद्बौद्धमतस्य प्रस्तुतग्रन्थस्यादावुक्तत्वेनोपादेयतां मन्येत, तन्निवारणाय प्रागुक्तविशेषणसंगृहीतमपि बौद्धमतनिरसन पुनरिह सूचितं द्रष्टव्यम्। एतेषा परदर्शनाना निरसनप्रकारो ग्रन्थान्तरादवसेय.। तदेवं जिनस्य विशेषणद्वारेण सत्यदर्शनतां सर्वपरदर्शनजेतृवचनतां चाभिदधता अखिलान्यदर्शनानां हेयता जैनदर्शनस्योपादेयता' च सूचिता मन्तव्या। ततो नास्माद् ग्रन्थकारात् सत्यासत्यदर्शनविभा-

---

करनेपर 'क' शब्द सिद्ध होता है। जिसका 'क' अर्थात् वचन 'स्याद्वाददेश' है अर्थात् स्याद्वादविरोधियोका खण्डन करनेवाला है वह स्याद्वाददेशक है। स्याद्वाददेशक विशेषणका भी अर्थ है जिसके वचन स्याद्वादमे विरोधादि असद्भूत दूषणोका आरोप करनेवाले अन्य मतोका खण्डन करनेवाले हैं वह। इस तरह 'स्याद्वाददेशक' इस विशेषणसे सूचित होता है कि भगवान्के वचन उक्त या अनुक्त सभी बौद्धादि दर्शनोके तथा सम्भव और ऐतिह्यको प्रमाण माननेवाले चरक आदिके मतोके उच्छेद करनेवाले हैं। अत इनसे जैनदर्शनके अतिरिक्त अन्यदर्शनोमे हेयताता भी सूचन हो ही जाता है।

गानभिज्ञानामस्पष्टत्वात् कथं सम्यक्प्रतीतिः, तद्विभागस्यापि दुर्विज्ञेयत्वात् ।

§ १३ अत्रापरः कश्चिदाह— ननु येषां सत्यासत्यदर्शनविभागाविर्भावके ग्रन्थकारवचसि सम्यगास्था न भवित्री तेषां का वार्तेति । उच्यते—श्रोतारस्तावद् द्विविधा भवन्ति—एके रागद्वेषाभावेन मध्यस्थचेतसः, अन्ये पुना रागद्वेषादिकालुष्यकलुषितत्वाद् दुर्बोधचेतसः । ये दुर्बोधचेतसः तेषां सर्वज्ञेनापि सत्यासत्यविभागप्रतीतिः कर्तुं दुःशका किं पुनरपरैरिति तानवगणय्य मध्यस्थचेतस उद्दिश्य विशेषणावृत्त्या सत्यासत्यमतविभागज्ञानोपायं प्राह— सद्दर्शनमिति । वीरं कथंभूतम् । सद्दर्शनम्—सन्तः साधवो मध्यस्थचेतस इति यावत् । तेषां दर्शनं ज्ञानम् अर्थात्सत्यासत्यमतविभागज्ञानं यथावदाप्तपरीक्षाक्षमत्वेन यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । एतेन श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिस्वरूपमेव परीक्षणीयम् इति सूचितम् । अथवा, सतां साधूनां दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं यस्मात् स सद्दर्शनः । अथवा, सन्तो विद्यमाना जीवाजीवादयः पदार्थास्तेषां दर्शनं यथावदवलोकनं यस्माद्वीरात्स सद्दर्शनस्तम् । पुनः एवंविधम् । यतः स्याद्वाददेशकं प्रागुक्तस्याद्वादभाषकम् । एवंविधमपि कुतः । इत्याह—यतो जिनं रागद्वेषादिजयनशीलम् । जिनो हि वीतरागत्वादनृतं न भाषते, तत्कारणा-

सत्यताका तथा समस्त परदर्शनोका विजय प्राप्त करनेवाले वचनका अभिधान करके यह सूचित किया है कि अन्य समस्त दर्शन हेय है तथा जैनदर्शन उपादेय है । इसलिए इस ग्रन्थकारने उन अल्पबुद्धि श्रोताओके भी उपकारकी सम्भावना नही की जा सकती जो दर्शनोकी सत्यासत्यताका निर्णय करनेमे असमर्थ है ।

§ १३ शका—दर्शनोमे सत्यासत्य विभाग करनेवाले इस ग्रन्थकारके वचनोमे जिन श्रोताओकी सम्यक् श्रद्धा न हो उनको सत्यासत्यका परिज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—जो श्रद्धा नही करेगे ऐसे श्रोता दो प्रकारके हो सकते है—(१) रागद्वेषादिजन्य दुराग्रहसे रहित मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले, (२) रागद्वेषादिसे कलुषित होनेके कारण दुर्बोध चित्तवाले। इनमे जो दुर्बोध चित्तवाले है उन्हे तो स्वय सर्वज्ञ भी सत्यासत्य विभाग नही करा सकता दूसरो-की तो बात ही क्या ? इसलिए ऐसे श्रोताओकी उपेक्षा करके मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले जिज्ञासु श्रोताओको लक्ष्यमे रखकर 'सद्दर्शन' आदि विशेषणोकी पुन आवृत्ति करके सभी दर्शनोमे सत्या-सत्य विवेक करनेका उपाय बताते है ।

मूलमे वीरको सद्दर्शन कहा गया है । 'सद्दर्शन' का अर्थ है—जिन भगवान् वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् मध्यस्थ चित्तवृत्तिवाले साधु पुरुषोको आप्तकी यथावत् परीक्षा करनेकी शक्ति होनेके कारण दर्शन-ज्ञान अर्थात् मतोमे सत्यासत्यका विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सद्दर्शन वीर है । इस विशेषणसे यह सूचित होता है कि भगवान् वीरके आप्तत्व आदि स्वरूपकी ही यथावत् परीक्षा करनी चाहिए । अर्थात् चूंकि भगवान् वीर आप्तत्वकी कठिन परीक्षाको सह सकते है, वे उसमे खरे उतर सकते है अत इन वीरके प्रसादसे अन्य साधुपुरुषोको भी सत्यासत्य विवेक करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है । इसीलिए टीकाकार यहाँ भगवान् वीरके आप्तत्वकी परीक्षाकी सूचना दे रहे है । अथवा जिस वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् साधुजनोको दर्शन अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है वह सद्दर्शन वीर है । अथवा जिस वीरके प्रसादसे सत् अर्थात् विद्यमान जीवाजीवादि पदार्थोका दर्शन अर्थात् यथार्थ अवलोकन होता है वह सद्दर्शन वीर है ।

प्रश्न—वीर भगवान्‌की सद्दर्शनता कैसे जानी जाती है ?

उत्तर—चूंकि भगवान् वीर स्याद्वादके उपदेशक है इसीलिए वे सद्दर्शन है । और वे यत राग-द्वेषादि शत्रुओके जीतनेके कारण जिन है इसीलिए वे सत्य-स्याद्वादके उपदेशक है । जिन

१ सभवी तद्वि—प० १, २, भ० १, २ ।

भावादिति भावः'। शेषश्लोकव्याख्यानं प्राग्वत्।

§ १४. एवं चात्रैवमुक्तं भवति– ये हि श्रीवीरस्य यथावदाप्तत्वादिपरीक्षां विधास्यन्ते स्याद्वादं च तत्प्रणीतं मध्यस्थतया सम्यगवलोक्य पश्चात् परमतान्यप्यालोकिष्यन्ते ते सत्यासत्य-दर्शनविभागमपि स्वयमेवावभोत्स्यन्ते, किमस्मद्वचनस्यास्याकरणाकरणेनेति। एतेन ग्रन्थकृता स्वस्य सर्वथात्रार्थे माध्यस्थ्यमेव दर्शितं द्रष्टव्यम्। सत्यासत्यदर्शनविभागपरिज्ञानोपायश्च हितबुद्ध्यात्राभिहितोऽवगन्तव्यः; पुरातनैरपीत्थमेव सत्यासत्यदर्शनविभागस्य करणात्। तदुक्तं पूज्यश्रीहरिभद्रसूरिभिरेव लोकतत्त्वनिर्णये—

"बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ॥१॥"

[लोकतत्त्व० १।३२]

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥२॥"

[लोकतत्त्व० १।३८]

वीतराग होनेके कारण असत्य नहीं बोल सकते, क्योंकि असत्य बोलनेके कारण राग-द्वेष-मोह तथा अज्ञान होते हैं। और ये उनमें नहीं हैं। श्लोकके अन्य पदोंकी व्याख्या पहलेकी ही तरह यहाँ समझ लेनी चाहिए।

प्रकल्पितविकल्पनिबन्धनत्वात्परसमयानाम्, विकल्पाना चासंख्यत्वात् । अयं भावः—यावन्तो जने तत्तदपरापरवस्त्वेकदेशानामवधारणप्रतिपादकाः शब्दप्रकारा भवेयुस्तावन्त एव परसमया भवन्ति । ततस्तेषामपरिमितत्वमेव, स्वकल्पनाशिल्पिघटितविकल्पानामनियतत्वात् तदुत्थप्रवादानामपि तत्संख्यापरिमाणत्वादिति । तदेवं गणनातिगाः परसमया भवन्ति ।

अथवा 'सूत्रकृदाख्ये द्वितीयेऽङ्गे परप्रवादुकानां त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परिसंख्यायन्ते । तदर्थसंग्रहगाथेयम्—

"[2]असिइसय किरियाण अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणि अ सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीस ॥१॥"
[सूत्रकृ० नि० गा० ११९]

§ १९. अस्या व्याख्या—अशीत्यधिकं शतम्, "किरियाणं ति" क्रियावादिनाम् । तत्र क्रियां जीवाद्यस्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाः क्रियावादिनः[3], मरीचिकुमारकपिलोलूकमाठरप्रभृतयः । ते

सृष्टि होती है तथा विकल्प असख्य होते है । तात्पर्य यह है कि—लोकमे जितने एक-एक धर्मोके अवधारण करनेवाले शब्द प्रयोग हो सकते है उतने ही परदर्शन होते है । चूंकि काल्पनिक विकल्प अपरिमित है अत उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रवाद भी उतने ही होते है । इस तरह परसमय अनगिनत होते है ।

§ १८. अथवा, सूत्रकृत[4] नामके दूसरे अगमे परवादियोके ३६३ प्रकारोका इस गाथामे सग्रह किया है—"क्रियावादियोके १८०, अक्रियावादियोके ८४, अज्ञानवादियोके ६४, तथा विनयवादियोके ३२ प्रकार होते है ।"

§ १९. व्याख्या–क्रियावादियोके १८० भेद है । क्रिया अर्थात् जीवादि पदार्थोके अस्तित्वको

पुनरमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेया । जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षरूपान्नवपदार्थान् परिपाट्या पट्टिकादौ विरचय्य जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः । ततश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः । तद्यथा 'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः' इत्येको विकल्पः ।

अस्य च विकल्पस्यायमर्थः—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः

मानते हैं । मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, माठर आदि क्रियावादी हैं । इनके १८० भेद इस प्रकार समझना चाहिए—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप तथा मोक्ष इन नव पदार्थोंको पट्टी आदिपर क्रमशः स्थापित करना । जीव पदार्थके नीचे स्वतः और परतः ये दो भेद स्थापित करके फिर उनके नीचे नित्य और अनित्यरूपसे भी भेद स्थापित करे । फिर हर एकके नीचे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति तथा स्वभाव रूपसे पाँच-पाँच भेद स्थापित करना चाहिए । इस तरह एक जीव पदार्थके इस प्रकार विकल्प होंगे—जीव स्वतो नित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद, स्वतोऽनित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद, जीव परतो नित्य रूप है कालादिसे—पाँच भेद तथा परतोऽनित्यरूप कालादिसे—पाँच भेद मिलकर बीस भेद हुए । इस तरह नव पदार्थोंके २०×९=१८० भेद हो जाते हैं । इन विकल्पोंका अर्थ इस प्रकार है—पहला विकल्प 'अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः'–जीव स्वतः अपने स्वरूपसे विद्यमान है, नित्य है तथा कालके अधीन प्रवृत्ति करता है ।

कालवादियोंके मतसे यह आत्मा स्वरूपसे विद्यमान है, नित्य है तथा कालाधीन होकर प्रवृत्ति

---

१ तुलना—"जीवादयो नव पदार्थाः परिपाट्या स्थाप्यन्ते, तदधः 'स्वतः परतः' इति भेदद्वयम्, ततोऽप्यधो नित्याऽनित्यभेदद्वयम्, ततोऽप्यधस्तत्परिपाट्या कालस्वभावनियतीश्वरात्मपदानि पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । ततश्चैवं चारणिकाक्रमः, तद्यथा अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः, तथा अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालत एव । एवं परतोऽपि भङ्गकद्वयम् । सर्वेऽपि चत्वारः कालेन लब्धाः, एवं स्वभावनियतीश्वरात्मपदान्यपि प्रत्येकं चतुर एव लभन्ते । तथा च पञ्चापि चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति । सापि जीवपदार्थेन लब्धा । एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिं लभन्ते । ततश्च नव विंशतयो मीलिताः क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं भवन्तीति ।"—सूत्र० शी० ११२। आचा० शी० १।१।१।३ स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दी० मलय० सू० ४६ । "अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था । कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते हि भंगा हु ॥ प्रथमतः अस्तिपदं लिखेत्, तस्योपरि स्वतः परतः नित्यत्वेन अनित्यत्वेनेति चत्वारि पदानि लिखेत्, तेषामुपरि जीवः अजीवः पुण्यं पापम् आस्रवः संवरः निर्जरा बन्धः मोक्षः इति नव पदानि लिखेत्, तदुपरि कालः ईश्वरः आत्मा नियतिः स्वभावः इति पञ्च पदानि लिखेत् । ते खल्वक्षसंचारक्रमेण भङ्गा उच्यन्ते, तद्यथा–स्वतः सन् जीवः कालेन अस्ति क्रियते । परतो जीवः कालेन अस्ति क्रियते । नित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते । अनित्यत्वेन जीवः कालेन अस्ति क्रियते । तथा अजीवादिपदार्थं प्रति चत्वारश्चत्वारो भूत्वा कालेनैकेन सह षट्त्रिंशत् । एवमीश्वरादिपदैरपि षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् भूत्वा अशीत्यग्रशतं क्रियावादभङ्गाः स्युः ।"—गो० कर्म०, टी०, गा० ८७७ । २. "किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ कालस्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् । संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥" —श्वेताश्व० १।१, २। नारदपरि० ९।१ । "कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।" —सन्मति० ३।५३ । धर्मसं० गा० ५६६ । ३ "तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव । नित्यः शाश्वतः न क्षणिकः पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात् । कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम् । उक्तं च–'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।

कालवादिनो मते । कालवादिनश्च[1] नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्वं मन्यन्ते । तथा च ते प्राहुः—न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रचारगर्भाधानवर्षादयो वर्तुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलीपलितागमादयो

करता है। कालवादी इस समस्त जगत्को कालकृत मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—कालके बिना चम्पा अशोक आम आदि वनस्पतियोंमे फूल तथा फलोंका लगना, कुहरेसे जगत्को धूमिल करनेवाला हिमपात, नक्षत्रोंका सचार, गर्भाधान, वर्षा आदि ऋतु विभागसे होना, बचपन,

---

काल. सुप्तेपु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।' स चातीन्द्रिय. युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतु क्षणलवमुहूर्तयामाहोरात्रमासर्तु-अयन-संवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्तातीतानागतवर्तमानसर्वाद्धादिव्यवहाररूप । द्वितीयविकल्पे तु कालादेव आत्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयं किन्त्वनित्योऽसौ इति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात् । तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते ? कथं पुन: परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थाना परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव चानात्मन स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धि प्रवर्तते इति, अतो यदात्मनः स्वरूप तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति । चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पा ।"—आचा० शी० १।१।१।४ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । "अस्य च विकल्पस्यायमर्थः—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालत: कालवादिनो मते । कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगत् मन्यन्ते । तथा च ते आहु —न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा सर्वमव्यवस्था भवेत्, न चैतद् दृष्टमिष्ट वा। अपि च मुद्गपक्तिरपि "—नन्दि० मलय० पृ० २१३ B ।

१ "विधातृविहितं मार्ग न कश्चिदतिवर्तते। कालमूलमिद सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ काल सृजति भूतानि कालः सहरते प्रजा । संहरन्तं प्रजा काल कालः शमयते पुन ॥ कालो विकुरुते भावान् सर्वाल्लोके शुभाशुभान् । काल. सक्षिपते सर्वा प्रजा विसृजते पुन ॥ कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम । कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृत. सम ॥ अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् । तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञा हातुमर्हसि ॥" —महाभा० आदि० १।२७२-७६ । "काल पचति भूतानि " यस्मिस्तु पच्यते कालो यस्त वेद स वेदवित् ।"—मैत्रा० ६।१५; उपनिषद्वाक्यकोष । "काल कलयते लोक काल कलयते जगत् । कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥ कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नरा । कालो हि भगवान् देव स साक्षात्परमेश्वरः ॥ सर्गपालनसहर्ता स काल सर्वत सम । कालेन कल्प्यते विश्व तेन कालोऽभिधीयते ॥ येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्प्यते कला । सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारक ॥ य कर्माणि प्रपश्येत प्रकर्षे वर्तमानके । सोऽपि प्रवर्त्तको ज्ञेय कालः स्यात् प्रतिपालक ॥ येन मृत्युवशं याति कृतं येन लय व्रजेत् । सहर्ता सोऽपि विज्ञेय. कालः स्यात् कलनापर ॥ काल सृजति भूतानि काल सहरते प्रजा । काल· स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम. ॥ काले देवा विनश्यन्ति काले चासुरपन्नगा । नरेन्द्राः सर्वजीवाश्च काले सर्वं विनश्यति ॥" हारीत सं० स्था० १ अ० ४ । "केचित् कालं कारणतया वर्णयन्ति—काल सृजति भूतानि " —सांख्य० माठर० पृ० ७६ । माध्य० वृ० पृ० ३८१ । चतु·श० पृ० ३८ । लोकत० १।६।। सन्मति० टी० पृ० ७११ । 'कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूद । जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥"—गो० कर्म० गा० ८७९ । २. —नक्षत्रगर्भा—व०, प० १, २, भ० १, २ ।

वावस्थाविशेषा घटन्ते, प्रतिनियतकालविभागत एव तेषामुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत् । न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । अपि च, मुद्गपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ती दृश्यते, किंतु कालक्रमेण । अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्या भावो भवेत्, न च भवति, तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति ।

§ २०. तथा चोक्तम्—

> "न कालव्यतिरेकेण गर्भबाल्ययुवादिकम्[1] ।
> यत्किंचिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥१॥
> किंच कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
> स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥२॥
> कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
> परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥३॥"
>
> [शास्त्रवा० श्लो० १६५-६८]

> "कालः पचति भूतानि कालः संहरते[2] प्रजाः ।
> कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥४॥"
>
> [महाभा०, हारीतसं०]

जवानी तथा मुँह आदिमें झुर्रियाँ तथा बालोंमें सफेदी लानेवाली वृद्धावस्था आदि अवस्थाओंका होना असम्भव हो जायेगा, क्योंकि ये सब कालके प्रतिनियत विभागसे ही सम्बन्ध रखती हैं। काल न हो तो यह सब अव्यवस्थित हो जायेगा। परन्तु इनकी अव्यवस्था न तो अनुभवमें ही आती है और न इष्ट ही है। मूँगकी दालका परिपाक भी कालक्रमसे ही होता है। यदि कालके बिना ही परिपाक हो जाय तो बटलोई ईंधन आदि सामग्रीके मिलते ही प्रथम क्षणमें ही दाल पक जानी चाहिए। पर ऐसा तो नहीं देखा जाता अर्थात् मूँगकी दालको पकानेके लिए १५-२० मिनिटका समय तो अपेक्षित होता ही है। इसलिए यह नियम है कि जो-जो कृतक अर्थात् कार्य हैं वे सब कालकृत ही हैं। जिन वस्तुओंकी उत्पत्तिमें दूसरे कारणके व्यापारकी अपेक्षा होती है उन्हें कृतक कहते हैं।

§ २० कहा भी है—"इस संसारमें गर्भाधान बाल्यकाल जवानी आदि जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब कालकी सहायतासे ही उत्पन्न होता है, कालके बिना नहीं। क्योंकि काल एक समर्थ कारण है ॥१॥ बटलोई इन्धन आदि पाककी सामग्री मिल जानेपर भी जबतक उसमें काल अपनी सहायता नहीं करता तबतक मूँगकी दालका परिपाक नहीं देखा जाता अतः यह मानना ही होगा कि मूँगकी दालका परिपाक कालने ही किया है ॥२॥

यदि दूसरोंके द्वारा माने गये हेतुके सद्भाव मात्रसे ही कार्य हो और कालको कारण न माना जाय तो गर्भाधान आदिकी कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् यदि ऋतुकालकी कोई अपेक्षा नहीं है तो मात्र स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही गर्भाधान हो जाना चाहिए ॥३॥"

"काल पृथिवी आदि भूतोंके परिणमनमें सहायक होता है, काल ही प्रजाका संहार करता है अर्थात् उन्हें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें ले जाता है। सदा जाग्रत् काल ही सुषुप्तिदशामें भी प्राणियोंकी रक्षा करता है। अतएव यह काल दुरतिक्रम है अर्थात् उसका निराकरण अशक्य है।"

---

१ —बाल्ययुवादि—क० प० १, २, स० १, २। २ संहरति प० १, २, स० १।

अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिरूपहेतुसद्भावमात्रादेव तद्‌द्भवादिति गर्भाद्युद्भवप्रसङ्गात्। तथा कालः पचति—परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि। तथा कालः संहरते प्रजाः—पूर्वपर्यायात्प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजा लोकान्स्थापयति। तथा कालः सुप्तेषु जागर्ति–काल एव सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः। तस्माद् हि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्तुमशक्यः काल इति।

§ २१. [1]उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्यः, नवरं कालवादिन इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम्। तद्यथा—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः ईश्वरतः। [2]ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृतं मन्यन्ते। ईश्वरं च सहसिद्धज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूपचतुष्टयं प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयोः प्रेरकमिति। तदुक्तम्—

"[3]ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पते।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥१॥"

इन श्लोकोमे आये हुए कुछ विशिष्ट पदोका अर्थ—

परेष्टहेतुसद्भावमात्रात् = दूसरोंको अभिमत स्त्री-पुरुष सम्भोग मात्रसे।

तदुद्भवात् = गर्भाधान हो जाने से।

काल· पचति = काल ही पृथिवी आदि भूतोमे परिवर्तन कराता है।

काल संहरते प्रजा· = काल ही आत्माओको एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे ले जाता है–उनमे परिणमन कराता है।

काल. सुप्तेषु जागर्ति = काल ही सोते हुए प्राणीकी आपत्तियोसे रक्षा करता है।

कालो हि दुरतिक्रमः = अत· काल अलघ्य शक्ति है उसे कोई नही टाल सकता।

§ २१ जिस प्रकार पहला विकल्प कालवादियोकी अपेक्षासे है उसी तरह 'अस्ति जीव. स्वतो नित्य ईश्वरत' अर्थात् जीव स्वत विद्यमान है, नित्य है और ईश्वरके अधीन प्रवृत्ति करता है' यह दूसरा विकल्प ईश्वरवादियोकी अपेक्षासे है। ईश्वरवादी इस जगत्को ईश्वरकृत मानते हैं। वह ईश्वर सहजसिद्ध ज्ञान वैराग्य धर्म और ऐश्वर्य इस चतुष्टयका धारक है तथा प्राणियोको स्वर्ग और नरकमे भेजनेवाला है। कहा भी है—

"जगत्पति ईश्वरको अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा ऐश्वर्य रूप चतुष्टय सहज ही प्राप्त है ॥१॥

---

१ "उक्तेनैव प्रकारेण द्वितीयोऽपि विकल्पो वक्तव्य, नवर कालवादिन इति वक्तव्ये ईश्वरवादिन इति वक्तव्यम्। तद्यथा "—नन्दि० मलय० पृ० २१४ A.। "तथाऽन्येऽभिदधते—समस्तमेतज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम् "—आचा० शी० १।१।१।४। बुद्धच० ९।६२। "अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुह च दुक्ख च। सग्ग णिरय गमण सव्व ईसरकयं होदि ॥"—गो० कर्म० गा० ८८०। २ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते "—तैत्ति० २।१।१। "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वत पात्। सबाहुभ्या धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक ॥"—श्वेता० ३।३। "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त. सर्वं प्रवर्तते।"—गीता १०।८। "यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर।" —गीता १५।१७। 'सज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टाना लिङ्गम्"—वैशे०२।१।१८। "ईश्वर कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्"—न्यायसू० ४।१।२०। ३ श्लोकोऽय निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृत —शास्त्रवा० श्लो० १९५। सूत्र० शी० पृ० २५६। सन्मति० टी० पृ० ६९। प्रमाणमी० पृ० १२। नन्दि० मलय० पृ० २१४।

"नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधत ॥१॥
यद्यदेव यतो यावत्तत्तदेव ततस्तथा ।
नियत जायते न्यायात् क एना वाधितु क्षम. ॥२॥"

[शास्त्रवा० श्लो० १७३, १७४]

§ २४. पञ्चमो विकल्पः स्वभाववादिनाम् । स्वभाववादिनो ह्येवमाहुः–इह वस्तुनः स्वत एव परिणतिः स्वभावः सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते । तथाहि–मृद. कुम्भो भवति न पटादिः, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादिः । एतच्च प्रतिनियतं भवनं न तथास्वभावतामन्तरेण घटासंटङ्कमाटीकते । तस्मात्सकलमिदं स्वभावकृतमवसेयम् । तथा चाहुः—

"चूंकि ससारके सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूपसे उत्पन्न होते है अत यह ज्ञान हो जाता है कि ये सब नियतिसे उत्पन्न हुए है। यह समस्त चराचर जगत् नियतितत्त्वसे गुँथा हुआ है उससे तादात्म्यको प्राप्त होकर नियतिमय हो रहा है ॥१॥

"जिसे जिस समय जिससे जिस रूपमे होना है वह उससे उसी समय उसी रूपमे उत्पन्न होता है। इस तरह अवाधित प्रमाणसे प्रसिद्ध इस नियतिके स्वरूपको कौन बाधा दे सकता है? वह सर्वत: निर्वाध है" ॥२॥

"क कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्य, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च ।
स्वभावत सर्वमिद प्रवृत्त न 'कामचारोऽस्ति कुत. प्रयत्न ॥१॥"
[बुद्धच० ९।६२]

"बदर्या कण्टकस्तीक्ष्ण ऋजुरेकश्च कुञ्चित ।
फल च वर्तुल तस्या वद केन विनिर्मितम् ॥२॥"
[लोकतत्त्व० २।२२] इत्यादि ।

§ २५. अपि च, आस्तामन्यत्कार्यजातमिह मुद्गपक्तिरपि न स्वभावमन्तरेण भवितुमर्हति । तथाहि-स्थालीन्धनकालादिसामग्रीसंभवेऽपि न [2]कंकटुकमुद्गाना पक्तिरुपलभ्यते, तस्माद्यद्भावे भवति तत्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्कृतमिति स्वभावकृता मुद्गपक्तिरप्येष्टव्या । ततः सकलमेवेदं वस्तुजातं स्वभावहेतुकमवसेयमिति ।

§ २६. तदेव[3] स्वत इति पदेन लब्धाः पञ्च विकल्पाः । एवं च परत[4] इत्यनेनापि पञ्च

"यह सारा ससार स्वभावसे ही अपनी सारी प्रवृत्ति कर रहा है, इसमे किसीकी इच्छा या प्रयत्नका कोई हस्तक्षेप नही है । वताओ—काँटोमे तीक्ष्णता-नुकीलापन किसने पैदा किया, किसने उन काँटोको घिसकर पैना किया होगा ? हरिण तथा पक्षियोके विचित्र स्वभाव किसने किये । पक्षियोके अनेक रगके पर उनकी मधुर कूजन, हिरणकी सुन्दर आँखे,उसका छलाँगे भरकर कूदना-फाँदना ये सव स्वभावसे ही है ॥१॥

विचार करके वताइए कि—वेरके अत्यन्त नुकीले कुछ सीधे और कुछ तिरछे काँटे किसने पैदा किये ? फिर उसका अत्यन्त स्वादु और गोल फल किसने वनाया ? तात्पर्य यह—सव स्वभावकी ही लीला है ॥२॥" इत्यादि ।

§ २५ अन्य कार्योकी वात तो जाने दो, मूँगकी दालका पाक भी स्वभावके विना नही हो सकता । वटलोई, ईधन, समय आदि सभी सामग्री उपस्थित है, पर कुकडू-मूँगका पाक नही होता । इससे स्पष्ट मालूम होता है कि जिसमे पकनेका स्वभाव है वही पक सकता है अन्य नही । इस तरह स्वभावके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे समस्त कार्य स्वभावकृत ही समझना चाहिए । मूँगका पाक भी स्वभावकृत ही है ।

§ २६ इस तरह 'स्वत.' पदके काल नियति आदि पाँच विकल्प होते है । आत्मा 'परत.' पदके भी इसी तरह पाँच विकल्प होते है । आत्मा परत —परसे व्यावृत्त है, अर्थात् आत्मा स्वरूपसे

---

१ "कामकारोऽस्ति' बुद्धच० । उद्धृतोऽयम्—लोकत० २।२१। आचा० शी० १।१।१।४ । सन्मति० टी० पृ० ७१२ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ८३ A । २ ककदुक-क०, भ० २ । ३ "तत एव स्वत इति पदेन लब्धा पञ्च विकल्पा । एव परत इत्यनेनापि पञ्च लभ्यन्ते । परत इति-परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेण विद्यते खल्वयमात्मेत्यर्थ । एव नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धा एवमनित्यपदेनापि दश, सर्वे मिलिता विंशति । एते च जीवपदार्थेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येक विंशतिर्विंशतिर्विकल्पा लभ्यन्ते, ततो विंशतिर्नवगुणिता शतमशीत्युत्तर क्रियावादिना भवति ।"—नन्दि० मलय० पृ० २१४B । ४ "तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथ पुन परतोऽस्तित्व मात्मनोऽभ्युपेयते ? नन्वेतत् प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थाना परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेद यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति । एवमेव च अनात्मन स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि आत्मबुद्धि प्रवर्तते इति, अतो यदात्मन स्वरूप तत् परत एवावधार्यते न स्वत इति ।"—आचा० शी० १।१।१।४ ।

लभ्यन्ते। परत इति परेभ्यो व्यावृत्तेन रूपेणात्मा विद्यते। यतः प्रसिद्धमेतत्-सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो यथा दीर्घत्वाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वादिपरिच्छेदः, एवमात्मनि स्तम्भादीन्समीक्ष्य तद्व्यतिरिक्तबुद्धिः' प्रवर्तते। अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते न स्वत इति। एवं नित्यत्वापरित्यागेन दश विकल्पा लब्धाः। एवमनित्यपदेनापि, सर्वेऽपि मिलिता विंशतिः। एते च जीवपदार्थेन लब्धाः। एवमजीवादिष्वष्टसु पदार्थेषु प्रत्येकं विंशतिर्विंशतिर्विकल्पा लभ्यन्ते। ततो विंशतिर्नवगुणिता शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनां भवति।

§ २७. तथा न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन' आत्मादिनास्तित्ववादिन इत्यर्थः। ते च 'कोक्कुलकाण्ठेविद्धिरोमकसुगतप्रमुखाः। तथा चाहुरेके—

"'क्षणिका सर्वसस्कारा अस्थिराणा कुत. क्रिया।
भूतिर्ये(र्यै)षा क्रिया सैव कारण सैव चोच्यते ॥१॥"

है पररूपसे नही। यह तो प्रसिद्ध ही है कि सभी पदार्थोके स्वरूपका निश्चय परपदार्थकी व्यावृत्ति करके ही होता है। जैसे दीर्घत्वादि—लम्बाई आदिकी अपेक्षासे ह्रस्वत्वादि—छुटाई आदिका स्वरूप निश्चित होता है। उसी तरह सभी पदार्थोके स्वरूपका निर्णय पररूपके निश्चयकी अपेक्षा स्वता है। इसी तरह स्तम्भादि जड पदार्थोकी समीक्षा करनेके अनन्तर ही आत्मामे स्तम्भादिसे भेदबुद्धि होती है। अत' आत्माके स्वरूपका निश्चय परपदार्थके निरूपण करनेके बाद उनसे व्यावृत्त बुद्धि होनेपर ही होता है। परपदार्थसे बिलकुल निरपेक्ष होकर किसी भी वस्तुका मात्र स्वतः ही निर्णय करना असम्भव है। इस तरह नित्य पदके 'स्वत और परत.' इन दो भगोको काल आदि पाँचोके साथ गुणा करनेपर दस विकल्प होते है। इसी तरह 'अनित्य' पदके भी दस भेद समझ लेने चाहिए। जिस प्रकार ये बीस विकल्प जीव पदार्थके होते है उसी तरह अजीव आदि अन्य आठ पदार्थोके भी बीस-बीस ही विकल्प होते है। इस प्रकार बीस विकल्पोको नव पदार्थोसे गुणा करनेपर क्रियावादियोके १८० भेद हो जाते है।

§ २८ एतेषा चतुरशीतिर्भवति। सा चामुनोपायेन द्रष्टव्या–'पुण्यापुण्यवर्जितशेषजीवाजीवादिपदार्थसप्तकन्यास, तस्य चाध प्रत्येकं स्वपरविकल्पोपादानम्, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तः, कालादीना पञ्चानामधस्तात्षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते। इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता। तत एव विकल्पाभिलाप–'नास्ति जीव स्वत कालत' इत्येको विकल्प। अय भाव:–इह पदार्थाना लक्षणत सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा। न चात्मनस्तादृगस्ति लक्षणं येन तत्सत्तां प्रतिपद्येमहि। नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादि सभवति, अतो

की भूति अर्थात् उत्पत्ति या एक क्षण स्थायिनी सत्ता ही क्रिया है और इसी भूतिको ही कारण या कारक कहते हैं।"

§ २८ इनके चौरासी भेद इस प्रकार होते हैं—पुण्य और पापको छोडकर जीवादि सात पदार्थोंको स्व और पर इन दोसे तथा काल ईश्वर आत्मा नियति स्वभाव और यदृच्छा इन छहसे गुणा करनेपर चौरासी भेद हो जाते हैं। अक्रियावादी आत्मा आदि नित्य पदार्थोंका असत्त्व मानते हैं अत इनमे नित्य और अनित्य ये दो विकल्प नही होते हैं। जितने यदृच्छावादी हैं वे सब अक्रियावादी हैं अत क्रियावादियोकी भेद गणनामे यदृच्छा विकल्पको नही गिनाया है। अक्रियावादियोका प्रथम विकल्प 'नास्ति जीव स्वत कालत' अर्थात् जीव स्वत नही है कालकी दृष्टिसे' इस प्रकारका होता है। इसका तात्पर्य यह है कि—पदार्थोंकी सत्ताका निश्चय या तो लक्षण अर्थात् असाधारण स्वरूपसे होता है या फिर उसका कार्य देखकर। परन्तु आत्माका कोई भी ऐसा असाधारण लक्षण नही है जिससे उसकी सत्ता साधी जा सके। जगत्मे पर्वत आदि स्थूल कार्योंको देखकर उनके उत्पादक सूक्ष्म परमाणुरूप जगत्मे कारणोका अनुमान किया जाता है, पर

---

१ "तेषामपि जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षाख्या सप्तपदार्था स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभि षड्भिश्चिन्त्यमानाश्चतुरशीति विकल्पा भवन्ति। तद्यथा–'नास्ति जीव स्वत कालत, नास्ति जीव परत. कालत' इति कालेन द्वौ लब्धौ। एव यदृच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येक भवत, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवादिषु प्रत्येक द्वादश एते सप्तद्वादशका चतुरशीतिरिति।"—आचा० शी० १।१।१।४। सूत्र० शी० १।१२। नन्दि० मलय० पृ० २१५A। स्था० अभ० ४।४।३४५। "णत्थि सदो परदो वि य सत्त पयत्था य पुण्णपाऊणा। कालादियादिभगा सत्तरि चदुपति सजादा॥ णत्थि य सत्तपदत्था णियदीदो कालदो तिपतिभवा। चोद्दस इदि णत्थित्ते अक्किरियाण च चुलसीदी॥"—गो० कर्म० गा० ७८४ ८५। २ "अयमत्रार्थ —नास्ति जीव स्वत कालत इति। इह पदार्थाना लक्षणेन सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा। न चात्मनस्तादृगस्ति किंचिल्लक्षण येन सत्ता प्रतिपद्येमहि। नापि कार्यमणूनामिव महीध्रादिमभवति। यच्च लक्षणकार्याभ्या नाभिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव वियदिन्दीवरवत्, तस्मान्नास्त्यात्मेति। द्वितीयविकल्पोऽपि-यच्च स्वतो नात्मान बिभर्ति गगनारविन्दादिक तत् परतोऽपि नास्त्येव। अथवा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात् सर्वार्वाग्भागसूक्ष्मत्वाच्चोभयानुपलब्धे सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते। उक्त च–'यावद् दृश्य परस्तावद्भाग स च न दृश्यते।' इत्यादि। तथा यदृच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मन। का पुनर्यदृच्छा? अनभिसधिपूर्विका अर्थप्राप्तिर्यदृच्छा। 'अतर्कितोपस्थितमेव " 'वृथाभिमान॥ सत्य पिशाचा स्म वने वसामो भेरिं करागैरपि न स्पृशाम। यदृच्छया सिद्ध्यति लोकयात्रा भेरी पिशाचा परिताडयन्ति॥ यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकम्, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि ताल पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्राय काकोपरि पतिष्यामि, अथ च तत्तथैव भवति। एवमन्यदपि अतर्कितोपनतमजाकृपाणीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्। एव जातिजरामरणादिक लोके यादृच्छिक काकतालीयादिकल्पमवमेयमिति।"—आचा० शी० १।१।१।४।

नास्त्यात्मेति । एवमीश्वरादिवादिभिरपि यदृच्छापर्यन्तैर्विकल्पा वाच्याः । [1]सर्वेऽपि मिलिताः षड्विकल्पाः । अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः ।

§ २९. नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मते यदृच्छा ह्यनभिसंधिपूर्विकार्थप्राप्तिः । अथ के ते यदृच्छावादिनः ? उच्यते–इह[2] ये भावानां संतानापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किंतु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनः । ते ह्येवमाहुः–न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् । तथाहि–शालूकादपि जायते शालूको गोमयादपि जायते शालूकः । वह्नेरपि जायते वह्निररणिकाष्ठादपि । धूमादपि जायते धूमोऽग्नीन्धनसम्पर्कादपि । कन्दादपि जायते [3]कदली बीजादपि । वटादयो बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि । गोधूमबीजादपि जायन्ते गोधूमा वंशबीजादपि । ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि कार्यकारणभाव इति । यदृच्छातः क्वचित्किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यम् । न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथात्मानं प्रेक्षावन्तः परिक्लेशयन्ति । यदुक्तम्—

आत्माका कोई भी स्थूल कार्य हमारे दृष्टिगोचर नही होता जिससे उसका अनुमान किया जाय । इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमानका विषय न होनेके कारण आत्माका अस्तित्व सिद्ध नही होता अत आत्मा नही है । इसी तरह ईश्वर आदि यदृच्छा पर्यन्त विकल्पोकी अपेक्षासे 'नास्ति'की मीमासा कर लेनी चाहिए । इन काल आदि छहो विकल्पोमे कालादि पाँचका अर्थ तो पहलेकी तरह ही समझना चाहिए ।

§ २९ 'यदृच्छा' विकल्पका अर्थ इस प्रकार है—यदृच्छावादियोके मतानुसार यदृच्छाका अर्थ है–विना सकल्पके ही अर्थकी प्राप्ति होना, या जिसका विचार ही नही किया उसकी अतर्कित उपस्थिति होना । यदृच्छावादी पदार्थोमे सन्तानकी अपेक्षासे निश्चित कार्यकारणभाव नही मानते । उनका कहना है कि पदार्थोमे कोई नियत कार्यकारणभाव नही है किन्तु यदृच्छासे अर्थात् जो कोई भी पदार्थ जिस किसीसे भी उत्पन्न हो जाता है । वे कहते है कि पदार्थोके प्रतिनियत कार्यकारणभावका किसी भी प्रमाणसे ग्रहण नही होता, अत प्रतिनियत कार्यकारणभाव काल्पनिक ही है प्रामाणिक नही है । देखो, कमलकन्दसे भी कमलकन्द उत्पन्न होता है और गोबरसे भी कमलकन्दकी उत्पत्ति देखी जाती है । एक जगह अग्निकी उत्पत्ति अग्निसे देखने है तो दूसरी जगह अरणिके मन्थनसे भी अग्निकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है । एक जगह अग्नि और

"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।
काकस्य तालेन यथाभिघातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति वृथाभिमानः ॥१॥"
[आचा० २।१।१।१।४] इत्यादि ।

§ ३०. [1]दृष्टमेव सर्वं जातिजरामरणादिकं लोके [2]काकतालीयाभमिति । तथा च स्वतः षड्विकल्पा लब्धास्तथा नास्ति परतः कालत इत्येवमपि षड्विकल्पा लभ्यन्ते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश विकल्पा जीवपदेन लब्धाः । एवमजीवादिष्वपि षट्सु पदार्थेषु प्रत्येकं द्वादशद्वादश विकल्पा लभ्यन्ते । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिताश्चतुरशीतिर्भवन्त्यक्रियावादिनां विकल्पाः ।

§ ३१. तथा कुत्सितं[3] ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीत्यज्ञानिकाः । "[4]अतोऽनेकस्वरात्" [हैम० ७।२] इति मत्वर्थीय इकप्रत्ययः । अथवाऽज्ञानेन चरन्तीत्यज्ञानिकाः, असंचिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः [5]शाकल्यसात्यमुग्रिमौदपिप्पलादबादरायणजैमिनिवसुप्रभृतयः । ते ह्येवं

"जिस प्रकार 'काकतालीय' न्यायमे तालवृक्षसे गिरते हुए तालफलसे जुडते हुए कौवेकी टक्कर अकस्मात् बिना विचारे ही होती है, उसी तरह इस ससारमे सभी प्राणियोको नाना प्रकारके सुख-दु ख अतर्कितोपस्थित-बिना विचारे ही अपने आप ही हो जाते हैं। सुख-दु खकी उत्पत्तिमे किसीका भी बुद्धिपूर्वक व्यापार नही होता। अत इस यादृच्छिक जगत्मे 'अह करोमि—मैं करता हूँ' यह अहकार करना व्यर्थ है। कोई किसीका कुछ भी नही करता, सब यो ही होता रहता है।"

§ ३० संसारी प्राणियोकी उत्पत्ति बुढापा तथा मरण आदि सभी काकतालीय न्यायसे अचानक—पूर्वसूचनाके बिना ही होते हैं, यह तो सबके अनुभवकी ही बात है। इस तरह 'स्वत.' की अपेक्षा छह भेद हुए। 'नास्ति परत. कालत —परत. नही है कालकी अपेक्षासे' इस तरह 'परत.'की अपेक्षा भी छह भंग समझना चाहिए। जिस प्रकार जीवके ये १२ भेद 'स्वत. परत.'की अपेक्षा होते है उसी तरह अजीवादि छहके भी बारह-बारह विकल्प समझना चाहिए। इस प्रकार सातो जीवादि पदार्थोका बारह विकल्पोंसे गुणा करनेपर (७×१२) अक्रियावादियोंके चौरासी भेद हो जाते हैं।

§ ३१ खोटे ज्ञानको अज्ञान कहते है, खोटे ज्ञानवाले अज्ञानिक—अज्ञानवादी हैं। अज्ञानशब्दसे 'अतोऽनेकस्वरात्' सूत्रसे मत्वर्थीय इक् प्रत्यय करनेपर अज्ञानिक शब्द सिद्ध होता है। अथवा अज्ञानपूर्वक जिनका आचरण-व्यवहार है उन्हे अज्ञानिक कहते हैं। इनका सिद्धान्त है कि—बिना विचारे अज्ञानपूर्वक किया गया कर्मबन्ध विफल हो जाता है, वह दारुण दु.ख नही देता। इत्यादि शाकल्य, सात्यमुग्रि, मौद, पिप्पलाद, बादरायण, जैमिनि तथा वसु आदि प्रमुख अज्ञानवादी

१ दृष्ट–आ० । २ –तालीयान्यामिति क० ।—तालीयाभावित्ति प० १, २ । ३ "हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्"—सर्वार्थसि० ८।१ । "तथा न ज्ञानमज्ञान तद्विद्यते येषा तेऽज्ञानिन , ते ह्यज्ञानमेव श्रेय इत्येव वदन्ति ।"—सूत्र० शी० १।१२ । स्था० अभ० ४।४।३४५ । "कुत्सित ज्ञानमज्ञान तदेषामस्ति ते अज्ञानिका ते च वादिनश्चेत्यज्ञानिकवादिन । ते चाज्ञानमेव श्रेय , असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा न ज्ञानं कस्यापि क्वचिदपि वस्त्वस्ति प्रमाणानामसंपूर्णवस्तुविषयत्वादित्याद्यभ्युपगमवन्त ।"—भग० अभ० ३०।१ । अथवा अज्ञानेन चरन्तीति अज्ञानिका असञ्चिन्त्यकृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणा । तथाहि ते एवमाहु —न ज्ञान श्रेय ·"—नन्दि० मलय० पृ० २१५B । ४ ततोऽनेक—आ०, क०, प० १, २, भ० २ । ५ "शाकल्यवाल्कलकुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकण्ठमाध्यन्दिनमौदपैप्पलादबादरायणाम्बष्ठीकृदौरिकायनवसुजैमिन्यादीनामज्ञानकुदृष्टीना सप्तषष्टि ।"—राजवा० पृ० ५१ ।

कुर्वते—न ज्ञानं श्रेयः, तस्मिन् सति विरुद्धप्ररूपणायां विवादयोगतश्चित्तकालुष्यादिभावतो दीर्घतर-संसारप्रवृत्तेः । यदा पुनरज्ञानमाश्रीयते तदा नाहंकारसंभवो नापि परस्योपरि चित्तकालुष्यभावः, ततो न बन्धसंभवः । अपि च, यः सञ्चिन्त्य क्रियते कर्मबन्धः, स दारुणविपाकोऽत एवावश्यं[1] वेद्यः, तस्य तीव्राध्यवसायतो निष्पन्नत्वात् । यत्तु मनोव्यापारमन्तरेण कायवाक्कर्मप्रवृत्तिमात्रतो विधीयते, न तत्र मनसोऽभिनिवेशस्ततो नावश्यवेद्यं[2] वेद्यो नापि तस्य दारुणो विपाकः । केवल-मतिशुष्कसुधापङ्कधवलितभित्तिगतरजोमल इव स कर्मसंगः[3] स्वत एव शुभाध्यवसायपवनविक्षो-भितोऽपयाति । मनसोऽभिनिवेशाभावश्चाज्ञानाभ्युपगमे समुपजायते, ज्ञाने सत्यभिनिवेशसंभवात् । तस्मादज्ञानमेव मुमुक्षुणा मुक्तिपथप्रवृत्तेनाभ्युपगन्तव्यं न ज्ञानमिति[4] ।

§ ३२. अन्यच्च, भवेद्युक्तो ज्ञानस्याभ्युपगमः, यदि ज्ञानस्य निश्चयः कर्तुं[5]पार्येत । यावता स एव न पार्यते[6] । तथाहि—सर्वेऽपि दर्शनिनः परस्परं भिन्नमेव ज्ञानं प्रतिपन्नाः, ततो न निश्चयः कर्तुं शक्यते 'किमिदं सम्यगुतेदम्'[7] इति । अथ सकलवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिभगवद्वर्धमानोपदेशा-

रहे हैं । इनका कथन है कि ज्ञान कल्याणकारी नहीं है । यह ज्ञान ही तमाम वितण्डावादोंकी सृष्टि करता है । इस ज्ञानसे ही एक वादी दूसरेके विरुद्ध तत्त्व प्ररूपण करके विवादका अखाड़ा बनाता है । वादविवादसे चित्तमें कलुषता आदि दोष होते हैं और उससे दीर्घ संसारमें भ्रमण होता है । जब इस अनर्थमूल ज्ञानको छोड़कर अज्ञानका आश्रय लेते हैं तब 'मेरा यह सिद्धान्त है, मैं तुम्हारा खण्डन करूँगा' इत्यादि ज्ञानमूलक अहंकार कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता । और अहंकार न होनेसे दूसरेके ऊपर कलुषता न हो सकेगी । इस तरह चित्तमें कालुष्यके न होनेसे कर्मबन्धकी कभी भी सम्भावना ही नहीं है । इसी तरह, जो कार्य विचार कर जान-बूझकर किये जाते हैं उनसे दारुण फल देनेवाला कर्मबन्ध होता है, और उस कर्मबन्धका कठोर फल अवश्य ही भुगतना पड़ता है । तीव्र अध्यवसायसे अर्थात् बुद्धिपूर्वक होनेवाले कषायावेशसे जो कर्मबन्ध होता है वह अकाट्य होता है, उसका फल भोगना ही पड़ता है, इस कर्मकी गति टारै नाँहि टरै । किन्तु जो कर्म मनके अभिप्रायके बिना ही केवल वचन और कायकी प्रवृत्तिमात्रसे उपार्जित किये जाते हैं, उनमें चित्तका तीव्राभिनिवेश-अत्यन्त कषायवृत्ति न होनेसे उनका फल भी अवश्य ही नहीं भुगतना पड़ता, ये फल दिये बिना भी झड़ सकते हैं और यदि इसने फल भी दिया तो इनका दारुण फल नहीं होता अज्ञानपूर्वक होनेवाला कर्मबन्ध तो जिस दीवालपर पोता गया चूना खूब सूख गया है उस शुष्क भित्तिपरआयी हुई धूलके समान है, जो थोड़ी-सी भी शुभ-अध्यवसाय रूप हवाके चलनेसे अपने ही आप झड़ जाती है ।' मनमें रागद्वेषादि रूप अभिनिवेश उत्पन्न न होने देनेका सबसे सरल उपाय है ज्ञानपूर्वक व्यापारको छोड़कर अज्ञानमें ही सन्तोष करना । क्योंकि जबतक ज्ञान रहेगा तबतक वह कुछ-न-कुछ रागद्वेषादिरूप उत्पात करता रहेगा, वह कभी शान्त रहनेवाला नहीं है । अतः मोक्षके अभिलाषी मोक्ष मार्गमें लगे हुए मुमुक्षुको अज्ञान ही साधक हो सकता है, ज्ञान नहीं ।

§ ३२ दूसरी बात यह है कि ज्ञान तो तब उपादेय कहा जा सकता है जब ज्ञानके स्वरूप-का ठीक-ठीक निश्चय हो जाये । पर संसारमें अनेकों मत-मतान्तर हैं और जब सभी अपने तत्त्व-ज्ञानको सच्चा कहते हैं तब 'कौन सच्चा है ?' यही जानना सबसे कठिन कार्य क्या, असम्भव ही है । सभी दर्शनवाले जब अपनी-अपनी ढाई चावलकी खिचड़ी अलग-अलग पका रहे हैं, अपने-अपने सिद्धान्तोंमें सत्यताकी दुहाई देते हैं, तब 'यह सच्चा कि यह' यही विवेक करना कठिन हो रहा है । जैन लोग जब यह कहते हैं कि—'समस्त वस्तुओंका हस्तामलकवत् साक्षात्कार करनेवाले

१ –वश्यवेद्य क०, प० १, २, भ० १, २ । २ –वश्यवे– म० २ । ३ सकलसग भ० २ । ४ –मिति च –भ० २ । ५ पार्यते क० । ६ पार्येत आ० । ७ उत नेदमिति म० २ ।

[illegible]

[illegible]

§ ३२. [illegible]

[illegible] उस समय देव आते थे या नहीं यही सन्दिग्ध है। देवोंकी बात जाने दीजिए, वर्द्धमान हुए भी थे? इसीको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण आज नहीं मिलता। यदि भगवान् वर्द्धमान न हुए होते तो आजकल जो जैन सम्प्रदाय चल रहा है उसे किसने चलाया? अतः इस सम्प्रदायसे उनका अस्तित्व और उनकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है, यह कहना भी असंगत है, क्योंकि—यह सम्प्रदाय स्वयं वर्द्धमानने चलाया है या किसी दूसरेने? इसका निश्चय करना, साधक प्रमाणका अभाव होनेसे कठिन है। बिना प्रमाणके तो हम एक भी बात स्वीकार नहीं कर सकते। इस तरह इन बातोंमें अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। मायावी [illegible] सर्वज्ञ न रहकर भी जगत्में अपनी सर्वज्ञताका ढिंढोरा पीटनेके लिए, नाना प्रकारके इन्द्रजाल करके देवोंका आकाशसे आना-जाना, उनके द्वारा अपनी पूजा कराना आदि चमत्कार दिखाते हैं। इसलिए देवोंके आनेसे या उनके द्वारा पूजित होने मात्रसे सर्वज्ञताका निश्चय कैसे किया जा सकता है? तुम्हारे जैनमतके ही स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्रने स्वयं ही कहा है कि 'देवोंका आगमन, आकाशमें विहार करना तथा चँवर छत्र आदि विभूतियां मायावियोंमें भी देखी जाती हैं। इसलिए हे वीर! तुम हम-जैसे परीक्षकोंपर अपनी महत्ता, इन देवागम-जैसी साधारण वस्तुओंसे नहीं जता सकते। अर्थात् इन मायावी साधारण देवागम आदिसे तुम हमारे महान् पूज्य नहीं हो सकते ॥१॥'

§ ३३. अथवा, 'वर्द्धमान स्वामीको सर्वज्ञ मान भी लिया जाये तब भी यह जो आचारांग

---

१. –ते तत्त्व– स० २। २. –णर्क प्रतिपत्तुं शक्ता वयं ना स० २।

न पुनः केनापि धूर्तेन स्वयं विरचय्य प्रवर्तितः' इति कथमवसेयम्, अतीन्द्रिये विषये प्रमाणाभावात्। भवतु वा तस्यैवायमुपदेशस्तथापि तस्यायमर्थो नान्य इति न शक्यं प्रत्येतुम्। नानार्था हि शब्दा लोके प्रवर्तन्ते, तथादर्शनात्। ततोऽन्यथाप्यर्थ'संभावनायां कथं विवक्षि'तार्थनियमनिश्चयः। छद्मस्थेन हि परचेतोवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात् कथमिदं ज्ञायते–'एष सर्वज्ञस्याभिप्रायोऽनेन चाभिप्रायेणायं शब्दः प्रयुक्तो नाभिप्रायान्तरेण' इति। तदेवं दीर्घतरसंसारकारणत्वात् सम्यग्निश्चयाभावाच्च न ज्ञानं श्रेयः, किं त्वज्ञानमेवेति स्थितम्।

§ ३४. ते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिसंख्या अमुनोपायेन' प्रतिपत्तव्याः। इह जीवाजीवादीन् दार्थान् क्वचित् पट्टकादौ व्यवस्थाप्य पर्यन्त उत्पत्तिः स्थाप्यते। तेषां च जीवादीनां नवानां प्रत्येकमधः

आदिमे महावीरके नामसे प्रचलित उपदेश निबद्ध है वे उपदेश महावीरने ही दिये थे या किसी धूर्तने स्वय बनाकर उनके नामसे प्रचलित किये है ?' इसका निश्चय किस प्रकार किया जाये ? जो बात आँखोके सामने नही है अतीन्द्रिय है उसको सिद्ध करनेवाला तो कोई प्रमाण ही नही मिलता। अथवा यह भी मान लिया जाये कि—भगवान् महावीरने ही इन आचाराग आदिका उपदेश किया था, फिर भी 'इन शब्दोका यही अर्थ है दूसरा नही' इसका निश्चय कौन कैसे करेगा ? जगत्मे एक ही शब्दके अनेक अर्थ देखे जाते है। इसलिए जो अर्थ आपको विवक्षित है उससे विपरीत अर्थ यदि उन्ही शब्दोका निकलता है तब अर्थका नियम कैसे होगा ? 'भगवान् वर्धमानके चित्तमे इन शब्दोका यही अर्थ था' यह तो अल्पज्ञानी हमलोग जान ही नही सकते। अतः 'सर्वज्ञका यह अभिप्राय है, इसी अभिप्रायसे उनने इन शब्दोका प्रयोग किया है, दूसरे अभिप्रायसे नही' यह जानना नितान्त असम्भव है। साराश यह है कि यह ज्ञान ही अनेक झगडोकी जड़ है। इसीसे (अहकारपूर्वक राग-द्वेष होकर) अनन्त ससारकी वृद्धि होती है। और इसका सम्यग् निश्चय करना भी अत्यन्त कठिन है। इस अनर्थमूल ज्ञानसे कभी कल्याण नही हो सकता, अत 'अज्ञान ही श्रेय साधक है' यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है।

§ ३४ इन अज्ञानवादियोके ६७ प्रकार इस तरह समझना चाहिए—किसी पट्टी आदिपर जीवादि नव पदार्थोको एक पक्तिमे लिखकर अन्तमे दशवे स्थानपर 'उत्पत्ति' नामका पद

जानाति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भावः। ज्ञातेन वा किं तेन प्रयोजनम्, ज्ञानस्याभिनिवेशहेतुतया परलोकप्रतिपन्थित्वात्। एवमसदादयोऽपि विकल्पा भावनीया.। 'उत्पत्तिरपि किं सतोऽसतः सदसतोऽवाच्यस्य वा' इति को जानाति, ज्ञातेन वा न किंचिदपि प्रयोजनमिति।

§ ३५. तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिका[1], [2]वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः। एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा वेदितव्या। ते च द्वात्रिंशत्संख्या अमुनोपायेन द्रष्टव्या[3]। सुरनृपतियतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृरूपेष्वष्टसु स्थानेषु कायेन मनसा वाचा दानेन च देशकालोपपन्नेन विनयः कार्य इति चत्वारः कायादयः स्थाप्यन्ते। चत्वारश्चाष्टभिर्गुणिता जाता द्वात्रिंशत्। एवमेतानि त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि परदर्शनानां भवन्ति।

मिलानेपर अज्ञानवादियोंके कुल ६७ भेद हो जाते हैं।

अज्ञानवादी कहते हैं कि—कौन जानता है कि 'जीव सन् है'? जीवकी सत्ता सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है अत उसकी सत्ताको कोई सिद्ध नहीं कर सकता। अथवा जीवकी सत्ताका ज्ञान भी हो जाये तो उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान अहकारमे कारण होनेसे परलोकका बिगाडनेवाला ही है। इसी तरह 'जीवो नास्ति' इत्यादि विकल्पोमे अज्ञानवादकी प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसी तरह उत्पत्ति सत्की होती है, या असत्की, अथवा उभयात्मककी, या अवाच्यकी? यह सब कौन जान सकता है? इसके जाननेसे कोई प्रयोजन भी सिद्ध नही होता। इसलिए इन सबके समझनेमे माथापच्ची करना व्यर्थ ही है। इत्यादि।

§ ३५ विनयपूर्वक जिनका आचार-व्यवहार है वे वैनयिक कहलाते हैं। वसिष्ठ, पाराशर, वाल्मीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि प्रमुख वैनयिक हुए हैं। इनका वेष, आचार तथा शास्त्र आदि कुछ भी निश्चित नहीं है, हर एक शास्त्र, वेष तथा आचार इन्हे इष्ट है। विनय करना ही इनका मुख्य कर्तव्य है। इनके बत्तीस भेद इस प्रकार समझना चाहिए—देवता, राजा, साधु, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता तथा पिता इन आठोकी मन, वचन, काय तथा देश-कालानुसार दान देकर विनय की जाती है। अत देवता आदि आठको मन, वचन आदि चारसे गुणा करनेपर वैनयिकोके बत्तीस भेद सिद्ध होते हैं। इस तरह क्रियावादी अक्रियावादी आदि सभीके कुल भेद ३६३ होते हैं। ये सभी परदर्शन हैं।

---

१ "सर्वदेवताना सर्वसमयाना च समदर्शन वैनयिकम्" —सर्वार्थसि० ८।१। "तथा विनयादेव मोक्ष इत्येव गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिता"—सूत्र० शी० १।६।२७। "तथा वैनयिका विनयादेव केवलात् स्वर्गमोक्षावाप्तिमभिलषन्त मिथ्यादृष्टय ·"—सूत्र० शी० १।१२। "विनयेन चरति स वा प्रयोजन एषामिति वैनयिका, ते च ते वादिनश्चेति वैनयिकवादिन, विनय एव वा वैनयिक तदेव ये स्वर्गादिहेतुतया वदन्त्येवशीलाश्च ते वैनयिकवादिन विधृतलिङ्गाचारशास्त्रा विनयप्रतिपत्तिलक्षणा ···"—भग० अभ० ३०।१। स्था० अभ० ४।४।३४५। २ "वसिष्ठपाराशरजतुकर्णिवाल्मीकिरोमर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रोपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना वैनयिकदृष्टीना द्वात्रिंशत्। एषा दृष्टिशताना त्रयाणा त्रिषष्ट्युत्तराणा प्ररूपण निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।"—राजवा० पृ० ५१। ३ "सुरनृपयतिज्ञातिस्थविराधममातृपितृष्वष्टसु मनोवाक्कायप्रदानचतुर्विधविनयकरणात्। तद्यथा देवाना विनय करोति मनसा वाचा कायेन तथा देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि। एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति। नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो हि विनय, सर्वत्र चैवविधेन विनयेन देवादिषु उपतिष्ठमान स्वर्गापवर्गभाग् भवति।"—आचा० शी० १।१।१।४। सूत्र० शी० १।१२। स्था० अभ० ४।४।३४५। नन्दि० मलय० पृ० २१७ श्री०। "मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणिजदिवुड्ढे। वाले मादुपिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ ॥—देवनृपतिज्ञानियतिवृद्धवालमातृपितृष्वष्टसु मनोवचनकायदानविनयाश्चत्वार. कर्त्तव्याश्चेति द्वात्रिंशद्वैनयिकवादा स्यु।" —गो० कर्म० टी० गा० ८८८।

[1]ब्रह्मणो मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिजन्मकम् । [2]सांख्या. प्रकृतिप्रभवम् । [3]शाक्या विज्ञप्तिमात्रम् । अन्य एकजीवात्मकम् । केचिदनेकजीवात्मकम् । परे पुरातनकर्मकृतम् । अन्ये स्वभावजम् । [4]केचिदक्षरजातभूतोद्भूतम् । केचि[5]दण्डप्रभवम् । आश्रमी [6]त्वहेतुकम् । पूरणो[7] नियतिजनितम् । पराशर. [8]परिणामप्रभवम् । केचिद्यादृच्छिकम् । नैकवादिनोऽ[9]नेकस्वरूपम् । तुरुष्का गोस्वामि-

---

कहते हैं तो कोई उसे पृथिवी आदि अष्टमूर्तिवाले ईश्वरके द्वारा रचा हुआ कहते हैं। कोई ब्रह्माके मुख आदिसे ब्राह्मण क्षत्रियादिकी उत्पत्ति बताते हैं। सांख्य इस सृष्टिको प्रकृतिकृत मानते हैं। बौद्ध इस जगत्को क्षणिक विज्ञानरूप कहते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी जगत्को एक जीवरूप कहते हैं तो कोई वादी इसे अनेक जीवरूप भी कहते हैं। कोई इसे पूर्वकर्मोंसे निष्पन्न कहते हैं तो कोई स्वभावसे उत्पन्न बताते हैं। कोई अक्षरसे समुत्पन्न भूतों-द्वारा इस जगत्की उत्पत्ति बताते हैं। कोई इसे अण्डसे उत्पन्न हुआ बताते हैं। आश्रमी इसे अहेतुक कहते हैं। पूरण जगत्को नियतिजन्य मानते हैं। पराशर इसे परिणामजन्य कहते हैं। कोई इसे यादृच्छिक-अनियतहेतुज मानते हैं। इस तरह अनेकों वादी इसे अनेक स्वरूप बताते हैं। तुरुष्क गोस्वामी नामके दिव्य पुरुषसे जगत्की सृष्टि

बाहुत्वेन निष्पादितो बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थ । तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यद्यावूरू तद्रूपो वैश्य सपन्न ऊरुभ्यामुत्पादित इत्यर्थ । तथाऽन्य पद्भ्या पादाभ्या शूद्र शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजु सहिताया सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृत निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता ।" –ऋक्० पुरुषसू० । "आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ तत स्वयभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद ॥ लोकाना स च वृद्ध्यर्थ मुखबाहूरुपादत । ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्य शूद्र च विन्यवर्तयत् ॥" –लोकत० १।६५-६६ । "एव समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽणुभ्य पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते । तस्मिश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोकपितामह ब्रह्माण सकलभुवनसहितमुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते । स च महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्माऽतिशयज्ञानवैराग्यैश्वर्यसपन्न प्राणिना कर्मविपाक विदित्वा कर्मानुरूपज्ञानभोगायुष सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरुपादतश्चतुरो वर्णान् अन्यानि चोच्चावचानि सृष्ट्वा " –प्रश० भा० पृ० २२ । १ ब्रह्मादिभ्यो भ० २ । २ "इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्त । प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ ॥" सांख्यका० ५६ । ३ "विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशपाशादिदर्शनम् ॥"–विज्ञप्ति० श्लो० १ । ४ अक्षरात् क्षरित कालस्तस्माद् व्यापक इष्यते । व्यापकादिप्रकृत्यन्ता ता हि सृष्टि प्रचक्षते ॥ अक्षराशस्ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम् । जलात् प्रसूता पृथ्वी भूतानामेष संभव ॥" –लोकत० २।२३-२४ । ५ "नारायणपराव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् । अण्डस्यान्तस्त्वमी भेदा सप्त द्वीपा च मेदिनी ॥ गर्भोदक समुद्राश्च जरायुश्चापि पर्वता । तस्मिन्नण्डे त्वमी लोका सप्त सप्त प्रतिष्ठिता ॥ तत्रैहाद्य स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मना ध्यात्वा तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ ताभ्या स शकलाभ्या तु दिव भूमिं च निर्ममे ।" –लोकत० २।२५-२७ । ६ "हेतुरहिता भवन्ति हि भावा प्रतिसमयभाविनश्चित्रा । भावादृते न भाव्य सभवरहित खपुष्पमिव ॥"–लोकत० २।२८ । ७ प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ सोऽवश्य भवति नृणा शुभोऽशुभो वा । भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाऽभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥" –लोकत० २।२९ । ८ "प्रतिसमयं परिणाम प्रत्यात्मगतश्च सर्वभावानाम् । संभवति नेच्छयापि स्वेच्छा क्रमवर्तिनी यस्मात् ॥" –लोकत० २।३० । ९. "कारणानि विभिन्नानि कार्याणि च यत पृथक् । तस्मात्त्रिष्वपि कालेषु नैव कर्मास्ति निश्चय ॥" –लोकत० २।३५ ।

नामष्टादशनिकायभेदाः, 'वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादिभेदा वा वर्तन्ते। जैमिनेश्च शिष्यकृता बहवो भेदाः।

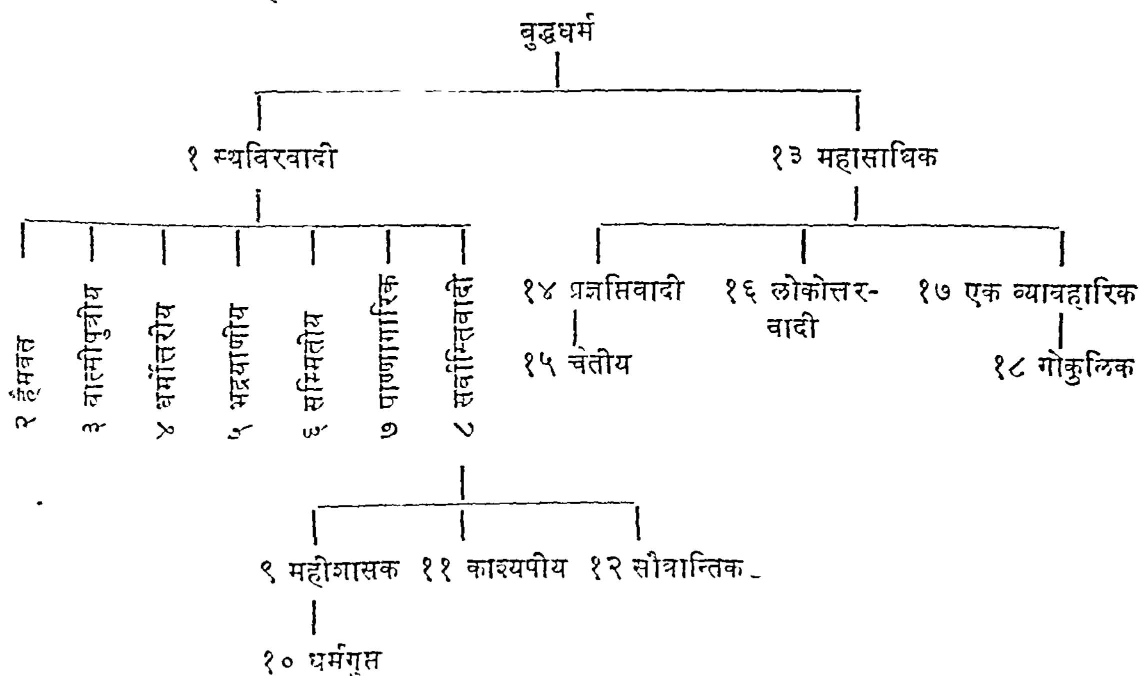
"ओम्बेकः कारिका वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः ॥१॥"

§ ३८. अपरेऽपि बहूदककुटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्रभाकरादयोऽनेकेऽन्तर्भेदाः। सांख्यानां चरकादयो भेदाः। अन्येषामपि सर्वदर्शनानां देवतत्त्वप्रमाणमुक्तिप्रभृतिस्वरूपविषये तत्तदनेकशिष्यसंतानकृताः, तत्तद्ग्रन्थकारकृता वा मतभेदा बहवो विद्यन्ते।

मे अनेको विवाद है। एक बौद्धदर्शनमे ही १८ प्रकारके निकाय तथा वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक आदि भेद मौजूद है। जैमिनि दर्शनमे शिष्योके व्याख्या भेदसे ही अनेकों भेद हो गये है। "उम्बेक कारिकाके अर्थको जानता है, प्रभाकर तन्त्र—सिद्धान्तके स्वरूपको समझता है, वामनको कारिका तथा तन्त्र दोनोका ज्ञान है, पर रेवण एकको भी नही जानता।" इत्यादि प्रवाद प्रसिद्ध ही है।

§ ३८ इसी तरह ओर भी बहूदक, कुटीचर, हस, परमहंस, भाट्ट, प्रभाकर आदि अनेकों अवान्तर भेद है। साख्यदर्शनमे भी चरक आदि आचार्योके अपने-अपने पृथक् सिद्धान्त हैं। प्रायः अन्य सभी दर्शनोमे देव, तत्त्व, प्रमाण तथा मुक्ति आदिके स्वरूपमे अनेक शिष्योके मतोकी तथा विभिन्न ग्रन्थकारोकी अनेक मत-परम्पराएँ विद्यमान है।

चीनी भाषामे अनुवादित भदन्त वसुमित्र प्रणीत अष्टादशनिकाय ग्रन्थके अनुसार यह अठारह शाखाभेद इस प्रकार है—



१ "ते च माध्यमिकयोगाचारसौत्रान्तिकवैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्व-बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते।" —सर्वद० बौद्धद०। "चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥ अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥ आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता। केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥" विवेकवि० ८।२७१-७३। २ रेणव म० २।

§ ३९. तदेवमनेकानि दर्शनानि लोकेऽभिधीयन्ते। तानि च सर्वाणि देवतातत्त्वप्रमाणादिभेदेनात्राल्पीयसा प्रस्तुतग्रन्थेनाभिधातुमशक्यानि, तत्कथमत्राचार्येण 'सर्वदर्शनवाच्योऽर्थो निगद्यते' इत्येवं गदितुमशक्योऽर्थो वक्तुं प्रत्यज्ञायि। गगनाङ्गुलप्रमितिरिव पारावारोभयतटसिकताकणगणनमिवात्यन्तं दुःशक्योऽयमर्थः प्रारब्ध इति चेत्; सत्यमेतत्, यद्यवान्तरतद्भेदापेक्षया वक्तुमेषोऽर्थः प्रक्रान्तः स्यात्। यावता तु मूलभेदापेक्षयैव यानि सर्वाणि दर्शनानि तेषामेव वाच्योऽत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातोऽस्ति नोत्तरभेदापेक्षया, ततो न कश्चन दोषः। सर्वशब्दं च व्याचक्षाणैरस्माभिः पुरा(१)ऽयमर्थो दर्शित एव, परं विस्मरणशीलेन भवता विस्मारित इति ॥१॥ एनमेवार्थं ग्रन्थकारोऽपि साक्षादाह—

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥२॥

§ ४०. अत्र प्रस्तुतेऽस्मिन्ग्रन्थे दर्शनानि षडेव, मूलभेदव्यपेक्षया मूलभेदापेक्षया मनीषिभिर्मेधाविभिर्ज्ञातव्यानि, न पुनरवान्तरतद्भेदापेक्षयाधिकानि, परमार्थतस्तेषामेष्वेवान्तर्भावात्। षडेवेति सावधारणं पदम्। केन हेतुना मूलभेदानां षोढात्वमित्याशङ्क्याह–देवतातत्त्वभेदेन इति। देवा एव देवता, स्वार्थेऽत्र तल्प्रत्ययः, तत्त्वानि प्रमाणैरुपपन्नाः परमार्थसन्तोऽर्थाः, द्वन्द्वे देवतातत्त्वानि, तेषां भेदेन पार्थक्येन। ततोऽयमत्रार्थः – देवतातत्त्वभेदेन यतो दर्शनानां षडेव मूलभेदा भवेयुस्ततः षडेवात्र दर्शनानि वक्ष्यन्ते, न पुनरुत्तरभेदापेक्षयाधिकानीति। एतेन प्राक्तनश्लोके सर्वशब्दग्रहणेऽपि षडेवात्र दर्शनानि वक्तुं प्रतिज्ञातानि सन्तीति ज्ञापितं द्रष्टव्यम् ॥२॥

---

§ ३९ शका—इस तरह जब अनेको दर्शन अपने भेद-प्रभेदोके परिवारके साथ ससारमे प्रसिद्ध है। और उन सब अगणित दर्शनोके देवता, तत्त्व तथा प्रमाणादिका वर्णन करना इस छोटे-से ग्रन्थमे कथमपि सम्भव नही है तब आचार्यने 'सर्वदर्शनोका वाच्य अर्थ मेरे-द्वारा कहा जाता है' यह असम्भव प्रतिज्ञा क्यो की ? इस प्रतिज्ञाका पूर्ण करना तो अगुलोसे आकाशको नापने तथा समुद्रके दोनो तटोके रेतके कणोकी गिनती करनेके समान अत्यन्त कठिन ही नही, असम्भव ही है।

समाधान—आपकी शका तो तब ठीक होती जब ग्रन्थकारने सब दर्शनोके अवान्तर भेद-प्रभेदोके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की होती। पर ग्रन्थकारने स्वय ही मूलभेदोकी अपेक्षासे ही सर्वदर्शनोके कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उत्तर भेद-प्रभेदोकी अपेक्षासे नही। इसलिए कोई दोष या अनुपपत्ति नही है। मूल दर्शनोका वर्णन वे अपनी प्रतिज्ञानुसार करेगे ही। हमने स्वय ही सर्व शब्दका व्याख्यान करते समय यह बात अत्यन्त स्पष्ट कर ही दी थी। यह तो आपकी स्मरणशक्तिका दोष है जो उसे भुला दिया ॥१॥ ग्रन्थकार स्वय भी इसी बातको कहते है—

चूँकि देवता और तत्त्वोके भेदकी अपेक्षा मूलदर्शन छह ही है। अतः यही छह मूलदर्शन इस ग्रन्थमे विद्वज्जनो-द्वारा ज्ञातव्य है ॥२॥

§ ४० प्रस्तुत ग्रन्थमे मूलभेदोको दृष्टिसे छह ही दर्शन विवक्षित है। यद्यपि अवान्तर भेदोकी अपेक्षा दर्शनोके अधिक भेद भी हो सकते है परन्तु परमार्थत उनका इन्ही छहो दर्शनोमे अन्तर्भाव हो जाता है। देवता तथा तत्त्वोके वर्गीकरणको अपेक्षासे मूलदर्शनोकी सख्या छह ही है न तो पाँच और न सात ही। अत विद्वज्जनोको इस ग्रन्थमे छह ही मूलदर्शनोका वर्णन मिलेगा, दर्शनोके उत्तरोत्तर भेद-प्रभेदोका नही। प्रथम श्लोकमे जो समस्त दर्शनोके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है उसका अभिप्राय भी छह मूल दर्शनोके कथनका ही है। यह बात इस विवरणसे सूचित हो जाती है ॥२॥

---

१ –धातुं शक्या म० २।

§ ४१. अथ षण्णां दर्शनानां नामान्याह—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥३॥

§ ४२. बुद्धाः सुगतास्ते च सप्त[1] भवन्ति—१ विपश्यी, २ शिखी, ३ विश्वभूः, ४ क्रकुच्छन्दः, ५ काञ्चनः, ६ काश्यपः, ७ शाक्यसिंहश्चेति। तेषामिदं दर्शनं बौद्धम्। [2]न्यायं न्यायतर्कमक्षपादर्षिप्रणीतं ग्रन्थं विदन्त्यधीयते वेति नैयायिकास्तेषामिदं दर्शनं नैयायिकम्। [3]संख्यां प्रकृतिप्रभृतितत्त्वपञ्चविंशतिरूपां विदन्त्यधीयते वा सांख्याः। यद्वा तालव्यादिरपि शाङ्ख्यध्वनिरस्तीति वृद्धाम्नायः। तत्र[4] शङ्खनामा कश्चिदाद्यः पुरुषविशेषस्तस्यापत्यं पौत्रादिरिति [5]गर्गादित्वात् यञ्प्रत्यये शाङ्ख्यास्तेषामिदं दर्शनं सांख्यं शाङ्ख्यं वा। जिना ऋषभादयश्चतुर्विंशतिरर्हन्तस्तेषामिदं दर्शनं जैनम्। एतेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकमेव दर्शनमजनिष्ट, न पुनस्तेषां मिथो मतभेदः कोऽप्यासीदित्या-

---

§ ४१. अब उन छह मूल दर्शनोंके नाम कहते हैं—

अये शिष्यो, बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय ये छह मूल दर्शनोंके नाम हैं ॥३॥

§ ४२ बुद्ध—सुगत सात होते हैं—१ विपश्यी, २ शिखी, ३ विश्वभू, ४ क्रकुच्छन्द, ५ काञ्चन (कोणागमन), ६ काश्यप, ७ शाक्यसिंह। बुद्धोंके दर्शनको बौद्धदर्शन कहते हैं। जो न्याय–न्यायतर्क अर्थात् अक्षपाद ऋषिके द्वारा प्रणीत ग्रन्थको जानते अथवा अध्ययन करते हैं वे नैयायिक हैं। नैयायिकोंके दर्शनको नैयायिक ही कहते हैं। जो संख्या—प्रकृति आदि तत्त्वोंकी पचीस संख्याको जानते अथवा अध्ययन करते हैं वे सांख्य हैं। कहीं 'शांख्य' ऐसा तालव्य-शकारवाला पाठ भी वृद्धपरम्परासे सुना जाता है। शांख्य–शंखनामके आदि पुरुषकी सन्तान-दर-सन्तान–पुत्रपौत्रादि (गर्गादित्वात् यञ् प्रत्यय करनेपर) शांख्य कही जाती है। इनके दर्शनको शांख्य या सांख्य कहते हैं। ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस अरहन्त-तीर्थंकरोंको जिन कहते हैं। 'जिन'के दर्शनको 'जैन' कहते हैं। इससे यह सूचित होता है कि—चौबीसों ही जिनोंका एक ही

---

१ दीघनिकायादिषु सप्त एव तथागताः स्मृताः। तथाहि—"सप्त तथागताः। तद्यथा—विपश्यी, शिखी, विश्वभूः, क्रकुच्छन्दः, कनकमुनिः, काश्यपः, शाक्यमुनिश्चेति।"—धर्मसं० पृ० २। दीघ० महापदानसुत्त, आटानाटियसुत्त। "बुद्धाः स्युः सप्त ते त्वमी॥ विपश्यी शिखी विश्वभूः क्रकुच्छन्दश्च काञ्चनः। काश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहोऽर्कबान्धवः॥" अभिधान० २।१४९-५०। जातकादिषु अष्टाविंशतिर्बुद्धाः समूचिताः, तथाहि—तण्हंकरो मेधंकरो अथोऽपि सरणंकरो। दीपंकरो च संबुद्धो कोण्डञ्ञो दिपदुत्तमो॥ मंगलो च सुमनो च रेवतो सोभितो मुनी। अनोमदस्सी पदुमो नारदो पदुमुत्तरो॥ सुमेधो च सुजातो च पियदस्सी महायसो। अत्थदस्सी धम्मदस्सी सिद्धत्थो लोकनायको॥ तिस्सो फुस्सो च संबुद्धो विपस्सी सिखी विस्सभू। ककुसन्धो कोणागमणो कस्सपो चापि नायको॥ एते अहेसुं संबुद्धा वीतरागा समाहिता। सतरंसीव उप्पन्ना महातमविनोदना॥ जलित्वा अग्गिखन्धाव निब्बुता ते ससावका" जातक, निदानकथा, बुद्धवंसो पि० २७। २. "न्यायं पञ्चावयववाक्यादि तं वेत्त्यधीते वा नैयायिकः।'—अभिधान० ३।५२६। ३ "पञ्चविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं संख्या, तदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यं तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यः।" अभिधान० ३।५२६। "सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।" मात्स्यपु० अ० ३। "अस्य च सांख्यसंज्ञा नान्वया—संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः॥ इत्यादिभ्यः भारतादिवाक्येभ्यः। संख्या सम्यग्विवेकेन आत्मकथनमित्यर्थः।"—सांख्यप्र० पृ० ५। ४. मंत्र—म० २। ५. "गर्गादेर्यञ्" —हैम० ६।१।४२।

वेदितं भवति। 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा एव वैशेषिकं, विनयादिभ्य इति स्वार्थं इकण्। तद्वैशेषिकं विदन्त्यधीयते वा, "तद्वेत्त्यधीते" [हैम० ६।२] इत्यणि वैशेषिकास्तेषामिदं वैशेषिकम्। जैमिनिराद्यः पुरुषविशेषस्तस्येद मतं जैमिनीय मीमांसकापरनामकम्। तथाशब्दश्चकारश्चात्र समुच्चयार्थौ। एवमन्यत्राप्यवसेयम्। अमूनि षडपि दर्शनानां नामानि। अहो इति शिष्यामन्त्रणे। आमन्त्रणं च शिष्याणां चित्तव्यासङ्गत्याजनेन शास्त्रश्रवणाद्यभिमुखीकरणार्थमत्रोपन्यस्तम् ॥३॥

§ ४३. अथ यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादादौ बौद्धमतमाचष्टे—

तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल।
चतुर्णामार्यसत्यानां[2] दुःखादीनां प्ररूपकः ॥४॥

§ ४४. तत्रशब्दो निर्धारणार्थः, तावच्छब्दोऽवधारणे। तेषु दर्शनेष्वपराणि दर्शनानि तावत्तिष्ठन्तु, बौद्धमतमेव प्रथमं निर्धार्योच्यत इत्यर्थः। अत्र चादौ बौद्धदर्शनोपलक्षणार्थं मुग्धशिष्यानु-

---

दर्शन था और वह था जैनदर्शन। इनमे परस्पर कुछ भी मतभेद नही था। विशेष नित्यद्रव्यमे रहते है, तथा अन्त्य है। अन्त्य—जगत्के विनाश तथा प्रारम्भकालमे रहनेवाले परमाणु, मुक्त आत्मा तथा मुक्त आत्माओके पृथक् मन 'अन्त्य' कहे जाते है। इनमे रहनेके कारण विशेषोको अन्त्य कहते है। विशेषको ही (विनयादिभ्य. स्वार्थमें इकण् प्रत्यय करनेपर) वैशेषिक कहते है। इस वैशेषिक अर्थात् विशेष पदार्थको जो जाने अथवा अध्ययन करे (तद्वेत्त्यधीते इस सूत्रसे अण् प्रत्यय करनेपर) उन्हे वैशेषिक कहते है। वैशेषिकोके दर्शनको वैशेषिक कहते है। जैमिनि नामके आद्य आचार्य हुए हैं, उनके मतको जैमिनीय मत कहते है। इसे मीमासक भी कहते है। श्लोकमे 'तथा' शब्द और 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। 'अहो' शब्दका प्रयोग शिष्यके आमन्त्रणके लिए किया गया है। शिष्योके चित्तको दूसरे विषयोसे हटाकर शास्त्र सुननेकी ओर उपयुक्त करनेको आमन्त्रण किया गया है ॥३॥

§ ४३. 'जिस क्रमसे नाम निर्देश किया गया हो उसी क्रमसे उनका लक्षण और विवेचन करना चाहिए' इस नियमके अनुसार आदिमे निर्दिष्ट बौद्धमतका वर्णन करते है—

बौद्धमतमें दु.ख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योके उपदेश देनेवाले सुगत-देवता है ॥४॥

§ ४४ श्लोकमे निर्धारण अर्थमे 'तत्र' शब्दका और अवधारण अर्थमे 'तावत्' शब्दका प्रयोग किया है। अत छहो दर्शनोमे-से अन्य दर्शनोकी विवक्षा नही करके केवल बौद्धदर्शन ही

---

१. "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा ते प्रयोजनमस्य वैशेषिक शास्त्र तद् वेत्ति अधीते वा वैशेषिका।" —अभिधान० ३।५२६। "द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे। यस्य न स्खलिता बुद्धिस्त वै वैशेषिक विदु ॥" —सर्वद० औ० पृ० २२०। २ " 'यदिद चतुन्न अरियसच्चान आचिक्खना देसना पञ्ञपना पट्ठपना विवरणा विभजना उत्तानिकम्मं। कतमेस चतुन्नं? दुक्खस्स अरियसच्चस्स, दुक्खसमुदयस्स अरियसच्चस्स, दुक्खनिरोधस्स अरियसच्चस्स, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अरियसच्चस्स।" —मज्झिम० सच्चविभंग०। संयु० ५।४२५-२६। विनय० महावग्ग। विसुद्धि० १६।१३। "चत्वार्यार्यसत्यानि। तद्यथा—दु ख समुदयो निरोधो मार्गश्चेति।" —धर्मसं० पृ० ५। "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दु ख समुदयस्तथा। निरोधो मार्ग एतेषा यथाभिसमय क्रम ॥" —अभिध० ६२। "बाधात्मकं दु खमिद प्रसक्तं दु खस्य हेतु प्रभवात्मकोऽयम्। दु खक्षयो नि सरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽय प्रशमाय मार्ग ॥ इत्यार्यसत्यानि '" —सौन्दर० १६।४। प्रमाणवा० १।१४८।

ग्रहाय बौद्धानां लिङ्गवेषाचारादिस्वरूपं प्रदर्श्यते । चमरो मौण्ड्यं कृत्ति कमण्डलुश्च लिङ्गम्। 'धातुरक्तमागुल्फं परिधानं वेष.' । शौचक्रिया बह्वी ।

"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्तं मध्ये पानकं चापराह्ने ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥
मणुन्नं भोयणं भुच्चा मणुन्नं सयणासणं ।
मणुन्नम्मि अगारम्मि मणुन्नं झायए मुणी ॥२॥"

§ ४५. भिक्षायां पात्रे पतितं सर्वं शुद्धमिति मन्वाना मांसमपि भुञ्जते । मार्गे च जीवदयार्थं प्रमृजन्तो व्रजन्ति । ब्रह्मचर्यादि स्वकीयक्रियाया च भृशं दृढतमा भवन्ति । इत्यादिराचारः । धर्मबुद्धसङ्घरूपं रत्नत्रयम् । तारादेवी शासने विघ्ननाशिनी । विपश्यादय. सप्त बुद्धाः कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः सर्वज्ञा देवा. । "बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातु" [अभिधान० २।१४६] इत्यादीनि तन्ना-

---

प्रथम विवक्षित है। मुग्ध शिष्योको इस बौद्धदर्शनका स्थूल परिचय करानेके लिए सबसे पहले बौद्धोके लिग—वेष और आचार आदिका स्वरूप बताया जाता है। चमर धारण करना, मुण्डन करना, चर्मका आसन और कमण्डलु ये बौद्धोके लिग है। धातुसे रगा हुआ घुटने तकका वस्त्र इनका वेष है। शौच क्रिया तो अनेक प्रकारसे की जाती है।

"कोमल शय्या, प्रात बिस्तरसे उठते ही दुग्ध आदिका पान, मध्याह्नमे भोजन, सायकाल फिर शरबत, आधी रात्रिके समय दाखे और मिश्री, इस समस्त सुखोपभोगके बाद भी अन्तमे मोक्षकी प्राप्ति। ये सब बाते शाक्यपुत्र बुद्धके ही अनुभवकी ॥१॥

"मनोज्ञ स्वादु भोजन करके मनोज्ञ—सुन्दर मकानमे मनोज्ञ—कोमल शय्या और मनोज्ञ आसनपर सोने और बैठनेसे मुनि मनोज्ञका ही ध्यान करेगा ॥२॥

§ ४५ बौद्ध भिक्षु 'भिक्षाके समय पात्रमे जो भी आ जाये वह सब शुद्ध है' ऐसा मानकर पात्रमे आये हुए मासको भी खा लेते है। मार्गमे चलते समय जीवोकी दयाके लिए देख-भालकर मार्जन करके गमन करते है। अपने ब्रह्मचर्य आदि व्रतोकी रक्षा तथा उनके पालनमे अत्यन्त दृढ होते है। इत्यादि इनका आचार है। धर्म, बुद्ध और सघ ये तीन रत्नत्रय है। तारादेवी इनकी

---

१. "केसमस्सुं ओहारित्वा"—विनय० महावग्ग। २ बौद्धमते काषायवस्त्रपरिधानं विहितम्, "कासावानि परिधापित्वा"—विनय० महावग्ग। "काषायवासा स बभौ"—बुद्धच० १०.१५। "अनुजानामि भिक्खवे छ रजनानि-मूलरजन खन्धरजन तचरजन पत्तरजन पुप्फरजन फलरजन' विनय० महावग्ग ८।१३।२०। ३ उद्धृतोऽयम्—सूत्र० शी० ३।४। ४ उद्धृतेयम्—सूत्र० शी० ३।४। छाया—मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने। मनोज्ञे अगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः॥" ५ "अनुजानामि भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं मसं अदिट्ठं असुतं अपरिसंकितं च।" —विनय० महावग्ग ६।३१।१४। मज्झिम० जीवकसु० २।१।५। ६ "भिक्खु अन्तरघरं पविट्ठो वीथिं पटिपन्नो ओक्खित्तचक्खु युगमत्तदस्सावी संवुतो गच्छति, न हत्थिं ओलोकेन्तो, न अस्सं, न रथं, न पत्तिं, न इत्थिं, न पुरिसं ओलोकेन्तो, न उद्धं उल्लोकेन्तो, न अधो ओलोकेन्तो, न दिसाविदिसं पेक्खमानो गच्छति [महानिद्देस ४७४]" —विसुद्धि० पृ० १२। "अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी। चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेत॥" बुद्धच० १०।१३। ७ —दिषु क्रियाया च—भ० २। ८ "तत्र प्रथमं तावत् त्रीणि रत्नानि। तद्यथा बुद्धो धर्मः सङ्घश्चेति।"—धर्मसं० पृ० १। ९. "....तारिण्यापच्छरण्ये" इत्यादि ताराम्बन स्रग्धरास्तोत्रे द्रष्टव्यम्। १०. महाव्युत्पत्तौ तथागतस्य बुद्ध-भगवान्-तथागत-अर्हन्-सम्यक्सम्बुद्ध-विद्याचरणसम्पन्नादीनि एकाशीतिं नामानि लिखितानि विद्यन्ते। "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः"—अमर० १।१।१३। "बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिन। बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्यः शास्ता तथागतः॥" अभिधान० २।१४६।

नानि। तेषां प्रासादा वर्तुला बुद्धाण्डकसंज्ञाः। भिक्षुसौगतशाक्यशौद्धोदनिसुगततथागतशून्य-वादिनामानो बौद्धाः। तेषां शौद्धोदनिधर्मोत्तरार्चटधर्मकीर्तिप्रज्ञाकरदिग्नागप्रमुखा ग्रन्थकारा गुरवः।

§ ४६. अथ प्रस्तुतश्लोकोऽग्रतो व्याख्यायते। बौद्धमते बौद्धदर्शने सुगतो बुद्धो देवता देवः। किलेत्याप्तप्रवादे। कीदृशः सः। चतुर्णामित्यादि। आराद् दूराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, पृषो-दरादित्वाद्रूपनिष्पत्तिः। सतां साधूनां पदार्थानां वा यथासंभवं मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थितवस्तु-स्वरूपचिन्तनेन च हितानि सत्यानि। अथवा सद्भ्यो हितानि सत्यानि। आर्याणां सत्यानि [3]आर्य-सत्यानि तेषामार्यसत्यानामित्यर्थः। चतुर्णां दुःखादीनां दुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानां तत्त्वानां [4]प्ररूपको देशकः। तत्र [5]दुःखं फलभूताः पञ्चोपादानस्कन्धा विज्ञानादयो वक्ष्यमाणाः। त एव

शासनदेवता है, यह समस्त विघ्नोंका नाश करनेवाली है। विपश्यी आदि सात बुद्धदेव हैं जो सर्वज्ञ हैं और उनके कण्ठमें तीन रेखाएँ होती हैं। सुगतको बुद्ध कहते हैं। धर्मधातु आदि बुद्धके ही पर्यायवाचक नाम हैं। इनके प्रासाद-स्तूप गोल होते हैं और उन्हें 'बुद्धाण्डक' कहते हैं। बौद्धोंको भिक्षु, सौगत शाक्य, शौद्धोदनि, सुगत, तथागत तथा शून्यवादी आदि भी कहते हैं। इनके शौद्धोदनि धर्मोत्तर, अर्चट, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, दिग्नाग आदि प्रमुख ग्रन्थकार गुरु हुए हैं।

§ ४६. श्लोकार्थ—बौद्धमतमें बुद्ध ही देव है। 'किल' शब्दसे आप्त प्रवादकी सूचना है। ये दुःखादि चार आर्यसत्योंका उपदेश देते हैं। आर्य शब्द पृषोदरादिगणमें पठित होनेसे सिद्ध है। जो सभी हेयधर्मोंसे किनाराकशी कर गये हैं अर्थात् दूर हो गये है उन्हे आर्य कहते हैं। जिसके द्वारा साधुओंको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अथवा जिसके द्वारा समस्त पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ चिन्तन होता है, या जो सत्पुरुषोंको हितकारक है वह सत्य है। आर्योंके चार सत्य होते हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। बुद्ध इन्ही चार आर्यसत्योंके आद्य उपदेष्टा हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच विपाकरूप उपादान स्कन्ध ही दुःख है। जिससे पंचस्कन्ध-

१. दनिसुगततथा–प० १, २, भ० १, २, क०। २ वस्तुरूप–आ०, क०। ३. यस्मा पनेतानि बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ति। यथाह—"चत्तारिमानि, भिक्खवे अरियसच्चानि। कतमानि ... पे ... इमानि खो, भिक्खवे चत्तारि अरियसच्चानि" [सं० ५।४३१-२६] अरिया इमानि पटिविज्झन्ति तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ति। अपि च, अरियस्स सच्चानी ति पि अरियसच्चानि। यथाह—"सदेवके भिक्खवे, लोके ... पे ... मनुस्साय तथागतो अरियो तस्मा अरिय-सच्चानीति वुच्चन्ती ति" [सं० ५।४३५] अथवा एतेसं अभिसम्बुद्धत्ता अरियभावसिद्धितोऽपि अरियसच्चानि। यथाह—"इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो ति वुच्चती" ति [सं० ५।४३३] अपि च खो पन, अरियानि सच्चानीति पि अरियसच्चानि। अरियानी ति अवितथानि। अविसंवादकानीति अत्थो। यथाह—"इमानि खो भिक्खवे, चत्तारि अरियसच्चानि तथानि अवितथानि अनञ्ञथानि तस्मा अरियसच्चानी ति वुच्चन्ती" ति [सं० ५।४३५] —विसुद्धि० १६।२०-२२। "बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवा-त्मकोऽयम्। दुःखक्षयो निःसरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्गः॥" सौन्दर० १६।४। ३ "आर्याणामेव तत्सत्यमिति कृत्वा आर्यसत्यमिति व्यवस्थाप्यते।" माध्यमिक वृ० पृ० ४७६। ४. सिद्धक —म० २।५ "इह हि पूर्वहेतुजनिता प्रतीत्यसमुत्पन्नाः पञ्चोपादानस्कन्धाः दुःखदुःखतया विपरिणामदुःखतया संस्कारदुःखतया च प्रतिकूलवर्तित्वाच्च पीडात्मकत्वेन दुःखमित्युच्यते।" —माध्यमिक० वृ० पृ० ४७५। "दु इति अयं सद्दो कुच्छिते दिस्सति। कुच्छितं हि पुत्तं दुपुत्तो ति वदन्ति। खं-सद्दो पन तुच्छे। तुच्छं हि आकासं खं ति वुच्चति। इदं च पठमं सच्चं कुच्छितं अनेक-उपद्दवाधिट्ठानतो तुच्छं बालजनपरिकप्पित-धुवसुभसुखत्तभावविरहितत्तो, तस्मा कुच्छितत्ता तुच्छत्ता च दुक्खं ति वुच्चति। विसुद्धि० १६।१६।

तृष्णासहाया हेतुभूताः समुदयः[1], समुदेति स्कन्धपञ्चकलक्षणं दुःखमस्मादिति व्युत्पत्तेः। निरोध-हेतुर्नैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्गः[2]। मार्गण् अन्वेषणे, मार्ग्यतेऽन्विष्यते[3] याच्यते निरोधार्थिभिरिति चुरादिणिजन्तत्वेनाल्प्रत्ययः। निःक्लेशावस्था चित्तस्य निरोधः। निरुध्यते रागद्वेषोपहत-चित्तलक्षणः संसारोऽनेनेति करणे घञि, मुक्तिरित्यर्थः।

§ ४७. दुःखादीनामित्यत्रादिशब्दोऽनेकार्थोऽपि व्यवस्थार्थो मन्तव्यः। यदुक्तम्—

"सामीप्ये च व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत्[4] ॥१॥"

तत्रादिशब्दः सामीप्ये यथा ग्रामादौ घोष इति, व्यवस्थायां यथा ब्राह्मणादयो वर्णा इति, प्रकारे यथा आढ्या देवदत्तादय इति देवदत्तसदृशा आढ्या[5] इत्यर्थः, अवयवे यथा स्तम्भादयो गृहा

इति । अत्र तु व्यवस्थार्थः संगच्छते । दुःखमादि [1]प्रथमं येषां तानि तथा तेषामिति बहुव्रीहिः ॥४॥

§ ४८. अथ दुःखतत्त्वं व्याचिख्यासुराह—

[2]दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
[3]विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

§ ४९. दुःखं दुःखतत्त्वं किमित्याह । संसरन्ति स्थानात्स्थानान्तरं[4] भवाद् भवान्तरं वा गच्छन्तीत्येवंशीलाः संसारिणः स्कन्धाः सचेतना अचेतना[5] वा परमाणुप्रचयविशेषाः । ते च स्कन्धाः वाक्यस्य सावधारणत्वात्पञ्चैवाख्याताः, न त्वपरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीति । के ते स्कन्धाः । पञ्च प्रकीर्तिताः । इत्याह–विज्ञानम् इत्यादि । विज्ञानस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः, रूपस्कन्धश्च । एवशब्दः पूरणार्थे, चशब्दः समुच्चये । तत्र रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि निर्विकल्पकं विज्ञानं विशिष्टज्ञानं [6]विज्ञानस्कन्धः । निर्विकल्पकं च ज्ञानमेवंरूपमवसेयम्—

"अस्ति [7]ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥१॥" [मी० श्लो० प्रत्य० ११२] इति ॥

अर्थमे प्रयुक्त हुआ है । 'दुःखादीनाम्' यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है । अर्थात् चार आर्यसत्योमे दुःख नामका आर्यसत्य प्रथम है ॥४॥

§ ४८. अब दुःखतत्त्वका स्वरूप कहते है—

संसारी स्कन्ध ही दुःख है । और विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ये पाँच स्कन्ध कहे गये है ॥५॥

§ ४९. सचेतन और अचेतन परमाणुओंके प्रचयको स्कन्ध कहते है । स्कन्ध पाँच ही होते है । इन पाँच स्कन्धोसे भिन्न कोई आत्मा नामका छठवाँ स्कन्ध नही है । अर्थात् नाम-रूपात्मक इन्ही पाँच स्कन्धोमे आत्माका व्यवहार होता है । यही पाँच स्कन्ध एक स्थानसे दूसरे स्थानको तथा एक भवसे भवान्तरको जाते है अतः संसरणधर्मा होनेसे संसारी है । इन्ही संसारी पाँच-स्कन्धोको दुःखसत्य कहते है । वे स्कन्ध पाँच है—विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और रूपस्कन्ध । श्लोकमे एव शब्द पादपूर्तिके लिए और च शब्द समुच्चयार्थक है ।

रूप रसादि विषयक निर्विकल्पक ज्ञानोको विज्ञानस्कन्ध कहते है । वि अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विज्ञानस्कन्ध है । निर्विकल्पक ज्ञानका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"सबसे पहले निर्विकल्पक आलोचनाज्ञान होता है । यह मूक बच्चो आदिके विज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुसे उत्पन्न होता है ॥१॥"

---

१ प्रधान भ० २ । २. "कतमञ्च भिक्खवे दुक्ख अरियसच्चं । जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्ख, सोक-परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धापि दुक्खा ।" —दीघ० महासतिपट्ठान० । [विभङ्ग० ९९] विसुद्धि० १६।३१ । "एत्थ हि बाधनलक्खणं दुक्खसच्चं, सन्तापनरसं, पवत्तिपच्चुपट्ठानं ।" —विसुद्धि० १६।२३ । "सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खानि ।" —विसुद्धि० १६।५७ । "दुःखं संसारिणः स्कन्धाः" —प्रमाणवा० १।१४९ । ३ इत प्रभृति अष्टमश्लोकान्तं यावत् सार्धं श्लोकत्रयं आदिपुराणे (५।४२-४५) विवेकविलासे (८।२६८-७०) च वर्तते । द्रष्टव्यम् —सर्वद० स० पृ० ४६ । ४ स्तरंग-भ० २ । ५ –नाश्च पर-म० २ । ६ "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः ।" —अभिध० १।१६ । "किञ्चि विजाननलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा विञ्ञाणक्खन्धो वेदितब्बो ति हि वुत्तं "विजानाति विजानाती खो आवुसो तस्मा विञ्ञाणं ति वुच्चती" ति [म० १।२९२]" —विसुद्धि० १४।८२ । ७ ह्यालोचन(न)ज्ञान आ० ।

§ ५०. सुखा दुःखा अदुःखसुखा[1] चेति वेदना [2]वेदनास्कन्धः। वेदना हि पूर्वकृतकर्मविपाकतो जायते। तथा च सुगतः कदाचिद्भिक्षामटाट्यमानः कण्टकेन चरणे विद्धः प्राह—

"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः॥" इति॥

§ ५१. संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः [3]संज्ञास्कन्धः। तत्र संज्ञा गौरित्यादिका गोत्वादिकं च [4]तत्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तयोरुद्ग्रहणा योजना, तदात्मकः प्रत्ययो नामजात्यादियोजनात्मकं सवि-[5]कल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्ध इत्यर्थः।

§ ५२. पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः [6]संस्कारस्कन्धः, यस्य संस्कारस्य प्रबोधात्पूर्वानुभूते विषये स्मरणादि समुत्पद्यते।

§ ५३. पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च रूपस्कन्धः।

---

§ ५०. सुखरूप, दुःखरूप और असुखदुःखरूप—जिसे न सुखरूप ही कह सकते हैं और न दुःखरूप हो—वेदना—अनुभवको वेदनास्कन्ध कहते हैं। पूर्वकृत कर्मके परिपाकसे कर्मके फलकी सुखादिरूपसे वेदना होती है। एक बार जब स्वयं सुगत भिक्षाके लिए जा रहे थे तब उनके पैरमे एक काँटा गड गया। उस समय उन्होने कहा था कि—

"हे भिक्षुओ, आजसे एकानबेवे कल्पमे मैने शक्ति—छुरीसे एक पुरुषका वध किया था। उसी कर्मके विपाकसे आज मेरे पैरमे काँटा लगा है।" इति।

§ ५१. जिन प्रत्ययोमे शब्दोके प्रवृत्तिनिमित्तोकी उद्ग्रहणा अर्थात् योजना हो जाती है उन सविकल्पक प्रत्ययोको संज्ञास्कन्ध कहते है। गौ, अश्व इत्यादि संज्ञाएँ है। ये संज्ञाएँ वस्तुके सामान्यधर्मको निमित्त बनाकर व्यवहारमे आती है, जैसे गौ संज्ञा गोत्वरूपसामान्यधर्म जहाँ-जहाँ होगा वहाँ-वहाँ प्रवृत्त होगी। इसीलिए गोत्व आदि सामान्य गो आदि संज्ञाओके प्रवृत्तिनिमित्त कहे जाते है। गो आदि संज्ञाओका अपने प्रवृत्तिनिमित्तोके साथ उद्ग्रहणा-योजना करनेवाला सविकल्पक प्रत्यय संज्ञास्कन्ध है। अर्थात् नाम जाति आदिकी योजना करके 'यह गौ है, यह अश्व है' इत्यादि व्यवहारका प्रयोजक सविकल्पकज्ञान संज्ञास्कन्ध कहलाता है।

§ ५२ पुण्य पाप आदि धर्मोके समुदायको संस्कारस्कन्ध कहते है। इसी संस्कारके प्रबोधसे पहले जाने गये पदार्थका स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि होते है।

§ ५३. पृथिवी आदि धातुएँ तथा रूपादि विषय रूपस्कन्ध कहलाते है।

---

१ चेति प० १, २, भ० २। २. "वेदनाऽनुभवः"—अभिध० १।१४। "यं किंचि वेदयितलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा वेदनाक्खन्धो वेदितब्बो ति।"—विसुद्धि० १४।१२५। ३. "संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका। निमित्तं नीलपीतदीर्घह्रस्वपुरुषस्त्रीशत्रुमित्रसातासातस्वभावा, तेषाम् उद्ग्रहणं मनसि धारणमेव स्कन्धः संज्ञास्कन्धः।" —अभिध०, टी० १।१४। "यं किंचि सञ्जाननलक्खणं सब्बं तं एकतो कत्वा सञ्ञाक्खन्धो वेदितब्बो ति। एत्थापि सञ्जाननलक्खणं नाम सञ्ञा व। यथाह—"सञ्जानाति सञ्जानातीति खो आवुसो तस्मा सञ्ञा ति वुच्चती" ति [म० १।२९३]—विसुद्धि० १४।१२९। ४ तत्प्रतिपत्तिनि–ब०, आ०, प० १, २, भ० १। ५ –ज्ञानं प० १, २, भ० १, २। ६. "चतुर्भ्योऽन्ये संस्काराः संस्कारस्कन्धः"—अभिध० १।१५। विसुद्धि० १४।१३१। ७ "रूपं पञ्चेन्द्रियाण्यर्थाः पञ्चाऽविज्ञप्तिरेव च।" अभिध० १।९। "यं किंचि सीतादीहि रुप्पनलक्खणं धम्मजातं सब्बं तं एकतो कत्वा रूपक्खन्धो ति वेदितब्बं। तदेतं रुप्पनलक्खणेन एकविधं पि भूतोपादायभेदतो दुविधं। तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं—पथवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातू ति। उपादारूपं चतुवीसतिविधं।" विसुद्धि० १४।३४-३६।

§ ५४. न चैतेभ्यो विज्ञानादिभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चनात्माख्यः[1] पदार्थः सुखदु.खेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतोऽध्यक्षेणावसीयते। नाप्यनुमानेन; तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाभावात्। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीति। ते च पञ्च स्कन्धाः क्षणमात्रावस्थायिन एव[2] वेदितव्याः, न पुनर्नित्याः, कियत्कालावस्थायिनो वा। एतच्च "क्षणिका सर्वसंस्कारा." [का० ७] इत्यत्र दर्शयिष्यते ॥५॥

§ ५५. दुःखतत्त्वं पञ्चभेदतयाभिधायाय दु.खतत्त्वस्य कारणभूतं समुदयतत्त्वं व्याख्याति—

> **समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः।**
> **आत्मात्मीयभावाख्यः [3]समुदयः स उदाहृतः ॥६॥**

§ ५६. यतो यस्मात्समुदयाल्लोके लोकमध्ये रागादीनां रागद्वेषादिदोषाणां गण समवाय अखिल समस्तः समुदेति [4]समुद्भवति। कीदृशो गण इत्याह—आत्मात्मीयभावाख्यः। आत्मा स्वम् आत्मीयः स्वकीयः तयोर्भावस्तत्त्वम्। आत्मात्मीयभावः 'अयमात्मा अयं चात्मीय.' इत्येवं संबन्ध

---

§ ५४ इन विज्ञान आदि स्कन्धोंसे भिन्न, सुख दु ख इच्छा द्वेष ज्ञानादिका आधारभूत आत्मा नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। और न स्कन्धोंसे भिन्न आत्माका प्रत्यक्षसे ही अनुभव होता है। ऐसे आत्माके साथ अविनाभाव रखनेवाला कोई निर्दोष लिंग भी नहीं है जिससे अनुमानके द्वारा आत्माकी सिद्धि की जाये। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही अविसंवादी प्रमाण हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरा प्रमाण नहीं है। ये पाँचो स्कन्ध क्षणिक हैं, एक क्षण तक ही ठहरते हैं और दूसरे क्षणमे विनष्ट हो जाते हैं। ये स्कन्ध न तो कूटस्थनित्य–सदा-एकरूपसे रहनेवाले ही हैं और न कालान्तर-स्थायी—दो चार क्षण तक ठहरनेवाले—ही हैं। ये तो एक ही क्षण तक ठहरते हैं और दूसरे क्षणमे समूल नष्ट हो जाते हैं। स्कन्धोकी क्षणिकताका समर्थन 'क्षणिका सर्व संस्कारा." [का० ७] इसमे किया जायेगा ॥५॥

§ ५५. इस प्रकार पंचस्कन्धरूप दु खतत्त्वका वर्णन करके अब दु खतत्त्वके कारणभूत समुदयतत्त्वका व्याख्यान करते हैं—

जिससे लोकमे 'मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि अहंकार ममकाररूप समस्त रागादिभावोका समूह उत्पन्न होता है उसे समुदय कहते हैं ॥६॥

§ ५६ जिससे लोकमे 'मैं हूँ, यह मेरा है, यह पर है, यह पराया है इत्यादि रूपमे अपना जाल फैलानेवाले राग-द्वेषादि दोषसमूह उत्पन्न होते हैं वह समुदय है। अहकार और ममकाररूपसे होनेवाला आत्मभाव और आत्मीयभाव ही समुदय तत्त्व है। एक जगह अहंकार और

---

१. "यथा हि अंगसंभारा होति सद्दो रथो इति। एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति॥" —मिलिन्द०। "नन्वनित्येषु भावेषु कल्पना नाम जायते—यथोपवर्णितेन न्यायेन स्कन्धनिर्मुक्त स्कन्धव्यतिरिक्तस्यात्मन सर्वथाऽभावात्। नन्वनित्येषु रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानाख्येषु भावेषु आत्मेति कल्पना अभूतार्थारोपण क्रियते आत्मा सत्त्वो जीवो जन्तुरिति। यथाहि इन्धनमुपादायाग्नि एवं स्कन्धानुपादाय आत्मा प्रज्ञप्यते।" —चतु श० वृ० १०।३। "नात्मास्ति स्कन्धमात्र तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्। अन्तराभवसंतत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥" —अभिध० ३।१८। बोधिच० प० पृ० १३२। "न एवं स्कन्धसमुदायलक्षण प्रज्ञप्तिसत् " —तत्त्वसं० प० पृ० १३१। २ एतानेति- म० २। एवावेत प० १, २, म० १। ३. "कतमं च भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं? यायं तण्हा पोनोभविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेय्यथीदं कामतण्हा भवतण्हा विभवतण्हा।" —म० नि० महासति०। विसुद्धि० १६।६१। ४ समुद्भवति प० १, २, म० १२।

इत्यर्थः। उपलक्षणत्वात् 'अयं परोऽयं च परकीय' इत्यादि संबन्धो द्रष्टव्यः। स एवाख्या नाम यस्य स आत्मात्मीयभावाख्यः। अयं भावः—आत्मात्मीयसंबन्धेन परपरकीयादिसंबन्धेन वा यतो रागद्वेषादयः समुद्भवन्ति स समुदयो नाम तत्त्वं बौद्धमत उदाहृतः कथितः। अत्रोत्तरार्धे सप्तनवाक्षरपादद्वये छन्दोऽन्तरसद्भावाच्छन्दोभङ्गदोषो[1] न चिन्त्यः, आर्षत्वात्प्रस्तुतशास्त्रस्य[2] ॥६॥

§ ५७. अथ दुःखसमुदयतत्त्वयोः संसारप्रवृत्तिनिमित्तयोर्विपक्षभूते मार्गनिरोधतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका।
स मार्ग इह विज्ञेयो[3] निरोधो मोक्ष उच्यते[4] ॥७॥

§ ५८. परमनिकृष्टः कालः क्षणः, तत्र भवाः क्षणिका.[5] क्षणमात्रावस्थितय[6] इत्यर्थः। सर्वे च ते संस्काराश्च पदार्थाः सर्वसंस्काराः क्षणविनश्वराः सर्वे पदार्था इत्यर्थः। तथा च बौद्धा अभिदधति—[7]स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यते। अविनश्वरस्वभावो वा। यद्यविनश्वरस्वभावः; तदा तद्व्यापिकायाः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात्पदार्थस्यापि व्याप्य-

---

ममकार होनेसे अन्यत्र पर और परकीय बुद्धि अर्थात् ही उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह है कि 'मैं मेरा पर और पराया' इन रूपोमे प्रकट होनेवाले आत्मभाव, आत्मीयभाव, परभाव और परकीयभावोसे ही राग-द्वेष आदि दोप उत्पन्न होते हैं। यही भाव बौद्धमतमे समुदय तत्त्व कहे जाते है।

यद्यपि इस श्लोकके उत्तरार्धके एक पादमे सात तथा दूसरे पादमे नव अक्षर है फिर भी छन्दभंग नही है। क्योकि यह शास्त्र ऋषिप्रणीत होनेसे आर्ष है। अतः इसके अनुसार सात और नव अक्षरवाले अन्य आर्षछन्दकी प्राचीन परम्परा थी यही मान लेना चाहिए ॥६॥

§ ५७. अव संसारकी प्रवृत्तिमे निमित्तभूत दु ख और समुदयतत्त्वके विपक्षी जो मार्ग और निरोधतत्त्व हैं, उनका व्याख्यान करते हैं—

संसारके सभी संस्कार क्षणिक हैं इस क्षणिक भावनाको मार्गतत्त्व और रागादि वासनाओंके नाशको निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥७॥

§ ५८. परमनिकृष्ट अर्थात् सवसे सूक्ष्म कालको क्षण कहते है। ससारके सभी सस्कार या पदार्थ एक क्षण तक ही रहते हैं और द्वितीय समयमें वे स्वत. नष्ट हो जाते है अतएव क्षणिक है पदार्थोंको क्षणिक माननेके विषयमे बौद्धोकी विचार सरणी इस प्रकार है—

बौद्ध—जगत्‌के सभी पदार्थ अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न होते है। यह एक निर्विवाद वस्तु है। तो अव वताइए कि वे पदार्थ अपने कारणोसे विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न होते है या

---

१ –दोषा न चिन्त्या भ० २। २. त्वं शास्त्रस्य भ० २। ३. "अयमेव अरियो अट्ठंगिको मग्गो दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा।"—सं० नि०। विसुद्धि० १६।९५। ४. "कतम च भिक्खवे दुक्खनिरोध अरियसच्चं ? यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।" दीघ० महासति०—विसुद्धि० १६।६२। ५. तत्रेदमुक्त भगवता—"क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुत क्रिया। भूतिर्येषा क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते ॥"—तत्त्वसं० पं० पृ० १५। बोधिच० प० पृ० ३७६। तन्त्रवा० पृ० १२०। "उक्तं च–क्षणिका सर्वसंस्कारा. विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्रा. यदिदं त्रैधातुकम्" —सन्मति० टी० पृ० ७३१। ६. "उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुन.। तदुच्यते क्षण सोऽस्ति यस्य तत्क्षणिकं मतम् ॥ तत्त्वसं० श्लो० ३८८। ७. "तथाहि—भाव स्वहेतोरुत्पद्यमान. कदाचित्प्रकृत्या स्वय नश्वरात्मैवोत्पद्यते, अनश्वरात्मा वा "अथ अनश्वरात्मेति पक्षस्तदापि नाशहेतुरकिंचित्कर एव। तस्य केनचित्स्वभावान्यथाभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्।" —तत्त्वसं० पृ० १४०।

यदि क्रियते; तदा किं पूर्वस्वभावपरित्यागेन क्रियते, अपरित्यागेन वा। यदि परित्यागेन; ततोऽताद‌वस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम् । अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन; ततस्तस्य नित्यस्य तत्कृतोपकाराभावात्किं सहकार्यपेक्षया कर्तव्यम्। अथाकिंचित्करोऽपि सहकारी तेन विशिष्टकार्यार्थमपेक्ष्यते; तदयुक्तम्, यतः—

"अपेक्ष्येत परः कश्चिद्यदि कुर्वीत किंचन।
यदकिंचित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ॥११॥" [प्र० वा० ३।२७९]

अथ तस्य प्रथमार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते; तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः । अथासौ नित्योऽर्थो यौगपद्येनार्थक्रिया कुर्यात्; तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थ-

---

(क्षणिकवादी—अच्छा, यह बताओ कि-जब सहकारिकारण नित्यकी सहायता करते है, तब वे नित्यपदार्थमे कुछ सामर्थ्य या अतिशय भी उत्पन्न करते है या नही ? यदि वे नित्यमे कोई नया अतिशय उत्पन्न करते है, तब उस समय नित्यके सदा-स्थायी पूर्वस्वभावमे कुछ परिवर्तन भी होता है कि नही ? तात्पर्य यह कि जिस समय सहकारिकारण किसी नये अतिशय या सामर्थ्यको लेकर नित्यके सामने उपस्थित होते है उस समय नित्य पदार्थ उस सामर्थ्यको ग्रहण करते समय जो कि उनमे पहले नही थी, अपने पूर्व-स्वभाव अर्थात् असमर्थ स्वभावको छोड़ते है या नही। यदि नित्यने सहकारियो-द्वारा लाये गये नये अतिशयको ग्रहण करते समय अपना पूर्व असमर्थ स्वभाव छोड दिया, जिसे छोडे विना नये स्वभावका ग्रहण करना सम्भव ही नही है, तब पूर्व स्वभावका परित्याग तथा नूतन स्वभावको ग्रहण करनेके कारण नित्यमे काफी परिवर्तन हो जायगा और यह परिवर्तन नित्यको सदा स्थायी नित्यरूपमे नही रहने देगा, अर्थात् उसे अनित्य वना देगा। यदि नित्य अपने पूर्वकालीन असमर्थ स्वभावको नही छोडता है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ सहकारिकारणोने नित्यका कुछ भी उपकार नही किया अर्थात् उसमे किसी भी नवीन अतिशयकी सृष्टि नही की। तब नित्यको ऐसे अकिंचित्कर अर्थात् कुछ भी उपकार नही करनेवाले-सहकारियोकी अपेक्षा ही क्यो होगी ? जो थोडा-बहुत उपकार करता है, या जिनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है ससार उसीकी अपेक्षा करता है।

"जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते ।
यो जातश्च न च ध्वस्तो नश्येत्पश्चात्स केन च[1] ॥१॥"

§ ६०. **नन्वनित्यत्वे सत्यपि यस्य घटादिकस्य यदैव मुद्गरादिसामग्रीसाकल्यं** [2]**तदैव तद्विनश्वरमाकल्पते न पुनः प्रतिक्षणम् । ततो** 'विनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति; तदेतदनुपासितगुरोर्वचः; यतो मुद्गरादिसंनिधाने सति योऽस्य घटादिकस्यान्त्यावस्थायां विनाशस्वभावः, स स्वभावस्तस्यैवोत्पत्तिसमये विद्यते, न वा । विद्यते [1]चेत्; आपतितं तर्हि तदुत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्वरत्वम् । अथ न विद्यते स स्वभाव उत्पत्तिसमये; तर्हि कथं पश्चात्स भवेत् । अथेदृश एव तस्य स्वभावो यदुत कियन्तमपि कालं स्थित्वा तेन विनष्टव्यमिति चेत्; तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽप्येष एव तस्य स्वभावः स्यात्, ततो भूयोऽपि तेन तावत्काल स्थेयम्,

---

"पदार्थोके विनाशका कारण उनकी जाति अर्थात् उत्पत्ति या स्वभाव ही है । अर्थात् पदार्थ स्वभावसे ऐसे ही उत्पन्न होते है जिन्हे दूसरे क्षणमें नष्ट हो ही जाना चाहिए । जो पदाथ उत्पन्न होकर भी अनन्तर ही नष्ट नही हुआ उसे पीछे कौन नष्ट कर सकेगा ? अर्थात् वह नित्य हो जायगा, उसका कभी भी नाश नही हो सकेगा ।"

(§ ६० **शंका**—पदार्थ अनित्य है यह तो समझमे आ जाता है, किन्तु घट आदि पदार्थोके नाशक हेतु मुद्गर आदि जब मिल जायँ तभी उनका विनाश होता है, उन्हे प्रतिक्षण विनाशी मानना किसी भी तरह उचित नहीं मालूम होता । इसलिए विनाशक सामग्रीके मिलनेपर ही विनाशवाले अनित्य पदार्थोकी तब तक तो स्थिति माननी ही चाहिए जब तक कि उनके विनाशक कारण नही जुट जाते । अतः पदार्थ कालान्तरस्थायी—अनित्य–अर्थात् कुछ काल तक ठहरकर नष्ट होनेवाले है, न कि प्रतिक्षण विनाशी ।

एवं च मुद्गरादिघातशतपातेऽपि न विनाशो भवेत्, जातं कल्पान्तस्थायित्वं घटादेः, तथा च 'जगद्व्यवहारव्यवस्थाविलोपपातकपङ्किलता, इत्यभ्युपेयमनिच्छुनापि क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम्। प्रयोगस्त्वेवम्—यद्विनश्वरस्वभाव तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूप यथा अन्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम्, विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत आरभ्येति स्वभावहेतु.। तदेवं विनाशहेतोरकिंचित्करत्वात् स्वहेतुत एव पदार्थानामनित्यानामेवोत्पत्तेः क्षणिकत्वमवस्थितमिति[2] ।

§ ६१. ननु[3] यदि क्षणक्षयिणो भावा, कथ तर्हि 'स एवायम्' इति ज्ञानम्। उच्यते—निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणप्रलयकाल एव दीपकलिकाया दीपकलिकान्तरमिव तत्सदृशमपरं क्षणान्तरमुदयते, तेन समानाकारज्ञानपरंपरापरिचयचिरतरपरि-

---

कल्पान्तकाल तक स्थिर हो जायगा। इस प्रकार जब ससारका कोई भी पदार्थ नष्ट नही हो सकेगा तब ससारके समस्त हिंस्यहिंसक मृत्यु आदि व्यवहारोकी व्यवस्थाका लोप हो जायगा। और ऐसी कल्पना करनेवालेके माथेपर व्यवहारको व्यवस्थाके विलोपकी गहरी पाप कालिमा लगेगी। अत जगत्के व्यवहारके अनुसार पदार्थोको क्षणिक मानना ही पडेगा। आपका चित्त अपने पूर्वग्रहके कारण भले ही उसे न मानना चाहता हो पर पदार्थकी व्यवस्था तो लोक प्रतीतिसे होती है किसीकी इच्छा या अनिच्छासे नही। अत जो अन्तमे विनश्वर स्वभाववाले है वे उत्पत्तिके समय भी विनश्वर स्वभाववाले ही रहते है जैसे कि अन्तमे नष्ट होनेवाले घडेका विनश्वर स्वरूप यदि अन्तमे रहता है तो उसे उत्पत्तिकालमे भी रहना चाहिए अन्यथा अन्तमे भी वह स्वभाव कहाँसे आयगा ? उसी तरह चूँकि जगत्के समस्त रूप रस आदि भी अन्तमे विनश्वर है और इसीलिए वे उत्पत्तिके समयसे ही विनश्वर स्वभाववाले हैं। (यह क्षणिकत्वको सिद्ध करनेवाले स्वभाव हेतुका प्रयोग है। इस तरह जब विनाशक कारण विनाशके प्रति अकिंचित्कर अर्थात् निकम्मे साबित हो जाते हैं तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ अपने कारणोसे विनाशस्वभाववाले ही उत्पन्न होते है। इस तरह पदार्थ जब अपने कारणोसे ही विनश्वर स्वभावको लेकर उत्पन्न हुए है तब उन्हे कौन स्थिर रख सकता है, वे तो अपने उस स्वभावके कारण दूसरे ही क्षणमे नियमसे नष्ट हो ही जायँगे। यही पदार्थोकी क्षणिकताका स्वभावमूलक विवेचन है।

§ ६१. **शंका**—यदि पदार्थ क्षणिक है अर्थात् प्रति समय नष्ट होकर नये-नये उत्पन्न होते है तो 'यह वही है' यह स्थिरतामूलक प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—'प्रत्यभिज्ञान होता है' यह तो ठीक है, पर जिस तरह सीपमे चाँदीका ज्ञान मिथ्या है, उसी तरह 'यह वही है' यह प्रत्यभिज्ञान भी सदृश क्षणोमे एकत्वका मिथ्या भान करनेके कारण सत्य नही है। असल बात तो यह है कि—पदार्थ प्रतिक्षणमे विनष्ट हो रहे है और उनकी जगह नये-नये सदृश पदार्थ तुरन्त ही उत्पन्न हो रहे हैं। देखो दीपककी लौ प्रतिक्षण नष्ट होती है और द्वितीय क्षणमे उसकी जगह उस पूर्व दीपकलिकाके सदृश ही नूतन दीपकलिका

---

१. जगद्व्यवस्थालोपपातक–भ० २। २ –ति यदि भ० २। ३ "सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो वा, सदृशे हि तदेवेदमिति बुद्धिर्यमजे। अत्रापि सदृशापरोत्पत्तिविप्रलब्धो लूनपुनर्जातकेशनखादिवत्"—प्र० वार्तिकाल० २।२०९। "तस्मात् सदृशापरभावनिबन्धन एवाय केशकदलीस्तम्बादिष्विव आकारसाम्यतामात्रापहृतहृदयानां भ्रान्त एव तत्त्वाध्यवसायो मन्तव्य" (पृ० ८६) सदृशापरभावग्रहकृतश्च अर्वाग्दर्शनानामेकत्वविभ्रमो लूनपुनर्जातेष्विव नखकेशादिष्विति किन्नेष्यते (पृ० १२०)। सदृशापरभावनिबन्धन चैकतया प्रत्यभिज्ञान लूनपुनर्जातेष्विव केशनखादिषु इत्यत्र विरोधाभावादिति।" (पृ० १२६)—हेतुवि०, टी०। "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशङ्कते—तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यथा नित्यत्वविभ्रम। अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रम।" —तत्त्वसं० का० १९७२।

णामाशिरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति। दृश्यते [1]च यथा लूनपुनरुत्पन्नेषु [2]नखकेशकलापादिषु 'स एवायम्' इति प्रतीतिः तथेहापि किं न संभाव्यते सुजनेन। तस्मात्सिद्धमिदं यत्सत्तत्क्षणिकमिति। अत एव युक्तियुक्तमुक्तमेतत् 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इति।

§ ६२. अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते—'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' इत्यत्र इतिशब्दात्प्रकारार्थात् नास्त्यात्मा कश्चन, किंतु ज्ञानक्षणसंताना एव सन्तीत्यादिकमप्यत्र गृह्यते। ततोऽयमर्थः—क्षणिकाः सर्वे पदार्थाः, नास्त्यात्मेत्[3]याद्याकारा, एवमीदृशी यका 'स्वार्थे कप्रत्यये, या वासना पूर्वज्ञानजनिता तदुत्तरज्ञाने शक्तिः क्षणपरम्पराप्राप्ता मानसी प्रतीतिरित्यर्थः, स मार्गो नामार्यसत्यम्, इह बौद्धमते विज्ञेयोऽवगन्तव्यः। सर्वपदार्थक्षणिकत्वनैरात्म्याद्याकारश्चित्तविशेषो मार्ग इत्यर्थः। स च [4]निरोधस्य कारणं द्रष्टव्यः।

निरन्तर उत्पन्न होती है यह बात बारीकीसे देखनेपर सहज ही अनुभवमे आ जाती है। पर साधारणतया लोग तो यही समझते है कि—'यह वही दीपक है'। ठीक इसी तरह पदार्थोंका अत्यन्त विनाश होनेपर भी उनकी जगह दूसरे नये सदृश पदार्थ निरन्तर उत्पन्न होनेके कारण तथा अनादि कालीन 'यह वही है' ऐसी अविद्या वासनाके कारण हमे सदृश क्षणोमे भी 'यह वही है' ऐसा एकत्व भान बलात् होता है। इसका कारण है हमारी स्थूल दृष्टि। हम समान आकारवाले पदार्थोंमे निरन्तर चिरकालीन परिचयके कारण तथा उनके प्रतिक्षण होनेवाले निरन्तर सदृश परिणमनसे भ्रममे पड जाते है और मान बैठते है कि 'यह वही पदार्थ है', जबकि वह पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ समूल नष्ट हो चुका है और उसकी जगह ठीक वैसी ही शक्लवाला दूसरा नया ही प्रतिनिधि मौजूद है। दीपककी बात जाने दीजिए-बाल बनवाते समय हम बालोको तथा नखोको कटवाकर फेंक देते है, पर जब दूसरे वैसे ही बाल तथा नख उग आते है तब भी हमारी स्थूलबुद्धि 'ये वही बाल है, ये वही नख है' इस तरह पूर्व सदृश बालो और नखोमे एकत्वका मिथ्या भान करने लगती है। इसलिए यह तो अनादिकालीन अविद्या तथा हमारी स्थूल दृष्टिका ही चमत्कार है जो हम सदृश पदार्थोंमे भी एकत्वका भान कर बैठते है। इसी तरह जगत्के सभी पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होकर अपने नये-नये सदृश रूपोको धारण करते है परन्तु हम स्थूलबुद्धि अविद्या, वासना तथा पदार्थोंकी सदृश निरन्तर उत्पत्तिसे ठगे जाते है और उन्हे 'ये वही है' इस तरह एक मान लेते है। इस विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि जो भी संसारमे सत् है वह क्षणिक है। अत. 'सभी संस्कार क्षणिक है' यह युक्तियुक्त ही कहा गया है।

§ ६२. अब प्रस्तुत श्लोकका व्याख्यान करते है—'क्षणिका. सर्वसंस्कारा इति' यहाँ इति शब्द प्रकारवाची है। अत 'कोई आत्मा नामका स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है किन्तु पूर्वापर ज्ञानप्रवाह रूप सन्ताने ही है' इत्यादि प्रकारोका सग्रह हो जाता है। इसलिए यह फलितार्थ हुआ कि—'सभी पदार्थ क्षणिक है', 'आत्मा नही है' इत्यादि प्रकारकी जो वासना है, उसे बौद्धमतके अनुसार मार्ग नामका आर्यसत्य कहते है। पूर्वज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उत्तरज्ञानमे पूर्वज्ञानसे क्षण परम्परा-से जो शक्ति प्राप्त होती है उसे वासना या मानसी प्रतीति कहते है। तात्पर्य यह कि—सभी पदार्थ क्षणिक है तथा 'आत्मा नही है' इत्यादि क्षणिक, नैरात्म्यादि आकारवाला चित्त विशेष ही मार्ग है। यह मार्ग आर्यसत्य निरोधका कारण होता है।

---

१ च लून– म० २। २ नखकेशकपालादि– म० २। ३ –त्मा [illegible] म० २।
४ विरोधस्य म० २।

§ ६३. अथ चतुर्थमार्यसत्यमाह—निरोधो निरोधनामकं तत्त्वं मोक्षोऽपवर्ग उच्यतेऽभिधीयते। चित्तस्य निःक्लेशावस्थारूपो निरोधो मुक्तिर्निगद्यत इत्यर्थः। एतानि दुःखादीन्यार्यसत्यानि चत्वारि यानि ग्रन्थकृतात्रानन्तरमेवोक्तानि तानि सौत्रान्तिकमतेनैवेति विज्ञेयम् ॥७॥

§ ६४. वैभाषिकादिभेदनिर्देशं विना सामान्यतो बौद्धमतेन तु द्वादशैव ये पदार्था भवन्ति तानपि संप्रति विवक्षुः श्लोकमेनमाह—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि[1] च ॥८॥

§ ६५. व्याख्या—पञ्चसंख्यानीन्द्रियाणि श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शन[2]रूपाणि। शब्दाद्याः शब्द-रूपरसगन्धस्पर्शाः पञ्च विषया इन्द्रियगोचराः। मानसं चित्तं यस्य शब्दायतनमिति नामान्तरम्। धर्माः सुखदुःखादयस्तेषामायतनं गृहं शरीरमित्यर्थः। एतान्यनन्तरोक्तानि द्वादशसंख्यान्यायतनान्या-यतनसंज्ञानि तत्त्वानि, चः समुच्चये, न केवलं प्रागुक्तानि चत्वारि दुःखादीन्येव, किन्त्वेतानि द्वादशायतनानि च भवन्ति। एतानि चायतनानि क्षणिकानि ज्ञातव्यानि। यतो बौद्धा अत्रैवमभि-दधते। अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वं प्रागुक्तन्यायेनाक्षणिकान्निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते। तथा च सति

---

§ ६३. अब चौथे आर्यसत्य निरोधका वर्णन करते हैं। मोक्ष या अपवर्ग–(जिसके बाद पवर्गका कोई भी अक्षर न हो अर्थात् जिसमें पवर्गके अन्तिम अक्षर 'म'का प्रयोग हो ऐसे मोक्ष) को निरोधतत्त्व कहते हैं। अर्थात् अविद्यातृष्णा रूप क्लेशसे रहित चित्तकी निःक्लेश अवस्था निरोध—मुक्ति कही जाती है।

अभी जिन दुःखादि चार आर्यसत्योंका ग्रन्थकारने वर्णन किया है वह सौत्रान्तिकमतकी दृष्टिसे समझना चाहिए ॥७॥

§ ६४. वैभाषिक आदि भेदोंकी विवक्षा नहीं करके सामान्यसे बौद्धमतमें जो द्वादशायतन अर्थात् बारह पदार्थ प्रसिद्ध हैं उनके कहनेकी इच्छासे इस श्लोकको कहते हैं—

पाँच इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच विषय, चित्त और सुख-दुःखादि धर्मोंका आधार शरीर ये बारह आयतन हैं ॥८॥

§ ६५. श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा तथा स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श ये पाँच उन इन्द्रियोंके विषय, मानस—चित्त, अर्थात् शब्दायतन, सुख-दुःख आदि धर्मोंका आयतन–गृह अर्थात् आधारभूत शरीर—ये बारह आयतन हैं। श्लोकमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। इससे यह मालूम होता है कि केवल पहले कहे गये चार आर्यसत्य ही नहीं हैं किन्तु ये बारह आयतन भी हैं। ये आयतन भी क्षणिक हैं। बौद्धोंका यह सिद्धान्त है कि—अर्थक्रिया रूप ही सत्त्व होता है, जो पदार्थ अर्थक्रिया करता है वही सत् कहा जाता है : पहले कही गयी युक्तियोंके अनुसार नित्यपदार्थ क्रम तथा युगपत् दोनों ही प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता अतः अर्थक्रिया लक्षण सत्त्व नित्यपदार्थको छोड़कर क्षणिक अर्थमें ही आकर रहता है। ऐसी अवस्थामें यह अनुमान

---

१. "आयतनानीति द्वादसायतनानि–चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं, घानायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, कायायतनं, फोट्ठब्बायतनं, मनायतनं, धम्मायतनं ति।"—वि० म० पृ० ३३४।

२. –स्पर्शनानि म० २।

सुलभं क्षणिकत्वानुमानम्[1]—यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा प्रदीपकलिकादि । सन्ति च द्वादशायतनानीति । अनेन चानुमानेन द्वादशायतनव्यतिरिक्तस्यापरस्यार्थस्याभावात्, द्वादशस्वायतनेष्वेव क्षणिकत्वं व्यवस्थितं भवतीति ।

§ ६६. तदेवं सौत्रान्तिकमतेन चत्वारि दुःखादीनि तत्त्वानि, सामान्यतो बौद्धमतेन चायतनरूपाणि द्वादश तत्त्वानि प्रतिपाद्य, संप्रति प्रमाणस्य विशेषलक्षणमत्राभिधानीयम्, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभावीति प्रथमं प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते—"[2]"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्र० वा० १ ३] इति । अविसंवादकं ज्ञानं प्रमाणम् । अविसंवादकत्वं[3] चार्थप्रापकत्वेन व्याप्तम्, अर्थाप्रापकस्याविसंवादित्वाभावात् [4]केशोण्डुकज्ञानवत् । अर्थप्रापकत्वं च प्रवर्तकत्वेन व्यापि, अप्रवर्तकस्यार्थाप्राप-

---

करना बिलकुल सहज है कि–जो-जो सत् होते हैं वे सब क्षणिक हैं जैसे कि दीपककी लौ । द्वादशायतन भी सत् हैं । इस अनुमानसे यह भी सिद्ध होता है कि–बारह आयतनसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है । अत क्षणिकत्व बारह आयतनोमें ही रहता है ।

§ ६६. इस प्रकार सौत्रान्तिक मतके अनुसार चार आर्यसत्योंका तथा सामान्य बौद्धमतकी दृष्टिसे बारह आयतनोके स्वरूपका निरूपण किया है । अब प्रमाणके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदोके लक्षण कहते हैं । प्रमाणके विशेषोके लक्षण तो स्पष्ट रूपसे तभी कहे जा सकते है जब पहले प्रमाण कह दिया जाय । अत· पहले प्रमाण सामान्यका लक्षण कहते हैं—

"अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण कहते है ।" इससे अविसंवादक ज्ञान ही प्रमाणकी कोटिमे आता है । जो ज्ञान अर्थका प्रापक होता है वही ज्ञान अविसंवादी कहा जाता है । जिस ज्ञानके द्वारा अर्थकी प्राप्ति नही होती वह अविसंवादी नही हो सकता । जैसे केशोण्डुक ज्ञान । स्वच्छ आकाशमे धूपसे चल-फिरकर आनेके बाद बालों-जैसी या उण्डुक—मच्छरो-जैसी काली रेखाएँ तथा धब्बे मालूम होते हैं उन्हे केशोण्डुक ज्ञान कहते हैं। यह केशोण्डुक ज्ञान केश और उण्डुक—मच्छरका प्रतिभास कराके भी इनकी प्राप्ति नही कराता अतः प्रापक न होनेसे अविसंवादी भी नही है । इस तरह अविसवादित्वका अर्थ प्रापकत्वके साथ व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव है । अर्थप्रापकत्व प्रवर्तकत्वके साथ अविनाभाव रखता है, क्योकि जो ज्ञान प्रवर्तक ही नही है वह अर्थकी प्राप्ति भी नही कराता । इसी तरह प्रवर्तकत्व विषयोपदर्शकत्वसे अपना अविनाभावी सम्बन्ध रखता है । जो

---

१ "न चैवाक्षणिकस्य क्वचित् कदाचित् शक्तिरस्ति, क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रियाशक्तिविरहात् । इत्थं च यत् सत् तत् क्षणिकमेवेति व्याप्तिसिद्धि । नैव प्रत्यक्षत. कार्यविरहाद्वा सर्व्वशक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उच्यते, किंतु तद्व्यापकविरहात् । तथा हि—क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । तत. कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेस्तद्व्याप्ताया. कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्व्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति, विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्त सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवतीति—'यत् सत् तत् क्षणिकमेव' इत्यन्वयव्यतिरेकरूपाया व्याप्ते सिद्धिर्निश्चयो भवति ।"—हेतुबि० पृ० १४६ । २. "प्रमाणमविसवादि ज्ञानं, अर्थक्रियास्थिति । अविसवादनं ।"—प्र० वा० १।३ । "अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।"—न्यायवि० टी० पृ० १७ । ३ "लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् सवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम्, नान्यत् । तथा हि—न जनयदर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुष प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।"—न्यायबि० टी० पृ० १७ । ४. "प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम् । प्रापकत्वाच्च प्रमाणम् ॥"—न्यायवि० टी० पृ० २१ । ५. "यथा चिरकालीनाध्ययनादिखिन्नस्य अस्थितस्य नीललोहितादिगुणविशिष्ट· केशोण्डुकाख्य. कश्चिन्नयनाग्रे परिस्फुरति । अथवा करमृदितलोचनरश्मिषु येयं केशपिण्डावस्था स केशोण्डुक ।"—शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ९९ ।

पकत्वात्। तदेव प्रवर्तकत्वमपि विषयोपदर्शकत्वेन व्याख्यातम्। न हि ज्ञानं हस्ते गृहीत्वा पुरुषं प्रवर्तयति, स्वविषयं तूपदर्शयत्प्रवर्तकमुच्यते प्रापकं चेति। स्वविषयोपदर्शकत्वव्यतिरेकेण नान्यत्प्रापकत्वम्। तच्च शक्तिरूपम्। उक्तं च 'प्रापणशक्तिः प्रामाण्यं तदेव च प्रापकत्वम् [ ] इति। स्वविषयोपदर्शके च प्रत्यक्षानुमाने एव, न ज्ञानान्तरम्। अतस्ते एव लक्षणार्हे, तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम्। प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधकं वस्तु दृष्टतयावगतं सत्प्रदर्शितं भवति, अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारितयाध्यवसितं सत्प्रदर्शितं भवतीत्यनयोः स्वविषयप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम्। यद्यपि च प्रत्यक्षस्य क्षणो ग्राह्यः, न च निवृत्तत्वात्स प्राप्यते, तथापि तत्संतानोऽध्यवसेयः प्रवृत्तौ प्राप्यत इति संतानविषयप्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम्। अनु-

ज्ञान अपने विषयका यथार्थ उपदर्शन अर्थात् प्रतिभास या निश्चय कराता है वही प्रवृत्तिमें प्रयोजक होकर प्रवर्तक होता है और वही प्रापक भी कहा जाता है। ज्ञान ज्ञाताका हाथ पकड़कर तो उसे पदार्थ तक नहीं ले जा सकता। हां, वह तो इतना ही कर सकता है कि—प्रमाताको पदार्थका यथार्थ उपदर्शन करा दे। ज्ञानमें इसी विषयोपदर्शन रूप ही प्रवर्तकता तथा प्रापकता है। स्वविषयके उपदर्शनको छोड़कर दूसरी कोई भी प्रवर्तकता या प्रापकता ज्ञानमें नहीं बन सकती। यह प्रापकता शक्तिरूप है। कहा भी है—"प्रापण शक्तिको ही प्रामाण्य कहते हैं, और ज्ञानमें इस शक्तिका होना ही प्रापकत्व है।' प्रत्यक्ष और अनुमान ही अपने विषयके यथार्थ उपदर्शक होते हैं, अन्य ज्ञान नहीं। इसीलिए प्रत्यक्ष और अनुमानका ही लक्षण किया जाना चाहिए। इन दोनोंका सामान्य लक्षण अविसंवादकत्व है। प्रत्यक्ष तो अर्थक्रिया साधक स्वलक्षण रूप वस्तुको साक्षात् विषय करके उसका उपदर्शन कराता है। पर अनुमान लिङ्गदर्शनकी विषयभूत स्वलक्षण वस्तुके साथ अविनाभाव रखनेवाली साध्य वस्तुका अध्यवसाय कराकर प्रदर्शन कराता है तब अविसंवादी होता है। इस तरह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनोंमें स्वविषयोपदर्शनरूप प्रापकत्व है।

[प्रश्न—जब पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं अतएव प्रत्यक्षका जो अर्थक्षण ग्राह्य-विषय था वह तो प्रवृत्तिकाल तक ठहरता ही नहीं है जिससे वह उसकी प्राप्ति कराके अविसंवादक बन सके। प्रत्यक्षमें प्रापकता और प्रापकतामूलक प्रमाणता कैसे सिद्ध हो सकती है ?]

उत्तर—यद्यपि निर्विकल्पक प्रत्यक्षका साक्षात्-ग्राह्य विषयभूत पदार्थ क्षणवर्ती स्वलक्षण ही है और वह द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाता है पर उस पदार्थका जो सन्तान है वह अध्यवसेय—निश्चय विषय बनता है अर्थात् प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला विकल्प ज्ञान उस पदार्थके सन्तानका अध्यवसाय अर्थात् निश्चय कराता है और वही सन्तान प्रवृत्तिके बाद प्राप्त होता है। अतः सन्तान-के विषयमें प्रदर्शित अर्थकी प्रापकतारूप प्रामाण्य प्रत्यक्षका है। अतः प्रत्यक्षमें तत्क्षणवर्ती स्वलक्षण पदार्थकी दृष्टिसे प्रापकता न भी बने पर सन्तानकी दृष्टिसे तो बन ही जाती है। क्योंकि ग्राह्य और अध्यवसेयका एकत्वाध्यवसाय है।

---

१. "तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति। अनुमानं च लिङ्गसम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति। अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके। तेन ते प्रमाणे। नान्यद्विज्ञानम्।"—न्यायबि० टी० पृ० २१। २. –पयदर्श–आ०। ३. "नोच्यते-यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति। अन्यो हि दर्शनकाल, अन्यश्च प्राप्तिकाल। किन्तु यत्काल परिच्छिन्नं तदेव तेन प्रापणीयम्। अभेदाध्यवसायाच्च सतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति।"—न्यायबि० टी० पृ० २६। ४. "द्विविधो हि विषय प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवसति। अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेय। प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्य। अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सतान एव। संतान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीय। क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात्।"—न्यायबि० टी० पृ० ७१। "तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि।"—न्यायबि० टी० पृ० ७१।

मानस्य तु लिङ्गदर्शनेन[1] विकल्प्यः स्वाकारो ग्राह्यो न बाह्योऽर्थः, प्राप्यस्तु बाह्यः स्वकाराभेदेनाध्यवसित इति । तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम् । तदुक्तम्—"न ह्याभ्यामर्थं[2] परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियाया विसंवाद्यते" [ ] इति[3] ।

§ ६७. प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेशकालाकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरेव प्रामाण्यं न ज्ञानान्तरस्य । तेन पीतशङ्खादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात्प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति, तेषां प्रदर्शितार्थाप्रापकत्वात् । यद्देशकालाकारं हि वस्तु तैः प्रदर्शितं, न [4]तत्तथा प्राप्यते, यच्च यथा प्राप्यते न [5]तैस्तत्तथा प्रदर्शितम्, देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य [6]निश्चितत्वादिति न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता, ततो न प्रामाण्यमपि । नापि प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं शब्दादिकं प्रदर्शितार्थ-

---

([प्रश्न—अनुमानका विषय अग्नि सामान्य आदि है और सामान्य पदार्थ आपके मतसे अन्यापोहरूप है । अन्यापोहका तात्पर्य है विकल्प बुद्धिमे कल्पित या प्रतिबिम्बित अनुगत आकार । इस तरह अनुमानका विषय अन्तत विकल्पबुद्धिमे प्रतिबिम्बित आकार ही होता है । अत जब अनुमान बाह्य स्वलक्षणको विषय ही नही करता तब उसमे अर्थप्रापकत्वरूप अविसवादित्व कैसे सिद्ध होता है ?])

उत्तर—अनुमानात्मक विकल्प लिङ्गदर्शनसे उत्पन्न होता है । अत उस अनुमान विकल्पका ग्राह्य विषय विकल्प्य स्वाकार होता है । बाह्यार्थ नही । तात्पर्य यह है कि अनुमानविकल्पका आलम्बनीय विषय तो सामान्य पदार्थ अर्थात् विकल्पबुद्धिमे प्रतिबिम्बित स्वाकार होता है । किन्तु प्राप्य विषय तो बाह्य स्वलक्षण ही होता है । इस प्राप्य बाह्यस्वलक्षणका आलम्बनीभूत स्वाकारके साथ जिसे("मैने जिसका अनुमान किया था उसे ही प्राप्त कर रहा हूँ" ऐसा एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करनेपर अर्थप्रापकता सिद्ध हो जाती है । अत. अनुमानमे भी प्राप्य विषयकी अपेक्षा स्वविषयोपदर्शनरूप प्रापकता और तन्मूलक प्रामाण्यका निश्चय हो जाता है । इसलिए अनुमान भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है । कहा भी है—"इन प्रत्यक्ष और अनुमानसे अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी अर्थक्रियामे कोई भी विसंवाद नही देखा जाता ।"

§ ६७. प्राप्त होनेवाली वस्तु नियत देश, काल तथा आकारमे ही प्राप्त होनी चाहिए । अर्थात् जिस देशमे जिस समय तथा जिस आकारमे वस्तुका प्रतिभास हुआ हो वह जब उसी देश, उसी समय तथा उसी आकारमे उपलब्ध हो तभी सच्ची अर्थप्रापकता कही जा सकती है ।(इस तरह यथार्थवस्तुके प्रदर्शक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही ज्ञान प्रमाण है अन्य ज्ञान नही । शुक्ल शखमे 'यह पीला शख है' इस प्रकारका मिथ्याज्ञान प्रमाण नही है, क्योकि यह जिस आकारमे वस्तुका प्रतिभास कराता है उस आकारमे वस्तुकी प्राप्ति नही होती) पीत शखको ग्रहण करनेवाले ज्ञानने जिस देश, काल तथा आकारमे वस्तुका उपदर्शन कराया उस देश, काल तथा पीतादि आकारमे तो शख मिला नही और जो शुक्ल शख मिला उसका उस रूपमे प्रतिभास नही हुआ था । इस तरह देशादिभेदसे वस्तुभेद होनेके कारण उक्त पीतशंखज्ञानमे विसवादकता ही है प्रामाण्य नही । इसी तरह इन प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंसे भिन्न शब्दजन्य आगमादिज्ञान भी प्रदर्शित अर्थके प्रापकत्वरूप प्रामाण्यके अधिकारी नही है, क्योकि शब्द अनियत देश, काल तथा आकारवाली वस्तुका प्रतिपादन करता है, जबकि वस्तु किसी न किसी देश, काल या आकार

---

१ –दर्शने विक–प० १, २, म० १, २, क० । २ –मर्थं परि–म० २ । ३. उद्धृतमिदम्—तत्त्वोप० पृ० २९ । सन्मति० टी० पृ० ४६८ । न्यायवि० वि० प० पृ० २५६, ५३३ । सिद्धि वि० टी० पृ० २२ । अनेकान्तजय० प्र० पृ० १३५ । ४. ननु तथा म० २ । ५. तैस्तथा म० २ । ६ –तत्वान्न तेषां म० २ ।

प्रापकत्वेन प्रमाणम्, तत्प्रदर्शितस्य देशाद्यनियतस्यार्थस्यासत्त्वेन प्राप्तुमशक्तेः। तत्प्रदर्शितार्थस्यानियतत्वं च साक्षात्पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादेरर्थस्यानुपपत्तेः। ततः स्थितं प्रदर्शितार्थप्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव।

§ ६८. प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्तं[1] दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन[2] निश्चीयते। तथाहि—प्रत्यक्षं दर्शनापरनामकं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनान्निश्चिन्वदर्थाविनाभावित्वात् प्रापणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव। ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम् ॥८॥

§ ६९. अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं प्रमाणसंख्या नियमयन्नाह—

से रहती है। अतः जैसी अनियतदेशादिवाली वस्तुका शब्द प्रतिपादन करता है वैसी वस्तु प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह है ही नहीं तथा जैसी नियतदेशादिवाली प्राप्त होती है वैसी वस्तुका कथन करना शब्दकी सामर्थ्यके परेकी बात है। शब्दके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु अनियतदेशादिमे न तो साक्षात् उपलब्ध होती है और न परम्परासे ही। तात्पर्य यह कि जब वस्तु अनियतदेशादिवाली है ही नहीं तब वैसी वस्तुका प्रतिपादक शब्द कैसे तो प्रापक होगा तथा किस प्रकार उसे प्रमाण कहेंगे? अतः यह सिद्ध हुआ कि—प्रदर्शित अर्थके प्राप्त करनेकी शक्तिको अविसंवादकता कहते है और ऐसी अविसंवादकतारूप प्रमाणता प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ज्ञानोमे ही है।

§ ६८. प्रमाणकी प्रापणशक्तिका अर्थसे अविनाभाव है। उसका निश्चय निर्विकल्पक दर्शनके बाद होनेवाले विकल्प ज्ञानके द्वारा होता है। वह इस प्रकार—दर्शन नामक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं क्योंकि अर्थसे उत्पन्न हुआ है, अर्थका दर्शक बनता है—इस बातका अपनेमे निश्चय अपने अनुरूप विकल्पकी उत्पत्तिके द्वारा कर लेता है और यही उसके प्रामाण्यका स्वतः निश्चय है क्योंकि किसी ज्ञानमे प्रापण शक्ति ही प्रामाण्यका निमित्त है और वह प्रापण शक्ति तब ही होती है जब ज्ञानका अर्थके साथ अविनाभाव हो अर्थात् वह अर्थसे साक्षात् या परम्परासे उत्पन्न हुआ हो। सारांश यह है कि—निर्विकल्पकदर्शन प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वलक्षणरूप परमार्थसत् अर्थसे उत्पन्न होता है। यह निर्विकल्प जिस अर्थसे उत्पन्न होता है, उत्तरकालमे उसीके अनुकूल विकल्पको भी पैदा करता है। नीलनिर्विकल्पकमे नील अर्थसे उत्पन्न होनेका नियम नीलनिर्विकल्पकसे उत्पन्न होनेवाले 'नीलमिदम्' इस अर्थानुसारी विकल्पके द्वारा किया जाता है। इस तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपने अनन्तरभावी विकल्पके द्वारा अपनी अर्थाविनाभाविताका निश्चय करता है। यही अर्थाविनाभाविताका तथा तद्रूप प्रापण-शक्तिका और तन्निमित्तक प्रमाणताका निश्चय कर लेता है। जिस तरह स्वलक्षणका अनुभव करनेके लिए निर्विकल्पकको अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही है उसी तरह उसे अपनी प्रमाणताके निश्चयके लिए भी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नही होती। इस तरह अविसंवादकत्व ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण हो सकता है ॥८॥

§ ६९. अब प्रमाण विशेषके लक्षणोका कथन करनेके पहले प्रमाणकी संख्याका नियमन करते हैं—

---

१. निमित्तदर्श-आ०, क०। २ अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्। निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥" —तत्त्वसं० श्लो० १३०६।

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा[1] यतः ॥९॥

§ ७०. **व्याख्या**—तथाशब्दः प्रागुक्ततत्त्वापेक्षया समुच्चये, चशब्दोऽवधारणे । ततोऽयमर्थः–सौगतदर्शने द्वे एव प्रमाणे विज्ञेये, न पुनरेकं त्रीणि चत्वारि पञ्च षड् वा प्रमाणानि । एतेन चार्वाक-सांख्यादिपरिकल्पितं प्रमाणसंख्यान्तरं बौद्धा न मन्यन्त इत्यावेदितं भवति ।[2] के ते द्वे प्रमाणे इत्याह 'प्रत्यक्षमनुमानं च' । कुतो द्वे एव प्रमाणे इत्याह—सम्यगविपरीतं विसंवादरहितमिति यावज्ज्ञानं यतो हेतोर्द्विधा । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद् द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेति ।

§ ७१. अत्र केचिदाहुः—यथात्र द्विधेत्युक्ते हि द्विधैव न त्वेकधा त्रिधा वेत्येवमन्ययोग-व्यवच्छेदः, तथा चैत्रो धनुर्धर इत्यादिष्वपि चैत्रस्य धनुर्धरत्वमेव स्यान्न तु शौर्यौदार्यधैर्यादय';[3] तदयुक्तम्; यतः सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेऽप्याशङ्कितस्यैव व्यवच्छेदः । परार्थं हि वाक्य-मभिधीयते । यदेव च परेण व्यामोहादाशङ्कितं तस्यैव व्यवच्छेदः । चैत्रो धनुर्धर इत्यादौ[4] च चैत्रस्य धनुर्धरत्वायोग एव परैराशङ्कित इति तस्यैव व्यवच्छेदो नान्यधर्मस्य । इह चार्वाकसांख्यादय ऐक-

तथा बौद्धदर्शनमे दो प्रमाण होते हैं एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान । चूँकि सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकारका है अतः प्रमाण भी दो ही हो सकते है अधिक नहीं ॥९॥

§ ७०. श्लोकमे 'तथा' शब्द पहले कहे गये तत्त्वोके साथ समुच्चय करनेके लिए और 'च' शब्द अवधारणार्थक है । इससे यह अर्थ हुआ कि–सौगतदर्शनमे दो ही प्रमाण है, न तो एक और न तीन चार पाँच अथवा छह ही । इससे सूचित हुआ कि बौद्धोको चार्वाकके द्वारा निर्धारित प्रमाणकी प्रत्यक्ष रूप एक संख्या तथा सांख्य नैयायिक आदिके द्वारा मानी गयी प्रमाणकी प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान रूपसे तीन-चार आदि संख्याएँ इष्ट नही है (वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान रूपसे ही उन्हे स्वीकृत है ।) चूँकि सम्यक् अविपरीत अर्थात् विसंवादरहित सच्चा ज्ञान दो ही प्रकारका है, अतः प्रमाण भी दो ही प्रकारके हो सकते हैं । 'सभी वाक्य सावधारण अर्थात् (निश्चयात्मक होते है' इस न्यायके अनुसार प्रमाण दो ही है, न तो एक और न तीन ही ।)

§ ७१. **शंका**—जिस प्रकार 'दो है' इसका अर्थ 'दो ही है किन्तु एक या तीन नही है' यह अन्ययोगव्यवच्छेदसे हुआ उसी प्रकार 'चैत्र धनुर्धर है' उसका भी अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदके कारण 'चैत्र धनुर्धर ही है उसमे शौर्य, औदार्य, धैर्यादि नही है' ऐसा ही होना चाहिए । अर्थात् संख्यावाचक दो विशेषणके साथ एवकार प्रयुक्त हुआ है । विशेषणके साथ प्रयुक्त होनेवाले एवकारका अयोगव्यवच्छेद अर्थ होता है । अयोग व्यवच्छेदका सीधा अर्थ है विवक्षित विशेषणके अयोग अर्थात् असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद-निराकरण करना । इस तरह 'दो ही हैं' यह कहनेसे द्वित्वसंख्याके असम्बन्ध या अभावका निराकरण करके द्वित्वसंख्याके ही सद्भावका निश्चय करना उचित है परन्तु जिस प्रकार आप 'दो ही हैं' यहाँ अयोग व्यवच्छेद बोधक एवकारका अर्थ 'तीन या एक नही हैं' इस प्रकार अन्ययोगव्यवच्छेद (अन्य-भिन्न विशेषणोंके योग-सम्बन्धका व्यवच्छेद-निराकरण) मान लेते हैं उसी तरह ('चैत्र धनुर्धर ही हैं' इस अयोग-व्यवच्छेद बोधक एवकारका भी 'चैत्रमे धनुर्धरत्व ही है, अन्य शूरता औदार्य या धैर्य आदि गुण नही है' ऐसा अन्य गुणोका निषेधरूप अर्थ प्राप्त होता है और इस तरह शूरता आदिका अभाव होनेपर तो धनुर्धरत्वका विधान भी निरर्थक ही हो जाता है ।

१ "प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाण हि द्विलक्षणम् । प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥"—प्र० समु० १।२ । "द्विविध सम्यग्ज्ञानम् । प्रत्यक्षमनुमानं चेति ॥"—न्यायबि० १।२, ३ । २. ते द्वे के प्र–आ०, क० । ३. तदुक्तम् सर्व–म० २ । ४ –दौ चैत्र–म० २ । –दौ वा च–प० १ ।

ध्यमनेकधा च सम्यग्ज्ञानमाहुः, अतो नियतद्वैविध्यप्रदर्शनेनैकत्वबहुत्वे सम्यग्ज्ञानस्य प्रतिक्षिपति। एवं चायमेवकारो विशेषणेन विशेष्येण क्रियया च सह भाष्यमाणः क्रमेणायोगान्ययोगात्यन्तायोगव्यवच्छेदकारित्वात् त्रिधा भवति यद्विनिश्चयः—

"अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः ॥१॥"
निपात एवकारः, व्यतिरेचको निवर्तकः—
"विशेषणविशेष्याभ्यां क्रियया च सहोदितः।
विवक्षातोऽप्रयोगेऽपि तस्यार्थोऽयं प्रतीयते ॥२॥
व्यवच्छेदफलं वाक्यं यतश्चैत्रो धनुर्धरः।
पार्थो धनुर्धरो नीलं सरोजमिति वा यथा ॥३॥ [प्र० वा० ४।१९०-९२]

§ ७२ सम्यग्ज्ञानस्य च द्वैविध्यं प्रत्यक्षपरोक्षविषयद्वैविध्यादवसेयम्। यतोऽत्र प्रत्यक्षविष-

समाधान—आपकी शंका उचित नहीं है, क्योंकि—'सभी वाक्य सावधारण हैं' इससे जिनकी आशंका होती है उन्हींका व्यवच्छेद किया जाता है। वाक्यका प्रयोग दूसरेको समझानेके लिए किया जाता है, इसलिए दूसरा जिन भिन्न धर्मोंकी आशंका करता है उन्हींका व्यवच्छेद किया जाता है। 'चैत्रो धनुर्धरः' यहाँ चैत्रमें धनुर्धरत्वके अभावकी आशंका की गयी थी इसलिए धनुर्धरत्वके अभावका ही व्यवच्छेद किया जायगा अन्य शौर्यादि धर्मोंका नहीं। 'दो ही हैं' यहाँ चार्वाक प्रमाणकी एक संख्या तथा सांख्यादि प्रमाणकी तीन आदि संख्याएँ मानते हैं, अतः नियत द्वित्वसंख्याके प्रदर्शनसे सम्यग्ज्ञानमें आशंकित एकत्व तथा त्रित्व आदि संख्याओंका व्यवच्छेद किया जाता है। इस तरह एवकार तीन प्रकारका होता है। जब यह विशेषणके साथ प्रयुक्त होता है तब अयोगव्यवच्छेदका बोध कराता है। (अयोगव्यवच्छेद-विशेषणके अयोग—असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद करनेवाला) जब यह विशेष्यके साथ प्रयुक्त होता है तब अन्ययोगव्यवच्छेदका बोध कराता है। (अन्ययोगव्यवच्छेद–प्रकृत विशेष्यसे अन्य विशेष्यमें विशेषणोंके योग—सम्बन्धका निराकरण करनेवाला। तथा जब यह एवकार क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है तब अत्यन्तायोगव्यवच्छेदका बोधक होता है। अत्यन्तायोगव्यवच्छेद—अत्यन्त अयोग—असम्बन्धका व्यवच्छेद अर्थात् निराकरण करनेवाला। विनिश्चय ग्रन्थमें भी कहा है—

(“व्यतिरेचक अर्थात् व्यावृत्ति करनेवाला एवकार निपात, विशेषणके साथ प्रयुक्त होकर अयोगका, विशेष्यके साथ कहा हुआ अपरसे योग–अर्थात् अन्ययोगका, तथा क्रियाके साथ प्रयुक्त होकर अत्यन्तायोगका व्यवच्छेद करता है ॥१॥”)

(“यद्यपि वाक्योंमें एवकारका प्रयोग न भी किया जाय तो भी उसका उक्त अर्थ विवक्षासे ही अपने आप प्रतीत हो जाता है, क्योंकि सभी वाक्य व्यवच्छेद करानेवाले होते हैं। अयोगव्यवच्छेद–जैसे 'चैत्र धनुर्धर ही है'। यहाँ चैत्रमें धनुर्धरत्वके अयोग—असम्बन्ध या अभावका व्यवच्छेद करके चैत्रमें धनुर्धरत्वके सद्भावका अवधारण किया गया है। अन्ययोगव्यवच्छेद–जैसे 'पार्थ ही धनुर्धर है' यहाँ पार्थ—अर्जुनसे अन्यव्यक्तिमें धनुर्धरत्वके योग—तादात्म्यादिसम्बन्धका व्यवच्छेद करके पार्थ ही में धनुर्धरत्वका तादात्म्य सम्बन्ध दिखाया गया है। अत्यन्तायोगव्यवच्छेद 'जैसे सरोज नील होता ही है' (यहाँ सरोजमें नीलत्व धर्मके अत्यन्त अयोग अर्थात् असम्बन्धका व्यवच्छेद करके पूर्णरूपसे 'होता ही है' इस रूपसे होने रूप क्रियाका अवधारण किया गया है)॥३॥

§ ७२. यतः विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो ही प्रकारके हैं, इसलिए भी उन दो प्रकारके विषयोंको जाननेवाला सम्यग्ज्ञान दो ही प्रकारका हो सकता है। (बौद्धके मतमें क्षणिक परमाणु-

यादन्यः सर्वोऽपि परोक्षो विषयः । ततो विषयद्वैविध्यात्तद्ग्राहके सम्यग्ज्ञाने अपि द्वे एव भवतो न न्यूनाधिके । तत्र यत् परोक्षार्थविषयं सम्यग्ज्ञानं तत् स्वसाध्येन धर्मिणा च संबद्धादन्यतः सकाशात्सामान्येनाकारेण परोक्षार्थस्य प्रतिपत्तिरूपम्, ततस्तदनुमानेऽन्तर्भूतमिति प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे । तथाहि—न परोक्षोऽर्थः साक्षात्प्रमाणेन प्रतीयते, तस्यापरोक्षत्वप्रसक्तेः । विकल्पमात्रस्य च स्वतन्त्रस्य राज्यादिविकल्पवदप्रमाणत्वात्, परोक्षार्थाप्रतिबद्धस्यावश्यतया तदव्यभिचाराभावात् । न च स्वसाध्येन विना भूतोऽर्थः परोक्षार्थस्य गमकः, अतिप्रसक्तेः । धर्मिणा[1] चासंबद्धस्यापि गमकत्वे प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् स सर्वत्र प्रतिपत्तिहेतुर्भवेत् । ततो यदेवंविधार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रमाणं तदनुमानमेव, तस्यैवंलक्षणत्वात् । तथा च प्रयोगः—यदप्रत्यक्षं प्रमाणं तदनुमानान्तर्भूतं यथा लिङ्गबलभावि, अप्रत्यक्षप्रमाणं च शाब्दादिकं प्रमाणान्तरत्वेनाभ्युपगम्यमान-

---

रूप विशेष—(स्वलक्षण तो प्रत्यक्षका विषय होता है तथा बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोहात्मक सामान्य अनुमानका विषय होता है । इस तरह विषयकी द्विविधतासे प्रमाणके द्वैविध्यका अनुमान किया जाता है । प्रत्यक्ष सामान्य पदार्थको तथा अनुमान स्वलक्षणरूप विशेष पदार्थको विषय नही कर सकता । प्रत्यक्षके विपयभूत अर्थसे भिन्न सभी अर्थ परोक्ष है । इस प्रकार विपयोके दो प्रकार होनेसे उनका ग्राहक सम्यग्ज्ञान भी दो प्रकारका है । वह न तो एक प्रकारका है और न तीन प्रकारका । इनमे जो सम्यग्ज्ञान परोक्ष पदार्थको विषय करता है वह अनुमानमे अन्तर्भूत होता है । क्योकि वह अपने साध्यभूत पदार्थसे अविनाभाव रखनेवाले तथा नियतधर्मीमे विद्यमान लिगके द्वारा परोक्षार्थका सामान्य रूपसे अविशद ज्ञान करता है ।(अत प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण है । वह इस प्रकार—परोक्ष पदार्थ प्रमाणके द्वारा साक्षात्—विशेपरूपसे तो प्रतीत होता ही नही है ।(यदि साक्षात् प्रतीत होने लगे तो वह परोक्ष हो नही रहेगा किन्तु प्रत्यक्ष कोटिमे आ जायगा । अनुमान एक विकल्प ज्ञान है । जो विकल्प ज्ञान निर्विकल्पसे उत्पन्न नही होकर मात्र वासनासे स्वतन्त्र भावसे उत्पन्न होता है वह तो प्रमाण ही नही है । जैसे मनमे 'मै राजा हूँ' ऐसा विकल्पज्ञान किसी राज्य-जैसे पदार्थको साक्षात्कार करनेवाले प्रत्यक्षसे उत्पन्न न होकर अपने ही आप वासना-विशेषसे मनमे उद्भूत होता है अत यह प्रमाण नही है । इसी तरह जो विकल्प परोक्ष अर्थके साथ अविनाभाव नही रखता वह विकल्प नियमसे अविसंवादी नही हो सकता । जो लिगभूत अर्थ अपने साध्यके अभावमे भी हो जाता है उससे अपने साध्यका नियमपूर्वक ज्ञान नही हो सकता । असम्बद्ध लिगसे अनुमान माननेपर तो चाहे जिस लिगसे जिस किसी भी साध्यका अनुमान हो जाना चाहिए । इसी तरह नियत धर्मीके साथ सम्बन्ध नही रखनेवाले हेतुसे यदि साध्यका अनुमान हो तो महानसमे उपलब्ध होनेवाले धूमसे हिमालय पर्वतमे या सुमेरुपर्वतमे भी अग्निका अनुमान होना चाहिए, क्योकि धर्मीसे असम्बद्ध हेतु की किसी खास धर्मीसे प्रत्यासत्ति—निकटता या किसी अविवक्षित धर्मीसे विप्रकर्ष–दूरी नही कही जा सकती । वह तो सभी धर्मियोसे असम्बद्ध है अत उसे जिस किसी भी धर्मीमे साध्यका अनुमान करा देना चाहिए । अत: अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाले तथा नियतधर्मीमे विद्यमान लिगसे होनेवाले जितने भी सम्यक् अविसंवादी विकल्प ज्ञान हैं वे सब अनुमान प्रमाणमे ही अन्तर्भूत है । क्योकि 'अविनाभावी साधनसे नियतधर्मीमे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते है ।' यही अनुमानका परिष्कृत लक्षण है । उपर्युक्त विवेचनके आधारसे हम ये निश्चित अनुमान बना सकते है—'(आगमादि अनुमानमे अन्तर्भूत है, क्योकि वे अप्रत्यक्ष पदार्थको ही विषय करनेवाले प्रमाण है) जो अप्रत्यक्ष पदार्थको विषय करनेवाले प्रमाण हैं वे अनुमानमे ही अन्तर्भूत है जैसे कि लिगदर्शनसे होनेवाला अनुमान

---

१. –णा वा सम्बन्धस्यापि म० २ । –णा वा सम्बद्धस्यापि प० १, २ ।

मिति स्वभावहेतुः। यच्च यत्रान्तर्भूतं तस्य न ततो बहिर्भावः यथा प्रत्यक्षान्तर्भावस्य क्वचित्कस्यापि, अन्तर्भूतं चेदं प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमनुमानमिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, अन्तर्भावबहिर्भावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया विरोधात्।

§ ७३. आह परः–भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः, अर्थान्तरविषयस्य च शब्दादेस्तस्यान्तर्भावो[1] न युक्त इति चेत्; न, प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यामन्यस्य प्रमेयस्यार्थस्याभावात्, प्रमेयरहितस्य[2] च प्रमाणस्य प्रामाण्यासम्भवात्, प्रमीयतेऽनेनार्थ इति प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या सप्रमेयस्यैव तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। तथाहि—यदविद्यमानप्रमेयं न तत् प्रमाणं यथा केशोण्डुकादिज्ञानम्, अविद्यमानप्रमेयं च प्रमाणद्वयातिरिक्तविषयतयाभ्युपगम्यमानं प्रमाणान्तरमिति कारणानुपलब्धिः, प्रमेयस्य साक्षात्पारम्पर्येण वा प्रमाणं प्रति कारणत्वात्। तदुक्तम्—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं[3] कारणम्, नाकारणं विषयः" इति[4]।

रूप विकल्पज्ञान, सांख्य आदिके द्वारा माने गये शब्दादि भी अप्रत्यक्ष पदार्थको विषय करनेवाले प्रमाण हैं। (अतः अनुमानमें ही उनका अन्तर्भाव होना चाहिए)' यह स्वभाव हेतु है। '(आगमादि अनुमानसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि वे उसीमें अन्तर्भूत हो जाते हैं) जिसका जिसमें अन्तर्भाव होता है वह उससे अतिरिक्त प्रमाण नहीं कहा जा सकता जैसे प्रत्यक्षमें अन्तर्भूत चाक्षुषप्रत्यक्ष, प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त शाब्दादि प्रमाण भी चूँकि अनुमानमें ही अन्तर्भूत हैं (अतः अनुमानसे भिन्न प्रमाण नहीं हो सकते)।' (यह स्वभावविरुद्धोपलब्धि है। अन्तर्भाव तथा बहिर्भावका परस्परपरिहारस्थिति (जहाँ अन्तर्भाव होगा वहाँ बहिर्भाव नहीं होगा तथा जहाँ बहिर्भाव होगा वहाँ अन्तर्भाव नहीं होगा) रूप विरोध है। यहाँ बहिर्भावका जो विरुद्ध स्वभाव अन्तर्भाव उपलब्ध होता है वह अपने विरोधी बहिर्भावका प्रतिषेध सिद्ध करता है। अतः यह हेतु स्वभावविरुद्धोपलब्धि रूप है।)

(§ ७३. शंका—यह तो उचित है कि परोक्षको विषय करनेवाले प्रमाणका अनुमानमें अन्तर्भाव हो, पर आगम आदि प्रमाण तो भिन्न प्रकारके ही पदार्थोंको विषय करते हैं अतः उनका भी अनुमानमें अन्तर्भाव करना किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता ?)

समाधान—यह शंका तो तब ठीक होती जब प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दोसे भिन्न कोई तीसरा प्रमेय होता, जिसको कि विषय करनेके कारण आगम आदिको स्वतन्त्र प्रमाण घोषित किया जाय। प्रमेयके बिना तो प्रमाणमें प्रमाणता ही नहीं आ सकती। 'जिसके द्वारा प्रमेय जाना जाता है वह प्रमाण है' यह प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्ति भी उसके प्रमेयाविनाभावको बता रही है। अतः जिसका प्रमेय विद्यमान है वही प्रमाण हो सकता है। ('जिस ज्ञानका प्रमेय विद्यमान नहीं है वह प्रमाण नहीं हो सकता जैसे स्वच्छ आकाशमें होनेवाला केश तथा मच्छरके आकार वाला ज्ञान, चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न आगम आदि प्रमाणोंके विषय भी अविद्यमान हैं (अतः वे प्रमाण नहीं हो सकते)' यह हेतु कारणानुपलब्धि रूप है। पदार्थ कहीं साक्षात् और कहीं परम्परासे प्रमाणमें कारण होता ही है। कहा भी है—'जिसका जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है वह उसका कारण नहीं हो सकता तथा जो पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय भी नहीं हो सकता।' इस तरह प्रमाणमें कारणभूत प्रमेयकी अनुपलब्धि होनेसे शब्द आदिमें प्रमाणताका निषेध कारणानुपलब्धि रूप हेतुसे किया गया है।)

१. –भावोऽन्तर्भूत प० १, २, म० १, २। २. –तस्य च प्रमा–म० २। ३. कारणं विषय म० २। ४ "अहेतुत्व विषय क्वचन्"—प्र० वा० ३।४०६। 'नाहेतुर्विषय'"—प्र० वार्तिकाल० ३।४०६। "न ह्यकारणं प्रतीतिविषय"—हेतुबि० टी० पृ० ८०। 'नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय"।—न्यायकुमु० पृ० ६२०। सन्मति० टी० पृ० ५२०। सिद्धिवि० टी० पृ० १८८। प्र० मी० पृ० ३४।

§ ७४. प्रत्यक्षपरोक्षातिरिक्तं प्रमेयान्तरं नास्तीति चाध्यक्षेणैव प्रतिपाद्यते । अध्यक्षं हि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तद्गतात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्यार्थस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति, तदन्यार्थात्मता च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यत्परोक्षमर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत्तृतीयप्रकाराभावं च साधयति, अध्यक्षेणाप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थापनात् । अन्यथा तस्य तदन्यार्थरूपताऽव्यवच्छेदे स्वीयरूपतयापि परिच्छेदो न भवेदिति न किंचित्प्रत्यक्षेणावगतं भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता हि भावानां प्रमाणतो व्यवस्थिता । अन्यथा सर्वस्य सर्वथोपलम्भादिप्रसङ्गतः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिर्भवेत् । प्रतिनियतस्वरूपता चेन्न प्रत्यक्षावगता किमन्यद्रूपं तेन तस्यावगतमिति पदार्थस्वरूपावभासिनाध्यक्षेण प्रमेयान्तराभावः प्रतिपादित एव ।

§ ७५. अनुमानतोऽपि तदभावः प्रतीयत एव, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामितरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनात् । प्रयोगश्चात्र—यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था, न तत्र

प्रकारान्तरसंभव.। तद्यथा पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेनानीलप्रकारव्यवस्थायाम्। अस्ति च प्रत्यक्ष-परोक्षयोरन्यतरप्रकारव्यवच्छेदेनेतरप्रकारव्यवस्था व्यवच्छिद्यमानप्रकाराविषयीकृते सर्वस्मिन्प्रमेय इति विरुद्धोपलब्धि', तदतत्प्रकारयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात् । अत प्रमेयान्तरा-भावान्न प्रमाणान्तरभावः। उक्तं च—

"न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्या मेयस्यान्यस्य संभव ।
तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥१॥" [प्र० वा० २।६३] इति ॥

अत्र शाब्दोपमानार्थापत्त्यभावादिप्रमाणान्तराणा निराकरणम् प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावनं वा यथा भवति, तथा प्रमाणसमुच्चयादिबौद्धग्रन्थेभ्यः संमत्यादिग्रन्थेभ्यो[2] वावगन्तव्यम्। ग्रन्थ-गौरवभयात्तु नोच्यते। ततः स्थितमेतत्—प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे इति ॥९॥

§ ७६. अथ प्रत्यक्षलक्षणमाह—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम् ।

सद्भाव अपने ही आप हो जाता है। अनुमानका प्रयोग इस प्रकार है—'जहाँ एक प्रकारका निषेध करके दूसरे प्रकारकी व्यवस्था होती है वहाँ उन दोसे भिन्न तृतीय प्रकारकी सम्भावना नही है, जैसे पीत आदिमे नीलत्वका व्यवच्छेद करके अनीलताका विधान होनेपर नीलता और अनीलतासे भिन्न किसी तृतीय प्रकारकी सम्भावना नही होती। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप प्रकार भी एक-दूसरेका व्यवच्छेद करके अपने स्वरूपकी व्यवस्था करते है अत संसारके सभी प्रमेयोमे या तो प्रत्यक्षताका व्यवच्छेद करके परोक्षता होगी अथवा परोक्षताका व्यवच्छेद करके प्रत्यक्षता फलित होगी, इन दोसे भिन्न किसी तीसरे प्रकारकी सम्भावना नही की जा सकती।' यह हेतु विरुद्धो-पलब्धिरूप है। तत्प्रकार-प्रत्यक्ष और अतत्प्रकार परोक्ष एक-दूसरेका परिहार करके अपनी स्थिति रखते है। इस तरह जब तीसरा प्रमेय ही नही है तब तृतीय प्रमाणकी सम्भावना ही नही की जा सकती। कहा भी है—

"चूँकि प्रत्यक्ष और परोक्षसे भिन्न कोई तीसरा प्रमेय ही नही है अत दो प्रमेय होनेसे दो ही प्रमाण माने जाते है।"

आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव आदि प्रमाणान्तरोका निराकरण तथा इनका इन्ही प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमे अन्तर्भाव करनेकी प्रणाली प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्धग्रन्थोसे सन्मतितर्क आदि जैन ग्रन्थोसे जान लेनी चाहिए। ग्रन्थका कलेवर न बढे इसलिए इस संक्षिप्त ग्रन्थमे उन विस्तृत चर्चाओको नही लिखते है। अत यह सिद्ध हुआ कि—प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण है।

§ ७६ अब प्रत्यक्षके लक्षणका निरूपण करते है—

कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक तथा भ्रान्तिसे रहित अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है।

---

१ –वन यथा भ० २। २ द्रष्टव्यम्—सन्मति टी० पृ० ५७३–५९०। प्रमेयक० पृ० १८२–१९५। न्यायकुमु० पृ० ४८९–५१९। ३ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढ नामजात्याद्यसंयुतम् ॥"—प्र० समु० १।३। "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् ॥" न्यायबि० १।४। "प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी।

§ ७७. व्याख्या—तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये प्रत्यक्षं बुध्यतां ज्ञायताम् । तत्र प्रतिगतमक्षमिन्द्रियं प्रत्यक्षम् । कीदृशम् । कल्पनापोढम् । शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना[1] । कल्पना अपोढा अपेता यस्मात्तत् कल्पनापोढम् । ननु बहुव्रीहौ निष्ठान्तं पूर्वं निपतति, ततोऽपोढकल्पनमिति स्यात् । न; "वाहिताग्न्यादिषु" इति वावचनात्, आहिताग्न्यादेश्चाकृतिगणत्वान्न पूर्वनिपातः । कल्पनया वापोढं रहितं कल्पनापोढम् नामजात्यादिकल्पनारहितमित्यर्थः । तत्र नामकल्पना यथा डित्थ इति । जातिकल्पना यथा गौरिति । आदिशब्दाद् गुणक्रियाद्रव्यपरिग्रहः । तत्र गुणकल्पना यथा शुक्ल इति । क्रियाकल्पना[2] यथा पाचक इति । द्रव्यकल्पना[3] यथा दण्डी भूस्थो वेति । आभिः कल्पनाभी रहितम्, शब्दरहितस्वलक्षणजन्मत्वात्प्रत्यक्षस्य । उक्तं च—"न ह्यर्थे शब्दा सन्ति तदात्मानो वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेरन्"[4] [ ] इत्यादि । एतेन

---

§ ७७. तत्र—उन प्रत्यक्ष और अनुमानमे-से प्रत्यक्षका निम्नलिखित लक्षण समझना चाहिए । जो अक्ष—इन्द्रियोके प्रतिगत आश्रित हो उसे प्रत्यक्ष कहते है । शब्दससर्गवाली प्रतीतिको कल्पना कहते है । जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक होता है ।

शंका—बहुव्रीहि समासमे निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दका पूर्वनिपात–पहले प्रयोग होता है इसलिए कल्पनापोढंकी जगह अपोढ शब्दका जो कि निष्ठाप्रत्ययान्त है पूर्वनिपात होनेसे 'अपोढकल्पन' कहना चाहिए ।

समाधान—वैसा नही भी होता है । क्योकि "वा आहिताग्न्यादिषु" इस सूत्रमे 'वा' है । अतएव निष्ठान्तका पूर्वनिपात विकल्पसे होता है अत 'कल्पनापोढ' को वैकल्पिक रूप मानना चाहिए । अथवा 'आहिताग्नि' आदि शब्दोका आकृतिगण (शब्दोकी आकृति-स्वरूपसे ही जिनका भान हो जाय) मे पाठ होनेसे उनकी सख्या निश्चित है । अतएव यहाँ पूर्वनिपात नही है । अथवा "कल्पनापोढ' पदमे बहुव्रीहि समास न मानकर 'कल्पनासे अपोढ—रहित' ऐसा तृतीया तत्पुरुष समास कर लेना चाहिए । कल्पनापोढ–अर्थात् नाम-वाचकशब्द तथा जाति आदि वाच्यकी कल्पनासे रहित अथवा नाम जाति आदिके निमित्तसे होनेवाली कल्पनाओसे रहित ज्ञानको कल्पनापोढ कहते है । कोई कल्पना नाम–इच्छानुसार की गयी सज्ञा—के अनुसार की जाती है, जैसे किसी व्यक्तिका नाम व्यवहारके लिए डित्थ रख लिया जाता है । जातिकी अपेक्षा की जानेवाली कल्पना जातिकल्पना कही जाती है, जैसे गोत्व-जातिरूप निमित्तको लेकर की जानेवाली गौरूप कल्पना । आदि शब्दसे गुण, क्रिया तथा द्रव्यकी अपेक्षासे की जानेवाली कल्पनाओका सग्रह कर लेना चाहिए, 'यह शुक्ल है' यह कल्पना शुक्ल गुणके निमित्तसे की जाती है । 'यह पाचक है' यह कल्पना पचनक्रियाकी अपेक्षासे होती है । दण्ड आदि द्रव्यके सम्बन्धसे 'यह दण्डवाला है, 'यह पृथिवीपर ठहरा है' इत्यादि कल्पनाएँ हुआ करती हैं । प्रत्यक्ष इन समस्त कल्पनाओसे रहित होता है, तथा वह ऐसे स्वलक्षण रूप अर्थसे उत्पन्न होता है जो कि शब्दके ससर्गसे रहित है । अतः जब पदार्थमे ही शब्दससर्ग नही है तब उससे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पकमे तो शब्दकी सम्भावना ही नही की जा सकती । कहा भी है—

---

१ "अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना ॥" —न्यायवि० १।५ । "अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह । नामजात्यादियोजना । यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ–उच्यते डित्थ इति । जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति । गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति । अत्र संबन्ध विशिष्टम्येति केचित् । अन्ये त्वर्थशून्यै शब्दैरेव विशिष्टोऽर्थ इति । —प्र० समु० वृ० पृ० १२ । २. –ना पा–भ० २ । ३ –ना द–भ० २ । ४. उद्धृतमिदम्—न्याय-प्र० वृ० पृ० ३५ । अष्टस० पृ० ११८ । न्यायवि० वि० प्र० पृ० १३२ । सिद्धिवि० टी० पृ० ९० ।

स्थिरस्थूलघटपटादिबाह्यवस्तुग्राहिण. सविकल्पकज्ञानस्य प्रत्यक्षतां निरस्यति। पुन कीदृशं प्रत्यक्षम्। अभ्रान्तम्, "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्ति." [ ] इति वचनात्। नासद्भूतवस्तुग्राहकं किं तु यथावत्परस्परविविक्तक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणस्वलक्षणपरिच्छेदकम्। अनेन निर्विकल्पकानां[1] भ्रा·तत्तैमिरिकादिज्ञानानां प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति।

§ ७८. इद प्रत्यक्षं चतुर्धा[2]—इन्द्रियज्ञानं मानसं स्वसंवेदनं योगिज्ञानं च[3]। तत्र चक्षुरादीन्द्रियपञ्चकाश्रयेणोत्पन्नं बाह्यरूपादि[4]पञ्चविषयालम्बनं ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्[5]। स्वविषयानन्तर[6]विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन[7] जनितं मनोविज्ञानं मानसम्[8]। स्वविषयस्य घटादेरिन्द्रियज्ञानविषयस्यानन्तरो विषयो द्वितीय. क्षणः, तेन सहकारिणा सह मिलित्वेन्द्रियज्ञानेनोपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं मनोविज्ञानं तन्मानसम्। समनन्तरप्रत्ययविशेषणेन

'न तो स्वलक्षणरूप अर्थमें ही शब्द हैं और न स्वलक्षण शब्दात्मक ही है जिससे स्वलक्षणरूप अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दोंका अवश्य ही प्रतिभास हो।' इत्यादि। प्रत्यक्षके निर्विकल्पक विशेषणसे घट-पटादि बाह्य पदार्थोंको स्थिर तथा स्थूल रूपसे ग्रहण करनेवाले सविकल्पक ज्ञानकी प्रत्यक्षताका निरास हो जाता है। प्रत्यक्ष अभ्रान्त—भ्रान्तिसे रहित होता है। "अतस्मिन्–जो पदार्थ जैसा नहीं है उसमें तद्ग्रह—उस प्रकारके ज्ञानको भ्रान्ति कहते हैं" यह भ्रान्तिका लक्षण है। अत. प्रत्यक्ष असद्भूत अर्थको ग्रहण नहीं करता, किन्तु परस्पर भिन्न, क्षणिक परमाणुरूप स्वलक्षणोंका यथार्थ परिच्छेदक होता है। अभ्रान्त विशेषणसे तिमिर रोगियों आदिको होनेवाले भ्रान्त निर्विकल्पक ज्ञानोंकी प्रत्यक्षताका निरास हो जाता है।

§ ७८ प्रत्यक्ष चार प्रकारका है—१ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ मानस, ३ स्वसंवेदन, और ४ योगि-विज्ञान। चक्षुरादि पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले रूपादि पाँच बाह्यपदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस विषय क्षणसे इन्द्रियज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी विषयका द्वितीय क्षण जिसमें विषय रूपसे सहकारी कारण है तथा स्वयं इन्द्रिय प्रत्यक्ष जिसमें उपादान कारण होता है उस इन्द्रियप्रत्यक्षानन्तरभावी (अनुव्यवसायरूप) ज्ञानको मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वविषय–इन्द्रिय ज्ञानके विषयभूत घटादि विषयके अनन्तर—द्वितीयक्षणरूप सहकारीकी सहायतासे इन्द्रियज्ञानरूप समनन्तरप्रत्यय–उपादानकारण जिस मनोविज्ञानको उत्पन्न करते हैं वह मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियज्ञानके विषयभूत अर्थका प्रथमक्षण तो

---

१. –न्ताना म० २। २. इदं च चतु –आ०, क०। ३. "तत् चतुर्विधम्।" —न्यायबि० १।७। ४. –द्विविध–म० २। ५. "इन्द्रियज्ञानम्। ८। इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्। इन्द्रियाश्रितं यत् तत् प्रत्यक्षम्।" —न्यायबि०. टी० १।८। ६ –नन्तरं वि–आ०, क०। ७ –प्रत्ययसंज्ञकेन आ०, क०। ८ "स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। ९। स्व आत्मीयो विषय इन्द्रियज्ञानस्य तस्य अनन्तर—न विद्यतेऽन्तरमस्येति। अन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते। ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते। तथा च सति इन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एकसंतानान्तर्भूतो गृहीत। स सहकारी यस्येन्द्रियज्ञानस्य तत् तथोक्तम्। द्विविधश्च सहकारी परस्परोपकारी एककार्यकारी च। इह च क्षणिके वस्तुन्यतिशयाधानाऽयोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते। विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतस्तदनयो. परस्परसहकारित्वम्। ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते। तन्निरासार्थं समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम्। समश्चासौ ज्ञानत्वेन अनन्तरश्चासौ अव्यवहितत्वेन, स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्यय, तेन जनितम्। तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञान-मनोविज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति। ततो योगिज्ञानं परसंतानवर्ति निरस्तम्।" —न्यायबि० टी० १।९।

योगिज्ञानस्य मानसत्वप्रसङ्गो निरस्तः। समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसंतानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढचा प्रसिद्धः। ततो भिन्नसन्तानवर्तियोगिज्ञानमपेक्ष्य पृथग्जनचित्तानां समनन्तरव्यपदेशो नास्ति। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्[1]। चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम्, चित्ते भवाश्चैत्ता [2]वस्तुनो विशेषरूपग्राहकाः सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः तेषामात्मा येन संवेद्यते तत् स्वसंवेदनमिति[3]। भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्। भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः, भावना पुनः पुनश्चेतसि समारोपः। भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्ताज्जातं योगिज्ञानम्[4]।

§ ७९. ननु यदि क्षणक्षयिणः परमाणव एव तात्त्विकास्तर्हि किन्निमित्तोऽयं [5]घटपटकट-

---

इन्द्रियज्ञानमे ही कारण होता है अत मानसज्ञानकी उत्पत्तिमे उसी विषयका द्वितीय क्षण ही सहकारी हो सकता है। 'इन्द्रियज्ञानरूप समनन्तर प्रत्ययसे उत्पन्न होता है' इस विशेषणसे योगिज्ञानमे मानस प्रत्यक्षत्वका प्रसग नही आ सकता, क्योकि योगिज्ञानमे इन्द्रियप्रत्यक्ष उपादान कारण नही होता (वह तो भावनाप्रकर्षसे उत्पन्न होता है)। समनन्तरप्रत्यय शब्दका प्रयोग अपनी ही सन्तानमे होनेवाले उपादानभूत पूर्वक्षणमे रूढिमे होता है अत हम लोगोके ज्ञानका साक्षात्कार करनेवाले योगिज्ञानमे, हमारे ज्ञान भिन्नसन्तानवर्ती होनेके कारण समनन्तर प्रत्यय—उपादान कारण नही होते, हमारे ज्ञान तो योगिज्ञानमे विषय-विधया कारण होते है, अत वे योगिज्ञानके प्रति आलम्बन प्रत्यय ही हो सकते है। चित्त अर्थात् केवल वस्तुको विषय करनेवाला ज्ञान तथा चैत्त अर्थात् वस्तुके विशेषोको ग्रहण करनेवाला ज्ञान सुख-दुःख-उपेक्षारूप ज्ञान। समग्र चित्त और चैत्तके स्वरूपका सवेदन स्वसवेदन प्रत्यक्ष कहा जाता है। चित्त अर्थात् वस्तुमात्रको ग्रहण करनेवाले ज्ञान, चित्तमे होनेवाले चैत्त अर्थात् वस्तुके विशेषरूपको ग्रहण करनेवाले सुख-दुःख तथा उपेक्षात्मक ज्ञान, इन दोनोके स्वरूपका सवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है। भूतार्थ-वास्तविक क्षणिक निरात्मक आदि अर्थोकी प्रकृष्ट भावनासे योगिप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। भूतार्थ—प्रमाणसिद्ध पदार्थोकी भावना—चित्तमे बार-बार विचार जब प्रकृष्ट होता है तब उससे योगिज्ञानकी समुत्पत्ति होती है।

अत एव सौगतैरिदमभिधीयते—दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात्, कुतश्चिद्भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं किन्तु प्रत्युताप्रमाणम्, विपरीता[1]ध्यवसायाक्रान्तत्वात्, क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणम् अनुरूपाध्यवसायाजननात् । नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात्प्रमाणमिति । ततो युक्तमुक्तं निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षमिति ।

§ ८१. अत्र '[2]अभ्रान्तम्' इति विशेषणग्रहणादनुमाने च तदग्रहणादनुमानं भ्रान्तमित्यावेदयति । तथाहि—भ्रान्तमनुमानम्, सामान्यप्रतिभासित्वात्, सामान्यस्य[3] च बहिःस्वलक्षणे व्यतिरेकाव्यतिरेकविकल्पाभ्यामपाक्रियमाणतयाऽयोगात्, सामान्यस्य स्वलक्षणरूपतयानुमानेन विकल्पनात्[4] । अतस्मिन्नस्वलक्षणे तद्ग्रहस्य स्वलक्षणतया[5] परिच्छेदस्य भ्रान्तिलक्षणत्वात् । प्रामाण्यं पुनः प्रणालिकया बहिःस्वलक्षणबलायात[6]त्वादनुमानस्य । तथाहि—नार्थं विना तादात्म्यतदुत्पत्तिरूपसंबन्धप्रतिबद्धलिङ्ग[7]सद्भावः, न तद्विना तद्विषयं ज्ञानम्, न तज्ज्ञानमन्तरेण प्रागवधारितसंबन्धस्मरणम्, तदस्मरणे नानुमानमित्यर्थाव्यभिचारित्वाद् भ्रान्तमपि प्रमाणमिति संगीयते ।

समाधान—निर्विकल्पक दर्शनके द्वारा जिस समय पदार्थके क्षणिकत्वका अनुभव होता है ठीक उसी समय उस पदार्थको पूर्वदेश सम्बन्धिता, पूर्वकाल सम्बन्धिता तथा पूर्वदशाका स्मरण होता है और उससे यह मालूम होने लगता है कि—'यह वही पदार्थ है जो उस देशमे था, यह वही पदार्थ है जो पहले भी मौजूद था, यह वही पदार्थ है जो उस अवस्थामे था' इत्यादि । यही स्थिरताका स्मरण 'क्षणिकमिदम्' इस विकल्पज्ञानको नही होने देता । इसीलिए बौद्ध कहते है कि–निर्विकल्पक दर्शनके द्वारा तो क्षणिक और अक्षणिक उभय साधारण वस्तुमात्रका ग्रहण होता है, अतएव बादमे किसी विभ्रम निमित्तसे वस्तुमें अक्षणिकत्वका आरोप हो जाय तब भी निर्विकल्पको अक्षणिक अशमे प्रमाण नही माना जा सकता, बल्कि विपरीत अध्यवसायसे युक्त होनेके कारण वह अक्षणिक अशमे अप्रमाण ही है । क्षणिक अशमे भी वह प्रमाण नही है, क्योकि उसने 'क्षणिकमिदम्' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न नही किया । वह तो केवल नीलाशमे 'यह नील है' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण है । इसलिए ठीक ही कहा है कि अभ्रान्त निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

§ ८१ प्रत्यक्षके लक्षणमे 'अभ्रान्त' विशेषणका ग्रहण किया गया है तथा अनुमानके लक्षणमे ऐसा कोई विशेषण नही है, इसलिए सूचित होता है कि—अनुमान भ्रान्त है । वह इस प्रकार—अनुमान भ्रान्त है क्योकि वह सामान्य पदार्थको विषय करता है । सामान्य पदार्थ तो 'वह स्वलक्षणरूप व्यक्तियोसे भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विकल्पोसे खण्डित हो जानेके कारण सिद्ध नही होता परन्तु अनुमान उस मिथ्या सामान्यको ही स्वलक्षण रूपसे ग्रहण करता है । इसलिए अतस्मिन्–जो स्वलक्षण नही है ऐसे सामान्यमे तद्ग्रह—स्वलक्षण रूपसे परिच्छेद करना ही तो अनुमानकी भ्रान्तता है । यद्यपि अनुमान उक्तरूपसे भ्रान्त है फिर भी वह परम्परासे बाह्य स्वलक्षणके बलसे उत्पन्न होता है अतएव प्रमाण है । वह इस प्रकार—यदि स्वलक्षणरूप धूमादि अर्थ न हो तब तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाले लिंगकी ही सम्भावना नही है । जब लिंग ही नही है तब लिंगज्ञान कैसे होगा ? लिंगज्ञानके अभावमे पहले निश्चित की गयी

---

१ –तावसाया–प० १, २, भ० १, २ । २ "तथा अभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निवर्तिते कल्पनापोढग्रहण विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम् । भ्रान्त हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात् । प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम् ।" —न्यायबि० टी० पृ० ४७ । ३. –स्य हि बहि. भ० २ । ४ "तथाऽनुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि । स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाण स्वलक्षणत्वेनावसीयते यत, ततः स्वलक्षणमवसित प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तु ग्राह्य ।" न्यायबि० टी० पृ० ७१ । ५ –या वा परि–भ० २ । ६ –बलायातत्वाद–भ० २ । ७. –कल्लिङ्ग–भ० २ ।

तदुक्तम्—"अतस्मिस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि संबन्धत[1] प्रमा" [ ] इति[2]। अमुमेवार्थं दृष्टान्तपूर्वकं [वि]निश्चये धर्मकीर्तिरकीर्तयत्। यथा—

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतो ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति ॥ १ ॥
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनु[3]मानतदाभयो ।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ २ ॥" [प्र० वा० २।५७।५८] इति ॥

§ ८२. [4]अथानुमानलक्षणमाह[5]—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ॥१०॥

"त्रिरूपाल्लिङ्गतः" इत्यादि। त्रीणि रूपाणि पक्षधर्मत्वादीनि वक्ष्यमाणानि यस्य तत् त्रिरूपं त्रिस्वभावमित्यर्थः। तस्मात्त्रिरूपाल्लिङ्गाद्धेतोः सम्यगवगताल्लिङ्गिनः परोक्षस्य वस्तुनो यज्ज्ञानं तदनुमानसंज्ञितं प्रमाणम्। अनु पश्चाल्लिङ्गग्रहणादनन्तरं परोक्षस्य वस्तुनो मानं ज्ञानमनुमानमिति ह्यनुमानशब्दस्यार्थः। अत्र श्लोके चरमपादस्य नवाक्षरत्वेऽप्यार्षत्वान्न दोष। इदमत्र तत्त्वम्—यथा जने छत्रादिलिङ्गैर्दृष्टैर्लिङ्गी राजा निश्चीयते, तथा त्रिरूपेण लिङ्गेन

व्याप्तिके स्मरणकी भी सम्भावना नही है और जब व्याप्तिका ही स्मरण न होगा तब अनुमानकी उत्पत्ति कहाँसे होगी ? इस तरह अनुमान यद्यपि भ्रान्त है फिर भी उसमे परम्परासे अर्थके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाणता स्वीकार कर ली जाती है। कहा भी है—

"अनुमान अतस्मिन् अर्थात् जो स्वलक्षण रूप नही है उस मिथ्या सामान्यमे तद्ग्रह अर्थात् स्वलक्षणात्मकताको ग्रहण करनेके कारण यद्यपि भ्रान्त है फिर भी पदार्थके साथ परम्परा सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाण है।" इसी बातको धर्मकीर्तिने विनिश्चय ग्रन्थमे दृष्टान्त देकर इस प्रकार समझाया है—"जैसे मणिकी प्रभामे होनेवाला मणिज्ञान तथा दीपककी प्रभामे होनेवाला मणिज्ञान ये दोनो ही ज्ञान आलम्बनकी दृष्टिसे भ्रान्त हैं फिर भी उक्त दोनो ज्ञानोंसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोकी अर्थ-क्रियामे विशेषता होती ही है। अर्थात् मणिप्रभामे मणिबुद्धिवालेको मणिकी प्राप्ति हो जाती है पर प्रदीपप्रभामे मणिबुद्धि करनेवालेको मणि नही मिलती। उसी तरह अनुमान और अनुमानाभास यद्यपि दोनो मिथ्या हैं फिर भी अनुमानसे प्रवृत्ति करनेपर अर्थक्रिया हो जाती है अत उसमे प्रमाणता है अनुमानाभासमे नही ॥२॥"

§ ८२ अब अनुमानका लक्षण कहते हैं—

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन तीन रूपवाले लिंगसे होनेवाला साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है ॥१०॥

पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन स्वभाववाले लिंगके यथार्थज्ञानसे परोक्ष साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। लिंग जब अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है तभी साध्यका ज्ञान करा सकता है। 'अनु अर्थात् लिंग-ज्ञानके पश्चात् परोक्ष वस्तुका मान अर्थात् ज्ञान, अनुमान कहलाता है' यह अनुमान शब्दका अर्थ है। यद्यपि इस श्लोकके चौथे पादमे नव अक्षर हैं, पर यह श्लोक ऋषिप्रणीत होनेसे शुद्ध ही है, उसमे कोई दोष नही है। जिस प्रकार किसी मनुष्यके ऊपर लगे हुए छत्र, चँवर आदि चिह्नोंसे 'यह राजा है' यह निश्चय होता

१. -संबन्धत. भ० २। २. "भ्रान्तिरपि च वस्तुसंबन्धेन प्रमाणमेव"—प्र० वार्तिकाल० ३।१७५। "तदाह न्यायवादी-भ्रान्तिरपि संबन्धत प्रमा।" —न्यायवि० धर्मो० पृ० ७८। उद्धृतमिदम्—"भ्रान्तिरपि अर्थसंबन्धत ;प्रमा" —तत्त्वोप० पृ० १०। सन्मति० टी० पृ० ४८१। सिद्धिवि० टी० पृ० ८२। ३ -मानं तदा तयो क०, आ०। ४. तयानुमान-आ०, क०। ५. "तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।" —न्यायवि० २।३।

धूमादिना क्वचिदुपलब्धेन परोक्षः पदार्थो लिङ्गी वह्न्यादिस्तत्र सन्[1] विज्ञायते । इदं च लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमभिधीयते ।

§ ८३. तच्च द्वेधा[2]—स्वार्थं परार्थं च । यदा च त्रिरूपाल्लिङ्गात् स्वयं लिङ्गिनं साध्यं प्रतिपद्यते, तदा स्वार्थमनुमानम् । यदा तु परं प्रति साध्यस्य प्रतिपत्तये त्रिरूपहेत्वभिधानं तदा परार्थमनुमानमिति । 'लिङ्गिज्ञानं तु' इति, अत्र तुशब्दो विशेषणार्थ इदं विशिनष्टि ।

§ ८४. अत्र यत्त्रिरूपं लिङ्गं लिङ्गिनो गमकमुक्तं तल्लिङ्गमनुपलब्धिस्वभावकार्यभेदात्त्रिधैव[3] भवतीति । तत्रानुपलब्धिश्चतुर्धा वर्ण्यते मूलभेदापेक्षया । तद्यथा—विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, स्वभावानुपलब्धिश्च[4] । तत्र विरुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः । विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमात् । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावात् । स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः । शेषास्तु सप्ताप्यनुपलब्धयो धर्मबिन्दु(न्यायबिन्दु)प्रभृतिशास्त्रप्रतिपादिता[5] एष्वेव चतुर्षु भेदेष्वन्तर्भवन्तीति

है उसी तरह त्रिरूपवाले धूमादि लिगोके द्वारा परोक्ष अग्नि आदि पदार्थोकी सत्ताका ज्ञान हो जाता है । यही लिगसे होनेवाला लिगि—साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है ।

§ ८३ वह अनुमान दो प्रकारका होता है—१ स्वार्थ और २ परार्थ । त्रिरूपलिगको देखकर स्वय लिगि अर्थात् साध्यका ज्ञान करना स्वार्थानुमान है । जब परको साध्यका ज्ञान करानेके लिए त्रिरूप हेतुका कथन किया जाता है तब उस हेतुसे परको होनेवाला साध्यका ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है । श्लोकमे आया हुआ 'तु' शब्द लिगके भेदोको सूचित करता है ।

§ ८४. श्लोकमे जिस त्रिरूपवाले लिगको साध्यका गमक कहा गया है वह लिग तीन प्रकारका है—१ अनुपलब्धि हेतु, २ स्वभाव हेतु तथा ३ कार्यहेतु । अनुपलब्धि मूलभेदोकी अपेक्षासे चार प्रकार की है—१ विरुद्धोपलब्धि, २ विरुद्धकार्योपलब्धि, ३ कारणानुपलब्धि तथा ४ स्वभावानुपलब्धि । विरुद्धोपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योकि शीतस्पर्शकी विरोधी अग्नि मौजूद है । विरुद्धकार्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योकि शीतस्पर्शके विरोधी अग्निका कार्य धूम उपलब्ध हो रहा है । कारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नही है, क्योकि यहाँ धूमका कारण अग्नि नही पायी जाती । स्वभावानुपलब्धि—यहाँ धूम नही है क्योकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होनेपर भी उसकी उपलब्धि नही हो रही है, अथवा दृश्य होकर भी वह उपलब्ध नही हो रहा है । उपलब्धि लक्षण प्राप्तका अर्थ है—धूमकी उपलब्धिकी यावत् सामग्रीका समवधान होना । अनुपलब्धिके शेप सात

१ सद्विज्ञा–भ० २, क० । २. "अनुमानं द्विधा । स्वार्थं परार्थं च ।" —न्यायवि० २।१, २ । ३. "त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि । अनुपलब्धि स्वभाव. कार्यं चेति ।" —न्यायवि० २।१०, ११ । ४ –श्च । विरु–आ०, क०, प० १, २, भ० १ । ५. "सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।३०। स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।३१। कार्यानुपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावादिति ।३२। व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति ।३३। स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति ।३४। विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।३५। विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशः, हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।३६। कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति ।३७। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति ।३८। कारणानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूमो वह्न्यभावादिति ।३९। कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नास्य रोमहर्षादिविशेषाः, सन्निहितदहनविशेषत्वादिति ।४०। कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः, धूमादिति ।४१। इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।४२।" —न्यायवि० सू० ३०—४२ ।

स्वभावानुमानतयाभ्युपेते[1] । तथाहि—ईदृशरूपान्तरोत्पादसमर्थः प्राक्तनो रूपक्षणः, ईदृशरसजनकत्वात्, पूर्वोपलब्धरूपवदिति रूपान्तरोत्पादरूपसामर्थ्यानुमानम् । योग्येयं प्रतिबन्धकविकला बीजादिसामग्री स्वकार्योत्पादने, समग्रत्वात्, पूर्वदृष्टबीजादिसामग्रीवदिति योग्यतानुमानम् । अतः स्वभावहेतुप्रभवे एवैते, न पुनः कारणात् कार्यानुमाने–इति ॥१०॥

§ ८७. अथानुपलब्ध्यादिभेदेन त्रिविधस्यापि लिङ्गस्य यानि त्रीणि रूपाणि भवन्ति तान्येवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि[2] विभाव्यताम् ॥११॥

§ ८८. व्याख्या—साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, तस्य धर्मः पक्षधर्मः, तद्भावः पक्षधर्मत्वम् । [3]पक्षशब्देन चात्र केवलो धर्म्येवाभिधीयते, अवयवे समुदायोपचारात् । यदि पुनर्मुख्य एव साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षो गृह्येत तदानुमानं व्यर्थमेव स्यात्, साध्यस्यापि धर्मिवत्सिद्धत्वात् । ततश्च

पक्षधर्मत्वं[1] पक्षे धर्मिणि हेतोः सद्भावः। स[2] च प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रतीयते। तत्र प्रत्यक्षतः कस्मिंश्चित्प्रदेशे [3]धूमस्य दर्शनम्। अनुमानतश्च शब्दे कृतकत्वस्य निश्चयः। इदमेकं रूपम्। तथा समानः पक्षः सपक्षः[4], तस्मिन्सपक्षे दृष्टान्ते विद्यमानता हेतोरस्तित्वं सामान्येन भाव इत्यर्थः। इदं द्वितीयं रूपम्, अस्य च 'अन्वयः' इति [5]द्वितीयमभिधानम्[6]। तथा विरुद्धः पक्षो विपक्षः साध्य-साधनरहितः, तस्मिन्विपक्षे नास्तितता हेतोरेकान्तेनासत्त्वम्। इदं तृतीयं रूपम्, अस्य च 'व्यतिरेकः' इति द्वितीयमभिधानम्। एतानि पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणानि हेतोर्लिङ्गस्य त्रीणि रूपाणि। एव शब्दस्य इतिशब्दार्थत्वादिति विभाव्यतां हृदयेन सम्यगवगम्यताम्।

§ ८९. तत्र हेतोर्यदि पक्षधर्मत्वं रूपं न स्यात् तदा महानसादौ दृष्टो धूमोऽन्यत्र पर्वतादौ वह्निं गमयेत्, न चैवं गमयति, ततः पक्षधर्मत्वं रूपम्। तथा यदि सपक्षसत्त्वं रूपं न स्यात् तदा साध्यसाधनयोरगृहीतप्रतिवन्धस्यापि पुंसो धूमो दृष्टमात्रो धनञ्जयं ज्ञापयेत्, न चैवं ज्ञापयति, अतः सपक्षसत्त्वं रूपम्। तथा यदि विपक्षासत्त्वं रूप न स्यात् तदा धूमः साध्यरहिते विपक्षे जलादावपि वह्निमनुमापयेत्[11], न चैवमनुमापयति, तेन विपक्षासत्त्वं रूपम्। अथवा 'अनित्यः शब्दः, काकस्य कार्ष्ण्यात्' अत्र न पक्षधर्मः। 'अनित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्' अत्र सपक्षविपक्षा-

---

तरह धर्म साध्य भी सिद्ध ही हो जायेगा। अत पक्षधर्मत्वका अर्थ है—"पक्षमे अर्थात् धर्मीमे हेतुका सद्भाव होना। हेतुकी पक्षधर्मताका ज्ञान कही तो प्रत्यक्षसे और कही अनुमानसे होता है। प्रत्यक्षसे ही किसी प्रदेशमे, जहाँ अग्नि सिद्ध करना इष्ट होता है, धूमका दर्शन होकर पक्षधर्मताका ग्रहण हो जाता है। अनित्यत्व सिद्ध करनेके लिए प्रयुक्त कृतकत्व हेतुका शब्दरूप पक्षमे रहना अनुमानके द्वारा जाना जाता है। यह हेतुका पहला रूप है। तथा पक्षके समान धर्मवाले धर्मीको सपक्ष कहते है। उस सपक्ष अर्थात् दृष्टान्तधर्मीमे हेतुकी सामान्य रूपसे मौजूदगीको सपक्षसत्त्व कहते है। यह हेतुका द्वितीयरूप है। इसका दूसरा नाम 'अन्वय' है। तथा, पक्षसे विपरीत धर्मवाले धर्मीको, जिसमे साध्य और साधन दोनोका ही सद्भाव नही है, विपक्ष कहते है। इस विपक्षमे हेतुका सर्वथा नही रहना विपक्षनास्तितता कहलाती है। यह हेतुका तीसरा रूप है। इसको 'व्यतिरेक' भी कहते है। पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व ये तीन हेतुके स्वरूप है। एव शब्द इतिशब्दके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। विभाव्यताम् अर्थात् सम्यक् रूपसे हृदयमे समझना चाहिए।

§ ८९. यदि पक्षधर्मत्व हेतुका स्वरूप न माना जायेगा, तो रसोईघर आदिमे देखे गये धूमसे पर्वतमे भी अग्निका अनुमान होना चाहिए। पर ऐसा होता नही है। इसलिए नियतधर्मीमे ही साध्यके अनुमानकी व्यवस्थाके लिए पक्षधर्मत्वको हेतुका स्वरूप अवश्य मानना चाहिए। इसी तरह यदि सपक्षसत्त्व हेतुका स्वरूप न हो, तब जिस आदमीने साध्य और साधनके अविनाभाव रूप सम्बन्धको ग्रहण नही किया है उसे पहली वार ही धुँआके देखते ही अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए। पर जिस पुरुषने व्याप्तिको नही जाना है, उसे धूम अग्निका अनुमान नही कराता। इसलिए सपक्षसत्त्वको भी हेतुका स्वरूप मानना चाहिए। यदि विपक्षासत्त्वको हेतुका स्वरूप न माना जाय, तब धूमहेतुको साध्यसे शून्य अर्थात् विपक्षभूत जलादिमे भी अग्निका अनुमान करा देना चाहिए। पर धूम कभी भी जलाशय आदि विपक्षमे अग्निका अनुमापक नही होता। अत विपक्षासत्त्व भी हेतुका स्वरूप है। अथवा,

---

१ पक्षधर्मिणि भ० २। २ "तत्र पक्षधर्मस्य साध्यधर्मिणि प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा प्रसिद्धि। यथा प्रदेशे धूमस्य शब्दे वा कृतकत्वस्य।" —हेतुवि० पृ० ५३। ३ धूमदर्शन भ० २। ४ "साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थ सपक्ष।—न्यायवि०२।७। ५ द्वितीय नाम प० १, २, भ० २। ६ "न सपक्षोऽसपक्ष। ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति। —न्यायवि० २।८९। ११ –मनुमानयेत् भ० २।

भावादेव न सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वे। 'अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात्, पटवत् लोहलेख्यं; वज्रं पार्थिवत्वात्, द्रुमादिवत्; सलोमा मण्डूकः, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, हरिणवत्; निर्लोमा वा हरिणः, उत्प्लुत्योत्प्लुत्यगमनात्, मण्डूकवत्'—एवमनित्यत्वादिसाध्यविपर्ययेऽपि हेतूनां वर्तनान्न विपक्षासत्त्वम्। तत एतानि त्रीणि समुदितानि रूपाणि यस्य हेतोर्भवन्ति स एव हेतुः स्वसाध्यस्य गमको भवति नापरः।

§ ९०. [1]नन्वेवं लक्षणा हेतवः कति भवन्तीति चेत्। ननूक्तं पुरापि एतल्लक्षणा अनुपलब्धिस्वभावकार्याख्यास्त्रय[2] एव हेतव इति। एषामुदाहरणानि प्रागेवोपदर्शितानि, तथापि पुनः स्वभावहेतुरुदाह्रियते[3], सर्वं क्षणिकमिति पक्षः, सत्त्वादिति हेतुः, अयं हेतुः सर्वस्मिन्वर्तत[4] इति पक्षधर्मत्वम्, यत्सत्तत्क्षणिकं यथा विद्युदादीति सपक्षसत्त्वम्, यत्क्षणिकं न भवति, तत्सदपि न भवति यथा खपुष्पम्। अत्र क्षणिकविपक्षे नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियालक्षणस्य सत्त्व-

शब्द अनित्य है क्योकि कौआ काला है। इस हेतुमे पक्षधर्मता नही है। शब्द अनित्य है क्योकि वह श्रावण-श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है। यहाँ सपक्ष और विपक्षका अभाव ही है अत सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व ये दो रूप नही है। 'शब्द अनित्य है क्योकि वह प्रमेय है जैसे कि पट। वज्र लोहके द्वारा काटा जा सकता है क्योकि वह पार्थिव है जैसे कि वृक्ष। मेढकके लोम होते है क्योकि वह हरिणकी तरह उचक-उचककर चलता है। हरिणके लोम नही होते क्योकि वह मण्डूककी तरह उचक-उचककर चलता है।' इत्यादि हेतु अनित्यत्व आदि साध्यके अभावमे भी रहते है अत इनमे विपक्षासत्त्व नही है। अत पक्षधर्मत्व आदि तीनो रूप समुदित अर्थात् एक साथ मिलकर ही हेतुके स्वरूप होते है। जिसमे ये तीनो रूप एक साथ पाये जाते है वही हेतु अपने साध्यका गमक होता है और वही सद्धेतु है, अन्य नही।

§ ९०. **शंका**—तीन रूपवाले हेतु कितने प्रकारके होते है?

समाधान—यद्यपि हम यह पहले भी बता चुके है कि—तीन रूपवाले हेतु अनुपलब्धि कार्य तथा स्वभावके भेदसे तीन प्रकारके है। इनके उदाहरण भी पहले ही कहे जा चुके है। स्वभाव हेतुका वर्णन पुन करते है—'सभी पदार्थ क्षणिक है' इस पक्षमे 'सत् होनेसे' इस हेतुका प्रयोग किया जाता है। यह सत्त्व हेतु पक्षभूत सभी पदार्थोमे पाया जाता है अत इसमे पक्षधर्मत्व बन जाता है। 'जो-जो सत् होते है वे क्षणिक होते है जैसे कि बिजली आदि' यह उसके सपक्षसत्त्वका कथन हुआ। 'जो क्षणिक नही वे सत् भी नही है जैसे कि आकाशका फूल'। यहाँ क्षणिकके विपक्षभूत नित्यपदार्थमे क्रम तथा यौगपद्य दोनो ही रूपसे अर्थ क्रिया नही बनती, अत अर्थक्रिया-लक्षण-

१. नन्वेतल्ल आ०। २ "एष एव पक्षधर्मोऽन्वयव्यतिरेकवान् इति तदशेन व्याप्त त्रिलक्षण एव त्रिविध एव हेतुर्गमक, स्वसाध्यधर्माभिचारात्।" —हेतुबि० पृ० ६८। "एतल्लक्षणो हेतुस्त्रिप्रकार एव। स्वभाव, कार्यम्, अनुपलब्धिश्चेति। यथा अनित्ये कस्मिंश्चित् साध्ये सत्त्वमिति। अग्निमति प्रदेशे धूम इति। अभावे च उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरिति।" —हेतुबि० पृ० ५४। ३ "तस्य द्विधा प्रयोग। साधर्म्येण एक, वैधर्म्येणापर। यथा—यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्। यथा घटादय। संश्च शब्द, तथा क्षणिकत्वाभावे सत्त्वाभाव।"—हेतुबि० पृ० ५५। तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्म्मिणि भावसाधनं। यथा—यद्य(?त्स)त्कृतक वा तत्सर्वमनित्यं यथा घटादि सन्कृतको वा शब्द इति। अत्रापि न कश्चित्क्रमनियम इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात्। धर्मिणि प्राक्सत्त्व प्रसाध्य पश्चादपि व्याप्ति प्रसाध्यते एव। यथा सन् शब्द कृतको वा यश्चैव स सर्वोऽनित्य. यथा घटादिरिति। अत्र व्याप्तिसाधनं विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम्। यदि न सर्वं सत् कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽयोगादर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात्।" —वादन्याय पृ० ५-८। ४ –स्मिन् प्रव० मं० २।

स्यानुपपत्तितो नित्यात्सत्त्वस्य व्यावृत्तिरिति विपक्षाद्व्यावृत्तम्, सच्च सर्वमित्युपनयः, सत्त्वात्सर्वं क्षणिकमिति निगमनम्। एवमन्यत्रैष्यनुसरणीयम्। यद्यपि व्याप्त्युक्तेन पक्षधर्मतोपसंहाररूप सौगतै-रनुमानमाम्नायि, तथापि मन्दमतीन् प्रत्युपायादितः पञ्चावयवानुमानदर्शनमप्यदुष्टमिति। अयमत्र श्लोकद्वयस्य तात्पर्यार्थः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणत्रयोपलक्षितानि त्रीण्येव लिङ्गानि अनुप-लब्धिः, स्वभावः, कार्यं चेति।

§ ९१ अथानुक्तोऽपि विशेषः कश्चन लिख्यते। तत्र प्रमाणादभिन्नमर्थाधिगम एव प्रमाणस्य फलम्। तर्कप्रत्यभिज्ञयोरप्रामाण्यम्। परस्परविनिर्लुठितक्षणक्षयिपरमाणुलक्षणानि स्वलक्षणानि प्रमाणगोचरस्तात्त्विकः। वासनारूपं कर्म। सुखदुःखे धर्माधर्मात्मके। पर्याया एव सन्ति, न द्रव्यम्। वस्तुनि चैवं स्वसत्त्वमेव न पुनः परासत्त्वमिति सामान्येन बौद्धमतम्।

§ ९२ अथवा वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिक-भेदाच्चतुर्धा बौद्धा भवन्ति। तत्रार्यसमितीयापरनामवैभाषिकमतमदः—चतुःक्षणिकं वस्तु। जातिर्जनयति। स्थितिः स्था-

---

वाले सत्त्व हेतुकी नित्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति हो जाती है। यही इसका विपक्षव्यतिरेक रूपका विवेचन है। 'चूँकि सभी पदार्थ सत् हैं' यह उपनय वाक्य है। 'इसलिए सत् होनेसे सभी क्षणिक हैं' यह निगमन है। इसी तरह अन्य हेतुओंमें भी त्रिरूपता घटा लेनी चाहिए। बौद्ध यद्यपि व्याप्तिसे युक्त पक्षधर्मताका उपसंहार (उपनय वाक्य रूप) ही अनुमान मानते हैं फिर भी मन्दबुद्धियोंको समझानेके लिए यहाँ पाँच अवयववाले अनुमान वाक्यका प्रयोग किया है, अतः कोई दोष नहीं है। इस तरह इन दो श्लोकोंका यह तात्पर्य हुआ कि पक्षधर्म, अन्वय तथा व्यतिरेक रूप तीन लक्षण वाले हेतु अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

§ ९१ अब मूल ग्रन्थकारके द्वारा नहीं कही गयी कुछ विशेष बातोंका वर्णन करते हैं—अर्थाधिगम ही प्रमाणका फल है। यह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न है। तर्क और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं हैं। स्वलक्षण परस्पर अत्यन्त भिन्न क्षणिक परमाणुरूप होते हैं। वे ही प्रमाणका तात्त्विक विषय हैं। कर्म वासना रूप है। सुख-दुःख धर्म और अधर्म रूप हैं। पर्याय ही तत्त्व है, द्रव्य नहीं। वस्तुमें केवल स्वरूपसत्त्व ही है पररूपकी अपेक्षा नास्तित्व—परासत्त्व नहीं है। यह सामान्यसे बौद्धमतका निरूपण है।

§ ९२ अथवा वैभाषिक, सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक ये चार प्रकारके बौद्ध हैं। वैभाषिकोंको आर्यसमितीय भी कहते हैं। उनका मत इस प्रकार है—वस्तु चतुःक्षणिक—चार क्षण पर्यन्त है—जन्म उसे उत्पन्न करता है, स्थिति उसका स्थापन करती है, जरा उसे जीर्ण करती है तथा विनाश उसका नाश कर देता है। आत्मा भी इसी प्रकार चतुःक्षणिक है। आत्माका दूसरा

---

१. -पि कश्चन विशेषः लि-भ० २। २. तत्र द्वादशैव पदार्था आयतनसंज्ञयोच्यन्ते। तद्यथा पञ्चेन्द्रियाणि पञ्च शब्दादयो मनो धर्मायतनं च। धर्मास्तु सुखादयो विज्ञेया। अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणस्य लक्षणं प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे प्रमाणाद-भ० २। ३ "तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम्। अर्थप्रतीतिरूपत्वात्।" —न्यायबि० १।१७, १८। "स्वसंवित्तिः फलं चास्य तद्रूपादर्थ-निश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥" प्रमाणसमु० १।१०। "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥१३४३॥" तत्त्वसं०। ४ यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।"—न्यायबि० १।१३। ५ "वासना-पूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते। ··· ॥ वासनेति हि पूर्वविज्ञानजनितां शक्तिमामनन्ति वासनास्व-रूपविदः।" प्र० वार्तिकाल० पृ० ३०६। ६ कर्म पर्याया क०, प० १, २। कर्म सुखदुःखे धर्मात्मके पर्याया भ० २। ७ -सामवै-भ० २।

पयति । जरा जर्जरयति । विनाशो विनाशयति । तथात्मापि तथाविध एव, पुद्गलश्चासावभिधीयते । [1]निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्य[2]धीनस्तत्रार्थे प्रमाणमिति ।

§ ९३. सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्—रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा सर्वशरीरिणामेते पञ्च स्कन्धा[3] विद्यन्ते, न पुनरात्मा । त एव हि परलोकगामिन । तथा च तत्सिद्धान्तः—पञ्चेमानि भिक्षवः [4]संज्ञामात्रं प्रतिज्ञामात्रं संवृतिमात्रं व्यवहारमात्रम् । कतमानि पञ्च । अतीतोऽध्वा, अनागतोऽध्वा, सहेतुको विनाशः, आकाशम्, पुद्गल इति । अत्र पुद्गलशब्देन परपरिकल्पितो नित्यत्वव्यापकत्वादिधर्मक आत्मेति । बाह्योऽर्थो नित्यमप्रत्यक्ष एव, ज्ञानाकारान्यथानुपपत्त्या[6] तु समवगम्यते । साकारो बोधः प्रमाणम्[7] । तथा क्षणिकाः सर्वसंस्काराः । स्वलक्षणं परमार्थः[8] । यदाहुस्तद्वादिनः—"प्रतिक्षण विशरारवो रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवो ज्ञान चेत्येव तत्त्वम्" [ ] इति । [9]अन्यापोहः शब्दार्थः । तदुत्पत्तितदाकारताभ्यामर्थपरिच्छेदः ।

नैरात्म्यभावनातो ज्ञानसंतानोच्छेदो मोक्ष इति।

§ २४. योगाचारमतं त्विदम्[2]—विज्ञानमात्रमिदं भुवनम्। नास्ति बाह्योऽर्थः। ज्ञानाद्वैतस्यैव तात्त्विकत्वात्। अनेके ज्ञानसंतानाः। साकारो बोधः प्रमाणम्। अनादिवासनापरिपाकतो नीलपीतादिप्रतिभासाः[3]। आलयविज्ञानं[4] हि सर्ववासनाधारभूतम्। आलयविज्ञानविशुद्धिरेवापवर्ग इति।

§ २५. माध्यमिकमतं तु—शून्यमिदम्[5]। स्वप्नोपमः[6] प्रमाणप्रमेयोः प्रविभागः। "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः तदर्थं शेषभावना" [प्र० वा० १।२५६] इति। केचित्तु माध्यमिका

रूप रस गन्ध तथा स्पर्शके परमाणु एवं ज्ञान ये ही तत्त्व हैं। शब्दका वाच्य विधिरूप न होकर अन्यापोहात्मक है। ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर उसी पदार्थके आकारको धारण करके अर्थका परिच्छेद करता है। नैरात्म्य भावनासे ज्ञानकी सन्तानका सर्वथा उच्छेद होना मोक्ष है।

§ २४. योगाचारका मत इस प्रकार है—यह संसार केवल विज्ञान रूप ही है। बाह्य अचेतन अर्थकी सत्ता नहीं है, क्योंकि ज्ञानाद्वैत ही एक मात्र सत् है, तात्त्विक है। ज्ञानसन्तान अनेक हैं। साकारज्ञान प्रमाण है। अनादि कालीन विचित्र वासनाओंके परिपाकसे ही ज्ञानमें नील पीत आदि अनेक आकारोंका प्रतिभास होता है। आलयविज्ञान—अहंरूपसे सन्तान ज्ञान ही सभी वासनाओंका आधार होता है। इस आलय विज्ञानकी विशुद्धि ही को मोक्ष कहते हैं।

§ २५. माध्यमिकका मत इस प्रकार है—यह जगत् शून्य है, प्रमाण और प्रमेयका विभाग स्वप्नकी तरह ही है। 'शून्यतादर्शनसे ही मुक्ति होती है, अन्य समस्त क्षणिकत्वादि भावनाएँ शून्यताके पोषणके लिए ही हैं।' कुछ माध्यमिक ज्ञानको स्वीकार मानते हैं; कोई बाह्य पदार्थ

---

१. "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावनाः।"—प्र० वा० १।२५६। 'तत्रैव तत्त्विदर्थतत्त्वाकारानुरोधिनी। हन्ति सानुचरां तृष्णां सम्यग्दृष्टिः सुभाविता ॥१।२६३॥ तत्र सत्यचतुष्टय एव सम्यग्दृष्टिः नैरात्म्यदृष्टिः, तद्विरुद्धार्थतत्त्वाकारानुरोधिनी तेषां स्थिरसुखाद्याकाराणां विपरीतानां विरुद्धोऽर्थस्तस्य तत्त्वानि भूता आकारा अनित्या दुःखादयः षोडशाकारास्ताननुरोद्धुं शीलं यस्याः सा तथा सुभाविता। सादरनिरन्तरदीर्घकालाभ्यासगतवैशद्या हन्ति तृष्णां जन्महेतुं सानुचरां सात्मीयादिपरिवारां।"—प्र० वा०. मनो० १. २७२। २.—दं भुवनं विज्ञानमात्रं। नास्ति बा—मु० २। ३. "अनादिवासनासङ्गविधेयीकृतचेतसाम्। विविधः प्रतिभासोऽयमनेकः स्वप्नदर्शिनाम्।"—प्र० वार्तिकाल० पृ० ३९७। ४. "तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययोदिताः। नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥९९॥ आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः। चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते ॥१००॥"—लंकावतार पृ० २७१। "तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम्—तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्।"—सर्वद० सं० पृ० ३७। ५. "तथता भूतकोटिश्चानिमित्तं परमार्थिकं। धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः॥"—मध्यान्तवि० सू० टी० पृ० ४१। ६. "यथा मायाकृतः स्वभावेन अनुत्पन्ना अविद्यमाना मायादिगजवाज्यादयो मायाविद्विनिर्मिताश्च लोकस्य। एवमेतेऽपि लोकाभिनिविष्टा उत्पादादयः स्वरूपेण अविद्यमाना अपि भगवता तथाविधविनेयजनानुग्रहचिकीर्षुणा निर्दिष्टा इति। अत एवोक्तम् (समाधिराजसूत्रे) 'यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव। स्वभावशून्या तु निमित्तभावना। तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्।'" माध्यमिकवृ० संस्कृत० पृ० १७७। "स्वप्न-स्वभावता मायोपमा धर्मा यावत् निर्वाणोपमा इति।" महाप्रज्ञापार० पृ० ६७। 'एवमुक्तं भगवता—अनुत्पन्नाः सर्वभावा मायोपमाश्च इति।'—लंकावतार सू० द्वि० भा० पृ० ११८। 'यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा। तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः॥' माध्यमिकवृ० संस्कृत० ३९।

[1]स्वस्थं ज्ञानमाहुः । तदुक्तम्[2]—

"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोच्यते,
प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसर[3] सौत्रान्तिकैराश्रित ।
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धि परा,
मन्यन्ते वत मध्यमा कृतधिय स्वस्था परा संविदम् ॥ १ ॥" [　　　] इति ।

ज्ञानपारमिताद्या[4] दश ग्रन्थाः । [5]तर्कभाषा हेतुबिन्दुस्तट्टीकार्चटतर्कनाम्नी प्रमाणवार्तिकं तत्त्वसंग्रहो न्यायबिन्दुः कमलशीलो न्यायप्रवेशकश्चेत्यादयस्तद्ग्रन्था इति ।

§ ९६. एवं बौद्धमतमभिधाय तदेव [6]संचिक्षिप्सुरुत्तरं चाभिसन्धित्सुराह—

बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य संक्षेपोऽयं निवेदितः ।

§ ९७. बौद्धराद्धान्तस्य सौगतसिद्धान्तस्य यद्वाच्यं तस्य संक्षेपोऽयमनन्तरोदितो निवेदितोऽभिहितः ।

[7]इति श्रीतपागणनभोऽङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविशिष्यश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकाभिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां बौद्धमतप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकार. ।

आलम्बन नहीं होता वह निरालम्बन ही है । कहा भी है—"मतिमान् वैभाषिक ज्ञान और अर्थको स्वीकार करते हैं । सौत्रान्तिक बाह्यवस्तुके इस विस्तारको प्रत्यक्ष नहीं मानते । योगाचार साकार

ओम्

अथ द्वितीयोऽधिकारः

नैयायिकमतस्येतः कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१२॥

१ नैयायिकमतस्य संक्षेपः इत ऊर्ध्वं कथ्यमानो निशम्यतां श्रूयताम् ॥

आदौ नैयायिकानां योगापराभिधानानां लिङ्गादिस्वरूपमुच्यते। ते च दण्डधराः, प्रौढकौपीनपरिधानाः, कम्बलिकाप्रावृताः, जटाधारिणः, भस्मोद्धूलनपराः, यज्ञोपवीतिनः, जलाधारपात्रकराः, नीरसाहाराः, प्रायो वनवासिनो दोर्मूले, तुम्बकं बिभ्राणाः, कन्दमूलफलाशिनः, आतिथ्यकर्मनिरताः, सस्त्रीकाः, निःस्त्रीकाश्च। निःस्त्रीकास्तेषूत्तमाः। ते च पञ्चाग्निसाधनपराः, करे जटासु च प्राणलिङ्गधारिणो भवन्ति। उत्तमां संयमावस्थां प्राप्ता नग्ना भ्रमन्ति। एते प्रातर्दन्तपादादिशौचं विधाय शिवं ध्यायन्तो भस्मनाङ्गं त्रिस्त्रिः स्पृशन्ति। यजमानो वन्दमानः कृताञ्जलिर्वक्ति 'ॐ नमः शिवाय' इति। गुरुस्तु 'शिवाय नमः' इति प्रतिवक्ति। ते च सभायामेवं वदन्ति—

> 'शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति।
> दासी दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ॥१॥'

§ २. तेषामीश्वरो देवः सर्वज्ञः सृष्टिसंहारादिकृत्। तस्य चाष्टादशावतारा अमी—नकुली

आगे नैयायिक-शैव मतका संक्षेपसे वर्णन करेंगे उसे सुनो।

§ १. नैयायिक-मतका संक्षेपसे वर्णन आगे किया जायेगा उसे सुनिए। सर्वप्रथम नैयायिकोंका जिन्हें योग भी कहते हैं, लिंग वेष आदि कहते हैं। ये हाथमें दण्डको धारण करते हैं, मोटा कौपीन-लंगोटी लगाते हैं, कम्बल ओढ़ते हैं, जटा रखते हैं, शरीरमें राख लपेटते हैं, यज्ञोपवीत–जनेऊ पहिनते हैं, हाथमें कमण्डलु रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वनमें पेड़के नीचे निवास करते हैं, तुम्बा–तूमड़ी रखते हैं। कन्दमूल तथा फलोंका भक्षण करते हैं तथा अतिथि-सत्कारमें तत्पर रहते हैं। ये स्त्रीके साथ भी रहते हैं तथा स्त्रीके बिना भी रहते हैं। इनमें जो स्त्रीके बिना रहते हैं वे उत्तम समझे जाते हैं। ये पञ्चाग्नितप तपते हैं। हाथमें तथा जटा आदिमें प्राणलिंग धारण करते हैं। जब ये उत्तमसंयमको धारण करते हैं तब ये नग्न रहकर विहार करते हैं। ये प्रातःकाल दन्तधावन तथा शौचादि क्रिया करके शिवका ध्यान करते हैं। तीन बार शरीरको भस्म लगाते हैं। इनके यजमान—भक्त हाथ जोड़कर इन्हें नमस्कार करते समय 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं। गुरु भी उत्तरमें 'शिवाय नमः' कहते हैं। वे अपनी सभामें इस प्रकार उपदेश देते हैं—

"शैव दीक्षाको बारह वर्ष तक धारण करके जो छोड भी देता है वह चाहे दासी हो या दास अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त करता है ॥१॥"

§ २ ये ईश्वरको देव मानते हैं। वह सर्वज्ञ है तथा जगत्की सृष्टि तथा प्रलय करनेमें

---

१ नयादौ योगापराभिधानानां नैयायिकानां लि– प० १, २, भ०। नैयायिकानां योगा इति नामान्तरम्, आदौ तेषां लि– भ० २। २. –ते द– भ० २। ३ एते दन्तपा– भ० १, २। एते पा–प० २।

१, [1]शोष्यकौशिकः २, गार्ग्यः ३, [2]मैत्र्यः ४, [3]अकौरुषः ५, ईशानः ६, पारगार्ग्यः ७, कपिलाण्डः ८, मनुष्यकः ९, कुशिकः १०, अत्रि. ११, पिङ्गलः १२, पुष्पकः १३, बृहदार्यः १४, अगस्तिः १५, संतानः १६, राशीकरः १७, विद्यागुरुश्च १८। एते तेषां तीर्थेशाः पूजनीयाः। एतेषां पूजाप्रणिधानविधिस्तु तदागमाद्वेदितव्यः[4]।

§ ३. तेषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः। देवानां[5] नमस्कारो न सन्मुखैः कार्यः। तेषु ये निर्विकारास्ते स्वमीमांसागतमिदं पद्यं दर्शयन्ति—

"न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम, नेन्दो कला न गिरिजा न जटा न भस्म।
यत्रान्यदेव च न किंचिदुपास्महे तद्रूप पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥ १ ॥
स एव योगिना सेव्यो ह्यर्वाचीनस्तु भोगभाक्।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ॥ २ ॥"

उक्तं च तैः स्वयोगशास्त्रे—

"वीतराग स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते।
सरागं ध्यायतस्तस्य सरागत्व तु निश्चितम् ॥ ३ ॥
येन येन हि भावेन युज्यते [6]यन्त्रवाहक।
तेन तन्मयता याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ ४ ॥" इति।

§ ४. एतत्सर्वं लिङ्गवेषदेवादिस्वरूपं वैशेषिकमतेऽप्यवसातव्यम्। यतो नैयायिकवैशेषिकाणां हि मिथः प्रमाणतत्त्वानां संख्याभेदे सत्यप्यन्योन्यं तत्त्वानामन्तर्भावनेऽल्पीयानेव भेदो

समर्थ है। ये ईश्वरके अठारह अवतार है—१ नकुली, २ शोष्यकौशिक, ३ गार्ग्य, ४ मैत्र्य, ५ अकौरुष, ६ ईशान, ७ परम गार्ग्य, ८ कपिलाण्ड, ९ मनुष्यक, १० कुशिक, ११ अत्रि, १२ पिङ्गल, १३ पुष्पक, १४ वृहदार्य, १५ अगस्ति, १६ सन्तान, १७ राशीकर तथा १८ विद्यागुरु। ये अठारह तीर्थेश पूजनीय है। इनके पूजा तथा ध्यान आदिकी विधि उन्हीके आगमोसे समझ लेनी चाहिए।

§ ३. इनके सब तीर्थोमे भरट पूजा करनेवाले होते है। ये देवोको सामनेसे नमस्कार नही करते। इनमे जो निर्विकार है वे अपनी मीमासाका यह पद्य प्राय कहा करते है—"हमलोग तो प्राचीन मुनियोके द्वारा ध्याये गये ईश्वरके उस निर्विकार स्वरूपकी उपासना करते है जिसमे न तो स्वर्गगगा है, न सर्प है, न मुण्डमाला है, न चन्द्रमाकी कला है, न आधे शरीरमे पार्वती ही है, न जटाएँ है, न भस्म ही लिपटी है तथा इसी प्रकारकी अन्य कोई भी उपाधियाँ नही है। ऐसा ही निरुपाधि निर्विकार ईश्वर हमलोगोका उपास्य है ॥१॥ ईश्वरका निर्गुण निर्विकार रूप ही योगियोके द्वारा सेव्य—ध्येय है। आजकल ईश्वरका जो रूप पूजा जाता है वह तो भोगीरूप है। और राज्य आदि ऐहिक सुखोके लोलुपी ही ऐसे रूपकी उपासना करते है ॥२॥" उन्होने अपने योगशास्त्र मे भी कहा है—"वीतरागका स्मरण—ध्यान करनेवाला योगी वीतरागताको प्राप्त कर लेता है और सरागके ध्यान करनेवालेकी सरागता निश्चित है ॥१॥ तात्पर्य यह कि—मनरूप यन्त्रको चलानेवाला आत्मा जिस-जिस भावसे युक्त होकर जैसे ध्येयका ध्यान करता है वह स्वय तन्मय हो जाता है। देखो, स्फटिक मणिको जिस-जिस प्रकारकी उपाधियाँ मिलती है उसका रग उन्हीके अनुसार नानाप्रकारका हो जाता है ॥२॥"

§ ४. नैयायिकोकी तरह वैशेषिक मतमे भी लिग वेष आदि प्राय. इसी प्रकारके है। यद्यपि नैयायिको और वैशेषिकोकी प्रमाण या तत्त्वोकी सख्यामे भेद है फिर भी जब एकके तत्त्वोंका

---

१ शोषिकौशि–भ० २। २ मैत्री क०। मैत्र प० १, २, म० १, २। ३ अकौरुक भ० २। ४ –मादवेतव्य भ० २। ५ वानान्च नम– भ० २। ६ यन्त्रवा–भ० २।

जगत्कर्ता स्यात्, तदा तस्याप्यपरेण कर्त्रा भाव्यम्, अनित्यत्वादेव । अपरस्यापि च कर्तुरन्येन कर्त्रा भवनीयमित्यनवस्थानदी दुस्तरा स्यात् । तस्मान्नित्य एवाभ्युपगमनीयः ।

§ ११. नित्योऽपि स एकोऽद्वितीयो मन्तव्यः । बहूना हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्यान्यविसदृशमतिव्यापृतत्वेनैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति युक्तम् 'एकः' इति विशेषणम् ।

§ १२. [1]एकोऽपि स सर्वज्ञः सर्वपदार्थानां सामस्त्येन ज्ञाता । सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सित-पदार्थोपयोगिजगत्प्रसृमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयसम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया याथातथ्येन पदार्थानां निर्माणं दुर्घटं भवेत् । सर्वज्ञत्वे पुनः सकलप्राणिनां[2] संमीलितसमुचितकारणकलापानु[3]-रूप्येण कार्यं वस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन(नुसारेण) च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखो-पभोगं ददानः सर्वथोचितीं नातिवर्तेत । तथा चोक्तं तद्भक्तैः—

> "[4]ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
> ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥"

"[1]अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ २ ॥" [महाभा० वनप० ३०।२८]

§ १३. अथवा नित्यैकसर्वज्ञ इत्येकमेव विशेषणं व्याख्येयम्। नित्यः सदैकोऽद्वितीयः सर्वज्ञो नित्यैकसर्वज्ञः। एतेनानादिसर्वज्ञमीश्वरमेकं विहायान्यः कोऽपि सर्वज्ञः कदापि न भवति। यत ईश्वरादन्येषां योगिनां ज्ञानान्यपरं सर्वमतीन्द्रियमर्थं जानानान्यपि स्वात्मानं न जानते, ततस्ते कथं सर्वज्ञाः स्युरित्यावेदितं भवति।

§ १४. तथा नित्यबुद्धिसमाश्रयो नित्याया बुद्धेर्ज्ञानस्य स्थानम्, क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षणेन मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति। ईदृशविशेषणविशिष्टो नैयायिकमते शिवो देवः ॥ १३ ॥

अथ तन्मते तत्त्वानि विवरिषुः प्रथमं तेषां संख्यां नामानि च समाख्याति—

तत्त्वानि[2] षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥१४॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥१५॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा।
[3]अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥१६॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

अनादि सिद्ध है, सहज है ॥१॥ यह विचारा अज्ञ तथा अनीश्वर—असमर्थ संसारीजन्तु अपने सुख-दुःख भोगनेके लिए ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग तथा नरक जाता है। ईश्वर कर्मके अनुसार संसारियोंको स्वर्ग तथा नरकमें भेजता है ॥२॥"

§ १३. अथवा 'नित्य, एक तथा सर्वज्ञ' इन तीनोंको पृथक् तीन विशेषण न मानकर 'नित्यैकसर्वज्ञ' ऐसा एक समूचा विशेषण मानना चाहिए। इसका अर्थ है कि ईश्वर सदैव एक अद्वितीय सर्वज्ञ रहा है, दूसरा कोई नित्य सर्वज्ञ नहीं है। इस अनादि सर्वज्ञ एक ईश्वरको छोड़कर कोई भी कभी भी सर्वज्ञ नहीं हुआ। ईश्वरके अतिरिक्त अन्य योगी यद्यपि संसारके समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानते हैं पर वे अपने स्वरूपको नहीं जानते, उनका ज्ञान अस्वसंवेदी है, अतः ऐसे अनात्मज्ञ योगी सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं?

§ १४. ईश्वरकी बुद्धि नित्य है, शाश्वत है। यदि ईश्वरकी बुद्धि क्षणिक हो, तो उस बुद्धिकी उत्पत्तिमें भी अन्य कारणोंकी आवश्यकता होगी, अतः क्षणिक बुद्धिवाला ईश्वर स्वयं पराधीन हो जायेगा और इस तरह वह मुख्यरूपसे कर्ता न बन सकनेके कारण अनीश्वर हो जायेगा। इस तरह नैयायिकोंके भगवान् शिव जगत्कर्तृत्वादि विशेषणोंसे युक्त हैं ॥१३॥

अब नैयायिकोंके तत्त्वोंके वर्णन करनेकी इच्छासे, सर्वप्रथम उनके नाम तथा उनकी संख्याका कथन करते हैं—

नैयायिकोंके मतमें प्रमाण आदि सोलह तत्त्व हैं—१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वा-

१. अन्यो जन्तु–प० १, २, भ० १, २। २. "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः।"—न्यायसू० १।१।१। ३. "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।"—न्यायभा० २।१।११। न्यायवा० पृ० ५। "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि।"—न्यायभा० १।१।३। "तदेव ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।"—न्यायवा० ता० टी० पृ० २२।

§ १४. व्याख्या—अमुत्रास्मिन्प्रक्रान्ते नैयायिकमते प्रमाणादीनि प्रमाणप्रमेयप्रभृतीनि षोडश तत्त्वानि भवन्ति । तद्यथेत्युपदर्शने । 'प्रमाणं च' इत्यादि । तत्र प्रमितिरुपलब्धिर्ज्ञानं येन जन्यते तज्ज्ञानस्य जनकं कारणं प्रमाणम् । प्रमीयते ज्ञानं जन्यतेऽनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः । ज्ञानस्य च जनकं द्विविधम्—अचेतनं ज्ञानं च । तत्राचेतनमिन्द्रियतदर्थसन्निकर्षप्रदीपलिङ्गशब्दादिकं ज्ञानस्य कारणत्वात्प्रमाणम् । ज्ञानं च ज्ञानान्तरजन्मनि यद्व्याप्रियते तदपि ज्ञानजनकत्वात्प्रमाणम् । ज्ञानस्याजनकं तु प्रमाणस्य फलं भवेन्न पुनः प्रमाणम् १ । [1]प्रमेयं प्रमाणजन्यज्ञानेन ग्राह्यं वस्तु २ । दोलायमाना प्रतीतिः संशयः[2] । चकारास्त्रयोऽपि प्रमाणादीनामन्योन्यापेक्षया समुच्चयार्थाः ३ । [3]प्रयोजनमभीष्टं साधनीयं फलम् ४ । [4]दृष्टान्तो वादिप्रतिवादिसम्मतं निदर्शनम् ५ । अपिः समुच्चये । अथशब्द आनन्तर्ये । [5]सिद्धान्तः [6]सर्वदर्शनसम्मतशास्त्रप्रभृतिः ६ । [7]अवयवाः पक्षादयोऽनुमानस्याङ्गानि ७ । संदेहादूर्ध्वमन्वयधर्मचिन्तनं तर्कः[8], स्थाणुरत्राधुना संभवतीति ८ ।

भास, १४ छल, १५ जाति तथा १६ निग्रह स्थान । इनकी व्याख्या इस प्रकार है—पदार्थकी उपलब्धिमें जो साधकतम हेतु होता है उसे प्रमाण कहते है । वह चार प्रकारका है ॥१४, १५, १६॥ इन तीन श्लोकोंका एक साथ अन्वय होनेसे इन्हे विशेषक कहते हैं ।

§ १४. इस प्रस्तुत नैयायिक दर्शनमे प्रमाण प्रमेय आदि सोलह तत्त्व होते है । उनके नाम श्लोकमे वता दिये है । जिसके द्वारा प्रमिति-उपलब्धि या ज्ञान उत्पन्न किया जाता है उस ज्ञानके जनक कारणको प्रमाण कहते हैं । 'प्रमीयते—ज्ञान उत्पन्न किया जाता है येन-जिसके द्वारा उमे प्रमाण कहते है ।' यह प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्ति है । ज्ञानके उत्पादक कारण दो प्रकारके है—एक तो अचेतन पदार्थ, तथा दूसरा ज्ञान । इन्द्रियोका पदार्थके साथ सन्निकर्ष-सम्बन्ध, दीपक, हेतु तथा शब्द आदि अचेतन पदार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण होनेसे प्रमाण है । जो ज्ञान किसी ज्ञानान्तरकी उत्पत्तिमे व्यापार करता है वह ज्ञानका उत्पादक होनेसे प्रमाण भी है । पर, जो ज्ञान किसी ज्ञानान्तरको उत्पन्न नही करता वह प्रमाण नही है केवल फलरूप ही है । (२. प्रमेय—प्रमाणसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका विषयभूत पदार्थ प्रमेय कहलाता है । ३ सशय—अनेक कोटियोमे अर्थात् विषयोमे दोलायमान—झूलनेवाली चलित प्रतीतिका नाम सशय है । श्लोकमे आये हुए तीन 'च' शब्द प्रमाण प्रमेय और सशयका परस्पर समुच्चय दिखानेके लिए है । ४ प्रयोजन—जो हमारा साध्य है, जिसे हम सिद्ध करना चाहते है उस इष्ट फलको प्रयोजन कहते है । ५ दृष्टान्त—जिसे वादी और प्रतिवादी निर्विवाद रूपसे स्वीकार करते हो ऐसे निदर्शन—उदाहरणको दृष्टान्त कहते है । मूल श्लोकमे 'अपि' शब्द समुच्चयार्थक है । 'अथ' शब्द आनन्तर्य इसके वाद अर्थमे प्रयुक्त हुआ है । ६ सिद्धान्त—सभी दर्शनवालोको स्वीकृत अपने-अपने शास्त्र आदि सिद्धान्त कहे जाते है । ७ अवयव—अनुमानके अंगभूत पक्ष आदि अवयव है । ८ तर्क—सन्देहके वाद होनेवाले विधिरूप सम्भावनाप्रत्ययको तर्क कहते हैं । जैसे इस समय यहाँ स्थाणुकी ही सम्भावना है । तर्कमे

---

१. "प्रमाणविषयोऽर्थ प्रमेयम् ।"—न्यायक० पृ० ४ । २ "विशेषस्मृतिहेतोर्धर्मस्य ग्रहणाद् विशेषस्मृतेश्च जायमानं किं स्वित् इति विमर्श सशय ।"—न्यायक० पृ०८ । ३ "यमर्थमधिकृत्य पुरुष प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।"—न्यायक० पृ० ८ । ४ "वादिप्रतिवादिनो साध्यसाधनधर्माधिकरणत्वेन तद्रहितत्वेन वा प्रसिद्धोऽर्थो दृष्टान्त ।"—न्यायक० पृ० ८ । ५ "अयमेवमिति प्रमाणमूलाभ्युपगम. विषयीकृत सामान्यविशेषवानर्थ. सिद्धान्त. ।"—न्यायक० पृ० ९ । ६. –दर्शनशास्त्रसम्मतप्र–क०, प० १, २, भ० १, २ । ७ "साधनीयस्यार्थस्य यावता वाक्येन परस्मै प्रतिपादन क्रियते तस्य पञ्च भागा प्रतिज्ञादयोऽवयवा ।"—न्यायक० पृ० ९ । ८ "अविज्ञाततत्त्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन, तस्मिन् सभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते ।"—न्यायक० पृ० १३ ।

ष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री[1] तदेकदेशो वा चक्षुःप्रदीपज्ञानादिर्बोधरूपोऽबोधरूपो वा साधकतमत्वात्प्रमाणम् । तज्जनकत्व च तस्य प्रामाण्यम् । [2]तज्जन्या त्वर्थोपलब्धि. फलमिति । इन्द्रियजत्वलिङ्गजत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिर्यतः स्यात्, तदेव प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य विशेषलक्षण वक्ष्यते । केवलमत्राव्यपदेश्यमिति विशेषणं न शाब्दे सम्बन्धनीयं तस्य शब्दजन्यत्वेन व्यपदेश्यत्वात् । अथ प्रमाणस्य भेदानाह—'तच्चतुर्विधम्' तत्प्रमाणं चतुर्विधं चतुर्भेदम् ॥१४-१६॥

§ १६. अथ तच्चातुर्विध्यमेवाह—

[3]प्रत्यक्षमनुमानं चोपमानं शाब्दिकं तथा ।
तत्रेन्द्रियार्थसंपर्कोत्पन्नमव्यभिचारि च ॥१७॥
व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षमनुमानं तु [4]तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ॥१८॥
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा ।
तत्राद्यं[5] कारणात्कार्यानुमानमिह गीयते ॥१९॥

§ १७. व्याख्या—प्रत्यक्षमध्यक्षं, अनुमानं लैङ्गिकं, चकारः समुच्चयार्थः, उपमानमुपमितिः, तथाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाच्छाब्दिकं च शब्दे भवं शाब्दिकमागम इत्यर्थः । अथ प्रत्यक्षस्य

अव्यभिचार आदि विशेषणोंसे युक्त अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करनेवाली पूर्ण सामग्री, अथवा सामग्रीके एक-एक भाग चक्षु दीपक, ज्ञान आदि, चाहे ये ज्ञान रूप हों या अचेतन, यदि अर्थोपलब्धिमें साधकतम—कारण होते, हैं तो प्रमाण हैं । अर्थोपलब्धिकी जनकता ही प्रमाणता है । उस सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाली अर्थोपलब्धि फल है । यही अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियों-द्वारा उत्पन्न होती है तब प्रत्यक्ष कहलाती है और जब लिंगसे उत्पन्न होती है तब अनुमान कही जाती है । इसी तरह विशेष प्रमाणोंके लक्षण आगे कहेंगे । केवल शाब्दप्रमाणका लक्षण करते समय 'अव्यपदेश्य' विशेषणका सम्बन्ध अर्थोपलब्धिमें नहीं करना चाहिए, क्योंकि शाब्द—आगमज्ञान तो शब्दजन्य होनेसे व्यपदेश्य ही है । वह प्रमाण चार प्रकारका है ॥१४–१६॥

§ १६. अब प्रमाणके चार प्रकारोंका वर्णन करते हैं—

दृश्याभावयोर्विशेषणत्वं विशेष्यत्वं वा[1] भवतीत्यर्थः। तद्यथा—तन्तवः पटसमवायवन्तः तन्तुषु पटसमवाय इति। घटशून्यं भूतलमिह भूतले घटो नास्तीति ६ षोढा सन्निकर्षः।

§ १८. अथ निकर्षग्रहणमेवास्तु सं-ग्रहणं व्यर्थम्, न; सं-शब्दग्रहणस्य सन्निकर्षषट्क-प्रतिपादनार्थत्वात्। एतदेव सन्निकर्षषट्कं ज्ञानोत्पादे समर्थं कारणम्, न संयुक्तसंयोगादिकमिति 'सं'गहणाल्लभ्यते।

§ १९. इन्द्रियार्थसंनिकर्षादुत्पन्नं जातम्। उत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापकार्थम्। अत्रायं भाव.—इन्द्रियं हि नैकटयादर्थेन सह संबध्यते, इन्द्रियार्थसंबन्धाच्च ज्ञानमुत्पद्यते। यदुक्तम्—

"[2]आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्र.।
योगोऽयमेव मनस किमगम्यमस्ति, यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥ १ ॥"
[ ]

§ २०. [3]ज्ञानसंग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थं सुखादीनामज्ञानरूपत्वात्। सुखादयो ह्याह्लादादि-स्वभावा ग्राह्यतयानुभूयन्ते, ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयानुभूयत इति ज्ञानसुखाद्योर्भेदो-ऽध्यक्षसिद्ध एव।

वाले हैं', यहाँ समवायकी विशेषण रूपसे तथा 'तन्तुमे पटका समवाय है' यहाँ समवायकी विशेष्य-रूपसे प्रतीति होती है। इसी तरह 'भूतल घटसे रहित है' यहाँ अभाव विशेषणरूपसे तथा 'इस भूतलमे घट नही है' यहाँ अभाव विशेष्यरूपसे अनुभवमे आता है। इस प्रकार छह प्रकारका सन्निकर्ष है।

§ १८. शंका—'सन्निकर्ष'के स्थानमे निकर्ष ही कहना चाहिए 'सम्' उपसर्गका ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योकि निकर्ष ग्रहण करनेसे भी सम्बन्धका बोध तो हो ही जाता है?

समाधान—'सम्' शब्दका ग्रहण छह प्रकारके ही सन्निकर्षका प्रतिपादन करनेके लिए है। ये ही छह सन्निकर्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमे समर्थ कारण है, संयुक्तसयोग आदि नही। यही 'सम्'के ग्रहण करनेसे सूचित होता है।

§ १९. "इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न होनेवाले" यहाँ उत्पत्तिका ग्रहण कारक पक्षकी सूचना देता है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ निकटताके कारण पदार्थके साथ सम्बद्ध होती है, फिर इन्द्रिय और अर्थका सम्बन्ध होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है। कहा भी है "आत्मा मनसे सम्बद्ध होता है, मन इन्द्रियोसे तथा इन्द्रियाँ अपने विषयभूत पदार्थसे।' यह सम्बन्ध परम्परा बहुत ही शीघ्र होती है, इसीका नाम सम्बन्ध या सन्निकर्ष है। मनके लिए कोई भी वस्तु अगम्य नही है। जहाँ मन जाता है वही आत्मा भी पहुँच जाता है ॥१॥"

§ २० ज्ञान शब्दका ग्रहण सुखादिमे प्रत्यक्षरूपताका निराकरण करनेके लिए किया गया है, क्योकि सुखादिक अज्ञानस्वरूप है। ज्ञान तो पदार्थका अवगम अर्थात् बोध कराता है, वह अर्थ-का ग्राहक होता है, जबकि आह्लादरूप सुखादि ग्राह्य होते है। यह ज्ञान और सुखादिका भेद तो प्रत्यक्षसे ही अनुभवमे आता है।

---

१ -ष्यत्वं भव-आ०, क०, प० २। "आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति।" न्यायमा० १।१।४। २ तुलना—आत्मा मनसा सयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति।"—न्यायम० पृ० ७०। ३ "अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थम्? सुखादिव्यवच्छेदार्थम्।"—न्यायवा० पृ० ३६। "अथ वा सुखादिव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानपदोपादानम्।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ७०।

त्वाच्च प्रत्यक्षफलं न भवतीति ज्ञापितम् ।

§ २४. नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकमन्यविशेषणाभ्या ज्ञानस्य लब्धत्वात्, न; धर्मिप्रतिपादनार्थत्वादस्य, ज्ञानपदोपात्तो हि धर्मीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादिभिर्विशेष्यते । अन्यथा धर्म्यभावे [1]क्वाव्यभिचारादीन् धर्मांस्तत्पदानि प्रतिपादयेयु' ।

§ २५. केचित्पुनरेवं व्याचक्षते—अव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकमिति पदद्वयेन [2]निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षस्य द्वैविध्यमाह, शेषाणि तु ज्ञानविशेषणानीति ।

§ २६. अत्र च सूत्रे फलस्वरूपसामग्रीविशेषणपक्षास्त्रयः संभवन्ति[3] । तेषु स्वरूपविशेषणपक्षो न युक्तः । यथोक्तविशेषणं ज्ञान प्रत्यक्षमिति हि तत्रार्थ. स्यात् । तथा चाकारकस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः, न चाकारकस्य प्रत्यक्षत्वं युक्तम् असाधकतमत्वात्साधकतमस्यैव च प्रमाणत्वात् ।

संशयज्ञानकी व्यावृत्ति सूचित की गयी है । ऐसा अनिश्चयात्मक संशयज्ञान प्रत्यक्षका फल नही हो सकता ।/

§ २४. शंका—जब अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक इन दो विशेषणोसे ही ज्ञानका बोध हो जाता है तब ज्ञान पदका ग्रहण करना व्यर्थ ही है ?

समाधान—ज्ञानपदका ग्रहण धर्मीका प्रतिपादन करनेके लिए है । ज्ञानरूप धर्मी ही तो इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोवाला होगा । यदि धर्मी ही न हो तब ये अव्यभिचार आदि धर्म कहाँ रहेगे ? अत अव्यभिचारि आदि पदोके द्वारा जिनमे अव्यभिचार आदि धर्मोका कथन किया जाता है उस आधारभूत ज्ञानका कथन करना उचित ही है ।

§ २५ कोई व्याख्याकार अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मक पदोसे क्रमश प्रत्यक्षके निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो प्रकारोका प्रतिपादन हुआ है ऐसा कहते है । बाकी अव्यभिचारि आदि पदोको ज्ञानके विशेषण ही मानते है ।

तुलासुवर्णादीनां प्रदीपादीनां संनिकर्षेन्द्रियादीनां [1]चावोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गश्च। इष्यते चैषां सूत्रकृता प्रत्यक्षत्वम्। तन्न स्वरूपविशेषणपक्षो युक्त।

§ २७ नापि सामग्रीविशेषणपक्ष, सामग्रीविशेषणपक्षे ह्येवं सूत्रार्थ स्यात्—प्रमातृप्रमेयचक्षुरादीन्द्रियालोकादिका ज्ञानजनिका सामग्री इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्टज्ञानजननात् उपचारेणेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशिष्टा सती प्रत्यक्षमिति। एवं च सामग्र्याः सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं तथाविधफलजनकत्वादुपचारेणैव भवति, न तु स्वत इति। न तु युक्तस्तत्पक्षोऽपि।

§ २८ फलविशेषणपक्षस्तु युक्तिसङ्गत। अत्र पक्षे 'यत' इत्यध्याहार्यम्। ततोऽयमर्थः[2]— इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणं ज्ञानं यत इन्द्रियार्थसंनिकर्षादेर्भवति, स इन्द्रियार्थसंनिकर्षादि प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ज्ञानं च[3] प्रत्यक्षप्रमाणफलम्। यदा तु ततोऽपि ज्ञानाद्धानोपादानादिबुद्धय उत्पद्यन्ते, तदा हानादिबुद्ध्यपेक्षया ज्ञानं प्रमाणं हानादिबुद्धयस्तु फलम्। "यदा ज्ञानं प्रमाण तदा हानादिबुद्धय फलम्।" [न्यायभा० १।१।३] इति वचनात्। यथा [4]चानुभवज्ञानवंशजाया स्मृतेस्तया चायमित्येतज्ज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजत्वात्प्रत्यक्षफलम्। तत्स्मृतेस्तु

नहीं है, क्योंकि प्रमाके प्रति साधकतम कारकको ही प्रमाण कहते हैं। जो अकारक है वह साधकतम हो ही नहीं सकता। स्वरूपविशेषण पक्षमें ज्ञान ही प्रमाण होता है अत तौलनेमें साधकतमभूत तराजू तथा सोनेके बाँट आदि, दीपक आदि और सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय आदि अज्ञानरूप होनेसे प्रत्यक्षप्रमाण नहीं हो सकेंगे। पर, सूत्रकारने इन्हे साधकतम होनेसे प्रमाण माना है। अत स्वरूपविशेषण पक्ष किसी भी तरह युक्त नहीं है।

§ २७ इसी तरह सामग्रीविशेषण पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामग्रीविशेषण पक्षमें सूत्रका यह अर्थ होता है—'प्रमाता, प्रमेय, चक्षुरादि इन्द्रियाँ तथा प्रकाश आदि ज्ञानोत्पादक सामग्री प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है। चूँकि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोसे विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करती है अत इसमें भी उपचारसे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणोका अन्वय हो जाता है; यह भी उक्त विशेषणोसे विशिष्ट होकर प्रमाण है। इस तरह सूत्रमें कहे गये विशेषणोका साक्षात् सम्बन्ध सामग्रीमें नहीं हुआ, किन्तु उक्त विशेषण विशिष्ट ज्ञानको उत्पन्न करनेके कारण उपचारसे ही सामग्रीने उक्त विशेषणोका सम्बन्ध हुआ स्वत नहीं। अत उपचाररूप प्रमाणता लानेवाला यह पक्ष भी उचित नहीं है।

§ २८ हाँ, फलविशेषण पक्ष निर्दोष तथा युक्तिसंगत है। इस पक्षमें 'यत—जिससे' शब्दका अध्याहार करना चाहिए। तब यह अर्थ होगा कि—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्व आदि विशेषणवाला ज्ञान यत—जिस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदिसे होता है वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाणका फल है। हाँ, जब उस ज्ञानसे भी उत्तरकालमें हानोपादानादि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तब हानोपादानबुद्धि की अपेक्षा ज्ञान प्रमाण होता है तथा हानादिबुद्धियाँ फल। "जब ज्ञानको प्रमाणता होती है तब हानादिबुद्धियाँ फलरूप होंगी।" यह पुरातन आचार्योंका कथन है। इसी तरह अनुभवज्ञानसे संस्कार होता है, तथा संस्कारसे होनेवाली स्मृति

---

१. -वा बोध-प० १, २, भ० २। २ "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञान प्रमिति, यदा ज्ञान तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धय फलम्।..."—न्यायभा० १।१।३। "तत्र सामान्यविशेषेषु स्वरूपालोचनमात्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्" प्रमिति द्रव्यादिविषयं ज्ञानम्" अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसंनिकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम् प्रमिति गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमिति।"—प्रश० भा० पृ० १८७। —न्यायवा० पृ० २९। "प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते। तस्य प्रमाणभावे तु फलहानादिबुद्धय॥"—न्यायम० प्रमा० पृ० ६२। ३, तु म० १, २, क०। ४. -ज्ञातवंश-भ० २।

प्रत्यक्षता । सुखदुःखसबन्धस्मृतेस्त्विन्द्रियार्थसंनिकर्षसहकारित्वात्तथा चायमिति सारूप्यज्ञानजनकत्वेनाऽक्षप्रमाणता । सारूप्यज्ञानस्य च सुखसाधनोऽयमित्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता । न च [1]सुखसाधनत्वशक्तिज्ञानमिन्द्रियार्थसंनिकर्षजं शक्तेरसंनिहितत्वात् । आत्मनो मनइन्द्रियेण संनिकर्षे सुखादिज्ञानं फलम् । मनइन्द्रियस्य तत्संनिकर्षस्य च प्रत्यक्षप्रमाणता । एवमन्यत्रापि यथार्ह प्रमाणफलविभागोऽवगन्तव्य इति ।

§ २९. एतदेवेन्द्रियार्थसंनिकर्षादिसूत्रं ग्रन्थकारः पद्यबन्धानुलोम्येनेत्थमाह । 'इन्द्रियार्थसपर्कोत्पन्नम्'[2] इत्यादि । अत्र सपर्कः संबन्ध. । 'अव्यभिचारि च' इत्यत्र चकारो विशेषणसमुच्चयार्थः । अव्यभिचारिकमिति पाठे त्वव्यभिचार्येवाव्यभिचारिकं स्वार्थे[3] कप्रत्ययः । व्यपदेशो नामकल्पना । अत्रापि व्याख्याया 'यतः' इत्यध्याहार्यम् । भावार्थः सर्वोऽपि प्राग्वदेवेति ।

§ ३०. अथ प्रत्यक्षतत्फलयोरभेदविवक्षया प्रत्यक्षस्य भेदा उच्यन्ते । प्रत्यक्षं द्वेधा, अयोगिप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षं च । यदस्मदादीनामिन्द्रियार्थसंनिकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तदयोगिप्रत्यक्षम् । तदपि द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पं च । तत्र वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकं यथा प्रथमाक्षसंनिपातजं ज्ञानम् । [4]संज्ञासंज्ञिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकं यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि ।

'यह उसके समान है' इस इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यभिज्ञान रूप प्रत्यक्षज्ञानको उत्पन्न करती है । यहाँ प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणका फल है तथा स्मृति साधकतम होनेसे प्रत्यक्षप्रमाणरूप है । किन्तु सुखदु ख सम्बन्ध की स्मृति इन्द्रियार्थसन्निकर्षकी सहायतासे 'उसी तरह यह है' इस सादृश्यज्ञानको उत्पन्न करती है अत वह प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है । सादृश्यज्ञान तो 'उसी तरह यह भी सुख साधन है' इस अनुमानरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण अनुमान प्रमाणरूप है । क्योंकि सुखसाधनत्वरूप शक्तिका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे नही हो सकता, क्योंकि शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे सन्निहित नही है । आत्माका मनरूप इन्द्रियसे सन्निकर्ष होनेपर सुखादिका ज्ञान होता है । यहाँ सुखादिज्ञान फलरूप है तथा मनरूप इन्द्रिय एव आत्मा और मनका सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाणरूप होते है । इसी तरह सर्वत्र साधकतम अशमे प्रमाणरूपता तथा कार्यरूपी अशमे फलरूपताका विचारकर प्रमाण-फलविभाग समझ लेना चाहिए ।

§ २९ ग्रन्थकारने इसी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' सूत्रको पद्यरूपमे परिवर्तित करनेकी इच्छासे 'सन्निकर्ष' की जगह 'सम्पर्क' शब्दका प्रयोग किया है । सम्पर्कका अर्थ है सम्बन्ध, अर्थात् सन्निकर्ष । अव्यभिचारि पदके आगे आया हुआ 'च' शब्द अन्य विशेषणोका समुच्चय करता है । 'अव्यभिचारिकम्' इस पाठमे अव्यभिचारीको ही अव्यभिचारिक (स्वार्थमे क प्रत्यय करनेपर) कहते है । व्यपदेश—शब्दकल्पना । इस व्याख्यामे भी 'यत.' शब्दका अध्याहार कर लेना चाहिए ।

§ ३१. "योगिप्रत्यक्षं[1] तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद्द्विविधं युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च।[2] तत्र समाध्यैकाग्र्यवतां योगजधर्मेश्वरादिसहकृतादात्मान्तःकरणसंयोगादेव बाह्यार्थसंयोगनिरपेक्षं[3] यदशेषार्थग्रहणं तद्युक्तानां प्रत्यक्षम्। एतच्च निर्विकल्पकमेव भवति, विकल्पतः समाध्यैकाग्र्यानुपपत्तेः। इदं चोत्कृष्टयोगिन एव विज्ञेयं योगिमात्रस्य तदसंभवात्। असमाध्यवस्थायां योगिनामात्ममनोबाह्येन्द्रियरूपाद्याश्रयचतुष्कसंयोगाद्रूपादीनाम् आत्ममनःश्रोत्रत्रयसंयोगाच्छब्दस्य, आत्ममनोद्वयसंयोगात्सुखादीनां च यद्ग्रहणं तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम्। तच्च निर्विकल्पकं सविकल्पकं च प्रतिपत्तव्यम्।" विस्तरार्थिना तु न्यायसारटीका विलोकनीयेति।

§ ३२. अथानुमानलक्षणमाह 'अनुमानं तु तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत्पूर्ववच्छेषवच्चैव' इत्यादि। अत्र चैवशब्दौ पूर्ववदादीनामर्थबाहुल्यसूचकौ। तथाशब्दश्चकारार्थः समुच्चये।[4] शेषं तु[5] सूत्रव्याख्यैव[6] व्याख्यास्यते। सूत्रं त्विदम्—"तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं, पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च" [ ] इति। एके व्याख्यान्ति—अत्रैकस्य पूर्वकशब्दस्य सामान्यश्रुत्या लुप्तनिर्देशो द्रष्टव्यः।

---

§ ३१ योगिप्रत्यक्ष दूरदेशवर्ती अतीतानागतकालवर्ती तथा सूक्ष्मस्वभाववाले यावत् अतीन्द्रिय पदार्थोको जानता है। योगिप्रत्यक्ष स्वामीके भेदसे दो प्रकारका है। १ युक्त-योगिप्रत्यक्ष, २ वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष। समाधिसे जिनका चित्त परम एकाग्रताको प्राप्त हुआ है उन युक्त योगियोको, योगजधर्म तथा ईश्वरादि जिसमे सहकारी है ऐसे आत्मा तथा अन्तःकरणके संयोगमात्रसे जो सम्पूर्णपदार्थोका यथावत् परिज्ञान होता है वह युक्त-योगिप्रत्यक्ष है। इसमे बाह्य अर्थोके सन्निकर्ष की आवश्यकता नही है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है, क्योकि समाधिकी एकाग्रतामे विकल्पकी सम्भावना ही नही है, विकल्प होते ही समाधिकी एकाग्रता टूट जाती है।। यह प्रत्यक्ष उत्कृष्ट योगियोको ही होता है, सभी योगियोको इसके होनेका नियम नही है। समाधिसे रहित अवस्थामे वियुक्त समाधिशून्य योगियोको, आत्मा, मन, बाह्य इन्द्रियाँ तथा रूपादि पदार्थ इन चारके सन्निकर्ष से रूपादिका, आत्मा मन और श्रोत्र इन तीनके सन्निकर्षसे शब्दका तथा आत्मा और मन दो के संयोगसे सुखादिका जो ज्ञान होता है वह वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष कहलाता है। यह निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनो प्रकारका होता है। इनका विशेष विवरण न्यायसारटीकामे देखना चाहिए।

§ ३२ 'अनुमान तु तत्पूर्व त्रिविध भवेत्। पूर्ववच्छेषवच्चैव' इत्यादि श्लोकाशमे अनुमानका स्वरूप कहा गया है। श्लोकमे आये हुए 'च' और 'एव' शब्द पूर्ववत् आदि पदोकी अनेक व्याख्याओको सूचना देते है। 'तथा' शब्द चकारके स्थानमे प्रयुक्त हुआ है। यह समुच्चयार्थक है। श्लोककी शेष व्याख्या 'पूर्ववत्' आदि न्यायसूत्रकी निम्नलिखित व्याख्यासे ही गतार्थ हो जाती है। "तत्पूर्वक त्रिविधमनुमान पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्ट च" यह न्यायदर्शनका अनुमानसूत्र है। कोई व्याख्याकार 'तत्पूर्वक'मे एक पूर्वकशब्दका लुप्तनिर्देश मानते है। उनका तात्पर्य है कि 'तत्पूर्वक'मे दो पूर्वकशब्द थे उनमे-से समानश्रुति होनेके कारण व्याकरणके नियमके अनुसार एक पूर्वकशब्दका लोप हो गया है और एक पूर्वक शब्द शेष बचा है। अत अर्थ करते समय 'तत्पूर्वक

---

१ "योगिप्रत्यक्ष तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद्द्विविधम्। युक्तावस्थायामयुक्तावस्थाया चेति। यत्र युक्तावस्थायामात्मान्तःकरणसयोगादेव धर्मादिसहितादशेषार्थग्राहकम्। वियुक्तावस्थाया चतुष्टयत्रयद्वयसनिकर्षाद्ग्रहणम्। यथासभावन योजनीयम्। अत्रैवार्षमप्यन्तर्भूत प्रकृष्टधर्मजत्वाविशेषादिति। तच्च द्विविध सविकल्पक निर्विकल्पक चेति। तत्र सज्ञादिसबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकम्। यथा देवदत्तोऽय दण्डीत्यादि। वस्तुस्वरूपमात्रावभासक निर्विकल्पक यथा प्रथमाक्षसनिपातज ज्ञानम्। युक्तावस्थाया योगिज्ञान चेति।" –न्यायसा० १ पृ० ३। २. योगधर्म–आ०, क०, प० २। ३ यदि शेषार्थसयोगनिरपेक्ष यदशे–भ० २। ४ –श्चकारोऽर्थस–भ० २। ५ सूत्र व्याख्येयस्य–क०। ६. –ख्यात भावि सूत्रं भ० २।

तत्पूर्वकमित्यत्र तच्छब्देन प्रत्यक्षं प्रमाणमभिसंबध्यते। तत्पूर्वकं प्रत्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमित्यर्थः। तत्पूर्वकपूर्वकं लिङ्गिज्ञानम्। अयमत्र भावः—प्रत्यक्षाद्धूमादिज्ञानमुत्पद्यते, धूमादिज्ञानाच्च वह्न्यादिज्ञानमिति। इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्ववर्जाणि च ज्ञानादिविशेषणानि प्रत्यक्षसूत्रादत्रापि संबन्धनीयानि। एषां च व्यवच्छेद्यानि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं परिभाव्यानि।

§ ३३. तथा द्वितीयलिङ्गदर्शनपूर्विकाया [1]अविनाभावसंबन्धस्मृतेस्तत्पूर्वकपूर्वकत्वात्तज्जनकस्यानुमानत्वनिवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिग्रहणं कार्यं, स्मृतेस्त्वर्थं विनापि भावात्। ततोऽयमर्थः। अर्थोपलब्धिरूपमव्यभिचरितमव्यपदेश्यं व्यवसायात्मकं ज्ञानं तत्पूर्वकपूर्वकं यतो लिङ्गादेः समुपजायते तदनुमानमिति। तथा ते द्वे प्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिसंबन्धदर्शनं [2]लिङ्गदर्शनं च पूर्वं यस्य तत्तत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणादनुमानस्याध्यक्षफलद्वयपूर्वकत्वं ज्ञापितं द्रष्टव्यम्[3]। तथा

पूर्वक' यही दृष्टिमे रखना चाहिए। 'तत्पूर्वक'मे 'तत्' शब्दसे प्रत्यक्ष प्रमाण अभिप्रेत है अतएव तत्पूर्वक शब्दसे प्रत्यक्षफलज्ञान अर्थात् लिंगज्ञानका बोध होता है। अत तत्पूर्वक अर्थात् लिंगज्ञान जिसका पूर्व अर्थात् कारण है ऐसे लिंगज्ञानको तत्पूर्वक अर्थात् अनुमिति कहते है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षसे धूमादि लिंगका ज्ञान होता है और धूमादिलिंगज्ञानसे अग्नि आदि लिंगी अर्थात् साध्यका ज्ञान होता है। इस अनुमानके लक्षणमे 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' विशेषणके सिवाय प्रत्यक्षके लक्षणमे प्रयुक्त अन्य सभी विशेषणोकी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। और उन विशेषणोसे विपर्यय आदि ज्ञानोकी व्यावृत्ति भी यहाँ कर लेनी चाहिए।

§ ३३ द्वितीयलिंगदर्शन अर्थात् लिंगके दूसरे बार होनेवाले प्रत्यक्षसे अविनाभाव सम्बन्धकी स्मृति भी होती है, अत यह स्मृति भी तत्पूर्वक कही जा सकती है अत इस स्मृतिको उत्पन्न करनेवाले द्वितीयलिंगदर्शनमे भी अनुमानप्रमाणताका प्रसग होता है अत इसके वारणके लिए अनुमानके लक्षणमे 'अर्थोपलब्धि'का अध्याहार कर लेना चाहिए। स्मृति तो अर्थके बिना भी हो जाती है अत वह अर्थोपलब्धिरूप नही है अत इसको उत्पन्न करनेवाला द्वितीयलिंगदर्शन अनुमानप्रमाण नही कहा जा सकता। इसका सार यह है कि अव्यभिचारी अव्यपदेश्य व्यवसायात्मक तत्पूर्वकपूर्वक ज्ञानरूप अर्थात् (प्रत्यक्ष प्रमाणसे होनेवाले लिंगदर्शनसे उत्पन्न लिंगिज्ञानरूप अर्थोपलब्धि जिस लिंग आदिसे उत्पन्न होती है उसे अनुमान कहते हैं। इस तरह दो प्रत्यक्ष अर्थात् लिंगलिंगिसम्बन्धदर्शन और लिंगदर्शन जिसके कारण है वह तत्पूर्वक ज्ञान अर्थात् अनुमान

---

१. –भाविस–भ० २। २. लिङ्गिदर्शन आ०। ३ अथेदानी सूत्रमनुसराम, तत्पूर्वकमित्यादि, अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देश तत्पूर्वकमिति लक्षणम्, तदिति सर्वनाम्ना प्रक्रान्त प्रत्यक्षमवमृश्यते तत् पूर्वं कारण यस्य तत्तत्पूर्वकम्, एतावत्युच्यमाने निर्णयोपमानादौ तत्पूर्वके प्रसङ्गो न व्यावर्त्तते इति तद्व्यावृत्तये द्विवचनान्तेन विग्रह प्रदर्शयितव्य, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्येति यदेकमविनाभावग्राहि प्रत्यक्षं व्याख्यातं यच्च द्वितीय लिङ्गदर्शन ते द्वे प्रत्यक्षे अनुमानस्यैव कारण नोपमानादे, तत्र प्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्ष स्मरणद्वारेण तत्कारण लिङ्गदर्शन तु स्वत एव।"—न्यायम० प्रमा० पृ० ११३। "तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धदर्शन लिङ्गदर्शनं चाभिसंबध्यते, लिङ्गलिङ्गिनो संबद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गिस्मृतिरभिसंबध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।"—न्यायभा० १।१।५। "तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्। यदा तानीति विग्रह तदा समस्तप्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्ठते इति तत्पूर्वकत्वमुक्तं भवति। यदापि विवेकात् ते पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। ते च द्वे प्रत्यक्षे। लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्य प्रत्यक्ष, लिङ्गदर्शनं द्वितीयम्। बुभुत्सावतो द्वितीयाल्लिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकाल स्मृति स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाण परामर्शरूपमनुमान भवति।"—न्यायवा० पृ० ४३।

तानि प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणानि पूर्वं यस्य तत्तत्पूर्वकमिति विग्रहविशेषाश्रयणेन सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमप्यनुमानस्य लभ्यते। न च तेषां पूर्वमप्रकृतत्वात्कथं तच्छब्देन परामर्श इति प्रेर्यम्। यतः साक्षादप्रकृतत्वेऽपि प्रत्यक्षसूत्रे व्यवच्छेद्यत्वेन प्रकृतत्वादिति। अस्यां व्याख्यायां [1] नाव्याप्त्यादिदोषः कश्चनापि।

§ ३४. ये तु पूर्वशब्दस्यैकस्य लुप्तस्य निर्देशं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षफलेऽनुमानत्वप्रसक्तिः, तत्फलस्य प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वकत्वात्। अथाकारकस्याप्रमाणत्वात् [2] कारकत्वं लभ्यते, ततोऽयमर्थः—अव्यभिचारिताव्यपदेश्यव्यवसायात्मिकार्थोपलब्धिजनक [3] मेवाध्यक्षफलं लिङ्गज्ञानमनुमानमिति चेत्; उच्यते—एवमपि विशिष्टज्ञानमेवानुमानं प्रसज्यते। न च ज्ञानस्यैवानुमानत्वम्, "स्मृत्यनुमानागमसशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहा सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि" [न्यायभा० १।१।१६] इति वचनात् सर्वस्य बोधाबोधरूपस्य विशिष्टफलजनकस्यानुमानत्वादित्य-

---

है। ऐसा द्विवचनान्त तत् शब्दसे विशेष विग्रह करनेसे सूचित होता है कि अनुमान प्रत्यक्षप्रमाणके फलरूप दो प्रत्यक्षज्ञानोसे उत्पन्न होता है। इसी तरह वे प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण जिसके पूर्वमे है उस तत्पूर्वकज्ञानको अनुमान कहते है। ऐसे बहुवचनान्त तत् शब्दसे विग्रह करनेसे यह ज्ञात हो ज.ता है कि—अनुमानमे प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण कारण होते है।

शंका—प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणोका तो पहले प्रकरण नही आया है इसलिए बहुवचनान्त तत् शब्दके विग्रहमे उनका ग्रहण कैसे किया जा सकता है?

समाधान—यद्यपि अन्य प्रमाणोका साक्षात् प्रकरण नही है फिर भी प्रत्यक्षके लक्षण सूत्रमे उन अन्य प्रमाणोकी व्यावृत्ति तो की ही गयी है। अत व्यवच्छेद्य रूपमे उनका प्रकरण था ही। अतः तत् शब्दसे उनका ग्रहण किया जा सकता है।

इस तरह पूर्व शब्दका लुप्त निर्देश मानकर की जानेवाली अनुमान की यह व्याख्या अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि सभी दोषोसे रहित है। उसमे कोई दोष नही है।

§ ३४. जो व्याख्याकार एक पूर्वशब्दके लोपका निर्देश नही मानते, उनके मतमे प्रत्यक्षके फलमे भी अनुमानत्वका प्रसग होता है, क्योकि प्रत्यक्षका फल भी प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वक तो होता ही है, अत तत्पूर्वक होनेसे वह भी अनुमान रूप हो जायगा।

शंका—प्रमाके प्रति साधकतम कारकको प्रमाण कहते है, इसलिए अकारक प्रमाण नही बन सकता। अतएव प्रत्यक्ष फलमे, जो कि अकारक है, अनुमानत्वका प्रसग नही हो सकता। तात्पर्य यह कि जो प्रत्यक्षप्रमाणका फलभूत लिगज्ञान अव्यभिचरित अव्यपदेश्य तथा व्यवसायात्मकरूप अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करता है वही अनुमान प्रमाण रूप हो सकता है, अन्य नही।

समाधान—आपकी इस व्याख्याके अनुसार तो विशिष्ट ज्ञान ही अनुमानरूप हो सकता है। पर मात्र ज्ञान ही तो अनुमानरूप नही होता, शास्त्रमे तो अज्ञानात्मक पदार्थोको भी लिगिज्ञानमे साधकतम होनेसे अनुमानरूप कहा है। न्यायसूत्रमे ही कहा है कि—"स्मृति, अनुमान, आगम, सशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, ऊह, सुखादिका प्रत्यक्ष, तथा इच्छा आदि मनके लिग है।" इसमे स्मृति आदि ज्ञानोकी तरह इच्छा आदि अज्ञानात्मक पदार्थोको भी लिंगअनुमान माना ही है। सूत्रकारका तो यह अभिप्राय है कि—लिगिज्ञानरूप विशिष्टफलको उत्पन्न

---

१ –व्यासादि –भ० २। २ –णत्वात् साधकतमस्य का०–आ०। –माणत्वात् असाधकतमस्य का–प० १, २। भ० १ प्रतौ तु 'अकारकस्य' इति पदस्य टिप्पणीरूपेण 'असाधकतमस्य' इति लिखितम्, तेन ज्ञायते यत् 'साधकतमस्य, असाधकतमस्य' वेति पदं टिप्पणीगतमेव मूले प्रक्षिप्तम्।
३ –जनकमध्यक्ष–भ० २।

[1]व्याप्तिर्लक्षणदोषः। अतोऽर्थोपलब्धिरव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा तत्पूर्वकपूर्विका यतस्तदनुमानमित्येव [2]व्याख्यानं युक्तिमत्।

§ ३५. नन्वत्रापि त्रिविधग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; अनुमानविभागार्थत्वात्। पूर्ववदादिग्रहणं च स्वभावादिविषयप्रतिषेधेन पूर्ववदादिविषयज्ञापनार्थम्। पूर्ववदाद्येव त्रिविधविभागेन विवक्षित न स्वभावादिकमिति प्रथमं व्याख्यानम्।

§ ३६. अपरे त्वेवं सूत्रं व्याचक्षते[3]—तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमिति त्रिभेदमनुमानम्। के पुनर्भेदा इत्याह–पूर्ववदित्यादि। पूर्वशब्देनान्वयो व्यपदिश्यते, व्यतिरेकात्प्रागवसीयमानत्वात् पूर्वोऽन्वयः, स एवास्ति यस्य तत्पूर्ववत्केवलान्वय्यनुमानम् ॥१॥ शेषो व्यतिरेकः, स एवास्ति यस्य तच्छेषवत् केवलव्यतिरेकि च ॥२॥ सामान्येनान्वयव्यतिरेकयोः साधनाङ्गयोर्यद्दृष्टं तत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेकि चेति ॥३॥

करनेवाले पदार्थको अनुमान कहना चाहिए, चाहे वह पदार्थ ज्ञानरूप हो अथवा अज्ञानरूप। इस तरह उक्त व्याख्यामे अव्याप्ति दोष आता है। अत अव्यभिचरित आदि विशेषणोसे विशिष्ट तत्पूर्वकपूर्विका अर्थोपलब्धि जिससे भी उत्पन्न हो वह अनुमान है। यह ज्ञानरूप भी हो सकता है तथा अज्ञानरूप भी।' यही व्याख्या युक्तिसगत है।

§ ३५ शंका—जब सूत्रमे 'पूर्ववत्' आदि तीन नाम गिना ही दिये है तब फिर त्रिविधपदका प्रयोग किसलिए है? वह तो निरर्थक ही मालूम होता है?

समाधान—त्रिविध पद अनुमानके भेदोका सूचक होनेसे सार्थक है। 'पूर्ववत्' आदिका ग्रहण तो इसलिए है कि—वे तीन प्रकार 'पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट' रूपसे ही हो सकते है, स्वभाव, कार्य आदि रूप से नही। यह प्रथम व्याख्यान हुआ।

भावात्केवलव्यतिरेकी । प्रसङ्गद्वारेण वा केवलव्यतिरेकी । यथा नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम-प्राणादिमत्त्वप्रसङ्गाल्लोष्टवदिति प्रसङ्गः । प्रयोगस्त्वित्थम्– इदं जीवच्छरीरं सात्मकम्, प्राणादि-मत्त्वात्, यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमद्यथा लोष्टमिति प्रसङ्गपूर्वकः केवलव्यतिरेकीति ॥३॥

§ ३८. एवमनुमानस्य भेदान् स्वरूपं च व्याख्याय विषयस्य त्रैविध्यप्रतिपादनायैवमाहुः– अथवा तत्पूर्वकमनुमानं त्रिविधं त्रिप्रकारम् । के पुनस्त्रयः प्रकारा इत्याह पूर्ववदित्यादि[1], पूर्वं कारणं विद्यते यत्रानुमाने तत्पूर्ववत्, यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा विशिष्टमेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । अत्र कारणशब्देन कारणधर्म उन्नतत्वादिर्ग्राह्यः । प्रयोगस्त्वेवम्, अमी मेघा वृष्ट्युत्पादकाः, गम्भीरगर्जितत्वे[2]ऽचि(त्वे चि)रप्रभावत्वे च [3]सत्यत्युन्नतत्वात्, य एवं ते वृष्ट्यु-त्पादका यथा वृष्ट्युत्पादकपूर्वमेघाः, तथा चामी, तस्मात्तथा ।

§ ३९. ननून्नतत्वादिधर्मयुक्तानामपि मेघानां वृष्ट्यजनकत्वदर्शनात् कथमैकान्तिकं कारणा-त्कार्यानुमानमिति चेत् । न, विशिष्टस्योन्नतत्वादेर्धर्मस्य गमकत्वेन विवक्षितत्वात् । न च तस्य

कादाचित्क—कभी-कभी नियत समयमे होने है, अनित्य है, जो सर्वज्ञकर्ताके द्वारा उत्पन्न नही किया गया वह कादाचित्क—अनित्य भी नही है जैसे कि आकाश आदि । यहाँ समस्त कार्योंको पक्ष किया है, इसलिए ससारमे पक्षसे बहिर्भूत कोई कार्य ही नही बचा जिसे सपक्ष मानकर सपक्ष-सत्त्व रूपकी सिद्धि की जा सके । अत यह हेतु केवलव्यतिरेक व्याप्ति मिलनेके कारण केवलव्यति-रेकी है । अनिष्टका प्रसग देकर भी केवलव्यतिरेकी हेतुका प्रयोग किया जाता है । जैसे—यह जीवित शरीर आत्मशून्य नही है अन्यथा इसमे पत्थर आदिकी तरह प्राणादिके अभावका प्रसग होगा । इसके प्रयोगका प्रकार यह है—यह जीवित शरीर सात्मक–आत्मासे युक्त है, क्योकि इसमे प्राण आदि पाये जाते है, जो सात्मक नही है वह प्राणादिवाला भी नही है जैसे कि पत्थर । यह प्रसगपूर्वक केवलव्यतिरेकी हेतुका उदाहरण है ।

§ ३८ इस तरह अनुमान सूत्रकी भेद तथा स्वरूपकी दृष्टिसे व्याख्या करके अब विषय-दृष्टिसे उसके तीन विषयोका निर्देश करनेके लिए तीसरी व्याख्या करते है । अथवा, तत्पूर्वक अनुमान तीन प्रकारका है । पूर्ववत् आदि तीन प्रकार है । पूर्ववत्—जिस अनुमानमे पूर्व–कारण मौजूद हो वह पूर्ववत् है अर्थात् जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है वह पूर्ववत् अनुमान है । जैसे विशिष्ट—काले और घने मेघोका उदय हो अर्थात् विशिष्ट मेघोदय देखकर भविष्यत कालमे पानी बरसनेका अनुमान । यहाँ कारण शब्दसे कारणके उन्नतत्व आदि धर्मोका ग्रहण करना चाहिए । इसका प्रयोग इस प्रकार है—ये मेघ वृष्टि अवश्य करेगे, क्योकि ये खूब घडघडाकर गम्भीर गर्जना कर रहे है, बहुत काल तक स्थिर रहनेवाले है, जल्दी ही हवामे उडनेवाले नही है । तथा उन्नत–खूब सघन है, काले है । जो मेघ उक्त विशिष्टता रखते है वे अवश्य ही बरसते है जैसे कि पहले देखे गये बरसनेवाले मेघ, ये मेघ भी तो उसी प्रकारके है, इसलिए ये भी अवश्य ही बरसेगे ।

§ ३९. शंका—आपके द्वारा कहे गये उन्नतत्व आदि धर्मवाले भी बहुत-से मेघ केवल [illegible] कर ही रह जाते है, बरसते तो नही है, इसलिए कारणसे कार्यका अनुमान ऐकान्तिक-सत्य कैसे कहा जा सकता है ? व्यभिचारी भी हो सकता है ।

समाधान—यहा बरसनेवाले मेघोमे रहनेवाले उन्नतत्व आदि विशिष्ट धर्मोकी विवक्षा है ।

---

१ 'पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते इति भाष्यम् । [illegible] । [illegible] —न्यायवा० पृ० ४६, ४७ । २ [illegible] । ३ [illegible] ।

विशेषो नासर्वज्ञेन निश्चेतु पार्यत इति वक्तु शक्यम्, सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि–मशकादिव्यावृत्तधूमादीनामपि स्वसाध्याव्यभिचारित्वमसर्वविदा न निश्चेतु शक्यमिति वक्तु शक्यत एव। अथ "सुविवेचित कार्य कारण न व्यभिचरति" इति न्यायाद्धूमादेर्गमकत्वम्, तत्तर्ह्यत्रापि समानम्। यो हि भविष्यद्वृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तु समर्थ स एव तस्मात्तामनुमिनोति, नागृहीतविशेष। तदुक्तम्,–"अनुमातुरयमपराधो नानुमानस्य" इति।

§ ४० शेष कार्य तदस्यास्ति तच्छेषवत्, यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, यथा नदीपूरदर्शनाद्वृष्टि। अत्र कार्यशब्देन कार्यधर्मो लिङ्गमवगन्तव्यम्। प्रयोगस्त्वित्थम्,–उपरिवृष्टिमद्देशसंबन्धिनी नदी, शीघ्रतरस्रोतस्त्वे फलफेनसमूहकाष्ठादिवहनत्वे च सति पूर्णत्वात्, तदन्यनदीवत्।

दिखावटी हवासे काफूर होनेवाले मेघोके उन्नतत्व धर्म तो व्यभिचारी होते ही। 'बरसनेवाले मेघोके उन्नतत्व आदि विशिष्ट धर्मोको हम लोग जान ही न सकते हो' यह बात तो नही है। यदि हम लोग इतना भी विवेक न कर सके कि 'कौन-से मेघ बरसनेवाले है तथा कौन-से केवल गरजनेवाले' तब तो हमारे सभी अनुमानोका उच्छेद हो जायगा। क्योकि यह भी तो कहा जा सकता है कि—'जाले मच्छर आदिसे धूमका भेद जान भी लिया जाय, पर वह धूम सदा अपने साध्यका व्यभिचारी होगा यह जानना असर्वज्ञोके सामर्थ्यकी बात नही है' लिहाजा धूमसे अग्निका अनुमान करना भी कठिन हो जायगा। "अच्छी तरह देखा एव विचारा गया कार्य कारणका व्यभिचारी नही हो सकता" इस न्यायके अनुसार धूम हेतुको यदि सत्य माना जाता है तो यह न्याय कारण हेतुमे भी अच्छी तरह लगाया जा सकता है। कि जो व्यक्ति बरसनेवाले मेघोके अव्यभिचारी उन्नतत्व आदि विशेष धर्मोका विवेक अच्छी तरह कर सकता है वह अवश्य ही विशिष्ट मेघोदयसे भविष्यद् वृष्टिका अनुमान करेगा। अभी भी साधारण किसान बादलोका रग-ढग देखकर पानी बरसनेका अव्यभिचारी अनुमान करते ही है। हा, जो मन्द बुद्धि केवल गरजनेवाले तथा बरसनेवाले मेघोके धर्मोमे विवेक नही कर सकता उसे कारणसे कार्यके अनुमान करनेकी अनधिकार चेष्टा नही करनी चाहिए। इसी विषयको शास्त्रमे भी कहा है कि—"यह तो अनुमान करनेवालेकी बुद्धिका दोष है, उसमे अनुमानका कोई दोष नही है।"

§ ४०. शेष अर्थात् कार्य। कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् अनुमान कहते है। जैसे नदीकी बाढ देखकर ऊपरी देशोमे हुई वृष्टिका अनुमान करना। यहाँ कार्य शब्दसे कार्यके धर्मभूत हेतुका ग्रहण करना चाहिए। इसका प्रयोग इस प्रकार है—इस नदीके ऊपरी प्रदेश मे वृष्टि हुई है, क्योकि इसका प्रवाह बहुत तेज है, फल फेन तथा किनारेकी लकडी आदिको बहानेवाला तथा पूर्ण है, जैसे कि अन्य बाढवाली नदी।

---

१ तुलना—"यत्नत परीक्षित कार्य कारण नातिवर्तते इति चेत् स्तुत प्रस्तुतम्।"—अष्ट० श०. अष्टसह० पृ० ७२। प्रमेयरत्नमा० ३।१०१। लघी० ता० पृ० ४९। सुविवेचित कार्य कारण न व्यभिचरति।"—न्यायकुमु० पृ० ६०४। २ तस्मात्तमनु—आ०, क०। सन्मति० टी० पृ० २६६। ३ "प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येति।"—अष्टश० अष्टस० पृ० ७२ न्यायकुमु० पृ० ७३। स्या० रत्ना० पृ० २६९। "प्रमातुरपराधोऽय विशेष यो न पश्यति। नानुमानस्य दोषोऽस्ति प्रमेयाव्यभिचारिण॥"—न्यायम० प्रमा० पृ ११८। ४ शेष का—आ०, क०, ५ "शेषवत्—तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदक नद्या पूर्णत्व शीघ्रत्व च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते—भूता वृष्टिरिति।"—न्यायभा० १।१।५। "उपरि वृष्टिमद्देशसबन्धिनी नदी स्रोत शीघ्रत्वे सति पूर्णफलकाष्ठादिवहनवत्त्वे सति पूर्णत्वात् पूर्णवृष्टिमन्नदीवदिति। न्यायवा० पृ० ४७।

§ ४१. [1]सामान्यतोदृष्टं [2]नाम अकार्यकारणभूतेनाविनाभाविना लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमः, यथा बलाकया सलिलस्येति। प्रयोगस्त्वयम्—बलाकाजहद्वृत्तिः प्रदेशो जलवान्बलाकावत्त्वात्, संप्रतिपन्नदेशवत्। यथा [3]वान्यवृक्षोपरिदृष्टस्यादित्यस्यान्यपर्वतोपरिदर्शनेन गतेरवगमः। प्रयोगः पुनः—रवेरन्यत्र दर्शनं गत्यविनाभूतं, अन्यत्र दर्शनत्वात्, देवदत्तादेरन्यत्र दर्शनवत्। अत्र यथा देवदत्तादेरन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनं व्रज्यापूर्वं, तथादित्यस्यापीति, अन्यत्र दर्शनं च[4] न गतेः कार्यं सयोगादेर्गतिकार्यत्वात्।

§ ४२. अन्ये त्वेवं वर्णयन्ति। [5]समानकालस्य स्पर्शस्य रूपादकार्यकारणभूतात्प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टानुमानप्रभवा। अत्र प्रयोगः, ईदृशस्पर्शमिदं वस्त्रमेवंविधरूपत्वात्, तदन्यतादृशवस्त्रवत्। एकं चूतं फलितं दृष्ट्वा पुष्पिता जगति चूता इति प्रतिपत्तिर्वा। प्रयोगस्तु, पुष्पिता जगति चूताश्चूतत्वात्, दृष्टचूतवदित्यादि।

---

§ ४१ सामान्यतोदृष्ट—कार्य और कारणसे भिन्न ऐसे किसी भी अविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान करना सामान्यतोदृष्ट है, जैसे बगुलाको देखकर जलका अनुमान करना। प्रयोग—जिसमे बगुला सदा रहते है ऐसा यह प्रदेश जलवाला है, क्योकि यहाँ बगुला पाये जाते हैं, जैसे कोई बगुलावाला जलाशय। अथवा किसी वृक्षके ऊपर दिखाई देनेवाले सूर्यको कालान्तरमे पर्वत आदिपर देखकर उसकी गतिका अनुमान करना भी सामान्यतोदृष्ट है। प्रयोग—समीपवर्ती वृक्षपर दिखाई देनेवाले सूर्यका थोडी ही देरमे दूरवर्ती पर्वतपर दिखाई देना गतिका अविनाभावी है अर्थात् वह गतिके बिना नही हो सकता, क्योकि वह एक जगह देखी गयी वस्तुका अन्यत्र दर्शन है, जैसे एक जगह देखे गये देवदत्तका अन्यत्र दिखाई देना। जैसे एक जगह देखे गये देवदत्तका दूसरे स्थानमे दिखाई देना गमनपूर्वक है उसी तरह सूर्यका भी। यह 'अन्यत्र दिखाई देना' हेतु गतिका कार्य नही है, क्योकि गतिके कार्य तो सयोग आदि होते है।

§ ४२. कोई व्याख्याकार कहते है कि रूप देखकर तत्समानकालवर्ती स्पर्शका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। यहाँ रूप न तो स्पर्शका कार्य ही है और न कारण ही। प्रयोग—इस वस्त्रका अमुक स्पर्श होना चाहिए, क्योकि इसमे अमुक रूप पाया जाता है, उस प्रकारके रूप-स्पर्श वाले अन्य वस्त्रकी तरह। अथवा—एक आमके वृक्षको फलोसे लदा हुआ देखकर 'जगत्के सब आम्र वृक्षोमे फूल-बौर आ गये है' यह अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। प्रयोग—जगत्के सब आमोके वृक्षोमे बौर आ गये है क्योकि वे आमके वृक्ष है जैसे कि सामने दिखाई देनेवाला बौरवाला आमका वृक्ष।

---

१ "सामान्यतोदृष्ट नाम अकार्याकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषेण विशेष्यमाणो धर्मी गम्यते तत् सामान्यतोदृष्ट यथा बलाकया सलिलानुमानम्। कथ पुनर्बलाकया सलिलानुमानम्? यावानस्य देशो बलाकयाजहद्वृत्तित्वेन प्रसिद्धो भवति तावन्तमन्तर्भाव्य वृक्षादिकमर्थं पक्षीकृत्य बलाकावत्त्वेन साधयति।" —न्यायवा० पृ० ४७। २ नाम कार्य आ०। ३ "सामान्यतोदृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति। सामान्यतोदृष्ट नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनो सबन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्याद् अप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा। इच्छादयो गुणा गुणाश्च द्रव्यसंस्थाना तद् यदेषा स्थान स आत्मेति।" न्यायभा० १।१।५। ४ च गते क०, भ० २। ५ "सामान्यतोदृष्ट तु यदकार्यकारणभूताल्लिङ्गात्तादृशस्यैव लिङ्गिनोऽनुमान यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम्, रूपरसयो समवायिकारणमेकं कपित्थादि द्रव्य न तु तयोरन्योन्य कार्यकारणभाव।" न्यायम० प्रमा० पृ० १९।

§ ४५. यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदा[1] प्रत्यक्षः साध्यते तत्सामान्यतोदृष्टम्[2] । यथेच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वाद्रूपवत् । उपलब्धिर्वा करणसाध्या क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत् । असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वाच्चित्रादिवैचित्र्यवदित्यादि सामान्यतोदृष्टस्यानेकमुदाहरणं मन्तव्यम् ।

§ ४६. ननु साध्यधर्मस्य सर्वदाप्रत्यक्षत्वेन साध्येन हेतोः कथं व्याप्तिग्रहणमिति चेत्, उच्यते । धर्मिण इच्छादेः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वं गुणत्वकार्यत्वादेरपि साधनस्य तद्धर्मत्वं प्रतिपन्नमेव । पारतन्त्र्येण च स्वसाध्येन तस्य व्याप्तिरध्यक्षतो रूपादिष्ववगतैव । साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिरपि प्रमाणान्तरादेवावगता ।

§ ४७. नन्वेवं[3] पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टानां परस्परतः को विशेषः । उच्यते । इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववत्, तदेवाश्रयान्तरबाधया विशिष्टाश्रयत्वेन बाधकेन प्रमाणेनावसीयमानं शेषवतः फलम्, तस्य साध्यधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रत्यक्षस्यापि तत्र धर्मिणि सर्वदाप्रत्यक्षत्वं सामान्यतोदृष्टव्यपदेशनिबन्धनम् । अतस्त्रयाणामेकमेवोदाहरणम् ।

§ ४८ तदेव कारणादित्रैविध्यात्त्रिप्रकारं लिङ्गं प्रमितिं जनयत्तत्पूर्वकं सदनुमानमिति द्वितीयं व्याख्यानम्। अत्र व्याख्याद्वये प्रथमव्याख्यानमेव बहूनामध्ययनप्रभृतीनामभिमतम्। तत्र च पूर्ववदादीनां व्याख्या द्वितीयव्याख्याने[1] या चतुःप्रकाराभिहिता सैव[2] द्रष्टव्येति। अथ शास्त्रकार एव नानानामसमोहार्थं शेषव्याख्याप्रकारानुपेक्ष्यानुमानस्य त्रिविधस्य विषयज्ञापनाय पूर्ववदादीनि पदानि व्याख्यानयन्नाह 'तत्राद्यम्' इत्यादि। तत्र [तेषु पूर्ववदादिष्वाद्यं पूर्ववदनुमानं किमित्याह—कारणाल्लिङ्गात्कार्यस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं कार्यानुमानम्, इहानुमानप्रस्तावे, गीयते प्रोच्यते। कारणात्कार्यमनुमानमिहोदितमिति पाठो वा। तत्रास्तीति-शब्दाध्याहारे कारणात्कार्यमस्तीत्यनुमानम्। कारणात्कार्यमस्तीति ज्ञानमिहानुमानप्रस्ताव उदितं प्रोक्तम्। पाठद्वयेऽप्यत्र यल्लिङ्गिज्ञानमनुमानशब्देनोचे, तद्द्वितीयव्याख्यानकारिणा मतेन, न तु प्रथमव्याख्यानकर्तृमतेन। प्रथमव्याख्याकारिमतेन हि ज्ञानस्य हेतुरेवानुमानशब्दवाच्यः स्यात्। एवं शेषवत्यपि ज्ञेयम्। यत्र कारणात्स्वज्ञानविशिष्टात्कार्यस्य ज्ञानं भवति, तत्पूर्ववदनुमानम्। अत्र ह्यर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति वचनात्कार्यज्ञानमनुमानस्य फलं, तद्धेतुस्त्वनुमानं प्रमाणम्। तेनात्र कारणं वा तज्ज्ञानं वा कार्यकारणप्रतिबन्धस्मरणं वा कार्यं ज्ञापयत्पूर्ववदनुमानमिति ॥१७-१८-१९॥

§ ४९ तस्योदाहरणमाह। यथा—

§ ४८ इस प्रकार कारण आदिके भेदसे तीन प्रकारका लिंग प्रत्यक्ष होकर लिंगिविषयक प्रमिति को उत्पन्न करता है अतः वह अनुमान है। यह दूसरा व्याख्यान हुआ। इन दो व्याख्याओं मे पहली व्याख्या ही बहुत से अध्ययन आदि आचार्योको मान्य है। द्वितीय व्याख्यानमे पूर्ववत् आदिकी जो चार व्याख्याएँ की है वे सभीको अभिमत हैं। इन अनेक व्याख्या भेदोके जालमे शिष्यकी बुद्धि न उलझ जाय, वह भटक न जाय इसलिए ग्रन्थकार स्वयं अन्य व्याख्याओकी उपेक्षा करके त्रिविध हेतुओका विषय बतानेके लिए पूर्ववत् आदि पदोका व्याख्यान करते है—इन पूर्ववत् आदि हेतुओमे पहला पूर्ववत् अनुमान है। कारण रूप हेतुसे कार्य रूप साध्यके अनुमान अर्थात् ज्ञानको इस प्रकरणमे पूर्ववद् अनुमान अर्थात् कार्यानुमान (कार्यका अनुमान) कहते है। 'कारणात् कार्यमनुमानमिहोदितम्' ऐसा भी पाठ देखा जाता है। इस पाठमे 'अस्ति' शब्दका अध्याहार करके कारणसे 'कार्य है' ऐसा अनुमान-ज्ञान करना इस प्रकरणमे पूर्ववत् अनुमान कहा गया है। यह अर्थ होता है। दोनो ही पाठोमे जो लिंग-ज्ञानको अनुमान शब्दसे कहा गया है वह 'पूर्ववत्' सूत्रके द्वितीय व्याख्याकारके मतसे है, प्रथम व्याख्याकारके मतसे नही। प्रथम व्याख्याकारके मतसे तो उक्त साध्यका ज्ञान 'यतः' जिससे होता है वह हेतु ही अनुमान शब्दका वाच्य होता है। इसी तरह शेषवत् आदिकी व्याख्यामे भी दो पक्ष समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि जहाँ स्वज्ञानविशिष्ट कारणसे अर्थात् ज्ञायमान कारणसे कार्यका ज्ञान होता है वह पूर्ववत् अनुमान है। यहाँ "अर्थोपलब्धिके कारणको प्रमाण कहते हैं" ऐसा शास्त्रकारोका कथन होनेसे कार्यज्ञान तो अनुमानका फल हुआ है तथा यह कार्यज्ञान जिस हेतुसे होता है वह हेतु अनुमान प्रमाण रूप है। इसलिए कारण या कारणका ज्ञान अथवा कार्य-कारण रूप सम्बन्धका स्मरण सभी कार्यका अनुमान-ज्ञान करानेके कारण पूर्ववत् अनुमान है ॥१७-१९॥

§ ४९ इस पूर्ववत् अनुमानका उदाहरण कहते है। जैसे—

१ ने चतु भ० २। २ सेव आ०, क०। ३ कार्यज्ञान यत् भ०।

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः[1] ॥ २० ॥

व्याख्या—'यथेति' निदर्शनदर्शनार्थः । रोलम्बा भ्रमराः, गवला अरण्यजातमहिषाः, व्याला दुष्टगजाः सर्पाश्च, तमालास्तापिच्छवृक्षाः । तद्वन्मलिनाः श्यामलास्त्विषः कान्तयो येषां ते तथा । एतेन मेघानां कान्तिमत्ता वचनेनानिर्वचनीया काप्यतिशयश्यामता व्यज्यते, 'एवंप्रायाः' एवंशब्द इदंप्रकारवचनः । प्रायशब्दो बाहुल्यवाचकः । तत एवमिदं प्रकाराणां प्रायो बाहुल्यं येषु त एवंप्राया ईदृक्प्रकारबाहुल्या इत्यर्थः । एतेन गम्भीरगर्जि[2]तत्वा(त्व)चिरप्रभावत्वादिप्रकाराणां बाहुल्यं मेघेषु सत्सूचितम् । उक्तविशेषणविशिष्टा मेघा इह [3]जने वृष्टिं न व्यभिचरन्ति, वृष्टिकरा एव भवन्तीत्यर्थः । प्रयोगस्तु सूत्रव्याख्यावसरोक्त एवात्रापि वक्तव्यः ॥ २० ॥

§ ५० अथ शेषवद्व्याख्यामाह ।

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूराद्देवो वृष्टो यथोपरि ॥ २१ ॥

§ ५१. व्याख्या—कार्याल्लिङ्गात्कारणस्य लिङ्गिनोऽनुमानं ज्ञानं यत्, चकारः प्रागुक्तपूर्ववदपेक्षया समुच्चये, तच्छेषवन्मतम् । अयमत्र तत्त्वार्थः । यत्र कार्यात्कारणज्ञानं भवति, तच्छेषवद-

---

भ्रमर, भैसा, सर्प या मदोन्मत्त जंगली हाथी अथवा तमालवृक्षकी तरह गहरी श्याम कान्तिवाले तथा और भी इसी प्रकारके मेघ वृष्टिके व्यभिचारी नही होते, ऐसे मेघोसे अवश्य ही वृष्टि होती है अतः इस प्रकारके मेघोको देखकर भावी वृष्टिका अनुमान होता ही है ॥२०॥

यथा शब्द उदाहरणके अर्थमे आया है। रोलम्ब–भौंरा, गवल–जगली भैसे, व्याल–मत्तहाथी अथवा कृष्णसर्प, तमाल–तापिच्छके पेड, इन सबके समान मलिन-श्याम कान्तिवाले मेघ वृष्टिके व्यभिचारी नही होते, वे अवश्य ही बरसते है। यहाँ मेघोकी कान्तिका वर्णन होनेसे मालूम होता है कि मेघोमे कोई ऐसा अनिर्वचनीय विचित्र अतिशय कालापन होता है जो देखा तो जा सकता है, कहा नही जा सकता। एव प्राय शब्दसे सूचित होता है कि मेघोमे मात्र विशिष्ट श्यामलता ही वृष्टिका अनुमान नही कराती, किन्तु और भी इसी प्रकारके अनेक धर्म देखे जाते है जो कि वृष्टिके अव्यभिचारी होते है। जैसे गम्भीर घड-घडाकर गरजना, हवा आने पर भी उड नही जाना और चिरकाल तक मँडराते रहना, इत्यादि। इस तरह अनेको वृष्टिके अविनाभावी विशेषणोसे विशिष्ट मेघ नियमसे बरसनेवाले होते है इसलिए इनसे भावी वृष्टिका निर्दोष अनुमान होता ही है। इस अनुमानके प्रयोगका ढग 'पूर्ववत्' सूत्रकी व्याख्यामे कहा जा चुका है ॥२०॥

§ ५०. अब शेषवद् अनुमानकी व्याख्या करते है—

कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् कहते है। जैसे नदीके विशिष्ट पूरको देखकर नदीके ऊपरी भागमे हुई वृष्टिका अनुमान करना ॥२१॥

§ ५१. कार्यरूप लिंगसे कारणरूप लिंगी—[illegible] जो अनुमान होता है वह शेषवत् है। चकार पूर्ववत्की अपेक्षा समुच्चयके लिए है। [illegible] यह कि—[illegible] कार्यसे [illegible] ज्ञान किया

१ तुलना— [illegible]

नुमानम्। अत्रापि प्राग्वत्कारणज्ञानस्य हेतुः कार्यं कार्यदर्शनं तत्संबन्धस्मरणं चानुमानशब्देन प्रतिपत्तव्यम्। यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थं प्रथममत्र योज्यः। तथा[1]विधः शीघ्रतरस्रोतस्त्वफलफेनादिवहनत्वोभयतटव्यापित्वधर्मविशिष्टो यो नदीपूरस्तस्मा‍ल्लिङ्गादुपरिदेशे देवो मेघो वृष्ट इति ज्ञानम्। अत्र प्रयोगः प्राग्वत् ॥२१॥

यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ॥२२॥

§ ५२. व्याख्या—चः पुनरर्थे, यत्पुनः कार्यकारणभावादन्यत्र सामान्यतोऽविनाभावबलेन दृष्टं लिङ्गं सामान्यतोदृष्टं, तदेवम्। कथमित्याह—यथा पुंस्येकस्माद्देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका तथा सूर्येऽपि सा देशान्तरप्राप्तिस्तथा गतिपूर्विका। अत्र देशान्तरप्राप्तिशब्देन देशान्तरदर्शनं ज्ञेयम्। अन्यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिकार्यत्वेन शेषवतोऽनुमानादस्य भेदो न स्यात्। यद्यपि गगने संचरतः सूर्यस्य नेत्रावलोकप्रसराभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदयाचलात्कालान्तरेऽस्ताचलचूलिकादौ तद्दर्शनं गतिं गमयति। प्रयोगः पुनः पूर्वमुक्त एव।

§ ५३. अथवा देशान्तरप्रा[2]प्तेर्गतिकार्यत्वं लोको न [3]प्रत्येतीति इदमुदाहरणं कार्यकारणभावाविवक्षयात्रोपन्यस्तम् [4]एतत्प्रयोगस्त्वेवम्, सूर्यस्य देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तित्वाद्देवदत्तदेशान्तरप्राप्तिवत् ॥२२॥

जाय. वह शेपवदनुमान है। यहाँ भी पहलेकी तरह कारणभूत साध्यके ज्ञानमे हेतु होनेवाले कार्य, कार्यका ज्ञान तथा कार्यकारणभाव रूप सम्बन्धका स्मरण सभी अनुमान प्रमाण रूप होते है। 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है। वैसा शीघ्रतर प्रवाह वाला, फल फेन आदिको बहानेवाला, दोनो तटोके अन्त तक डट कर फैला हुआ जो नदीपूर है उससे ऊपरी भागमे हुई वृष्टिका ज्ञान-अनुमान होता ही है। प्रयोगका प्रकार पहले कहा जा चुका है ॥२१॥

और जो सामान्यतोदृष्ट है वह इस प्रकार है—किसी पुरुषका गमनपूर्वक देशान्तरमें पहुँचना देखकर सूर्यमे भी देशान्तर प्राप्तिसे गतिका अनुमान करना ॥२२॥

§ ५२ 'च'शब्द पुन शब्दके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। जो लिग कार्यकारणभावके बिना सामान्य रूपसे अविनाभावके बल पर ही अनुमापक होता है वह सामान्यतोदृष्ट है। उदाहरणार्थ—किसी पुरुषका एक देशमे दूसरे देशमे पहुँचना गमन करने पर ही होता है। इस तरह देशान्तरप्राप्तिका गमन पूर्वकत्वके साथ सामान्यसे अविनाभाव ग्रहण करके सूर्यमे देशान्तरप्राप्तिसे गतिका अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट है। देशान्तरप्राप्तिका अर्थ है देशान्तरमे उस वस्तुका देखा जाना। यदि देशान्तर सयोग ही देशान्तरप्राप्तिका अर्थ हो, तब यह सयोग तो गमन क्रियाका कार्य है अत शेपवदनुमानमे ही यह अन्तर्भूत हो जायगा, अत देशान्तर प्राप्तिका अर्थ 'देशान्तरमे उस वस्तुका दिखाई देना' ही करना चाहिए। यद्यपि सूर्यके प्रखर ताप एव तेज पुज किरण जालके कारण नेत्र चकचोधया जाते है और इसलिए उसका आकाश गमन नेत्रोसे नही दिखाई देता फिर भी प्रात काल उदयाचलपर दिखनेवाले सूर्यको सायकाल अस्ताचलपर देखनेसे उसकी गतिका परिज्ञान सहज ही हो जाता है। इस अनुमानके प्रयोगकी सरणि पहले वतायी जा चुकी है।

§ ५३. अथवा—'देशान्तरप्राप्ति गमन क्रियाका कार्य है' इस कार्य कारण भावको साधारण व्यवहारी जन नही समझ पाते है अत कार्यकारणभावकी अविवक्षामे इस उदाहरणको सामान्यतोदृष्ट अनुमान मानना चाहिए। प्रयोग—सूर्यका एक देशसे दूसरे देशमे पहुँचना गतिपूर्वक होता है, क्योकि वह देशान्तरप्राप्ति है जैसे देवदत्तका एक देशसे गति करके दूसरे देशमे पहुँचना ॥२२॥

---

१ विधशीघ्र–आ०, क०। तथाविधा शी - भ० २। २ –प्तिर्गति– भ० २। ३ प्रत्येतीदमु– भ० २। ४. प्रयो–आ०, क०।

§ ५४. उपमानलक्षणमाह—

• प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
[1]उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥२३॥

§ ५५. व्याख्या—[2]"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इति सूत्रम् । अत्र यत इत्यध्याहार्यम्[3], ततश्च प्रसिद्धेन वस्तुना गवा यत्साधर्म्यं समानधर्मत्वं तस्मात्प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयगतस्य साध्यस्य संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्य साधनं प्रतिपत्तिर्यतः साधर्म्यज्ञानाद्भवति तदुपमानं समाख्यातम् । साधर्म्यस्य च प्रसिद्धिरागमपूर्विका[4] । तत आगमसंसूचनायाह[6]—यथा गौस्तथा गवय इति । गवयोऽरण्यगवयः । अयमत्र भावः—कश्चित्प्रभुणा गवयानयनाय प्रेषितस्तदर्थम[7]जानानस्तमेवाप्राक्षीत् कीदृग्गवय इति, स प्रोचे यादृग्गौस्तादृग्गवय इति । ततः सोऽरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थं यदा पश्यति, तदा तस्य तद्वाक्यार्थस्मृतिसहायेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् गोसदृशोऽयमिति यत्सारूप्यज्ञानमुत्पद्यते, तत्प्रत्यक्षफलं, तदेवाव्यभिचार्यादिविशेषणमयं स गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिं जनयदुपमानम् । संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानस्य फलम् । न पुनराग-

---

§ ५४. उपमानका लक्षण कहते हैं—

प्रसिद्ध वस्तुके साधर्म्य-सादृश्यसे अप्रसिद्धकी सिद्धि करना उपमान प्रमाण है। जैसे गौके समान गवय होता है ॥२३॥

§ ५५. "प्रसिद्ध अर्थके सादृश्यसे साध्यकी सिद्धि उपमान है" यह न्यायदर्शनका उपमान सूत्र है। यहाँ भी 'यत' पदका अध्याहार करना चाहिए। अतएव प्रसिद्ध वस्तु गौके साधर्म्य-सादृश्यसे गवयमे रहनेवाले अप्रसिद्ध सज्ञा सज्ञिसम्बन्ध (गवयशब्दका वाच्य यही गोसदृश पदार्थ है) का साधन-प्रतिपत्ति यत जिस सादृश्यज्ञानसे होता है उस सादृश्यज्ञानको उपमान प्रमाण कहते है। सादृश्यका ज्ञान तो आगमसे होता है। अतएव उसी आगम वाक्यकी सूचनाके लिए 'जैसी गौ है वैसा ही गवय अर्थात् जगली रोज होता है' यह कहा है। तात्पर्य यह कि—किसी स्वामीने अपने सेवकसे कहा कि—'जाओ, गवय ले आओ'। बिचारा नौकर गवयको जानता ही नही था अत उसने अपने स्वामीसे ही पूछा कि—'गवय कैसा होता है?' स्वामीने उसे बता दिया कि—'जैसी गौ होती है ठीक वैसा ही गवय होता है'। नौकर स्वामीकी बतायी हुई गवयकी पहचानको याद करके जंगल गया। घूमते-घूमते वह एक जगह गौके समान आकारवाले प्राणीको देखता है। उसी समय उसे स्वामीके द्वारा बतायी हुई 'जैसी गौ वैसा ही गवय' पहचानका स्मरण हो आता है। उस स्मरणकी सहायतासे इन्द्रियार्थ सन्निकर्षके द्वारा 'यह गौके सदृश है ऐसा सादृश्यज्ञान उत्पन्न होता है। यह सादृश्यज्ञान प्रत्यक्षका फल है। यही अव्यभिचारी व्यवसायात्मक आदि विशेषणवाला सादृश्यज्ञान जब 'यही वह गवयशब्दका वाच्य प्राणी है' इस सज्ञासज्ञि-सम्बन्धकी प्रतिपत्तिको उत्पन्न करता है तब उपमानप्रमाण कहलाता है। संज्ञासज्ञिसम्बन्धकी

---

१ "यदा खल्वय गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षत. तमर्थं प्रतिपद्यते इति, समाख्यासबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थम् इन्द्रियार्थसनिकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्द सज्ञेति सज्ञासज्ञिसबन्ध प्रतिपद्यते इति।"—न्यायभा० १।१।६। २ प्रसिद्धवस्तुना– भ० २। ३ "अत्रापि यत इत्यध्याहार्यम्।" न्यायवा० ता० टी० पृ० १९६। ४ –स्य प्रति– क०, भ० २। ५ "प्रसिद्धिरुभयी श्रुतिमयी प्रत्यक्षमयी च। श्रुतिमयी यथा गौरेवं गवय इति। प्रत्यक्षमयी च यथा गोसादृश्यविशिष्टोऽयमीदृग पिण्ड इति। तत्र प्रत्यक्षमयी प्रसिद्धिरागमाहितस्मृत्यपेक्षा समाख्यासबन्धप्रतिपत्तिहेतु।"—न्यायभा० ता० टी० पृ० १९७। ६ –नाय प्राह प० १,२, भ० १,२। ७ तमर्थमजा– भ० २।

भेदेन द्वादशविध तदिति प्रमेयम् ।" [न्यायसू० १।१।९] [1]तत्र शरीरादिदुःखपर्यन्तं हेयम्, अपवर्ग उपादेयः, आत्मा तु कथंचिद्धेयः कथंचिदुपादेयः सुखदुःखादि[2] भोक्तृतया हेयः तदुन्मुक्ततयोपादेय इति। तत्रेच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानादीनामाश्रय आत्मा[3]। सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रतीयते १। तद्भोगायतनं शरीरम् २। [4] [5]पञ्चेन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि ३। [6]पञ्चार्था रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः। [7]तत्र गन्धरसरूपस्पर्शाश्चत्वारः पृथिवीगुणाः, रूपरसस्पर्शास्त्र-योऽपा गुणाः, रूपस्पर्शौ तेजसो गुणौ, एकः स्पर्शो वायोर्गुणः, शब्द आकाशस्य गुण इति ४। [8] बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थ, सा क्षणिका, भोगस्वभावत्वाच्च ससारकारणमिति हेया ५। इन्द्रियार्थ-सनिकर्षे सत्यपि [9]युगपज्ज्ञानानुत्पादादान्तरसुखादिविषयोपलब्धेश्च बाह्यगन्धादिविषयोपलब्धि-वत्करणसाध्यत्वादान्तरं करणं[10] मनोऽनुमीयते, तत्सर्वविषयं तच्चाणु वेगवदाशुसंचारि नित्यं

फल, दुःख तथा मोक्ष ये बारह प्रमेय हैं।" इनमे शरीरसे लेकर दु ख पर्यन्त दश प्रमेय हेय—त्याज्य हैं। अपवर्ग (जिसके बाद पवर्ग—प फ आदिका कोई अक्षर नही हो अर्थात् पवर्गका अन्तिम ही अक्षर-'म' जिसमे प्रयुक्त होता हो ऐसे मोक्षको अपवर्ग कहते है।) उपादेय है। आत्मा तो अवस्था विशेषमे हेय भी होता है तथा उपादेय भी। जब आत्मा सुख, दु ख आदिका भोक्ता होता है तब वह हेय है। और जब सुख, दु ख भोगसे रहित होकर निरुपाधि हो जाता है तब उपादेय है। आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख तथा ज्ञानादि गुणोका आश्रय होता है। चेतनत्व, कर्तृत्व, सर्व-गतत्व आदि धर्मोंसे आत्माकी प्रतीति होती है। (आत्मा सर्वगत है अत जिन नियत प्रदेशोमें आत्माको सुख, दु खका उपभोग होता है उन नियत प्रदेशोका अवच्छेदक तथा) आत्माके भोगका आयतन शरीर होता है। घ्राण—नाक, रसना—जीभ, चक्षु, त्वक्—स्पर्शन तथा श्रोत्र ये पाँच भोगके साधनभूत इन्द्रियाँ हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द ये पाँच इन्द्रियोके विषय रूप अर्थ हैं। पृथिवीमे गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं। जलमे रूप, रस तथा स्पर्श ये तीन, तेज—अग्निमे रूप और स्पर्श ये दो तथा वायुमे केवल स्पर्श गुण ही पाया जाता है। शब्द आकाशका गुण है। बुद्धि-उपलब्धि ज्ञान ये सब एकार्थक हैं। बुद्धि क्षणिक होती है। भोगरूप होनेसे ससारका कारण है अत हेय है। मन सभी पदार्थोको विषय करनेवाला है, अणुरूप है, वेगवाला होनेसे बहुत शीघ्र सचार करनेवाला है तथा नित्य है। सभी

---

१ "तत्र देहादिदु खान्त हेयमेव व्यवस्थितम् । उपादेयोऽपवर्गस्तु द्विधावस्थितिरात्मन ॥ सुखदु खादिभोक्तृत्वस्वभावो हेय एव स । उपादेयस्तु भोगादिव्यवहारपराङ्मुख ॥" —न्यायम० प्रमे० पृ० २ । २ –भोक्तुतया आ० । ३ "तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञ सर्वानुभवी ।"—न्यायभा० १। ।९ । "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति । —न्यायसू० १।१।१० । ४ "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम् ।"—न्यायसू० १ १।११ । "तस्य भोगायतन शरीरम् ।"—न्यायभा० १।१।९ । ५ "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्य ।" —न्यायसू० १। ।१२ । "भोगसाधनानि इन्द्रियाणि ।"—न्यायभा० १।१।९ । ६ "गन्धरसरूप-स्पर्शशब्दा पृथिव्यादिगुणास्तदर्था ।"—न्यायसू० १।१।१४ । "भोक्तव्या इन्द्रियार्था ।"—न्यायभा० १।१।१ । ७ "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाना स्पर्शपर्यन्ता पृथिव्या ॥" "अप्तेजोवायूना पूर्व पूर्वमपोह्या-काशस्योत्तर ॥"—न्यायसू० ३।१।६१,६२ । 'चतुर्गुणा पृथिवी' 'त्रिगुणा आप ' 'द्विगुण तेज ' 'एक-गुणो वायु ' इति, नियमश्चोपपद्यते ।"—न्यायभा० ३।१।६५ । ८ "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्त-रम् ।"—न्यायसू० १।१।१५ । "भोगो बुद्धि ।"—न्यायभा० १।१।९। न्यायक० पृ० ७ । ९ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।" न्यायसू० १।१।१६ । १० "सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभव-न्तीति सर्वविषयमन्त करण मन ।"—न्यायभा० १।१।९ ।

स्वरूपेणावस्थानम् । सुखदुःखयोर्विवेकेन हानस्याशक्यत्वात् दुःखं जिहासुः सुखमपि जह्याद् । यस्माज्जन्मजरामरणप्रबन्धोच्छेदरूपः परमः पुरुषार्थोऽपवर्ग, स च तत्त्वज्ञानादवाप्यते १२ ॥२४॥

§ ५९. संशयप्रयोजनयोः स्वरूपं प्राह—

किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः ।
प्रवर्तते तदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

§ ६०. व्याख्या—अयं किंशब्दोऽस्ति क्षेपे 'किंसखा योऽभिद्रुह्यति' अस्ति प्रश्ने 'किं ते प्रियं' अस्ति निवारणे 'किं ते रुदितेन' अस्त्यपलापे 'किं तेऽहं धारयामि' अस्त्यनुनये 'किं[3] तेऽहं प्रियं करोमि' अस्त्यवज्ञाने 'कस्त्वामुल्लापयते' अस्ति वितर्के 'किमिदं दूरे दृश्यते,' इह तु वितर्के दूरावलोकनेन पदार्थसामान्यमवबुध्यमानस्तद्विशेषं संदिहानो वितर्कयति, एतत् प्रत्यक्षमूर्ध्वस्थितं वस्तु किं [4]तर्के स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । यः संदिग्धोऽनेककोटिपरामर्शी प्रत्ययो विमर्शः, स संशयो मतः संमत इति ।

§ ६१. अथ प्रयोजनम्, यदर्थित्वाद्यस्य[5] फलस्यार्थित्वमभिलाषुकत्वं यदर्थित्वं, तस्मात्प्रवर्तते [6]तत्तदीयसाधनेषु यत्नं कुरुते, तत्तु तत्पुनः साध्यं कर्तव्यतयेष्टं प्रयोजन फलं यस्य वाञ्छया कृत्येषु

दुःखमिश्रित सुखको भी छोडना ही पडता है। जैसे विष छोडनेकी इच्छासे विषमिश्रित अन्नको भी छोडना ही पडता है। जन्म, जरा तथा मरण की अविच्छिन्न परम्परा का नाम ही संसार है और इस संसारका उच्छेद करना परमपुरुषार्थ है, यही अपवर्ग है। इस अपवर्गकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है ॥ २४ ॥

§ ५९. अब संशय और प्रयोजनका स्वरूप कहते हैं—

सिद्धान्तश्च वेदितव्यः। इह तन्त्रशब्देन शास्त्रं विज्ञेयम्[1]। तत्र[2] सर्वतन्त्राविरुद्धः स्वतन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः सर्वेषां शास्त्राणां संप्रतिपत्तिविषयः, यथा प्रमाणानि प्रमेयसाधनानि, घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादयस्तदर्थाः, प्रमाणेन प्रमेयस्य परिच्छेद इत्यादि। [3]समानतन्त्रप्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः यथा भौतिकानीन्द्रियाणि यौगानां [4]काणादादीनां च, अभौतिकानि साङ्ख्यानाम्। तथा सांख्यानां[5] सर्वं सदेवोत्पद्यते न पुनरसत्, नैयायिकादीनां सर्वमसदेवोत्पद्यते सामग्रीवशात्, जैनानां तु सदसदुत्पद्यत इत्यादि। यस्य[6] सिद्धावन्यस्य [7]प्रक्रियमाणस्य प्रतिज्ञार्थस्य प्रसङ्गेनाधिकस्य सिद्धिः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः,[8] यथा कार्यत्वादेः क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणसामान्यसिद्धावन्यस्य तत्कारणसमर्थस्य नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारस्य तत्कारणस्य सिद्धिरिति। प्रौढवादिभिः[9]

ऐसे अर्थ, जो सभी दर्शनोके शास्त्रोमे साधारण रूपसे स्वीकृत हो वे सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। तात्पर्य यह कि जिनके माननेमे किसीको भी विवाद न हो, जैसे प्रमाणोसे प्रमेयकी सिद्धि होती है, प्राण आदि इन्द्रियाँ है, गन्ध आदि इन्द्रियोके अर्थ है, प्रमाणसे प्रमेयका परिच्छेद होता है। इत्यादि। जो पदार्थ समान-शास्त्रोमे स्वीकृत हो तथा परशास्त्रोमे असिद्ध हो उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त अर्थात् अपने-अपने शास्त्रमे स्वीकृत पदार्थ कहते है। जैसे इन्द्रियाँ पृथिव्यादि भूतोसे उत्पन्न है, भौतिक है' यह नैयायिक तथा वैशेपिकोका सिद्धान्त है। 'इन्द्रियाँ भौतिक नही है किन्तु आहकारिक है' यह साख्योका सिद्धान्त है। साख्योका सिद्धान्त है कि—कारणमे कार्यका सद्भाव रहता है अत. कारणमे सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। नैयायिकादि कारणमे कार्यका सद्भाव नही मानते। इनके मतसे सामग्री मिलनेपर कारणमे असत् कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैन लोग कारणमे कार्यको द्रव्यरूपसे सत् तथा पर्यायरूपसे असत् मानते है। इनके मतसे कारणमे कथचित् सदसत् कार्यकी उत्पत्ति होती है। इत्यादि तत्तत् शास्त्रोके अपने-अपने सिद्धान्त प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहे जाते हैं। जिस एक सिद्धान्तकी सिद्धि होनेपर प्रसगसे तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थोकी सिद्धि हो जाय उसे अधिकरण-सिद्धान्त—अन्य सिद्धान्तोकी सिद्धिका आधारभूत सिद्धान्त कहते है। जैसे कार्यत्व हेतुसे पृथिवी आदिको सामान्य रूपसे ईश्वरकर्तृक सिद्ध होने पर उस ईश्वरमे नित्य ज्ञान नित्य इच्छा तथा नित्य प्रयत्नकी सिद्धि होना अधिकरण सिद्धान्त है। क्योकि ईश्वरमे नित्यज्ञान आदि माने विना पृथिव्यादि कार्योके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य ही सिद्ध नही हो सकती। तात्पर्य यह कि जिन मूल सिद्धान्तके सिद्ध होने पर तदविनाभावी अन्य छोटे-मोटे अनेक सिद्धान्त फलित हो जाते है—अपने ही आप सिद्ध घोपित हो जाते है—उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते है। प्रौढवादी अपनी बुद्धि

स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया यत्किंचिद्वस्त्वपरीक्षितमभ्युपगम्य विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, यथास्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽनित्यो वेति शब्दस्य द्रव्यत्वमभ्युपगम्य नित्यानित्यत्वविशेषः परीक्ष्यते एवं चतुर्विधः सिद्धान्तः ॥२६॥

§ ६५. अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपं प्रकटयति ।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संदेहोपरमे भवेत् ॥ २७ ॥
यथा काकादिसंपातात्स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥ युग्मम् ॥

§ ६६. व्याख्या—अवयवाः पञ्च । के त इत्याह प्रतिज्ञा हेतुर्दृष्टान्त उपनयो निगमनं चेति । तत्र प्रतिज्ञा पक्षः धर्मधर्मिवचनं, कृशानुमानयं सानुमानित्यादि । हेतुः साधनं लिङ्गवचनं धूमवत्त्वादित्यादि । दृष्टान्त उदाहरणाभिधानं, तद्द्विविधं अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन च । अन्वयमुखेन यथा, यो यो धूमवान्, स स कृशानुमान्, यथा महानसमित्यादि । व्यति-

का अतिशय-चमत्कार दिखानेकी इच्छासे किसी पदार्थको परीक्षा किये बिना ही स्वीकार करके उसके विशेषोंकी परीक्षा करते हैं उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। जैसे— 'अच्छा शब्द द्रव्य ही सही पर वह नित्य है कि अनित्य ?' इस तरह शब्दके द्रव्यत्वको, जो कि उसे इष्ट नहीं है, परीक्षाके बिना ही स्वीकार करके वह शब्दके नित्यत्व और अनित्यत्व रूप विशेषोंकी परीक्षामें प्रवृत्त होता है। इस तरह सिद्धान्त चार प्रकारका होता है ॥ २६ ॥

§ ६५. अब अवयव तर्क तथा निर्णय इन तीन तत्त्वोंका निरूपण करते हैं—

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव हैं। सन्देहका नाश होने पर तर्क होता है। जैसे कौआ आदिका सन्निपात देखकर 'इसे स्थाणु—ठूँठ होना चाहिए' यह भवितव्यता रूप है। सन्देह तथा तर्कके अनन्तर जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते हैं ॥२७-२८॥ युग्म ।

§ ६६. प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगम—निगमन ये पाँच अवयव हैं। प्रतिज्ञा—पक्ष, धर्म और धर्मीके समुदायके कथनको प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है'। हेतु—साधन, लिंगके वचनका नाम हेतु है, जैसे 'धूमवाला होनेसे या धूम होनेसे। उदाहरण रूप कथनको दृष्टान्त कहते हैं। उदाहरणका कथन अन्वय रूपसे तथा व्यतिरेक रूपसे दो प्रकारका होता है। 'जो जो धूमवाला है वह वह अग्निवाला है जैसे रसोई घर' यह अन्वयमुख कथन है। 'जो अग्नि-

१ "अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ।३१। यत्र किंचिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते—अस्तु द्रव्यं शब्दः स तु नित्योऽथानित्यः । इति द्रव्यस्य सतो नित्यतानित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाय प्रवर्तते इति ॥" —न्यायभा० १।१।३१ । २. तत्त्वत्रयं प्र– का० । तत्त्वत्रयरूपं प्र० – प० १, २, भ० १, २ । ३ "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।"—न्यायसू० १।१।३२ । ४. "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।" —न्यायसू० १।१।३३ । "तत्र साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणो निर्देशः प्रतिज्ञा । यथा नित्यः शब्द इति । एष एव पक्ष उच्यते ।" न्यायक० पृ० ९ । ५. "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ।"—न्यायसू० १।१।३४ । "लिङ्गवचनं हेतुः ।"—न्यायक० पृ० १० । ६. लिङ्गं वह्निर्धूम– भ० २ । ७. "साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ।"—न्यायसू० १।१।३६ । "दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् । दृष्टान्तो द्विविधः । ८ साधर्म्येण वैधर्म्येण च ।"—न्यायक० पृ० ११ । ९ च यथा भ० २ ।

रेकमुखेन यथा, यो यः कृशानुमान्न भवति, स स धूमवान्न भवति, यथा जलमित्यादि। [1]उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्. धूमवांश्चायमित्यादि। [2]निगमनं हेतूपदेशेन साध्यधर्मोपसंहरणम्, धूमवत्त्वात्कृशानुमानित्यादि।

§ ६७. अथ तर्कतत्त्वम्। 'तर्कः सन्देहोपरमे भवेत्'। सम्यग्वस्तुस्वरूपानवबोधे किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहः संशयस्तस्योपरमे व्यपगमे [3]तर्कोऽन्वयधर्मान्वेषणरूपो भवेत्। कथमित्याह—'यथा काकादीत्यादि' यथेत्युपदर्शने काकादिसंपातात् वायसप्रभृतिपक्षिसंपतनादुपलक्षणत्वान्निश्चलत्ववल्ल्यारोहणादिस्थाणुधर्मेऽ्यश्चात्रारण्यप्रदेशे स्थाणुना कीलकेन भाव्यं भवितव्यम्। हिशब्दोऽत्र निश्चयोत्प्रेक्षणार्थो द्रष्टव्य.। संप्रति हि वनेऽत्र मानवस्यासंभवात्स्थाणुधर्माणामेव दर्शनाच्च स्थाणुरेवात्र घटत इति। तदुक्तम्—"आरण्यमेतत्सवितास्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानव। ध्रुव तदेतेन खगादिभाजा, भाव्य स्मरारातिसमाननाम्ना॥१॥" [4]इत्येष तर्कः।

§ ६८. अथ निर्णयतत्त्वमाह—'ऊर्ध्वमित्यादि' पूर्वोक्तस्वरूपाभ्यां संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमनन्तरं यः प्रत्ययः स्थाणुरेवायं पुरुष एव वेति प्रतीतिः स निर्णयो[7] निश्चयो मतोऽभीष्टः। यत्त-

---

वाला नही है वह धूमवाला भी नही है जैसे जल' यह व्यतिरेकात्मक कथन है। हेतुका उपसहार करनेवाले वचन उपनय कहलाते है, जैसे 'यह भी धूमवाला है।' हेतुका कथन करनेके अनन्तर साध्य धर्मके उपसहार—दुहरानेको निगमन कहते है, जैसे 'चूँकि यह भी धूमवाला है अत अग्निवाला है।'

§ ६७. वस्तुके यथार्थ स्वरूपका बोध न होनेसे 'यह स्थाणु—ठूठ है अथवा पुरुष ?' यह सन्देह होता है। जब यह सन्देह बहुत कुछ शान्त हो जाता है तब ठूठमे रहनेवाले अन्वयरूप धर्मोको खोजनेवाले सभावनात्मक तर्कका उदय होता है। जैसे—उसपर कौए आदिको बैठा देखकर अर्थात् कौआ चिडिया आदि पक्षियोका उसपर बैठना, उसके आस-पास उडना, उसका निश्चल—बिना हिले-डुले जैसेका तैसा स्थिर रहना, उसपर लताओका लिपटना इत्यादि स्थाणुगत धर्मोको देखकर 'इस जंगलमे ऐसा ठूठ ही हो सकता है, इसे ठूठ अवश्य हो होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता प्रत्ययरूप तर्क होता है। 'हि' शब्द निश्चयकी ओर झुकनेका सकेत करता है—'इसे अवश्य ही, स्थाणु होना चाहिए'। इस समय इस निर्जन वनमे मनुष्यकी सम्भावना तो है ही नही, तथा स्थाणुके धर्म ही इसमे पाये जाते है अत यह स्थाणु ही हो सकता है, यहाँ स्थाणुकी सम्भावना ही अधिक है। कहा भी है—

"यह डरावना जगल है, सूर्य भी इस समय अस्ताचल पर पहुँच चुका है, अन्धेरा हो चला है, इसलिए यहाँ इस समय मनुष्यकी सम्भावना तो है नही। फिर, इसके ऊपर पक्षी आकर निःशक भावसे बैठे हुए चहक रहे है, अत अवश्य ही इसे स्थाणु—ठूठ होना चाहिए। यह अवश्य ही स्मराराति कामदेवको भस्म करानेवाले शंकरके समान नामवाला पर्यायवाची स्थाणु है। स्थाणु शकरका पर्यायवाची है॥ १॥"

§ ६ . पूर्वोक्त सन्देह तथा तर्कके अनन्तर 'यह स्थाणु ही है' अथवा 'यह पुरुष ही है' ऐसा जो एककोटिक निश्चय होता है उस अवधारणात्मक प्रत्ययको निर्णय कहते है। कही-कही यत्

---

१ "उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसहारो न तथेति वा साध्यस्योपनय ॥" —न्यायसू० १।१।३८। २ "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया पुनर्वचन निगमनम् ॥"—न्यायसू० १।१।३९। ३ "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क ।"—न्यायसू० १।१।४०। "अविज्ञाततत्त्वे धर्मिणि एकतरपक्षानुकूलार्थदर्शनेन तस्मिन् सभावनाप्रत्ययरूप ऊहस्तर्क उच्यते। यथा वाहकेकिप्रदेशे ऊर्ध्वत्वदर्शनात् पुरुषेणानेन भवितव्यमिति संभावनाप्रत्यय ।"—न्यायक० पृ० १३। ४ नप्रतिपक्षिम – भ० २। ५ इत्येव तर्क भ० २। ६ तर्कमाह भ० २। ७ "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारण निर्णय ॥" —न्यायसू० १।१।४१।

दावर्थसंबन्धादनुक्तावपि क्वचन गम्येते, तेनात्र तौ व्याख्यातौ। एवमन्यत्रापि मन्तव्यम् ॥२७-२८॥

§ ६९. अथ वादतत्त्वमाह—

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्।
या कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वादः उदाहृतः ॥ २९ ॥

§ ७०. व्याख्या—वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः [2]कथा, सा द्विविधा, वीतरागकथा विजिगीषुकथा च। यत्र वीतरागेण गुरुणा सह शिष्यस्तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति, साधनं स्वपक्षे, उपालम्भश्च परपक्षेऽनुमानस्य दूषणं, सा वीतरागकथा वादसंज्ञयैवोच्यते। वादं प्रतिपक्षस्थापनाहीनमपि कुर्यात्। प्रश्नद्वारेणैव यत्र विजिगीषुर्जिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्त्तते, वीतरागो वा परानुग्रहार्थं ज्ञानाङ्कुरसंरक्षणार्थं च प्रवर्तते, सा चतुरङ्गा वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाङ्गा विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासंज्ञोक्ता[3]। तथा चोक्तम्— "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं [4]कण्टकशाखावरणवत्।" [न्यायसू०

और तत् सर्वनामका यद्यपि कथन नही होता फिर भी उनका प्रकरणसे अन्वय हो जाता है। इसीलिए यहाँ यत् और तत् का अनुगम करके व्याख्यान किया गया है ॥ २७–२८ ॥

§ ६९. अब वाद तत्त्वका कथन करते है—

शास्त्रार्थका अभ्यास करनेके लिए अथवा तत्त्वका अभ्यास करनेके लिए गुरु और शिष्य पक्ष प्रतिपक्ष लेकर जो कथा चर्चा वार्ता करते है उसे वाद कहते है ॥ २९ ॥

§ ७०. वादी तथा प्रतिवादीके द्वारा जिसमे पक्ष और प्रतिपक्षका ग्रहण किया जाय उसे कथा कहते है। कथा दो प्रकारकी है—१ वीतराग कथा, २ विजिगीषु कथा। जब वीतराग अर्थात् जय-पराजयकी इच्छा न रखनेवाले गुरुके साथ तत्त्व-निर्णयके लिए शिष्य अपने पक्षका साधन तथा प्रतिपक्षका उपालम्भ—खण्डन करता है तब वह वचनव्यापार वीतराग कथा कहलाता है। इस वीतराग कथाका ही नाम वाद है। इस वादमे प्रतिपक्षका स्थापन कोई आवश्यक नही है। एक ही पक्षमे शका-समाधान करके तत्त्व-निर्णय किया जा सकता है। जहाँ एक जिगीषु-जयकी इच्छा रखनेवाला—दूसरे विजिगीषु—विशेषरूपसे सवागुनी जीतनेकी इच्छा रखनेवालेके साथ कोई शर्त लगाकर अर्थलाभके लिए अथवा ख्यातिकी इच्छासे जय-पराजयके लिए शास्त्रार्थ करता है, वह विजिगीषु कथा है। एक वीतराग व्यक्ति भी किसी वैतण्डिकके साथ तत्त्व-ज्ञानरूपी अकुर के सरक्षणके लिए तथा परोपकारार्थ विजिगीषु कथामे प्रवृत्त होता है। इस विजिगीषु कथा मे वादी, प्रतिवादी, सभापति तथा प्राश्निक ये चार अग होते है। अत यह चतुरगवादके नामसे ख्यात है। इसी विजिगीषु कथाको जल्प और वितण्डा भी कहते है। कहा भी है—

"जैसे कि छोटे अकुरोकी रक्षाके लिए काँटोकी बारी लगायी जाती है, उसी तरह तत्त्वज्ञानकी सम्यक् प्रकारसे रक्षा करनेके लिए जल्प और वितण्डा नामक कथाएँ होती है।" यथोक्तोपपन्न-

---

१ "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद ॥" —न्यायसू० १।२।१। २ "वादिप्रतिवादिनो पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह कथा। सा द्विविधा। वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थ साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसज्ञयोच्यते। त प्रतिपक्षहीनमपि वा कुर्य्यात् प्रयोजनार्थित्वेन। यथा शिष्यो गुरुणा सह प्रश्नद्वारेणैवेति।"—न्यायसा० पृ० १५। ३ "विजिगीषुर्विजिगीषुणा सह लाभपूजाख्यातिकामो जयपराजयार्थं प्रवर्त्तते सा विजिगीषुकथा। वीतरागो वा परानुग्रहार्थ ज्ञानाङ्कुरसरक्षणार्थ च प्रवर्त्तते सा चतुरङ्गा। वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाङ्गा। विजिगीषुकथा जल्पवितण्डासज्ञोक्ता।"—न्यायसा० पृ० १६। ४ 'कण्टकशाखापरिवरणवत् इति प्रत्यन्तरे' – आ० टि०। कण्टकशाखापरिचरणवत् क०, प० १, २, भ० १, २।

४।२।५०] इति । यथोक्तलक्षणोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स प्रतिपक्ष-स्थापनाहीनो वितण्डा ।" [न्यायसू० १।२।२, ३] इति । वादजल्पवितण्डानां व्यक्तिः ।

§ ७१. अथ प्रकृतं प्रस्तुमः आचार्योऽध्यापको गुरुः, शिष्योऽध्येता विनेयः, तयोराचार्य-शिष्ययोः 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्' पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञादिसंग्रहः, प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षप्रति-पन्थी पक्ष इत्यर्थः, तयोः परिग्रहात्स्वीकारात् अभ्यासस्य हेतुरभ्यासकारणम् या कथा प्रामाणिकी वार्त्ता असौ कथा वाद उदाहृतः कीर्तितः । आचार्यः पूर्वपक्षं स्वीकृत्याचष्टे शिष्यश्चोत्तरपक्षमुररी-कृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति । एवं पक्षप्रतिपक्षसंग्रहेण निग्राहकसभापतिजयपराजयच्छलजात्याद्यन-पेक्षतयाभ्यासार्थं यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः, स वादो विज्ञेयः ॥ २९ ॥

§ ७२. अथ जल्पवितण्डे विवृणोति—

विजिगीषुकथा या तु छलजात्यादिदूषणा ।
स जल्पः सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ॥३०॥

वादके लक्षणमें कहे गये 'प्रमाण और तर्कसे साधन और दूषण होता है, सिद्धान्तसे अविरुद्ध, पञ्चावयवसे युक्त, तथा पक्ष और प्रतिपक्षका जिसमें परिग्रह किया जाता है' इन विशेषणोंसे जो सहित हो, तथा जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोंसे भी स्वपक्षसाधन तथा परपक्ष दूषण किया जाता हो उसे जल्प कहते हैं । जिस जल्पमें प्रतिपक्ष—(प्रतिवादीके पक्षकी अपेक्षा वादीका पक्ष प्रतिपक्ष—) अर्थात् अपने पक्षका स्थापन न करके केवल प्रतिवादीका खण्डन ही खण्डन किया जाता है, उस जल्पको वितण्डा कहते हैं । यह वाद, जल्प तथा वितण्डाका स्पष्ट स्वरूप है ।

§ ७३. व्याख्या—या तु या पुनर्विजिगीषुकथा विजयाभिलाषिभ्यां वादिप्रतिवादिभ्यां प्रारब्धा प्रमाणगोष्ठी, कथंभूता, छलानि जातयश्च वक्ष्यमाणलक्षणानि, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दोषोत्पादनं यस्यां सा छलजात्यादिदूषणा, स विजिगीषुकथारूपो जल्पः। 'उदाहृत' इति पूर्वश्लोकात्सबन्धनीयम्।

§ ७४. ननु छलजात्यादिभिः परपक्षादेर्दूषणोत्पादनं सता कर्तुं न युक्तमिति चेत्, न। सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्तं तस्याभ्यनुज्ञातत्वात्[1]। अनुज्ञातं हि स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैरपि परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम्। तथा चोक्तम्—

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥१॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
[3]मार्गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥२॥" [न्यायम० प्रमा० पृ० ११]

इति। संकटे प्रस्तावे च[4] सति छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम्। [5]परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसंभवः, तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः।

---

§ ७३. जो कथा विजयके अभिलाषी वादी तथा प्रतिवादी द्वारा प्रारम्भ की जाती है, तथा जिसमे छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुपायोसे प्रतिपक्षमे दूषणोका उद्भावन किया जाता हो वह प्रमाण गोष्ठी जल्प कही जाती है इस श्लोकमे 'उदाहृत' क्रियाका पूर्व श्लोकसे अनुवर्तन कर लेना चाहिए।

§ ७४ शंका—सभ्य सत्पुरुषोको छल, जाति तथा निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरोसे परपक्षमे दूषण देना तो किसी भी तरह उचित नही मालूम होता।

उत्तर—आपका कहना ठीक है, परन्तु सन्मार्गकी प्रतिपत्ति या रक्षा करनेके लिए छल आदिका भी अपवाद रूपसे आश्रय करना ही पडता है। स्वपक्षके स्थापनके द्वारा सन्मार्गकी प्रतिपत्तिके लिए छल, जाति आदिका प्रयोग करके भी परपक्षका खण्डन करनेकी शास्त्रकारोने अनुज्ञा दी है। कहा भी है—

"दुरभिप्रायसे सीखे गये छोटे-मोटे कुतर्कोके बलपर अत्यन्त बकवाद करनेवाले, अथवा दुःशिक्षित होनेके कारण कुतर्कजालकी कल्पना करके जो अत्यन्त बकवास करते है, तथा जो वितण्डा-निरर्थक वाग्जालके द्वारा परपक्षको फटाटोपसे धूर्ततापूर्वक खण्डन करनेमे कुशल है, क्या ऐसे वाचाल कुवादी 'शठे शाठ्यम्' वाली नीतिके बिना भी जीते जा सकते है? इनके जीतनेके लिए तो छलादि उपायोका आलम्बन करना ही पडेगा। यदि इन वाचाट कुवादियोसे सन्मार्गकी रक्षा न की जायगी, तब लोकमे धर्मकी हँसी होगी। जनता तो गतानुगतिक होती है उसमे विवेक कम होता है, वह तो प्रवादका ही अनुसरण करती है। अतः 'मूढ जनता कुवादियोकी वाचालतासे बहककर कुमार्गपर न जावे' इसी सन्मार्ग रक्षणके उद्देश्यसे दयालु मुनिने छल आदि उपायोका भी उपदेश दिया है ॥१-२॥ इस तरह संकटके समय तथा प्रतिवादीके द्वारा शास्त्रार्थका प्रस्ताव उपस्थित किये जाने पर छल आदिके द्वारा भी परपक्षका खण्डन कर स्वपक्ष स्थापनकी अनुमति है। यदि प्रतिवादी अपनी वाचाटताके कारण जीत जाता है, तब धर्मका नाश एव सन्मार्गका अपवाद आदि अवश्यभावी है अतः यह उचित है कि छल आदिसे भी प्रतिवादीको जीतकर धर्मको अपवादसे बचाकर सन्मार्गकी सुरक्षा की जाय।

---

१ "मुमुक्षुरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात्।"—न्यायम० प्रमे० पृ० १५२। २ -पपटिता भ० २। ३ मार्गादि आ०, क०। ४ च प्रतिछलादि भ० २। ५ हि न धर्म-आ०, क०, प० १, २, भ० १।

§ ७५. 'सा वितण्डा त्वित्यादि' तुशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च। सा तु सैव विजिगीषुकथैव प्रतिपक्षविवर्जिता वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपन्थी प्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षस्तेन विवर्जिता रहिता प्रतिपक्षसा[1]धनहीनेत्यर्थ. वितण्डोदाहृता। [2]वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किंचिद्वादेन परोक्तमेव दूषयतीत्यर्थ. ॥३०॥

§ ७६. अथ हेत्वाभासादितत्त्वत्रयस्वरूपं प्रकटयति—

[3]हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥३१॥

§ ७७.—असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासाः। तत्र पक्षधर्मत्वं यस्य नास्ति, सोऽसिद्धः[4], अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति १। विपक्षे सन्सपक्षे चासन् विरुद्धः,[5] नित्यः शब्दः कार्य[6]त्वादिति २। पक्षादित्रयवृत्तिरनैकान्तिकः[7] अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वा-

---

§ ७५. तु शब्द निश्चयार्थक है। यह तुशब्द भिन्न क्रमवाला है । अत' प्रतिपक्षसे रहित वह जल्प ही वितण्डा कहलाता है। वादीके द्वारा स्थापित पक्षकी अपेक्षा प्रतिवादीका पक्ष प्रतिपक्ष कहलाता है। वितण्डामे प्रतिवादी प्रतिपक्षका अर्थात् अपने पक्षका स्थापन नही करता, वह तो वैतण्डिक वनकर जिस किसी भी तरह वादीका मुँह बन्द करनेमे, मात्र उसके पक्षका खण्डन ही खण्डन करनेमे झुका रहता है। तात्पर्य यह कि अपने पक्षका स्थापन न करके मात्र परपक्ष खण्डनको वितण्डा कहते हैं॥ ३० ॥

§ ७६. अव हेत्वाभास छल और जातिका स्वरूप कहते हैं—

असिद्ध आदि हेत्वाभास हैं। 'इस कुएँमे नवोदक है' यहाँ नूतन जलके अभिप्रायसे प्रयुक्त नवोदक शब्दका 'नव प्रकारका जल' अर्थ करना छल है। जैसे जातियाँ दूषणाभास है, इनके द्वारा पक्ष आदिका वस्तुतः खण्डन नही होता। ३१ ॥

§ ७७ असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास अर्थात् हेतुके लक्षणसे रहित होकर हेतुकी तरह भासमान होनेवाले है।- जिस हेतुमे पक्षधर्मत्व न पाया जाय अर्थात् जो हेतु पक्षमे न रहे वह असिद्ध है जैसे शब्द अनित्य है क्योकि वह चाक्षुष—चक्षुरिन्द्रियके द्वारा दिखाई देता है। शब्द श्रोत्रग्राह्य होता है अत चाक्षुषत्व हेतु शब्दरूप पक्षमे न रहनेके कारण असिद्ध है। जो हेतु सपक्षमे तो न रहता हो और विपक्षमे रहता हो वह विरुद्ध है। जैसे शब्द नित्य है क्योकि वह कार्य है। कार्यत्व हेतु अनित्यरूप विपक्षमे तो रहता है पर किसी भी नित्य सपक्षमे नही। पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष तीनोमे रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक है।

---

१ –धनाहीना– प० १, २, भ० १, २, क०। २ "तयोरेकतर वैतण्डिको न स्थापयतीति। परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तते इति।"—न्यायमा० ।२।३। ३ "सव्यभिचारविरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-कालातीता हेत्वाभासा ।"—न्यायसू० १।२।४। "अहेतवो हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासा । हेतो पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेवैकापाये पञ्च हेत्वाभासा भवन्ति। असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमा ।"—न्यायक० पृ० १४। न्यायसा० पृ० ७। ४ "तत्र पक्षधर्मत्व यस्य नास्ति सोऽसिद्ध । यथानित्यः शब्द चाक्षुषत्वादिति।" —न्यायक० पृ० १४। "तत्रानिश्चितपक्षावृत्तिरसिद्ध ।"—न्यायसा० पृ० ७। ५ "पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो हेतुर्विरुद्ध ।" —न्यायसा० पृ० ७। "सपक्षे सत्त्व यस्य नास्ति विपक्षे च वृत्तिरस्ति स साध्यविपर्ययसाधनत्वाद् विरुद्धो भवति। यथा अश्वोऽय विषाणत्वादिति।"—न्यायक० पृ० १४। ६ –त्वात् प–भ० २। ७ "पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिक ।—"न्यायसा० पृ० ७। "विपक्षादपरिच्युत पक्षसपक्षयो-[illegible] भवति।"—न्यायक० पृ० १४।

दिति ३। हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्यापदिष्टः प्रयुक्तः प्रत्यक्षागमविरुद्धे पक्षे वर्तमानः इत्यर्थः, हेतुः कालात्ययापदिष्टः,[1] अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात्, ब्राह्मणेन सुरा पेया [2]द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदिति ४। स्वपक्षसिद्धाविव परपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः[3], प्रकरणे पक्षे प्रतिपक्षे च तुल्य इत्यर्थः। अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्, सपक्षवदित्येकेनोक्ते द्वितीयः प्राह यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते, तर्हि नित्यतासिद्धिरप्यस्तु, यथा नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवदिति, अथवानित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः घटवत्, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकाशवदिति। न चैतेष्वन्यतरदपि साधनं बलीयो यदितरस्य बाधकमुच्यते। निग्रहस्थानान्तर्गता अप्यमी हेत्वाभासा [4]न्यायप्रविवेकं [5]कुर्वन्तो वादे वस्तुशुद्धिं विदधतीति [6]पृथगेवोच्यन्ते।

§ ७८. "छलं कूपो नवोदकः," इति। परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघात-

---

जैसे शब्द अनित्य है क्योकि वह प्रमेय है। प्रमेयत्व हेतु नित्य या अनित्य सभी पदार्थोमे रहता है। हेतुके प्रयोगका समय अनुकूल तो वह है जब वह हेतु प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा अबाधित पक्षमे प्रयुक्त हो। पर जब वह हेतु प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा अबाधित पक्षमे प्रयुक्त होता है तब वह अपने कालके बीत जानेपर प्रयुक्त होनेसे कालात्ययापदिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष और आगमसे बाधित पक्षमे प्रयुक्त होनेवाला हेतु कालात्ययापदिष्ट है। जैसे 'अग्नि ठण्डी है क्योकि वह कृतक अर्थात् कार्य है' यहाँ कृतकत्व हेतु प्रत्यक्षबाधित पक्षमे प्रयुक्त हुआ है। तथा 'ब्राह्मणको मदिरा पीनी चाहिए' 'क्योकि वह पतला द्रव्य है जैसे कि दूध' यह हेतु आगमबाधित पक्षमे प्रयुक्त हुआ है अतः दोनो कालात्ययापदिष्ट है। स्वपक्षसिद्धिकी तरह परपक्षकी सिद्धिमे (स्वपक्षका अभाव सिद्ध करनेमे) भी समान बलवाले त्रिरूप हेतुकी उपस्थिति होनेपर प्रथमहेतु प्रकरणसम- समान प्रक्रियावाला हो जाता है। प्रकरण अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष दोनोमे सम अर्थात् तुल्य बलवाला हेतु। जैसे, एकवादीने 'शब्द अनित्य है क्योकि वह अनित्यपक्ष और अनित्यसपक्षमे-से किसी एकमे शामिल है जैसे कि सपक्ष।' इस हेतुका प्रयोग किया। तब प्रतिवादीसे न रहा गया। वह बोल ही उठा कि—यदि इस प्रणालीसे तुम शब्दको अनित्य सिद्ध करते हो तब ठीक इसी तरह शब्दमे नित्यताकी भी सिद्धि होनी चाहिए। यथा 'शब्द नित्य है' क्योकि वह नित्य पक्ष तथा अनित्य ही सपक्ष, दोमे से किसी एक रूप है, जैसे कि सपक्ष।' अथवा, एक वादीने कहा कि—'शब्द नित्य है क्योकि उसमे नित्यत्व धर्म नही पाया जाता जैसे कि घटमे।' तब प्रतिवादी कहता है कि—'शब्द नित्य है, क्योकि उसमे अनित्यत्व धर्म नही पाया जाता जैसे कि आकाशमे' इस तरह समान बलवाले प्रतिपक्षी हेतुके मिलनेपर पहला हेतु प्रकरणसम हो जाता है। इन दोनो हेतुओमे कोई एक साधन दूसरेसे बलवान् नही है जिससे वह दूसरेका बाधक हो सके। यद्यपि हेत्वाभास निग्रहस्थानोमे अन्तर्भूत है फिर भी इनके द्वारा वादमे न्यायका विवेक होकर वस्तु शुद्धि होती है, अतः इनका पृथक् निरूपण किया गया है।

§ ७८ 'इस कुँएमे नवोदक अर्थात् नया जल है' यह छल है। यहाँ नवोदक शब्द नये पानीके अभिप्रायसे कहा गया है, परन्तु उसका नौ प्रकारके जल यह अर्थ करना छल है। वादीके

---

१ "प्रत्यक्षागमविरुद्ध कालात्ययापदिष्ट। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यायमापदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्ध। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्ध।"—न्यायक० पृ० १५। "प्रमाणबाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः।" न्यायसा० पृ० ७। २ द्रवत्वात् भ० २। ३ "स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः।" न्यायसा० पृ० ७, न्यायक० पृ० १५। ४ न्यायविवेक आ०, क०। ५ कुर्वन्तो क०। कुर्वन्ति वादे भ० २। ६ पृथगेवोच्य–प० १, २, भ० १, २।

श्छलम्[1]। तत्त्रिविधं[2] वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च। परोक्तेऽर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्[3]। यथा नव्यः कम्बलोऽस्येत्यभिप्रायेण नवकम्बलो माणवक इत्युक्ते छलवाद्याह, कुतोऽस्य नवसंख्याः कम्बला इति ॥१॥

§ ७९. संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्[4]। यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसंगे कश्चिद्वदति संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति। तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते[5]। व्रात्येनानैकान्तिकमेतत्, यदि हि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तदा व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति ॥२॥

द्वारा कहे गये वचनोमे अपनी कपोलकल्पनासे दूसरा अर्थ कल्पित करके उसके वचनका खण्डन करना छल है। छल तीन प्रकारका है—१ वाक् छल, २ सामान्य छल, ३ उपचार छल। दूसरेके द्वारा कहे गये वचनोका अर्थ बदलकर भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है। जैसे 'यह लडका नव कम्बल लिये है' यहाँ छलवादी, 'नूतन' अर्थमें प्रयोग किये 'नव' शब्दका जान-बूझकर 'नवीन' अर्थकी अपेक्षाकर 'नौ' अर्थ करके कहता है कि—'इसके नौ ९ कम्बल कहाँ है?' इस तरह अनेकार्थक शब्दोका मनमाना अर्थ बदलना वाक्छल है।

§ ७९. सम्भावना मात्रसे कही गयी बातमे आये हुए सामान्यधर्मको अविनाभावी हेतु मानकर उसका निषेध करना सामान्य छल है। सामान्य धर्म अतिप्रसङ्गी अर्थात् विवक्षित विशेष धर्मके अभावमे भी रहनेवाला होता है। यथा, 'अहो! यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे सम्पन्न है' इस तरह विद्या और चारित्रकी बहुलता देखकर सम्भावना मात्रसे ब्राह्मणकी स्तुतिके प्रसगमे उक्त वाक्य कहा गया है। इसमे वाक्य तो ब्राह्मणत्व जातिसे विशिष्ट व्यक्तिमे विद्या और आचरणकी मात्र सम्भावना की गयी है, ब्राह्मणत्व रूप सामान्य धर्मको विद्या और आचरणके सद्भावमे हेतु नही बताया है। परन्तु छलवादी ब्राह्मणत्वरूप अति सामान्य अर्थात् विवक्षित विद्यादि युक्तत्वरूप विशेषके अभावमे रहनेवाले सामान्यको अविनाभावी हेतु मानकर उक्त वाक्यका इस प्रकार खण्डन करता है—'देखो' व्रात्य (-जिस द्विजका संस्कार नही हुआ ऐसा असंस्कृत ब्राह्मण-) भी जातिसे ब्राह्मण तो है पर उसमे न तो विद्या ही है और न चारित्र ही। यदि ब्राह्मणमे विद्याचरण सम्पत्ति होती है तो व्रात्यमे भी होनी चाहिए व्रात्य भी आखिर ब्राह्मण तो है ही।

---

§ ८२. तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा[1] जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्। यद्यनित्यघटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः इष्यते, तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वा[2]न्नित्यं प्राप्नोतीति १।

§ ८३. वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः, अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे[3] वैधर्म्येणोक्ते प्रत्यवस्थानम्। नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, अनित्यं हि मूर्तं दृष्टं, यथा [4]घटादीति। यदि हि नित्याकाशवैधर्म्यात्कृतकत्वादनित्य इष्यते, तर्हि घटाद्यनित्यवैधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः[5] प्राप्नोति, विशेषाभावादिति २।

§ ८४. उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे[6] जाती भवतः। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तसाधर्म्यं किंचित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते। यदि घटवत्कृतत्वादनित्यः शब्दस्तर्हि घटवदेव मूर्तोऽपि भवेत्। न चेत् मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति ३। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्ट, एवं शब्दोऽपि भवतु।

---

§ ८२. साधर्म्यसे हेतुका उपसंहार करनेपर साधर्म्य अर्थात् अन्य दृष्टान्तकी समानता दिखाकर खण्डन करना साधर्म्यसमा जाति है। यथा, 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है—कृत्रिम है जैसे कि घडा' इस तरह साधर्म्यदृष्टान्त देकर हेतुका उपसहार करनेपर इसका खण्डन करनेके लिए यह कहना कि—'यदि कृतकत्वरूप धर्मकी दृष्टिसे घडे और शब्दमे समानता होनेके कारण घडेके समान शब्द अनित्य है तो अमूर्तत्व धर्मकी अपेक्षा आकाश और शब्दमे भी समानता है, इसलिए आकाशकी तरह शब्दको भी नित्य मानना चाहिए।' साधर्म्यसमा जाति है।

§ ८३ वैधर्म्य-व्यतिरेकधर्मके द्वारा हेतुका उपसहार करनेपर अन्यदृष्टान्तका वैधर्म्य दिखलाकर ही खण्डन करना वैधर्म्यसमा जाति है। जैसे 'शब्द अनित्य है क्योकि वह कृत्रिम है जैसे घट' इसी प्रयोगका 'जो अनित्य नही है वह कृत्रिम भी नही जैसे आकाश' इस प्रकार वैधर्म्यदृष्टान्त देकर उपसहार करनेपर प्रतिवादीका यह कहना कि—'नित्य आकाशसे कृत्रिमत्वरूप विलक्षणता होनेके कारण शब्द अनित्य है तो घटादि अनित्य पदार्थोसे भी जो कि मूर्त हैं, अमूर्तत्वरूप विलक्षणता शब्दमे पायी जाती है अत शब्दको नित्य होना चाहिए। क्योकि आकाशकी विलक्षणता तथा घड़ेकी विलक्षणतामे साधकत्वरूपसे कोई विशेषता नही है या तो दोनो साधक हो या दोनो ही असाधक।' वैधर्म्यसमा जाति है।

§ ८४. दृष्टान्त की समानता से उसी के किसी अप्रकृतधर्मका साध्य मे उत्कर्ष-सद्भावका प्रसग देकर खण्डन करना उत्कर्षसमा जाति है तथा दृष्टान्तकी समानतासे साध्यके किसी धर्मका अपकर्ष-अभाव दिखलाकर खण्डन करना अपकर्षसमा जाति है। 'शब्द अनित्य है क्योकि वह घडे की तरह कृत्रिम है' इसी प्रयोग मे दृष्टान्तकी समानतासे किसी अप्रकृतधर्मका साध्यमे आपादन करनेवाला प्रतिवादी उत्कर्षसमा जातिका प्रयोग करनेवाला होता है। वह कहता है कि—'यदि घडे की तरह कृत्रिम होनेसे शब्द अनित्य है तो शब्दको घडे की तरह मूर्तीक भी होना चाहिए। यदि मूर्तीक नही है तो घडे की तरह अनित्य भी न हो।' इस तरह शब्द मे मूर्तत्वरूप धर्मान्तरका उत्कर्ष दिखा कर खण्डन करने की चेष्टा की गयी है। अपकर्षसमा—'कृत्रिम घट अश्रावण

नो चेत् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वमपकर्षति ४।

§ ८५ वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती[1] भवत। स्थापनीयो वर्ण्यस्त-द्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन्वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते। यथाविध. शब्दधर्म कृतकत्वादिर्न [2]तादृक् घटधर्मो, यादृक् च घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति। साध्यधर्मो दृष्टान्तधर्मश्च हि तुल्यौ कर्तव्यौ। अत्र तु विपर्यास। यतो यादृग् घटधर्मः कृतकत्वादिर्न तादृक् शब्दधर्म। घटस्य ह्यन्यादृश कुम्भकारादिजन्य कृतकत्व, शब्दस्य हि ताल्वोष्ठादिव्यापारजमिति ५-६।

§ ८६. धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थान विकल्पसमा जाति[3]। यथा कृतक किंचिन्मृदु दृष्टं तूलशय्यादि, किंचित्तु कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किंचिदनित्यं भविष्यति घटादिकं, किंचिच्च नित्यं शब्दादीति ७।

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नही होता, अत घडेकी तरह शब्दको भी अश्रावण ही होना चाहिए। यदि शब्द घडेकी तरह अश्रावण नही होता तो घडेकी तरह अनित्य भी न हो।' इस तरह शब्दके श्रावणत्वधर्मका अपकर्ष अर्थात् अभाव दिखाकर खण्डन करना अपकर्षसमा जाति है।

§ ८५ दृष्टान्त और साध्यमे समानता होनी चाहिए, अत यदि साध्य वर्ण्य अर्थात् कथन करनेके योग्य—सिद्ध करनेके योग्य असिद्ध है तो दृष्टान्तको भी असिद्ध होना चाहिए इस तरह 'वर्ण्य'का प्रसग देकर खण्डन करना वर्ण्यसमा जाति है। यदि दृष्टान्त अवर्ण्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य नही है स्वय प्रसिद्ध है तो साध्यको भी स्वयसिद्ध होना चाहिए, इस तरह 'अवर्ण्य'का प्रसग देकर खण्डन करना अवर्ण्यसमा जाति है। स्थापनीय अर्थात् जिसका कथन करना है, जिसे सिद्ध करना है उसे वर्ण्य कहते है। जो सिद्ध करनेके योग्य न होकर स्वयसिद्ध है वह अवर्ण्य है। साध्यधर्म वर्ण्य-असिद्ध होता है तथा दृष्टान्तधर्म अवर्ण्य-प्रसिद्ध। साध्यमे अवर्ण्यत्व अर्थात् प्रसिद्धत्व का तथा दृष्टान्तमे वर्ण्यत्व अर्थात् असिद्धत्वका प्रसग देना वर्ण्यसमा-अवर्ण्यसमा जातियाँ है। प्रतिवादी कहता है कि—'शब्दमे जैसे असिद्ध कृतकत्वादि धर्म है वैसे घडेमे नही है तथा घडेमे जैसे प्रसिद्ध कृतकत्वादि धर्म है वैसे शब्दमे नही पाये जाते। साध्यधर्म और दृष्टान्तधर्ममे तो पूरी पूरी समानता होनी चाहिए। पर यहाँ तो उलटा ही देखा जा रहा है, 'क्योकि जैसे प्रसिद्ध कृतकत्वादिधर्म घडेमे है वैसे शब्दमे नही पाये जाते। घडेको कुम्हार उत्पन्न करता है अत. घडेमे कुम्हारसे उत्पन्न होनारूप कृतकत्व है जो कि प्रसिद्ध है पर शब्द तो तालु ओठ आदिके व्यापारसे उत्पन्न होता है, अत उसमे तात्वादि व्यापारजन्यत्वरूप विलक्षण ही कृतकता है जो कि असिद्ध है।'

§ ८६ दूसरे धर्मोके विकल्प उठाकर खण्डन करना विकल्पसमा जाति है। जैसे—कोई कृत्रिम वस्तु नरम देखी जाती है जैसे रूईकी शय्या आदि, कोई कुल्हाडी आदिकी तरह कठिन भी देखी जाती है, उसी तरह कोई कृत्रिम वस्तु अनित्य हो जैसे घडा आदि तथा कोई नित्य भी हो जाय जैसे कि शब्द आदि। इस प्रकार कृतकवस्तुमे मृदु कठिन आदि विकल्पोको उठाकर साध्यमे विपरीतधर्म दिखाना विकल्पसमा जाति है।

---

१ "वर्ण्यावर्ण्याभ्या प्रत्यवस्थान वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवत। स्थापनीयो वर्ण्य साध्यधर्म। तद्विपर्ययादवर्ण्य सिद्धो दृष्टान्तधर्म। तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते।"—न्यायक० पृ० १८। २ तादृक् च घट—आ०, क०। ३ "धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थान विकल्पसमा जाति"।—न्यायक० पृ० १८।

§ ८७. साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा[1] जातिः। यदि यथा घटस्तथा शब्दः [2]प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति, शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यः साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात्सुतरां न दृष्टान्त इति ८।

§ ८८. प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती[3]। यदेतत्कृतकत्वं साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साध्यं साधयत्यप्राप्य वा। प्राप्य चेत्[4], तर्हि द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न सदसतोरिति। द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा। अप्राप्य तु साधनत्वमयुक्तमतिप्रसंगादिति ९–१०।

§ ८९. प्रसंगापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसंगसमा[5] जातिः। यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं, तदा कृतकत्वे किं साधनं, तत्साधनेऽपि किं साधनमिति ११।

§ ९०. प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा[6] जातिः। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीय-

---

§ ८७ दृष्टान्तमे साध्यकी असिद्धत्वादि रूप समानताका प्रसग देकर खण्डन करना साध्यसमा जाति है। यथा 'जैसा घडा है वैसा ही शब्द है' तो इसका अर्थ यह भी हुआ कि 'जैसा शब्द है वैसा घड़ा है' क्योकि समानता तो दुतरफा ही होनी चाहिए। चूँकि शब्द अभी साध्य—असिद्ध है इसलिए घडेको भी साध्य होना चाहिए। और जब घड़ा साध्य—असिद्ध हो गया तब वह दृष्टान्त नही रह सकेगा, क्योकि दृष्टान्त तो प्रसिद्ध होता है, जो स्वय साध्य—असिद्ध है वह दूसरे साध्यको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त नही बन सकता। यदि वह साध्य के समान असिद्ध नही है, अर्थात् साध्यकी समानता उसमे नही पायी जाती, तब ऐसा विलक्षण पदार्थ अन्वय दृष्टान्त कैसे हो सकता है? अन्वय दृष्टान्त तो साध्यके समानधर्मवाला ही होता है।

§ ८८ प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठाकर खण्डन करना प्राप्ति-अप्राप्तिसमा जातियाँ है। जैसे—यह कृतकत्वसाधन अपने अनित्यत्वरूप साध्यको प्राप्त करके उससे सम्बन्ध स्थापित करके उसकी सिद्धि करता है, अथवा विना प्राप्त किये ही? यदि सम्बन्ध रखकर साध्यकी सिद्धि करता है, तो प्राप्ति अर्थात् सम्बन्ध तो दो विद्यमान-सिद्ध पदार्थोमे ही होता है, एक मौजूद तथा दूसरा गैरमौजूद हो तो उनमे सम्बन्ध नही हो सकता। इसलिए जब हेतु और साध्य दोनो ही सत्—विद्यमान—सिद्ध है तब कौन किसका साधन तथा कौन किसका साध्य होगा? एक साधन तथा दूसरा साध्य क्यो होगा! या तो दोनो ही साध्य होगे या दोनो ही साधन। यदि हेतु साध्यको प्राप्त किये विना ही उसकी सिद्धि करे, तो धूमहेतुको जलरूप साध्यकी भी सिद्धि करनी चाहिए। इस तरह इस पक्षमे अतिप्रसग दोष होता है।

§ ८९. दृष्टान्तमे भी साधनकी आवश्यकताका प्रसग देकर खण्डन करना प्रसगसमा जाति है। जैसे—यदि अनित्य साध्यकी सिद्धिके लिए कृतकत्व रूप साधन का प्रयोग किया गया है तो कृतकत्वकी सिद्धिके लिए कौन-सा साधन होगा? उस साधनकी सिद्धिके लिए भी अन्य साधनका प्रयोग होना चाहिए।

§ ९० प्रतिदृष्टान्त अर्थात् साध्यका अभाव सिद्ध करनेवाले दृष्टान्तका प्रसग देकर खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है। यथा, 'शब्द अनित्य है क्योकि वह प्रयत्न करनेपर उत्पन्न होता

---

१ "साध्यसाम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० १८। २ प्राप्तन्तर्हि आ०, क०। ३ "प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती भवतः।"—न्यायक० पृ० १८। ४ चेत् द्वयोर्वि—प० १,२, म० १,२। ५ "प्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० १८। ६ "प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः।"—न्यायक० पृ० १८।

कत्वात्, घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह। यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्टः, एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं, कूपखननप्रयत्नानन्तरं तदुपलम्भादिति। न[1] चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात् १२।

§ ९१. अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा[2] जातिः। अनुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते। तदेवं हेत्वाभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३।

§ ९२. साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुदाहारि सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा[3] जातिर्भवति। किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्द उत तद्वैधर्म्यादाकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्य इति १४।

§ ९३. द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा च[4] जातिः प्रकरणसमा[5] भवति। तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववदिति। उद्भावनप्रकारभेदमात्रेण च जातिनानात्वं द्रष्टव्यम् १५।

है जैसे कि घडा' यह कहनेपर जातिवादी कहता है कि—'प्रयत्न करनेपर तो पदार्थकी उत्पत्ति भी होती है तथा अभिव्यक्ति भी, अत यद्यपि घडा प्रयत्नानन्तरीयक अर्थात् प्रयत्नका अविनाभावी होकर अनित्य देखा गया है फिर भी नित्य आकाशरूप प्रतिदृष्टान्त मौजूद है। कुआँ खोदनेपर गड्ढेमे आकाश निकल आता है, अत। जिस तरह प्रयत्नानन्तरीयक होनेपर भी आकाश नित्य है उसी प्रकार शब्दको भी नित्य होना चाहिए।' यद्यपि यह जाति प्रयत्नानन्तरीयक हेतुमे व्यभिचार दिखानेके कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास सरीखी मालूम होती है, परन्तु अनैकान्तिक हेत्वाभासमे जहाँ केवल हेतुकी मात्र विपक्षवृत्ति दिखाई जाती है, तब इसमे व्यभिचारके स्थानको प्रतिदृष्टान्तके रूपमे उपस्थित करके पक्षमे साध्याभावका प्रसग दिया जाता है। इस तरह परिपाटीमे भेद होनेसे यह अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप नही है।

§ ९१ धर्मीके उत्पत्तिके पहले कारणोका अभाव दिखाकर खण्डन करना अनुत्पत्तिसमा जाति है। जैसे—यदि शब्द नामक धर्मी अनुत्पन्न है, तो कृतकत्व हेतु कहाँ रहेगा? अर्थात् आश्रयासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। जब हेतु ही नही रहा तब साध्यकी सिद्धि कैसे होगी? यदि उत्पत्तिके पहले भी शब्द उत्पन्न अर्थात् विद्यमान है तो वह नित्य हो जायेगा।

§ ९२ पूर्वोक्त साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति जब साध्यमे सन्देह उत्पन्न करनेके लिए प्रयुक्त होती है तव वही सशयसमा जाति कही जाती है। जैसे 'घटके कृतकत्वरूप साधर्म्यसे शब्द अनित्य है, अथवा आकाशके अमूर्तत्वरूप साधर्म्यसे नित्य? अथवा 'घटके कृतकत्वरूप साधर्म्यसे शब्दको अनित्य माना जाय अथवा घटके ही अमूर्तत्वरूप विलक्षणधर्मसे नित्य?'

§ ९३ पूर्वोक्त साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति जव दूसरे विरुद्धपक्षको खडा करनेकी दृष्टिसे प्रयुक्त होती है तब वही प्रकरणसमा कही जाती है। जैसे—'शब्द अनित्य है क्योकि वह घडेकी तरह कृत्रिम है' इसी प्रयोगमे 'शब्द नित्य है क्योकि वह श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा सुना जाता है जैसे शब्दत्व' यह कहकर शब्द नित्यत्व नामका एक दूसरा ही पक्ष खडा कर देना प्रकरणसमा जाति है। इन जातियोमे कहनेके ढगकी विचित्रताके कारण ही परस्पर भेद है।

---

१ न चैतदनै—भ०, २। २ "अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिर्भवति।" —न्यायक० पृ० १९। ३ "साधर्म्यवैधर्म्यसमा जातिर्या पूर्वमुदाहृता सैव संशयेनोपक्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० १९। ४ वा भ० २। ५ "द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा जाति प्रकरणसमा भवति।"—न्यायक० पृ० १९।

§ ९४. त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः[1] प्रत्यवस्थानहेतुसमा[2] जातिः। हेतु साधनं तत्साध्यात्पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत्। यदि पूर्वमसति साध्ये तत्कस्य साधनम्। अथ पश्चात्साधनं तर्हि पूर्वं साध्यं तस्मिश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन। अथ युगपत्साध्यसाधने तर्हि तयो· सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६।

§ ९५[3] अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानमर्थापत्तिसमा[4] जाति। यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्य· शब्दोऽर्थादापद्यते, तदा नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति। अस्ति चास्य नित्येनाकाशादिना साधर्म्यममूर्तत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति १७।

§ ९६. अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा[5] जातिः। यदि शब्दघटयोरेको धर्म· कृतकत्वमिष्यते, तर्हि समान[6] धर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेष· प्रसज्यत इति १८।

§ ९७. उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा[7] जातिः। कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं, तर्ह्यमूर्तत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवतीति पक्षद्वयोपपत्त्यानध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् १९।

§ ९८. उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा[1] जातिः। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते प्रत्यवतिष्ठते। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्। साधनं हि तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते। उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनापि विद्युदादावनित्यत्वं, शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथैवेति २०।

§ ९९. अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा[2] जातिः। तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी। न [3]प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासौ, आवरणयोगात्तु नोपलभ्यते। आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भान्नास्त्येवोच्चारणात्प्राक्शब्द इति चेत् न। अत्र हि यानुपलब्धि सा स्वात्मनि वर्तते न वा। वर्तते चेत्तदा यत्रावरणेऽनुपलब्धिर्वर्तते, तस्यावरणस्य यथानुपलम्भस्तथावरणानुपलब्धेरप्यनुपलम्भः स्यात्। आवरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावो भवेत्। तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति। ततश्च मृदन्तरित[4]मूलकीलादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव

§ ९८. निर्दिष्ट साधनके अभावमे साध्यकी उपलब्धि बताकर खण्डन करना उपलब्धिसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है क्योकि वह प्रयत्नानन्तरीयक-प्रयत्नका अविनाभावी है, प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है' इस हेतुका जातिवादी इस प्रकार खण्डन करता है कि—'प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्यत्वका साधक नही हो सकता। साधन तो उसे कहते है जिसके विना साध्य न हो सके। पर विजली आदिमे प्रयत्नानन्तरीयकत्वके अभावमे भी अनित्यत्व देखा जाता है। इसी तरह भीषण आँधी आनेपर टूटनेवाली वृक्षोकी शाखाओ आदिकी चरमराहट भी प्रयत्नके विना ही देखी जाती है और वह अनित्य है।

§ ९९ अनुपलब्धिकी भी अनुपलब्धि दिखाकर खण्डन करना अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे—'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होने से अनित्य है' इस अनुमानका प्रयोग करनेपर जातिवादी कहता है कि—'प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे शब्दको कार्य नही कह सकते, उच्चारणरूप प्रयत्नसे तो शब्दकी अभिव्यक्ति होती है। उच्चारणके पहले भी शब्द विद्यमान है, आवरणके कारण उसकी उपलब्धि नही होती।' अनुमानवादी—यदि आवरणके कारण उच्चारणके पहले शब्दकी उपलब्धि नही होती तो कमसे कम आवरणकी तो उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए। जैसे यदि कपडेसे ढँकी हुई चीज नही दिखती तो कपडा तो जरूर ही दीखता है। चूँकि शब्दका आवरण भी उपलब्ध नही होता और शब्द भी उपलब्ध नही होता अत उच्चारणके पहले शब्द है ही नही, और इसीलिए उसकी उच्चारणसे उत्पत्ति माननी चाहिए। जातिवादी—आप जिस तरह आवरणकी अनुपलब्धिसे आवरणका अभाव सिद्ध करते है उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि भी कहाँ उपलब्ध होती है? अर्थात् वह भी तो अनुपलब्ध ही है अत आवरणानुपलब्धिकी अनुपलब्धि होनेसे आवरणानुपलब्धिका अभाव होकर आवरणका सद्भाव ही सिद्ध होता है। और आवरणका सद्भाव होनेसे उच्चारणके पहले शब्दका सद्भाव सिद्ध हो ही जाता है। हम जो आवरणानुपलब्धिकी अनुपलब्धि कह रहे है तथा आप जो आवरणकी अनुपलब्धि कह रहे है ये अनुपलब्धियाँ स्वरूपसत् है, या नही? यदि है, तो जिस प्रकार आवरण विषयक अनुपलब्धिके स्वरूपसत् होनेसे आप आवरणका अभाव सिद्ध करते हो उसी तरह आवरणानुपलब्धिविषयक अनुपलब्धि भी स्वरूपसत् होकर आवरणानुपलब्धिका अभाव सिद्ध करेगी। इस तरह आवरणानुपलब्धिका अभाव होनेपर आवरणोपलब्धिका सद्भाव ही हो जाता है। अतः जैसे मिट्टीसे

१ "उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २०। २ "अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २०। ३ प्रयत्नानन्तरीयकः कार्य आ० क०। ४ मूलकली कादि आ०।

शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहणम् । अथानुपलब्धिः स्वात्मनि न वर्तते चेत्, तर्ह्यनुपलब्धिः स्वरूपेणापि नास्ति । तथाप्यनुपलब्धेरभाव उपलब्धिरूपस्ततोऽपि शब्दस्य प्रागुच्चारणादप्यस्तित्वं स्यादिति । द्वेधापि प्रयत्नकार्यत्वाभावान्नित्यः शब्द इति २१ ।

§ १००. साध्यधर्मनित्यानित्यविकल्पेन शब्दस्य नित्यत्वापादनं नित्यसमा[1] जातिः । अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति । येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति । यद्यनित्या तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायान्नित्यः शब्दः । अथानित्यता नित्यैव तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव स्यात्, तस्यानित्यत्वे तद्धर्मस्य नित्यत्वायोगात् । इत्युभयथापि नित्यः शब्द इति २२ ।

§ १०१. एवं सर्वभावानामनित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा[2] जातिः । घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तदा घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्य[3]मिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति, अनित्यत्वमात्रोपपादनपूर्वकविशेषोद्भावनादविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः २३ ।

ढँकी हुई वृक्षकी जड या जमीनमे गडी हुई कील आदिकी मिट्टीरूप आवरणके कारण अनुपलब्धि है उसी तरह उच्चारणसे पहले शब्दकी भी आवरणके कारण ही अनुपलब्धि है । यदि अनुपलब्धि स्वरूपसत् नही है अर्थात् अनुपलब्धि नही है, तो आवरणकी अनुपलब्धि न होनेसे आवरणकी उपलब्धि ही फलित होती है । तब भी उच्चारणसे पहले शब्दका अस्तित्व ही सिद्ध होता है । इस तरह दोनो ही प्रकारसे शब्द प्रयत्नका कार्य नही हो सकता अतः उसे नित्य ही मानना चाहिए ।

§ १०२. प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा[1] जाति.। अनित्य. शब्द. प्रयत्नान्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह। प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टम्। किंचिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकम्। किंचिच्च सदेवावरणव्युदासादिनाभिव्यज्यते यथा[2] मृदन्तरितमूलकीलकादि गर्भगत-पुत्रादि वा। एव प्रयत्नकार्यनानात्वादेष शब्दः प्रयत्नेन व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति। संशया-पादनप्रकारभेदाच्च संशयसमात. कार्यसमा जातिर्भिद्यते २८।

§ १०३. तदेव[3] मुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्येऽप्यसंकीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा एते प्रदर्शिता.।

§ १०४. प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीना पक्षधर्मत्वाद्यनुमानलक्षणपरीक्षालक्षणमेव। न ह्यविप्लुतलक्षणे हेतावेवंप्राया पांशुपाता. प्रभवन्ति। कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च दृढकृतप्रति-बन्धात् नावरणादिकृतं शब्दानुपलम्भनमपि त्वनित्यत्वकृतमेव। 'जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्य-गुत्तरमेव वक्तव्यम्, न तु प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्यप्रसंगादिति[4] ॥३१॥

---

§ १०२. प्रयत्नके उत्पत्ति अभिव्यक्ति आदि अनेक कार्योको दिखाकर खण्डन करना कार्य-समा जाति है। जैसे 'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे अनित्य है' इस अनुमानका प्रयोग करनेपर जातिवादी कहता है कि 'प्रयत्न दो प्रकारका होता है। एक प्रयत्न असत् पदार्थको उत्पन्न करता है जैसे घडेको उत्पन्न करनेवाला कुम्हारका प्रयत्न। दूसरे प्रयत्नमे विद्यमान पदार्थका आवरण हटाकर अभिव्यक्ति प्रकटता की जाती है जैसे जमीन खोदकर जड या गडी हुई कीलका प्रकट किया जाना, अथवा गर्भगत पुत्रादिका प्रकट होना। इसी प्रकार जब प्रयत्नके अनेक कार्य होते हैं तब सन्देह हो सकता है कि 'यह शब्द उच्चारणादि प्रयत्नसे उत्पन्न होता है या प्रकट होता है ?' संशय उत्पन्न करनेके प्रकारमे भेद होनेसे यह संशयसमा जातिमे भिन्न है।

§ १०३ यद्यपि उद्भावनके प्रकारो तथा विषयोमे भेद होनेसे जातियोके अनन्त भेद हो सकते है फिर भी असंकीर्ण अर्थात् परस्परमे अन्तर्भूत नही होनेवाले उदाहरणोकी अपेक्षासे जातियोके ये चौवीस भेद दिखाये गये है।

§ १०४ इन सब जातियोका समाधान इस प्रकार करना चाहिए—जब मूल अनुमान हेतु मे पक्षधर्मत्व आदि पंचरूप विद्यमान हैं तब अन्य किसी साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्तके उपस्थित करने मात्रसे उसकी व्याप्तिका खण्डन नही किया जा सकता। सच्चे अविनाभावी हेतुकी आँखोमे इस तरहकी जाति प्रयोगरूपी धूल नही झोकी जा सकती। जब कृतकत्व या प्रयत्नानन्तरीयकत्व-का कार्यत्वके साथ निर्दोष दृढ सम्बन्ध मौजूद है तब शब्दकी उच्चारणसे पहले अनुपलब्धि आव-रणके कारण नही है किन्तु शब्दका अभाव ही उसमे कारण है। अत शब्द अनित्य ही है। जब प्रतिवादी जातिका प्रयोग करे तब उसका खण्डन सम्यक् उत्तर देकर ही करना चाहिए। यदि जातिवादीका खण्डन जात्युत्तरसे ही किया जावे, तब तो मिथ्यादूषणोकी परम्परा होनेसे शास्त्रार्थ तो भाँडोका तमाशा जैसा हो जायगा। और इस तरह बडी गडबड उत्पन्न हो जायगी। अत. जातिवादीका खण्डन सम्यक् सयुक्तिक उत्तरसे ही करना चाहिए ॥३१॥

---

१. "प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थान कार्यसमा जातिर्भवति।"—न्यायक० पृ० २१। २ यथा मूलकीलादि भ० २। ३ तदेवोद्भा—भ० २। "तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामा-नन्त्येऽपि असङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिर्जातिभेदा प्रदर्शिता। प्रतिसमाधान तु सर्वजातीना पक्षधर्मत्वाद्यनुमानलक्षणे हेतावेवम्प्राया पांशुपाता भवन्ति।"—न्यायक० पृ० २१। ४ "जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तर वक्तव्यम्। प्रतिपज्जात्युत्तरेणैव प्रत्यवस्येयमासमञ्जस्यप्रसङ्गादिति।" —न्यायक० पृ० २१। ५ –यमसमजसस्यप्र—भ० २।

§ १०५. अथ निग्रहस्थानमाह ।

[1]निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते ।
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदतः ॥३२॥

§ १०६ व्याख्या—येन केनचित्प्रतिज्ञाहान्याद्युपरोधेन परो विपक्षो निगृह्यते, परवादी, वचननिग्रहे पात्यते तन्निग्रहस्थानम् । पराजयस्तस्य स्थानमाश्रयः कारणमित्यर्थः । आख्यातं कथितम् । कुतो नामभेदत इत्याह—'प्रतिज्ञाहानीत्यादि' । हानिस्त्यागः; संन्यासो[2]ऽपह्नवनं विरोधो हेतोर्विरुद्धता, तेषां द्वन्द्वे हानिसंन्यासविरोधाः । ततः प्रतिज्ञाशब्देनेत्थं सम्बन्धः, प्रतिज्ञायाः पक्षस्य हानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधास्ते आदिर्येषां ते प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादयः, आदिशब्देन शेषानपि भेदान्परामृशति[3], तेषां विभेदतो विशिष्टभेदतः, येन प्रतिज्ञाहान्यादिदूषणजालेन परो निगृह्यते, तन्निग्रहस्थानमित्यर्थः ।

§ १०७. निग्रहस्थानं च सामान्यतो द्विविधं, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च[4] । तत्र[5] विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्तु साधनस्य[6] दूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् । [7]द्विधा हि वादी पराजीयते । यथा—कर्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीतं

§ १०५ अब निग्रहस्थानका कथन करते हैं—

जिन शास्त्रार्थके नियमोसे प्रतिवादी पराजित होता है उन्हे निग्रहस्थान कहते है । यह प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञासंन्यास प्रतिज्ञाविरोध आदिके भेदसे २२ प्रकारका है ॥३२॥

§ १०६. जिस किसी प्रतिज्ञाहानि आदिके कारण पर-विपक्ष निगृहीत होता है, प्रतिवादी पराजयमे डाल दिया जाता है उसे निग्रहस्थान कहते है । निग्रहस्थान अर्थात् पराजयका कारण । हानि-त्याग, सन्यास-लोप, विरोध-हेतुसे प्रतिज्ञाका उलटा होना । इनका द्वन्द्व समास करके प्रतिज्ञा शब्दसे समास करनेपर प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञासन्यास तथा प्रतिज्ञाविरोध फलित होते है । आदि शब्दसे अन्य हेत्वन्तर आदि निग्रहस्थानोका ग्रहण कर लेना चाहिए । इन सब विशेष अर्थात् विशिष्ट भेदवाले प्रतिज्ञाहानि आदिरूप दूषण जालमे फँसकर वादी या प्रतिवादी पराजित हो जाता है ।

§ १०७. निग्रहस्थान सामान्यसे दो भागोमे बाँटे जा सकते है—१ विप्रतिपत्ति मूलक तथा दूसरे अप्रतिपत्तिमूलक । विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या कुत्सित प्रतिपत्ति—उलटी समझ—साधनाभासको साधन मानना तथा दूषणाभासको दूषण समझ लेना । अप्रतिपत्ति—प्रतिपत्ति—समझका अभाव नासमझी—जो करना चाहिए उसका ज्ञान न होना । वादीके द्वारा प्रतिपादित साधनमे दोष नही दे सकना तथा वादीके द्वारा किये गये खण्डनका उत्तर नही दे पाना । वादियोका पराजय दो ही प्रकारसे होता है—या तो वे कर्त्तव्य अर्थात् साधनमें दोष देनेके ढगके तथा दूषणके उद्धार करने

१ "निग्रह पराजयस्तस्य स्थानमाश्रय कारणमित्यर्थ ।"—न्यायम० प्रमे० पृ० १९० । २ –पह्नव वि—आ० । ३ –मृष्यति भ० २ । ४ "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥"—न्यायसू० १।२।१९ । ५ "विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्ति , विप्रतिपद्यमान पराजय प्राप्नोति निग्रहस्थान खलु पराजयप्राप्ति । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भ = परेण स्थापित वा न प्रतिषेधति । प्रतिषेध वा नोद्धरति ।"—न्यायमा० १।२।१९ । ६ –स्य दूप—भ० २ । ७ "आरम्भन्य विषय साधनस्य ज्ञापन दूषणस्योद्धरण तयोरकरणमप्रतिपत्ति । द्विधा हि वादी पराजीयते यथा वक्तव्यमप्रतिपद्यमानो विपरीत वा प्रतिपद्यमान इति ।"—न्यायक०पृ० २२ ।

वा प्रतिपद्यमान इति विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिभेदाच्च द्वाविंशतिर्निग्रहस्थानानि भवन्ति। तद्यथा— प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरं निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालं न्यूनम् अधिकं पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च। अत्राप्यननुभाषणाज्ञानाप्रतिभाविक्षेपपर्यनुयोज्योपेक्षणान्यप्रतिपत्तिप्रकाराः, शेषाश्च विप्रतिपत्तिभेदाः।

§ १०८ तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वाद्घटवदिति साधनं वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते यद्येवं ब्रूयात्सामान्यवद्घटोऽपि नित्यो भवत्विति स एवं ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात्। शब्दोऽपि नित्य एव स्यात्। ततः प्रतिज्ञाहान्या पराजीयते १।

§ १०९ प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रति-

---

को प्रक्रियाको ही न समझे, अथवा समझे भी तो विपरीत समझे अर्थात् साधनको साधनाभास और दूषणको दूषणाभास समझे। तात्पर्य यह कि विरुद्ध समझ तथा असमझ रूप विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिके ही शाखा-प्रशाखा रूप बाईस निग्रहस्थान हो जाते हैं—१ प्रतिज्ञाहानि, २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासंन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास। इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, और पर्यनुयोज्योपेक्षण ये पाँच अप्रतिपत्तिमूलक हैं तथा शेष निग्रहस्थान विप्रतिपत्तिके प्रकार हैं।

§ १०८ प्रतिवादीके द्वारा हेतुको व्यभिचारी बताये जाने पर प्रतिविरोधी दृष्टान्त या पक्षके धर्मको अपने दृष्टान्त या पक्षमें स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि नामका निग्रहस्थान है। जैसे— वादीने कहा 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है' प्रतिवादीने "'येनेन्द्रियेण यदर्थो गृह्यते तेन तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते'—जिस इन्द्रियसे जो पदार्थ गृहीत होता है उसी इन्द्रियसे उसमें रहनेवाली जाति तथा उसके भावका भी ज्ञान हो जाता है" इस नियमके अनुसार घटत्वनामक नित्य जातिको ऐन्द्रियक मानकर वादीके हेतुमें व्यभिचार दिखाया कि—'घटत्व सामान्य ऐन्द्रियक—इन्द्रियका विषय होकर भी नित्य है' इस प्रकार हेतुमें अनैकान्तिक दोष आनेपर वादी यदि अपनी हार न मानकर सभामें कहे कि—'अच्छा घड़ा भी नित्य हो जाय' वादीने इस प्रकार प्रतिदृष्टान्तरूप नित्यत्व घटत्वके धर्मको स्वदृष्टान्त घड़ेमें स्वीकार करके अपनी 'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञाको ही तोड़ दिया। क्योंकि दृष्टान्तमें नित्यता मान लेनेसे शब्दमें भी नित्यता माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार प्रतिज्ञाको तोड़ देनेसे वादी पराजित हो जाता है।

§ १०९. प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर उस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए उसी धर्मीमें अन्य धर्मको

---

१. –भासर्व प० १, २, भ० १, २। २. "प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि।" —न्यायसू० ५।२।१। ३ "तत्र अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानं शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।" —न्यायभा० १।२।२०। ४. "प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।" —न्यायसू० ५।२।[illegible]।

ज्ञान्तरं [1]नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येन व्यभिचारे[2] नोदिते यदि [3]ब्रूयाद्युक्तं यत्सामान्यमैन्द्रियकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिजानानः प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति २।

§ ११०. प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः [4]प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं भवति । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । यदि हि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं न तर्हि रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति । तदयं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात्पराजीयते ३ ।

§ १११. पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो[6] नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात्क एवमाह अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासात्पराजितो भवति ४।

§ ११२. अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं[7] नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्यस्य व्यभिचारेण दूषिते जातिसत्त्वे सतीत्यादि विशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति ५ ।

साध्य बनाकर एक नयी ही प्रतिज्ञा करना प्रतिज्ञान्तर नामका निग्रहस्थान है । जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह इन्द्रिय ग्राह्य है' इस पक्षको पहले की तरह घटत्व सामान्यसे व्यभिचार दिखाकर खण्डित किये जाने पर यदि वादी कहे कि भले ही सामान्य ऐन्द्रियक होनेके कारण नित्य हो पर वह तो सर्वगत है, किन्तु शब्द तो घडेके समान असर्वगत होनेसे अनित्य ही होगा' इस प्रकार यह वादी अपनी पहली अनित्यत्व प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिए एक नयी ही 'शब्द असर्वगत है' यह प्रतिज्ञा करता है । पर इस नयी प्रतिज्ञासे न तो पूर्वोक्त व्यभिचारका परिहार ही हो पाता है और न पूर्व प्रतिज्ञाकी सिद्धि ही होती है । प्रतिज्ञासे प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं होती, प्रतिज्ञा की सिद्धिके लिए तो अविनाभावी हेतुका प्रयोग करना चाहिए । इस तरह प्रतिज्ञान्तर करनेवाले वादीको पराजय होती है ।

§ ११३. प्रकृता[1]दर्थादन्योऽर्थोऽर्थान्तरं तदनौपायिकमभिदधतोऽर्थान्तर[2] नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः। हेतुरिति च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्। पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चतुर्विधमिति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणः प्रकृतानुपयोगिनार्थान्तरेण निगृह्यत इति ६।

§ ११४ अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं[3] नाम निग्रहस्थानं भवति। अनित्यः शब्दः कचटतपाना गजडदवत्वात् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय भवति साध्यानुपयोगाद्वा ७।

§ ११५. यत्साधनवाक्यं दूषणं वा किंचित्त्रिरभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्या बोद्धुं न शक्यते, तत् क्लिष्टशब्दमप्रसिद्धप्रयोगमतिह्रस्वोच्चारितमित्येवंप्रकारमविज्ञातार्थं[4] नाम निग्रहस्थानं भवति। असामर्थ्यसंवरणप्रकारो ह्ययमिति निगृह्यते ८।

---

§ ११२. पूर्व हेतुके खण्डित हो जानेपर दोषका कारण करनेके लिए उसमे कोई विशेषण जोड देना हेत्वन्तर नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द ऐन्द्रियक होनेसे अनित्य है' इसी प्रयोगमे सामान्यसे व्यभिचार आनेपर दोप परिहारके लिए 'जातिमत्त्वे सति—सामान्यवाला होनेपर' इस विशेषणको जोड देना हेत्वन्तर नामका निग्रहस्थान है। 'जातिमत्त्वे सति' विशेषण देनेसे घटत्व-सामान्यके व्यभिचारका वारण हो जाता है क्योकि सामान्य स्वय सामान्यवाला नही होता।

§ ११३. प्रकृत विषयसे सम्बन्ध न रखनेवाली साध्यसिद्धिमे अनुपयोगी अण्ड-बण्ड असम्बद्ध बाते करना अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द कृत्रिम होनेसे अनित्य है', हेतु हि धातुसे कृदन्तमे तु प्रत्यय करने पर सिद्ध होनेवाला पद है। पद नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपातके भेदसे चार प्रकारका है। और फिर नाम आदिका व्याख्यान शुरू कर दिया जाता है' इस तरह साध्यसिद्धिमे अनुपयोगी बाते करनेवाले का अर्थान्तर होनेसे निग्रह-पराजय होता है।

§ ११४ अर्थरहित मात्र वर्णोका उच्चारण करने लगना निरर्थक नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'शब्द अनित्य है क्योकि क च ट त प का ग ज ड द व है जैसे झ भ ढ ध भ।' यहाँ यह विचारना चाहिए कि—'यह वर्णोच्चारण साध्यकी सिद्धिमे अनुपयोगी होनेसे निग्रहस्थान है अथवा बिलकुल अर्थशून्य होनेसे ? वर्णोच्चारण सर्वथा अर्थशून्यता तो नही कहा जा सकता, क्योकि बच्चोको रटानेके लिए वर्णोच्चारणका अर्थ 'अनुकरण करके ठीक उसी तरह घोखना' हो सकता है। साध्यसिद्धिमे अनुपयोगी होनेसे तो इसका अर्थान्तर नामके निग्रहस्थानमे अन्तर्भाव हो जाना चाहिए।' इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—अर्थान्तर निग्रहस्थानमे प्रकृतानुपयोगी कुछ भी पद, वाक्य या श्लोक कहे जा सकते है, पर निरर्थकमे केवल अर्थशून्य वर्णोच्चारण ही विवक्षित है।

§ ११५ ऐसे साधन या दूषण वाक्यका प्रयोग करना, जिसे तीन बार उच्चारण करनेपर न तो प्रतिवादी ही समझे और न सभामे उपस्थित सभापति आदि ही, वह अविज्ञातार्थ नामका निग्रहस्थान है। अपनी असामर्थ्यको ढँकनेके लिए अत्यन्त क्लिष्ट शब्दोका उच्चारण, अप्रसिद्ध-पदोका प्रयोग, बहुत धीरे कहना आदि अनेको प्रकार अविज्ञातार्थमे ही अन्तर्भूत है।

---

१ –दर्थादर्थान्तर तदनौ—प० १, २, भ० १, २। २ "प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम् ॥"—न्यायसू० ५।२।७। ३ "वर्णक्रमनिर्देशवद् निरर्थकम् ॥"—न्यायसू० ५।२।८। ४ परिषत्प्रतिवादिभ्या त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥"—न्यायसू० ५।२।९।

§ ११६. पूर्वापरासंगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं[1] नाम निग्रहस्थानं भवति। यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्ड इत्यादि ९।

§ ११७. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनकसमुल्लंघ्यावयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं[2] नाम निग्रहस्थानं भवति स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्या[3]पगमात् १०।

§ ११८. पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं प्रयुञ्जानस्य न्यूनं[4] नाम निग्रहस्थानं भवति। प्रतिज्ञादीना पञ्चानामपि परप्रतिपत्तिजन्मन्युपयोगादिति ११।

§ ११९. एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं[5] नाम निग्रहस्थानं भवति, [6]निष्प्रयोजनाभिधानात् १२।

§ १२०. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं[7] नाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात्। शब्दपुनरुक्तं नाम, यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते, यथानित्यः शब्दोऽनित्यः शब्द इति। अर्थपुनरुक्तं तु, यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनश्च पर्यायान्तरेणोच्यते, यथानित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति। अनुवादे तु पौनरुक्त्यं न दोषो, यथा हेतूपदेशेन प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति १३।

---

§ ११६. जिनका कोई पूर्वापर सम्बन्ध नही है ऐसे असंगत पदोका प्रयोग करनेके कारण वाक्यार्थको अप्रतिष्ठित सम्बन्धशून्य कर देना अपार्थक नामका निग्रहस्थान है। जैसे 'दस अनार, छह पुये, कुण्ड बकरेका चमडा, मासका पिण्ड आदि'।

§ ११७ प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन इन पाँच अवयवोका क्रमरहित (बे-सिलसिले) प्रयोग करना अप्राप्तकाल नामका निग्रहस्थान है। अनुमानमे प्रतिज्ञादिका क्रम (सिलसिला) विगड जानेपर न तो उनसे अपनी ही समझमे कुछ आ सकता है और न उनसे दूसरा ही कुछ समझ सकता है अर्थात् उनसे न तो स्वार्थानुमान ही हो सकेगा और न परार्थानुमान ही।

§ ११८. अनुमानमे प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवोके प्रयोगका नियम है, पर यदि किसी भी अवयवसे हीन अनुमानका प्रयोग किया जाय तो न्यून नामका निग्रह स्थान होता है। क्योकि प्रतिज्ञादि पाँचो ही अवयव परका ज्ञान करानेमे समानरूपसे उपयोगी होते है।

§ ११९ एक ही हेतु और उदाहरणसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, फिर भी दो या अधिक हेतु और उदाहरणोका प्रयोग करना अधिक नामका निग्रहस्थान है। प्रयोजनके विना ही यदि इस तरह हेतु और उदाहरणोके कहनेका सिलसिला जारी रखा जाय तब तो निष्प्रयोजन वाद वढ जायगा।

§ १२० अनुवादके सिवाय शब्द और अर्थका पुनः दुवारा कथन करना पुनरुक्त निग्रहस्थान है। उसी शब्दका वार-बार उच्चारण करना शब्द पुनरुक्त है। जैसे 'शब्द अनित्य है, शब्द अनित्य है।' आदि। जहाँ अर्थ तो वही हो पर उसका भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दो-द्वारा दुवारा कथन करना अर्थपुनरुक्त है। जैसे, पहले कहना कि 'शब्द अनित्य है', फिर कहना कि 'ध्वनि विनाशी है'। अनुवादमे पुनरुक्तिको दोष नही मानते, क्योकि अनुवादका अर्थ ही है कि अनु–पश्चात् फिरसे वाद—कहना। जैसे हेतुका दुवारा कथन करके प्रतिज्ञाका दुवारा कहना निगमन है। निगमनमे प्रतिज्ञाका अनुवाद–पुन कथन ही तो होता है।

---

१ "पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१०। २ "अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥"—न्यायसू० ५।२।११। ३ –स्यानुपगमात् भ० २। ४ "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१२। ५ "हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१३। ६ नि प्रयो—प० १, २, भ० १, २। ७ "शब्दार्थयो पुनर्वचन पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥"—न्यायसू० ५।२।१४। "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥"—न्यायसू० ५।२।१५।

§ १२६. निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षण[1] नाम निग्रहस्थानं भवति, पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीय इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसीति वचनीयः, तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते १९ ।

§ १२७. अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगो[2] नाम निग्रहस्थानं भवति, उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्, स एवमसद्भूतदोषोद्भावनया निगृह्यते २० ।

§ १२८. सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तो[3] नाम निग्रहस्थानं भवति, यः प्रथमं किंचित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते तत्र च सिसाधयिषितार्थसाधनाय वा परोपलम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते, [4]सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते, यथा मीमांसामभ्युपगम्य कश्चिदग्निहोत्रं स्वर्गसाधनमित्याह कथं पुनरग्निहोत्रक्रिया ध्वस्ता सती स्वर्गस्य साधिका भवतीत्यनुयुक्तः प्राह अनया क्रिययाराधितो महेश्वरः फलं ददाति राजादिवदिति, तस्य मीमांसानभिमतेश्वरस्वीकारादपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानं भवति २१ ।

---

§ १२६ जिसका निग्रह हो गया है फिर भी सभामें उसके निग्रहस्थानकी घोषणा न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण है। पर्यनुयोज्य—अर्थात् निग्रह प्राप्तवादी या वादीको 'तुम्हें यह निग्रहस्थान हो गया है अत तुम पराजित हो' इस कथनकी उपेक्षा करके जो चुप रह जाता है उसे पर्यनुयोज्योपेक्षण नामका निग्रहस्थान होता है।

§ १२९. हेत्वाभासाश्च[1] यथोक्ता [2]असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् २२। इति भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति ।[3]

§ १३०. तदेवं[4] छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपभेदाभिज्ञः स्ववाक्ये तानि वर्जयन्परप्रयुक्तानि समादधद्यथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभत इति ॥

[5]*जातिनिग्रहस्थानानां संग्रहश्लोका यथा—

> [6]साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षतः ।
> वर्ण्यावर्ण्यविकल्पाभ्यां साध्यप्राप्त्यप्राप्तितः ॥१॥
> प्रसङ्गः प्रतिदृष्टान्तोऽनुत्पत्तिः संशयस्तथा ।
> ततः प्रकरणाहेतू अर्थापत्त्यविशेषतो ॥२॥
> उपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धी तथा क्रमात् ।
> नित्यानित्ये कार्यसमा जातयः समुदीरिताः[7] ॥३॥
> प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधाश्च तदन्तरम् ।
> हेत्वर्थान्तरनिरर्थाविज्ञातार्थमपार्थकम्[8] ॥४॥
> अप्राप्तकालकं न्यूनमधिकं पुनरुक्तकम् ।
> स्यादननुभाषणाज्ञानाप्रतिभाविक्षेपनामकम् ॥५॥
> मतानुज्ञापरिनिरनुयोज्यो[9] ज्ञेयो भवेत्ततः ।
> उपेक्षणानुयोगो चापसिद्धान्तापसाधने ॥६॥[10] इति
> जातिनिग्रहस्थानसंग्रहश्लोकाः ।*

---

§ १२९. पूर्वोक्त असिद्ध विरुद्ध आदि हेत्वाभास निग्रहस्थान हैं। इस तरह अनन्त अवान्तर भेद होनेपर भी निग्रहस्थानोंके बाईस मूलभेदोंका वर्णन किया ।

§ १३०. इस प्रकार छल जाति और निग्रहस्थानोंके स्वरूपको यथावत् जाननेवाला स्ववाक्यमें इनके प्रयोगसे परहेज रखता है तथा दूसरेके द्वारा प्रयुक्त छलादिका उचित समाधान करके अपने पक्षकी सिद्धि कर जयलाभ करता है ।

जाति तथा निग्रहस्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्यसमा, ये चौबीस जातियाँ हैं।

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासन्यास, प्रतिज्ञाविरोध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, परिनिरनुयोज्य, उपेक्षणानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास ये बाईस निग्रहस्थान हैं।

---

१ "हेत्वाभासाश्च यथोक्ता ॥"—न्यायसू० ५।२।२४ । २ असिद्धादयो भ० २ । ३ "ते इमे हेत्वाभासा न्यायप्रविवेकं कुर्वन्तो वस्तुशुद्धिं विदधतीति पृथगुच्यन्ते । अत एव निग्रहस्थानान्तर्गतानामप्येषां पृथगुपदेशः ।" —न्यायक० पृ० १६ । ४ "तदेवं छलजातिनिग्रहस्थानस्वरूपाभिज्ञः स्ववाक्ये तानि वर्जयन् परप्रयुक्तानि च समादधन् यथाभिमतसाध्यसिद्धिं लभते ।"—न्यायक० पृ० २७ । ५ ★ एतदन्तर्गतः पाठो नास्ति आ०, क० । ६ -र्म्यवै—भ० २ । ७ -ता इति जातिसंग्रहश्लोका प्रति—भ० २, प० १, २ । ८ -न्तरमपार्थं च निरर्थाविज्ञातार्थकम् भ० २ । ९ पर्यनुयो—भ० २ । १० इति निग्र—भ० २, प० १, २ ।

§ १३१. अत्रानुक्तमपि किंचिन्निगद्यते। अर्थोपलब्धिहेतुः[1] प्रमाणम्। एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यं[2] ज्ञानम्, प्रमाणाद्भिन्नं फलं, पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम्[3]। स्मृतेरप्रामाण्यम्[4], परस्पर-विभक्तौ सामान्यविशेषौ नित्यानित्यत्वे सदसदंशौ च, प्रमाणस्य विषयः पारमार्थिकः, तमश्छाये [5]अद्रव्ये, आकाशगुणः [6]शब्दोऽपौद्गलिकः, संकेतवशादेव शब्दादर्थप्रतीतिर्न पुनस्तत्प्रतिपादन

---

§ १३१. कारिकामे नही कही गयी कुछ विशेष बाते भी कहते है—अर्थोपलब्धिमे जो साधकतम कारण होता है उसे प्रमाण कहते है। उसी आत्माके द्वितीयज्ञान (अनुव्यवसाय) के द्वारा जिसका परिज्ञान होता है ऐसा प्रथमज्ञान प्रमाणका फल है। फलज्ञान प्रमाणसे भिन्न होता है। पूर्व-साधकतम कारणको प्रमाण तथा उत्तर-कार्यको फल कहते है। स्मृतिज्ञान अनुभवके द्वारा गृहीत अर्थको ही ग्रहण करनेके कारण अप्रमाण है। स्मृति पूर्वानुभवके परतन्त्र है। सामान्य और सामान्याश्रय द्रव्य गुण कर्मरूप विशेष परस्पर अत्यन्त भिन्न है। नित्य द्रव्य तथा अनित्यद्रव्य पृथक्-पृथक् है। भाव तथा अभाव दोनो पृथक् पदार्थ है। ये ही सब प्रमाणके विषय है। तम और छाया द्रव्यरूप न होकर तेजोऽभाव रूप है। शब्द आकाशका गुण है, पौद्गलिक नही है। सकेतके

---

१ "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्।"—न्यायभा० २।१।११। २. "ज्ञानान्तरसवेद्य सवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्।"—प्रश० व्यो० पृ० ५२९। "विवादाध्यासिता प्रत्ययान्तरेणैव वेद्या प्रत्ययत्वात्। एव प्रमेयत्वगुणत्वसत्त्वादयोऽपि प्रत्ययान्तरवेद्यत्वहेतव प्रयोक्तव्या।" —विधिवि० न्यायकणि० पृ० २६७। "करण हि प्रमाणमुच्यते प्रमीयतेऽनेन इति। न च क्रियैव क्वचित् करण भवति, क्रियाया साध्यायाः कारकं किमपि करणमुच्यते यथा दात्रेण चैत्र शालिस्तम्ब लुनाति इति कर्तृकर्मकरणानि क्रियातो भिन्नान्युपलभ्यन्ते तथेहापि चक्षुषा घट पश्यतीति दर्शनक्रियात पृथग्भाव एव तेषा युक्तो न दर्शन करण-मेव इति। प्रमा प्रमाणमिति तु फले प्रमाणशब्दस्य साधुत्वाख्यानमात्रम् कृति करणमितिवत् तेन चक्षुरादे ज्ञानक्रियामुपजनयत. करणत्व ज्ञानस्य फलत्वमेवेति युक्त तथाव्यपदेश,"—न्यायमं० पृ० ७०। स्वातिरिक्तेत्यादिना शकरस्वामी प्रमाणयति—स्वातिरिक्तक्रियाकारि प्रमाण कारकत्वत वास्यादिवत् ॥१३५३॥"—तत्त्वसं०। ३ "यदा निर्विकल्पक सामान्यविशेषज्ञान प्रमाणम् तदा द्रव्यादिविषय विशिष्ट ज्ञान प्रमिति इत्यर्थ। यदा निर्विकल्पक सामान्यविशेषज्ञानमपि प्रमाणमर्थ-प्रतीतिरूपत्वात् तदा तदुत्पत्तावविभक्तमालोचनमात्र प्रत्यक्षम् विशेष्यज्ञान हि विशेषणज्ञानस्य फलम् विशेषणज्ञान न ज्ञानान्तरफलम् यदा निर्विकल्पक सामान्यविशेषज्ञान फल तदा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रमाणम्, यदा विशेष्यज्ञान फल तदा सामान्यविशेषालोचन प्रमाणम् इत्युक्त तावत्। सम्प्रति ज्ञानादि-बुद्धीना फलत्वे विशेष्यज्ञान प्रमाणमित्याह"—प्रश० कन्दली पृ० १९९। मीमांसाश्लो० सू० ४ श्लो० ७२-७३। ४ "तथ तर्हि स्मृतेर्व्यवच्छेद ? अननुभवत्वेनैव न च स्मृतिरिति प्रमाणाभियुक्ताना महर्षीणा प्रमाणव्यवहारोऽस्ति पृथगनुपदेशात्।"—न्यायकुसु० ४।१।

ॐ

अथ तृतीयोऽधिकार:

§ १ अथादौ साङ्ख्यमतप्रपन्नाना परिज्ञानाय लिङ्गादिक निगद्यते। त्रिदण्डा एकदण्डा वा कौपीनवसना धातुरक्ताम्बरा. शिखावन्तो जटिन क्षुरमुण्डा मृगचर्मासना द्विजगृहाशना. पञ्चग्रासीपरा वा द्वादशाक्षरजापिन परिव्राजकादय। तद्भक्ता वन्दमाना ॐ नमो नारायणायेति वदन्ति, ते तु नारायणाय नम इति प्राहु। तेषा च महाभारते वीटेति ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका मुखानिश्वासनिरोधिका भूताना दयानिमित्त भवति। यदाहुस्ते "घ्राणादितोऽनुयातेन श्वासेनैकेन जन्तव। हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥१॥"

§ २. ते च जलजीवदयार्थं स्वय गलनक धारयन्ति, भक्ताना चोपदिशन्ति। "षट्त्रिंशदङ्गुलायाम विंशत्यङ्गुलविस्तृतम्। दृढ गलनक कुर्याद्भूयो जीवान्विशोधयेत् ॥१॥ म्रियन्ते मिष्टतोयेन पूतरा क्षारसभवा। क्षारतोयेन तु परे न कुर्यात्सकर ततः ॥२॥ लूतास्यतन्तुगलिते ये बिन्दौ सन्ति जन्तव। सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥३॥" इति गलनकविचारो मीमासायाम्।

---

§ १. अब साङ्ख्य मतका परिज्ञान करनेके लिए साङ्ख्योके लिङ्ग वेष आदिका निरूपण करते है। साङ्ख्योंके परिव्राजक तीन दण्डोंके धारक या एक दण्डके धारी होते है। लँगोटी मात्रके पहननेवाले या गेरुसे रगे हुए लाल वस्त्रोंको पहननेवाले होते है। सिरपर शिखा-चोटी रखनेवाले या जटाधारी होते है। छुरेसे भी सिर मुडानेवाले होते है। मृगचर्मका आसन रखनेवाले, द्विजोंके घर भोजन करनेवाले, पाँच ग्रास प्रमाण आहार करनेवाले, तथा द्वादशाक्षर मन्त्रको जपनेवाले होते है। भक्तलोग उन परिव्राजकोंकी वन्दना करते समय 'ओ नमो नारायणाय' कहते है। परिव्राजक 'नमो नारायणाय' कहकर आशीर्वाद देते है। ये दयालु परिव्राजक मुखकी उष्ण श्वाससे जीवोंकी रक्षा करनेके लिए एक दारवी-लकडीकी मुखवस्त्रिका रखते है। महाभारतमे इस मुखवस्त्रिकाको 'वीटा' कहा है। वे लोग कहते है कि—"हे ब्रह्मन्, एक ह्रस्व अक्षरको उच्चारण करनेके समय भी नाक आदिसे निकली हुई एक श्वासमे ही सैकडो जन्तुओ की हिसा होती है।"

§ २. वे जलमे रहनेवाले जीवोंकी दया पालनके लिए स्वय पानी छाननेका गलना-छन्ना रखते है तथा अपने भक्तोंको भी पानी छाननेका उपदेश देते है। कहा भी है—"छत्तीस अगुल लम्बा, बाईस अगुल चौडा दृढ-मोटे गाढेके गलने-छन्नेसे पानी छानना चाहिए। छाननेके बाद भी जीवोंकी दयाकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए।" मीठे कुँएके जलसे खारे कुँएके तथा खारे कुँएके जलसे मीठे कुँएके जलजीव मर जाते है अतः मीठे कुँएके पानीमे खारे कुँएका पानी तथा खारे कुँएके पानीमे मीठे कुँएका पानी नही मिलाना चाहिए ॥२॥ मकडीके मुँहसे निकले हुए सूक्ष्म लारबिन्दुके समान अत्यन्त सूक्ष्म जलकणमे इतने सूक्ष्मजीव रहते है कि यदि वे भौरेके समान स्थूल हो जाये तो वे तीनो लोकोमे भी नही समा सकते ॥" इस तरहके विचारसे पानी छाननेका विधान किया गया है।

---

१ –ग्रासीपरा भ० २। २ तद्भक्ता ॐ नमो नारायणायेति वदन्ति वन्दमाना ते तु भ० १, २, प० १, २। ३ तु (चा) परे आ०।

§ ३. सांख्याः केचिदीश्वरदेवाः, अपरे च निरीश्वराः। ये च निरीश्वरास्तेषां नारायणो देवः। तेषामाचार्या विष्णुप्रतिष्ठाकारकाश्चैतन्यप्रभृतिशब्दैरभिधीयन्ते। तेषां मतवक्तारः कपिलासुरिपञ्च[1]शिखभार्गवोलूकादयः, ततः सांख्याः कापिला इत्यादिनामभिरभिधीयन्ते। तथा कपिलस्य परमर्षिरिति द्वितीयं नाम, तेन तेषा पारमर्षा इत्यपि नाम ज्ञातव्यम्।

§ ४. वाराणस्या तेषां प्राचुर्यम्। [2]बहवो मासोपवासिका ब्राह्मणा अर्चिमर्गविरुद्धधूममार्गानुगामिनः। सांख्यास्त्वर्चिमर्गानुगाः। तत एव ब्राह्मणा वेदप्रिया यज्ञमार्गानुगाः। सांख्यास्तु हिंसाढ्यवेदविरता अध्यात्मवादिनः। ते च स्वमतस्य महिमानमेवमामनन्ति। तदुक्तं माठरप्रान्ते[3]-

> "हस पिब लल खाद मोद नित्य भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाभिकामम्।
> यदि विदित ते कपिलमत तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥१॥"

शास्त्रान्तरेऽप्युक्तम्[4]—

> "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रत ।
> शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशय ॥२"॥३३॥

§ ५. अथ शास्त्रकारः सांख्यमतमुपदर्शयति।

---

§ ३ कुछ साख्य तो ईश्वरको देव मानते है तथा कुछ निरीश्वरवादी है। जो निरीश्वर है उनके नारायण ही देवता हैं। इनके आचार्य विष्णु प्रतिष्ठाकारक चैतन्य आदि शब्दोसे पुकारे जाते है। कपिल आसुरि पञ्चशिख भार्गव तथा उलूक आदि सांख्यमतके प्रख्यात वक्ता है। इसीलिए ये साख्य तथा कपिल आदि शब्दोसे व्यवहृत होते है। कपिलका 'परमर्षि' भी नाम है, अत. ये पारमर्ष भी कहे जाते है।

§ ५ साख्य लोग वनारसमे प्रचुरतासे रहते है। वहुत-से मासोपवासी साधु एक-एक माहका उपवास करनेवाले है। ब्राह्मण लोग अर्चिमार्गसे विरुद्ध धूममार्गके अनुयायी होते है। साख्यलोग अर्चिमार्गका ही अनुसरण करते है। इसीलिए ब्राह्मण वेदानुयायी तथा याज्ञिक अनुष्ठान करनेवाले हाते है। साख्य वैदिकी हिंसासे विरक्त रहकर आध्यात्मिक साधना करते है। ये लोग अपने मतको महिमाका इस प्रकार वर्णन करते है। माठरवृत्तिमे कहा है कि—'खूब हँसो, मजेसे पीओ, लाड आनन्द करो, खूब खाओ, खुशीसे मौज करो, हमेशा रोज-ब-रोज इच्छानुसार भोगोको भोगो। इस तरह जो तबियतमे आवे बेखटके करो, इतना सब करके भी यदि तुम कपिलमतको अच्छी तरह समझ लोगे तो विश्वास रखो कि तुम्हारी मुक्ति समीप है। तुम शीघ्र ही कपिल मतके परिज्ञानमात्रसे सब कुछ मजामौज करते हुए भी मुक्त हो जाओगे ॥१॥ दूसरे शास्त्रोमे भी कहा है "साख्यके पच्चीस तत्त्वोको यथावत् जाननेवाला चाहे जिस आश्रममे रहे, वह चाहे शिखा रखे, मूड मुडावे या जटा धारण करे उसकी मुक्ति निश्चित है। साख्य तत्त्वोका ज्ञाता विना शकके मोक्षलाभ करता है ॥२॥"

§ ५ अव शास्त्रकार साख्यमतका निरूपण करते हैं—

---

१ पञ्चाश्व भ० २। २ वाह्या मा—भ० १, २ प० १, २। ३. "हस पिब लल मोद नित्य विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्। यदि विदित ते कपिलमत तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्य च ॥" —सा० का० माठर० पृ० ५३। ४. -उद्धृतोऽयम्—सा० का० माठर० पृ० ३८। शास्त्रवा० १० ३।२७। तत्त्वस० प० पृ० १७। "तथा च उक्त पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्-पञ्चविंशति-त्त्व ।"—तत्त्वयाथा० पृ० ६१। सन्मति० टी० पृ० २८७। न्यायाव० टी० पृ० १८। वस० सू० वृ० १२४।

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥३४॥

§ ६. व्याख्या--केचित्साख्या निर्गत ईश्वरो येभ्यस्ते निरीश्वरा, केवलाध्यात्मैकमानिनः, केचिदीश्वरदेवताः--ईश्वरो देवता येषा ते तथा। तेषां सर्वेषामपि निरीश्वराणां सेश्वराणा चोभयेषामपि तत्त्वाना पञ्चविंशति. स्यात्। [1]साख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदुपघातहेतुस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते। आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम्। अत्राध्यात्मिकं द्विविधम्, शारीरं मानसं च। तत्र वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्त यद्दु.खमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि समुत्पद्यते तच्छारीरम्, मानसं च कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दु.खम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा--आधिभौतिकमाधिदैविक चेति। तत्राधिभौतिक मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्। अनेन दु खत्रयेण रज.परिणामभेदेन बुद्धिवर्तिनाभिहतस्य प्राणिनस्त[2]त्त्वाना जिज्ञासा भवति दु.खविघाताय। तत्त्वानि[3] च पञ्चविंशतिर्भवन्ति ॥३४॥

साख्य दो प्रकारके है एक तो निरीश्वर अर्थात् ईश्वरको नही मानने वाले तथा दूसरे ईश्वरको देवता माननेवाले। ये सभी साख्य (प्रकृति आदि) पच्चीस तत्त्वोको स्वीकार करते है ॥३४॥

§ ६ कुछ साख्य ईश्वरको नही मानकर केवल अध्यात्मवादी है। कुछ साख्य ईश्वरको ही देवता मानते है। सभी सेश्वरसाख्य तथा निरीश्वरसाख्य साधारणरूपसे पच्चीस तत्त्वोको स्वीकार करते है। साख्यमतमे कहा है कि—पुरुष जब तीन प्रकारके दु खोसे अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है, वह दु खोके आघातसे तिलमिला उठता है तब उसे स्वभावतः दु खोके दूर करनेके उपायभूत तत्त्वोके शरणकी इच्छा होती है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ये तीन प्रकारके दु ख है। आध्यात्मिक दु खमे-से कुछ शरीरसे सम्बन्ध रखते है तथा कुछ मनसे। वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोकी विषमतासे देहमे ज्वर, अतीसार आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है। इन व्याधियोसे आत्माको जो दु ख—बेचैनी होती है वह मानस—आध्यात्मिक दु ख है। ये दोनो दु ख भीतरी कारणोसे उत्पन्न होनेके कारण आध्यात्मिक कहे जाते है। अर्थात् वात-पित्तादिकी विषमता तथा मनके काम-क्रोधादि विकार वाहरसे दिखाई नही देते, भीतर ही भीतर उत्पन्न हो जाते है अत ये आध्यात्मिक दु ख है। वाह्यकारणोसे होनेवाला दु ख आधिभौतिक तथा आधिदैविकके भेदसे दो प्रकारका है। मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सर्प तथा वृक्षादि स्थावर—स्थितिशील प्राणियोके निमित्तसे होनेवाला दु ख आधिभौतिक है। यक्ष राक्षस तथा भूतादिके आवेशसे होनेवाला दु ख आधिदैविक कहलाता है। ये तीनो दु ख रजोगुणके परिणाम है। वुद्धिमे होनेवाले इन दु खोसे जब प्राणी अच्छी तरह सताया जाता है वह इनके आघात को सहते-सहते घवडा जाता है तब उसे दु खविघातके कारण भूत तत्त्वोकी जिज्ञासा होती है। तत्त्व पच्चीस होते है।

---

१ "दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।"—सां० का०। —कि पुनस्तद्दु खत्रयम्? तदाह—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकम्। तत्र प्रथम द्विविध शारीर मानस च। तत्र शारीर वातपित्तश्लेष्मणा देहधातूना वैषम्यात् यद् दु खमात्मान देहमधिकृत्य ज्वरातीसारादि प्रवर्तते। मानस प्रियवियोगादप्रियसयोगाच्च द्विविधम्। एतदाध्यात्मिक दु खमभिहितम्। आधिभौतिक तु भूतान्यधिकृत्य यत्प्रवर्तते मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविक तु दिवमधिकृत्य यत्प्रवर्तते शीतोष्णवातवर्षादिकम्। एवमेतैस्त्रिभिर्दु खैरभिहतस्यासुरिसगोत्रस्य ब्राह्मणस्य जिज्ञासा समुत्पन्ना।" —सा० का० माठर० पृ० ३। २ तत्त्वजिज्ञा—भ० २। ३ —नि पञ्च भ० २।

§ ७. अथ तत्त्वपञ्चविंशतिमेव विवक्षुरादौ सत्त्वादिगुणस्वरूपमाह ।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद्गुणत्रयम्[1] ।
प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥३५॥

§ ८. [2]तावच्छब्द प्रक्रमे तच्चैवं ज्ञातव्यं (व्यः)। तेषु पञ्चविंशतौ[3] तत्त्वेषु सत्त्वं सुखलक्षणम्, रजो दुःखलक्षणम्, तमश्च मोहलक्षणमित्येवं प्रथमं तावद्गुणत्रयं[4] ज्ञेयम् । तस्य गुणत्रयस्य कानि लिङ्गानीत्याह--'प्रसाद' इत्यादि । तत्सत्त्वादिगुणत्रयं क्रमेण प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम्[5] । प्रसादः—प्रसन्नता, तापः—संतापः, दैन्यं—दीनवचनादिहेतुर्विषण्णता, द्वन्द्वे प्रसादतापदैन्यानि, तानि आदिः प्रकारो येषां कार्याणां तानि प्रसादतापदैन्यादीनि, प्रसादतापदैन्यादीनि कार्याणि लिङ्गं—गमकं—चिह्नं यस्य तत्प्रसादतापदैन्यादिकार्यलिङ्गम् । अयं भावः । प्रसादबुद्धिपाटवलाघवप्रसवानभिष्वङ्गाद्वेषप्रीत्यादयः कार्यं सत्त्वस्य लिङ्गम् । तापशोषभेदचलचित्ततास्तम्भोद्वेगाः कार्यं रजसो लिङ्गम् । दैन्यमोहमरणसादनबीभत्साज्ञानागौरवादीनि कार्यं तमसो लिङ्गम् । एभिः

---

§ ७. इन पच्चीस तत्त्वोंके कहनेकी इच्छासे सर्वप्रथम सत्त्व आदि गुणोका स्वरूप कहते है—

सत्त्व रज और तम ये तीन गुण है । प्रसाद ताप तथा दीनता आदि कार्योंसे उनका क्रमशः अनुमान होता है ॥३५॥

§ ८. श्लोकमे 'तावत्' शब्द प्रक्रमार्थक हैं । वह इस प्रकारका है—उन पच्चीस तत्त्वोमें सर्वप्रथम सुखलक्षणवाला सत्त्व, दुःखात्मक रज, तथा मोहस्वरूप तम इन तीन गुणोका स्वरूप समझ लेना चाहिए । ये सत्त्वादि तीनो गुणोका क्रमश प्रसन्नता, ताप तथा दीनता आदि कार्यो द्वारा अनुमान होता है । प्रसाद—प्रसन्नता खुशतबियती, ताप—सन्ताप, जलन, डाह, दैन्य—दीनताके वचन कहनेसे होनेवाली चेहरेकी विषण्णता, विषाद, आदि नानाप्रकारके कार्य ही सत्त्व आदि गुणोके लिङ्ग अर्थात् पहचान करानेवाले चिह्न होते है । तात्पर्य यह कि प्रसन्नता, बुद्धिकी पटुता—चतुराई, लाघव—निरभिमानता—चित्तमे घमड न होनेसे हलकापन, प्रसव—प्रजनन, अनभिष्वग—अनासक्ति, द्वेपरहितता, प्रीति आदि कार्य सत्त्वगुणके चिह्न है—अर्थात् इनसे सत्त्वगुणकी पहचान होती है । ताप—जलन, शोष—डाहके कारण हृदय तथा शरीरका सूख जाना, भेद—कूटवुद्धि, चित्तकी चचलता, स्तम्भ—किसीकी सम्पत्ति देखकर भौचक्का हो जाना, उद्वेग-रोष आदि रजोगुणके कार्य हैं अर्थात् इनसे रजोगुणका अनुमान होता है । दैन्य—दीनता, मोह—मूढता, अज्ञान, मरण, सादन—दूसरेको बाधा पहुँचाना, बीभत्स—भयानकता डरावनापन, अज्ञान—मूर्खता या विपरीतज्ञान, अगौरव-स्वाभिमानशून्य होना आदि तमोगुणके कार्य है । अर्थात् इनके द्वारा तमोगुणका परिचय होता है । इन कार्योसे सत्त्वादिगुणोका अनुमान किया जाता है । जैसे—संसारमे जो सुखी होता है वह आर्जव—सरलता, मार्दव—निरभिमानवृत्ति कोमलचित्तता, सत्य, शौच—निर्लोभवृत्ति या साफ-सुथरा

---

१ "सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज । गुरु वरणकमेव तम ॥"—सां० का० १३ । "त्रैगुण्यम् ॥ सत्त्व रजस्तम इति गुणा भावे ष्य । स्त्रैगुण्यम् । प्रसादो लाघव नङ्ग प्रसङ्गात् प्रीतिरार्जवम् ॥ तुष्टिंस्तितिक्षा सत्त्वस्य रूप साक्षात् सुखावहम् । शोकस्तम्भद्वेषतापस्वेदभोगाभिमानिता ॥ रजोरूपाण्यनेकानि बहुदुःखप्रदानि वै । तमो नामाच्छादनादि बीभत्सावरणादि च ॥ दैन्यगौरवनिद्रादिप्रमादालस्यलक्षणम् । मोहात्मकमनन्त तदेव त्रैगुण्यमीरितम् । सत्त्व प्रकाशक विद्याद्रजो विद्यात् प्रवर्तकम् ॥ विनाशक तमो विद्यात् त्रैगुण्य नाम सज्ञितम् ।"—सांख्यसं० पृ० १४ । भगवद्गी० १४।६-८ । २ तावच्छब्द अवधारणे (प्रक्रमे) आ० । तावच्छब्दोऽपक्रमे भ० २ । ३ –शतितत्त्वेषु भ० २ । ४ त्रयमेव ज्ञेयम् आ० । ५ "प्रकाशशील सत्त्व, क्रियाशील रज , स्थितिशील तम इति ।"—योगद० व्यासभा० २।१८ ।

कार्यः सत्त्वादीनि ज्ञायन्ते। तथाहि—लोके[1] यः कश्चित्सुखमुपलभते स आर्जवमार्दवसत्यशौचह्री[2]-बुद्धिक्षमानुकम्पाप्रसादादिस्थानं भवति, तत्सत्त्वम्। यः कश्चिद्दुःखमुपलभते, स तदा द्वेषद्रोह-मत्सरनिन्दावञ्चनबन्धनतापादिस्थानं भवति, तद्रजः। यः कंचित्कदापि मोहं लभते, सोऽज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिकताविषादोन्मादस्वप्नादिस्थानं भवति, तत्तम इति।

§ ९. सत्त्वादिभिश्च परस्परोपकारिभिस्त्रिभिरपि गुणैः सर्वं जगद्व्याप्तं विद्यते, परमूर्ध्व-लोके प्रायो देवेषु सत्त्वस्य बहुलता, अधोलोके तिर्यक्षु नारकेषु च तमोबहुलता[3], मध्यलोके मनुष्येषु रजोबहुलता. यद्दुःखप्राया मनुष्या भवन्ति। तदुक्तम्

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलत सर्ग।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त ॥१॥ [साख्यका० ५४]

अत्र ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त इति ब्रह्मादिपिशाचान्तोऽष्टविधः सर्ग इति ॥३५॥

पवित्र रहना, लोकलाज, बुद्धि—हेयोपादेय विवेक, क्षमा, अनुकम्पा—दूसरेको दु खी देखकर हृदयका कंप जाना—दयालुता, और प्रसन्नता आदिका स्थान होता है। यही तो सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान पुरुषकी पहचान है। लोकमे जो दु खी होता है उसके मनमे सदा द्वेप, वैर, मत्सर—ईर्षा, निन्दा, ठगना, दूसरेको वन्धन-झगडेमे फँसाना, दूसरेके अभ्युदयमे जलना आदि विकार उत्पन्न होते रहते है। इन्ही सब बातोसे रजोगुणप्रधान राजस पुरुपका परिचय मिलता है। जो व्यक्ति मोही—अज्ञानी होता है वह अज्ञान, घमण्ड, आलस्य, भय, दीनता, अकर्मण्यता, नास्तिकता, धर्म-कर्मसे विमुख होना, विपाद, उन्माद, भीपण स्वप्न आना, आदि तामस भावोका आधार होता है। तामस पुरुप इन्ही कारणोसे पहचाना जाता है।

§ ९ एक दूसरेका उपकार करनेवाले परस्पर साक्षेप इन सत्त्वादि तीन गुणोसे समस्त जगत् व्याप्त है। परन्तु इतनी विशेपता है कि कही सत्त्वगुणकी प्रधानता है तो कही रजोगुणकी तथा कही तमोगुणकी। एककी प्रधानतामे दूसरे गुण गौणरूपसे रहते है यही इनकी परस्परोप-कारिता है। ऊर्ध्वलोकमे देवोमे प्राय सत्त्वगुणकी बहुलता रहती है। अधोलोकमे तिर्यंच, तथा नारकी जीवोमे तमोगुणकी प्रचुरता पायी जाती है। मध्यलोकमे मनुष्योमे रजोगुणकी प्रधानता देखी जाती है। इसीसे मनुष्य प्रायः दु खी ही अधिक होते है। कहा भी है—"ब्रह्मसे लेकर स्तम्ब—स्थावर पर्यन्त यह समस्त सृष्टि ऊर्ध्वलोकमे उत्कृष्ट चैतन्य देवोमे सत्त्वगुण प्रधान, मूल—अधो-लोकमे अपकृष्ट चैतन्य वाले पशु आदिमे तमोबहुल, तथा मध्यलोकमे मध्यम चैतन्ययुक्त मनुष्यादि मे रज प्रधान है। ब्रह्मसे स्तम्ब—स्थावर पर्यन्त समस्त सृष्टिमे ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा पैशाच यह आठ प्रकारकी दैवी सृष्टि है।

---

१ यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीति लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च। तत्सत्त्व प्रत्येतव्यम्। अप्रीत्यात्मक रज। कस्मात्। दु खलक्षणत्वात्। यो हि कश्चित्कदाचित् क्वचित् अप्रीति-मुपलभते तत्र द्वेपद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धवधच्छेदनानि च। तद्रज प्रत्येतव्यम्। विपादात्मक तम। कस्मात्। मोहलक्षणत्वात्। यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याकर्मण्यतानास्तिक्यविपादस्वप्नादि च तत्तम प्रत्येतव्यम्।"—सा० का० माठर० पृ० २१। साख्यमं० पृ० १५। २ –च भी बु—भ० २। ३ –ता नरेपु रजो आ०,

एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः[5] किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३६॥

§ १० व्याख्या—एतेषां—सत्त्वादिगुणानां या समा—तुल्यप्रमाणा अवस्था—अवस्थानं, सा सत्त्वादीनां समावस्थैव प्रकृतिरुच्यते । किलेति पूर्ववार्तायाम् । सत्त्वरजस्तमसां गुणानां क्वचिद्द्वयोः कस्यचिदाधिक्येऽपि मिथः प्रमाणापेक्षया त्रयाणामपि समानावस्था प्रकृतिः कीर्त्यत इत्यर्थः । प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या । सा च प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चोच्यते नामान्तराभ्याम् । नित्यम्—अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं स्वरूपं यस्याः सा नित्यस्वरूपिकाविचलितस्वरूपेत्यर्थः । अत एव सानवयवा[?] साधारण्यशब्दास्पर्शारसारूपागन्धाव्यक्ता चोच्यते ।

मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् पृथक् प्रधानं वदन्ति, उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रतिपन्नाः ॥३६॥

§ ११. प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिर्जायते । अतः सृष्टिक्रममेवाह ।

ततः[?] संजायते बुद्धिर्महानिति यदोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

कर्मकारणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि च । कानि तानीत्याह—पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि । तत्र पायुर्गुदं, उपस्थः—स्त्रीपुंश्चिह्नद्वयं, वचश्चेहोच्यतेऽनेनेति वचः, उरःकण्ठादिस्थानाष्टतया[1] वचनमुच्चारयति, पाणी पादौ च प्रसिद्धौ, एतैर्मलोत्सर्गसंभोगवचनादानचलनादीनि कर्माणि सिध्यन्तीति कर्मेन्द्रियाण्युच्यन्ते । तथाशब्द समुच्चये । एकादशं मनश्च, मनो हि बुद्धीन्द्रियमध्ये बुद्धीन्द्रियं भवति, कर्मेन्द्रियमध्ये कर्मेन्द्रियम्, तच्च तत्त्वार्थमन्तरेणापि संकल्पवृत्ति । तद्यथा—कश्चिद्वटुः शृणोति "ग्रामान्तरे भोजनमस्ति" इति, तत्र तस्य संकल्पः स्यात् "तत्र यास्यामि तत्र चाहं किं गुडदधिरूपं भोजनं लप्स्य उतस्विद्दधि कि वा किमपि न" इत्येवंरूप मन इति । तथाहंकारादन्यान्यपराणि रूपादि[2]तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि पञ्चोत्पद्यन्ते । तत्र रूपतन्मात्रं शुक्लकृष्णादिरूपविशेषः, रसतन्मात्रं तिक्तादिरसविशेषः, गन्धतन्मात्रं सुरभ्यादिगन्धविशेषः, शब्दतन्मात्रं मधुरादिशब्दविशेषः, स्पर्शतन्मात्रं मृदुकठिनादिस्पर्शविशेषः, इति षोडश । अयं षोडशको गण इत्यर्थः ॥३८–३९॥

§ १५. अथ तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतान्युत्पद्यन्त इत्याह—

[3]रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

§ १६. व्याख्या—रूपतन्मात्रात्सूक्ष्मसंज्ञात्तेजोऽग्निरुत्पद्यते, रसतन्मात्रादापो जलानि जायन्ते,

---

पदके आकर्षणके लिए है । ज्ञानेन्द्रियोकी तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच है । पायु—गुदा, उपस्थ—स्त्री और पुरुषके चिह्न अर्थात् योनि और लिङ्ग, वचन अर्थात् जिनके द्वारा वचनोका उच्चारण होता है ऐसे हृदय कण्ठ आदि आठ स्थान पाणि—हाथ और पाद—पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है । इनसे मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग और सभोग, वचन, वस्तुओका रखना उठाना, तथा चलना आदि क्रियाएँ होती है, इसीलिए इन्हे कर्मेन्द्रियाँ कहते है । 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक है । ग्यारहवाँ मन है । मन बुद्धीन्द्रियोके साथ बुद्धीन्द्रियरूप तथा कर्मेन्द्रियोके साथ कर्मेन्द्रिय रूप हो जाता है । यह मन वास्तविक अर्थकी स्थितिके विना भी मात्र सकल्पात्मक होता है । जैसे—किसी वटुक—ब्राह्मण शिष्यने सुना कि—'आज दूसरे गाँवमे भोजनके लिए निमन्त्रण आया है' वह विचारता है कि—उस गाँवमे जायगे, तो वहाँ गुड और दही दोनो मिलेगे, या केवल दही, अथवा दही और गुड दोनो ही न मिलेगे' ऐसे सकल्प भी मन कहलाता है । अहकारसे रूपादि पाँच सूक्ष्म संज्ञक तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है । सफेद काला आदि रूप विशेषको रूपतन्मात्रा कहते है, तीता मीठा आदि रसको रस तन्मात्रा, सुगन्ध तथा दुर्गन्धको गन्धतन्मात्रा, मधुर आदि शब्दोको शब्दतन्मात्रा तथा कोमल कठिन आदि स्पर्शोको स्पर्शतन्मात्रा कहते है । इस तरह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्राएँ ये सोलहगण कहलाते हे ॥३८-३९॥

§ १५ तन्मात्राओसे पाँच भूतोकी उत्पत्तिका वर्णन करते है—

रूपसे अग्नि, रससे जल, गन्धसे पृथिवी, शब्दसे आकाश तथा स्पर्शसे वायु, इस प्रकार पाँच तन्मात्राओसे पाँच भूतोकी उत्पत्ति होती है ॥४०॥

§ १६ सूक्ष्म सज्ञक रूप तन्मात्रासे अग्नि उत्पन्न होती है । रस तन्मात्रासे जलका आविर्भाव

---

१ –ष्टतया वचन—आ०, क० । २ –रूपादि तन्मा—प० १, २, म० १, २, ३० । ३ "तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात्पृथिवी [illegible] महाभूतानीति [illegible] ।" —सां० का० माठर० पृ० ३३ ।

गन्धतन्मात्रात्पृथिवी समुत्पद्यते, स्वराच्छब्दतन्मात्रादाकाशमुद्भवति, तथा स्पर्शतन्मात्राद्वायुः प्रादुर्भवति, एवं च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकं भवतीति ॥४०॥

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं सांख्यमते प्रधानम् ।
अन्यस्त्वकर्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥४१॥

§ १७ व्याख्या—एवममुनोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानम् । प्रकृतिर्महानहंकारश्चेति त्रयं पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चैकं, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च भूतानि चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि रूपं स्वरूपं यस्य तच्चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं प्रकृतिर्निवेदितम् । तथा चोक्तम् "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥" [सांख्यका० २२] इति ।

§ १८ अत्र प्रकृतिर्न विकारः, अनुत्पन्नत्वात् । बुद्ध्यादयश्च सप्त परेषां कारणतया प्रकृतयः, कार्यतया च विकृतय उच्यन्ते । षोडशकश्च गणो विकृतिरेव कार्यत्वात् । पुरुषस्तु न प्रकृतिर्न विकृतिः, अनुत्पादकत्वादनुत्पन्नत्वाच्च । तथा चेश्वरकृष्णः सांख्यसप्तत्याम्—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥१॥ [सांख्यका० ३] इति ।

§ १९ तथा महदादयः प्रकृतेर्विकारास्ते च व्यक्ताः सन्तः पुनरव्यक्ता अपि भवन्तीति

होता है। गन्धतन्मात्रासे पृथिवीकी समुत्पत्ति होती है। स्वरशब्दतन्मात्रासे आकाशका प्रादुर्भाव होता है। स्पर्शतन्मात्रासे वायुका जन्म होता है। इस प्रकार पाँच सूक्ष्म नामक-तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥४०॥

इस प्रकार सांख्यमतमें चौबीस तत्त्व रूप प्रधान नामके मूलतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया गया है। प्रधानसे भिन्न पुरुषतत्त्व है। यह अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता तथा नित्य चेतन है ॥४१॥

§ १७ इस तरह सांख्यमतमें प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वरूपमें परिणत होनेवाला प्रधान तत्त्व है। स्वयं प्रकृति, महान् और अहंकार ये तीन, पाँच बुद्धीन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, पाँच तन्मात्राएँ तथा पाँच भूत ये चौबीस तत्त्व हैं, जिन रूपोंमें प्रधान अपना विस्तार दिखाता है। कहा भी है—"प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे सोलहगण तथा सोलहगणके अन्तर्गत पाँच तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।"

§ १८ इनमें प्रकृति किसीका विकार अर्थात् कार्य नहीं है, क्योंकि वह किसीसे उत्पन्न नहीं होती। महान् अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सात कार्योंके उत्पादक होनेसे प्रकृति अर्थात् कारणरूप हैं तथा कारणोंसे उत्पन्न कार्यरूप होनेसे विकृति भी हैं। सोलह गण मात्र विकृति-रूप ही हैं क्योंकि वे कार्य हैं। पुरुष तो न किसीको उत्पन्न करता है और न किसीसे उत्पन्न ही होता है अतः वह न प्रकृति—कारण है और न विकृति—कार्यरूप ही है। ईश्वरकृष्णने सांख्यसप्ततिमें कहा है—"मूलप्रकृति अविकृति अर्थात् अकार्य है, किसीसे उत्पन्न नहीं होती। महान् आदि सात कार्यरूप होनेसे विकृति हैं तथा उत्पादक होनेसे प्रकृतिरूप भी हैं। सोलह गण मात्र विकाररूप ही हैं। पर पुरुष न प्रकृति—कारण ही है और न विकृति—कार्यरूप ही।" इति।

§ १९, महान् आदि व्यक्त होकर भी अव्यक्त हो जाते हैं। इस तरह अपने स्वरूपसे च्युत

---

१. "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ —सां० का० १९। २ —या वि—भ० २।

'स्वरूपाद्भ्रश्यन्त्यनित्यत्वात्। प्रकृतिस्त्वविकृता नित्याभ्युपगम्यते। ततो न कदाचिदपि सा[2] स्वस्वरूपाद्भ्रश्यति। तथा च महदादिकस्य प्रकृतेश्च[3]स्वरूपं साख्यैरित्थमूचे।

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिङ्गम्।
सावयव परतन्त्र, व्यक्त विपरीतमव्यक्तम् ॥७॥" [साख्यका० १०] इति।

§ ३०. तत्र हेतुमत्कारणवन्महदादिकम्, अनित्यमित्युत्पत्तिधर्मकत्वाद्बुद्ध्यादेः,[4] अव्यापीति प्रतिनियतं न सर्वग, सक्रियमिति सह क्रियाभिरध्यवसायादिभिर्वर्तत इति सक्रियं—सव्यापारं संचरणक्रियावदिति यावत्, अनेकमिति त्रयोविंशतिभेदात्मक, आश्रितमित्यात्मोपकारकत्वेन प्रधानमवलम्ब्य स्थित, लिङ्गमिति यद्यस्मादुत्पन्न तत्तस्मिन्नेव [5]लयं क्षयं गच्छतीति लिङ्गम्। तत्र भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि मनश्चाहंकारे, स च बुद्धौ, सा चाव्यक्ते, तच्चानुत्पाद्यत्वान्न क्वचित्प्रलीयते। सावयवमिति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्, परतन्त्रमिति कारणायत्तत्वादित्येवंरूपं व्यक्तं महदादिकम्। अव्यक्तं तु प्रकृत्याख्यम्, एतद्विपरीतमिति। तत्र विपरीतता सुयोज्यैव। नवरं प्रधानं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च सर्वत्र व्यापितया वर्तत इति व्यापित्वं तस्य, तथाव्यक्तस्य व्यापकत्वेन संचरणरूपायाः क्रियाया अभावान्निष्क्रियत्वं च द्रष्टव्यमिति दिङ्मात्रमिदं दर्शितम्। विशेषव्याख्यानं तु साख्यसप्तत्यादेस्तच्छास्त्रादवसेयमिति।

होनेके कारण ये अनित्य हैं। प्रकृति तो कभी भी विकार—कार्यरूप नही होती, प्रकृति तो सदा प्रकृति अर्थात् कारण ही बनी रहती है अत यह नित्य है। वह कभी भी अपने प्रकृति स्वरूपसे च्युत नही होती। महदादिक व्यक्त तथा प्रकृतिका स्वरूप साख्योने इस प्रकार कहा है—"व्यक्त-कार्य हेतुमत्—सकारण, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित-कारणाश्रित, लिङ्ग-कारणमे लीन होनेवाला, सावयव तथा परतन्त्र होता है। अव्यक्त कारण इससे विपरीत होता है।"

§ ३०. महदादि व्यक्त सकारण है कारणोसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके कारण ही अनित्य है, अव्यापि—प्रतिनियत देशवर्ती है, सर्वगत नही है, सक्रिय—अध्यवसाय आदि क्रियाओको करनेके कारण सव्यापार है, सचरण आदि क्रियाएँ करते है। तेईस भेदरूप होनेसे अनेक है, आश्रित भोगमे निमित्त होनेके कारण आत्माके उपकारक होनेसे प्रधानरूप कारणके आधीन है। लिङ्ग—जो जिससे उत्पन्न होता है वह प्रलयकालमे उसीमे लीन हो जाता है अतः ये लय गच्छति—कारण मे लीन होनेके कारण लिग रूप है। लयका क्रम इस प्रकार है—महाभूत अपने कारणरूप तन्मात्राओमे लीन होते है। तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलहगण अपने कारण अहकारमे लीन हो जाते हैं। अहकार महान्—बुद्धिमे तथा बुद्धि अव्यक्त—प्रकृतिमे लीन हो जाती है। प्रकृति स्वय किसीसे उत्पन्न नही हुई अत उसका कही भी लय नही होता। व्यक्त सावयव—शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि अवयवोसे युक्त होता है, परतन्त्र कारणोके आधीन रहता है। महदादि व्यक्त—पूर्वोक्त हेतुमत्त्व आदि धर्मोवाला है। अव्यक्त—प्रकृति ठीक इससे उलटी है, वह किसीसे उत्पन्न नही होती है, नित्य है, व्यापी है, निष्क्रिय है, एक है, अनाश्रित है, किसीमे लीन नही होनेसे अलिग है, निरवयव है, तथा स्वतन्त्र है। प्रधान स्वर्ग आकाश पृथिवी आदि सभी स्थानोमे व्यापीरूपसे रहता है इसलिए वह सर्वगत अव्यक्त—प्रधान सर्वव्यापी होनेसे उसमे कोई सचरण आदि क्रियाएँ भी नही हो सकती इसीलिए वह निष्क्रिय है। यहाँ तो इनका सक्षिप्त स्वरूप ही दिखाया गया मात्र दिगासूचन किया है। इनका विशेष व्याख्यान तो साख्यसप्तति आदि साख्यशास्त्रोसे जान लेना चाहिए।

---

१ -ति स्वस्वरू— आ०। २ सा स्वरूपा—भा० २, प० २। ३ -ते स्वस्व—भ० २। ४. -द्बुद्ध्यादिवत् अव्या—भ० २। ५ विलय भ० २।

§ २१. अथ पञ्चविंशतितमं पुरुषतत्त्वमाह—"अन्यस्त्वकर्ता" इत्यादि। प्रकृतेश्चतुर्विंशतितत्त्वरूपाया अन्यस्तु पृथग्भूतः, पुनरकर्ता विगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्पुरुषस्तत्त्वम्। तत्रात्मा विषयसुखादिकं तत्कारणं पुण्यादिकर्म च न करोतीत्यकर्ता, आत्मनस्तृणमात्रकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थत्वात्। कर्त्री तु प्रकृतिरेव, तस्याः प्रवृत्तिस्वभावत्वात्। तथा विगुणः सत्त्वादिगुणरहितः, सत्त्वादीनां प्रकृतिधर्मत्वादात्मनश्च तदभावात्।

§ २२ तथा भोक्ता अनुभविता। भोक्तापि साक्षान्न भोक्ता, किं तु प्रकृतिविकारभूतायां द्व्युभयमुखदर्पणाकारायां बुद्धौ सङ्क्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि निर्मले प्रतिबिम्बोदयमात्रेण भोक्ता व्यपदिश्यते, "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति वचनात्।

§ २१ अब पचीसवें पुरुषतत्त्वका निरूपण करते हैं—पुरुष—आत्मा प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न है, अकर्ता है, निर्गुण है, भोक्ता है तथा नित्य चैतन्यशाली है। आत्मा विषय सुख आदिको तथा उनके कारण पुण्य आदि कर्मोंको नहीं करता इसलिए वह अकर्ता है। आत्मामें एक तिनकेको भी टेढ़ा करनेकी सामर्थ्य नहीं है। करने-धरनेवाली तो प्रकृति है। क्योंकि प्रकृतिका ही प्रवृत्ति करना यह स्वभाव है। पुरुष सत्त्वादि गुणोंसे सर्वथा रहित है। क्योंकि सत्त्वादि तो प्रकृतिके धर्म हैं वे आत्माके धर्म नहीं हो सकते।

§ २२ आत्मा भोक्ता—भोगनेवाला है यह अनुभव करता है। किन्तु विषयोंको साक्षात् नहीं भोगता किन्तु प्रकृतिके विकाररूप बुद्धिदर्पणमें सुख-दुःखादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं। यह बुद्धिदर्पण दुतरफा पारदर्शी दर्पण है इसमें दोनों ओर प्रतिबिम्ब झलकता है। अतः बुद्धिदर्पणमें प्रतिबिम्बित सुख-दुःखादिकी छाया अत्यन्त निर्मल पुरुषमें पड़ती है। पुरुषके स्वच्छ स्वरूपमें बुद्धिप्रतिबिम्बित सुख-दुःखादिकी छाया पड़ना ही पुरुषका भोग है और ऐसे ही भोगके कारण पुरुष भोक्ता कहा जाता है। "बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थोंका पुरुष अनुभव करता है" यह पुरातन आचार्योंका कथन है। जैसे जपाकुसुम आदि रंगीली वस्तुके सन्निधानसे स्वच्छ स्फटिक भी लाल आदि रंगवाला कहा जाता है ठीक उसी तरह प्रकृतिके संसर्गके कारण स्वच्छ पुरुषमें भी सुख-दुःखादिके भोक्तृत्वका व्यपदेश हो जाता है। वादमहार्णवका भी मत है कि—बुद्धिरूपी दर्पणमें

---

१ –कर्त्रेति प्र—भ० २। २ –दिरहि—भ० २। ३ "एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥ बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च सङ्कल्प्य अहङ्काराय अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्। सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥ बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति ॥" सांख्यका० ॥३६, ३७॥ "इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेरर्थाकारा वृत्तिर्जायते ।" स्मृतिरपि—"तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥"—सांख्यप्र० भा० १।८७। "बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः ।"—योगसू० तत्त्ववैशा० २।२०। "भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्प्यते।"—योगसू० व्यासभा० २।६। "यच्च तत्रैव विन्ध्यवासिनो भाष्यम्—भोक्तृभोग्यशक्त्योः ।—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३१। "अयमेव च तस्य भोगो यत्तत्र छायासङ्क्रमणसामर्थ्यम् इति च तन्निबन्धनकारस्य।"—न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३४। "तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः—इत्यादिस्मृतिगतैरपीति।"—यो० वा० पृ० २२। ४ उद्धृतमिदम्—त० श्लो० पृ० ५०। प्रमेयक० पृ०। न्यायकु० पृ० १९०। न्यायवि० वि० प्र० पृ० २३५। स्या० रत्ना० पृ० २३३।

यथा जपाकुसुमादिसंनिधानवशात्स्फटिके रक्ततादि व्यपदिश्यते, तथा [१]प्रकृत्युपधानवत्त्वात्सुख-दुःखाद्यात्मकानामर्थानां पुरुषस्य भोजकत्वं युक्तमेव व्यपदिश्यते ।

वादमहार्णवोऽप्याह—"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बक द्वितीयदर्पणकल्पे पु स्यध्यारोहति, तदेव भोक्तृत्वमस्य, न[२] त्वात्मनो विकारापत्ति ।" [   ] इति ।

तथा चासुरिः—

"विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥१॥"

व(वि)न्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

"पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मन. करोति सान्निध्यादुपाधि (धे)स्फटिक यथा ॥२॥" इति ।

§ २३. तथा नित्या या चिच्चेतना तथाभ्युपेत[३], एतेन पुरुषस्य चैतन्यमेव स्वरूपं, न तु ज्ञानं, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वादित्यावेदितं द्रष्टव्यम् । केवलमात्मा स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते, सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति, बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते, ततः सुख्यहं दुःख्यहं ज्ञाताहमित्युपचर्यते । आह च पतञ्जलिः[४]—

"शुद्धोऽपि पुरुष प्रत्यय बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" [योगभा० २।२०] इति ।

आये हुए पदार्थोंके प्रतिबिम्बका स्वच्छपुरुषरूपी द्वितीय दर्पणमे प्रतिफलित होना—झलकना ही सुख-दु खादिका भोग है तथा उस प्रतिबिम्बका पडना ही पुरुषका भोक्तृत्व है । इस प्रतिबिम्बप्रतिफलनरूप भोगको छोडकर आत्मामे कोई दूसरे प्रकारका भोक्तृत्व नही है । आत्मामे किसी भी तरह इसके कारण विकार नही होता ।" आसुरि आचार्यने भी कहा है कि—"जिस प्रकार स्वच्छ जलमे चन्द्रमाके प्रतिबिम्बका उदय होता है उसी तरह बुद्धिसे भिन्न चैतन्यका बुद्धिमे प्रतिबिम्ब पडना ही भोग है । चन्द्रका प्रतिबिम्ब जैसे जलका ही विकार है चन्द्रमाका नहीं है उसी प्रकार बुद्धिमे पडा हुआ पुरुषका प्रतिबिम्ब भी बुद्धिका ही विकार है आत्माका नही । यही आत्मा का भोग है ।"

विन्ध्यवासीने तो भोगका स्वरूप इस प्रकार बताया है—"पुरुष तो स्वरूपसे सर्वथा अविकारी है, परन्तु अचेतन मन ससर्गके कारण पुरुषके स्वच्छस्वरूपमे प्रतिफलित होकर उसे अपने आकारवाला बना देता है । जैसे कि—जपाकुसुम आदि उपाधियों स्वच्छस्फटिकको अपने समान लाल नीला या पीला बना देती है ।"

§ २३ नित्य चेतनत्व ही पुरुषका यथार्थ स्वरूप है । इस विशेषणसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि—चैतन्य ही पुरुषका स्वरूप है, ज्ञान नही । ज्ञान तो बुद्धिका धर्म है । हाँ, आत्मा अपनेसे सर्वथा भिन्नकी भी बुद्धिको अभिन्न अवश्य मान बैठता है । सुख-दुःख आदि विषय इन्द्रियोंके द्वारा बुद्धि तक आते है, बुद्धि उभयत पारदर्शी दर्पणके समान है । अतः उसमें जिस प्रकार एक ओर सुख-दु खादिका प्रतिबिम्ब पडता है उसी तरह उसमे दूसरी ओर पुरुषके चैतन्यका भी प्रतिबिम्ब पडता है । बस, बुद्धिरूपी माध्यमसे चैतन्य और विषयका [illegible] प्रतिबिम्ब पडनेसे ही पुरुष अपनेको 'मै ज्ञाता हूँ, मै भोक्ता हूँ' आदि मानने लगता है । पतञ्जलिने भी कहा है कि— पुरुष तो सर्वतः शुद्ध है, वह [illegible] सम्बन्धी [illegible] देखता है । इस वृत्ति सम्बन्धी

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible]
[illegible]
—[illegible] ।

"बुद्धिस्वाचेतनापि चिच्छक्तिसंनिधानाच्चेतनावतीवावभासते" इति।

§ २४. पुमानित्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेनात्माऽनेकोऽभ्युपगन्तव्यः, जन्ममरणकरणानां नियमदर्शनाद्धर्मादिप्रवृत्तिनानात्वाच्च। ते च[1] सर्वेऽप्यात्मनः सर्वगता नित्याश्चावसेयाः। उक्तं च—

> "अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
> अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥१॥" इति ॥४१॥

§ २५. तत्त्वान्युपसंहरन्नाह—

पञ्चविंशतितत्त्वानि संख्ययैवं भवन्ति च।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

§ २६. व्याख्या—चकारो भिन्नक्रमः, एवं च संख्यया पञ्चविंशतितत्त्वानि भवन्ति। ननु प्रकृतिपुरुषावुभावपि सर्वगतौ मिथः संयुक्तौ कथं वर्तेते इत्याशङ्क्याह—'प्रधानेत्यादि'। प्रधानपुरुषयोश्चात्र विश्वे पङ्ग्वन्धयोरिव वृत्तिर्वर्तनम्[2]। यथा कश्चिदन्धः सार्थेन समं पाटलिपुत्रनगरं प्रस्थितः, स सार्थश्चौरैरभिहतः। अन्धस्तत्रैव रहित इतश्चेतश्च धावन् वनान्तरपङ्गुना दृष्टोऽभिहितश्च 'भो भो अन्ध मा भैषीः, अहं पङ्गुर्गमनादिक्रियाविकलत्वेनाक्रियश्चक्षुर्भ्यां सर्वं पश्यन्नस्मि,

प्रत्ययको देखनेके कारण ही वह अतदात्मक अर्थात् ज्ञातृत्वादि धर्मोसे शून्य होकर भी तदात्मक अर्थात् बुद्धयात्मक ज्ञाता आदि रूपसे प्रतिभासित होने लगता है।" बुद्धि स्वय अचेतन है, परन्तु पुरुषकी चैतन्यशक्तिका सन्निधान होनेसे चेतनावाली मालूम होने लगती है।"

§ २४ श्लोकमे 'पुमान्' इस एकवचनका प्रयोग पुरुषत्व जातिकी अपेक्षासे है। व्यक्तिरूपमे तो पुरुष अनेक है। एक पुरुष उत्पन्न होता है उसी समय दूसरा मरता है, हरएककी बुद्धि आदि जुदी जुदी है, एक सुखी है तो दूसरा दुखी देखा जाता है, इत्यादि प्रतिनियत पुण्य-पाप आदि की व्यवस्थासे स्पष्ट मालूम होता है कि पुरुष अनेक है, एक नही। ये सभी आत्मा सर्वगत तथा नित्य है। कहा भी है—"साख्य दर्शनमे आत्मा अमूर्त है, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अकर्ता, निर्गुण तथा सूक्ष्म है।" इति ॥४१॥

§ २५ अब तत्त्वनिरूपणका उपसहार करते है—

इस प्रकार गिनती करनेपर कुल पचीस तत्त्व होते है। प्रधान और पुरुष दोनोका सम्बन्ध तो अन्धे और लगडे जैसा है ॥४२॥

चकार भिन्नक्रम है। अत 'एव' के बाद उसका अन्वय होता है। इस तरह सख्यासे अर्थात् गिनती करनेपर पचीस तत्त्व होते है।

शका—प्रकृति और पुरुष दोनो ही सर्वगत है अत वे परस्पर सयुक्त होकर किस ढगसे रहते है?

समाधान—इस विश्वमे प्रधान और पुरुषका सयोग तो अन्धे और लँगडेके समान है। जैसे—एक अन्धा सार्थ-व्यापारी यात्रीके साथ पाटलिपुत्र—पटनेकी ओर रवाना हुआ। मार्ग बीहड था। लुटेरोने सार्थको मार डाला। बिचारा अन्धा अपने साथीके वियोगसे तथा मार्ग नही सूझनेके कारण विकल हो उस भयानक जगलमे इधर-उधर भटकने लगा। वही एक लगडा दृष्टि-सम्पन्न होकर भी चलनेकी शक्ति न होनेके कारण पडा हुआ था। उसने उस भटकते हुए अन्धेको देखकर कहा—हे भाई अन्धे मत डरो, मै कहता हूँ सो सुनो, मै लगडा हूँ सब कुछ देखता हूँ

---

१ ते सर्वे—म० २। २ "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग ॥"—सांख्य का० २१।

त्वं तु गमनादिक्रियावान्न 'पश्यसि'। ततो अन्धेनोचे--'रुचिरमिदम्, अहं भवन्तं स्कन्धे करिष्यामि, एवमावयोर्वर्तनमस्तु' इति। ततोऽन्धेन पङ्गुर्द्रष्टृत्वगुणेन स्वं स्कन्धमधिरोपितो नगरं प्राप्य नाटकादिकं पश्यन् गीतादिकं चेन्द्रियविषयमन्यमप्युपलभ्यमानो यथा मोदते, तथा पङ्गुकल्पः शुद्धचैतन्यस्वरूपः पुरुषोऽप्यन्धकल्पां जडां प्रकृतिं सक्रियामाश्रितो बुद्ध्यध्यवसितं शब्दादिकं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितं चेतयमानो मोदते, मोदमानश्च प्रकृतिं सुखस्वभावां मोहान्मन्यमानः संसारमधिवसति ॥४२॥

§ २७. तर्हि तस्य कथं मुक्तिः स्यादित्याह—

प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्य बतैतदन्तरज्ञानात् ।
मानत्रितयं चात्र प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ॥ ४३ ॥

§ २८. व्याख्या—बतेति पृच्छकानामामन्त्रणे, एतयोः प्रकृतिपुरुषयोर्यदन्तरं विवेकस्तस्य ज्ञानात्पुरुषस्य यः प्रकृतेर्वियोगो भवति, स मोक्षः। तथाहि—

"शुद्धचैतन्यरूपोऽय पुरुषः परमार्थतः ।
प्रकृत्यन्तरमज्ञात्वा मोहात्ससारमाश्रित ॥ १ ॥"

ततः प्रकृतेः सुखदुःखमोहस्वभावाया यावन्न विवेकेन ग्रहणं तावन्न मोक्षः, प्रकृतेर्विवेकदर्शने तु प्रवृत्तेरुपरताया प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति। मोक्षश्च बन्धविच्छेदाद्भवति,

---

पर चलनेकी ताकत न होनेसे पडा हूँ, तुम चल तो सकते हो पर देख नही पाते' यह सुनते ही अन्धा खुशीके मारे उछल पडा और बोला—'अरे, बडा अच्छा हुआ, मैं अपने कन्धेपर तुम्हे बैठा लेता हूँ, बस हम तुम दोनोका काम चल जायगा।' इस तरह अन्धेने लँगडेको द्रष्टा होनेके कारण अपने कन्धेपर बिठाया और अन्धा उसे देश-देशमे घुमाने लगा। लँगडा नगरमे पहुँचा। वहाँ वह नाटक देखकर, गाना सुनकर तथा अन्य इन्द्रियोके विषयोका यथेष्ट अनुभवन कर जिस प्रकार खुश होता है कि इसी तरह क्रियाशक्तिसे विकल-अकर्ता शुद्ध चैतन्य स्वरूपी यह लँगडा पुरुष अन्धेके समान सक्रिय सब कुछ करने-धरनेवाली जड प्रकृतिके कन्धेपर चढकर अर्थात् प्रकृतिका ससर्ग पाकर बुद्धिके द्वारा अध्यवसित शब्दादि विषयोको, जो अपने स्वच्छ स्वरूपमे प्रतिबिम्बित हो रहे है, अनुभव करता हुआ खुश हो रहा है। और इस खुशीमे वह अज्ञानके कारण प्रकृतिको ही सुखरूप मान बैठता है और इसीलिए उस अन्धी प्रकृतिके कन्धेपर चढा हुआ ससार-परिभ्रमण करता रहता है। जैसे कि लँगडा अन्धे पुरुषके संसर्गको सुखरूप मान उसे कभी भी नही छोडना चाहता उसी तरह पुरुष भी प्रकृतिससर्ग को ही सब कुछ मानकर मोहके कारण उसे छोडना नही चाहता और ससारमे रहता है ॥ ४२ ॥

बन्धश्च प्राकृतिकवैकारिक[1]दाक्षिणभेदात् त्रिविध[2]। तथाहि—प्रकृतावात्मज्ञाना[3]द् ये प्रकृतिमुपासते, तेषां प्राकृतिको बन्ध.। ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धी. पुरुषबुद्धचोपासते, तेषा वैकारिक। इष्टापूर्ते दाक्षिण:, पुरुष[4]तत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना[5]बध्यत इति।

"इष्टापूर्त मन्यमाना वरिष्ठ, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा'।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा, इम लोकं हीनतर वा विशन्ति ॥१॥" [मुण्डक० १।२।१०]

इति। बन्धाच्च प्रेत्यसंसरणरूपः संसारः प्रवर्त्तते।

§ २९. सांख्यमते च पुरुषस्य प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्य न बन्धमोक्षसंसारा', किं तु प्रकृतेरेव। तथा च कापिला:—

"तस्मान्न बध्यते नैव मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते[6]मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति. ॥१॥" [साख्य का० ६२।] इति।

प्रकृतिसे अपने स्वरूपको भिन्न न समझनेके कारण मोहसे संसरण—ससारमे परिभ्रमण करता रहता है।" इसलिए सुख-दु ख मोहस्वरूप वाली प्रकृतिको जब तक आत्मासे भिन्न नही समझा जाता तब तक मोक्ष नही हो सकता। प्रकृतिको आत्मासे भिन्न रूपमे देखने पर तो प्रकृतिकी प्रवृत्ति अपने आप रुक जाती है और(प्रकृतिका व्यापार रुक जाने पर पुरुषका अपने शुद्धचैतन्य स्वरूपमे स्थित हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष बन्धन के तोडने पर होता है। बन्धन तीन प्रकार का है—१ प्राकृतिक, २. वैकारिक ३ दाक्षिण। प्रकृतिको आत्मा मानकर जो प्रकृतिकी उपासना करते है, उसे ही अपना सर्वस्व समझते है उन मूढ प्रकृतिदर्शियोको प्राकृतिक बन्ध होता है। जो विकार अर्थात् पृथिव्यादि भूत, इन्द्रियाँ, अहंकार तथा बुद्धिको पुरुष समझकर इन विकारोकी ही उपासना करते है उन व्यक्तियोको वैकारिक बन्ध होता है। श्रुतिविहित यज्ञादिको तथा स्मृति प्रतिपादित बावडी कुआँ आदि बनवानेको ही उत्कृष्ट कर्तव्य मानना दाक्षिण बन्ध है। पुरुष तत्त्वको नही समझकर आत्मज्ञानके बिना स्वर्ग आदि सासारिक कामनाओ से श्रुतिविहित यज्ञ दान आदि कर्म करनेसे तथा स्मार्त कुआँ बनवाने आदिसे दाक्षिणबन्ध होता है। कहा भी है—"जो मूढ जन इष्टापूर्त-श्रुति प्रतिपादित यज्ञ आदि इष्ट, तथा स्मृति विहित कुआँ बावडी आदि बनाने रूप पूर्त कर्मको ही वरिष्ठ—सर्वश्रेष्ठ मान कर अन्य किसी भी शुभकर्म या ध्यान आदिको कल्याणकारी नही समझते वे पहिले यज्ञादिके फलसे स्वर्गमे उत्पन्न होकर भी अन्तमें इसी मनुष्य लोक मे अथवा इससे भी हीन तिर्यग्लोक आदिमे जन्म लेते है।"

बन्धसे परलोकमे जन्म लेना आदि संसारका जन्म मरण चक्र चलने लगता है।

§ २९ साख्य मत मे पुरुष न तो प्रकृति—कारण रूप है और न कार्यरूप ही अत' उसको न बन्ध होता है न मोक्ष और न ससार ही। ये सब बन्ध आदि तो प्रकृतिको ही होते है। कापिलोने कहा है—"चूंकि पुरुष साक्षी आदि स्वरूप वाला है अत न तो पुरुषको बन्ध होता है न वह

---

१ दाक्षिणकभे–म० १। २ "स च बन्धस्त्रिविधः प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दाक्षिणबन्धश्च। तत्र प्रकृतिबन्धो नाम अष्टासु (प्रकृतिबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु) प्रकृतिषु परत्वेनाभिमान। वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मा(बुद्धया)दिस्थानेषु श्रेयोबुद्धि। दाक्षिणबन्धो नाम गवादिदानेज्यानिमित्त।" —सा० माठरवृ० पृ० ६२। "प्रकृतिलय प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते, यज्ञादिभि दाक्षिणबन्ध इत्युच्यते, ऐश्वर्यादिनिमित्तो भोगो वैकारिक इत्युच्यते।" —सा० माठरवृ० पृ० ६२। योगसू० तत्त्ववैशा० १।२४१। सांख्यम० पृ० २४। स्या० मं० पृ० १९१। "प्रकृतिबन्ध प्रकृतिलय परत्वेनाभिमन्यत। सन्यानिनामिन्द्रियेषु लयो वैकारिकोऽपर ॥ गृहिणा दक्षिणाबन्धो वदान्यत्वाभिमानिनाम्। इत्येषन्त्रिविधो बन्धस्त्रिविधो मोक्ष उच्यते ॥" —सांख्यसं० पृ० २४। ३ –नाद्यै प्र–म० २। ४ –तत्त्वाभि–म० २। ५ वाध्यते–म० २। ६ –तेऽपि न यतो हि नाना–म० २।

नवरममी बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते।[1] यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात्पुरुषे संबन्ध इति ॥

§ ३०. अत्र प्रमाणस्य सामान्यलक्षणमुच्यते—'अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्' इति । अथोत्तरार्धे मानत्रितयं च-प्रमाणत्रितयं च, अत्र—साख्यमते । किं तदित्याह—प्रत्यक्षं-प्रतीतं, लैङ्गं-अनुमानं, शाब्दं-चागमः चकारोऽत्रापि संबन्धनीय. । तत्र प्रत्यक्षलक्षणमाख्यायते-'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्' इति । 'श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी' इति । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, तेषां वृत्तिर्वर्तनं परिणाम इति यावत्, 'इन्द्रियाण्येव विषयाकारपरिणतानि प्रत्यक्षमिति हि तेषां सिद्धान्त.[2] । अविकल्पिका नामजात्यादिकल्पनारहिता शाक्यमताध्य[3]क्षवद्व्याख्येयेति ।

§ ३१. ईश्वरकृष्णस्तु[4] 'प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षम्" इति प्राह ।[5]

मुक्त होता है और न उसे ससार हो होता है। यह सब स्वाग तो बहुरूपिणी प्रकृति ही भरा करती है। वही बँधती है, छूटती है तथा ससारमे परिभ्रमण करती है ॥" इतना अवश्य है कि प्रकृतिमे होनेवाले ये बन्धादि पुरुषमे उपचरित होते हैं। जैसे सैनिकोका जय या पराजय स्वामी का ही जय और पराजय माना जाता है क्योकि जय-पराजयके फलस्वरूप धनादिकी प्राप्ति आदि राजाको ही होती है उसी तरह भोग और अपवर्ग दोनो ही यद्यपि प्रकृति गत है परन्तु विवेक अर्थात् भेदज्ञान न होने से भोक्ता पुरुषके कहे जाते हैं और इसीलिए पुरुषमे संसारी तथा मुक्त ये व्यपदेश होते हैं।

§ ३० अब साख्यो की प्रमाणचर्चा प्रारम्भ करते है। अर्थोपलब्धिमे जो साधकतम कारण होता है उसे प्रमाण कहते है। श्लोकके उत्तरार्धमे साख्योके तीन प्रमाणोका निर्देश किया है। १ प्रत्यक्ष, २ लैङ्ग—लिङ्गसे होने वाला अनुमान, ३ आगम। निर्विकल्पक श्रोत्रादिकी वृत्तिको प्रत्यक्ष कहते है। श्रोत्र, स्पर्शन, आँखे, जीभ तथा नाक ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियोकी वृत्ति-परिणमन व्यापार को श्रोत्रादिवृत्ति कहते है। साख्य विषयाकार परिणत इन्द्रियोको ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते है। नाम-जाति आदिकी कल्पनासे रहित वृत्ति निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पकका व्याख्यान बौद्ध-दर्शनमे किये गये प्रत्यक्षके व्याख्यानकी तरह समझ लेना चाहिए।

§ ३१ ईश्वरकृष्णने प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार किया है–"प्रत्येक विषयके प्रति इन्द्रियोके अध्यवसाय व्यापारको दृष्ट–प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।"

---

१ "तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथ पुरुषे व्यपदिश्येते इति। यथा विजय पराजयो वा योद्धृषु वर्तमान । स्वामिनि व्यपदिश्येते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते।"—यो० भा० २।१८। २ "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्षम्।" —योगसू० व्यासभा० पृ० २७। "कापिलास्तु श्रोत्रादिवृत्ते प्रत्यक्षत्वमिच्छन्ति। "—प्रमाणसमु० पृ० ६४। न्यायवा० पृ० ४३। "वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति।" —न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५। न्यायमं० पृ० १००। तत्त्वोप० ६१। ३ –क्षमतिवद्व्याख्येयेति ई०–म० १, प० १, प० २। –क्षमिति वद्व्याख्येयेति ईश्व– भ० २। ४ प्रतिबिम्बकताव्यव–भ० २। ५ "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्"—सांख्यका० ५।

§ ३२ अनुमानस्य त्विदं लक्षणम्[1]—पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानमिति। तत्र नद्युन्नतिदर्शनादुपरि वृष्टो देव[2] इत्यनुमीयते यत्तत्पूर्ववत्। तथा समुद्रोदकबिन्दुप्राशनाच्छेषं जलं क्षारमनुमानेन ज्ञायते, तथा स्थाल्यां सिक्थैकचम्पनाच्छेषमन्नं पक्वमपक्वं वा ज्ञायते तत्शेषवत्। यत्सामान्यतो दृष्टं तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, यथा त्रिदण्डदर्शनाददृष्टोऽपि लिङ्गी परिव्राजकोऽस्तीत्यवगम्यते, इति त्रिविधम्। अथवा तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमित्येवानुमानलक्षणं साङ्ख्ये समाख्यायते।[3]

§ ३३. शाब्दं त्वाप्तश्रुतिवचनम्, आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः तेषां वचनं शाब्दम्।

§ ३४ अत्रानुक्तमपि किंचिदुच्यते। चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या नार्थं जानाति, बुद्धिश्च जडा न चेतयते, सन्निधानात्तयोरन्यथा प्रतिभासनम्, प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरुपजायते, प्रकृतिविकारस्वरूपं कर्म, तथा त्रैगुण्यरूपं सामान्यम्, प्रमाणविषयस्तात्त्विक इति। अत्र त्रयो गुणाः

§ ३२. पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्टके भेदसे तीन प्रकारका अनुमान है। नदीमें बाढ़ देखकर ऊपरी प्रदेशमें मेघकी वृष्टि होनेका अनुमान करना पूर्ववत् है। समुद्रके एक बूँद जलको खारा पाकर शेष समुद्रको खारा समझना, तथा बटलोईमें पकते हुए अन्नके एक दानेको हाथसे मसलकर शेष अन्न को पका हुआ या कच्चा समझना शेषवत् अनुमान है। जो सामान्य रूपसे लिङ्गको देखकर लिङ्गीका अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट है। जैसे बाहर तीन दण्डोंको देखकर भीतर परिव्राजक है यह ज्ञान करना। अथवा लिङ्ग और लिङ्गीके सम्बन्धको ग्रहण कर लिङ्गसे लिङ्गीका अनुमान करना अनुमान प्रमाण है। यही सांख्योंका अनुमानका सामान्य लक्षण है।

§ ३३. आप्त और वेदोंके वचन शाब्द प्रमाण हैं। राग-द्वेष आदिसे रहित वीतराग ब्रह्म सनत्कुमार आदि आप्त हैं। और श्रुति अर्थात् वेद इन्हींके वचन-आगम शब्द हैं।

§ ३४ मूलमें नहीं कही हुई कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं—चैतन्यशक्ति शब्दादि विषयोंका परिच्छेद नहीं करती, वह अर्थको नहीं जानती। पदार्थोंको जानने वाली तो बुद्धि है। बुद्धि जड है, वह सचेतन नहीं कर सकती। बुद्धि और पुरुषके सन्निधानसे यह मालूम होने लगता है कि—बुद्धि चेतनावाली है तथा पुरुष विषयोंको जाननेवाला है। प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्म—पुण्य-पाप आदि सब प्रकृतिके ही विकार हैं।" त्रिगुणवाला प्रधान

---

१ "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्।" —सांख्यका० ५। "तच्च त्रिविधम्। पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्र विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनाद् भवित्री वृष्टिं सम्भावयति। पूर्वमिव दृष्टेति पूर्ववत्। नदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देव इति वा प्रतीतिः। शेषवद्यथा समुद्रोदकबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणभावोऽनुमीयते इति शेषवत्। सामान्यतोदृष्टम्—पुष्पिताम्रदर्शनात् अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति। पुनर्यथा बहिर्द्योत इति केनाप्युक्तं, तत्रापरेणाप्युक्तम्। चन्द्र उदितो भविष्यतीत्यर्थसङ्गतिः। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेनादृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति यस्येदं त्रिदण्डमिति।" —सांख्यका० मा० वृ० पृ० १२। २ मेघ—भ० २। ३ "आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः ताभ्यां उपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनम्। आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेदस्तदेतदुभयमाप्तवचनम्। आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थग्राही तदुक्तमाप्तवचनम्।" —सांख्यका० मा० वृ० का० ३।

सत्त्वरजस्तमांसि । ततः स्वार्थे "ण्यो नन्दादेः" इति ण्यः, यथा त्रयो लोकास्त्रैलोक्यं, षड्गुणाः षाड्गुण्यम्, ततस्त्रैगुण्यं रूपं स्वभावो यस्य सामान्यस्य तत् त्रैगुण्यरूपमिति । प्रमाणस्य च फलमित्थम् । पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं[2] तु फलमिति ।

§ ३५. तथा कारणे कार्यं सदेवोत्पद्यतेऽसदका(क)रणादिभ्यो हेतुभ्यः ।[3] तदुक्तम्—"असदका(क)रणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" [साख्यकारिका ९] इति ॥ अत्र सर्वसंभवाभावादिति, यद्यसत्कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वत्र भवेत् । ततश्च तृणादिभ्योऽपि सुवर्णादीनि भवेयुः, न च भवन्ति, तस्मात्कारणे कार्यं सदेव । तथा

सामान्य रूप है—सर्वत्र अन्वित है, सबका समान रूपसे भोग्य है । प्रमाणका विषयभूत बाह्य अर्थ वास्तविक है काल्पनिक नही ।" (स्वार्थमे 'ण्यो नन्दादे'-सूत्रसे ण्य प्रत्यय करने पर) त्रिगुण ही त्रैगुण्य कहे जाते है, जैसे कि त्रिलोक ही त्रैलोक्य, षड्गुण ही षाड्गुण्य कहा जाता है । त्रैगुण्यरूप सामान्य है । पूर्व पूर्व प्रमाण है तथा उत्तर उत्तर फल रूप है । अर्थात् सन्निकर्षकी प्रमाणतामे निर्विकल्प फल निर्विकल्पको प्रमाण मानने पर सविकल्पकज्ञान फल कहा जाता है ।

§ ३५ कारणमे कार्यकी सत्ता रहती है अत कारणमे विद्यमान ही कार्य उत्पन्न होता है । सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए साख्यकारिकामे कहा है—"असत् वस्तु खर विषाणकी तरह उत्पन्न नही की जा सकती, कार्यकी उत्पत्तिके लिए लोग उपादान कारणको ही ग्रहण करते है, सब कारणोसे सब कार्योकी उत्पत्ति नही होती, समर्थ भी कारण अपने करने योग्य ही कार्यको उत्पन्न करता है, तथा ससारमे कार्य कारण भाव देखा जाता है इसलिए यह मानना ही चाहिए कि—'कारणमे कार्य सत् है ।' सर्वसभवाभावात्—यदि कारणमे कार्य असत् होकर भी उससे उत्पन्न हो जाय तो सबसे सबकी उत्पत्ति होनी चाहिए, तृणसे भी सुवर्ण को उत्पन्न होना चाहिए । पर ससारमे प्रतिनियत कारणोसे प्रतिनियत ही कार्यो की उत्पत्ति देखी जाती है अत यह सहज ही कहा जा सकता है कि—'जिस कारणमे जिस कार्यका सद्भाव है उससे वही उत्पन्न होता है

द्रव्याण्येव केवलानि सन्ति, न पुनरुत्पत्तिविपत्तिधर्माणः पर्याया.[1] केऽपि, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वात्तेषामिति ।

§ ३६. सांख्याना तर्कग्रन्या षष्टितन्त्रोद्धाररूप[2] माठरभाष्यं साख्य[3]सप्ततिनामकं, [4]तत्त्वकौमुदी, गौड[5]पादं, आत्रेयतन्त्रं चेत्यादय. ॥४३॥

§ ३७. साख्यमतमुपसंजिहीर्षन्नुत्तरत्र जैनमतमभिधित्सन्नाह—

एवं सांख्यमतस्यापि समासो गदितोऽधुना ।
जैनदर्शनसंक्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

§ ३८. व्याख्या—एवमुक्तविधिना साख्यमतस्यापि न केवलं बौद्धनैयायिकयोरित्यपिशब्दार्थ. । समास –संक्षेपोऽधुना गदितः । जैनदर्शनसक्षेप. कथ्यते । कथंभूत. सुविचारवान्–सुष्ठु सर्वप्रमाणैरबाधितस्वरूपत्वेन शोभना विचारा. सुविचारास्ते विद्यन्ते यस्य स सुविचारवान्, न पुनरविचारितरमणीयविचारवानिति । अनेनापरदर्शनान्यविचारितरमणीयानीत्यावेदितं मन्तव्यम् । यदुक्तं परैरेव—

"पुराण मानवो धर्म साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभि ॥१॥" [मनु० १२।११०]

परैर्हि दोषसंभावनयैव स्वमतविचारणा नाद्रियते । यत उक्तम्—

"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेद न विचार्यते ।
निर्दोष काञ्चन चेत्स्यात्परीक्षाया विभेति किम् ॥१॥" इति ।

अन्य नहीं' । मात्र द्रव्यकी ही सत्ता है, वह नित्य है । उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली कोई भी पर्याय नही है । पर्याये तो केवल आविर्भूत तथा तिरोहित होती है ।

§ ३६ साख्योके षष्टितन्त्रका पुन सस्करण रूप माठरभाष्य साख्यसप्तति, तत्त्वकौमुदी, गौड़पादभाष्य, आत्रेयतन्त्र इत्यादि ग्रन्थ है ॥ ४३ ॥

§ ३७ साख्य मतका उपसहार करके जैनमतके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा करते है—

इस तरह साख्य मतका संक्षेपसे कथन किया गया । अब प्रमाणसिद्ध जैन दर्शनका संक्षेपसे कथन करते है ॥ ४४ ॥

§ ३८ इस तरह साख्यमतका भी सक्षेपसे कथन किया गया । अब समस्त प्रमाणोसे अबाधित होनेके कारण जिसमे बहुत सुन्दर युक्तिसगत विचार है उस सुविचारशाली जैनदर्शनका कथन करते है । अर्थात् इस जैनदर्शनके विचार अविचारित रमणीय–बिना विचारे सुन्दर मालूम होनेवाले नही है । इस विशेषणसे यह सूचित होता है कि अन्य दर्शनोका जब तक विचार नही किया तभी तक वे सुन्दर मालूम होते है, तर्ककी कसौटी पर चढते ही उनकी सुन्दरता उड जाती है । परदर्शनवालोने स्वय ही कहा है कि—"पुराण, मानवधर्म–मनुस्मृति आदि अग उपाग सहित वेद, तथा आयुर्वेदशास्त्र इन चारको आज्ञा सिद्ध जेसेके तैसे बाबा वाक्यके रूपमे ही मानना चाहिए, इनमे तर्क नही करना चाहिए ।" और न तर्कके द्वारा इनका खण्डन ही करना चाहिए । परमतवाले अपने मतमे दोषोकी स्वय सम्भावना करते है, और यही कारण है कि विचारसे—तर्कमे डरते है, तर्कका आदर नही करते । कहा भी है—"जब अन्यमतवाले अपने दर्शनोका विचार करनेमे डरते है तो मालूम होता है कि कुछ दालमे काला अवश्य है, उनमे कहने-सुननेकी बहुत कुछ

---

१ पर्यया म० २ । २ माठराचार्यकृता साख्यकारिकावृत्ति । ३ साख्यकारिका ईश्वरकृष्णकृता । ४ वाचस्पतिमिश्रकृता साख्यतत्त्वकौमुदी । ५ गौडपादकृत साख्यकारिकाभाष्यम् ।

अत एव जैना जिनमतस्य निर्दूषणतया परीक्षातो निर्भीका एवमुपदिशन्ति । सर्वथा स्वदर्शनपक्षपातं परित्यज्य माध्यस्थ्येनैव युक्तिशतैः सर्वदर्शनानि पुनः पुनर्विचारणीयानि, तेषु च यदेव दर्शनं युक्तियुक्ततयावभासते, यत्र च पूर्वापरविरोधगन्धोऽपि नेक्ष्यते, तदेव विशारदैरादरणीयं नापरमिति । तथा चोक्तम्—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥१॥" [लोकतत्त्वनि० श्लो० ३८]

इति श्री[1]तपोगणनभोङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दर[2]सूरिपादपद्मोपजीविश्रीगुणरत्न[3]सूरि-
विरचितायां तर्क[4]रहस्यदीपिका[5]भिधानायां षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तौ
सांख्यमतरहस्यप्रकाशनो नाम [6]तृतीयोऽधिकारः ॥

गुंजाइश है, वे पूर्ण नहीं है। यदि सोना खरा सौटंचका है तो कसौटी पर कसे जानेमें क्यों डरते है। उसकी परीक्षा होने दो, निर्दोषमें तो दोष निकल नहीं सकते॥" इति। इसीलिए जैन लोग अपने जिनमतको निर्दोष होनेके कारण डंकेकी चोट कहते है कि 'आओ, खूब परीक्षा करो' वे निर्भीक होकर परीक्षाके लिए सबका आह्वान करते हुए साफ-साफ कहते हैं कि—अपने मतका पक्षपात छोडकर तटस्थ भावसे सभी दर्शनोका बार-बार खूब विचार करो, विचार करने पर जो दर्शन तर्ककी कसौटी पर सौटचका निकले, युक्तिसंगत हो, जिसमें पूर्वापर विरोध की गन्ध भी न हो उसीका विशारद-समझदारोंको आदर करना चाहिए, अन्यका नहीं।' जैनियोंकी तो खुली घोषणा है कि—"हमारा महावीरसे कोई राग नहीं है जिससे उनके पक्षमें आख मूंद कर गिरा जाय और न कपिलसे कोई द्वेष ही है। हमारा तो स्पष्ट विचार है कि—जिसके वचन युक्तियुक्त हो उसीका अनुसरण करो।"

ॐ

अथ चतुर्थोऽधिकारः

§ १. अथादौ जैनमते लिङ्गवेषाचारादि प्रोच्यते। जैना द्विविधाः श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च। तत्र श्वेताम्बराणां रजोहरणमुखवस्त्रिकालोचादि लिङ्गम्, चोलपट्टकल्पादिको वेषः, [1]पञ्च समितयस्तिस्रश्च[2] गुप्तयस्तेषामाचारः।

"ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकाः।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात्॥ १॥"

इति वचनात्। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माकिञ्चन्यवान् क्रोधादिविजयी दान्तेन्द्रियो निर्ग्रन्थो गुरुः, माधुकर्या वृत्त्या [3]नवकोटीविशुद्धस्तेषां नित्यमाहारः, संयमनिर्वाहार्थमेव वस्त्रपात्रादिधारणम्, वन्द्यमाना धर्मलाभमाचक्षते।

---

§ १ सर्व प्रथम जैनमतवालोंके वेष आचार आदिका वर्णन करते हैं। जैनदर्शनको माननेवाले दो सम्प्रदाय हैं—१ श्वेताम्बर, २ दिगम्बर। श्वेताम्बर मुनिके रजोहरण, मुखपट्टी और बालोंका लुंचन आदि लिंग—चिह्न हैं। उनका वेश चोलपट्टक तथा कल्प—एक चादर आदि होता है। वे पाँच प्रकारकी समिति (देख शोधकर सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति) तथा तीन गुप्ति (मन वचन कायकी रक्षा) का आचरण करते हैं। उनके नाम हैं—"ईर्या—चलते-उठते-बैठते, भाषा—बोलते, एषणा–भिक्षाचर्यामें भाषा एषणा, किसी चीजको आदान–लेनेमें तथा निक्षेप–रखनेमें, उत्सर्ग–मल मूत्र आदिका उत्सर्ग करनेमें, समिति—बड़ी सावधानी है कहा भी है—"ईर्या चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलना, भाषा–हित मित प्रिय वचन कहना, एषणा-शुद्ध अन्तराय आदि टालकर भोजन लेना, आदान निक्षेप–देखभाल कर किसी भी वस्तुका लेना और रखना तथा उत्सर्ग–निर्जीव भूमि पर मलमूत्रादिका उत्सर्ग करना ये पाँच समितियाँ अर्थात् सम्यक् प्रवृत्तियाँ हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये योग निग्रहरूप तीन गुप्ति हैं। अर्थात् मन, वचन तथा कायकी प्रवृत्तियों पर संयम रखना—इनके व्यापारोंको रोक देना गुप्ति है।" गुरु निर्ग्रन्थ होते हैं जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय–आवश्यकता होने पर भी किसीकी वस्तुको बिना दिये न लेना, ब्रह्मचर्य तथा आकिंचन्य–'मेरा कुछ भी नहीं है' इस प्रकारसे किसी भी वस्तुमें ममत्वबुद्धि नहीं रखना, इन पाँच महाव्रतोंका पालन करते हैं। क्रोध मान माया छल कपट लोभ आदि अन्तरंग शत्रुओंको जीतते हैं, इन्द्रियोंका दमन करते हैं, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर नहीं जाने देते। जिस तरह भौंरा फूलोंको हानि पहुँचाये बिना ही उनसे रस ले लेता है उसी तरह साधु मधुकरीवृत्तिसे गृहस्थोंको कष्ट नहीं पहुँचा कर ही नित्य आहार ग्रहण करते हैं जो मन, वचन, काय, को कृत कारित एवं अनुमोदनासे गुणा करने पर फलित होनेवाली नव कोटियोंसे विशुद्ध होता है। शुद्धसंयमके पालनके अभिप्रायसे संयमको निबाहनेके लिए ही वस्त्र और पात्र ग्रहण करते हैं। जब उन्हें कोई नमस्कार करता है तब वे आशीर्वादके रूपमें 'धर्मलाभ' शब्द कहते हैं।

---

१ "ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।"—तत्त्वार्थसू० ९।५। २ "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः" —तत्त्वार्थसू० ९।४। ३ मनोवचनकायानां कृतकारितानुमतैः नव कोटयः।

§ २. दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घ-[1]गोप्यसङ्घ-भेदात्।[2] काष्ठासङ्घे चमरीवालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिका। आद्यास्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं सद्व्रतस्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते, गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलिना भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते। सर्वेषां[3] च भिक्षाटने भोजने च द्वात्रिंशदन्तराया[4] मलाश्च चतुर्दश[5] वर्जनीयाः। शेषमाचारे गुरौ च देवे च सर्वं श्वेताम्बरैस्तुल्यम्, नास्ति तेषां मिथः[6] शास्त्रेषु[7] तर्केष्वपरो भेदः॥ ४४॥

---

§ २. दिगम्बर (दिशाएँ ही जिनके वस्त्र है) नग्न रहते है तथा अपने कर-पात्रसे ही आहार-पानी लेते है, खाने-पीनेके लिए कोई पात्र नही रखते। दिगम्बरोके चार भेद है—१ काष्ठा सघ, २ मूलसघ, ३ माथुरसघ, ४ गोप्यसघ। काष्ठा संघमे चमरी गायके वालोकी पिच्छिका—पीछी रखी जाती है। मूलसघमे तथा गोप्यसघमें मोरके पखोको पीछी रखते है। पर माथुरसघमे किसी भी प्रकारकी पीछी नही रखी जाती। काष्ठासघ मूलसघ तथा माथुरसघके साधु नमस्कार करने पर आशीर्वादके रूपमे 'धर्मवृद्धि' शब्द कहते है। ये स्त्रियोको तद्भव मुक्ति, केवलियोको कवलाहार तथा वस्त्रधारी सद्व्रती की भी मुक्ति नही मानते। गोप्यसघके साधु नमस्कार करनेवालोको 'धर्मलाभ' शब्द कह कर आशीर्वाद देते है तथा स्त्री मुक्ति एव केवलीको कवलाहारी मानते है। गोप्यसघ वाले यापनीय भी कहे जाते है। ये सभी दिगम्बर साधु भिक्षाके लिए जाते समय तथा भोजन करते समय बत्तीस अन्तराय और चौदह मल-दोषोको टालते है। इन थोडे-से मामूली मतभेदोके सिवाय दिगम्बरोका आचार, गुरुका स्वरूप, देवका स्वरूप आदि श्वेताम्बरोके ही समान है। इनके शास्त्रो और दर्शनग्रन्थोमे अन्य कुछ विशेष भेद नही है॥ ४४॥

---

१ गोपसघ-भ० २। २ तुलना—"उक्त च—गोपुच्छिक श्वेतवासा द्राविडो यापनीयक। निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासा प्रकीर्तिता॥ ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति तथ मोक्षस्य योग्या भवन्ति। गोपुच्छिकाना मत यथा, उक्त च—इत्थीण पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्त। कक्कसकेसग्गहण छट्ठ च गुणव्वद नाम॥ श्वेतवासस सर्वत्र भोज्य गृह्णन्ति प्रासुक—मासभक्षिणा गृहे दोषो नास्तीति वर्णलोप कृत। तन्मध्ये श्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठा देवपूजादिक किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति. मण्डलवत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदक पिबन्ति इत्यादि बहुदोषवन्त।

§ ३. अथ देवस्य लक्षणमाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः ।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः ॥ ४५ ॥
सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थप्रकाशकः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥ ४६ ॥

§ ४ व्याख्या—तत्र–जैनमते जयन्ति रागादीनिति जिनाः–सामान्यकेवलिनः तेषामिन्द्रस्तादृशासदृशचतुस्त्रिंशदतिशयसनाथपरमैश्वर्यसमन्वितः[1] स्वामी जिनेन्द्रो देवता–देवः कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं संप्राप्त इति संबन्धः । कीदृशः स इत्याह—'रागद्वेषविवर्जित' मायालोभौ रागः,

---

§ ३ अब देवका लक्षण कहते हैं—

जैन दर्शनमे राग-द्वेषसे रहित—वीतराग, महामोहका नाश करनेवाले, केवलज्ञान और केवलदर्शनवाले, देवेन्द्र और दानवेन्द्रोसे संपूजित, पदार्थोका यथावत् सत्य रूपमे प्रकाश करनेवाले तथा समस्त कर्मोको नाश कर परम पद–मोक्ष को पानेवाले जिनेन्द्रको ही देव माना है ॥४५-४६॥

§ ४ जैनमतमे रागादिको जीतनेवाले सामान्य केवली जिन कहलाते है। इन जिनोके इन्द्र अर्थात् स्वामी, तीर्थंकर जिनेन्द्र जैनमतमे देवता है। ये सामान्य केवलियोमे नही पाये जाने वाले चौतीस असाधारण अतिशय रूप ऐश्वर्यके धारी होते है। ये समस्त कर्मोका क्षय कर परमपदको प्राप्त हुए है। माया और लोभ राग रूप है तथा क्रोध और मान द्वेष रूप है। वे इन दोनो राग

---

१ "चोत्तीस वुद्वाइसेसा पणत्ता त जहा अवट्ठियकेसमसुरोमनहे १ निरामया निरुवलेपा गायलट्ठी २ गोक्खीरपडुरे मससोणिए ३ पउमुप्पलगधिए उस्सासनिस्सासे ४ पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मसचक्खुणा ५ आगासगय चक्क ६ आगासगय छत्त ७ आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८ आगासफालियामय सपायपीढ सीहासण ९ आगासगओ कुडभीसहस्सपरिम डियाभिरामो इदज्झओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य ण अरहता भगवता चिट्ठति वा निसीयति वा तत्थ तत्थ वि य ण तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघटो सपडागो असोगवरपायवे अभिसजायइ ११ ईसि पिट्ठओ मउ ट्ठाणम्मि तेयमडल अभिसजायइ अधकारे वि य ण दस दिसाओ पभासेइ १२ वहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३ अहोसिरा कटया जायति १४ उऊविवरीया सुहफासा भवति १५ सीयलेण सुहफासेणं सुरभिणा मारुएण जोयणपरिमडल सव्वओ समता. सपमज्जिज्जइ १६ जुत्तफुसि एण मेहेण य निहयरयरेणू पकिज्जइ १७ जलथलयभासुरपभूतेण विट्टाविय[illegible]वन्नणकुसुमेण जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८ असणुन्नाण सद्दफरिसरसरूवगधाण अवकरिसो भवइ मणुन्नाण सद्दफरिसरसरूवगधाण पाउब्भावो भवइ १९ उभओ पासि च ण अरहताण भगवताण दुवे जक्खा कडगतुडियथभियभुया चामरुक्खेवण करति २० पव्वाहरओ वि य ण हिययगमणीयो जोयणनीहारी सरो २१ भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा वि य ण अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाण दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसिवाण अप्पप्पणो हियसिवसुह दाए भासत्ताए परिणमइ २३ पुव्ववद्धवेरा वि य ण देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिनरकिंपुरिसगरुलगधव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसतचित्तमाणसा धम्म निसामति २४ [illegible] निउत्थियपावयणिया वि य नमागया वदति २५ आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवति २६ जओ जओ वि य ण अरहतो भगवतो विहरति तओ तओ वि य ण जोयणपणवीसाएण ईति न भवइ २७ मारी न भवइ २८ सचक्क न भवइ २९ परचक्क न भवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१ [illegible] ३२ दुब्भिक्ख न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना वि य ण उप्पाइया वाहीखिप्पा मेव उवसमति ३४।" समवा० ३४।

क्रोधमानौ द्वेष., रागद्वेषास्य। विशेषेण पुन· पुनर्भावेन वर्जितो रहितो रागद्वेषविर्वाजतो वीतराग इत्यर्थ·। रागद्वेषो हि दुर्जयो दुरन्तभवसंपातहेतुतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये प्रसिद्धौ। यदाह[1]—

"को दुक्ख पाविज्जा कस्स य सुक्खेहि विम्हओ हुज्ज।
को य न लभिज्ज [2]मुक्ख रागद्दोसा जइ न हुज्जा॥ १॥" इति।

ततस्तयोर्विच्छेद उक्तः।

§ ५. तथा 'हतमोहमहामल्ल' मोहनीयकर्मोदयाद्धिसाद्यात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादि-व्यामोहो मोह, स एव सकलजगद्दुर्जयत्वेन महामल्ल इव महामल्लः हतो मोहमहामल्लो येन स तथा। एतेन विशेषणद्वयेन देवस्यापायापगमातिशयो व्यञ्जितो द्रष्टव्यः, तथा रागद्वेषमहामोहरहितोऽर्हन्नेव देव इति ज्ञापितं च। यदुक्तम्—

"रागोऽङ्गनासङ्गमतोऽनुमेयो द्वेषो द्विष[3]द्दारणहेतिगम्य·।
मोह कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देव· स स[4] चैवमर्हन्॥ १॥" इति।

द्वेषसे विशेष रूपसे रहित अर्थात् सर्वथा वीतराग है। ये राग-द्वेष ही अनन्त ससारमे पटकनेवाले है और इसीलिए ये मुक्तिके प्रतिबन्धक है। शास्त्रमे इन्हे मोक्षके किवाडोमे अर्गला–बेडाके समान कहा है। इनको जीतना बहुत कठिन है। कहा भी है—"यदि ससारमे राग और द्वेष नही होते तो क्यो कोई दु खी होता, क्यो कोई थोडा-सा सुख मिलने पर विस्मित होकर अपने आपको भूल जाता तथा क्यो न हर एक प्राणी मोक्षको प्राप्त कर लेता ? यह दु.ख-सुख मिलनेपर स्वरूप विभ्रम होना तथा मोक्षकी प्राप्ति न होना इन्ही राग-द्वेषकी कृपाका फल है।" अत जिनेन्द्र राग-द्वेषके परित्यागी होते है।

§ ५ ये महामोहमल्लको नाश करनेवाले है। मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाला आत्मविकार व्यामोह–स्वरूपविस्मृति ही मोह है। यह मोह समस्त विकारोका जनक है, यह दोष रूपी सेनाका सेनापति है तथा सकल जगत्के द्वारा इसका जीतना अत्यन्त कठिन है अत यह महामल्ल है। इसी मोहके कारण हिसाका समर्थन करनेवाले, हिसामे धर्म माननेवाले शास्त्रोंमे सुशास्त्रका भ्रम होकर उनमे प्रतिपादित उपायोसे मुक्ति प्राप्त करनेका व्यामोह–मिथ्या अभिनिवेश होता है। इस महामोहने सकल जगत् पर अपना अमिट प्रभाव जमा रखा है। इसको जीतना महा दुष्कर है। पर इस मोहरूपी महाभटको जिनेन्द्रने अपनी वीतरागतासे पछाड दिया है–उसका समूल उच्छेद कर दिया है।

इन दोनो विशेषणोसे जिनेन्द्रका अपायापगम–पापरहितता-रूप अतिशय सूचित होता है। इनसे 'राग-द्वेष तथा मोह–इस दोषत्रिपुटीका नाश करनेवाले अर्हन्त ही सच्चे देव हैं' यह भी सूचित होता है। कहा भी है—"स्त्रीसगमसे रागका तथा शत्रुओको मारनेवाले शस्त्रोके द्वारा द्वेषका अनुमान होता है, कुचारित्र तथा कुशास्त्रोमे प्रीति या उनका प्रतिपादन करनेसे मोहका अनुमान होता है। परन्तु जिनेन्द्रमे इन तीनो चिह्नोमे-से एक भी चिह्न नही दीख पड़ता अतः जिनेन्द्र ही राग-द्वेष मोहसे रहित है, अर्हन् है।"

---

१ क दु ख प्राप्नुयात् तस्य च सुखै विस्मयो भवेत्। कश्च न लभेत् मोक्षं रागद्वेषौ यदि न भवेताम्।
२ सुक्ख क०। ३ –पन्मारणहेति–भ० २। ४ सदैवमर्हन्–म० २।

§ ९. तथा कृत्स्नानि–संपूर्णानि घात्यघातीनि कर्माणि–ज्ञानावरणादीनि, तेषां क्षयः—सर्वथा प्रलयः। तं कृत्वा परमं पदं–सिद्धिं संप्राप्तः। एतेन कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणा सिद्धावस्थाभिदधे। अपरे सुगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसंभवे भूयो भवमवतरन्ति। यदाहुरन्ये[1]—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" इति।

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः कर्मक्षयाभावात्। न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुनर्भवावतारः। यदुक्तम्—

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥" [तत्त्वार्थाधि० भा० १०।७]

उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामुकानां प्रबलमोहविजृम्भितम्–

"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्।
मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥ १ ॥"

[सिद्ध० द्वा०] इत्यलं विस्तरेण।

---

§ ९. जिनेन्द्र सम्पूर्ण घातिया तथा अघातिया दोनों प्रकारके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका समूल नाश करके परम-सिद्ध पदको प्राप्त करनेवाले हैं। अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय ये कर्म जीवके निजस्वरूप ज्ञानादि गुणोंका घात करनेके कारण घातिया कहलाते हैं। वेदनीय नाम गोत्र तथा आयुष्य ये चार कर्म जीवके स्वरूपका साक्षात् घात नहीं करके घातिया कर्मोंकी सहायता करते हैं अतः ये अघातिया हैं। इस विशेषणसे सिद्धावस्थाका समस्तकर्ममलसे रहित होना सूचित किया गया है। सुगत आदि अन्य देव तो मोक्षावस्थाको प्राप्त करके भी अपने शासनका लोप या तिरस्कार देखकर उसके उद्धारार्थ फिर अवतार लेते हैं, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं कि—"धर्मतीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थंकर परमपदको प्राप्त करके भी अपने तीर्थकी अवनति या तिरस्कार देखकर फिरसे संसारमें अवतार लेते हैं ॥" वास्तवमें विचार किया जाय तो ऐसे पुनः अवतार लेनेवाले ज्ञानियोंको मोक्षगामी ही नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उन्होंने कर्ममलका समूल नाश नहीं किया, अन्यथा पुनर्जन्म कैसे संभव हो सकता है। यदि वस्तुतः कर्मोंका अत्यन्त उच्छेद हो गया होता तो इनका पुनः अवतार लेना असम्भव ही था। कहा भी है—"जिस तरह बीजके अच्छी तरह जल जाने पर उससे अंकुरका उत्पन्न होना नितान्त असम्भव

§ ११. न च वाच्यं घटकर्त्रादिदृष्टान्तदृष्टासर्वज्ञत्वासर्वगतत्वकर्तृत्वादिधर्मानुरोधेन सर्वज्ञादिविशेषणविशिष्टसाध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धो हेतुर्दृष्टान्तश्च साध्यविकलो घटादौ तथाभूतबुद्धिमतोऽभावाद् इति । यतः साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ गृह्यमाणायां सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तिः, कि तु सामान्येनान्वयव्यतिरेकाभ्यां हि व्याप्तिरवधार्यते । तौ चानन्त्याद्व्यभिचाराच्च विशेषेषु गृहीतुं न शक्यौ । तेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमात्रेण कार्यत्वस्य व्याप्तिः प्रत्येतव्या, न शरीरित्वादिना । न खलु कर्तृत्वसामग्र्यां शरीरमुपयुज्यते, तद्व्यतिरेकेणापि ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रयत्वेन स्वशरीरकरणे कर्तृत्वोपलम्भात् । अकिंचित्करस्यापि सहचरत्वमात्रेण कारणत्वे वह्निपैङ्गल्यस्यापि धूमं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः स्यात् । विद्यमानेऽपि हि शरीरे ज्ञानादीनां समस्तानां व्यस्तानां वाऽभावे कुलालादावपि कर्तृत्वं

§ ११. शंका—घटको बनानेवाले बुद्धिमान् कुम्हार मे तो असर्वज्ञत्व शरीरित्व तथा असर्वगतत्व आदि धर्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाला कर्तृत्व पाया जाता है अत क्षित्यादिका कर्ता भी असर्वज्ञ सशरीर तथा असर्वगत ही सिद्ध होगा । इस प्रकार सर्वज्ञ अशरीरी और सर्वगत ईश्वरसे विपरीत धर्मवाला कर्ता सिद्ध होनेके कारण हेतु विरुद्ध हो जायगा । यदि सर्वज्ञ अशरीरी और व्यापी कर्ताको साध्य बनाओगे, तो दृष्टान्तभूत कुम्हारमे ये अशरीरित्व सर्वगतत्व और सर्वज्ञत्वधर्म नही पाये जाते अत दृष्टान्त साध्यशून्य हो जायगा ।

समाधान—साध्य और साधनकी व्याप्ति सामान्यधर्मकी अपेक्षासे ग्रहण की जाती है । यदि विशेषरूपसे ग्रहण की जाय, तो महानसीय अग्नि (रसोईघरकी अग्नि) के धर्म पर्वतमे सिद्ध होनेसे अनिष्ट प्रसग होगा तथा पर्वतीय अग्निके धर्मोंको महानसाग्निमे नही पाये जानेके कारण दृष्टान्तमे साध्यविकलता आयेगी और इस प्रकार समस्त अनुमानोका उच्छेद हो जायगा । अन्वय और व्यतिरेक-द्वारा व्याप्तिका ग्रहण सामान्यरूपसे ही होता है, क्योकि विशेष तो अनन्त है तथा एक विशेषका धर्म दूसरे विशेषमे न पाये जानेके कारण व्यभिचारी भी है अत विशेषधर्मकी अपेक्षा अन्वय व्यतिरेक ग्रहण करना असम्भव ही है । इसीलिए प्रकृत अनुमानमे भी सामान्यबुद्धिमान् रूप कर्ताके साथ ही कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति विवक्षित है असर्वज्ञ या शरीरी कर्ता विशेषके साथ व्याप्ति ग्रहण करना इष्ट नही है । कार्य करनेकी सामग्रीमे शरीर शामिल भी नही है, क्योकि शरीर न भी हो, पर कारणसामग्रीका परिज्ञान, कार्योत्पादनकी इच्छा तथा तदनुकूल प्रयत्न होने पर कार्योत्पत्ति हो ही जाती है । देखो, प्राणी जब मरता है और नये शरीर धारण करनेके लिए तैयार होता है उस समय वह अशरीरी अर्थात् स्थूलशरीरसे रहित होकर भी अपने नये शरीरका कर्ता हो जाता है । अकिंचित्कर शरीर सहचारी होने मात्रसे कारण नही हो सकता । कारण बनने के लिए तो उसे कुछ कार्य करना चाहिए । यदि सहचारी होने मात्रसे ही पदार्थोको कारण मानना प्रारम्भ करे, तो धूमके प्रति अग्निके पीलेपन या भूरेपनको भी कारण मानना पडेगा । देखो कुम्हार जब सो रहा है या अन्य किसी कार्यमे व्यस्त है उस समय शरीरके मौजूद रहते हुए भी

१ –ज्ञत्वासर्वगतत्वकर्तृत्वादि–म० १, प० १, प० २ । –ज्ञत्वासर्वज्ञकर्तृत्वादि–म० २ । २ "बोधाधारे अधिष्ठातरि साध्ये न साध्यविकलत्व नापि विरुद्धत्वम् । न चात्र बोधाधारकारणत्वकार्यत्वयो सामान्यव्याप्तेर्व्याघात शक्यसाधन, विशेषेण तु व्याप्तिविरहादसाधनत्वे धूमस्याप्यसाधनत्वप्रसङ्ग ।" —प्रश० व्योम० पृ० ३०२ । "किच व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमान प्रसिद्ध्यति । कुलालस्य कर्तृत्वेनि न्याद्विशेषविरुद्धता ॥ व्यापारवानसर्वज्ञ शरीरी क्लेशसकुल । घटस्य यादृश कर्ता तादृगेव भवेद् भुव ॥ विशेषसाध्यताया च सास्यस्य निदर्शनम् । कर्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगति कुत ॥" —(पृ० १७५) "यदपि विशेषविरुद्धत्वमस्य प्रतिपादित तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याभावात् अभ्युपगमे वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् ।"—न्यायम० प्रमाण० पृ० १०२ । प्रशस्त० कन्द० पृ० ५८ । ३ –तेगतत्व–म० २ । ४ वार्तत्वे–म० २ । ५ –पि कार्यकर्तृत्व–म० २ ।

§ १४ एकत्वं[1] च क्षित्यादिकर्तुरनेककर्तृणामेकाधिष्ठातृनियमितानां प्रवृत्त्युपपत्तेः सिद्धम्। प्रसिद्धा हि स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारपरतन्त्राणां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः।

§ १५. न च ईश्वरस्यैकरूपत्वे नित्यत्वे च कार्याणां कादाचित्कत्वं वैचित्र्यं च विरुध्यते इति वाच्यम्। कादाचित्कविचित्रसहकारिलाभेन कार्याणां कादाचित्कत्ववैचित्र्यसिद्धौ विरोधासंभवात्।

---

§ १४ जिस प्रकार बहुत-से छोटे-मोटे कार्यकर्ता अपने प्रधान सञ्चालकके अधीन रहते हैं, जिस तरह छोटे-मोटे अनेक राजा-महाराजा एक सम्राट्—चक्रवर्तीके इशारे पर चलते हैं तथा जैसे अनेक देव आदि एक इन्द्रकी आज्ञामें रहते हैं उसी प्रकार संसारके समस्त चक्रवर्ती इन्द्र आदि एक महान् विभूतिरूप ईश्वरके नियममें नियन्त्रित होकर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। उसके नियमके बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। वही सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिशाली अन्तिम अधिष्ठाता ईश्वर है। अतः वह एक ही हो सकता है। अपने नायक-नेता मानने पर तो कार्य नष्ट हो जायेंगे। उनमें मतभेद होने पर बिचारे कार्योंकी दुर्दशा हो जायगी। अतः सबका नियन्ता ईश्वर एक ही माना जाना चाहिए। यह तो प्रसिद्ध ही है कि—छोटे-मोटे अनेक मजदूर कारीगर आदि एक मुख्य इंजीनियरके अधीन रहकर ही बड़े-बड़े राजमहल बनानेमें प्रवृत्त होते हैं। मुख्य इंजीनियर ही इन सबको दिशा प्रदर्शन करके उनका नियन्त्रण करता है। इसी तरह इस विश्वका प्रधान कुशल इंजीनियर ईश्वर है और वह एक है, नित्य है।

चाभावसाध्यत्वे पिशाचादेरपि तत्प्रसक्तिः स्यादिति ।

§ १८. अत्र प्रतिविधीयते ।[1] तत्र यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्वसाधनमुक्तं, तत् किं सावयवत्वं १, प्रागसतः स्वकारणसत्तासमवायः २, कृतमितिप्रत्ययविषयत्वं ३, विकारित्वं ४ वा स्यात् । यदि सावयवत्वं, तदेदमपि किमवयवेषु वर्तमानत्वं १, अवयवैरारभ्यमाणत्वं २, प्रदेशवत्त्वं ३, सावयवमितिबुद्धिविषयत्व ४ वा । तत्राद्यपक्षेऽवयवसामान्येनानैकान्तिकोऽयं हेतुः, तद्धचवयवेषु वर्तमानमपि निरवयवमकार्यं च प्रोच्यते । द्वितीयपक्षे तु साध्यसमो हेतुः, यथैव हि क्षित्यादे· कार्यत्वं साध्यं, एवं परमाण्वाद्यवयवारभ्यत्वमपि । तृतीयोऽप्याकाशेनानै-

दिख ही नही सकतो उसका भी यदि अनुपलब्धिसे अभाव मान लिया जाय, तब तो तमाम पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थोका अभाव ही मानना होगा क्योकि वे तो कभी भी हमको उपलब्ध नही होते ।

§ १८ जैन—(उत्तरपक्ष) उक्त ईश्वर कर्तृत्व साधक दलीलोका खण्डन इस प्रकार है—आपने पृथिवी आदिको ईश्वररचित सिद्ध करनेके लिए कार्यत्व हेतुका प्रयोग किया है । तो सबसे पहले उस कार्यको ही ऐसी सुनिश्चित परिभाषा बताइए जिस परिभाषासे यह निश्चय किया जा सके कि ससारमे अमुक पदार्थ तो कार्य है तथा अमुक पदार्थ अकार्य । क्या जो अवयव-वाला है उसे कार्य कहा जाय ? या जिसका पहले तो अभाव था पर जो सत्ताका सम्बन्ध होनेसे तथा अपने कारणोके साथ समवाय-विशिष्ट सम्बन्ध रखनेके कारण 'सत्' कहा जाने लगा है उसे कार्य कहे ? अथवा जिसे देखते ही 'कृतम्' किया गया है यह बुद्धि उत्पन्न हो जाय वह कार्य है ? या जिसमे विकार होता है वह विकारी पदार्थ कार्य कहा जाय ? यदि सावयव—अवयववाले पदार्थको कार्य कहते है, तो यही बताइए कि सावयव किसे कहे ? क्या जो पदार्थ अवयवोमे रहता है वह सावयव है, या जो अवयवोके सयोगसे उत्पन्न हुआ है वह ? अथवा जिसके अवयव—हिस्से मौजूद हो उसे सावयव कहा जाय, या जिसमे 'यह अवयववाला है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो उसे ? यदि जो अवयवोमे रहता है वह सावयव होनेसे कार्य है, तो अवयवोमे रहनेवाले अवयवत्व सामान्यसे यह लक्षण व्यभिचारी हो जायगा । क्योकि 'यह अवयव है यह अवयव है' इस एक जैसी अनुगत बुद्धिके द्वारा जिसका परिज्ञान होता है वह अवयवत्व नामकी जाति आपके मतसे नित्य है अत एव कार्य रूप तो हो ही नही सकती, परन्तु वह अवयवत्व जाति अवयवोमे रहती अवश्य है । अत विपक्षभूत अकार्य नित्यमे भी इस लक्षणके पास जानेसे यह व्यभिचारी है । अवयवत्व सामान्य अवयवोमे रहता तो है परन्तु वह आपके मतसे निरवयव—निरश है, उसके अवयव नही है । 'जो अवयवोसे उत्पन्न हो वह कार्य' यह दूसरी परिभाषा तो साध्यके समान असिद्ध ही है । जिस प्रकार अभी पृथिवी आदि को कार्य सिद्ध करना है उसी तरह इनका परमाणु आदि अवयवोसे उत्पन्न होना भी तो अभी सिद्ध ही करना है । अभी इसकी सिद्धि नही हुई है । तात्पर्य यह कि जिस तरह कार्यत्व अभी विवादमे पडा है, असिद्ध है, उसी तरह अवयवोसे उत्पन्न होना भी अभी विवाद की ही चीज है क्योकि चाहे कार्य कह लो या अवयवोसे उत्पन्न होनेवाला, दोनो एक ही बात है । अत यह परिभाषा साध्यसम अर्थात् साध्यके समान असिद्ध है । 'जो प्रदेशवाला हो, जिसके हिस्से हो वह कार्य' यह तीसरी परिभाषा अकार्य नित्य आकाशमे भी चली जाती है, अत यह अतिव्याप्त या व्यभिचारिणी (वि—विपक्षसे भी अभिचार—सम्बन्ध रखना) है । आप आकाशको समस्त जगत्मे व्याप्त रहनेवाला मानते है तथा उसे नित्य भी

[1] तुलना "यत्तावत् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वसिद्धये कार्यत्व साधनमुक्तम्, तत्किं सावयवत्वम्, प्रागसत स्वकारणसत्तासमवाय, 'कृतम्' इति प्रत्ययविषयत्वम्, विकारित्व वा स्यात् ?"—न्यायकुमु० पृ० १०१ । प्रमेयरत्नमा० पृ० ६४ ।

२१. कृतमितिप्रत्ययविषयत्वमपि न कार्यत्वं, 'खननोत्सेचनादिना कृतमाकाशमित्य-
ाशे वर्तमानत्वेनानैकान्तिकत्वात् ३ ।

२२. विकारित्वस्यापि कार्यत्वे महेश्वरस्यापि कार्यत्वानुषङ्ग , सतो वस्तुनोऽन्यथाभावो
त्वम् । तच्चेश्वरस्याप्यस्तीत्यस्यापरबुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसङ्गादनवस्था स्यात्, अविकारित्वे
र्यकारित्व मतिदुर्घटमिति ४। कार्यस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यानुपपद्यमानत्वादसिद्धः
यं हेतुः ।

---

२१. 'जिसमे 'कृतम्—किया गया' यह बुद्धि उत्पन्न हो वह कार्य' कार्यका यह लक्षण भी
त्य आकाशमे रहनेके कारण अनेकान्तिक (एक अन्त पक्ष पर डटकर नही रहनेवाला)
—जमीन खोदकर कुआँ बनाते है, जब जमीन खोदकर मिट्टी तथा कीचड आदि उलीच
गड्ढेके साथ-ही-साथ आकाश भी निकलता चला आता है। उस गढेमे निकले हुए
'कृतम्—किया गया' यह बुद्धि तो होती है परन्तु वह कार्य नही है वह तो आपके
ही अनुसार नित्य है। अत इस अनैकान्तिक लक्षणसे आपका पक्ष सिद्ध नही हो सकता।

२२. कार्यका 'जो विकारी हो, जिसमे परिवर्तन—हेर-फेर होना रहता हो वह कार्य' यह
तर्कसगत नही है, क्योकि—आपके ईश्वरके जिम्मे सृष्टि रक्षा तथा सहार ये तीनो ही कार्य
र्ता हर्ता सभी वही है। उसीने घट पट तारे चाद सूरज नदी पहाड सभी विचित्र कार्यो
रनेका ठेका ले रखा है। अब विचार कीजिए कि जब वह ईश्वर सृष्टि और रक्षामे

तद्विशेषो वा । [1]यद्याद्यः, तर्हि न ततो बुद्धिमत्कर्तृविशेषसिद्धिः, तेन समं व्याप्त्यसिद्धेः, किंतु कर्तृसामान्यस्य, तथा च हेतोरकिंचित्करत्वं साध्यविरुद्धसाधनाद्विरुद्धत्वं वा[3] । ततः कार्यत्वं कृतबुद्ध्युत्पादकम्, बुद्धिमत्कर्तुर्गमकं न सर्वम् । सारूप्यमात्रेण च गमकत्वे बाष्पादेरप्यग्निं प्रति गमकत्वप्रसङ्गः, महेश्वरं प्रत्यात्मत्वादेः सादृश्यात्संसारित्वकिंचिज्ज्ञत्वाखिलजगदकर्तृत्वा[4]नुमापकानुषङ्गः, तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् । ततो बाष्पधूमयोः केनचिदंशेन साम्येऽपि तथा कुतश्चिद्विशेषाद्धूमोऽग्निं गमयति न बाष्पादिः, तथा क्षित्यादीतरकार्यत्वयोरपि कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगम्यः ।

कार्यत्व रूप हेतुसे जगत्को ईश्वर रचित सिद्ध करना चाहते है या किसी खास प्रकारके कार्यत्व-से ? साधारण कार्यत्व–बनावटसे जगत्को ईश्वर रचित कहना ईश्वरकी हँसी करना है । साधारण कार्यत्वकी तो साधारण कर्ता–जिस किसी भी अनिश्चित कर्तासे व्याप्ति है न कि ईश्वर-जैसे सर्वज्ञ-त्वादि गुणयुक्तविशेष कर्तासे । इस तरह जिस किसीके कर्ता सिद्ध होनेसे तो आपका प्रयोजन सिद्ध नही हो सकेगा । आपको तो अपने सर्वज्ञ अशरीरी ईश्वरको कर्ता सिद्ध करना है । सामान्य कार्यत्व हेतुने आपके विशेषकर्ताके विरुद्ध सामान्यकर्ताको सिद्ध किया है अत यह हेतु इष्टसे उलटा सिद्ध करनेके कारण विरुद्ध है । कार्य किसी न किसी कर्तासे उत्पन्न होते है, यह तो मोटी तथा सर्वसम्मत बत है अत आपका सामान्य कार्यत्व हेतु इससे अधिक कुछ भी सिद्ध न कर सकनेके कारण अकिंचित्कर भी हो जाता है । कार्य जिन कारणोसे उत्पन्न होते है वे ही कारण उनके कर्ता है । उन कार्योको भोगनेवाले प्राणी भी अपने कर्मोके द्वारा उनके कर्ता हो सकते है । इसलिए जो कार्य 'कृतबुद्धि—ईश्वरने इनको बनाया' इस कृतबुद्धिको उत्पन्न करते है वे ही कार्य ईश्वरको अपना कर्ता सिद्ध कर सकते है सभी कार्य नही । यदि 'कार्य कार्य सब एक है, कार्य कार्य सब बराबर है' इस बाईस पसेरीके भाव सभी कार्योको तौलोगे और सामान्य कार्यत्व हेतुसे भी विशेष ईश्वरको कर्ता सिद्ध करनेका असफल प्रयत्न करोगे, तब कोई मूर्ख धुआ और भाफमे भी धुधलेपनकी समानता देख-कर उन्हे एक मानकर भाफसे भी अग्निकी सिद्धि करने लगेगा । भाफ और धुँआमे धुँधलेपनकी दृष्टिसे तो समानता है ही । इसी तरह 'आत्मा आत्मा सब बराबर' इस साधारण नियमसे ईश्वर तथा हमारी आत्मामे भी समानता है अत आत्मत्व हेतुके द्वारा ईश्वरको भी हमारी ही तरह ससारी, असर्वज्ञ तथा ससारका अकर्ता सिद्ध हो जाना चाहिए । जो प्रश्न तथा उत्तर आप अपने कार्यत्व सामान्य हेतुके समर्थमे दोगे वे ही प्रश्नोत्तर यहाँ भी किये जा सकते है । अत जिस प्रकार भाफ और धुआमे धुधलेपनकी दृष्टिमे थोडी-बहुत समानता होने पर भी अपने विशेष धर्मोके कारण धूम ही अग्निका अनुमापक होता है भाफ नही, अथवा जिस प्रकार आत्मत्वकी दृष्टिसे ईश्वर तथा हम लोगोमे समानता होने पर भी हममे ही रहनेवाला कर्मयुक्त आत्मत्व ही ससारित्व या असर्वज्ञता सिद्ध करता है सामान्य आत्मत्व नही ठीक इसी तरह पृथिवी आदि कार्य तथा घडे आदि कार्योमे यद्यपि कार्यत्व रूप स्थूल दृष्टिसे समानता है फिर भी उसमे कोई ऐसी विशेषता अवश्य ही माननी पडेगी जिससे वह विशेषकर्ताका अनुमान करा सके । अत. सामान्यकार्यत्व हेतु ईश्वरको जगत्कर्ता सिद्ध नही कर सकता ।

न च क्षित्यादावप्यकृत्रिमसंस्थानसादृश्यमस्ति, येनाकृत्रिमत्वबुद्धिरुत्पद्यते तस्यैवानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे चापसिद्धान्तप्रसक्तिः स्यादिति । कृतबुद्ध्युत्पादकत्वरूपविशेषणासिद्धेर्विशेषणासिद्धत्वं हेतोः ।

§ २७. सिध्यतु वा, तथाप्यसौ विरुद्धः, घटादाविव शरीरादिविशिष्टस्यैव बुद्धिमत्कर्तुरत्र प्रसाधनात् ।

§ २८. नन्वेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वथा साम्यान्वेषणे सर्वत्र हेतूनामनुपपत्तिरिति चेत् । न । धूमाद्यनुमाने महानसेतरसाधारणस्याग्नेः प्रतिपत्तेः । अत्राप्येवं बुद्धिमत्सामान्यप्रसिद्धेर्न विरुद्धत्वमित्यप्ययुक्तं, दृश्यविशेषाधारस्यैव तत्सामान्यस्य कार्यत्वहेतौ प्रसिद्धेर्नादृश्यविशेषाधारस्य, तस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीतेः, खरविषाणाधारतत्सामान्यवत् । ततो यादृशात्कारणाद्यादृशं कार्यमुपलब्धं

तादृशादेव तादृशमनुमातव्यम्, यथा यावद्धर्मात्मकाद्वह्नेर्यावद्धर्मात्मकस्य धूमस्योत्पत्तिः सुदृढ-प्रमाणात्प्रतिपन्ना तादृशादेव धूमात्तादृशस्यैवाग्नेरनुमानमिति।

§ २९. एतेन 'साध्यसाधनयोर्विशेषेण व्याप्तौ[1] गृह्यमाणायां सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तिः' इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यमिति।

§ ३०. तथा[2]कृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचार्ययं हेतुः। द्विविधानि कार्याण्युपलभ्यन्ते, कानिचिद्बुद्धिमत्पूर्वकाणि यथा घटादीनि, कानिचित्तु तद्विपरीतानि यथा[3]कृष्टप्रभवतृणादीनि।

प्रकार पूर्ण समानता मिलानेका आग्रह किया जाय तो सभी अनुमानोका उच्छेद हो जायगा। हम कह सकते है कि—'जैसी लकडीकी अग्नि रसोईघरमे है वैसी ही अग्नि पर्वतमे सिद्ध होनी चाहिए परन्तु पर्वतमे तो तिनके पत्ते आदिकी अग्नि है अत हेतु विरुद्ध है।'

जैन—पर्वतमे अग्निका अनुमान करते समय तो पर्वतकी अग्नि तथा रसोईघरकी अग्नि दोनो विशेष अग्नियोमे रहनेवाला एक अग्नित्व नामका सामान्यधर्म पाया जाता है अत. इस सामान्य अग्निका अनुमान करना युक्त है परन्तु घटादिके शरीरी और असर्वज्ञकर्ता तथा पृथिवी आदिके अशरीरी और सर्वज्ञकर्तामे पाया जानेवाला कोई सामान्य कर्तृत्व धर्म प्रसिद्ध नही है जिससे सामान्य कर्ताका अनुमान किया जा सके। क्योकि आज तक किसीको भी सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता विशेषका अनुभव ही नही हुआ है। यहाँ तो पर्वतकी अग्नि तथा रसोईघरकी अग्नि दोनो ही अग्नियाँ दृश्य है अत उनमे रहने वाला अग्नित्व नामक सामान्यधर्म प्रसिद्ध हो सकता है परन्तु कुम्हार आदि शरीरी कर्ताके दृश्य होने पर भी ईश्वरनामके अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ताका तो स्वप्नमे भी अनुभव नही होता जिससे दोनोमे रहनेवाले सामान्य कर्तृत्वकी कल्पना की जा सके जैसे गधेका सीग अप्रसिद्ध है, अतः उसमे रहनेवाले खरविषाणत्वरूप सामान्यधर्मकी कल्पना नही की जा सकती है उसी तरह सर्वज्ञ और अशरीरी कर्ता भी अप्रसिद्ध ही है अत उसमे रहने-वाले किसी भी सामान्य कर्तृत्वकी कल्पना नितान्त असम्भव है। अत. जैसे कारणसे जैसा कार्य देखा जाता है उससे वैसे ही कार्यका अनुमान करना प्रामाणिक-समझदारोका कर्तव्य है न कि देखा तो जाता है शरीरी कर्ता और सिद्ध किया जाय अत्यन्त विलक्षण अशरीरी और सर्वज्ञ कर्ता। इसी तरह जितने और जैसे धर्मवाली अग्निसे जितने और जैसे धर्मवाले धूमकी उत्पत्ति निर्बाध प्रमाणो-द्वारा प्रसिद्ध हो उतने और वैसे धर्मवाले धूमसे वैसी ही अग्निका अनुमान करना परीक्षको को उचित है विलक्षणका नही। अत दृष्टान्तके अनुसार शरीरी और असर्वज्ञ कर्ताके सिद्ध होनेके कारण कार्यत्व हेतु विरुद्ध है।

§ २९ अत. आपका यह कथन भी उचित नही है कि—'साध्य और साधनमे विशेष रूपसे व्याप्ति ग्रहण करने पर तो समस्त अनुमानोका उच्छेद हो जायगा' क्योकि—हमने तो सीधा और सहज नियम बना दिया है कि—'जिससे जैसा कार्य देखा जाय उससे वैसे पदार्थका अनुमान होता है' इस नियममें कोई भी दूषण नही है।

§ ३० बिना बोये हुए अपने आप ऊँगने वाले तृण, जगली वृक्ष, पहाडी पौधे आदि अवयव-वाले होनेसे कार्य तो अवश्य है परन्तु उन्हे किसी बुद्धिमान्ने नही बनाया है, अत. कार्यत्वहेतु अनै-कान्तिक भी है। संसारमे दो प्रकारके कार्य होते है—कुछ तो बुद्धिमानोंके द्वारा बनाये जाते हैं जैसे कि घटादिक। कुछ ऐसे भी है जिन्हे किसी बुद्धिमान्ने उत्पन्न नही किया है किन्तु वे अपने आप प्राकृतिक रूपसे ही उत्पन्न होते तथा विनष्ट होते रहते हैं, जैसे कि बिना जोते-बोये ऊँगनेवाले जगली घास पौधे तथा पहाडी वृक्ष आदि। इन जगली वृक्ष आदिको भी पक्षमे शामिल करना

---

१. व्याप्तौ सकलानुमानोच्छेदप्रसक्तिरित्यपा–म० २। २. "अकृष्टप्रभवैस्तरुतृणादिभिर्व्यभिचारी चायं हेतुः।"—न्यायकुमु० पृ० १०४। ३. –भवाङ्कुरादीनि–म० २।

तेषां पक्षीकरणादव्यभिचारे, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादेरपि गमकत्वप्रसङ्गान्न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात्, व्यभिचारविषयस्य सर्वत्रापि पक्षीकर्तुं शक्यत्वात्।

§ ३१. ईश्वरबुद्ध्यादिभिश्च व्यभिचारः, तेषां कार्यत्वे सत्यपि समवायिकारणादीश्वराद्भिन्नबुद्धिमत्पूर्वकत्वाभावात्। तदभ्युपगमे चानवस्था।

§ ३२. तथा कालात्ययापदिष्टश्चायं, अकृष्टप्रभवाङ्कुरादौ कर्त्रभावस्याध्यक्षेणाध्यवसायात्। अग्नेरनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववत्। ननु तत्राप्यदृश्य ईश्वर एव कर्तेति चेत्, तन्न। यतस्तत्र तत्सद्भावोऽस्मादेवान्यतो वा प्रमाणात्सिध्येत्। प्रथमपक्षे चक्रकम्। अतो हि तत्सद्भावे सिद्धेऽस्यादृश्यत्वेनानुपलम्भसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कालात्ययापदिष्टत्वाभावः, ततश्चास्मात्तत्सद्भावसिद्धिरिति। द्वितीय-

---

अर्थात् इन्हे भी ईश्वर रचित ही कहना उचित नही है, क्योकि जिस वस्तुसे हेतुका व्यभिचार बताया गया हो यदि उसी वस्तुको पक्षमे शामिल करनेका रास्ता निकल जाय, तब कोई भी हेतु व्यभिचारी नही हो सकेगा। जहाँ भी किसीने किसी हेतुका व्यभिचार दिखाया, बस तुरन्त ही उसे पक्षमे शामिल करके व्यभिचार वारण करना बच्चोका खेल सा हो जायगा। और 'गर्भमे रहनेवाला मैत्रका लडका सावला है क्योकि वह मैत्रका लडका है जैसे मैत्रके वही मौजूद चार सावले लडके' ऐसे अनुमान भी गमक हो जायगे क्योकि सर्वत्र व्यभिचारके विषयको पक्षमे शामिल करके अपने हेतुको सच्चा बताया जा सकता है। अत जिस पदार्थसे व्यभिचार दिया जाता है उसे पक्षमे शामिल करने की परिपाटी किसी भी तरह उचित नही है।

§ ३१ ईश्वरकी बुद्धि तथा उनके प्रयत्न आदि गुणोसे भी कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है। ये सब बुद्धि आदि गुण आत्माके विशेष गुण होनेसे अनित्य—कार्य तो है परन्तु उनकी उत्पत्तिमे स्वय ईश्वर रूप उपादानको छोडकर अन्य कोई बुद्धिमान् ईश्वर निमित्तकारण नही होता। यदि इस ईश्वरकी बुद्धि आदिकी उत्पत्तिमे दूसरा ईश्वर कारण हो तथा उसकी बुद्धि पैदा करनेको तीसरा ईश्वर कारण माना जाय तो अनवस्था दूषण होता है। यहाँ ईश्वर तो अपनी बुद्धि आदिकी उत्पत्तिमे समवायिकारण होता है निमित्त कारण नही। पर प्रकृतमे तो बुद्धिमन्निमित्तत्व रूप कर्तृत्व ही विवक्षित है।

चादिवत् । जातिविशेषोऽपि नादृश्यत्वे हेतुरेकस्य जातिविविशेषाभावादनेकव्यक्तिनिष्ठत्वात्तस्य ।

§ ३४. अस्तु[1] वा दृश्योऽदृश्यो वासौ, तथापि किं सत्तामात्रेण १, ज्ञानवत्त्वेन २, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन ३, तत्पूर्वकव्यापारेण ४, ऐश्वर्येण ५, वा क्षित्यादेः कारणं स्यात्। तत्राद्यपक्षे कुलालादीनामपि जगत्कर्तृत्वमनुषज्यते, [सत्त्वाविशेषात्। द्वितीये तु योगिनामपि कर्तृत्वापत्तिः। तृतीयोऽप्यसांप्रतः, अशरीरस्य पूर्वमेव ज्ञानाद्याश्रयत्वप्रतिषेधात्। चतुर्थोऽप्यसंभाव्यः, अशरीरस्य कायवाक्कृतव्यापारवत्त्वासंभवात् ।

§ ३५. ऐश्वर्यमपि[3] ज्ञातृत्वं कर्तृत्वमन्यद्वा। ज्ञातृत्वं चेत्; तत्किं ज्ञातृत्वमात्रं[4] सर्वज्ञातृत्वं वा। आद्यपक्षे[5] ज्ञातैवासौ स्यान्नेश्वरः, अस्मदाद्यन्य[6] ज्ञातृवत्। द्वितीयेऽप्यस्य सर्वज्ञत्वमेव स्यान्नैश्वर्यं,

---

जातिका है जो दृष्टिगोचर न होकर गुप्तरूपसे ही कार्य करता रहता है' यह भी ठीक नही है, क्योकि जब आप ईश्वरको अकेला एक ही मानते है, तब उसको किसी जातिका कहना नितान्त असंगत है। जाति तो अनेक व्यक्तियोमे रहती है, अकेली व्यक्तिमे नही।

§ ३४ अच्छा, ईश्वर दृश्य या अदृय कैसा ही सही परन्तु वह अपनी मौजूदगी मात्रमे ही सृष्टिका कर्ता हो जाता है या ज्ञानवाला होनेसे, अथवा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न वाला होनेसे किवा ज्ञानादिपूर्वक व्यापार करनेके कारण ऐश्वर्य वाला होनेसे ? यदि ईश्वर अपनी निष्क्रिय मौजूदगी मात्रसे ही बिना इशारेके ही इस जगत्को उत्पन्न कर देता है, तब एक कुम्हार भी कह सकता है कि—'यह जगत् मेरी मौजूदगीके कारण उत्पन्न हुआ है' कुम्हार ही क्यो, हम सभी लोग नित्य और व्यापक होनेसे सब जगह तथा हमेशा मौजूद रहनेवाले है अत. हम सभी कहेगे कि—'हमारी मौजूदगीके कारण ही यह 'चराचर सृष्टि हुई है' निष्क्रिय मौजूदगीसे ही जब 'सृष्टिकर्ता' का बड़ा पद मिल रहा है तब बहती गंगामे हाथ कौन न धोएगा ? सभी ईश्वर बन जायगे। यदि समस्त जगत्का परिज्ञान होने मात्रसे ईश्वर जगत्को बनाता है, तो सर्वज्ञ योगियोको भी जगत्का परिज्ञान रहता ही है अतः वे सभी सर्वज्ञ योगी सृष्टिके कर्ता हो जायगे। अशरीरी ईश्वरके ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्नका होना तो मुक्त आत्माओकी तरह नितान्त असम्भव है यह हम पहले कह चुके है। अत वह ज्ञान इच्छा तथा प्रयत्नवाला होने के कारण भी सृष्टिकर्ता नही कहा जा सकता। 'ज्ञानादि पूर्वक व्यापार करनेसे ईश्वर जगत्का विधाता है' यह चौथा विकल्प भी असत है, क्योकि जब ईश्वरके शरीर ही नही है तब उसका ज्ञानादि पूर्वक मन वचन कायका व्यापार ही कैसे तथा कहाँ होगा ? आत्माका ज्ञानादि पूर्वक व्यापार तो शरीरमें ही या शरीरके द्वारा ही होता है।

§ ३५. ईश्वरको ऐश्वर्यके कारण सृष्टिका रचयिता कहना भी युक्तियुक्त नही मालूम होता; क्योकि अभी तक उस ऐश्वर्यका स्वरूप ही अनिश्चित है जिसके कारण वह इस जगत्का नियन्ता होता है। आप बताइए कि—ईश्वरमे कैसा ऐश्वर्य है ? क्या 'वह जगत्को जानता है' इसलिए उसमे ज्ञातृत्व रूप प्रभुता है अथवा वह रचना करता है अत कर्तृत्वरूप प्रभुता है ,अथवा इसमे कोई अन्य प्रकारको ही प्रभुता है ? जानने रूप प्रभुता भी दो प्रकार की हो सकती है—एक तो कुछ ही जानना, दूसरे समस्त पदार्थोका यथावत् परिज्ञान करना। यदि वह सामान्यसे कुछ पदार्थोको जानने रूप प्रभुता रखता है, तब वह इनसे 'ज्ञाता' तो बन सकता है जगत्कर्ता नही, और ईश्वर भी नही जैसे हम लोग कुछ न कुछ जानते है अत. ज्ञाता तो कहे जाते है पर हम लोग मात्र कुछ

---

१ "अस्तु वादृश्योऽसौ, तथापि सत्तामात्रेण, ज्ञानवत्त्वेन, ज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वेन, तत्पूर्वकव्यापारेण, ऐश्वर्येण वा क्षित्यादेः कारणं स्यात् ?" —न्यायकुमु० पृ० १०६। २ –च विकल्पे म० २। ३ "ऐश्वर्यमपि ज्ञातृत्वम्, कर्तृत्वम्, अन्यद्वा स्यात् ?" —न्यायकुमु० पृ० १०६। ४ –मात्रं तद्विशेषो वा म० २। ५ ज्ञातैवासौ म० २। ६. –ज्ञातृवत् आ०, क०।

तदा तस्य कः पुरुषकारः, अदृष्टापेक्षस्य[1] च कर्तृत्वे किं तत्कल्पनया, [2]जगतस्तदधीनतैवास्तु, [3]किमनेनान्तर्गडुनात्र ।

§ ३८. चतुर्थपञ्चमयोस्तु[4] वीतरागद्वेषताभावः प्रसज्यते । तथाहि—"रागवानीश्वरः [5]क्रीडाकारित्वाद्बालवत्, तथा अनुग्रहप्रदत्वाद्राजवत्, तथा द्वेषवानसौ निग्रहप्रदत्वात्तद्वदेव" इति ।

§ ३९. अथ स्वभावतः, तर्ह्यचेतनस्यापि जगत एव स्वभावतः प्रवृत्तिरस्तु किं [6]तत्कर्तृकल्पनयेति । न कार्यत्वहेतुर्बुद्धिमन्तं कर्तारमीश्वरं साधयति । एवं संनिवेशविशिष्टत्वादचेतनोपादानत्वादभूतभावित्वादित्यादयोऽपि [7]स्वयमुत्थाप्याः, तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् ।

§ ४०. किंच क्षित्यादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वे साध्ये प्रदीयमानाः सर्वेऽपि हि हेतवो विरुद्धा

जैन—यदि सब कुछ सुख-दुःख हमलोगोंको अपने कर्मोके अनुसार ही मिलता है तब ईश्वरने क्या पुरुषार्थ किया । ईश्वरसे बढकर तो कर्मोकी ही शक्ति सिद्ध होती है । जब ईश्वरको भी अन्तमें कर्मोके वश होकर ही नाचना पडता है तब बीचमें दलालके समान उसकी कल्पना करना ही निरर्थक है, हमी लोग सीधे ही कर्मोके फल भोग लेंगे । सच्चा पुरुषार्थी तो वह है जो कर्मोकी परवाह न करके जगत्को सुखी बनाता है, वही वस्तुतः ईश्वर है । इससे तो यही अच्छा है कि यह जगत् सीधा कर्मके परतन्त्र रहे एक निरर्थक ईश्वरकी पराधीनता क्यो जगत्के सिर लादी जाती है । ऐसा ईश्वर तो अन्तर्गडु—गलेमे बढे हुए मांसपिण्डकी तरह बिलकुल निरर्थक है बोझरूपी है ।

§ ३८. यदि यह जगत् ईश्वरका क्रीड़ाक्षेत्र है, और अपने मनोविनोदके लिए उसने ये खेल-खिलौने बनाये है, तब ईश्वर तो खिलाडी लडकोंकी ही तरह राग-द्वेषवाला हो जायगा । मनोविनोदके लिए लीला रचना तो रागवृत्तिका ही फल है । और जिस तरह बच्चे ऊबकर अपने बनाये हुए खिलौनोको तोड़ देते है उसी तरह ईश्वरको भी ऊबकर इस सृष्टिका महाप्रलय भी जब चाहे कर देना चाहिए । अतः हम निश्चित रूपसे कह सकते है कि—'ईश्वर रागी है क्योकि वह खेल खेलता है जैसे कि बालक ।' यदि शिष्टानुग्रह तथा दुष्टोको दण्ड करनेके लिए वह जगत् रचता है, तब भी वह वीतरागी तथा निर्वैर नही हो सकता । अपने भक्तोका उद्धार रागसे तथा दुष्टोको दण्ड देना द्वेषसे ही हो सकता है । बिना राग-द्वेष हुए निग्रह तथा अनुग्रह नही किये जा सकते । वीतरागी व्यक्ति इस निग्रह-अनुग्रहके प्रपंचमे पड़ ही नही सकता । अतः यह भी निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि—'ईश्वर राग और द्वेषवाला है क्योकि वह किसीका अनुग्रह तथा किसीका निग्रह करता है जैसे कि राजा ।'

§ ३९. यदि ईश्वर स्वभावसे ही इस लीलामय जगत्को उत्पन्न करता है, जैसे अग्नि जलती है, वायु चलती है इत्यादि, तो जब आखिरमें स्वभाव मानना ही पड़ता है तब अचेतन पदार्थोका ही यह स्वभाव मान लीजिए कि—'वे जैसे कारणोका संयोग मिलता है उसी रूपसे अपनी प्रवृत्ति स्वभावसे ही करते है' तात्पर्य यह है कि जैसे हाइड्रोजनमे जब आक्सिजन अमुक मात्रामे मिलता तब स्वभावसे ही वह जल बन जाता है । इस बीचके एजेण्ट ईश्वरकी क्या आवश्यकता है । इस प्रकार कार्यत्व हेतुसे किसी भी तरह ईश्वरकी सिद्धि नही होती ।

§ ४० इसी तरह 'पृथिवी आदि बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा रचे गये है क्योकि उनमे अचेतन परमाणु उपादान कारण होते हैं जैसे कि घटमे', 'उनमे घडेकी तरह एक बनावट पायी जाती है',

---

१ –पेक्ष्य च म० २ । २ जगत एव तदधीनतास्तु आ० । जगतस्तदधीन वास्तु प० १, प० २ । ३ 'किमनेनान्तर्गडुनात्र' इति नास्ति म० १. म० २, प० १, प० २, क० । ४ –न्तु रागद्वेषता भाव आ०. क० । ५ "क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ॥५६॥" —मीमांसाश्लो० पृ० ६५३ । तत्त्वसं० पृ० ७७ । ६ तत्कल्पनया म० २ । ७ –यमवस्थाप्याः. म० २ ।

दृष्टान्तानुग्रहेण सशरीरासर्वज्ञासर्वकर्तृपूर्वकत्वसाधनात्। न च धूमात्पावकानुमानेऽप्ययं दोष. तत्र तार्णपार्णादिविशेषाधारवह्निमात्रव्याप्तस्य धूमस्य दर्शनात्। नैवमत्र सर्वज्ञासर्वज्ञकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्यास्ति व्याप्तिः, सर्वज्ञस्य कर्तुरतोऽनुमानात्प्रागसिद्धेः।

§ ४१. व्यभिचारिणश्चामी बुद्धिमन्तमन्तरेणापि विद्युदादीनां प्रादुर्भावविभावनात्, स्वप्नाद्यवस्थायामबुद्धिमत्पूर्वस्यापि कार्यस्य दर्शनाच्चेति।

§ ४२. कालात्ययापदिष्टाश्चैते, प्रत्यक्षागमबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। [1]तद्बाधा च पूर्वमेव दर्शिता।

'वे पहले नही थे फिर उत्पन्न हो जाते है जैसे कि घडा', इत्यादि हेतुओका खण्डन कार्यत्व हेतुकी तरह ही कर लेना चाहिए। जैसे-जैसे शका समाधान कार्यत्वहेतुमे किये गये है वैसे ही इन हेतुओमें लगा लेने चाहिए। 'जिस प्रकार कार्यत्व हेतुमे भागासिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार, बाधा आदि अनेको दोष आते है ठीक उसी प्रक्रियासे इन हेतुओमे भी वे दोष आते है। सबसे मोटा दोष तो यह है कि जिस घडेको बार-बार उदाहरणके रूपमे पेश किया जाता है उस घडेकी कृपासे तो जगत्का कर्ता सशरीर असर्वज्ञ एव असर्वगत बुद्धिमान् सिद्ध होता है। इसलिए सर्वज्ञत्व आदि जो इष्ट है उनसे विपरीत असर्वज्ञत्व आदिको सिद्ध करनेके कारण ये सभी हेतु विरुद्ध है। धूमसे अग्निका अनुमान करनेमे यह दोष नही आ सकता, क्योकि—यहाँ पहाडमे रहनेवाली तिनके और पत्तोकी विशेष अग्निमे तथा रसोईघरमे पायी जानेवाली लकडी आदिकी विशेष अग्निमे रहनेवाले एक अग्नित्व सामान्यका अनुभव होता है और इसी अग्नित्व सामान्यकी बदौलत सामान्य रूपसे अग्निका अनुमान करना सहज है। परन्तु यहाँ पृथिवी आदिके सर्वज्ञकर्ता और घट आदिके असर्वज्ञकर्ता रूप दो—विशेष कर्ताओमे पाया जानेवाला कोई भी कर्तृत्वनामका सामान्यधर्म अनुभवमे नही आता जिससे पहले सामान्य कर्ताका अनुमान किया जा सके; क्योकि, कार्यत्व हेतुवालेके योगके पहले कही भी सर्वज्ञकर्ताके दर्शन नही होते जिससे उसमे रहनेवाले सामान्य-धर्मका परिज्ञान किया जा सके। वस्तुत किसी भी सर्वज्ञ या अशरीरीका कर्तृत्वके रूपमे दर्शन हुआ ही नही है। दर्शनकी बात जाने दीजिए, उसका अनुमान करना भी नितान्त असम्भव है।

§ ४१ ये सभी 'कार्यत्वात्, सन्निवेशविशिष्टत्वात्' आदि हेतु व्यभिचारी भी है। देखो 'बिजली चमकती है, मेघ गडगडाता है' यहाँ बिजली तथा मेघ आदि कार्य है अमुक सन्निवेश-बनावटवाले भी है, इनके उपादान कारण भी अचेतन ही परमाणु है, ये पहले नही थे पीछे चमकने लगे तथा गडगडाने लगे इस तरह इनमे सभी हेतु तो पाये जाते है परन्तु इन्हे किसी भी बुद्धिमानने बनाया नही है–ये तो अपने-आप परमाणुओका सयोग होनेसे बन गये है। अत बिजली आदिमे हेतुके रह जानेसे तथा साध्यके न रहनेके कारण उक्त हेतु व्यभिचारी है। स्वप्न तथा मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें बुद्धिके बिना भी अनेको कार्य देखे जाते है।

§ ४२ आपके ये समस्त हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है, क्योकि बिना जोते-बोये अपने ही आप ऊँगनेवाले जंगली घास आदिमे प्रत्यक्षसे कर्ताका अभाव निश्चित है। आपके आगममे भी 'न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु'—ईश्वरमे लोकका कर्तृत्व नही है वह कर्मकी रचना नही करता', 'यह तो स्वाभाविक है' इत्यादि रूपसे अकर्तृत्व रूपमे भी ईश्वरका प्रतिपादन किया गया है। अत प्रत्यक्ष और आगमसे बाधित पक्षमे इन हेतुओकी प्रवृत्ति होनेसे ये बाधित विषय होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट है। प्रत्यक्षादिसे पक्षमे बाधा आनेका प्रदर्शन पहले किया जा चुका है।

---

१. तद्बाधाच्च पूर्वमेव प्रदर्शिता म० २।

§ ४३ प्रकरणसमाश्चामी, प्रकरणचिन्ताप्रवर्तकानां हेत्वन्तराणां सद्भावात्। तथाहि—ईश्वरो जगत्कर्ता न भवति निरुपकरणत्वात्, दण्डचक्रचीवराद्युपकरणरहितकुलालवत्; तथा व्यापित्वादाकाशवत्, एकत्वात्तद्वदित्यादय इति।

§ ४४. नित्यत्वादीनि तु विशेषणानि तद्व्यवस्थापनायानीयमानानि शण्डं प्रति कामिन्यारूपसंपन्निरूपणप्रायाण्यपकर्णनीयान्येव। विचारासहत्वख्यापनार्थं तु किंचिदुच्यते। तत्रादौ नित्यत्वं विचार्यते तच्चेश्वरे न घटते। तथाहि—नेश्वरो नित्यः, स्वभावभेदेनैव क्षित्यादिकार्यकर्तृत्वात्, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यमिति हि नित्यत्वलक्षणाभ्युपगमात्। स्वभावभेदानभ्युपगमे च सृष्टिसंहारादिविरुद्धकार्यकारित्वमतिदुर्घटम्। नापि तज्ज्ञानादीनां नित्यत्वं वाच्यं प्रतीतिविरोधात्, ईश्वरज्ञानादयो न नित्या[१] ज्ञानादित्वादस्मदादिज्ञानादिवदित्यनुमानविरोधाच्च। एतेन तदीयज्ञानादयो नित्या इत्यादि यदवादि तदपोहितमूहनीयम्।

---

§ ४३ जगत्को अकर्तृक सिद्ध करनेवाले अनेक प्रत्यनुमान-विपरीत अनुमानोकी मौजूदगी होनेसे आपके ये सब हेतु प्रकरणसम है। ये विपरीत अनुमान विरुद्ध प्रकरणकी चिन्ता-उपस्थित करके पहलेके मूलहेतुकी सामर्थ्य रोक देते है। अकर्तृत्व साधक अनुमान ये हैं—ईश्वर जगत्का रचनेवाला नही हो सकता, क्योकि उसके पास जगत्को रचनेके उपकरण-हथियार आदि कारणसामग्री नही है, जैसे कि दण्ड चाक तथा चीवर आदि उपकरणोमे रहित कुम्हार घडेको नही वनाता। इसी तरह ईश्वर भी विना हथियार जगत्का रचनेवाला नही हो सकता। इसी तरह ईश्वर इस सृष्टिका विधाता नही है क्योकि वह व्यापी होनेसे क्रियाशून्य है जैसे कि आकाश। जो स्वयं विलकुल निष्क्रिय है—हिल-डुल भी नही सकता उससे इस जगत्की उत्पत्ति क्रिया नही मानी जा सकती। इसी प्रकार ईश्वर इस विचित्र जगत्का कर्त्ता नही हो सकता क्योंकि वह एक है एक स्वभाववाला है जैसे कि आकाश। इत्यादि अनेको अनुमान उपस्थित किये जा सकते है।

§ ४४ ईश्वरकी सिद्धिके लिए उसके नित्यत्व सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोका उपस्थित करना तो उसी तरह निरर्थक एव हास्यास्पद है जैसे किसी नपुसकको रिझानेके लिए किसी कमनीय कामिनीके रूप, लावण्य आदिकी प्रशसा करना। अत' जव ईश्वर मूलतः ही सिद्ध नही है तब उसके सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोकी कथाका सुनना समय खराव करना है। फिर भी उन विशेषणोकी निरर्थकता दिखानेके लिए कुछ विचार करते है। सबसे पहले ईश्वरकी नित्यताका ही विचार किया जाता है। ईश्वर नित्य नही है क्योकि वह पृथिवी, वन, नदी, पर्वत आदि विचित्र कार्योको विभिन्न स्वभावोसे वनाता है। यदि ईश्वरके स्वभावभेद न माना जाय तो ये विचित्र कार्य उत्पन्न ही नही हो सकेगे। एक स्वभाववाली वस्तुसे एक जैसे ही एक ठप्पेके कार्य ही उत्पन्न होते है। पर ईश्वर रचना करना, सहार करना आदि विरुद्ध कार्योको करता है अत' सृष्टि करते समय सहार स्वभावका अभाव तथा सहारके समय सृष्टि स्वभावका अभाव मानना ही होगा। जिसमे स्वभाव भेद होता है वह नित्य नही रह सकता। जो वस्तु सदा एक जैसी रहती हो, जिसमे कोई नूतन स्वभाव उत्पन्न होता हो और न जिसके किसी पूर्वस्वभावका नाश ही होता हो वह कूटस्थ—लुहारकी निहाईके समान सदा स्थायी वस्तु नित्य कही जाती है। पर जिसमे स्वभाव भेद होता है वह नित्य नही रह सकता। ईश्वरके ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न आदि गुण भी नित्य नही है, क्योकि विभुद्रव्यके विशेष गुण अनित्य ही हुआ करते है अत. ईश्वरके ज्ञानादिको नित्य कहना प्रतीतिविरुद्ध है। 'ईश्वरके ज्ञान आदि गुण नित्य नही है क्योकि वे ज्ञान आदि विशेष गुण है जैसे हम लोगोके ज्ञान आदि।' इस अनुमानसे

---

१ "वोधो न वेधसो नित्यो वोधत्वादन्यवोधवत्। इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधा कारण भुव ॥१२॥" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६०।

§ ४५. सर्वज्ञत्वमप्यस्य केन प्रमाणेन ग्राह्यम्। न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वेनातीन्द्रियार्थग्रहणासमर्थत्वात्। नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाभावात्। ननु जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तिरूप तदस्त्येवेति चेन् न, तेन सहाविनाभावाभावात्, जगद्वैचित्र्यस्य सार्वज्ञ्यं विनापि शुभाशुभकर्मपरिपाकादिवशेनोपपद्यमानत्वात्।

§ ४६. किञ्चायं यदि सर्वज्ञ, तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहानसुरा-

ईश्वरके गुणोंकी नित्यता खण्डित हो जाती है। अत ईश्वरके ज्ञान आदिकी नित्यताका जो वर्णन आपने किया है वह भी खण्डित हो जाता है।

§ ४५ ईश्वरकी सर्वज्ञता भी इसी तरह किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होकर स्थूल तथा वर्तमान पदार्थोंको जानता है इसलिए ईश्वरकी अतीन्द्रिय सर्वज्ञताको जानना उसकी सामर्थ्यके बाहर है। उसकी सर्वज्ञताका नियत सहचारी, उसके बिना न होनेवाला कोई निर्दोष लिङ्ग भी नहीं दिखाई देता जिसके द्वारा उसकी अतीन्द्रिय सर्वज्ञताका अनुमान लगाया जा सके।

ईश्वरवादी—हम आप को ईश्वरकी सर्वज्ञताको सिद्ध करनेवाला अकाट्य प्रमाण बताते हैं। देखो, यह विश्व कितना विचित्र है। एक मनुष्यके ही शरीरपर विचार करो तो मालूम हो जायगा कि उसका सिरजनहार कितना कुशल तथा बुद्धिमान् होगा। पेटमे भोजन जाता है उसका किस प्रक्रियासे रक्त आदि बनकर यह शरीररूपी मशीन पुष्ट हो कर अपना कार्य करती है। यह विचारते ही आश्चर्य होता है। आषाढका महीना आया, तो बादल घिर आये, बिजली चमकने लगी, वह रग-बिरगा इन्द्रधनुष मानो पृथिवीसे स्वर्ग तक एक पुल बनाया गया हो, वह हरी-भरी घास, वह नदियोकी बाढ, कहाँ तक कहे इस जगत्का एक-एक कण रहस्यपूर्ण है। वह अपने भीतर अपनी विचित्रताकी लम्बी कहानी छिपाये बैठा है। ऐसे विचित्र जगत्को क्या कोई सर्वज्ञ हुए बिना बना सकता है? देखो, नाखून उखड जाता है तो वहाँ उसी प्रकारकी कठोर खालका आना शुरू होता है और नाखून फिर बन जाता है। यदि इसका बनानेवाला न होता तो कैसे नाखूनकी जगह चुन-चुनकर कठोर परमाणु फिट किये जाते तथा मुँहके भीतर तलुएमे अत्यन्त कोमल। अत जगत्की रहस्यमय अनोखी रचना ही ईश्वरकी सर्वज्ञताका सबसे बडा प्रमाण है।

जैन—आपने जगत्की विचित्रताका जो चित्र खीचा है वह है तो बहुत सुन्दर, पर उसका ईश्वरकी सर्वज्ञताके साथ अविनाभाव रूपसे गठबन्धन करना निपट अज्ञानताका प्रदर्शन है। जब ईश्वरमे साधारण रूपसे कर्तृत्व सिद्ध हो जाय, तब ही जगत्की विचित्रताका ईश्वरकी सर्वज्ञता के साथ सम्बन्ध जोडा जा सकता है। पर दु ख तो इसी बातका है कि किसी भी हेतुसे ईश्वरका कर्तृत्व सिद्ध नही होता। जगत्की विचित्रता अनगिनती प्राणियोके असख्य प्रकारके पुण्य-पापोसे होती है। जिस प्राणीका जिस जातिके शुभ या अशुभ कर्मका उदय होता है उसी जातिकी सुख दु ख सामग्री उत्पन्न होती जाती है।

§ ४६ यदि ईश्वर सर्वज्ञ होता तो वह ससारमे अत्याचार करनेवाले राक्षसोको पहले क्यो बनाता? यह तो एक मामूली आदमी भी समझता है कि 'जिस चीजको पीछे नष्ट करना पडे उसे पहले ही उत्पन्न न करना ही बेहतर है' कीचडमे पैर लिपटाकर धोनेकी अपेक्षा कीचडसे बचकर चलनेमे ही बुद्धिमानी है। जिन राक्षसोको मारनेके लिए उसे स्वय अवतार लेना पडा उनको उस सर्वज्ञने आखिर पहले बनाया ही क्यो था? हम-जैसे लोगोको भी, जो उसकी सर्वज्ञता तथा

१ –परिपाक-वशे–म० २।

दीस्तदधिक्षेपकृतोऽस्मदादीश्च किमर्थं सृजतीति नायं सर्वज्ञः।

§४७. तथा बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावनाभयेन महेशितुरेकत्वकल्पना[1] भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रमित्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनतुलामाकलयति। अनेककीटिकासरघाशतसंपाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्धमधुच्छत्रादिकार्याणामेकरूपतयाविगानेनोपलम्भात्।

§ ४८. किंच ईश्वरस्याखिलजगत्कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने शास्त्राणां[2] प्रमाणेतरताव्यवस्थाविलोपः स्यात्। तथाहि—सर्वं शास्त्रं प्रमाणमीश्वरप्रणीतत्वादितरतत्प्रणीतशास्त्रवत्। प्रतिवाद्यादिव्यवस्थाविलोपश्च[3], सर्वेषामीश्वरादेशविधायित्वेन तत्प्रतिलोमाचरणानुपपत्तेः प्रतिवाद्यभावप्रसङ्गात्। इति न सृष्टिकरस्य महेश्वरस्य कथंचिदपि सिद्धिः।

सृष्टिकर्तृताकी धज्जियाँ उड़ा रहे है, उसने क्यो वनाया ? क्या यही उसकी सर्वज्ञता है ? यदि वह वस्तुतः सृष्टिका कर्ता है तब उसने हम जैसे तथोक्त नास्तिकोकी रचना करके तो अपने ही पैरोपर कुल्हाडी पटकी है। यहाँ तो स्पष्ट ही उसकी वुद्धिका दिवाला निकल गया है।

§ ४७ वहुत-से ईश्वरोको माननेपर कार्योके करनेमे विवाद हो सकता है तथा कार्योका सिलसिला विगड़ सकता है। इसी डरसे ईश्वरको एक मानना तो उस कंजूसके समान है—जो खाने-पीनेके खरचेके डरसे अपने प्यारे दुलारे वालवच्चो तथा स्त्री, मित्र आदिको छोड़कर शून्य जगलमे जा वसता है। देखो, सैकडो दीमकके कीडे मिलकर एक वाँवीको वनाते है और उसमे विना किसी विवादके हिल-मिलकर वसते है। हजारो मधुमक्खियाँ मिलकर शहदका एक छत्ता लगाती है और सव उसीमे व्यवस्थासे रह जाती है। फिर इन वीतरागी ईश्वरोमे ही विवादका क्या कारण है ? वे तो सवके सव सर्वज्ञ तथा वीतरागी होंगे उन्हे झगडनेकी तो कोई आवश्यकता ही नही है। वल्कि अनेक ईश्वर होनेसे सवकी सलाहसे वडी सुन्दर प्रजातन्त्रात्मक भावोकी रक्षा करनेवाली सृष्टि होगी।

§ ४८. ईश्वर जव ससार-भरके समस्त कार्योका कर्ता है, तव ससारमे जितने मत-मतान्तर है उनके शास्त्र भी ईश्वरने ही वनाये है, अत सभी शास्त्र परमपूज्य तथा प्रामाणिक माने जाने चाहिए। अतः हम लोगोके ईश्वर खण्डनवाले शास्त्र तो आपको अवश्य ही ईश्वरकृत मानकर प्रमाण मान लेना चाहिए और इस सृष्टिकर्तृत्वके वखेडेको खतम कर देना चाहिए। फिर उस समय 'ये शास्त्र प्रमाण है, ये अप्रमाण है' ये वाते आपको भूल जाना चाहिए। अन्यथा आपको ईश्वरद्रोहका वडा भारी पाप लगेगा। हम कह सकते है कि 'ससारके सभी शास्त्र और खासकर ईश्वरका खण्डन करनेवाले शास्त्र प्रमाण है क्योकि ये सव ईश्वरके द्वारा रचे गये है जैसे ईश्वर प्रणीत वेद आदि।' और जव सभी शास्त्र ईश्वर प्रणीत होनेसे प्रमाण हो जायेगे, तव 'यह वादी और यह प्रतिवादी, यह हमारा मत और यह तुम्हारा मत' इन सव व्यवहारोका लोप हो जायगा। हम जो ईश्वरका खण्डन कर रहे है वह भी ईश्वरकी आज्ञा या उसके इशारेसे ही कर रहे है, अत आपको उसे ईश्वर वाक्यकी तरह मान लेना चाहिए। हम लोग भी आखिर विश्वके भीतर ही है अत उसके इशारेके खिलाफ तो जा ही नही सकते। इस प्रकार महेश्वरको जगन्नियन्ता माननेमे अनेको दूषण तथा अव्यवस्थाएँ होती है अत. वह जगत्का कर्ता नही हो सकता। कोई भी प्रमाण ऐसा नही मिला जो महेश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध कर सकता हो। अत ससारके पदार्थोका यथावत् प्रकाश करनेवाला जिसका ज्ञान है वह सर्वज्ञ तथा वीतराग ही देवत्वके पदपर [illegible] रखता है उसे ही देव मानना उचित है अन्यको नही।

प्रयोगोऽत्र—नास्ति सर्वज्ञः, प्रमाणपञ्चकत्वाग्रा(गृ)ह्यमाणत्वात्, खरविषाणवत् ।

§ ५०. किंच, यथाऽनादेरपि, सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वम्, एवमात्मनोऽपि निरन्तरं ज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात्सर्वज्ञत्वं किं न भवेदिति मतिस्त-दपि न, अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेन्न परमः प्रकर्षः, न हि नरस्य लङ्घनमभ्यासतस्तार-तम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते । उक्तं च

"दशहस्तान्तर व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशत गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ १ ॥" इति ।[1]

§ ५१. अपि च स[2] सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन जानाति । किं प्रत्यक्षेण, उत यथासंभवं सर्वैरेव प्रमाणैः । न तावत्प्रत्यक्षेण, तस्य संनिहितप्रतिनियतार्थग्राहित्वात् । नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । नापि सर्वैरेव प्रमाणैः, तेषां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तेश्चेति ।

द्वारा किया जाता है।" अत यह सुनिश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ नही है क्योकि वह प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोका विषय नही होता जैसे कि गधेका सीग ।

§ ५०. प्रश्न—जिस तरह खदानमे पड़ा हुआ सुवर्ण अनादिकालसे अभीतक मलिन रहा है परन्तु सुहागा आदि शोधक द्रव्योके साथ जब वह घरियामे रखकर अग्निमे तपाया जाता है तब वह निखरकर सौटंचका निर्मल सोना हो जाता है उसी प्रकार अनादिकालसे कर्मबन्धमे जकड़ा हुआ यह आत्मा अज्ञानी बन रहा है, परन्तु सतत ज्ञानाभ्यास तथा योग जप-तप आदि उपायोसे धीरे-धीरे जब इसके कर्मकलक धुल जायेगे तब यह भी पूर्णज्ञानी तथा सर्वज्ञ क्यों नही बन सकता ?

उत्तर—आपका यह अभ्यासके द्वारा सर्वज्ञ बननेका क्रम अनुभवहीनताका सूचक है। अभ्याससे कुछ फर्क तो पड सकता है, जो आत्मा आज निपट अज्ञानी है वह कल चार अक्षरका ज्ञान कर ले । परन्तु अभ्यासमे इतनी ताकत नही है कि वह वस्तुके स्वभावका आमूल परिवर्तन कर सके। मूल वस्तुमे थोडा-बहुत अतिशय अभ्यासके भरोसे आ सकता है। अत अभ्यास या जप-तपके द्वारा शुद्धिमे कमोबेशी हो सकती है परन्तु सर्वज्ञताको पैदा करनेवाली शुद्धि नही हो सकती। कोई आदमी प्रतिदिन ऊँचा कूदनेका अभ्यास करता है, तो यह तो सम्भव है कि जहाँ साधारण आदमी ४-५ हाथ कूदते हैं वह ७-८ हाथ हदसे हद १० हाथ कूद जाय। पर कितना भी अभ्यास क्यो न किया जाय क्या कभी १०० योजन ऊँचा कूदनेकी या लोकको लाँघ जानेकी सामर्थ्य उसमे आ सकती है ? कहा भी है—"जो आदमी अभ्यास करनेसे आकाशमे दश हाथ ऊँचा उछल सकता है, क्या वह सैकडो वर्ष तक अभ्यास करनेपर भी १०० योजन ऊँचा उछल सकता है ?" तात्पर्य यह कि—अभ्यासकी भी एक मर्यादा होती है अत ज्ञानकी बढती भी अभ्याससे अपनी मर्यादाको नहीं लाँघ सकती। वह इतना नही बढ सकता कि सर्वज्ञ बन बैठे।

§ ५१. अच्छा, यह बताओ कि—तुम्हारा सर्वज्ञ ससारकी समस्त वस्तुओको प्रत्यक्ष से जानता है या यथासम्भव सभी प्रमाणोसे? प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्तमान वस्तुओ-को ही जानता है अत उससे अतीत, अनागत, दूरवर्ती तथा सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थोका परिज्ञान नही हो सकता। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो विवादग्रस्त है,उसमे कोई प्रमाण नही है। यथासम्भव सभी प्रमाणोसे थोडा-थोडा जानकर टोटलमे सर्वज्ञ बनना तो उचित नही है, क्योकि सभी प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष है और जब प्रत्यक्ष ही हिम्मत हार रहा है तब और प्रमाण तो अपने आप निराश हो जायगे। और इस तरह तो ससारके बहुत-से प्राणी कुछ चीजोको प्रत्यक्षसे जानकर कुछको

---

१. उद्धृतोऽयम्—तत्त्वसं० पृ० ८२६ । आप्तप० पृ० २१९ । सिद्धिवि०टी० । बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १२५ । २. स हि सर्वं म० २ ।

तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, अन्यथास्थितस्यार्थस्यान्यथाग्रहणात्, द्विचन्द्रज्ञानादिवदिति ॥

§ ५५. अत्र प्रतिविधीयते । तत्र यत्तावदुक्तम्—'तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्' इति साधनम् । तदसम्यक्; तत्साधकानामनुमानप्रमाणानां सद्भावात् । तथाहि—ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमशब्दवाच्यत्वात् । परिमाणवदिति । नायमसिद्धो हेतुः, प्रतिप्राणिप्रज्ञामेधादिगुणपाटवरूपस्य ज्ञानस्य तारतम्येनोपलब्धेः । ततोऽवश्यमस्य सर्वान्तिमप्रकर्षेण भाव्यं, यथा परिमाणस्याकाशे । स च ज्ञानस्य सर्ववस्तुप्रकाशकत्वरूपो यत्र विश्रान्तः स भगवान् सर्वज्ञः ।

§ ५६. ननु संताप्यमानपाथस औष्ण्यतारतम्ये सत्यपि सर्वान्तिमवह्निरूपतापत्तिरूपप्रकर्षादर्शनाद्व्यभिचार्ययं हेतुरिति चेत्; न; यतो [1]यो द्रव्यस्य सहजो धर्मो न तु सहकारिसव्यपेक्षः, सहजोऽपि च यः स्वाश्रये विशेषमारभते, सोऽभ्यासक्रमेण प्रकर्षपर्यन्तमासादयति, यथा कलधौतस्य पुटपाकप्रबन्धाहिता विशुद्धिः । न च [3]पाथसस्तापः सहजो धर्मः, किं त्वग्न्यादिसहकारिसव्यपेक्षः ।

नहीं हुआ और इसीलिए उसका ज्ञान प्रत्यक्षकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। प्रत्यक्ष तो वर्तमानकी तरह साक्षात् स्पष्ट रूपसे जाननेवाला होता है। अतीतको अतीतरूपसे जाननेवाला ज्ञान तो स्मरण आदिकी तरह अस्पष्ट तथा अप्रत्यक्षात्मक होगा। यदि सर्वज्ञ अतीत आदि पदार्थोंको वर्तमान रूपसे जानता है, तब उसका ज्ञान अर्थोंको विपरीत रूपमें अर्थात् जो वर्तमान नहीं है उन्हें वर्तमानरूपमें, जाननेके कारण मिथ्या हो जायेगा। जैसे एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखनेवाला ज्ञान अन्यथाग्राही होनेसे भ्रान्त है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी अतीत आदिको जो कि वर्तमानरूप नहीं है, वर्तमानरूपमें जाननेके कारण झूठ ही ठहरेगा। इति।

§ ५५. जैन (उत्तर पक्ष)—जब सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले अनेक अनुमान मौजूद हैं तब ग्राहक प्रमाणोंका अभाव कहना किसी भी तरह उचित नहीं है। देखो, ज्ञानका तरतमभाव—क्रमिक विकास कहीं न कहीं अपनी आखिरी हदको प्राप्त हो जाता है क्योंकि वह क्रमिक विकास है। जैसे परिमाण-नाप परमाणुसे क्रमिक विकास करते-करते आकाशमें अपनी पूर्णदशा अर्थात् महापरिमाण अवस्थामें पहुँच जाता है उसी प्रकार ज्ञानका क्रमिक विकास होते-होते कहीं-न-कहीं

तत्कार्यं तत्र तापोऽत्यन्तमात्र परां काष्ठां गच्छेत्। अत्यन्ततापे प्रत्युत पाथस: परिक्षयात्। ज्ञानं तु जीवस्य सहजो धर्म: स्वाश्रये च विशेषमाधत्ते। तेन तस्य निरन्तराभ्यासादुत्तरोत्तराधिकोत्तरोत्तर-विशेषाधानात् प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तिर्युक्ता। एतेन 'लङ्घनाभ्यास' इत्यादि निरस्तं, लङ्घनस्यासहज-धर्मत्वात्, स्वाश्रये च विशेषानाधानात्, प्रत्युत तेन सामर्थ्यपरिक्षयादिति।

§ ५७ तथा जलधिजलपलप्रमाणादय: कस्यचित्प्रत्यक्षा:, प्रमेयत्वात्[2], घटादिगतरूपादि-विशेषवत्। न च प्रमेयत्वमसिद्धं, अभावप्रमाणस्य व्यभिचारप्रसक्तेः। तथाहि—प्रमाणपञ्चकाति-क्रान्तस्य हि वस्तुनोऽभावप्रमाणविषयता भवताभ्युपगम्यते। यदि च जलधिजलपलप्रमाणादिषु

समाधान—यह ठीक है कि स्वाभाविक धर्मोंका ही अभ्याससे चरम पूर्ण विकास होता है। जो धर्म अन्य सहकारियोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेके कारण आगन्तुक हैं उनमें पूर्ण प्रकर्षका कोई खास नियम नहीं है। जलमें जो गर्मी आती है वह उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है किन्तु अग्निके सम्बन्धसे होनेवाला पर आगन्तुक। ठण्डा बना रहना उसका धर्म है। अत: वह बढ़ते-बढ़ते अपनी चरम सीमा—अग्नि रूप तक कैसे पहुँच सकता है? बल्कि पानीको अधिक तपानेसे उसका समूल नाश हो जायेगा वह समाप्त सा हो जायेगा। सुवर्णको तपानेसे उसमें शुद्धि आती है यह शुद्धि उसका स्वाभाविक धर्म है अत: उसकी चरम सीमा सोलहवानी सोनेमें प्रकट हो जाती है। इसी तरह ज्ञान जीवका निजी धर्म है अत: वह अपने आश्रय—आत्मामें विशेषता उत्पन्न करता है। वह सतत अभ्यास करनेसे तथा ध्यान आदि उपायोंसे क्रमिक विकास को पाता हुआ अन्तमें समस्त जगतको साक्षात्कार करनेवाला हो जाता है। यही ज्ञानके विकासकी चरम सीमा है। इस विवेकसे आपकी 'ऊँचा कूदनेका अभ्यास करनेपर भी कोई सौ योजन नहीं कूद सकता' इस शंकाका भी समाधान हो जाता है। ऊँचा कूदना, लाँघना आत्माका या शरीरका स्वाभाविक धर्म नहीं है। ऊँचा कूदनेसे आत्मामें कोई विशेषता नहीं आती, बल्कि यदि शक्तिसे बाहर कूदनेकी कोशिश की जाती है तो दम ही टूट जाता है और हाथ पैर टूटनेका भी पग-पग अन्देशा है रहता। ऊँचा कूदनेमें तो शरीरका हल्कापन तथा फुर्ती विशेष रूपसे अपेक्षित है, अत: शरीरके हिसाबसे जो जितना कूद सकता है उसका उस हद तक कूद लेना ही उसका चरम विकास है। अधिक लाँघनेसे शरीरका विकास न होकर उसका ह्रास शुरू हो जाता है। अतः ज्ञानका चरम विकास मानना युक्तियुक्त है।

§ ५७ तथा, 'समुद्रके जलकी बारीकी तौल किसीको प्रत्यक्षसे प्रतिभासित होती है, क्योंकि वह प्रमेय है जैसे कि घट आदिमें रहनेवाले उसके रूप रूप आदि।' इस अनुमानसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। समुद्रमें कितने मन पानी है यह तौल प्रमेय-प्रमाणका विषय तो अवश्य है। आखिर उसके जल की एक एक रत्ती तक की बारीक तौल है तो अवश्य, अत 'जो चीज सत् होती है वह किसी न किसी प्रमाणका विषय भी होती ही है' इस नियमके अनुसार समुद्र की तौल मे प्रमेयत्व हेतु असिद्ध नही है। मान लो कि, समुद्रके जलकी तौलको हम लोग प्रत्यक्ष अनुमान आदि पाँच प्रमाणोमे नही जान सकते तो कमसे कम अभाव प्रमाणके द्वारा उसका अभाव तो जान सकते है। तब भी समुद्रके जलकी तौल अभाव प्रमाणका विषय होनेसे प्रमेय सिद्ध हो जाती है। यह तो आप स्वय ही मानते है कि 'जो वस्तु सद्भावग्राही प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणोका विषय नही होती वह अभाव प्रमाणका विषय होती है'। अत यदि समुद्रके जल की तौल अन्ततोगत्वा अभाव

१ स्वाश्रये विशेषानाधानाच्च प्र-स० २। २. "सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा. कस्यचिद्यथा। अनुमेय-त्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ॥५॥" —आप्तमी० ५। "ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा। प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक् प्रत्यक्षार्था सुनिश्चिता ॥ ८८ ॥" —आप्तप० श्लो० ८८। ३ –जलप्रलयप्र –स० २।

प्रमाणपञ्चकातिक्रान्तरूपमप्रमेयत्वं स्यात्, तदा तेऽन्त्यभावप्रमाणविषयता स्यात् । न चात्र [1]तत्त्वेऽपि सा संभाविनीति । यस्य च प्रत्यक्षाः, स भगवान् सर्वज्ञ इति ।

§ ५८. तथास्ति [2]कश्चिदतीन्द्रियार्थसार्थसाक्षात्कारी, अनुपदेशालिङ्गाविसंवादिविशिष्ट-दिग्देशकालप्रमाणाद्यात्मकचन्द्रादिग्रहणाद्युपदेशदायित्वात् । यो यद्विषयेऽनुपदेशालिङ्गाविसंवाद्यु-पदेशदायी तत्साक्षात्कारी यथास्मदादिः, अनुपदेशालिङ्गाविसंवाद्युपदेशदायी च कश्चित् तस्मा-त्तत्साक्षात्कारी, तथाविधं च श्रीसर्वज्ञ एवेति ।

§ ५९. यच्चोक्तं 'प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेः सर्वज्ञस्याभावप्रमाणगोचरत्वम्; तदपि वाङ्मात्रम्; प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरसंभवात् । सा हि [3]बाधसद्भावत्वेन स्यात्, न च सर्वज्ञे बाधकसंभवः ।

प्रमाणका ही विषय हुई तब भी वह प्रमेय तो हुई ही । यदि समुद्रके जलकी तौलमे प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोको अप्रवृत्ति रहने पर भी अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति न हो तो अभाव प्रमाण व्यभि-चारी हो जायेगा, उसका यह नियम टूट जायेगा कि 'जहाँ प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण प्रवृत्त नही होगे वहाँ मै प्रवृत्ति करूँगा' । इस तरह जब समुद्रके जलकी तौल प्रमेय है तब उसका किसी न किसी महापुरुषको साक्षात्कार अवश्य होगा । और जिसको उसका साक्षात्कार है वही सर्वज्ञ है ।

§ ५८ तथा, 'कोई आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थोका साक्षात्कार करनेवाला है, क्योकि वह शास्त्र तथा अनुमापक हेतुओकी सहायताके विना ही चन्द्रग्रहण आदि ज्योतिर्विद्याका यथार्थ उपदेश देता है । इस दिन इतने बजकर इतने मिनट होनेपर खग्रास या अपूर्णग्रास आदि रूपसे भावि चन्द्रग्रहणका उपदेश अतीन्द्रियज्ञानके विना नही हो सकता । जो जिस विषयका शास्त्र या लिगकी सहायताके विना अविसवादी उपदेश देता है वह उस पदार्थका साक्षात्कार करनेवाला होता है, जैसे किसी घट आदिको प्रत्यक्ष देखकर उसका यथावत् वर्णन करनेवाले हम लोग । विना किसी शास्त्रकी सहायताके तथा अनुमान करनेवाले हेतुओकी मददके विना भावी चन्द्र-ग्रहण आदिका दिन घण्टा मिनट खग्रास आदि नियत रूपसे उपदेश देनेवाला कोई आत्मा इस जगत्मे है, अत वह उन भावि अतीन्द्रिय पदार्थोका साक्षात्कार अवश्य करता है । सर्वप्रथम ज्योतिष विद्याका साक्षात् उपदेश देनेवाले जिनेन्द्रदेव है अत वे अतीन्द्रिय पदार्थोके देखनेवाले सर्वज्ञ है ।' इस अनुमानसे भी सर्वज्ञ सिद्ध होता है ।

§ ५९ आपने जो पहले कहा था कि—'चूँकि सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण नही है अत. अभावप्रमाणके द्वारा उसका अभाव ही सिद्ध होता है' वह युक्तिशून्य है केवल प्रलाप मात्र है, क्योकि जब अनुमान प्रमाण सर्वज्ञकी सत्ता ठोक-बजाकर सिद्ध कर रहा है तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोकी अप्रवृत्ति कैसे कही जा सकती है ? प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोकी अप्रवृत्ति तो उस पदार्थमे होती है जिसमे इन प्रमाणो-द्वारा बाधा आती हो । सर्वज्ञमे तो कोई भी प्रमाण बाधा देनेवाला नही मिलता । उसकी सत्ता निर्बाध है । आप ही बताइए कौन ऐसा प्रमाण है जो सर्वज्ञका बाधक होता हो—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, या अर्थापत्ति ? 'सर्वज्ञका प्रत्यक्ष

1 तेऽप्यपि भ० २ । 2 "सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः । परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षावित-थत्वत ॥९॥" —तत्त्व० श्लो० पृ० ११ । "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुपदेशलिङ्गान्वय-व्यतिरेकपूर्वकाविसंवादिनष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागाद्युपदेशकरणान्यथानुपपत्तेः ।" —बृहत्स-र्वज्ञसि० पृ० १३० । "यो यद्विषयानुपदेशालिङ्गान्वयव्यतिरेकाविसंवादिवचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी यथा अस्मदादिर्यथोक्तजलशैत्यादिविषयवचनरचनानुक्रमकारी तद्द्रष्टा नष्टमुष्ट्यादिविषयानुपदेशालिङ्गान्वय-व्यतिरेकाविसंवादिवचनरचनानुक्रमकर्ता च कश्चिद्विमत्यधिकरणभावापन्नः पुरुष इति ।"—लघुसर्वज्ञसि० पृ० १०८ । सन्मति० टी० पृ० ६५ । न्यायवि० वि० द्वि० पृ० २९७ । 3 बाधकत्वेन म० १, म० २. प० १. प० २. क० । आप्तमी० वृ० पृ० ४ ।

वा ? यद्यसत्त्वम्; किं तत्र साधनमनुपलम्भः, विरुद्धविधिः, वक्तृत्वादिकं वा। यद्यनुपलम्भः किं सर्वज्ञस्य, उत तत्कारणस्य; तत्कार्यस्य, तद्व्यापकस्य वा। यदि सर्वज्ञस्य; सोऽपि किं स्वसंबन्धी सर्वसंबन्धी वा। स्वसंबन्धी [1]चेन्निर्विशेषणः, उत उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणो वा। आद्ये परचित्तविशेषादिभिरनैकान्तिकः 'अनुपलम्भात्' इति हेतुः, तेषामनुपलम्भेऽप्यसत्त्वानभ्युपगमात्[2]। नाप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणः; सर्वत्र सर्वदा च सर्वज्ञाभावसाधनस्याभावप्रसङ्गात्। न हि सर्वथाप्यसत उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटते, क्वचित्कदाचित्सत्त्वोपलम्भाविनाभावित्वात्तस्य। एतेन सर्वसंबन्धिपक्षोऽपि प्रत्याख्यातः। किं च असिद्धः सर्वसंबन्ध्यनुपलम्भः; असर्वविदा प्रतिपत्तुमशक्य-

---

असत्ता सिद्ध करेंगे या उसमें असर्वज्ञता साधेंगे ? यदि आप सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, तब आप अनुपलम्भको हेतु बनायेंगे या विरुद्ध विधिको अथवा वक्तृत्व आदिको ? यदि सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करनेमें अनुपलम्भ हेतुका प्रयोग किया जाता है तब यह जानना जरूरी है कि यह अनुपलम्भ सर्वज्ञका है या उसके कारणोंका है अथवा उसके कार्यका है, किंवा उसके व्यापक धर्मका है ? यदि सर्वज्ञकी असत्ता सिद्ध करनेमें सर्वज्ञका ही अनुपलम्भ हेतुरूपमें उपस्थित किया जाता है, तब यह बताइए कि किसको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है खुद आपको, या संसारके सब प्राणियोंको ? यदि आप अपनेको होनेवाले सर्वज्ञके अनुपलम्भसे सर्वज्ञका अभाव मानते हैं, तब यह जानना जरूरी है कि—यह अनुपलम्भ साधारण अनुपलम्भ है अथवा दृश्य—दिखनेलायक पदार्थका है। साधारण अर्थात् किसी दृश्य आदि विशेषण रहित—अनुपलम्भसे सर्वज्ञका अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'इस समय देवदत्तके मन में क्या बात है' इसको यज्ञदत्तका कोई भी प्रमाण नहीं जानता परन्तु इस अनुपलम्भसे देवदत्तकी चित्तवृत्तिका अभाव तो नहीं हो सकता। दृश्य पदार्थकी अनुपलब्धि किसी स्थान देशमें या किसी

त्वात्[1] । न खलु सर्वात्मनां तज्ज्ञानानां चाप्रतिपत्तौ तत्संबन्धी सर्वज्ञानुपलम्भः प्रतिपत्तुं शक्यः।[2] नापि कारणानुपलम्भः, तत्कारणस्य[3] ज्ञानावरणादिकर्मप्रक्षयस्यानुमानेनोपलम्भात् । [4]एतत्साधकं चानुमानं, युक्तयश्चाग्रे वक्ष्यन्ते ।

§ ६१. कार्यानुपलम्भोऽप्यसिद्धः, तत्कार्यस्याविसंवाद्यागमस्योपलब्धेः ।

§ ६२. व्यापकानुपलम्भोऽप्यसिद्धः, तद्व्यापकस्य सर्वार्थसाक्षात्कारित्वस्यानुमानेन प्रतीतेः। तथाहि—[5]अस्ति कश्चित्सर्वार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् । यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धकं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनं रूपसाक्षात्कारीति नानुपलम्भादिति साधनं सर्वज्ञाभावं साधयति ।

§ ६३. विरुद्धविधिरपि साक्षात्परंपरया वा सर्वज्ञाभावं [6]साधयेत् । प्रथमपक्षे [7]सर्वज्ञत्वेन साक्षाद्विरुद्धस्यासर्[8]वज्ञत्वस्य क्वचित्कदाचिद्विधानात्सर्वत्र [9]सर्वदा वा । [10]तत्राद्यपक्षे न सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावः सिध्येत्, यत्रैव हि तद्विधानं तत्रैव तदभावो नान्यत्र । न हि क्वचित्कदाचिदग्नेर्विधाने

इन कर्मोका समूल नाश तो हो ही सकता है । जब हम इन कर्मोके नाशका चढाव-उतार देखते है तथा ये कर्म जब आये है, आगन्तुक है, स्वाभाविक नही है, तब इनका प्रतिपक्षीके मिलनेपर अत्यन्त नाश तो उसी तरह हो जायेगा जैसे कि गरमीके आनेसे ठण्डकका । 'कर्म अत्यन्त नष्ट होते है' इसकी सिद्धि आगे की जायेगी ।

§ ६१ सर्वज्ञके कार्यकी अनुपलब्धिसे उसका अभाव करना भी केवल मनसूबे बाँधना ही है, क्योकि सर्वज्ञका सबसे बडा तथा ठोस कार्य है उसके द्वारा रचा गया अविसवादी आगम ।

§ ६२. सर्वज्ञके व्यापक धर्मकी अनुपलब्धि भी नही कही जा सकती; क्योकि सर्वज्ञका व्यापक धर्म है समस्त पदार्थोका यथार्थ साक्षात्कार करना । सो यह निम्नलिखित अनुमानके द्वारा प्रसिद्ध है ही ।—कोई व्यक्ति सकल पदार्थोका यथावत् साक्षात्कार करता है, क्योकि उसका सकल पदार्थोके जाननेका स्वभाव है तथा उसके ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्म नष्ट हो गये है, जिसका जिस पदार्थको जाननेका स्वभाव है तथा यदि वह तद्विषयक प्रतिबन्धकोसे शून्य है तो वह अवश्य ही उस पदार्थको जानता है । जैसे आँखका रूपको देखनेका स्वभाव है और यदि उसमे कोई तिमिर आदि रोग न हो तथा अन्धकार आदि रुकावटे न हो तो वह अवश्य ही रूपको देखती है । इस अनुमानसे सर्वज्ञके सर्वसाक्षात्कारित्व रूप व्यापक धर्मकी सिद्धि होती है अत व्यापक धर्मकी अनुपलब्धिसे सर्वज्ञका अभाव नही किया जा सकता ।

§ ६३. विरुद्ध विधि अर्थात् सर्वज्ञसे विरुद्ध असर्वज्ञकी विधि भी सर्वज्ञका अभाव नही कर सकती, क्योकि उस समय सर्वज्ञको साक्षात् विरोधी असर्वज्ञका विधान करके सर्वज्ञका अभाव किया जायेगा, अथवा सर्वज्ञको परम्परासे विरोध करनेवाले अन्य किसी पदार्थका विधान करके? यदि सर्वज्ञका सीधा विरोध करनेवाले असर्वज्ञका विधान करके उसकी सत्ताका लोप किया जाता है, तब यह प्रश्न होगा कि—ऐसे असर्वज्ञका किसी खास देश या विशेष समयमे विधान किया जायेगा या तीनो काल और तीनो लोकोमे ? यदि असर्वज्ञका किसी देश विशेष या किसी खास

1 "सर्वसवन्धिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥" त० श्लो० पृ० १८ ।
2 नापि तत्कारणा म० २ । 3 –णज्ञाना–म० २ । 4 अतस्तत्सा–म० २ । 5 "तथाहि—कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावकत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् ।" —न्यायकुमु० ९१ । प्रमेयक० २५५ । स्या० रत्ना० पृ० २७० । प्रमेयरत्नमा० २।१२ । 6 साधयति म० १, प० १, प० २, आ०, क० । "नापि विरुद्धविधि यत साक्षात्, परम्परया वा विरुद्धस्य विधि सर्वज्ञाभाव प्रसाधयेत् ।" —न्यायकुमु० पृ० ९२ । 7 सर्वज्ञेन म० २ । 8. –स्यासर्वज्ञस्य–म० २ । 9. सदा वा म० २ । 10 तत्रादिपक्षे म० २ ।

सर्वत्र सर्वदा वा तद्व्यापकविरुद्धशीताभावो दृष्टः । द्वितीयोऽप्ययुक्तः, अर्वाग्दृशः सर्वत्र सर्वदा वा सर्वज्ञत्वविरुद्धासर्वज्ञत्वविधेरसंभवात्, तत्संभवे च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः सिद्धं नः समीहितम् ।

§ ६४. परम्परयापि किं तद्व्यापकविरुद्धस्य, तत्कारणविरुद्धस्य तत्कार्यविरुद्धस्य वा विधिः सर्वज्ञाभावमाविर्भावयेत्[१] । न तावद्व्यापकविरुद्धविधिः,[२] स हि सर्वज्ञस्य व्यापकमखिलार्थसाक्षात्कारित्वं तेन विरुद्धं तदसाक्षात्कारित्वं नियतार्थग्राहित्वं वा तस्य च विधिः क्वचित्कदाचित्तदभावं साधयेन्न पुनः सर्वत्र सर्वदा[३] वा, तुषारस्पर्शव्यापकशीतविरुद्धाग्निविधानात् क्वचित्कदाचित्तुषारस्पर्शनिषेधवत् । कारणविरुद्धविधिरपि क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञाभावं साधयेत्[४], न सर्वत्र । सर्वज्ञत्वस्य हि कारणमशेषकर्मक्षयः, तद्विरुद्धस्य [५]कर्माक्षयस्य च विधिः क्वचित्कदाचिदेव सर्वज्ञा-

---

समयके लिए विधान किया जाता है, तब उससे सर्वज्ञका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता । जहाँ जिस समय असर्वज्ञकी विधि रहेगी वहाँ उस समय ही सर्वज्ञका अभाव किया जा सकता है, दूसरे देश तथा दूसरे समयमें नहीं । अपने मकानकी एक कोठरीमें आग सुलगानेसे सारे संसारमें या वहीं हमेशाके लिए तो शीतका अभाव नहीं हो सकता । जहाँ और जब आग सुलगाओगे वहीं और तभी ठण्डक नष्ट होगी । असर्वज्ञके लिए तीनों लोक तथा तीनों कालका पट्टा लिख देना हम जैसे असर्वज्ञोंका कार्य नहीं है, क्योंकि असर्वज्ञकी त्रैकालिक तथा सार्वत्रिक जिम्मेवारी तो वही व्यक्ति ले सकता है जिसे तीनों काल तथा लोकोंका यथावत् परिज्ञान हो । और यदि ऐसा कोई त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ मिलता है, तो बड़ी खुशीकी बात है । हमारा भी तो मतलब त्रिकालत्रिलोकको जाननेवाले सर्वज्ञसे ही है । हमारे लिए तो वही सर्वज्ञ है ।

§ ६४ सर्वज्ञका परम्परासे विरोध करनेवाले पदार्थोंका विधान करके सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना भी मनके लड्डू खाने जैसा ही है । आप यह बताइए कि—आप सर्वज्ञके व्यापक धर्मका विरोध करके सर्वज्ञका लोप करोगे या सर्वज्ञके कारणका विरोध करके अथवा सर्वज्ञके कार्योंका विरोध करके ? पहला विकल्प मानकर तो सर्वज्ञका अत्यन्त अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सर्वज्ञका व्यापक धर्म है सकल पदार्थोंका साक्षात्कार करना, उसके सीधे विरोधी हो तो 'सकल पदार्थोंको नहीं जानना' या [illegible] पदार्थोंका जानना' ये दो ही हो सकते हैं । [illegible] इन दोनोंका

§ ६७. किंच असर्वज्ञत्वे[1] साध्ये सर्वज्ञस्य प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वम् तद्विपरीतम्, वक्तृत्वमात्रं वा हेतुत्वेन विवक्षितम् । प्रथमोऽसिद्धो हेतुः, सर्वज्ञस्य तथाभूतार्थवक्तृत्वासंभवात् । [2]द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थवक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वे[3] सत्येव संभवात् । [4]तृतीयपक्षेऽप्यनैकान्तिकः, वक्तृत्वमात्रस्य सर्वज्ञत्वेन विरोधासंभवात् ।

§ ६८. एतेन सुगतादिधर्मिपक्षोऽपि प्रत्याख्यायि, प्रोक्तदोषानुषङ्गाविशेषात् । किंच, प्रतिनियतसुगतादेः सर्वज्ञतानिषेधेऽन्येषा तद्विधिरवश्यंभावी, विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात्, 'अयमब्राह्मणः' इत्यादिवदिति ।

§ ६९. अतः सर्वपुरुषानुररीकृत्य तेषामसर्वज्ञता वक्तृत्वादेः साध्यते; तन्न; विपक्षात्तस्य

§ ६७. अच्छा यह बताओ कि—प्रमाणविरोधी असत्य कथन करनेके कारण आप उसे असर्वज्ञ कहते है, अथवा सत्य कथन करनेके कारण, या 'बोलता है' इसीलिए असर्वज्ञ है' इस तरह बोलने मात्रसे ही ? पहली कल्पना तो आपकी निरी कल्पना ही है, क्योकि जो सर्वज्ञ है वह प्रमाणविरोधी असत्य कथन कर ही नही सकता । जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका उसे परिज्ञान है तथा वह वीतरागी है तब वह मिथ्या क्यों बोलेगा ? पदार्थका ठीक ज्ञान न होनेसे अथवा राग-द्वेष आदि कषायोके कारण ही मनुष्य मिथ्याप्रलाप करते है, ज्ञानी और वीतरागी महात्माओमे तो मिथ्या बोलनेका कोई कारण ही नही है ? दूसरा विकल्प तो विरुद्ध है । जब वह प्रामाणिक अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे बाधित न होनेवाला सत्य कथन कर रहा है तब असर्वज्ञ कैसे होगा ? प्रामाणिक वक्तृत्व तो असर्वज्ञताका विरोधी है, वह तो सर्वज्ञताको ही सिद्ध करता है । अत आप सिद्ध करने तो चले थे असर्वज्ञ और सिद्ध हो गया सर्वज्ञ । अत' यथार्थ वक्तृत्व तो असर्वज्ञताका विरोधी होनेसे विरुद्ध है। बोलना तो जैसे असर्वज्ञमे पाया जाता है उसी तरह सर्वज्ञमे भी रहता है । अत' बोलने मात्रसे सर्वज्ञता या असर्वज्ञता सिद्ध नही की जा सकती । बोलनेका सर्वज्ञतासे कोई विरोध तथा असर्वज्ञतासे कोई मित्रता नही है । वह तो एक साधारण चीज है । अतः बोलना मात्र व्यभिचारी होनेसे असर्वज्ञता नही साध सकता ।

§ ६८ इसी तरह बुद्ध आदि किसी खास व्यक्तिको धर्मी मानकर उसकी सर्वज्ञताका निषेध करनेमे भी ऊपर कहे गये सभी दूषण आते है । फिर, आप किसी खास सुगत या कपिलमे सर्वज्ञताका निषेध कर भी दोगे तो भी इससे सर्वज्ञताका समूल लोप तो नही हो सकता । जब आप यह कहोगे कि—'बुद्ध या कपिल सर्वज्ञ नही है' तो इसका अर्थ ही यह होता है कि 'इनके सिवाय कोई दूसरा व्यक्ति सर्वज्ञ है ।' किसी विशेष व्यक्तिमे किसी विशेष धर्मका निषेध करनेसे शेष व्यक्तियोमें उस धर्मका सद्भाव अपने ही आप सिद्ध हो जाता है । जैसे ब्राह्मणोके मुहल्लेमे चार पाँच लडके एक साथ खेल रहे थे । उनमे-से किसी खास लडकेकी ओर इशारा करके 'यह ब्राह्मण नही है' यह कहनेका मतलब ही यह निकलता है कि बाकीके लड़के ब्राह्मण है । उसी तरह महावीर, कपिल, सुगत, शिव आदिमे-से किसी कपिल आदिमे ही सर्वज्ञताका निषेध कर उसमे असर्वज्ञता सिद्ध करनेका तात्पर्य ही यह है कि बाकीके महावीर आदि सर्वज्ञ है । अत इस ढगसे भी सर्वज्ञताका अत्यन्त निषेध नही किया जा सकता ।

§ ६९ 'संसारके सभी पुरुष असर्वज्ञ है, क्योकि वे वक्ता है—बोलते है' इस तरह सभी पुरुषो को धर्मी मानकर भी असर्वज्ञता सिद्ध करना महज जबानकी खुजली मिटाना ही है, क्योकि जब बोलनेका सर्वज्ञताके साथ कोई भी विरोध तथा असर्वज्ञतासे कोई रिश्तेदारी नही है तब क्यो

१. "किं च, सर्वविद प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम्, तद्विपरीतम् वक्तृत्वमात्रं वा ।"—न्यायकुमु० पृ० ९३ । प्रमेयक० पृ० २६३ । सन्मति० टी० पृ० ४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३८४ । प्रमेयरत्न० पृ० ५७ । २ द्वितीयपक्षो विरु—म० २ । ३ सत्परिज्ञाने सत्येव म० २ । ४ —पक्षोऽप्यनै— म० २ ।

व्यतिरेकासिद्धत्वात् सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् सर्वज्ञोऽपि भविष्यति वक्तापीति। तन्नानुमानं सर्वज्ञबाधकम्।

§ ७० नाप्यागमः, स हि पौरुषेयोऽपौरुषेयो वा। न तावदपौरुषेयः, तस्याप्रामाण्यात्, वचनानां गुणवद्वक्त्र(क)धीनतया प्रामाण्योपपत्तेः। किं च अग्न्यादि कार्ये एवार्थे प्रामाण्याभ्युपगमान्न सर्वतः स्वरूपनिषेधे प्रामाण्यं स्यात्। न चासर्वज्ञताबाधकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, "हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः" इत्यादिवेदवाक्यानां तत्प्रतिपादकानामनेकशः श्रवणात्।

इस हेतुमें व्यतिरेक असिद्ध है अर्थात् विपक्षमें इसका रहना सन्दिग्ध पाया जाता है। उसके लिए तो जैसी सर्वज्ञता है वैसी ही असर्वज्ञता। अगर वह सर्वज्ञ हो तो भी बोलेगा, असर्वज्ञ हो तो भी बोलेगा। इस तरह वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञता विपक्षमें भी पाया जाता है या उसके पाये जानेमें उसका कोई विरोध नहीं है अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। सर्वज्ञ होनेसे क्या किसीकी जबान बन्द हो जाती है? 'सर्वज्ञ भी हो और बोले भी' इसमें क्या विरोध है? कोई विरोध नहीं है। इस विवेचनसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि कोई भी अनुमान सर्वज्ञताका बाल भी बाँका नहीं कर सकता, उसके बाधनकी तो बात ही क्या।

§ ७०. आगमसे भी सर्वज्ञतामें कोई बाधा नहीं आती। बताओ कौन-सा आगम सर्वज्ञताका विरोध करता है—जो अपौरुषेय है, अर्थात् जिसे किसी पुरुषने नहीं बनाया किन्तु जो स्वयं सिद्ध है वह वेद सर्वज्ञताको नहीं सह सकता, या किसी पुरुष विशेषके द्वारा रचा गया पौरुषेय आगम? अपौरुषेयवेदमें तो प्रमाणता ही सिद्ध नहीं है तब उससे सर्वज्ञताकी बाधा होना दूरकी बात है। वचनोंमें प्रमाणता तो वक्ताके गुणोंसे आती है। गुणवान् निर्दोष वक्ता होगा तो वचन भी यथार्थ तथा प्रामाणिक होंगे, वक्ता यदि अज्ञानी या कषायवान् है तो उसके वचन भी मिथ्या तथा विसंवादी होंगे। जब वेदका कोई आप्त वक्ता ही नहीं है तब उसमें प्रमाणता कैसे मानी जा सकती है? दूसरे, आप वेदको स्वरूप प्रतिपादक ही नहीं मानते। आपका तो मत है कि—वेदका हरएक शब्द अग्निष्टोम आदि यज्ञ रूप कार्योंका ही प्रतिपादन करता है और वह कार्य अर्थमें ही प्रमाण है। वह किसीके स्वरूप प्रतिपादन या उसके निषेधमें प्रमाण ही नहीं है। वेदमें जो 'सर्वज्ञ, सर्ववित्' आदि शब्द आते हैं आप उन्हें सर्वज्ञके स्वरूपका प्रतिपादक ही नहीं मानते। आप तो कहते हो कि—ये सर्वज्ञ आदि शब्द किसी यज्ञ विशेषकी स्तुति करनेके लिए हैं। सर्वज्ञके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं हैं। 'जो अग्निष्टोम या अन्य कोई विवक्षित यज्ञ करता है वही सर्वज्ञ है, वही सर्ववित् है' इस तरह किसी यज्ञ आदिकी स्तुति करना ही सर्वज्ञ आदि शब्दोंका कार्य है। इस प्रकार जब वेदका कोई भी शब्द स्वरूपार्थक नहीं है तब उसके किसी शब्दके द्वारा असर्वज्ञताका विधान या सर्वज्ञता का निषेध कैसे किया जा सकता है? फिर, सर्वज्ञताका निषेध करनेवाला कोई वेदवाक्य भी उपलब्ध नहीं है। वेदमें कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे सर्वज्ञताका सीधा खण्डन होता हो। बल्कि वेदमें "हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ" इत्यादि अनेकों वाक्य ऐसे मिलते हैं जो सर्वज्ञता का स्पष्ट

१ "... इत्यादेर्दोषमक्षय ॥ नेत्येके व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धाव्यभिचार्यत।" —प्र० वा० १।१४३। "उच्यते यदि वक्तृत्वं स्वतन्त्रं साधनं मतम्। तदानीमाश्रयासिद्धं सन्दिग्धासिद्धताऽथवा ॥३३७१॥ अस्य चार्थस्य सन्देहात्सन्दिग्धासिद्धता स्थिरा।" —तत्त्वसं० पृ० ८८४। २ वा स्यात् न भ० २। ३.—ज्ञानाभाव—भ० २। आ० क०। ४ "स सर्ववित् स लोकवित् इत्यादे हिरण्यगर्भ सर्वज्ञ इत्यादेश्च आगमस्य।"—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४५। "हिरण्यगर्भ। प्रकृतस्य सर्वज्ञ।" —न्यायकुमु० पृ० ८७। सन्मति० टी० पृ० ४६। स्या० रत्ना० पृ० ३६४। शास्त्रवा० टी० पृ० ४९ पू०। बृ० सर्वज्ञसि० पृ० १३३।

§ ७१. नाप्युपमानं तद्बाधकम्[1]; तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति गोगवयवत् स्यात्। न चाशेषपुरुषा[2] सर्वज्ञश्च केनचिद्दृष्टाः येन 'अशेषपुरुषवत्सर्वज्ञः सर्वज्ञवद्वा ते' इत्युपमानं स्यात्। अशेषपुरुषदृष्टौ च तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तिरिति।

§ ७२. नाप्यर्थापत्तिस्तद्बाधिका[3]; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य कस्याप्यर्थस्याभावात्, वेदप्रामाण्यस्य च सर्वज्ञे सत्येवोपपत्तेः। न हि गुणवद्वक्तुरभावे वचसां प्रामाण्यं घटत इति न सर्वज्ञे बाधकसंभवः, तदभावे च प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तिरप्यसिद्धा।

§ ७३. तथा यदुक्तम्—'प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्त्याभावप्रमाणविषयत्वम्; तदप्यनैकान्तिकम्[4]; हिमवत्पलपरिमाणपिशा[5]चादीनां प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तावप्यभावप्रमाणगोचरत्वाभावादिति— "प्रमाणपञ्चक यत्र" इत्याद्यपास्तं द्रष्टव्यम्।

रूपसे प्रतिपादन करते हैं।

§ ७१. उपमान प्रमाणसे भी सर्वज्ञका निषेध नहीं हो सकता। जहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों पदार्थ प्रत्यक्षसे अनुभवमें आते हैं वहाँ 'यह गवय—रोज गौके समान है' यह उपमान लगाया जा सकता है। गौ और रोज दोनों ही प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ हैं अतः वे उपमान प्रमाणके दायरेमें आ जाते हैं। पर कोई भी अल्पज्ञ व्यक्ति संसारके समस्त पुरुषोंका तथा सर्वज्ञका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, जिससे वह अमुक सर्वज्ञ इन सब प्राणियोंकी तरह है या इस सब उनके समान हैं' इस उपमानको कर सके। क्योंकि जिस क्षण भी उसने समस्त पुरुषोंका और सर्वज्ञका साक्षात्कार किया उसी क्षण वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है और इस तरह सर्वज्ञतामें बाधा देनेकी बजाय वह उसका जीवन्त प्रमाण बन जाता है। तात्पर्य यह कि उपमान प्रमाणकी इतनी शक्ति नहीं है जो सर्वज्ञता का निषेध कर सके।

§ ७४. यच्चोक्तम्—'सर्वं वस्तुजातं केन प्रमाणेन' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; सकलज्ञानावरणविलयोत्थाविकलकेवलालोकेन सकललोकालोकादिवस्तुवेत्तृत्वात्सर्वज्ञस्येति।

§ ७५. यच्चोक्तं 'अशुच्यादिरसास्वाद' इत्यादि; तदपि[1] परं प्रत्यसूयामात्रमेव व्यनक्ति, सर्वज्ञस्यातीन्द्रियज्ञानित्वेन करणव्यापारनिरपेक्षत्वात् जिह्वेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं यथावस्थितं तटस्थतयैव वेदनं न तु भवद्वत्तद्व्यापारसापेक्षं वेदनमिति।

§ ७६. यदप्यवादि 'कालतोऽनाद्यनन्तः संसारः' इत्यादि, तदप्यसम्यक्[2] युगपत्संवेदनात्। न च तदसंभवि दृष्टत्वात्। तथाहि—यथा स्वभ्यस्तसकलशास्त्रार्थः सामान्येन, युगपत्प्रतिभासते

गति नही होती फिर इससे इसका अभाव तो नही किया जा सकता। अत सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिये आपका 'पांचो प्रमाण जहां प्रवृत्ति न करे वहाँ अभाव प्रमाणका राज्य है' इत्यादि कथन अनैकान्तिक है।

§ ७४ आपने यह पूछा था कि—'सर्वज्ञ समस्त वस्तुओको किस प्रमाणसे जानता है?' सो सर्वज्ञ सभी वस्तुओको अपने केवलज्ञान रूपी आलोक-द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे ही जानता है। केवलीने ज्ञानमे विघ्न करनेवाले जितने प्रतिबन्धक ज्ञानावरण थे उन सवका अत्यन्त नाश कर दिया है, इसलिए उसका ज्ञान अपने पूर्वरूपमे प्रकाशमान है। उसमे सभी पदार्थ ऐसे ही झलकते हैं जैसे कि निर्मलदर्पणमे सामने रखी हुई वस्तुएँ।

§ ७५ आपका अशुचि पदार्थोके रसास्वादनवाला कुतर्क तो बुद्धिके विपर्यासका तथा हृदयकी जलनका जीता-जागता प्रमाण है। सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियोकी सहायतासे उत्पन्न नही होता, वह तो अतीन्द्रिय है, आत्माका निजी पूर्ण प्रकाश है। उसे इन्द्रियोंके व्यापारकी कोई आवश्यकता नही है। रसका आस्वादन दूसरी चीज है तथा उसका ज्ञान एक पृथक् ही वस्तु है। आस्वादन जीभके द्वारा होता है जब कि उसके ज्ञानके लिए उसे जीभपर रखना कोई आवश्यक नही है। केवलीको अपने अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा रसका ज्ञान होता है। आस्वादनका मजा तो रागी व्यक्ति अपनी जीभके द्वारा लेते है। वीतरागी अतीन्द्रियज्ञानी केवलीके विषयमे आस्वादनकी बात करना निपट मूर्खता है। जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूपमे तटस्थ भावसे अच्छी और बुरी कल्पना किये बिना केवलीको मात्र शुद्ध परिज्ञान होता है, उसका अच्छे या बुरे रूपमे दर्शन तो रागियोके दूषित ज्ञानमे ही हुआ करते हैं। वह तो जानता है, केवल जानता ही है।

§ ७६. आपकी 'काल तो अनन्त है, पदार्थ भी अनन्त हैं, उनका एक-एक करके परिज्ञान तो अनन्तकालमे भी नही हो सकता' यह शका भी अज्ञानका प्रदर्शन ही है। क्योकि—हम पहले ही बता चुके है कि—केवलीका ज्ञान क्रमिक नही है, वह तो सभी वस्तुओको युगपत् जानता है। जब अनेक वस्तुओका युगपत् ज्ञान तो हम जैसे अल्पज्ञ हीनशक्तिवालोको भी देखा जाता है, तब बिलकुल निरावरण अनन्तज्ञानवाले अनन्तशक्तिशाली केवलीको समस्त पदार्थोका युगपत्

१ "तटस्थस्य हि संवित्तौ न रागित्वादिसंभवः। अनेनाशुचिरसादिवेदनेऽपि दोषः प्रत्युक्तः। अपवित्रत्वयोगः स्यादिन्द्रियेणास्य वेदने। कर्मजेन न चान्येन भावनाबलभाविना ॥५७६॥" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३०। "तस्मान्न विषयानुभवः केवल एव सुखदुःखहर्षविषादामर्षादिहेतुः। किन्तु कारणान्तरसहितः। तच्च कर्मैव भवितुमर्हति। तच्च निरस्ताशेषदोषावरणस्य नास्तीति केवलो विषयानुभवस्तस्योपेक्षामेव सर्वत्र जनयति न सुखदुःखादिकम्। निःशेषदोषावरणविश्लेषं च समर्थयिष्याम।" —बृहत्सर्वज्ञसि० पृ० १७९। प्रमेयक० पृ० २६०। २ "एकज्ञानक्षणव्याप्तनिःशेषज्ञेयमण्डलः। प्रसाधितो हि सर्वज्ञः क्रमो नाश्रीयते ततः ॥३६२७॥" —तत्त्वसं० पृ० ९२९। "ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसंभवः। समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम् ॥३२१॥ इति चेन्नाक्रमेणैव सर्वार्थिना प्रवेदनात्।" —प्र० वार्तिकाल० पृ० ३३०।

एवमशेषविशेषकलितोऽपि। [1]तथा चोक्तम्—

"यथा सकलशास्त्रार्थः स्वभ्यस्तः प्रतिभासते।
मनस्येकक्षणेनैव तथानन्तादिवेदनम् ॥ १ ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।२२७]इति

§ ७७. यच्चोक्तं 'अतीतानागत' इत्यादि, तदपि स्वप्रणेतुरज्ञानित्वमेव ज्ञापयति, [2]यतो यद्यपीदानीतनकालापेक्षया तेऽतीतानागतवस्तुनी असती तथापि [3]यथातीतमतीतकालेऽवतिष्ट, [4]यथा च भावि वर्तिष्यते तथैव तयोः साक्षात्कारित्वेन न कश्चनापि दोष[5] इति सिद्धः[6] सुखादि-वत्सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्[7] सर्वज्ञ इति।

§ ७८. अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति—ननु भवतु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सर्वज्ञ-सिद्धिः। किं त्वस्य कवलाहार इति न मृष्यामहे। तथाहि—केवलिनः कवलाहारो न भवति तत्का-

---

परिज्ञान होनेमे क्या बाधा है? कहा भी है—"जैसे जिन शास्त्रोका अच्छी तरह तलस्पर्शी अभ्यास किया है उन शास्त्रोके सभी पदार्थ उपयोग लगाने पर एक ही साथ मनमे प्रतिभासित होते है उसी तरह अनन्तशक्तिशाली केवलज्ञानमे अनन्तपदार्थ युगपत् झलकते है ॥१॥"

§ ७७. जो आपने 'अतीत अनागत पदार्थोको वर्तमान रूपसे जानता है या अतीत रूपसे?' इत्यादि कुतर्क किये है, वे तो सचमुच ही अज्ञानके भद्दे प्रदर्शन रूप ही है। यद्यपि आजकी दृष्टि-से हम बीते हुए पदार्थोको अतीत तथा आगे होनेवाले पदार्थोको अनागत कहते हैं और वे इस समय असत् हैं विद्यमान नही हैं, परन्तु अतीतकालमे तो थे ही, आगे तो होंगे ही, अतः बीते हुए पदार्थोको अतीतकालमे असत् तथा आगे होने वाले पदार्थोको भाविकालमे तो असत् नही कह सकते। सर्वज्ञ तो जो वस्तु जिस समय जैसी है उसको उस समय उसी रूपमे जानता है। अतीत-को अतीत रूपमे, अनागतको भावि रूपमें तथा वर्तमानको वर्तमान रूपमे ही जानता है। पदार्थकी जब जो हालत थी, है और होगी वह ठीक उसी रूपमे सर्वज्ञके ज्ञानमे झलकती है। इस तरह समस्त बाधक प्रमाणोंका निराकरण करनेसे उनकी अच्छी तरह असम्भवता सिद्ध होने पर सर्वज्ञकी सत्ता निर्बाध रूपसे उसी तरह सिद्ध हो जाती है जैसे सुखी पुरुषको 'मै सुखी हूँ' इस स्वसंवेदनसे सुखका निर्बाध अनुभव हो कर सुखकी सत्ता सिद्ध होती है। अतः यह बेधडक हो कर कहा जा सकता है कि— सर्वज्ञ है, क्योकि उसकी सर्वज्ञताके बाधक प्रमाणोकी असम्भवता अच्छी तरह निश्चित है वह पूर्णतः निर्बाध है, जैसे कि सुखी व्यक्तिका सुख।'

§ ७८. दिगम्बर (पूर्वपक्ष)—'बाधक प्रमाणोकी असम्भवता दिखाकर सर्वज्ञकी सिद्धि करना तो उचित ही है। परन्तु सर्वज्ञ केवली भी हम लोगोकी ही तरह कवलाहार—एक-एक ग्रास लेकर भोजन करता है यह बात नही जँचती। हम सिद्ध करते है कि—'केवली ग्रास लेकर आहार नही करते, क्योकि जिन कारणोसे प्रेरित होकर मनुष्य आहार करनेके लिए बेचैन हो जाता है तथा

---

१ यथा आ०। क०। २ ततो म० २। ३ यथातीत गतकाले म० २। ४ यथा भावि च भविष्यत् काले वर्ति–म० २। ५ "न चैकेन ज्ञानेन परिच्छिन्नानीत्येतावता वस्तूनामात्मस्वभावहानि। येन तान्येकज्ञानपरिच्छेदवशादनन्तत्वमात्मस्वभाव जह्यु।" "यत एवासौ पर्यन्ततया न गृह्णाति तत एव सर्वज्ञो भवति। अन्यथाऽनन्त वस्त्वन्तवत्त्वेन गृह्णन् भ्रान्तो भवेत्।" —तत्त्वस० प० पृ० ९३०। न्यायकुमु० पृ० ९६। ६ सिद्धा स्वसंवेदनप्रत्यक्षलक्षणसुखादिवत् म० २। ७ तदस्ति सुनिश्चिता-सम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् ॥" —लघी० स्व० श्लो० ४। सिद्धिवि०। अष्टश०, अष्टसह० पृ० ४४। आप्तप० पृ० २२६। त० श्लो० पृ० १८५। प्रमाणनि० पृ० २९। प्र० मी० पृ० १४।

रणाभावात्, न च कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिः अतिप्रसक्तेः । न च तत्कारणाभावोऽसिद्धः, [1]आहारादाननिदानभूते वेदनादिषट्के एकस्यापि तस्य केवलिन्यभावात् । तथाहि—न तावत्तस्य वेदनोत्पद्यते, तद्वेदनीयस्य [2]दग्धरज्जुस्थानिकत्वात् । सत्यामपि वेदनायां न तस्य तत्कृता [3]पीडा, अनन्तवीर्यत्वात् [5] । वैयावृत्त्यकरणं तु भगवति त्रैलोक्यपूज्ये न सम्भवत्येवेति । ईर्यापथ[4] पुनः केवलज्ञाना-

जिन प्रयोजनोंसे वह भोजन करता है वे सब कारण तथा प्रयोजन केवलीमें नहीं पाये जाते। बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति मानना तो एक अलौकिक बात होगी, और इससे बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। देखो, आहार ग्रहण करनेके लिए मनुष्य वेदना आदि छह कारणोंसे प्रवृत्त होता है। शास्त्रमें कवलाहारके ये छह कारण बताये हैं—१ वेदना—भूखकी पीड़ा होनेसे जब पेट और पीठ एक हो जाते हैं, भूखकी ज्वाला असह्य हो जाती है तब जिस किसी भी तरह भोजन पा लेनेकी ओर प्रयत्न होता है। २ यह सोचकर कि—'मैं भोजन करता रहूँगा तो शरीर स्वस्थ रहेगा और मैं दूसरोंकी वैयावृत्त्य—सेवाटहल कर सकूँगा।' ३ यह विचार कर कि—'यह भोजन करता रहूँगा तो आँखोंकी जोत ठीक रहेगी और इससे मैं अच्छी तरह देखभाल करके जाऊँगा-आऊँगा, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करके ईर्यापथ (सावधानीसे गमन) को साध सकूँगा।' ४. यह समझकर कि 'यदि भोजन करके शरीरको स्वस्थ—कामचलाऊ हालतमें रखेंगे तो संयम तथा चारित्र आदि अच्छी तरह पाले जा सकेंगे।' ५ यह मान कर कि—'यदि आहार लेते रहेंगे तो शेष जीवनका निर्वाह सुखशान्तिसे हो जायगा, नहीं तो बेमौत असमयमें ही मरनेकी बारी आ जायगी।' ६ यह समझकर कि—'यदि थोड़ा बहुत भोजन लेते रहेंगे तो दिमाग ठीक रहेगा और उससे धर्मतत्त्वका अच्छी तरह विचार कर सकेंगे।' परन्तु केवलीके इन छह कारणोंमें-से एक भी कारण नहीं है, तब बताओ केवली अकारण ही भोजन क्यों करेंगे ? आप स्वयं विचार कीजिए—केवलीके वेदना-पीड़ा तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि पीड़ामें कारण है असातावेदनीय कर्मका उदय। सो मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे बेचारा जली हुई रस्सीके समान नाचीज होकर पड़ा है। अतः जली हुई रस्सीके समान कहनेको तो वेदनीयका सद्भाव केवलीमें है, परन्तु वह असीम बलशाली केवलीमें पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सकता। पीड़ा तो कमजोरोंको हो सकती है केवली तो अनन्तशक्तिके धनी हैं। 'दूसरोंके वैयावृत्त्य—सेवाटहलकी तो त्रिलोक्य पूज्य केवलीमें सम्भावना ही नहीं है। कौन ऐसा है जो जगत्पूज्य भगवान्‌से अपनी सेवा-चाकरी कराएगा ? अच्छी तरह सावधानीसे देखभालकर चलना

---

१. "ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं । णाणट्ठ संजमट्ठ झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥६२॥"—मूलाचा० ६।६२ । २. "एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरतरो उदओ। तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि॥" —गो० कर्म० गा० २७५। "घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभावः, तत्सद्भावोपचारात् ध्यानकल्पनवत् ।" —त० वा० ९।११ । "अविकलसामर्थ्यं ह्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम् । यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम् । यथा च मन्त्रेण निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादिकं कर्तुं समर्थम्, तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभुरिति अनुमानतोऽपि कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः ।" —प्रमेयक० पृ० ३०२ । न्यायकुमु० पृ० ८५९ । रत्नक० टी० पृ० ६ । प्रव० टी० पृ० २८ । ३ पीडा स्यादनन्त—म० २ । ४ —पथः पुनः म० १, म० २, प० १, प० २ । ५ 'नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्, अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवाभावस्योक्तत्वात् ।" —प्रमेयक० पृ० ३०६ । न्यायकुमु० पृ० ८६० । "यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति, तथैव क्षुधा दुःखितस्य अनन्तसुखमपि नास्ति ।" —प्रव० टी० पृ० २८ ।

वरणक्षयात् सम्यगवलोकयत्यसौ । संयमस्तु[1] तस्य यथाख्यातचारित्रिणो निष्ठितार्थत्वादनन्तवीर्यत्वाच्च नाहारकारणीभवति ।[2] प्राणवृत्तिरपि तस्यानपवर्त्यायुष्ट्वादनन्तवीर्यत्वाच्चान्यथासिद्धैव । धर्मचिन्तावसरस्त्वपगतः, निष्ठितार्थत्वात् । तदेवं केवलिनः कावलिकाहारो [3]बहुदोषदुष्टत्वान्न घटत इति ।

§ ७९. अत्रोच्यते—तत्र यत्तावदूचानम्—'तत्कारणाभावात्' इति साधनम्; तदसिद्धम्; आहारकारणस्य वेदनीयस्य केवलिनि तथैव सद्भावात् । तथा च किमिति सा शारीरी स्थितिः प्राक्तनी न स्यात् । प्रयोगोऽत्र स्यात्केवलिनो भुक्तिः समग्रसामग्रीकत्वात्, पूर्वभुक्तिवत् ।

आदिका उद्देश्य तो केवलज्ञानसे बखूबी सिद्ध हो सकता है । केवलज्ञानावरणी कर्म क्षय होनेसे वे जगत्को हस्तामलकवत् देखते-जानते है ही । केवलीके यथाख्यात (जैसा आत्माका शुद्ध रूप है उसकी प्राप्ति होना) सयम पूर्ण रूपमे विकसित हो ही चुका है, वे कृतकृत्य है तथा अनन्तशक्तिशाली है अत. सयमके उद्देशसे आहार करना भी नही जंचता । केवलीकी आयु—उमर अनपवर्त्य (न घटनेवाली और न बढनेवाली) है, अत अकाल मौतका तो उन्हे डर ही नही है और अनन्तशक्तिके भण्डार होनेसे कमजोरी आदिकी भी सम्भावना नही है, इसलिए उनकी जीवन-यात्रा बखूबी चल सकती है । वे तो सर्वज्ञ तथा धर्म तीर्थके नेता है, कृतकृत्य है अत धर्मचिन्ताकी फिक्रसे भी उन्हे भोजन करने की आवश्यकता नही है । उनकी धर्मचिन्ताका समय तो गया, अब तो वे धर्मके प्रवर्तक है । इस तरह केवलीको कवलाहार माननेमे उनके अनन्तवीर्यकी कमी, तथा आहारकी इच्छा एव प्रवृत्ति होनेसे रागी होनेका प्रसग आदि अनेको दूषण आते है। अत केवलीको कवलाहारी—एक-एक कोर खाकर भोजन करनेवाला मानना किसी भी तरह उचित नही है ।

§ ७९. श्वेताम्बर (उत्तरपक्ष)—आपने सबसे बडा हेतु यह दिया है कि—'केवलीको भोजन करनेका कारण ही नही है' सो आपका यह हेतु असिद्ध है, क्योकि भोजन करनेका सबसे प्रधान कारण है वेदनीयकर्मका उदय । सो जब वह केवलीमे उसी तरह मौजूद है जैसे कि हम लोगोमे या केवलीको केवलज्ञान होनेसे पहले था तब क्या कारण है कि जो केवली केवलज्ञान होनेके पहले तो अच्छी तरह भोजन करता था वही केवलज्ञान होनेमे ही भोजनसे हाथ सिकोड लेता है ? शरीर तो आखिर शरीर ही है, उसे तो दानापानी चाहिए ही, नही तो यह मशीन रुक जायगी । इसलिए हम कह सकते है—'केवली भोजन करता है, क्योकि भोजन करनेके सभी कारण उसमे मौजूद है, जैसे कि वह अपनी अल्पज्ञ अवस्थामे वेदनीय कर्मके उदयके कारण भोजन करनेके लिए प्रवृत्ति करता था उसी तरह आज भी उसे भोजन करना चाहिए क्योकि पहले और आजके शरीरकी स्थितिमे कोई भी फर्क नही हुआ है । पहले जितने कारण थे आज भी वे

मानसो वेदं पचनिरूपं वेदनीयोदय आहारपर्याप्तिनिमित्तं तैजसशरीरं वीर्यमुद्भवं चेति । तानि च सन्त्यपि केवलिनि भवन्ति ।

§ ८०. यदपि ... केवलिनोऽभ्युपेयते: तदप्यनागमिकमयुक्तिकं च आगमेऽप्यनन्तवीर्यस्य केवलिनि प्रतिपादनात्[3] । युक्तिरपि, यदि घातिकर्मक्षयजन्यानन्तवीर्यस्य भवेत्, वेदनीयोद्भवाया: क्षुध: निवारणं येनासौ न भवति ।

§ ८१. न चायं ज्ञानसुखयोरिव सहानवस्थानलक्षणो भावाभावयोरिव परस्परपरिहारलक्षणो वा कश्चिद् विरोधोऽस्ति[4] । ... अन्तर्मुहूर्तपरिवर्तमानतया सातोऽसातोदयोऽप्यनन्तवीर्यत्वेऽपि शरीरबलापचय: बुभुक्षापीडा च भवत्येव । न चाहारग्रहणे तस्य किञ्चिन्न्यूनं केवलत्वहेतुरपि [illegible] ।

सब मौजूद हैं, भोजन करनेका कहते छह और पर्याप्त कारण हैं वेदनीय कर्मका उदय । इसके साथ ही साथ शरीरके द्वारा, आहारके पचानेके लिए कारणभूत तैजस शरीर मौजूद रहता, उस जैसी अन्य आदि भी भोजन करनेके कारण उनमें पाये जाते हैं । वे सब कारण-कलाप केवली में इसी तरह उनका मौजूद हैं । अतः उन्हें भोजन करनेमें प्रवृत्ति करना स्वाभाविक उचित ही है ।

§ ८०. आपने जो यह कहा था कि—केवलीके अनन्तवीर्य होनेसे उनके भूख नहीं लगती है वह आगमविरुद्ध भी है ही, युक्तिसे भी उसका समर्थन नहीं हो सकता । आगममें तो केवलीके अनन्त ... उदय बतलाया है । यदि घातिया कर्मोंका क्षय केवलीने किया है तो उनके अनन्तवीर्य उससे केवलज्ञान आदि उत्पन्न हों, यह तो उचित ही है पर इससे वेदनीयके उदयसे होनेवाली वेदनाकी भूखके क्या बिगाड़, जिससे उसका निषेध किया जा रहा है । जब भूखका कारण वेदनीयका उदय मौजूद है ही तो भूख लगनी ही चाहिए तथा उसकी शान्तिके लिए भोजन करना भी उचित ही है ।

§ ८१. जिस प्रकार सुख और दुःख एक दूसरेके विरोधी होनेके कारण एक साथ नहीं रह सकते उस प्रकार केवलज्ञान आदि तथा भूखमें सहानवस्थान (एक साथ नहीं रह सकना) रूप विरोध तो है ही नहीं । ज्ञानी भी रहे तथा उसे भूख भी लगे इसमें क्या विरोध है । तथा जिस तरह भाव अभावका परिहार-निषेध करके अपनी हस्ती कायम करता है और अभाव भावको निषेध करके अपनी सत्ता जमाता है उस प्रकार कुछ केवलज्ञान आदि और भूखमें परस्पर परिहारस्थिति (एकका निषेध कर दूसरेकी सत्ता होना) रूप विरोध भी नहीं है । भूखके सद्भाव का ज्ञानके सद्भावसे कोई सम्बन्ध नहीं है । साता और असाता रूप वेदनीयका उदय अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिटसे कुछ कम समय) में बदलता रहता है । कभी साताका उदय होता है तो कभी असाताका । अतः भले ही केवलीमें अनन्तवीर्य-अर्थात् अपरिमित शक्ति हो, पर जब असाताका उदय आयेगा तब शारीरिक बलकी कमी तथा भूखकी पीड़ा होगी ही । केवलीका आहार कर लेनेसे कुछ बिगड़ता तो है ही नहीं जिससे उनको निराहारी माननेका आग्रह किया जावे । यह तो केवल पक्षव्यामोह ही मालूम होता है ।

१. —नि सत्य—स० १ । २. 'न च कवलाहारवत्त्वेन ... [illegible] ... ।' —सन्मति० टी० पृ० ६१२ । स्या० रत्ना० पृ० ६६२ । ३. तोऽनन्तस्य ... [illegible] ... स० १ । ४. '[illegible] ज्ञानादीनां च नाशत्वेन । [illegible] विरोधगति ॥' —केवलिभुक्ति० श्लो० ३ । स्या० रत्ना० पृ० ४७२ ।

§ ८२. यदुच्यते—'वेदनीयस्योदीरणाभावात्[1] प्रभूततरपुद्गलोदयाभावः, तदभावाच्चात्यन्तं पीडाभावः' इति; तदयुक्तम्; तुर्यादिगुणस्थानकेषु वेदनीयस्य गुणश्रेणीसद्भावात्, प्रचुरपुद्गलोदये सत्यपि तत्कृतपीडाल्पत्वस्यैव दर्शनात्, जिने सातोदयवत् प्रचुरपुद्गलोदयाभावेऽपि तीव्रत्वप्रदर्शनाच्चेति ।

§ ८३. यदप्युच्यते 'आहाराकाङ्क्षा क्षुत्, सा च परिग्रहबुद्धिः, सा च मोहनीयविकारः, तस्य चापगतत्वात्केवलिनो न भुक्तिः' इति; तदसम्यक्, [2]यतो मोहनीयविपाकात् क्षुन्न भवति, तद्विपाकस्य प्रतिपक्षभावनानिवर्त्त्यमानत्वात्, क्रोधादीनां तथोपरमोपलब्धेः । यदुक्तम्—"उवसमेण हणे कोह" [दश वै० मा० ८।३९] इत्यादि[3] । न च क्षुद्वेदनीयं तद्विपक्षभावनया निवर्त्त्यमानं दृष्टम्, अतो न मोहविपाकस्वभावा क्षुदिति ।

---

§ ८२ **दिगम्बर**—जब वेदनीय कर्मोको असमयमे जबर्दस्ती उदयमे लाते है तब अनेक कर्मोका एक साथ उदय होनेसे पीडा होती है । परन्तु केवलीको जब वेदनीय कर्मो की उदीरणा-(असमयमे बलात् उदयमे लाना-) नही होती तब बहुत-से कर्मो'का एक ही बार उदयमें आनेके कारण होनेवाली पीडा भी उन्हे नही हो सकती । इस तरह जब भूखकी पीड़ा ही नही है तब आहारकी चर्चा ही निरर्थक है ।

श्वेताम्बर—'बहुत कर्मोके उदयसे बहुत पीड़ा होती हो' ऐसा कोई नियम नही है । सम्यग्दृष्टि आदि चौथे आदि गुणस्थानोमे सम्यग्दर्शन आदिके कारण गुणश्रेणि निर्जरा अर्थात् क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । उस समय उनके बहुत कर्मोका एक साथ उदय होनेपर भी थोडी ही पीडा होती है । केवलीमे साता वेदनीय जातिके थोड़े ही कर्मोका उदय पाया जाता है पर उन्हे साता तो अधिकसे अधिक होती है । अतः अधिक कर्मोके उदयमे आनेसे अधिक पीडा तथा थोड़े कर्मोका उदय होनेसे थोडे फल मिलनेका कोई नियम नही है । इसलिए वेदनीय कर्मोकी उदीरणासे ही भूखका सम्बन्ध नही जोडा जा सकता । असाताका उदय ही भूख लगनेके लिए पर्याप्त प्रबल कारण है ।

§ ८३ **दिगम्बर**—भूखका सीधा अर्थ है आहारकी इच्छा । और इच्छा तो मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला एक विकार है । इच्छा आभ्यन्तर परिग्रह रूप है, क्योकि परिग्रहका मूल कारण इच्छा ही है । अत निर्मोही केवलीके मोहके विकार रूप आहारकी इच्छा कैसे हो सकती है । जब इच्छा ही नही तब भोजन करनेकी बात कहना तो सरासर जबरदस्तीकी बात है ।

श्वेताम्बर—भूख मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला विकार नही है वह तो असातावेदनीय के उदयसे लगती है । मोहनीय कर्मसे होनेवाले कामादि विकार तो प्रतिपक्षी ब्रह्मचर्य आदि की भावनाओसे शान्त हो जाते है । क्रोध आ रहा हो तो क्षमाका विचार कीजिए, अपने आप उसका वेग कम हो जायेगा और वह धीरे-धीरे बिलकुल शान्त हो जायेगा । कहा भी है—"उपशम—शान्त विचारोसे क्रोधको मारना चाहिए" परन्तु आप कितनी ही प्रतिपक्षी—अर्थात् आहार न करने की—भावना भाइए, पर जबतक पेटमे कुछ पहुँच न जायेगा तबतक सूखी भावनाओसे क्षुधा शान्त होनेवाली नही है । पेटके लिए सद्विचार नही चाहिए उसे तो चाहिए है रूखा-सूखा भोजन । इसलिए जब प्रतिपक्षी भावनाओसे भूख नही मिटती तो यह मानना ही होगा कि भूख

§ ८४. एतेन यदुच्यते—

'अपवर्त्यते कृतार्थं नायुर्ज्ञानादयो न हीयन्ते।
जगदुपकृतावनन्तं [1]वीर्यं किं गततृषो भुक्तिः ॥ १ ॥" [केवलिभुक्ति० श्लो० १६]

इत्यादि निरस्तम्, [2]एवंविधौदारिकत्वादिसामग्रीसद्भावेन छद्मस्थावस्थायामपि केवलिनोऽभुक्तिप्रसक्तेः। समस्तवीर्यान्तरायक्षयाभावाच्छद्मस्थस्य भुक्तिरिति चेत्; तदयुक्तम्; यतः किं तत्रायुष्कस्यापवर्तनं स्यात्किं वा चतुर्णां ज्ञानानां काचिद्धानिः स्यात्, येन भुक्तिः? तेन यथा [3]दीर्घकालस्थितेरायुष्कं कारणमेवमाहारोऽपि, यथासिद्धिगतेर्व्युपरतक्रिया[4]ध्यानचरमक्षणः कारणम् एवं सम्यक्त्वादिकमपीति अनन्तवीर्यतापि तस्याहारग्रहणे न विरुध्यते। तथा तस्य देवच्छन्दादीनि

मोहका विकार नहीं है, वह इच्छा रूप नहीं है। वह तो वेदनीयके उदयसे होनेवाली एक बेचैनी है, जो पेटमें कुछ डाले बिना हरगिज नहीं मिट सकती।

§ ८४. अतः आपका यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि—"कृतकृत्य केवलीकी आयुमें न्यूनाधिकता होनेका डर नहीं है जिससे उसकी अकाल मृत्यु हो, पूर्ण एवं निरावरण होनेसे उसके ज्ञानादिकी भी हानि नहीं हो सकती, संसारका उपकार करनेके लिए अनन्तवीर्य मौजूद है तब तृष्णारहित वीतरागी केवलीके पीछे भोजन करने की बला क्यों लगायी जाये?" जब केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी वही औदारिक-स्थूल शरीर रहता है उसमें केवलज्ञान होनेके कारण कुछ भी हेर-फेर नहीं होता तब भोजन करनेमें क्या हानि है? आपके द्वारा दिये गये तर्कोंसे तो फिर आपको ही केवलीके अल्पज्ञ अवस्थामें निराहारी मानना चाहिए। आपही सोचिए-कि छद्मस्थ-अल्पज्ञ अवस्थामें केवलीको अपनी आयुके ह्रास होनेका डर है ही नहीं, क्योंकि चरमशरीरीकी—अर्थात् उसी शरीरसे मुक्त होनेवाले की आयुका अकालमें उच्छेद नहीं होता, उसके मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान भी क्षीण नहीं हो सकते, तब क्यों अल्पज्ञ अवस्थामें उसे भोजन करनेवाला माना जाये। उस समय भी उसे निराहारी ही कहिए। 'वीर्यान्तराय अर्थात् शक्तिको रोकनेवाले कर्म—का सम्पूर्ण रूपसे नाश नहीं हुआ अतः शक्तिकी स्थिरताके लिए अल्पज्ञ-अवस्थामें भोजन करना चाहिए' यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि अल्पज्ञको शक्तिकी स्थिरता-की भी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि उसे अकालमें मरनेका या अपने ज्ञानादिमें शिथिलता आने का डर होता तो यह वाजिब है कि वह आहार करे। परन्तु उसे दोनों बातोंका डर नहीं है वह इन दोनों बातोंसे निश्चित है, अतः इस प्रकारके तर्कोंसे तो अल्पज्ञको भी आहारका निषेध किया जा सकता है। इसलिए यदि आयुकर्म केवलीकी लम्बी उमरका प्रधान कारण है तो उसी तरह आहार-पानी लेना भी उसके चिरकाल तक जीनेमें एक सहकारी कारण है। जिस तरह मुक्त होने में समस्त मन-वचन-कायके व्यापारोंका अत्यन्त निरोध करनेवाले व्युपरतक्रिया ध्यानकी पूर्णता साक्षात् कारण है उसी तरह उसमें सम्यग्दर्शन आदि भी परम्परासे कारण हैं ही। अब जिस तरह अनन्तवीर्य वाले केवलीको मुक्तिमें व्युपरतक्रिया ध्यान और सम्यग्दर्शन आदि समीकी अपेक्षा होती है उसी तरह केवलीके चिरकाल तक जीनेके लिए आयुकर्मके साथ ही साथ आहार की भी अपेक्षा होनी चाहिए। इससे उसके अनन्तवीर्यत्वमें कोई बाधा नहीं आ सकती। जिस प्रकार

१. वीर्यं वा चतुर्णां म० २। २. किं तत्रायुरि– म० २। ३ "आयुरिवान्नाहारो जीवनहेतुर्विनाशकृच्च । चेत् निष्ठ्यनन्तवीर्यं विनायुषा कस्मात् न तिष्ठेत् ॥" —केवलिभुक्ति० श्लो० २०। ४ –ध्यानस्य–आ०, क०। "ध्यानस्य समुच्छिन्नक्रियस्य कारणमवगतो यथा सिद्धेः। सा निवर्तकस्य तपोज च तत्संख्या ॥ —केवलिभुक्ति० श्लो० १८।

विश्रामकारणानि[1] गमननिषीदनानि च भवन्ति एवमाहारक्रियापि विरोधाभावात्। न च बलवत्तरस्य वीर्यवतोऽल्पीयसी क्षुत्, व्यभिचारात्।

§८५. किं चागमोऽपि केवलिनो भुक्तिं प्रतिपादयति। तथाहि—तत्त्वार्थसूत्रम् "एकादश जिने" [त० सू० ९।१८] इति। व्याख्या—एकादश परीषहाः क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलाख्या जिने केवलिनि भवन्ति, तत्कारणस्य वेदनीयस्याद्यापि विद्यमानत्वात्[2]। न च कारणानुच्छेदे कार्यस्योच्छेदः संभाव्यते, अतिप्रसक्तेः। अत एव केवलिनि क्षुद्वेदनीयपीडा संभाव्यते, किं त्वसावनन्तवीर्यत्वान्न विह्वलीभवति, न चासौ निष्ठितार्थो निःप्रयोजनमेव पीडां सहते।

§ ८६. न च शक्यते वक्तुं 'एवंभूतमेव[3] भगवतः शरीरं; यदुत क्षुत्पीडया न बाध्यते' इति; अनुमानेन तस्यास्तत्र सिद्धत्वात्। तथाहि—केवलिशरीरं क्षुदादिना पीड्यते शरीरत्वात्,

केवली विश्राम करनेके लिए देवच्छन्द अर्थात् देवोके द्वारा रचे गये स्थानविशेष आदिकी अपेक्षा रखता है, तथा वह गमन करता है वैठता है उठता है उसी तरह वह आहार भी यदि करता है तो इसमे कोई बाधा नही है। यह भी कोई नियम नही है कि 'जो जितना बलशाली होगा उसको उतनी ही कम भूख लगेगी'; क्योकि संसारमे इस नियमका उलटा भी रूप देखा जाता है—बल्कि यहाँ तो जो जितना अधिक बलवान् होता है उसको उतने ही जोरसे कडाके की भूख लगती है।

§ ८५. आगमसे भी केवलीके आहार करने की सिद्धि होती है। देखो, तत्त्वार्थ सूत्रमें ही कहा है कि—"केवली जिनके ग्यारह परीषह—बाधाएँ होती है" जिन अर्थात् केवलीमे भूख, प्यास, ठण्ड गरमी, डाँसमच्छरका काटना, चलनेमे काँटे आदिका चुभना, भूमिपर सोनेसे कंकड आदि गडना, दूसरेके द्वारा पीटा जाना, रोग, तीखे डाभ आदि तिनकोका चुभना, और शरीरपर मैल लग जाना ये ग्यारह परीषह अर्थात् अपने आप सही जानेवाली बाधाएँ है। इन बाधाओका कारण है वेदनीय कर्मका उदय। सो केवलीमे उसका सद्भाव तथा उदय है ही। जब वेदनीय कर्म रूपी कारण मौजूद ही है तब उसके द्वारा होनेवाले भूख आदि कार्योका अभाव कैसे माना जा सकता है? समर्थ कारणके रहनेपर भी यदि कार्यकी उत्पत्ति न हो; तो संसारसे कार्यकारण भाव ही विदा हो जायेगा। यही कारण है कि केवलीके भी भूख प्यास आदिकी पीडा माननी पडती है। हाँ, यह अवश्य है कि केवली अनन्त शक्तिशाली होनेके कारण भूख लगनेसे तड़प नही जाता, वह हमलोगोकी तरह विह्वल नही होता। वह तो कृतकृत्य है, अतः बिना मतलबके पीडा क्यो सहेगा? भूखकी पीडाको सहना भी एक तप है, परन्तु केवली तो कृतकृत्य है उसे जो कुछ करना था उसको वह कर चुका है अत उसे तप करने की अब कोई आवश्यकता नही रही है।

§ ८६ 'भगवान्का ऐसा ही विलक्षण शरीर है कि उसे कभी भी क्षुधाकी पीडा नही होती' यह तर्क उपस्थित नही किया जा सकता, क्योकि ऐसे अनुमान मौजूद हैं, जिनसे भगवान्के शरीरमे भी क्षुधाको बाधाका सद्भाव साधा जा सकता है। जैसे, केवलीका शरीर भी भूख आदि

१ "ज्ञानाद्यलयेऽपि जिने मोहेऽपि स्याद् क्षुद् उद्भवेद् भुक्तिः। वचनगमनादिवच्च प्रयोजनं स्वपरसिद्धिः स्यात्॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १९। २ "रोगादिवत् क्षुधो न व्यभिचारो वेदनीयजन्मायाः। प्राणिनि 'एकादश जिने' इति जिननामान्यविषयं च॥ तद्हेतुकर्मभावात् परीषहोक्तिर्न जिन उपचारः। तत्कालाभावात्सिद्धेरित्यादेर्न क्षुदादिगतिः॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २९-३०। ३ "कायस्तथाविधोऽसौ जिनस्य यदभोजनस्थितिरितीदम्। वाङ्मात्रं नात्रार्थे प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २६।

अस्मदाद्यधिष्ठितशरीरवत्। तथा 'यथा तच्छरीरं स्वभावेन प्रस्वेदादिरहितं एवं प्रक्षेपाहार-रहितमपि' इत्यपकर्णनीयमेव, अप्रमाणकत्वात्। तदेवं देशो[1]नपूर्वकोटिकालस्य केवलिस्थितेः संभवादौदारिकशरीरस्थितेश्च यथायुक्तं कारणमेवं प्रक्षेपाहारोऽपि। तथाहि—[2]तैजसशरीरेण मृदूकृतस्याभ्यवहृतस्य स्वपर्याप्त्या परिणामितस्योत्तरोत्तरपरिणामक्रमेणौदारिकशरीरिणामनेन प्रकारेण क्षुदुद्भवो भवति। वेदनीयोदये चेयं समग्रापि सामग्री भगवति केवलिनि संभवति। ततः केन हेतुनासौ न भुङ्क्त इति। न च [3]घातिचतुष्टयस्य क्षुद्वेदनीयं प्रति सहकारिकारणभावोऽस्ति, येन तदभावात्तदभाव इत्युच्यते। इति सिद्धा केवलिभुक्तिः। तथा प्रयोगश्चात्र—केवलिनः प्रक्षेपाहारो भवति कवलाहारकेवलित्वयोरविरोधात्, सातवेदनीयवदिति। इति केवलिभुक्तिव्य-वस्थापनस्थलमिति॥

§ ८७ अथ तत्त्वान्याह—

से पीडित होता है क्योकि वह भी मासका बना हुआ शरीर है जैसे कि हम लोगोका शरीर। इसी तरह आपकी यह बात भी सुनने लायक नही है कि—'जिस प्रकार भगवान्के शरीरमे पसीना नही आता, बदबू नही आती, उनकी आँखोको पलके नही झपकती उसी तरह उनके शरीरकी स्थिति भोजन किये बिना भी मान लेनी चाहिए।' क्योकि आपकी ऐसी बाते बेबुनियाद है प्रमाणशून्य हैं। इस तरह जब केवली भगवान् कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण वर्षो तक जीवित रहते है, और यदि इतने समय तक उनके शरीरको कायम रखनेके लिए आयुकर्मकी आवश्यकता है तो उसका समर्थ सह-कारी कारण भोजन करना भी उतना ही आवश्यक है। औदारिक-स्थूल शरीरको टिकनेके लिए आयुकर्म और भोजन दोनो ही कारण है, दोनो ही आवश्यक हैं। जब तैजस शरीर अर्थात् शरीर का ओज या जठराग्निके द्वारा पहलेका खाया हुआ भोजन पचा दिया जाता है और वह रक्त आदि रूपसे शरीरमे रच-पच जाता है तब इन स्थूल शरीरवालोको फिर भूख लग आती है। भूख लगनेमे वेदनीयकर्मका उदय खास कारण है ही। इस प्रकार जब केवलीके वेदनीयका उदय होनेसे भूख लगनेके सभी कारण मौजूद है तब ऐसी कौन-सी बात बाकी रहती है जिससे केवलीको भोजन करनेमे हिचकिचाहट होती है? वह हमारी ही तरह मजेसे भोजन क्यो नही करता? यदि ज्ञानावरण आदि घातियाकर्म वेदनीयकर्मके सहायक होते तो कहा जा सकता था कि 'ज्ञानावरणादि घातियाकर्म रूप सहकारी नही है अत वेदनीय कर्म भूखको उत्पन्न नही करता।' पर ज्ञानावरणादि कर्मोका वेदनीयकर्मके साथ कोई ताल्लुक नही है। दोनो अपने-अपने क्षेत्रमे स्वतन्त्र है। इस प्रकार वेदनीयका सद्भाव रहनेसे केवलीको कवलाहार मानना ही चाहिए। इस-लिए हम निश्चित रूपसे कह सकते है कि केवली हमलोगोकी तरह एक-एक ग्रास करके भोजन करता है, क्योकि केवलज्ञानका भोजन करनेके साथ कोई विरोध नही है, जैसे कि साता वेद-नीय और केवलज्ञानमे कोई अनबन या विरोध नही है उसी तरह केवलज्ञान और कवलाहार भी परस्पर विरोधी नही है। केवली भी रहे और आनन्दसे भोजन भी करे। इस तरह प्रसगसे केवलीके कवलाहारका समर्थन किया है॥४६॥

§ ८७ अब तत्त्वोका निरूपण करते है—

---

१ "देशोनपूर्वकोटीविहरणमेव सतीह केवलिन। सूत्रोक्तमुपायादि न मुक्तिश्च न नियतकाला स्यात्॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० २४। २ "तैजससमूहकृतस्य द्रव्यस्याभ्यवहृतस्य पर्याप्त्या। अनुत्तरपरि-णामे श्रुतक्रमेण भवति च तत् सर्वम्॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० ९। ३ "ज्ञानावरणीयादेर्ज्ञाना-वरणादि कर्मण कार्यम्। क्षुत् तद्विलक्षणास्या न तस्य सहकारिभावोऽपि॥" —केवलिभुक्तिप्र० श्लो० १०। स्या० रत्ना० पृ० ४७५।

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ [1]नव तत्त्वानि तन्मते ॥ ४७ ॥

§ ८८. व्याख्या—चेतनालक्षणो जीवः १, [2]तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः २ । धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदेन त्वसौ पञ्चधा व्यवस्थितः । अनयोरेव द्वयोर्जगद्वर्तिनः सर्वेऽपि भावा अन्तर्भवन्ति । नहि ज्ञानादयो रूपरसादयश्च द्रव्यगुणा उत्क्षेपणादीनि च कर्माणि सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणात्मस्थितिं लभन्ते, तद्भेदेनैकान्ततस्तेषामनुपलम्भात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात् ।

§ ८९. बौद्धादिपरिकल्पितदुःखादितत्त्वानि जीवाजीवाभ्यां पृथग्जात्यन्तरतया न वक्तव्यानि, जीवाजीवराशिद्वयेन सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वात्, तदव्याप्तस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् ।

§ ९०. तर्हि पुण्यपापास्रवादीनामपि ततः पृथगुपादानं[3] न युक्तिप्रधानं स्यात्, राशिद्वयेन सर्वस्य व्याप्तत्वादिति चेत्; न; पुण्यादीनां विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, आस्रवादीनां [4]सकारणसंसारमुक्ति-

---

जैन मतमे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ये नव तत्त्व-पदार्थ हैं ॥४७॥

§ ८८. जिसमे चेतना—जानने-देखनेकी शक्ति पायी जाती है उसे जीव कहते है। जो चैतन्यसे रहित है वह अजीव है। अजीव पाँच प्रकारका है—१ धर्मद्रव्य, २ अधर्मद्रव्य, ३ आकाशद्रव्य, ४ कालद्रव्य तथा ५ पुद्गलद्रव्य। जीव और अजीव इन दो ही तत्त्वोमे समस्त पदार्थोका अन्तर्भाव हो जाता है। वैशेषिकके द्वारा माने गये ज्ञान आदि तथा रूप रस आदि गुणपदार्थ, उत्क्षेपण—ऊपर फेकना आदि कर्मपदार्थ, तथा सामान्य, विशेष, और समवाय पदार्थ इन जीव और अजीवसे भिन्न अपनी कोई हस्ती नही रखते। वे इन्हीके ही स्वभावरूप है अत इनका इन्ही जीव और अजीवमे ही अन्तर्भाव हो जाता है। कोई भी प्रमाण गुण आदि पदार्थोको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न रूपमे नही जान सकता। वे तो द्रव्यात्मक ही है। यदि गुण आदि पदार्थ द्रव्यसे भिन्न माने जावे, तो जैसे गुण रहित द्रव्यका अभाव हो जाता है उसी तरह द्रव्यरूप आश्रयके विना गुणादि भी निराधार होकर असत् हो जायेगे। अत. गुण आदिका द्रव्यसे तादात्म्य मानना ही उचित है।

§ ८९. इसी प्रकार बौद्धोके द्वारा माने गये दुःख, समुदय आदि चार आर्यसत्य भी जीव और अजीवसे भिन्न नही है उनका भो इन्हीमे अन्तर्भाव हो जाता है। तात्पर्य यह कि समस्त संसारके पदार्थ या तो जीवराशिमे अपनी गिनती करा सकते है या फिर अजीव राशिमे। इनसे भिन्न तीसरी कोई राशि नही है। जो इन दो राशियोमे शामिल नही है समझ लो वह खरगोशके सीग की तरह है ही नही, असत् है। बौद्धोके दु.खतत्त्वका बन्धमें, समुदयका आस्रवमें, निरोधका मोक्षमे तथा मार्गका सवर और निर्जरामे अन्तर्भाव हो जाता है। ये आस्रव आदि जब आत्मपरिणाम रूपसे विवक्षित होते हैं तो भावास्रव आदि कहलाते है और जब पुद्गल पदार्थ-रूपसे विवक्षित होते है तब द्रव्यास्रव आदि कहे जाते है। तात्पर्य यह कि जीव और अजीव दो ही तत्त्वरूप समस्त ससार है।

§ ९० शंका—जब इन दो ही तत्त्वोने सारे ससारके पदार्थोको व्याप्त कर रखा है, इनसे भिन्न कोई भी अपनी सत्ता रख नही सकता, तब आपने इन दोके सिवाय पुण्य-पाप आस्रव आदि अन्य सात तत्त्वोका कथन क्यो किया ? आपके हिसाबसे तो ये भी उन्ही दोमे शामिल हो जायेगे।

---

१ "नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते। त जहा–जीवा अजीवा पुण्ण पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो ॥" —स्थाना० ९।६६५। २. –तत्त्वजीव. म० २। ३. –दानं युक्तिप्रधानं न स्यात् म० २। ४. सर्वसंसार–म० २।

प्रतिपादनपर [illegible] पुण्यपापानन्तर्भाव्य[illegible]। यथा च संवरनिर्जरयोर्मोक्षहेतुता. आस्रवबन्धयोः [illegible]संसारनिबन्धनत्वं, पुण्यापुण्ययोर्भेदकथनेन न [illegible] प्रतिपत्तव्यम्।

§ ३१. तत्र पुण्यं शुभाः कर्मपुद्गलाः ३। तद्विपरीतं अशुभाः पापम् ४। आस्रवन्ति कर्माण्यनेन आस्रवः कायवाङ्मनोव्यापारः, पुण्यापुण्यहेतुत्वात् [illegible] द्विविधः ५। आस्रवनिरोधः संवरः गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षादीनां [illegible]. स च द्विविधः सर्वदेशभेदात् ६।

§ ३२ योगनिमित्तं सकषायस्यात्मनः कर्मवर्गणापुद्गलैः सहैकत्वविशेषो बन्धः, स च सामान्येनैकविधोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन चतुर्धा, पुनरेकैको ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदादष्टधा, पुनरपि मत्यावरणाद्युत्तरप्रकृतिभेदादनेकविधः। अयं च तीव्रमन्दादिफलनिर्वर्तकत्वात् प्रधानं, अत एव [illegible] प्रधानत्वात् [illegible]

समाधान—[illegible] पुण्य-पाप आदिका [illegible] पुण्य और पापका स्पष्ट निर्देश कर दिया है। [illegible] आस्रव और बन्धका तथा मोक्ष और [illegible] निर्जराका स्वतन्त्र रूपसे कथन किया गया है। [illegible] कोई दोष नहीं है। आगममें जिस [illegible] संवर और निर्जराको मोक्षका कारण कहा है [illegible] पुण्य और पाप [illegible] भेद बताये हैं तथा आस्रव और बन्ध [illegible] आगमसे ही समझ लेना चाहिए।

§ ३१ शुभ—अच्छा फल देनेवाले कर्मपुद्गल पुण्य हैं, तथा बुरा फल देनेवाले कर्मपुद्गल पापरूप होते हैं। मन वचन तथा कायके जिन व्यापारोंसे, जिन द्वारोंसे कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। मन वचन कायके अच्छे व्यापार पुण्यपुद्गलोंको लाते हैं अतः वे पुण्यास्रव कहे जाते हैं तथा मन वचन कायके जो दुष्ट व्यापार बुरे पाप कर्मोंको लाते हैं उन्हें पापास्रव कहते हैं। इस प्रकार आस्रव तत्त्वके दो भेद होते हैं। [illegible] आस्रवको रोकना संवर कहलाता है। गुप्ति—मन वचन और कायकी क्रियाओंको रोकना. समिति—सावधानी पूर्वक देखभाल कर चलना खाना बोलना रखना उठाना तथा मलमूत्रका उत्सर्ग करना. धर्म—क्षमा आदि, अनुप्रेक्षा—संसारकी अनित्यता आदिका चिन्तवन करना आदिसे कर्मोंका आना बन्द हो जाता है अतः ये क्रियाएँ भी संवर कही जाती हैं। संवर आंशिक भी होता है तथा सम्पूर्ण भी। सर्वसंवरमें कर्मोंका आना बिलकुल रोक दिया जाता है तथा देशसंवरमें कुछ-कुछ कर्म रुकते हैं।

§ ३२ कषाययुक्त आत्मा अपनी मन वचन कायकी क्रियाओंसे जिन कर्मपुद्गलोंको खींचता है, उन कर्मपुद्गलोंसे आत्माके विशिष्ट संयोगको बन्ध कहते हैं। बन्धके चार भेद होते हैं—१ प्रकृतिबन्ध—कर्मपुद्गलोंमें ज्ञानको रोकनेका या दर्शनको रोकने आदिका स्वभाव पड़ना। २ स्थितिबन्ध—कर्मोंके आत्माके साथ बँधे रहनेके समयकी मर्यादा। ३ अनुभागबन्ध—तीव्र मध्यम या मृदु फल देनेकी शक्ति पड़ना। ४ प्रदेशबन्ध—कर्मोंका और आत्मप्रदेशोंका दूध और

१. बन्धनत्ति—आ०, क०। २ "कायवाङ्मनःकर्म योगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।" —त० सू० ६।१-३। ३ –हेतुत्वाच्चासौ म० २। ४ "आस्रवनिरोधः संवरः।" —त० सू० ९।१। ५ "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।" —त० सू० ९।२। ६ "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"—त० सू० ८।२। ७ "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।" —त० सू० ८।३। ८. "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।" —त० सू० ८।४। ९. –णामसमुद्भूत–म० २।

णामोद्भूतस्य कर्मणः सुखदुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वात् ७। आत्मसंपृक्तकर्मनिर्जरणकारणं निर्जरा द्वादशविधतपोरूपा। सा चोत्कृष्टा शुक्लध्यानरूपा "तपसा निर्जरा च" [त०सू० ९।३] इति वचनात्, ध्यानस्य चान्तरतपोरूपत्वात् ८। विनिर्मुक्ताशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्यात्मनो लोकान्तेऽवस्थानं मोक्षः, "बन्धविप्रयोगो मोक्ष" इति वचनात् ९। एतानि नवसंख्यानि तत्त्वानि तन्मते जैनमते ज्ञातव्यानि।

§ ९३. अथ शास्त्रकार एव तत्त्वानि क्रमेण व्याख्याति, तत्र [1]यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात् प्रथमं जीवतत्त्वमाह—

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।
शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ॥ ४८ ॥
चैतन्यलक्षणो जीवो यश्चैतद्विपरीतवान्।
अजीवः स समाख्यातः पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥ ४९ ॥[2] युग्मम्

पानीकी तरह एकमेक हो जाना। प्रकृतिबन्धके १. ज्ञानावरण–ज्ञानको रोकनेवाला, २ दर्शनावरण–दर्शनको रोकनेवाला, ३ वेदनीय—सुख-दुःखका अनुभव करानेवाला, ४. मोहनीय—आत्मामे रागद्वेष मोह आदि विकार पैदा करनेवाला, ५ आयु—उमर, ६. नाम—शरीरकी रचना आदि करनेवाला, ७ गोत्र—जिसके कारण ऊँच-नीच व्यवहार होता है, ८. अन्तराय—दान लाभ भोग उपभोग तथा शक्तिसचयमे विघ्न करनेवाला, ये आठ भेद होते है। ये आठो मूल प्रकृतियाँ अपनी मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि उत्तरप्रकृतियोके भेदसे अनेक प्रकारकी होती है। इन्हीमे कुछ प्रकृतियाँ प्रशस्त—पुण्यरूप होती है तथा कुछ प्रकृतियाँ अप्रशस्त—पापरूप। जिनके उदयसे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त होते है वे पुण्यप्रकृतियाँ है। जिनसे नरक तिर्यंच आदि निन्द्य पर्याय प्राप्त होती है वे पापकर्म है। आत्माके सद्विचारोसे सद्वचन तथा सत्कर्मो से सुख देनेवाले पुण्यकर्मोका बन्ध होता है। तथा खोटे विचार, मिथ्या भाषण और दुष्कर्मोसे दुःख देनेवाले पापकर्मोका बन्ध होता है। आत्माके द्वारा पहले सचित किये हुए कर्मो को झरानेवाले कारण निर्जरा कहे जाते है। यह निर्जरा उपवास आदि बाह्य तथा प्रायश्चित्त ध्यान आदि आभ्यन्तर तपोसे होती है। तप बारह होते है, इनके द्वारा कर्म बलात् झरा दिये जाते है। शुक्लध्यान सबसे बड़ा तप है। इससे अनन्तगुणी निर्जरा होती है। "तपसे सवरके साथ ही साथ निर्जरा भी होती है" यह तत्त्वार्थसूत्रमे कहा गया है। ध्यान आभ्यन्तर तप है। समस्त कर्मबन्धनोके टूट जानेपर अपने शुद्ध स्वरूपमे लीन होना मोक्ष है। मुक्त जीव इस लोकके सबसे ऊपरी भागमें जा पहुँचते है। "बन्धका विप्र अर्थात् विशेष रूपसे तथा प्रकृष्ट रूपसे नष्ट होना मोक्ष है" ऐसा पुरातन आचार्यो का कथन है। इस प्रकार जैनमतके नव तत्त्वोका यह सक्षिप्त कथन है।

§ ९३. अब शास्त्रकार स्वय ही इन तत्त्वोका विशेष व्याख्यान करते है। 'जिस क्रमसे नाम लिये हो उसी क्रमसे व्याख्यान होना चाहिए' इस नियमके अनुसार सर्व प्रथम जीवतत्त्वका स्वरूप कहा जाता है—

जीव चैतन्य स्वरूप है। यह अपने ज्ञान दर्शन आदि गुणोसे भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है। कर्मोके अनुसार अनेक मनुष्य पशु आदिकी पर्यायें धारण करता है। अपने अच्छे और बुरे विचारोसे शुभ और अशुभ कर्मोको बाँधता है तथा उनके सुख-दुःख रूप फलोंको भोगता है, जो चेतनासे शून्य है वह अजीव है। सत्कर्मोके द्वारा लाये गये कर्मपुद्गल पुण्य कहलाते है ॥४८-४९॥

---

१. यथोद्देशस्तथा निर्देश इति म० २। २. 'युग्मं' नास्ति आ०।

§ ९४ व्याख्या—तत्रेति निर्धारणार्थः। ये ज्ञानदर्शनचारित्रसुखदुःखवीर्य[1]भव्यत्वसत्त्वप्रमेयत्व-द्रव्यत्वप्राणधारित्वक्रोधादिपरिणतत्वसंसारित्वसिद्धत्वपरवस्तुव्यावृत्तत्वादयः [2]स्वपरपर्याया जीवस्य भवन्ति, ते ज्ञानादयो धर्मा उच्यन्ते। तेभ्यो जीवो न भिन्नो नाप्यभिन्न किं तु जात्यन्तर-तया भिन्नाभिन्नः। यदि हि ज्ञानादिधर्मेभ्यो जीवो भिन्नः स्यात्, तदा 'अहं जानामि, अहं पश्यामि, अहं ज्ञाता, अहं द्रष्टा, अहं सुखितः, अहं भव्यश्च' इत्याद्यभेदप्रतिभासो न स्यात्, अस्ति च सर्वप्राणिनां सोऽभेदप्रतिभासः। तथा यद्यभिन्नः स्यात् तदा "अयं धर्मी, एते धर्मा" इति भेदबुद्धिर्न स्यात्, अस्ति च सा। अथवा अभिन्नताया ज्ञानादिसर्वधर्माणामैक्यं स्यात्, एकजीवाभिन्नत्वात्। तथा च 'मम ज्ञानं मम दर्शनं चास्ति' [3]इत्यादिज्ञानादिधर्माणां मिथोभेदप्रतीतिर्न स्यात्। अस्ति च सा। ततो ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न एवाभ्युपगन्तव्यः। अनेन धर्मधर्मिणोर्वैशेषिकाद्यभिमतं

§ ९४. श्लोकमें 'तत्र' शब्द निश्चयवाची है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, दुःख, वीर्य—शक्ति, भव्यत्व—मुक्ति पानेकी योग्यता, अभव्यत्व—मोक्ष जानेकी योग्यताका अभाव, सत्त्व—मौजूदगी, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्राणोंका धारण करना, क्रोध मान आदि रूपसे बिगड़ जाना, संसारी होना, मुक्त होना, अजीवादि पदार्थोंके स्वरूपमें नहीं मिलना, उनसे अपनी सत्ता पृथक् रखना इत्यादि अनेकों पर्यायें जीवकी होती हैं। ये पर्यायें कुछ तो स्वनिमित्तक हैं तथा कुछ परके निमित्तसे होती हैं। इन्हीं पर्यायोंको ज्ञानादि धर्म कहते हैं। ये ज्ञानादिधर्म जीवसे न तो अत्यन्त भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। किन्तु इनमें सर्वथाभिन्न तथा सर्वथा अभिन्नरूप दो अन्तिम प्रकारोंके बीचमें रहनेवाला कथंचित् भिन्नाभिन्नरूप एक तीसरा ही विलक्षण प्रकार पाया जाता है। हम चाहें कि जीवको पृथक् तथा ज्ञानादिको पृथक् कर दें तो यह पृथक्करण असम्भव है इसलिए जीवसे ज्ञान आदि अभिन्न हैं, तथा जीव धर्मी है ज्ञान धर्म है, जीव नित्य हो सकता है पर ज्ञान अनित्य है, अमुक घट ज्ञानके नष्ट हो जाने पर भी जीव नष्ट नहीं होता, जीवको 'जीव' कहते हैं जब कि ज्ञानको जीवशब्दसे नहीं कहते इत्यादि कारणोंसे जीव एक पृथक् है ज्ञान पृथक् है। अतः जीव और ज्ञान आदिका एक विलक्षण ही सम्बन्ध है। यदि जीव भिन्न हो तथा ज्ञान आदि भिन्न हों, तो 'मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं देखनेवाला हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं भव्य हूँ' इत्यादि रूपसे ज्ञान आदिसे 'मैं' आत्माका अभिन्न भान नहीं हो सकेगा। परन्तु हर एक प्राणी 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' आदि रूपसे अपने को ज्ञानादिसे अभिन्न अनुभव करता ही है। यदि ज्ञान आदिसे जीव सर्वथा अभिन्न हो, तब अभेदमें या तो जीव ही रहेगा या ज्ञानादि ही 'ये मेरे ज्ञानादि हैं, मैं ज्ञानादि गुणोंको धारनेवाला हूँ' इस तरह भेद प्रतिभास नहीं हो सकेगा। उक्त प्रयोगोंमें 'यह धर्मी है तथा ये धर्म हैं' इस प्रकार भेद प्रतिभास हो ही रहा है। जहाँ 'मेरा' प्रयोग होता है वहाँ दो वस्तुएँ होनी ही चाहिए। जहाँ अकेला अभिन्न है वहाँ 'मेरा' प्रयोग नहीं हो सकता। परन्तु 'मेरा ज्ञान, मेरा सुख' आदि ममकार सभी प्राणियोंको होते ही हैं। यदि ज्ञान आदि गुण जीवसे सर्वथा अभिन्न माने जायें, तो फिर एक आत्मासे अभिन्न होनेके कारण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणोंमें परस्पर कोई भेद ही नहीं रहेगा। परन्तु 'मेरा ज्ञान, मेरा दर्शन, मेरा सुख' इत्यादि प्रति-भासोंमें ज्ञान दर्शन आदि धर्म स्पष्ट रूपसे पृथक् ही पृथक् प्रतीत हो रहे हैं। अतः ज्ञान आदिका जीवसे कथंचित् भेदाभेद मानना ही उचित है। वैशेषिक ज्ञान आदि गुणोंको एक स्वतन्त्र पदार्थ तथा आत्माको एक स्वतन्त्र ही पदार्थ मानते हैं, यह उनका एकान्त अतिवाद है। इसी तरह बौद्ध ज्ञान आदि क्षणरूप ही आत्मा मानते हैं, अर्थात् ज्ञानादि तथा आत्मामें सर्वथा अभेद मानकर ज्ञान प्रवाहको ही आत्मा कहते हैं। बौद्धोंका भी यह एकान्त अतिवाद है। इन दोनों अतिवादोंका

1 –भव्याभव्यत्व–भ० १, भ० २, प० १, प० २, क०। 2. स्वपर्याया भ० २। 3. इत्यादि ज्ञानादि मिथो भ० १, प० १, प० २, क०। इत्यादि मिथो भ० २।

भेदैकान्तं सौगतस्वीकृतं चाभेदैकान्तं प्रतिक्षिपति, सौगतेनापि बुद्धिक्षणपरम्पराख्पस्यात्मनो धर्मित्वेन स्वीकारात्।

§ ९५. 'तथा विविधं वर्तनं विवृत्तिर्नरामरादिपर्यायान्तरानुसरणं तद्वान् विवृत्तिमान्। अनेन भवान्तरगामिनमात्मानं प्रति विप्रतिपन्नांश्चार्वाकान् कूटस्थनित्यात्मवादिनो नैयायिकादींन्निरस्यति।

§ ९६. तथा शुभाशुभानि कर्माणि करोतीति शुभाशुभकर्मकर्त्ता। तथा स्वकृतस्य कर्मणो यत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद्भोक्ता च। चकारो विशेषणानां समुच्चये। एतेन विशेषणद्वयेनाकर्त्तारमुपचरितवृत्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां साख्यानां निरासः।

§ ९७. तथा चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगात्मकं लक्षणं स्वरूपं यस्य स चैतन्यलक्षणः। एतेन जडस्वरूपो नैयायिकादिसंमत आत्मा व्यवच्छिद्यते। एवंविशेषणो जीवः समाख्यात इत्यत्रापि संबन्धनीयमिति॥

§ ९८. चार्वाकाश्चर्चयन्ति यथा—इह कायाकारपरिणतानि चेतनाकारणभूतानि भूतान्येवोपलभ्यन्ते, न पुनस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो भवान्तरयायी यथोक्तलक्षणः कश्चनाप्यात्मा, तत्सद्भावे

निराकरण करके जीव और ज्ञान आदिमे कथंचित् भेदाभेद सिद्ध करनेके लिए 'भिन्नाभिन्न' विशेषण दिया है। बौद्ध ज्ञानक्षणोके प्रवाहको आत्मा मानते है अतएव उनके मतसे भी ऐसा आत्मा धर्मी है।

§ ९५ 'विवृत्तिमान्—यह जीव अनेक प्रकारको मनुष्य देव आदि पर्यायोमे वर्तन—निवास करने वाला, इन पर्यायो रूपसे अपने स्वरूपको बदलनेवाला होता है। इस विशेषणसे आत्माको इस जन्ममे ही देहके साथ भस्म करनेवाले, उसे परलोकगामी नही माननेवाले चार्वाकोका निराकरण हो जाता है। इसी तरह आत्माको कूटस्थ—अपरिवर्तनशील सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक आदि का भी खण्डन हो जाता है।'

§ ९६. यह आत्मा अपनी अच्छी और बुरी भावनाओंसे शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोका कर्त्ता है। और 'जैसी करनी तैसी भरनी' के अनुसार उन कर्मोके अच्छे और बुरे सुख और दुःख रूपी फलोका भी स्वय ही भोक्ता है। 'च' शब्दसे कर्ता और भोक्ता दोनो विशेषणोके समुच्चय का परिज्ञान होता है। अर्थात् इन कर्ता और भोक्ता विशेषणोंसे आत्माको अकर्ता कहनेवाले तथा प्रकृति या बुद्धिके द्वारा आत्मामे उपचरित भोग माननेवाले सांख्योंके मतका निराकरण हो जाता है।

§ ९७. आत्मा चैतन्य रूप है। चैतन्य दो प्रकारका होता है—एक साकार चैतन्य—ज्ञान और दूसरा निराकार चैतन्य—दर्शन। जब चैतन्य किसी बाह्य पदार्थको जानता है उस समय वह साकार—घटादिको विषय करनेके कारण ज्ञान कहलाता है। तथा जिस समय चैतन्य किसी बाह्य अर्थके आकार न होकर निराकार—केवल चैतन्याकार ही रहता है उस समय वह दर्शन कहा जाता है। ज्ञान और दर्शन दोनो रूप उपयोग जीवका असाधारण स्वरूप है। इस विशेषणसे आत्माको स्वरूपसे जड अर्थात् ज्ञानशून्य माननेवाले नैयायिक आदिका निराकरण हो जाता है। जैनमतमे

प्रति कर्तृत्वं युक्तम् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च । प्रयोगश्चात्र—यत् खलु यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यं यथा घटो मृत्पिण्डस्य, शरीरस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति च चैतन्यम्, तस्मात्तत्कर्तृत्वम् । अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः । तौ चात्र विद्येते, सति शरीरे चैतन्योपलब्धेः, असति चानुपलब्धेः । न च मृतशरीरे चैतन्यानुपलब्धेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वमसिद्धम् इति वाच्यम्; मृतावस्थायां वायुतेजसोरभावेन शरीरस्यैवाभावात्, विशिष्टभूतसंयोगस्यैव शरीरत्वप्रतिपादनात् । न च शरीराकारमात्रे चैतन्योत्पत्तिर्युक्ता; चित्रलिखिततुरङ्गमादिष्वपि चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततः सिद्धं शरीरकार्यमेव चैतन्यम् । ततश्च चैतन्यसहिते शरीर एवाहंप्रत्ययोत्पत्तिः सिद्धा । इति न प्रत्यक्षप्रमेय आत्मा, ततश्चाविद्यमान एव । प्रयोगश्चात्र—नास्त्यात्मा, अत्यन्ताप्रत्यक्षत्वात्, यदत्यन्ताप्रत्यक्षं तन्नास्ति, तथा खपुष्पम् । यच्चास्ति तत्प्रत्यक्षेण

मान लेना चाहिए । इसलिए प्रत्यक्षसिद्ध शरीरको ही जानना देखना आदि चेतनाका कर्ता मानना चाहिए । देखो, शरीरके होने पर इन्द्रियोके द्वारा जो घट पट आदि पदार्थ जाने जाते हैं जब शरीर नष्ट हो जाता है तब जानना आदि सब बन्द हो जाते हैं । अत यह अनुमान करना विलकुल सहज है कि—शरीर ही चैतन्य—जानने आदि क्रियाओका कर्ता है क्योकि चैतन्यका शरीरके साथ ही अन्वय (होने पर होना) तथा व्यतिरेक (नही होने पर नही होना) पाया जाता है । जैसे कि मिट्टीके पिण्डके होने पर उत्पन्न होनेवाले तथा मिट्टीके पिण्डके अभावमे नही होनेवाले घडेमे मिट्टीका पिण्ड कारण माना जाता है उसी तरह चैतन्य भी शरीरके होने पर ही होता है शरीरके अभावमे कभी नही होता अतः चैतन्यका कारण भी शरीरको ही मानना चाहिए । सब जगह कार्यकारणभावकी प्रतीति अन्वय और व्यतिरेकसे ही मानी जाती है । चैतन्य और शरीरमे अन्वय और व्यतिरेक नियमित पाये जाते है ।

शंका—शरीरके मुर्दा हो जाने पर चैतन्य तो नही पाया जाता, अत: शरीर और चैतन्यका अन्वय-व्यतिरेक नियमित कैसे कहा जा सकता है ? मृत शरीरमे चैतन्यका अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध है ।[1]

समाधान—आप शरीरका अर्थ ही नही समझते । शरीरके माने है—गरमीवाला तथा श्वास आदि लेनेवाला शरीर । जब वह मुर्दा हो जाता है तब उसमे न तो गरमी ही रहती है और न श्वासरूप हवा ही अत हम उस वायु और गरमीसे शून्य मृत शरीरको शरीर ही नही कहते, वह तो केवल मिट्टीका पुतला ही रह गया है । जिसमे पृथिवी आदि भूतोका विलक्षण रासायनिक मिश्रण होता है और जब तक वह मिश्रण अपने प्रकृत रूपमे बना रहता है तभी तक वह शरीर कहा जा सकता है, मुर्दा अवस्थामे नही । 'शरीरका आकार बना है अत उसमे चैतन्यकी उत्पत्ति होनी चाहिए' यह नियम तो किसी भी तरह उचित नही कहा जा सकता, क्योकि मनुष्य या घोडे के चित्रमे भी मनुष्य और घोडेके शरीरका हूबहू जैसाका तैसा आकार मौजूद है, अत. आपके नियमानुसार तो उन चित्रोको भी बोलना चाहिए तथा जानना चाहिए, उनमे भी चैतन्यकी जागृति होनी चाहिए । अत यही मानना उचित तथा युक्तिसगत है कि—चैतन्य शरीरका कार्य है । 'पृथिवी आदि भूतोका विशिष्ट मिश्रण होनेसे बननेवाले शरीरमे ही, जब तक वह मिश्रण अपने प्रकृत रूपमे रहकर उसे शरीर बनाये रखता है तब तक चैतन्य उसके कार्यरूपमे कायम रहता है ।' अत चैतन्यविशिष्ट शरीरमे ही 'मै जानता हूँ' इस अह प्रत्ययकी उत्पत्ति माननी चाहिए । अत आत्माको अहम्प्रत्ययका विषय मानकर प्रत्यक्षसिद्ध कहना अयुक्त है । और जब आत्मा प्रत्यक्षका विषय नही हो सकती तब उसका सद्भाव नही माना जा सकता । अत हम कह सकते हैं कि—आत्मा नही है, क्योकि वह सर्वथा अप्रत्यक्ष है, जो किसी भी तरह प्रत्यक्षको प्रतिभासित

---

१ –त्व न सिद्धमिति म० २ ।

गृह्यत एव, यथा घटः। अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षा¹, किं तु घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति, न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि प्रत्यक्षभावमुपगच्छति. अतोऽत्रात्यन्तेति विशेषणमिति न परमाणुभिर्व्यभिचार इति।

§ ९९. तथा नाप्यनुमानं भूतव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रवर्तते, तस्याप्रमाणत्वात्, प्रमाणत्वे वा प्रत्यक्षबाधितपक्षप्रयोगानन्तरं प्रयुक्तत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। शरीरव्यतिरिक्तात्मपक्षो हि प्रत्यक्षेणैव बाध्यते।

§ १००. किंच लिङ्गलिङ्गिसंबन्धस्मरणपूर्वकं ह्यनुमानम्। यथा—पूर्वं महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभावमध्यक्षेण गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्कान्तारपर्वतनितम्बादौ गगनावलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतसंबन्धमनुस्मरति। तद्यथा—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमद्राक्षं यथा महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यमित्येवं लिङ्गग्रहणसंबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति। न चैवमात्मना लिङ्गिना सार्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धः सिद्धोऽस्ति, यतस्तत्संबन्धमनुस्मरतः पुनस्तल्लिङ्गदर्श-

नहीं होता वह है ही नहीं, जैसे कि आकाशका फूल। जिसका सद्भाव होता है वह प्रत्यक्षसे प्रतिभासित होता ही है जैसे कि घट। यद्यपि परमाणु प्रत्यक्षके विषय नहीं होते परन्तु जब वे मिलकर घट आदि स्थूल रूपको धारण कर लेते हैं तब उनका प्रत्यक्ष हो ही जाता है? पर आत्मा तो कभी भी किसी भी तरह प्रत्यक्षसे प्रतिभासित नहीं होता अतः कैसे इस नितान्त अप्रत्यक्ष पदार्थकी सत्ता मानी जाये। इसीलिए हमने 'अत्यन्त अप्रत्यक्ष' को हेतु बनाया है। परमाणु घट आदिकी शकलमें आकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं अतः उनसे हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता। आत्मा तो ऐसा विलक्षण है कि वह किसी भी तरह किसीको भी कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः वह है नहीं।

§ ९९. इसी तरह इन पृथिवी आदि भूतोंसे भिन्न आत्माकी अनुमानसे भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पहले तो अनुमान प्रमाण ही नहीं हो सकता। यदि प्रमाण हो भी, तो प्रत्यक्षसे बाधित आत्माको सिद्ध करनेमें हेतुकी प्रवृत्ति होनेसे वह बाधित विषय होकर कालात्ययापदिष्ट हो जायगा। शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला आत्मा तो प्रत्यक्षसे बाधित है अतः ऐसे आत्माको पक्ष बनाकर उसकी सत्ता सिद्ध करना तो अग्निमें ठण्डक सिद्ध करने के समान बाधित है।

§ १००. दूसरी बात यह है कि—हेतु और साध्यके प्रत्यक्ष आदिसे गृहीत अविनाभाव सम्बन्धकी स्मृति होने पर ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। देखो, जब पहले रसोईघर आदिमें अग्नि और धुआँका अन्वय व्यतिरेकमूलक अविनाभाव सम्बन्धको प्रत्यक्षसे ग्रहण कर लेते हैं तब बादमें किसी जंगल या पर्वतकी गुफा आकाश तक फैलनेवाले धुएँको देखकर पहले ग्रहण किये गये अविनाभावका स्मरण आ जाता है। उस समय अनुमान करनेवाला विचारता है कि रसोईघर आदिमें हमने जहाँ-जहाँ धुआँ देखा था वहाँ बराबर अग्नि थी। यहाँ भी वैसा ही धुआँ दिखाई दे रहा है अतः यहाँ भी अवश्य अग्नि होनी चाहिए। इस प्रकार प्रमाता धूमहेतुको देखकर तथा पहले ग्रहण किये गये अविनाभावका स्मरण करके अग्निका अनुमान करता है। परन्तु आत्माके साथ किसी भी हेतुका न तो पहले अविनाभाव सम्बन्ध ही प्रत्यक्षसे ग्रहण किया गया है और न उस हेतुका दर्शन ही हो रहा है जिससे उस सम्बन्धका स्मरण करके हेतुसे आत्माका अनुमान किया जा सके। यदि जीव और उसके अनुमापक किसी हेतुका अविनाभाव सम्बन्ध प्रत्यक्षसे गृहीत हो सकता हो, तो उस अवस्थामें जीवका भी प्रत्यक्ष हो ही जायगा, तब फिर

१ –क्षा बहुलधूमले–म० २।

नाज्जीवे स[1] प्रत्ययः स्यात् । यदि पुनर्जीवलिङ्गयोः प्रत्यक्षतः संबन्धसिद्धिः स्यात्, तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्त्यानुमानवैयर्थ्यं स्यात्[2] तत एव जीवसिद्धेरिति ।

§ १०१. न च वक्तव्यं सामान्यतोदृष्टानुमानादादित्यगतिवज्जीवः सिध्यति, यथा गतिमानादित्यो देशान्तरप्राप्तिदर्शनात्, देवदत्तवत् इति । यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका प्रत्यक्षेणैव निश्चिता सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम् । न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेनाविनाभूतः कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यत इत्यतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्तद्गतिरिति ।

§ १०२ तथा नाप्यागमगम्य आत्मा । अविसंवादिवचनाप्तप्रणीतत्वेन ह्यागमस्य प्रामाण्यम् । न चैवंभूतमविसंवादिवचनं कंचनाप्याप्तमुपलभामहे यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति । अनुपलम्भ (लभ) माना[2]श्च कथमात्मानं विप्रलभेमहि । किं च, आगमाश्च सर्वे परस्परविरुद्धप्ररूपिणः । ततश्च कः[3] प्रमाणं कश्चाप्रमाणमिति संदेहदावानलज्वालावलीढमेवागमस्य प्रामाण्यम् । ततश्च नागमप्रमाणादप्यात्मसिद्धिः ३ ।

अनुमानकी कोई आवश्यकता ही नही रह जाती। क्योकि जिस जीवकी सिद्धिके लिए अनुमान किया जायेगा वह जीव तो प्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो गया है। किन्तु यह सब प्रत्यक्षकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है।

§ १०१ शंका—किसी खास दृष्टान्तमे अविनाभावका ग्रहण न भी हो, तो भी सामान्यरूपसे अविनाभाव ग्रहण कर हेतुसे साध्यका अनुमान हो सकता है, जिस प्रकार कि सूर्यको एक स्थानसे दूसरे स्थानमे पहुँचा हुआ देखकर उसकी गतिका अनुमान किया जाता है—सूर्य गति करता है क्योकि वह देवदत्तकी तरह एक देशसे दूसरे देशमे पहुँच जाता है। यहाँ यद्यपि सूर्यकी गति उसके प्रखर तेजके कारण पहले कभी भी गृहीत नही हुई फिर भी देवदत्तमे सामान्यत. अविनाभाव ग्रहण करके गतिका अनुमान किया ही जाता है, उसी तरह यद्यपि आत्माका प्रत्यक्ष नही होता फिर भी कही साधारण अविनाभाव ग्रहण करके किसी हेतुसे आत्माका भी अनुमान किया जा सकता है।

समाधान—खेद है आपके तर्क पर। अरे भाई, तुम्हारी समझमे इतनी मोटी बात नही आ रही है कि—देवदत्त नामके दृष्टान्तमें 'एक देशसे दूसरे देशमे पहुँचना गतिपूर्वक है' यह व्याप्ति प्रत्यक्षसे-ही देवदत्तको चलता-फिरता देखकर ग्रहण की जाती है। और जब उक्त व्याप्ति प्रत्यक्षसे गृहीत हो जाती है तभी सूर्यको एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचा देखकर उसकी गतिका अनुमान होता है। पर यहाँ तो जीवकी सत्तासे अविनाभावसम्बन्ध रखनेवाला कोई भी हेतु कभी भी प्रत्यक्षसे उपलब्ध नही होता। अत सामान्यतोदृष्ट (जिनका अविनाभाव सामान्यरूपसे देखा गया है) लिङ्गसे भी उसका अनुमान नही किया जा सकता है।

§ १०२. आगम प्रमाणसे भी आत्माकी सिद्धि नही होती, क्योकि—अविसवादी—निर्दोष सत्य बोलनेवाले आप्तके द्वारा कहा गया ही आगम प्रमाणभूत हो सकता है। पर ससारमे कोई ऐसा सर्वथा सत्यवादी आप्त ही नही दिखाई देता 'जिसने आत्माको हथेली पर रखे हुए आँवलेकी तरह आँखोसे देखा हो, या अन्य किसी उपायसे उसका प्रत्यक्ष किया हो। जब ऐसा कोई आप्त ही नही हो रहा है तब उसके नामसे चलनेवाले आगमोमे विश्वास कर क्यो अपनेको ठगा जाये ? ससारमे सैकडो ही आगम है, और कोई किसीसे जरा भी नही मिलता, सब एक दूसरेके विरोधी है। एक पूरबकी कहता है तो दूसरा पश्चिम की। और जब 'कौन आगम प्रमाण है कौन अप्रमाण'

---

१. सत्प्रत्यय भ० २। २ –ना कथ–म० २। ३ क प्रमाणमिति सन्देह–म० २।

ज्ञेयज्ञातृज्ञानोल्लेखी प्रतिप्राणि स्वसवेद्यः प्रत्ययो जायमानः संवेद्यते । न चायं मिथ्या; बाधकाभावात् । नापि संदिग्धः; उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । न चेत्थंभूतस्यास्यानालम्बनत्वं युक्तम्; रूपादिज्ञानानामप्यनालम्बनत्वप्रसङ्गात् । नापि [1]शरीरालम्बनत्वम्; बहिःका(क)रणनिरपेक्षान्तःकरणव्यापारेणोत्पत्तेः । न खलु शरीरमित्थभूताहंप्रत्ययवेद्यम्; बहिःकरणविषयत्वात् । अतः शरीरातिरिक्तः कश्चिदेतस्यालम्बनभूतो ज्ञानवानर्थोऽभ्युपगन्तव्यः. तस्यैव ज्ञातृत्वोपपत्तेः[2] । स च जीव एवेति सिद्धः [3]स्वसंवेदनप्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा ।

§ १०७. तथा यदप्युक्तम् 'चेतनायोगेन[4] सचेतनत्वाच्छरीरस्यैवाहंप्रत्ययः' इत्यादि; तदपि प्रलापमात्रम्; यतश्चेतनायोगेऽपि स्वयं चेतनस्यैवाहंप्रत्ययोत्पादो युक्तः, न त्वचेतनस्य यथा परःसहस्रप्रदीपप्रभायोगेऽपि स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य घटस्य प्रकाशकत्वं न दृष्टं किन्तु प्रदीपस्यैव । एवं चेतनायोगेऽपि न स्वयमचेतनस्य देहस्य ज्ञातृत्वं किंत्वात्मन एवेति तस्यैव चाहंप्रत्ययोत्पादः ।

प्राणीका अनुभव हो रहा है । इसमे अनुभव करनेवाला 'मैं' शब्दका वाच्य पदार्थ ही आत्मा है । उपर्युक्त प्रतिभास निर्बाध रूपसे होता है अत मिथ्या नही कहा जा सकता । निश्चित एक कोटिको विषय करता है अत सशयरूप भी नही है । क्योकि विरुद्ध दो कोटियोमे झूलनेवाले चलित प्रतिभासको संशय कहते है । 'मै सुखको अनुभव करता हूँ' यह निर्बाध ज्ञान निर्विषय अर्थात् मात्र काल्पनिक नही कहा जा सकता, क्योकि निर्बाध ज्ञानको काल्पनिक या निर्विषय कहने पर तो 'यह घट है, यह रूप है' इत्यादि सभी ज्ञानोको निर्विषय तथा काल्पनिक कहनेका अनुचित रिवाज पड जायेगा । फिर ससारमे कोई भी ज्ञान सविषयक नही रह पायेगा । उपर्युक्त प्रत्यय शरीरको विषय करनेवाला भी नही है, क्योकि शरीरादि पदार्थोका प्रतिभास तो चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोके द्वारा होता है जब कि 'मै सुखी हूँ' इस अनुभवमे बाह्य इन्द्रियोकी तनिक भी आवश्यकता नही है, यह तो शुद्ध मनोव्यापारसे ही उत्पन्न होनेवाला मानसिक ज्ञान है । शरीर कभी भी मनमात्रसे होनेवाले 'मै सुखी हूँ' इस मानसिक अहप्रत्ययका विषय नही हो सकता । वह तो घटादि पदार्थो की तरह बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियोसे जाना जाता है । जो अचेतन है तथा बाह्य इन्द्रियोके द्वारा जाने जाते है वे कभी मानसिक अहप्रत्ययके ग्राह्य नही हो सकते । अत इस अहप्रत्ययका विषय शरीरसे भिन्न कोई ज्ञानवाला पदार्थ मानना चाहिए, जो भी ज्ञानवाला पदार्थ 'मै सुखी हूँ' इस प्रत्ययमे 'मैं' शब्दका वाच्य है वही ज्ञाता है, वही आत्मा है, वही जीव है । इस तरह मानसिक स्वसवेदनप्रत्यक्ष ही आत्माके सद्भावमे सबसे बड़ा साधक प्रमाण है ।

§ १०७ आपका यह कथन—'शरीर चेतनाके सम्बन्धसे सचेतन बनकर अहंप्रत्ययका विषय होता है', कोरी बकवास है, क्योकि पहले तो अचेतनमे चेतनका सम्बन्ध ही नही हो सकता । जो स्वय चेतन नही है वह अचेतन है, हजारो बार चेतनासे सम्बन्ध रखने पर भी चेतन नही बन सकता और न अहम्प्रत्ययका विषय ही हो सकता है । जैसे स्वय अप्रकाश रूप घडेमे हजारो दीपकोका सयोग कर दीजिए, पर वह कभी भी स्वयं प्रकाशक नही हो सकता, प्रकाशक तो स्वयं प्रकाशवाला दीपक ही हो सकता है । इसी तरह शरीरमे चेतनाका सम्बन्ध होने पर भी स्वय अचेतन शरीर कभी भी ज्ञाता या चेतन नही बन सकता । ज्ञाता या चेतन तो स्वयं चेतनावाला आत्मा ही हो सकता है और वही अहम्प्रत्ययका विषय हो सकता है ।

---

१ "न शरीरालम्बनमन्त करणव्यापारेण उत्पत्ते । तथाहि न शरीरमन्त करणपरिच्छेद्यं बहिर्विषयत्वात् ।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९१ । प्रमेयक० पृ० ११२ । २ –पत्ति म० २ । ३ स्वसवेदप्रत्यक्ष आत्मा म० २ । स्वसवेदनवेद्याहप्रत्ययोत्पादयुक्तो न त्वचेतन प्रत्यक्षलक्ष्य आत्मा क० । ४ –योगेनेत्यादि तन्न प्रकाशयोगेऽपि स्वयमप्रकाशस्वरूपस्य घटस्य प्रकाशकत्व न दृष्टं भ० २ ।

§ १०८. योऽपि 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्यादिप्रत्ययः समुल्लसति, सोऽप्यात्मोपकारकत्वेन शरीरे जायमान औपचारिक एव अत्यन्तोपकारके भृत्ये 'अहमेवायं' इति प्रत्ययवत्।

§ १०९. तथा 'शरीरस्यैव चैतन्यं प्रति कर्तृत्वम्' इत्यादि यदभ्यवादि वादिवृन्देन तदप्युन्मत्तवचनरचनामात्रमेव चेतनायाः शरीरेण सहान्वयव्यतिरेकाभावात्। मत्तमूर्च्छितप्रसुप्तानां तादृशशरीरसद्भावेऽपि न तथाविधं चैतन्यमुपलभ्यते। दृश्यते च केषांचित् कृशतरशरीराणामपि चेतनाप्रकर्षः, केषांचित् स्थूलदेहानामपि तदपकर्षः। ततो न तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि चैतन्यम्, अतो न तत्कार्यम्।

§ ११०. किंच, नहि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वे किमपि प्रमाणमुपलभामहे। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षम्, अतीन्द्रियविषये तदप्रवर्तनात्। तद्ध्युत्पन्नमनुत्पन्नं वा चैतन्यं भूतानां कार्यमिति प्रत्यक्ष-

---

§ १०८. मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ ये अहंप्रत्यय अवश्य ही शरीरके मुटापे और दुबलेपनके निमित्तसे होते हैं परन्तु ये प्रत्यय औपचारिक हैं मुख्य नहीं हैं। बात यह है कि—शरीर आत्माका अत्यन्त सगा उपकारी है अतः इस निकटतम सम्बन्धके कारण शरीरमें भी अहंप्रत्यय हो जाता है। शरीर तो इतना निकटसम्बन्धी है कि इसके बिना आत्माका जीना ही कठिन है। शरीरकी बात जाने दो जो नौकर अत्यन्त वफादार या विश्वासपात्र होता है उसमें भी लोग 'यह मैं ही हूँ' 'यह तो हमारा दाहिना हाथ है' इत्यादि व्यवहार करने लगते हैं। अतः जिस प्रकार वफादार नौकरमें होनेवाला अहंप्रत्यय मात्र व्यवहारको घनिष्टता दिखानेके लिए है वह मुख्य नहीं है उसी तरह शरीरके मुटापेसे 'मैं मोटा हूँ' यह प्रत्यय भी सहज व्यावहारिक ही है, शरीर और आत्माके निकट सम्बन्धके कारण होनेवाला है मुख्य नहीं है।

§ १०९ 'शरीर ही चैतन्यका कर्ता है' आपका यह कुत्सित कथन तो शराबीकी सनक-जैसा ही बेसिर-पैरका मालूम होता है, क्योंकि चेतनाका शरीरके साथ कोई अन्वय या व्यतिरेक नहीं है। देखो, शराबके नशेमें उन्मत्त शराबीके, मूर्च्छित व्यक्तिके या गहरी नींदमें मस्तीसे सोते हुए मनुष्यके शरीर तो जैसाका तैसा मौजूद है परन्तु चैतन्यको तो वहाँ हालत नहीं है। मत्त, मूर्च्छित आदि व्यक्तियोंमें चैतन्य तो नहींके समान ही हो जाता है। शरीरके साथ चैतन्यका अविनाभाव—अर्थात् नियत सम्बन्ध हो तो शरीर की बाढ़ या मुटापेसे चैतन्यका उत्कर्ष तथा शरीरकी दुर्बलतासे चैतन्यकी हानि देखी जानी चाहिए। परन्तु बहुतसे दुर्बल शरीरवाले अत्यन्त बुद्धिशाली उत्कृष्ट चैतन्य वाले देखे जाते हैं और बहुत-से मोटे शरीरवाले पहलवान् महालण्ठ मूर्ख शिरोमणि देखे जाते हैं। अतः शरीरके साथ चेतनाका अन्वयव्यतिरेक न होनेसे चैतन्यको शरीरका कार्य नहीं कह सकते।

§ ११०. 'पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है' आपके इस विचित्र सिद्धान्तको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। देखिए—प्रत्यक्ष तो चैतन्यको भूतोंका कार्य नहीं साध सकता, क्योंकि प्रत्यक्षकी दौड़ तो सामने रखे हुए योग्य स्थूल पदार्थों तक ही है, चैतन्य तो स्वभावतः अमूर्त होनेसे उसकी दौड़के बाहर है। प्रत्यक्षकी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह अमूर्त पदार्थोंको भी जान सके। अतीन्द्रिय पदार्थ उसकी सीमाके बाहर हैं; वह उनमें प्रवृत्ति

---

१. "मदीयो भृत्य इति ज्ञानवन्मदीयं शरीरमिति भेदप्रत्ययदर्शनात् भृत्यवदेव शरीरेऽप्यहमिति ज्ञानस्य औपचारिकत्वमेव युक्तम्। उपचारस्तु निमित्तं विना न प्रवर्तते इत्यात्मोपकारकत्वं निमित्तं कल्प्यते।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९१। न्यायकुमु० पृ० ३४९। सन्मति० टी० पृ० ८६। प्रमेयक० पृ० ११२। २. "व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।" —ब्रह्मसू० ३।३।५४। तत्त्वसं० पं० पृ० ५२५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०। "भूत-चैतन्ययोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः।" —न्यायकुमु० पृ० ३४४। ३. ततोऽनदन्व—म० २। ४. प्रत्यक्षं व्यापार म० १, म० २, प० १, प० २।

व्यापारमुपैति, 'तस्य स्वयोग्यसंनिहितार्थग्रहणरूपत्वात्, चैतन्यस्य चामूर्त्तत्वेन तदयोग्यत्वात् । न च 'भूतानामहं कार्यम्' इत्येवमात्मविषयं भूतकार्यत्वं प्रत्यक्षमवगन्तुमलम्, कार्यकारणभावस्यान्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् । न च भूतचैतन्यातिरिक्तः[2] कश्चिदन्वयी तदुभयान्वयव्यतिरेकज्ञाताभ्युपगम्यते, आत्मसिद्धिप्रसङ्गात् ।

§ १११. तथा नानुमानेनापि चैतन्यस्य भूतकार्यत्वं प्रतीयते, तस्यानभ्युपगमात्, "प्रत्यक्षमेवैक प्रमाण नान्यत्" [ ] इति वचनात् । अभ्युपगमेऽपि न ततो विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धिः ।

§ ११२. ननु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं समुत्पद्यते, तद्भाव एव चैतन्यभावात्, मद्याङ्गेभ्यो [4]'मदशक्तिवत्' इत्याद्यनुमानाद्भवत्येव चैतन्यस्य भूतकार्यत्वसिद्धिरिति चेत्; न; तद्भाव एव तद्भावादिति हेतोरनैकान्तिकत्वात्, मृतावस्थायां तद्भावेऽपि चैतन्यस्याभावात् ।

§ ११३. स्यादेतत्, पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतचतुष्टयसमुदायजन्यं हि चैतन्यम्, न च मृत-

---

नही कर सकता । चैतन्य उत्पन्न हो या अनुत्पन्न, वह किसी भी हालतमे उसमे प्रत्यक्षका व्यापार नही हो सकता । क्योकि प्रत्यक्ष योग्य और सन्निहित पदार्थोको ही विषय करता है । किन्तु चैतन्य अमूर्ति होनेसे योग्य ही नही है । स्वय प्रत्यक्ष 'मै भूतोसे उत्पन्न हुआ हूँ' इस अपनी ही भूतकार्यता को नही जान सकता, क्योकि कार्यकारणभावके जानने का सीधा और सरल मार्ग है अन्वयव्यतिरेक मिलाना । भूत और चैतन्यको छोड कर कोई तीसरा अन्वयी पदार्थ इनके कार्यकारण भावको जाननेवाला उपलब्ध ही नही होता, जो इन दोनो को जानकर इनके अन्वयव्यतिरेक को मिला सके । ऐसा ज्ञाता तो आत्मा ही हो सकता है । अत चैतन्यको भूतकार्यताका भी परिज्ञान आत्माको माने बिना नही हो सकता ।

§ १११ अनुमानको तो आप प्रमाण ही नही मानते, अत. उसके द्वारा "चैतन्य भूतोंका कार्य है' यह जानना निरर्थक ही नही है । "प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है इससे भिन्न कोई दूसरा प्रमाण नही है" यह स्वय आपका ही वचन है । आप यदि अनुमानको स्वीकार भी करोगे, तव भी उससे चैतन्यमे भूतकार्यता नही साधी जा सकती । क्योकि व्याप्तिका ग्रहण, उसका स्मरण, पहले देखे गये हेतुसे वर्तमान हेतुकी समानता मिलाना आदि ऐसी बाते है जो आत्माके ही वशकी है । अनुयायी आत्मा माने विना अनुमानका उत्पन्न होना ही कठिन है । इसके सिवाय कोई ऐसा अनुमान भी नही है जो आत्माको भूतोका कार्य सिद्ध कर सके ।

§ ११२ चार्वाक—चैतन्यको भूतोका कार्य सिद्ध करनेवाला निम्न अनुमान है–'शरीर रूपसे परिणत पृथिवी आदि भूतोसे चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योकि शरीरके होनेपर ही चैतन्यकी उपलब्धि होती है, शरीरसे नही होनेपर चैतन्य भी उपलब्ध नही होता,—जैसे महुआ आदिके सड़ानेसे उनमे मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वे शराव कहलाने लगते हैं उसी तरह इन भूतोको जव शरीरके रूपमे विशिष्ट मिश्रण हो कर चैतन्य उत्पन्न हो जाता है तव ये ही आत्मा कहे जाते है ।' इस अनुमानसे चैतन्यकी भूतकार्यता बखूबी साधी जा सकती है । चैतन्य पृथिवी जल, आग और हवा इन चारो भूतोका अमुक मिकदारमे मिश्रण होनेपर ही चैतन्य उत्पन्न होता है । जव शरीर मुरदा हो जाता है तव उसका वह विशिष्ट रासायनिक मिश्रण विगड जाता है, उसमे-से श्वासरूप हवा तथा गरमी आदि निकल जातो है अत यह ठीक ही है कि उसका चैतन्य समाप्त हो जाय और वह अचेतन वन जाय ।

§ ११३. जैन—आप कहते हो कि 'मुरदा शरीरमे हवा नही रही अत उसका चैतन्य खतरेमें

---

१. तन्य योग्य–म० २ । २ –तन्यादति–म० २ । ३ –कन्नोऽभ्यु–म० २ । ४ इत्याह—"मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।" —न्यायकुमु० पृ० ३४२ । प्रमेयक० पृ० ११५ । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । न्यायमं० पृ० ४३७ । "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति ।" —प्रकरणपं० पृ० १४६ ।

शरीरे वायुर्नास्ति, ततस्तदभावात्तत्र चैतन्याभाव इति न तेन व्यभिचारः इत्युच्यते—सति शुषिरे तत्र वातः सुतरां संभाव्यत एव । किं च यदि तत्र वायुर्नास्तीति चैतन्याभावः ततो बस्त्यादिभिः संपादिते वायौ तत्र चैतन्यमुपलभ्येत, न च तत्र तत्संपादितेऽपि वायौ चैतन्यमुपलभ्यते ।

§ ११४ अथ प्राणापानलक्षणवायोरभावान्न तत्र चैतन्यमिति चेत्, न, अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाभावात् प्राणापानवायोश्चैतन्यं प्रति हेतुता । यतो मरणावस्थायां प्रचुरतरदीर्घश्वासोच्छ्वाससंभवेऽपि चैतन्यस्यात्यन्तपरिक्षयः । तथा ध्यानस्तिमितलोचनस्य संवृतमनोवाक्काययोगस्य निस्तरङ्गमहोदधिकल्पस्य कस्यापि योगिनो निरुद्धप्राणापानस्यापि परमप्रकर्षप्राप्तश्चैतन्योपचयः समुपलभ्यते ।

§ ११५ अथ तेजसोऽभावात् मृतावस्थायां न चैतन्यमिति चेत् तर्हि तत्र तेजस्युपनीते सति [4]कथं न चेतनोपलभ्यते ।

§ ११६ किं च, मृतावस्थायां यदि वायुतेजसोरभावेन चैतन्याभावोऽभ्युपगम्यते, तर्हि

पड़कर अकड़ हो गया यह तो निपट व्यर्थ ही बात कही है इसमें कोई दम नहीं है क्योंकि जब शरीर भीतरसे पोला है खोखला है और नाक आदिके छेद भी हैं तब उसका अभाव तो कहा ही नहीं जा सकता । हवा तो थोड़ा भी अवकाश रहने पर साँय साँय करती है । यदि वायुके न रहनेसे आप मुर्देमें चैतन्यका अभाव कहते हैं, तो जिस समय गुदाके रास्ते नली आदिके द्वारा पेटमें खूब उसमें हवा भर दी जाये तो आपके मतसे उसमें चैतन्य आ जाना चाहिए । परन्तु इस तरह हवासे फुला देनेपर भी उसमें चैतन्यका लेश भी नहीं आता ।

§ ११४ चार्वाक—आप तो हवा शब्दको पकड़कर उसकी खालकी खाल खींचने लगे । भाई, फुटबालकी तरह मामूली हवाके भरे जानेसे थोड़े चैतन्य आता है । किन्तु जब श्वास लेने और निकालनेके क्रमसे अपने आप हवाके आने जानेका सिलसिला जारी हो तभी उसमें चैतन्य माना जा सकता है ।

जैन—श्वासोच्छ्वासके चालू रहनेका चैतन्यके साथ कोई अन्वयव्यतिरेक नहीं है और न श्वासोच्छ्वासकी वृद्धिसे चैतन्यकी बढ़ती ही देखी जाती है । देखो जब आदमी मरने लगता है तब खूब जोरसे दम फूलने लगती है परन्तु वहाँ चैतन्यकी बढ़ती तो नहीं देखी जाती, उलटे उसके अत्यन्त नाशका ही समय उपस्थित हो जाता है । तथा कोई समाधिनिष्ठ योगी जब प्राणायामके द्वारा श्वासोच्छ्वासको कतई रोक देता है तब उस मन वचनके व्यापारको निरोध करनेवाले बिना लहरोंवाले प्रशान्त महासागरकी तरह शान्त चित्तवाले आँख मूँदे हुए ध्यानावस्थ योगीके श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेपर भी चैतन्यकी परम उत्कृष्ट दशाका विकास देखा जाता है ।

§ ११५. इसी तरह गरमी निकल जानेके कारण मुर्देमें चैतन्यका अभाव कहना भी अयुक्त है, क्योंकि यदि आगके द्वारा मुरदेको खूब सेक दिया जाये उसमें पर्याप्त गरमी पहुँचा दी जाय तो आपके हिसाबसे उसमें चैतन्य आ जाना चाहिए । फिर तो ज्यों ही चिताने आग लगायी और मुरदा गरम हुआ कि खटसे उसे जी उठना चाहिए और अपने बिलखते हुए कुटुम्बियोंको सान्त्वना देने लगना चाहिए । परन्तु ऐसा कभी भी न देखा है और न सुना ही है ।

§ ११६ यदि वायु और गरमीके न होनेसे मुरदा चेतनाशून्य माना जाता है तब उसमें कुछ देर बाद ही उत्पन्न होनेवाले कीड़ोंमें चैतन्य कहाँसे आयगा । आपके हिसाबसे तो वायु और

१ न तत्र व्यभि–म० २ । २. तत्र सुतरां वात म० २ । ३ वायौ समुप–म० १, म० २, प० १, प० २ । ४ कथं चेतना नोपल –म० २ ।

मृतशरीरे कियद्वेलानन्तरं समुत्पन्नानां कृम्यादीना कथं चैतन्यम्। ततो यत्किंचिदेतत्।

§ ११७. किंच न चैतन्यं भूतमात्रकारणम्। तथा सति चैतन्यस्य भूतमात्रजन्यस्वभावत्वात् तेषामपि तज्जननस्वभावत्वात् सर्वदा सर्वत्र घटादौ पुरुषादिष्विव व्यक्तचैतन्योत्पादो भवेत्, निमित्ताविशेषात्। एवं च घटादिपुरुषयोरविशेषः स्यात्।

§ ११८. ननु 'कायाकारपरिणामप्राणापानपरिग्रहवद्भ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यमुपलभ्यते' इति वचनान्न पूर्वोक्तोऽतिप्रसङ्गदोषावकाश इति चेत्; तन्न; त्वन्मते कायाकारपरिणामस्यैवानुपपद्यमानत्वात्। तथाहि—स कायाकारपरिणामः किं पृथिव्यादिभूतमात्रनिबन्धनः, उत वस्त्वन्तरनिमित्तः उताहेतुक इति त्रयी गतिः। तत्र न तावदाद्यः पक्ष कक्षीकरणीयः पृथिव्यादिसत्तायाः सर्वत्र सद्भावात् सर्वत्रापि कायाकारपरिणामप्रसङ्गः।

§ ११९. तथाविधसाम्यादिभावसहकारिकारणवैकल्यान्न सर्वत्र तत्प्रसङ्ग इति चेत्; तन्न;

गरमी न होनेसे मुरदा शरीर इस लायक ही नहीं रहा कि वह चैतन्यको उत्पन्न कर सके। अत ये सब कुतर्क निरर्थक है केवल वाग्जाल मात्र है।

§ ११७ यदि पृथिवी आदि भूतोंमे चैतन्य उत्पन्न हो जाता हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि—चैतन्यका हर एक भूतमे उत्पन्न होनेका स्वभाव है तथा भूतोंका चैतन्यको पैदा करनेका स्वभाव है। ऐसी हालतमे घडे आदि सभी भौतिक पदार्थोंमे चैतन्यकी उत्पत्ति हो जाने से सब जीवमयी सृष्टि हो जायगी। तब घट तथा पुरुष मे कोई फर्क ही नहीं रहेगा। जिस प्रकार भूतोंमे पुरुषमे चैतन्य प्रकट होता है उसी तरह घटादिमे भी चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनी ही चाहिए। फिर तो घडा भी बोलेगा, चालेगा, फिरेगा तथा खायेगा पीयेगा।

तत्र सोऽपि तात्त्विकविभागो न वस्त्वन्तरनिमित्तः, तस्यानुपलभ्यमानत्वात्, किंतु पृथिव्यादिमात्रनिमित्तः, अहेतुकत्वेऽपि 'सर्वेषामविशेषेण भावप्रसङ्गात् पुनः सहकारिकारणवैकल्यमिति। अथ वस्त्वन्तरनिमित्त इति पक्षः तदयुक्तम्, तथाभ्युपगमे जीवसिद्धिप्रसङ्गात्। अथाहेतुकः तर्हि सदा भावादिप्रसङ्गः, 'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्' [प्र० वा० ३।३४] इति वचनात्। ततस्त्वन्मते कायाकारपरिणामः न संगच्छते। तदभावे तु दूरोत्सारितमेव प्राणापानपरिस्पन्दनमपि भूतानामिति, चैतन्यं न भूतकार्यमित्यतो जीवगुण एव चैतन्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्।

§ १२०. किंच, गुणप्रत्यक्षत्वादात्मापि गुणी प्रत्यक्ष एव। प्रयोगो यथा—प्रत्यक्ष आत्मा, स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषासंशयादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्। इह यस्य गुणाः प्रत्यक्षाः स प्रत्यक्षो दृष्टः यथा घट इति। प्रत्यक्षगुणश्च जीवः, तस्मात्प्रत्यक्षः। इत्याह पर- अनैकान्तिकोऽयं हेतुः, यत आकाशगुणः शब्दः प्रत्यक्षः, न पुनराकाशम्, तदयुक्तम्, यतो नाकाश-

जैन—आपने कहा तो है पर वह प्रामाणिक नहीं है क्योंकि भूतोंका अवान्तरजातिसे विभाग भी कोई किसी अन्य वस्तुके कारण होगी नहीं आपके मतमें तो पृथिवी, पानी, आग और हवाके सिवाय कोई पाँचवाँ पदार्थ तो है ही नहीं। यदि कोई पाँचवाँ पदार्थ इन भूतोंका अमुक मात्रामें मिश्रण कर देता है तब वही आत्मा है, जिसके सहयोगसे मिश्रणमें विशिष्टता आकर चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। यदि कोई उपनियामक पदार्थ नहीं है और इन्हीं भूतोंमें ही क्वचित् विशिष्ट मिश्रण हो जाता है तब भूतोंकी सत्ता तो हर जगह है अतः सब घटपटादि पदार्थोंमें विशिष्ट मिश्रण होकर चैतन्य प्रकट हो जाना चाहिए। यदि भूतोंका कायाकार परिणमन कोई पाँचवीं वस्तु आकर कराती है तब वही पाँचवीं वस्तु आत्मा है जो इन चार भूतोंसे विलक्षण है। यदि भूतोंका शरीररूपसे परिणमन अपना अकारण ही अपने आप जब चाहे हो जाता है तब सभी भूतोंका सदा शरीररूपसे परिणमन होना चाहिए या बिलकुल ही नहीं होना चाहिए। अहेतुक वस्तु या तो सदा रहनेवाली आकाश आदिकी तरह नित्य होती है अथवा बिलकुल ही न रहनेवाली असत् होता है जैसे खरविषाण। वह कभी होनेवाली और कभी न होनेवाली नहीं हो सकती। कहा भी है— अन्य हेतुओंकी अपेक्षा न रखनेवाला पदार्थ या तो सदा सत्-नित्य होगा या बिलकुल असत् होगा। अन्य कारणोंकी अपेक्षासे ही पदार्थ कादाचित्क—कभी-कभी होनेवाले होते हैं। अतः आपके मतमें भूतोंका शरीररूपसे परिणमन ही असम्भव है। जब शरीर ही नहीं बन सका तब उसमें श्वासोच्छ्वास का स्पन्द चलना तो दूर की ही बात है, असम्भव है। इसलिए चैतन्य किसी भी तरह भूतोंका कार्य नहीं है वह तो आत्माका ही गुण हो सकता है।

§ १२०. चूंकि ज्ञान आदि गुणोंका प्रत्यक्ष होता है अतः गुणी आत्माको भी प्रत्यक्ष मानना उचित ही है। प्रयोग—आत्मा प्रत्यक्षका विषय है क्योंकि स्मृति, जाननेकी इच्छा, कार्य करनेकी इच्छा, घूमनेकी इच्छा, संशयादि ज्ञान इत्यादि उसके गुणोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभव होता है। 'मैं स्मरण करता हूँ, मैं जानना चाहता हूँ' इत्यादि मानसिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे स्मृति आदि गुणोंका स्वरूप स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है। जिसके गुणोंका प्रत्यक्ष होता है उस गुणी का भी प्रत्यक्ष अवश्य होता है जैसे कि घटके रूप आदि गुणोंका प्रत्यक्ष होनेपर घट गुणीका प्रत्यक्ष होता प्रसिद्ध है। चूंकि जीवके ज्ञानादिगुण भी स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय होते हैं अतः आत्माका भी प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए।

शंका—वैशेषिक शब्दको आकाशका गुण मानता है। अतः वह अपनी मान्यतानुसार उक्त

---

१. -प्यविशेषेण भावात्, कुतः म० १, प० १, प० २। -प्यविशेषणभावात् म० २। २ -कार्यमतो म० २। ३ -विशेषणानां तद्गुण- म० २।

गुणः शब्दः किंतु [1]पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात्, रूपादिवत् । एतच्च पुद्गलविचारे समर्थयिष्यते ।

§ १२१. अत्राह ननु भवतु गुणानां प्रत्यक्षत्वात्तदभिन्नत्वाद्गुणिनोऽपि प्रत्यक्षत्वम् । किंतु देह एव ज्ञानादयो गुणा उपलभ्यन्ते । अतः स एव तेषां गुणी युक्तः, यथा रूपादीनां घटः । प्रयोगो यथा—ज्ञानादयो देहगुणा एव, तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्, गौरकृशस्थूलत्वादिवत् । अत्रोच्यते—प्रत्यनुमानबाधितोऽयं पक्षाभासः । तच्चेदम्—देहस्य गुणा ज्ञानादयो न भवन्ति, तस्य [2]मूर्तत्वाच्चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत् । अतः सिद्धो गुणप्रत्यक्षत्वाद्गुणी जीवोऽपि प्रत्यक्षः ।

§ १२२. ततश्चाऽहं प्रत्ययग्राह्यं प्रत्यक्षमात्मानं निह्नुवानस्य अश्रावणः शब्द इत्यादिवत् प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाभासः । तथा वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावात् नित्यः शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि । आबालगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वतः । 'नास्ति सूर्यः प्रकाशकर्त्ता'

हेतुमे व्यभिचार दिखाता है कि 'शब्द नामक आकाशके गुण का तो प्रत्यक्ष होता है परन्तु गुणी आकाश का तो प्रत्यक्ष नही होता' अत. उक्त नियम सदोप है ।

समाधान—शब्द आकाशका गुण है ही नही, वह तो पुद्गलद्रव्यका गुण है उसीका एक विशेष परिणमन है, क्योकि वह बाह्य—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ग्रहण किया जाता है । जो बाह्य इन्द्रियोके द्वारा गृहीत होते है वे पुद्गलके ही गुण है जैसे कि घडेके रूप आदि गुण । अमूर्त आकाशके गुणका तो हम लोगोको प्रत्यक्ष ही नही हो सकता । पुद्गलतत्त्वके विवेचनमे शब्दको पौद्गलिकत्व विस्तारके साथ सिद्ध करेगे ।

§ १२१. **चार्वाक**—आपका यह नियम तो ठीक है कि—'गुणोके प्रत्यक्ष होनेपर उनसे अभिन्न गुणीका भी प्रत्यक्ष होता है' पर इससे आत्माकी सिद्धि नही हो सकती, क्योकि हम ज्ञान आदिको शरीरका ही गुण मानते है । देहमे ही ज्ञान आदि गुण उपलब्ध होते है अत देह ही ज्ञानादिका आधारभूत गुणी हो सकता है जैसे रूपादि गुणोका आधारभूत घट ही रूपादिका गुणी है । प्रयोग—ज्ञान आदि देह के ही गुण है, क्योकि वे देहमे ही उपलब्ध होते है जैसे कि गोरापन, दुबलापन एव मुटापा आदि ।

जैन—आपका अनुमान प्रबल प्रतिपक्षी अनुमानके द्वारा बाधित होनेसे अपने साध्यकी सिद्धि नही कर सकता, आपका पक्ष अनुमान बाधित होनेके कारण पक्षाभास है । वह प्रतिपक्षी अनुमान यह है—ज्ञान आदि देहके गुण नही हो सकते क्योकि देह घटकी तरह मूर्त है तथा आँखोसे दिखाई देती है । यदि ज्ञान आदि देहके गुण होते तो उसके गोरे रग की तरह वे भी आँखोसे दिखाई देते ।

§ १२२ अत हमारे 'गुणोके प्रत्यक्षसे गुणीका भी प्रत्यक्ष' इस निर्दोप नियमके अनुसार आत्मा प्रत्यक्षसे सिद्ध हो ही जाता है । इस प्रकार 'मै सुखी हूँ' इत्यादि अहम्प्रत्यय रूप मानस-प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध आत्माको लोप करनेके लिए 'आत्मा नही है' यह पक्ष करना स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष-विरुद्ध नामका पक्षाभास है । जैसे कोई कानसे सुनाई देनेवाले शब्दको अश्रावण सिद्ध करनेका विफल एव प्रत्यक्षविरुद्ध प्रयास करता है ठीक उसी तरह खण्डन करनेवालेको भी 'मै' रूपसे प्रतिभासित होनेवाली आत्माका लोप करना सरासर आँखोमे धूल झोकना है । इसी तरह जब आगे कहे जानेवाले अनेको अनुमान आत्माकी सत्ताको डटकर सिद्ध करते है तब 'आत्मा नही है' यह अनुमान प्रतिपक्षी अनुमानसे बाधित है । 'जैसे 'शब्द नित्य है' यह पक्ष 'शब्द अनित्य है क्योकि वह उच्चारणके बाद उत्पन्न होता है' इस प्रतिपक्षी अनुमानसे बाधित है । ससारमे बच्चेसे लेकर मूर्खसे मूर्ख ग्वाले तथा स्त्रियाँ आदि भी जिस आत्माका प्रत्यक्षसे सदा अनुभव करती है,

---

१ पुद्गल ऐन्द्रिय–म० २ । २ मूर्तत्वात् घट–म० २ ।

इत्यादिवल्लोकविरोधः। 'अहं नाहं' चेति वदतः 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत् स्ववचनविरोधश्च। तथा प्रतिपादितयुक्त्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वादत्यन्ताप्रत्यक्षत्वादिति हेतुरप्रसिद्ध इति स्थितम्।

§ १२३ तथा अनुमानगम्योऽप्यात्मा। तानि चामूनि—जीवच्छरीरं प्रयत्नवताधिष्ठितम्, इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात्[1], रथवत्[2]। श्रोत्रादीन्युपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोज्यानि, करणत्वात्, वास्यादिवत्[3]। देहस्यास्ति विधाता, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत्। यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाभ्रविकारः। स स्वदेहस्य कर्ता स जीवः। प्रतिनियता-

जिसे एक क्षण भी भुलाना कठिन है उस प्रतीयमान आत्माका लोप करना तो ऐसा ही है जैसे कोई 'सूर्य प्रकाश नहीं करता' यह कहकर समस्तको प्रकाशित करनेवाले सूर्यका लोप करनेका हास्यास्पद प्रयत्न करे। इस तरह लोकप्रसिद्ध आत्माका लोप करनेवाला हेतु लोकविरोधी होनेसे अकिंचित्कर हेत्वाभास है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी माँको वन्ध्या कहकर अपने वचनका स्वयं विरोधी बन जाता है उसी तरह 'मैं आत्माका खण्डन करता हूँ' इस प्रकार आत्माका खण्डन करनेवाला चार्वाक भी 'मैं' रूपसे आत्माको अनुभव करके भी उसकी ओरसे आँखें मूँद लेता है और उसके खण्डन करनेका असफल प्रयत्न करनेकी धुनमें स्ववचन विरोधको भी नहीं देखता। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'मैं, मैं नहीं हूँ'। यह आत्मा तो इतनी प्रसिद्ध और इस तरह है कि उसके खण्डन करनेवालेको स्वयं ही 'मैं खण्डन करता हूँ' इस 'मैं' के रूपमें उसका अनुभव हो ही जाता है। इस प्रकार जब पूर्वोक्त युक्तियोंसे 'आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है' यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है तब उसे अत्यन्त अप्रत्यक्ष कहना सहज दुराग्रह ही है। अतः आत्माको अत्यन्त अप्रत्यक्ष कहना असिद्ध है।

§ १२३ निम्नलिखित अनुमानोंसे भी आत्माकी सिद्धि होती है—

१ यह चलता-फिरता जीवित शरीर किसी प्रयत्न करनेवाले—प्रेरणा देनेवालेके द्वारा परिचालित होता है, क्योंकि यह इच्छानुसार क्रिया करता है। जैसे रथ हाँकनेवालेकी इच्छानुसार चलता है तो उसको हाँकनेवाला कोई न कोई अवश्य है, उसी तरह यह शरीर भी व्यवस्थित रूपसे इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है—खानेवाला खाना चाहता है तो यह खाने लगता है, जाना चाहता है तो जाने लगता है। अतः यह सिद्ध होता है कि इस शरीररूपी यन्त्रको चलानेवाला कोई ड्राइवर—चालक अवश्य है, यही चालक आत्मा है।

२ ज्ञानमें कारणभूत श्रोत्र आदि उपकरण किसीके द्वारा प्रेरित होकर ही अपनी सुनना देखना आदि क्रियाएँ करते हैं, क्योंकि वे क्रियाके साधन हैं जैसे कि बसूला। जैसे—'बढ़ई बसूलेसे लकडी काटता है' यहाँ काटने रूप क्रियाका करण—जरिया बसूला बढ़ईके द्वारा प्रेरित होकर ही लकडी काटनेमें प्रवृत्त होता है, उसी तरह 'मैं आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ' यहाँ देखने और सुनने रूप क्रियाके करण—जरिये द्वारभूत आँख और कान भी देखने और सुननेवालेके द्वारा प्रेरित होकर ही देखते और सुनते हैं। इस तरह इन इन्द्रियरूपी झरोखोंसे पदार्थको देखने-सुनने वाला आत्मा है।

---

१ –श्रयत्वात् घटवत् भ० २। २ 'यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति।" —सर्वार्थसि० ५।१९। "रथकर्मणा सारथिवत् प्रयत्नवान् विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते प्राणादिभिश्चेति।" —प्रश० भा० पृ० ६९। "जीवच्छरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितम् इच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वात् रथवत्।" —प्रश० व्यो० पृ० ४०२। न्यायकुमु० पृ० ३४९। ३ "करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिः समधिगमः क्रियते वास्यादीनां करणानां कर्तृप्रयोज्यत्वदर्शनात्।" —प्रश० भा० पृ० ६०। "श्रोत्रादीनि करणानि कर्तृप्रयोज्यानि करणत्वात् वास्यादिवत्।" —प्रश० व्यो० पृ० ३९३। न्यायकुमु० पृ० ३४९। प्रमेयक० पृ० ११२।

कारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चिद्विधातेति तैरनैकान्तिको हेतुः स्यात्, अतस्तद्व्य[१]वच्छेदार्थमादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यम्। तथेन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता, करणत्वात्, यथा दण्डचक्रादीनां कुलालः. विद्यमानभोक्तृकं शरीरं भोग्यत्वात्, भोजनवत्। यश्च भोक्ता स जीवः।

§ १२४. अथ साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धा एवैते[२] हेतवः। तथाहि घटादीनां कर्त्रादिरूपाः कुम्भकारादयो मूर्त्ता अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा इति। अतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति। एतद्विपरीतश्च जीव इष्ट इति। अतः साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धत्वं हेतूनामिति चेत्; न, [३]यतः खलु संसारिणो जीवस्याष्टकर्मपुद्गलवेष्टितत्वेन सशरीरत्वात् [४]कथंचिन्मूर्त्तत्वान्नायं दोषः।

§ १२५. तथा [५]रूपादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात्, रूपादिवत्। तथा [६]ज्ञानसुखादिकमुपा-

---

२. इस देहका कोई बनानेवाला है क्योंकि यह अमुक आकारका है तथा इसकी शुरुआत हुई है, जैसे कि किसी अमुक आकारमें किसी खास समयमें उत्पन्न होनेवाला घड़ा। जिसका कोई बनानेवाला नहीं होता वह अमुक आकारमें उत्पन्न भी नहीं होता जैसे कि अनियत आकारमें सदा रहनेवाले बादल। यद्यपि मेरुपर्वत आदिका भी निश्चित आकार पाया जाता है फिर भी उसकी शुरुआत नहीं है वह अनादि है अतः उसका रचयिता भी कोई नहीं है। इसलिए मेरुपर्वत आदिमें व्यभिचार वारण करनेके लिए ही 'आदिमान्' विशेषण दिया है। इस आदिमान् तथा अमुक शकलवाले शरीरका जो भी बनानेवाला है वही आत्मा है।

दानकारणपूर्वकं कार्यत्वात्, घटादिवत् । न च शरीरे तदाश्रितत्वस्य तदुपादानत्वस्य चेष्टत्वात् सिद्धसाधनमित्यभिधातव्यम्, तत्र तदाश्रितत्वतदुपादानत्वयोः प्राक् प्रतिव्यूढत्वात् । तथा प्रतिपक्षवत्यम् अजीवशब्दः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदप्रतिषेधात्[3] । यत्र व्युत्पत्तिमतः शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान्[2] यथा अघटो घटप्रतिपक्षवान् । अत्र हि अघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेधः । अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भाव्यम् । यस्तु न प्रतिपक्षवान्, न तत्र व्युत्पत्तिमत शुद्धपदस्य[4] प्रतिषेध, यथा अखरविषाणशब्द अडित्थ[6] इति वा । अखरविषाणमित्यत्र खरविषाणलक्षणस्याशुद्धस्य सामासिकस्य पदस्य निषेधः । अत्र व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि शुद्धपदत्वाभावाद्विपक्षो नास्ति । अडित्थ इत्यत्र तु व्युत्पत्तिमत्त्वाभावात् सत्यपि शुद्धपदत्वे नावश्यं डित्थलक्षण. कश्चित्पदार्थो जीववद्विपक्षभूतोऽस्तीति ।

क्योकि वे गुण हैं । जैसे रूपादि गुण घड़ेके आश्रित रहते हैं उसी तरह जिस द्रव्यमें ज्ञानादिगुण रहते हो वही आत्मा है । गुण निराधार नहीं रह सकते । उनका कोई न कोई आश्रय होना ही चाहिए ।

७ ज्ञान सुख आदि कार्योंका कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है क्योकि ये कार्य हैं । जिस प्रकार घडा कार्य है अत. उसका उपादान कारण—(जो स्वयं कार्य बन जाता है) मिट्टीका पिण्ड भी मौजूद है उसी तरह ज्ञान सुख आदिका जो उपादान कारण है जो स्वयं ज्ञानी और सुखी बनता है वही आत्मा है ।

शंका—ज्ञान आदि गुणोंका आश्रय शरीर ही है तथा इनका उपादानकारण भी शरीर ही होता है । अतः आपके अनुमानोंसे हम शरीरकी सिद्धि मान लेगे । इसी तरह सिद्धसाधन—जिन्हे प्रतिवादी स्वीकार करता है उन सिद्ध पदार्थोंको साधना—होनेसे आपके अनुमान निरर्थक है ।

समाधान—हम पहले ही शरीरमें ज्ञानादि गुणोंके रहनेका तथा शरीरको ज्ञानादिके प्रति कारण होनेका खण्डन कर आये हैं । अत. इन अनुमानोंसे शरीरकी सिद्धिका मनसूबा नही बाँधा जा सकता और न सिद्धसाधन ही कहा जा सकता है । अत. इनसे ज्ञानादिगुणोंके आश्रय तथा उपादानभूत आत्माकी सिद्धि होती ही है ।

८ अजीवका प्रतिपक्षी जीव अवश्य है, क्योंकि 'न जीव. अजीव.' इस निषेधवाची अजीव शब्दने व्युत्पत्तिसिद्ध (व्याकरणके नियमानुसार प्रकृति प्रत्ययसे बने हुए जीवतीति जीव) तथा शुद्ध अखण्ड जीव पदका निषेध किया गया है । जिस निषेधात्मक शब्दने व्युत्पत्तिवाले शुद्ध पदका निषेध होता है उसका प्रतिपक्षी अवश्य होता है जैसे निषेधात्मक अघट शब्दका प्रतिपक्षी घट अवश्य ही होता है । इस अघट शब्दमें व्युत्पत्तिवाले शुद्ध घट पद का 'न घट अघट.' रूपसे निषेध किया गया है अतः इसका उलटा घट अवश्य ही होगा । जिस निषेधात्मक शब्दका प्रतिपक्षी अर्थ न हो तो समझ लो कि वह या तो व्युत्पत्ति सिद्ध शब्दका निषेध नही करता या फिर शुद्ध-शब्दका निषेध नही करता, किन्तु किसी रूढ शब्दका या दो शब्दोके जुड़े हुए संयुक्त शब्दका निषेध करता होगा । जैसे 'अखरविषाण' शब्द खर और विषाण इन दो शब्दोसे बने हुए 'खरविषाण इस संयुक्त या अशुद्ध शब्दका निषेध करता है अत. उसका प्रतिपक्षी खरविषाण अपनी वास्तविक सत्ता नही रखता । इसी तरह अडित्थ शब्द यद्यपि अखण्ड डित्थ पदका निषेध करता है परन्तु डित्थ शब्द व्युत्पत्तिसिद्ध—यौगिक न होकर एक रूढ शब्द है । अत इसके प्रतिपक्षी डित्थका होना आवश्यक नही है । परन्तु 'अजीव' यह निषेधवाची शब्द यौगिक तथा अखण्ड जीव पदका निषेध करता है अत इसका प्रतिपक्षी जीव अवश्य ही होना चाहिए ।

---

१. "संज्ञिन प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ।" —आप्तमी० श्लो० २७ । २. यथा घट पदार्थे पक्ष—म० २ । ३ —सत्त्व घटस्य (पदस्य) प्र—आ०, —सत्त्व पदस्य निषेधो—म० २ । ४ —स्य निषेध म० १, म० २, प० १, प० २ । ५ —न सम्प्रति—म० २ । ६ —त्थ अथवा खर—म० २ ।

§ १२६. तथा स्वशरीरे स्वसंवेदनप्रत्यक्षमात्मानं साधयित्वा परशरीरेऽपि सामान्यतोदृष्टानुमानेन साध्यते। यथा परशरीरेऽप्यस्त्यात्मा, इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्, यथा स्वशरीरे। दृश्येते च परशरीर इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती, तस्मात्तत्सात्मकम्, आत्माभावे तयोरभावात्, यथा घटे इति। एतेन यदुक्तम् 'न सामान्यतोदृष्टानुमानादप्यात्मसिद्धिः' इत्यादि[2]; तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम्।

§ १२७. तथा नास्ति जीव इति योऽयं जीवनिषेधध्वनिः स [3]जीवास्तित्वनान्तरीयक एव, निषेधशब्दत्वात्। यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव। प्रयोगश्चात्र—इह यस्य निषेधः क्रियते तत्क्वचिदस्त्येव, यथा घटादिकम्। निषिध्यते च भवता 'नास्ति जीवः' इति वचनात्। तस्मादस्त्येवासौ। यच्च सर्वथा नास्ति, तस्य निषेधोऽपि न दृश्यते, यथा पञ्चभूतातिरिक्तषष्ठभूतस्येति। नन्वसतोऽपि खरविषाणादेर्निषेधदर्शनादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेत्, न; इह यत्किमपि वस्तु निषिध्यते, तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने संयोग–समवाय–सामान्य–

---

§ १२६ ९. इसी तरह अपने शरीरमे 'मैं सुखी हूँ' इस स्वसवेदन प्रत्यक्षसे आत्माका अनुभव करके दूसरेके शरीरमे भी अपने शरीरके समान धर्म देखकर सामान्यतोदृष्टानुमानसे भी आत्माकी सिद्धि की जाती है। दूसरेके शरीरमे भी आत्माका सद्भाव है, क्योकि उसमे हमारे शरीरकी तरह इष्ट पदार्थ मे प्रवृत्ति तथा अनिष्ट पदार्थसे निवृत्ति देखी जाती है। जिस प्रकार हमारा शरीर साँप काँटा आदि अनिष्ट हानिकर पदार्थोसे बचना चाहता है तथा सुन्दर भोजन आदिकी ओर झुकता है इसी तरह दूसरेका शरीर भी यही चाहता है। अत यह मानना ही चाहिए कि जिस तरह हमारे शरीरमे आत्मा है उसी तरह पर शरीरमे भी। यदि शरीरमे आत्मा न हो तो उसका अनिष्ट पदार्थोसे दूर भागना तथा इष्ट पदार्थोमे आसक्तिपूर्वक चिपकना नही हो सकेगा। देखो घडेमे आत्मा नही है तो उसपर चाहे साँप चढ जाये तो जैसा और उसमे दूध भर दो तो जैसा उसमे कोई प्रवृत्ति निवृत्ति नही देखी जाती। अत जो आपने पहले कहा था कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमानसे आत्माकी सिद्धि नही हो सकती' वह खण्डित हो गया, क्योकि अपने शरीरमे देखे गये प्रवृत्तिनिवृत्तिका आत्माके साथ सामान्य रूपसे अविनाभाव ग्रहण करके ही दूसरेके शरीरमे आत्माका अनुमान किया गया है। यही तो सामान्यतोदृष्टानुमान है।

§ १२७. तथा 'जीव नही है' यह जीवका निषेध जीवके अस्तित्वसे अविनाभाव रखता है, यह निषेध जीवके सद्भावके विना नही हो सकता, क्योकि यह निषेधात्मक प्रयोग है। जिस प्रकार 'यहाँ घडा नही है' यह घटका निषेध दूसरी जगह घडेकी मौजूदगीके विना नही हो सकता उसी प्रकार जीवका निषेध भी कही-न-कही जीवके सद्भावकी अपेक्षा रखता है, वह जीवके सद्भावके विना नही हो सकता। प्रयोग–जिसका निषेध किया जाता है वह कही-न-कही विद्यमान अवश्य होता है जैसे कि घडा आदि। 'जीव नही है'' इस रूपसे आप जीव का भी निषेध करते है। अत जीवका कही-न-कही सद्भाव अवश्य ही होना चाहिए। प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है। जो बिलकुल नही है उसका निषेध भी नही देखा जाता जैसे पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंसे भिन्न किसी छठे भूतका।

विशेष-लक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथा तदभावः प्रतिपाद्यते। यथा, नास्ति गृहे देवदत्त इत्यादिषु गृहदेवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्वथैव नास्तित्वमभिधीयते, तथा नास्ति खरविषाणमित्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते। तथा नास्त्यन्यश्चन्द्रमा इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्यचन्द्रनिषेधाच्चन्द्रमन्यत्वमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते। तथा न सन्ति घटप्रमाणानि मुक्ताफलानीत्यादिषु घटप्रमाणमात्ररूपो विशेषो मुक्ताफलानां निषिध्यते, न तु तदभावः ख्याप्यत इति। एवं नास्त्यात्मेत्यत्रापि विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र कुत्रचन येन केनचित्सह संयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यं, यथा नात्मास्मिन् वपुषीत्यादि, न तु सर्वथात्मनः सत्त्वमिति।

§ २९८. अथाह कश्चित्—ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मम त्रिलोकेश्वरत्वमपि भुवनत्रयादिभिर्निषिध्यमानत्वात्। तथा चतुर्णां संयोगादिनिषेधानां पञ्चमोऽपि प्रतिषेध्यमानोऽस्ति सर्वैव निषिध्यमानत्वात्।

§ २९९. तदयुक्तम्, त्रिलोकेश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते यथा घटप्रमाणत्वं मुक्ता-

न तु [1]सर्वथेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतायास्तवापि विद्यमानत्वात् । तथा प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभावे[2]चतुःसंख्याविशिष्टस्य सद्भावात् ।

§ १३०. ननु सर्वमप्यसंबद्धमिदम् । तथाहि—मत्त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमप्यविद्यमानमेव निवार्यते । तथा संयोगसमवायसामान्यविशेषाणामपि गृहदेवदत्तखरविषाणादिष्वसतामेव प्रतिषेध इति । अतो यन्निषिध्यते तदस्त्येवेत्येतत्कथं न प्लवत इति ।

§ १३१. अत्रोच्यते—देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवासन्तो निषिध्यन्ते । अर्थान्तरे[3] तु तेषां ते सन्त्येव । तथाहि—गृहेणैव सह देवदत्तस्य संयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण त्वारामादिना वर्तत एव । गृहस्यापि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु विद्यत एव । एवं विषाणस्यापि खर एव समवायः नास्ति, गवादावस्त्येव । सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावाच्चन्द्र[4] एव नास्ति, अर्थान्तरे तु घटादावस्त्येव । घटप्रमाणत्वमपि [5]मुक्तासु नास्ति, [6]अन्यत्र विद्यत एव । त्रिलोकेश्वरतापि भवत एव नास्ति, तीर्थंकरादावस्त्येव । पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधप्रकारेषु नास्ति, अनुत्तरविमानादावस्त्येवेत्यनया विवक्षया ब्रूमः यन्निषिध्यते तत्सामान्येन विद्यत एव । न त्वेवं

है, साधारण प्रभुताका नही । आपकी प्रभुता अपने शिष्योपर है इसको कोई नही मेटता । इसी प्रकार प्रतिषेधके प्रकारोमे पाँचवी सख्याका निषेध किया जाता है, प्रतिषेधके प्रकारोका अभाव नही किया जा रहा है । प्रतिषेधके चार प्रकार तो है ही, पाँचवाँ प्रकार उनमे नही है इतना ही निषेधका मतलब है । प्रतिषेध भी है तथा पाँचवी संख्या भी, किन्तु प्रतिषेध और पाँचवी सख्याएँ दोनोका आपसमे विशेषणविशेष्य भाव नही है ।

§ १३० शंका—आपकी उपरोक्त सभी बाते असगत तथा प्रमाण शून्य है । देखो, मेरी त्रिलोकेश्वरता का ससारमे कही भी सद्भाव नही है वह बिलकुल असत् ही है । प्रतिषेधमे भी पांचवा प्रकार कही भी नही है वह भी सर्वथा असत् ही है । अत जब इन असत् पदार्थोका निषेध किया जा रहा है तब विद्यमान पदार्थोके ही निषेधका नियम कहाँ रहा ? इसी प्रकार घर और देवदत्तका सयोग, खर और विषाणका समवाय, चन्द्रमाकी अनेकता तथा मोतीमे घटप्रमाणता नही है, बिलकुल असत् ही है फिर भी उनका निषेध किया ही जाता है । इसलिए 'जिसका निषेध होता है वह विद्यमान होता ही है' यह नियम टूट रहा है । इसे दूषित क्यो न माना जाय ?

§ १३१ समाधान—यह ठीक है कि देवदत्त आदिके सयोग आदि घर आदिसे नही है, फिर भी उनका निषेध हो जाता है । परन्तु दूसरे पदार्थोके साथ तो हैं ही वे सर्वथा असत् तो नही है । देखो देवदत्तका सयोग घरसे नही है तो न सही, पर बगीचे आदिसे तो है । घरसे सयोग न सही खटियासे तो है । देवदत्त बाहर खाटपर बैठा है या बगीचेमे बैठा है । उस समय 'देवदत्त घरमे नही है' यह प्रयोग किया जाता है, इसी तरह सीगका गधेमे समवाय नही है तो न हो, पर गाय आदिमे तो है ही । दूसरा चन्द्र न होनेके कारण इस चन्द्रमामे समानता—अनेकता भले ही न हो, पर घटे आदि पदार्थोमे अनेकता तथा समानता पायी ही जाती है । मोतीमे घटके बराबर माप नही पाया जाता तो न सही, पर—कद्दू आदि फलोमे तो पाया ही जाता है । तीन लोकोका प्रभुत्व आपमे नही है पर तीर्थकर आदिमे तो है ही । प्रतिषेधके प्रकारोमे पाँचवी सख्या न पायी जावे तो न सही परन्तु स्वर्गोके विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके अनुत्तर विमानोमे तो पायी ही जाती है । इसी अभिप्रायसे हमने कहा था कि— 'जिसका निषेध किया जाता है वह सामान्य रूपसे कही-न-कही विद्यमान रहता ही है' हम यह तो नही कहते

1 –रेश्वरता म० २ । 2 –भावचतु आ० । 3 –न्तरे तु म० २ । 4 –चन्द्राभावच्चन्द्र म० २ । 5 मुक्तास्वेव नास्ति म० २ । 6 अन्यत्र पाषाणादिष्वस्त्येव म० २ ।

प्रतिजानीमहे यद्यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्तीति येन व्यभिचारः स्यात्, एवं सत एव जीवस्य यत्र क्वापि निषेधः [1]स्यान्न पुनः सर्वत्रेति।

§ १३२. तथास्ति देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा [2]इन्द्रियोपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृ देवदत्तवत्, इति सिद्धमनुमानग्राह्य आत्मेति।

§ १३३. अनुमानग्राह्यत्वे[3] हि सिद्धे तदन्तर्भूतत्वेनागमोपमानार्थापत्तिग्राह्यतापि सिद्धा।

§ १३४. किंच 'प्रमाणपञ्चकाभावेन' इत्यादि यदप्यवादि, तदपि मदिराप्रमादिविलसित-सोदरम्; यतो [4]हिमवत्पलपरिमाणादीनां पिशाचादीनां च प्रमाणपञ्चकाभावेऽपि विद्यमानत्वादिति, अतो यत्र प्रमाणपञ्चकाभावस्तदसदेवेत्यनैकान्तिकम् इति सिद्धः प्रत्यक्षादिप्रमाणग्राह्य आत्मा।

§ १३५. स च विवृत्तिमान् परलोकयायी। तत्र चानुमानमिदम्—[5]तदहर्जातबालकस्याद्य-

कि—'जिसका जहाँ निषेध किया जाता है वह वहीं मौजूद है' यदि हम ऐसा नियम करते तो अवश्य ही दूषण आता। इसीलिए सामान्यरूपमे कहीं-न-कहीं विद्यमान जीवका किसी विशेष शरीर आदिमे निषेध किया जाता है सब जगह नहीं। इस तरह जीवका निषेध ही स्वयं जीवकी सत्ता सिद्ध करता है।

§ १३२ १० शरीर और इन्द्रिय आदिसे आत्मा भिन्न है, क्योंकि इन्द्रियोके व्यापार रुक जानेपर या अमुक इन्द्रिय आँख आदिके फूट जानेपर भी उन इन्द्रियोके द्वारा जाने गये पदार्थोंका स्मरण होता है। जिस प्रकार देवदत्तको मकानकी पाँच खिडकियोसे देखे गये पदार्थोंका खिडकियाँ बन्द कर देनेपर भी बराबर स्मरण होता है उसी तरह ज्ञानके इन इन्द्रियरूपी खिडकियोके बन्द हो जाने पर भी इनके द्वारा देखे गये पदार्थोंका स्मरण करनेवाला कोई आत्मा अवश्य है जो इन खिडकियोसे अपनी भिन्न सत्ता रखता है।

§ १३३ इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमानोसे जब आत्माकी सिद्धि भले प्रकार कर दी गयी तब आगम उपमान और अर्थापत्तिके द्वारा भी आत्माकी सिद्धि मान ही लेनी चाहिए। क्योंकि आगम आदि एक तरहसे अनुमानके ही प्रकार है। वैशेषिक और बौद्ध इन्हे अनुमानमे ही शामिल कर लेते है।

§ १३४. आपने पहले आत्माको पाँच प्रमाणोका अविषय कह कर अभाव प्रमाणका ग्राह्य बताया था। वह तो केवल किसी पुराने मदकचीकी पिनकके समान ही मालूम होता है। देखो, हिमालयका कितने रत्तो वजन है, तथा पिशाच आदिका कैसा आकार है, इन्हे हमारे पाँचो ही प्रमाण नहीं जानते फिर भी इनका अभाव तो नहीं कहा जा सकता। हिमालयका वजन रत्तियोके हिसाबमे भी आखिर कुछ-न-कुछ तो होगा ही, पिशाच आदिका भी आकार किसी-न-किसी प्रकारका होगा ही। इसलिए पाँच प्रमाणोकी अप्रवृत्ति होनेसे ही किसी वस्तुका अभाव नहीं माना जा सकता। प्रमाणपचकका अभाव व्यभिचारी होनेके कारण वस्तुके अभावको सिद्ध करनेमे किसी भी तरह समर्थ नहीं हो सकता। इस तरह आत्माकी सत्ता प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोसे निर्बाध रूपसे सिद्ध हो जाती है।

§ १३५. यह आत्मा परिवर्तनशील है, यह अनेको मनुष्यो पशु आदिकी योनियोमे जाता

१ न तु सर्वत्र म० २। २ "नेन्द्रियाणां करणत्वात् उपहतेषु विषयासान्निध्ये चानुस्मृतिदर्शनात्।" —प्रश० भा० पृ० ६९। प्रश० व्यो० पृ० ३९५। प्रमेयक० पृ० ११४। "नेन्द्रियार्थयो तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्।" —न्यायसू० ३।२।१८। ३ –त्वे सि आ०, क०। ४. हिमवत्तुल्पल–आ०, का०। ५ "पूर्वानुभूतस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः।"—न्यायसू० ३।१।१९। न्यायम० पृ० ४७०। "नास्मृतेरभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात्। तद्धि जन्मान्तरान्नाय जातमात्रेऽपि लक्ष्यते॥" —प्रमेयक० पृ० ११९। तत्त्वस० पं० पृ० ५२२।

[1]स्तन्याभिलाषः पूर्वाभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, द्वितीयदिनाद्यस्तनाभिलाषवत् । तदिदमनुमानमाद्यस्तनाभिलाषस्याभिलाषान्तरपूर्वकत्वमनुमापयदर्थापत्त्या परलोकगामिनं जीवमाक्षिपति, तज्जन्मन्यभिलाषान्तराभावादिति स्थितम् ।

§ १३६. तथा कूटस्थनित्यताप्यात्मनो[2] न घटते, यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेज्ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्, तदा प्रागिव कथमेष पदार्थपरिच्छेदकः स्यात् ? प्रतिनियतस्वरूपाऽप्रच्युतिरूपत्वात् कौटस्थ्यस्य[4] । पदार्थपरिच्छेदे तु प्रागप्रमातुः प्रमातृरूपतया परिणामात् कुत. कौटस्थ्यमिति ?

§ १३७. तथा साख्याभिमतमकर्तृत्वमप्ययुक्तम् । तथाहि—कर्त्ता आत्मा, स्वकर्मफलभोक्तृ-

है । इस देहको छोडकर परलोकमे दूसरी देह धारण करता है, परलोकको सिद्धि इस अनुमानसे की जाती है—तत्काल उत्पन्न हुए नवजात शिशुको माँके दूध पीनेकी जो इच्छा होती है, वह पहले पिये गये दूधकी इच्छापूर्वक होती है, क्योकि यह इच्छा है । जिस प्रकार उसी वालकको दूसरे दिन होनेवाली दूध पीनेकी इच्छा पहले दिनकी इच्छासे उत्पन्न हुई है उसी तरह नवजात शिशुकी सर्वप्रथम इच्छाको उत्पत्ति भी उससे पहलेकी इच्छासे माननी चाहिए । इस तरह आजकी दुग्धपानकी इच्छाकी उत्पत्ति पूर्व इच्छा पूर्वक देखकर सबसे पहले होनेवाली नवशिशु की इच्छाको भी अन्य इच्छा पूर्वक ही मानना चाहिए । अब विचार कीजिए कि—वह लडका नौ महीने तो माँके पेटमे अचेतन जैसा पडा रहा है उस समय तो उसे दूध आदि पीनेकी इच्छा हो ही नही सकती । अत गर्भमे आनेसे पहलेकी पूर्वजन्मवाली ही इच्छा नवशिशुको आज दूध पीनेकी इच्छा उत्पन्न कर रही है यह मानना ही सयुक्तिक है । क्योकि उस लड़केको उस जन्ममे तो इच्छाका होना सम्भव ही नही है, गर्भमे उस अचेतनके समान निश्चेष्ट लडकेको क्या इच्छा हो सकती है ? इच्छा तो पदार्थोका देखना उनकी सुखसाधनता आदिका स्मरण करके ही होती है सो गर्भकूपमे पडे हुए उस विचारेको पदार्थोका देखना या स्मरण आदि कभी भी सम्भव नही है । अत यह मानना होगा कि वह पूर्वजन्मसे आया है और पूर्वजन्ममे पिये गये दूधका स्मरण कर उसे आज भी दूध पीनेकी इच्छा हो रही है । उसका आज विना सिखाये-पढाये दूध पीना उसके पूर्वजन्मके अभ्यासका फल है । /

§ १(६ आत्माको कूटस्थ नित्य—जैसा का तैसा, अपरिवर्तनशील, सदा एक रूपमे रहनेवाला मानना भी युक्ति तथा अनुभवके विरुद्ध है, क्योकि यदि आत्मा जैसा पहले था वैसा ही सदा रहता हो, उसमे कभी भी कुछ भी परिवर्तन न होता हो, तो ज्ञानके उत्पन्न होने पर भी वह पहलेकी ही तरह मूर्ख ही वना रहेगा—उसमे अपनी मूर्खताको छोडकर विद्वत्ता पानेको गुजाइश तो आपने रखी ही नही, अत वह पदार्थोका परिज्ञान कैसे कर सकेगा ? यदि आत्मा ज्ञानके उत्पन्न होनेपर अपनी पहलेकी अज्ञानदशा मूर्खता छोड़कर पदार्थो के स्वरूपको यथावत् जानकर जाननेवाला वन जाता है, तव वह कूटस्थ नित्य कहाँ रहा ? उसमे तो मूर्खसे ज्ञाता वननेके रूपमे वडा भारी परिवर्तन हो गया । कूटस्थ नित्यमे से तो न कोई पहलेका स्वभाव नष्ट होता है और न उसमे किसी नये स्वभावकी उत्पत्ति ही होती है वह तो सदा एक सा रहता है । वह यदि मूर्ख है तो मूर्ख और विद्वान् है तो विद्वान् ही रहेगा । वह मूर्खसे विद्वान् हरगिज नही वन सकता ।

§ १३७. साख्य आत्माको कर्त्ता नही मानते । उनके मतसे यह करना धरना प्रकृतिका काम है पुरुप तो आराम करनेके लिए—भोगनेके लिए ही है, सो भी उस विचारी प्रकृतिपर दया करके

---

१ –स्तनाभि –म० १, म० २, प० १ । २ –नो नो म० २ । ३ –मये भवेत् म० २ । ४. कूटस्थस्य म० २ ।

त्वात्, य. स्वकर्मफलभोक्ता स कर्तापि दृष्ट यथा कृषीवलः। तथा साख्यकल्पित पुरुषो वस्तु न भवति, अकर्तृकत्वात्, खपुष्पवत्,।

§ १३८ किं चात्मा भोक्ताङ्गीक्रियते स च भुजिक्रिया करोति, न वा। [1]यदि करोति तदापराभि क्रियाभि किमपराद्धम्? [2]अथ भुजिक्रियामपि न करोति, तर्हि कथं भोक्तेति चिन्त्यम्। प्रयोगश्चात्र—ससार्यात्मा भोक्ता न भवति, अकर्तृकत्वात्, मुक्तात्मवत्। अकर्तृ-भोक्तृत्वाभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमादिदोषप्रसङ्ग.। प्रकृत्या कृत कर्म, न च तस्या फले-नाभिसबन्ध इति कृतनाश.। आत्मना च तन्न कृतम्, अथ च तत्फलेनाभिसंबन्ध इत्यकृतागम इत्यात्मन कर्तृत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

§ १३९. तथा जडस्वरूपत्वमप्यात्मनो न घटते, तद्बाधकानुमानसद्भावात्। तथाहि—अनुपयोगस्वभाव आत्मा नार्थपरिच्छेदकर्ता, अचेतनत्वात् गगनवत्। अथ चेतनासमवायात् परिच्छिनत्तीति चेत्, तर्हि यथात्मनश्चेतनासमवायात् ज्ञातृत्वं तथा घटस्यापि ज्ञातृत्वप्रसङ्ग, समवायस्य

ही उपचारसे भोक्ता बनता है। उनकी यह मान्यता भी प्रमाण शून्य है। आत्मा वस्तुत कर्मोका कर्ता है, क्योकि वह उन कर्मोके फलको भोगता है। जो अपने कर्मोके फलको भोगता है वह कर्ता भी होता है जैसे अपनी लगायी हुए खेतीको काटकर भोगनेवाला किसान। यदि साख्य पुरुषको कर्ता नही मानते, तो उनका पुरुष वस्तु ही नही बन सकेगा। साख्यके द्वारा माना गया पुरुष वस्तुसत् नहा है क्योकि वह कोई कार्य नही करता जैसे कि आकाशका फूल।

§ १३८ आप आत्माको भोक्ता मानते है। भोक्ताका अर्थ है भोग क्रियाको करनेवाला कर्ता। अब आप ही बताइए कि आपका पुरुष भोग क्रियाको करता है या नही? यदि भोग क्रिया-को करके भोक्ता बनता है तो अन्य क्रियाओने क्या अपराध किया जिससे उन्हे पुरुष नही करता। जिस प्रकार भोग क्रिया करता है उसी प्रकार अन्य क्रियाओको करके उसे सच्चा कर्ता बनना चाहिए। यदि वह निठल्ला पुरुष भोग क्रिया भी नही करता, तब उसे 'भोक्ता' कैसे कह सकते है? जो भोगक्रिया करता है वही भोक्ता कहलाता है। प्रयोग-ससारी आत्मा भोक्ता नही हो सकता क्योकि वह भोग क्रिया भी नही करता, जैसे कि मुक्त जीव। अकर्ताको भोक्ता माननेमे तो 'करे कोई और भोगे कोई' वाली बात हुई। इसमे तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम नामके भीषण दोष होगे। देखो, बेचारी प्रकृतिने तो कार्य किया सो उसे फल नही मिला वह भोगनेवाली नही हुई। यह तो स्पष्ट ही कृतनाश हे। आत्माने कुछ भी कार्य नही किया, पर उसे फल मिल रहा है। यह अकृतकी प्राप्ति है। 'करे कोई और भोगे कोई' इस दूषणसे बचनेके लिए भोगनेवाले आत्माको कर्ता मानना ही चाहिए। प्रकृति तो अचेतन है अत उसे भोगनेवाली मानना तो उचित नही है। यदि प्रकृति ही भोगनेवाली बन जाय तब पुरुष तो बिलकुल ही निरर्थक हो जायगा।

§ १३९ आत्माको जड—ज्ञानशून्य कहना भी उचित नही है, क्योकि आत्माको ज्ञानी सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है, जैसे—ज्ञानशून्य आत्मा पदार्थोको नही जान सकता, क्योकि वह आकाशको तरह अचेतन है। चेतनाके समवायसे आत्माको चेतन—ज्ञानवाला मानना भी उचित नही है, क्योकि समवाय सम्बन्ध नित्य व्यापी तथा एक है, अत जिस प्रकार अचेतन आत्मा चेतनाके समवाय से चेतन बन जाता है और ससारके पदार्थोको जाननेवाला ज्ञाता कहलाता है उसी तरह अचेतन घट भी चेतनाके समवायसे चेतन बन कर ज्ञाता कहलाने लगे। 'आत्मामे ही ज्ञानका समवाय होता है घटादिमे नही' यह नियम तब ही बन सकता है यदि आत्माको ज्ञानस्वभाव माना

१ यदा म० २। २ "भोक्तात्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधत। विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्याद्भुजौ कर्तृता कथम्॥" —आप्तपं० श्लो० ८२। ३ –कृतागमा– म० २। ४ चतन्न म० २। ५. कृत तस्य च भ० २।

[1]नित्यस्यैकस्य व्यापिनः सर्वत्राप्यविशेषादित्यत्र बहुवक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगौरवभयात्। ततश्चात्मनः पदार्थपरिच्छेदकत्वमङ्गीकुर्वाणैश्चैतन्यस्वरूपताप्यस्य गले पादिकान्यायेन प्रतिपत्तव्येति स्थितं चैतन्यलक्षणो[2] जीव इति।

§ १४०. जीवश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदान्नवविधः।

§ १४१. ननु भवतु जीवलक्षणोपेतत्वाद्द्वीन्द्रियादीनां जीवत्वं, पृथिव्यादीनां तु जीवत्वं कथं श्रद्धेयं व्यक्ततल्लिङ्गस्यानुपलब्धेरिति चेत्? सत्यम्; यद्यपि तेषु व्यक्तं जीवलिङ्गं नोपलभ्यते, [3]तथाप्यव्यक्तं तत्समुपलभ्यत एव। यथा हृत्पूरव्यतिमिश्रमदिरापानादिभिर्मूर्च्छितानां व्यक्तलिङ्गाभावेऽपि सजीवत्वमव्यक्तलिङ्गैर्व्यवह्रियते, एवं पृथिव्यादीनामपि सजीवत्वं व्यवहरणीयम्।

§ १४२. ननु मूर्च्छितेषूच्छ्वासादिकमव्यक्तं चेतनालिङ्गमस्ति, न पुनः पृथिव्यादिषु तथाविधं किंचिच्चेतनालिङ्गमस्ति, नैतदेवम्; पृथिवीकाये तावत्स्वस्वाकारावस्थितानां लवणविद्रुमोपलादीना

जाय। इस विषयको बहुत कुछ विस्तारसे कहना था परन्तु ग्रन्थके विस्तारका डर लगा है अत. इतना ही पर्याप्त है। इस तरह यदि आत्माको पदार्थोंका जाननेवाला मानना है तो उसे ज्ञानस्वभाववाला मानना ही होगा। पदार्थोंके जाननेवाले आत्माको 'गले पडे बजाये सिद्ध'के अनुसार ज्ञानस्वभावताका ढोल बजाना ही होगा। बिना ज्ञानस्वभावके वह पदार्थोंको जाननेवाला नही बन सकेगा। इतने विवेचनसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि—आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है तथा वह चैतन्यस्वभाववाला है।

§ १४०. ससारी आत्माएँ एकेन्द्रिय—एक स्पर्शन इन्द्रियवाली, द्वीन्द्रिय—स्पर्शन और जीभवाली जैसे, त्रीन्द्रिय—स्पर्शन जीभ और नाकवाली जैसे. चतुरिन्द्रिय—स्पर्शन, जीभ, नाक और आंखोंवाली जैसे, तथा पचेन्द्रिय—स्पर्शन, जीभ, नाक, आंख और कानवाली जैसे, इस तरह स्थूल रूपसे पाँच भागोंमे बाँटी जा सकती हैं। और एक स्पर्शन इन्द्रियवाली आत्माएँ पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति रूप होती हैं। इस तरह पृथिवी आदि पाँच तथा द्वीन्द्रिय आदि चार, सब मिलाकर ससारी आत्माओंके नव भेद हो जाते हैं।

§ १४१ शका—चलते-फिरते कीडे-मकोडे आदिमे तो आत्माकी बात कुछ समझमे आती है पर इन अजीव जड पृथिवी आदिको भी जीव कहना एक अजीब ही बात है। इनमे कोई भी ऐसे स्पष्ट चिह्न नही दिखाई देते जिनसे इनमे भी जीव माना जा सके।

समानजातीयाङ्कुरोत्पत्तिमत्त्वम् अर्शो मांसाङ्कुरस्येव चेतनाचिह्नमस्त्येव। अव्यक्तचेतनानां हि संभावितव्यक्तचेतनालिङ्गानां वनस्पतीनामिव चेतनाभ्युपगन्तव्या। वनस्पतेश्च चैतन्यं विशिष्टर्तुफलप्रदत्वेन स्पष्टमेव, साधयिष्यते च। ततोऽव्यक्तोपयोगादिलक्षणसद्भावात्सचित्ता पृथिवीति स्थितम्।

§ १४३. ननु च विद्रुमपाषाणादिपृथिव्याः कठिनपुद्गलात्मिकायाः कथं सचेतनत्वमिति चेत्, नैवम्, उच्यते—यथा अस्थि शरीरानुगतं सचेतनं कठिनं च दृष्टम् एवं जीवानुगतं पृथिवीशरीरमपीति।

§ १४४. अथवा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयो जीवशरीराणि छेद्यभेद्योत्क्षेप्यभोग्यघ्रेयरसनीयस्पृश्यद्रव्यत्वात्, सास्नाविषाणादिसंघातवत्। नहि पृथिव्यादीनां छेद्यत्वादि दृष्टमपह्नोतुं शक्यम्। न च पृथिव्यादीनां जीवशरीरत्वमनिष्टं साध्यते, सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीरत्वाभ्युपगमात्। जीवसहितत्वासहितत्वं च विशेषः अशस्त्रोपहतं पृथिव्यादिकं कदाचित्सचेतनं संघातत्वात्, पाणि-

प्रमाण है उसी तरह पृथिवी आदिमें भी स्वसजातीय नये अंकुर उत्पन्न करनेकी शक्ति पायी जाती है जिसके कारण नमककी खदानसे नमक निकाले जानेपर भी वह बढ़ता जाता है। समुद्रमें मूंगा उत्पन्न होता है, उसमें नित नये-नये अंकुर उत्पन्न होते हैं। आप किसी पत्थरकी खानको ध्यानसे देखिए, उसमें पत्थरके अंकुर निकलते ही हैं और पत्थर बढ़ता ही जाता है। इस तरह अपने सजातीय अंकुरोंकी उत्पत्ति करना ही सबसे बड़ा प्रमाण है जो पृथिवी आदिको सजीव सिद्ध करता है। जिस प्रकार हरी-भरी वनस्पतियाँ कोपलें फूल फल आदि निकलकर अपनी सजीवताको अपने आप कहते हैं उसी तरह जिनमें चेतनाके चिह्न प्रकट नहीं हैं ऐसे पृथिवी आदिमें यदि चेतनाका सबसे प्रबल प्रमाण सजातीय अंकुरकी उत्पत्ति करना मिलता है तो उन्हें चेतन माननेमें क्या अड़चन है? यदि वे सजीव नहीं है तो उनमें अंकुर कहाँसे निकलते हैं, वे बढ़ते क्यों हैं? आमका गर्मियोंमें फलना तथा अमुक-अमुक ऋतुओंमें अमुक वनस्पतियोंका नियमसे फूलना-फलना उनकी सजीवताका सजीव प्रमाण है। यद्यपि वनस्पतिकी सजीवता स्पष्ट है फिर भी आगे उसे अच्छी तरह सिद्ध करेंगे। अतएव अव्यक्त चैतन्य होनेसे पृथिवी सचित्त है यह सिद्ध होता है।

§ १४३. शंका—मूंगा या पत्थर आदि तो अत्यन्त कठिन हैं, वे तो पुद्गलात्मक हैं उन्हें सजीव कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—कठिन होनेसे ही किसीको निर्जीव नहीं कह सकते, देखो अपने जीवित शरीरकी ही हाड़ पत्थरसे कम कठिन नहीं है फिर भी वह सजीव है टूटनेपर बढ़ता है इसी तरह बढ़नेवाली कठिन पत्थर आदि जीवित पृथिवीको भी सचेतन मानना चाहिए।

§ १४४. पृथिवी जल आग हवा तथा पेड़ आदि जीवके शरीर हैं क्योंकि ये छेदे जाते हैं, भेदे जाते हैं, उन्हें फेंक सकते हैं, ये प्राणियोंके द्वारा भोगे जाते हैं, इन्हें सूँघते हैं, चाटते हैं, छूते हैं आदि। जैसे गायके सींग या उसके गलेमें लटकनेवाला चमड़ा आदि छेदने-भेदने छूने आदिके योग्य होनेसे जीवित प्राणीका शरीर है उसी तरह पृथिवी आदि भी। पृथिवी आदिका छेदा जाना भेदा जाना आदि तो प्रत्यक्षसे ही प्रतीत है। बड़े-बड़े पहाड़ोंको काटकर ही पत्थर लाया जाता है और बड़ी-बड़ी इमारतें बनायी जाती हैं। इस प्रत्यक्ष वस्तुका लोप नहीं किया जा सकता। पृथिवी आदिको जीवका शरीर मानना अनिष्ट नहीं है, क्योंकि संसारके समस्त पुद्गल द्रव्य शरीर होनेकी योग्यता रखते हैं। वे द्रव्यशरीर तो हैं ही। हाँ कुछ पुद्गल जीव सहित होकर सजीव शरीर रूप होते हैं तथा कुछ निर्जीव। जिस पत्थरकी खानिमें अभी तक

---

१ तन विद्रुमतस्येव म० २। २ ननु विद्रु–म० २। ३ –तनुत्वात्कठि–म० २। ४ –द्रव्यस्य शरीर–म० २, क०।

पादसंघातवत् । तदेव कदाचित्किंचिदचेतनमपि शस्त्रोपहतत्वात्, पाण्यादिवदेव, न चात्यन्तं तदचित्तमेवेति ।

§ १४५. अथ नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात्, प्रस्रवणादिवदिति चेत्; नैवम्; हेतोरसिद्धत्वात् । यथा हि—हस्तिनः शरीरं कललावस्थायामधुनोत्पन्नं[1] सद्रवं सचेतनं च दृष्टम् एवमप्कायोऽपि, यथा वाण्डके रसमात्रमसंजातावयवमनभिव्यक्तचञ्च्वादिप्रविभागं चेतनावद्दृष्टम् । एषैव चोपमा अजीवानामपि । प्रयोगश्चायम्—सचेतना आपः, शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत् । हेतोर्विशेषणोपादानात् प्रस्रवणादिव्युदासः । तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतद्रवत्वात्, अण्डकमध्यस्थितकललवदिति । इदं वा प्राग्वज्जीववच्छरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम् । सचेतना हिमादयः क्वचित्, अप्कायत्वात्, इतरोदकवदिति । तथा क्वचन चेतनावत्य आपः, खातभूमिस्वाभाविकसंभवात्,[3] दर्दुरवत् । अथवा सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, अभ्रादिविकारे स्वत

टॉकी नही लगी जिसे अभी तक काटा नही है वह खानि रूप पृथिवी सचेतन है क्योकि वह बढनेवाली शिलाओका समुदाय है जैसे हाथ पैर आदिका समुदाय । जब उसमे टॉकी लग जाती है उसे काटकर उसमे-से पत्थर निकाला जाता है तब उसी पृथिवीका, वह कटा हुआ भाग निर्जीव हो जाता है. क्योकि वह हथियारोसे काटी गयी है जैसे कटा हुआ हाथ । अत. पृथिवीको सर्वथा अचेतन नही कह सकते । हॉ जो पृथिवी बढती नही है उसे तो सचेतन हम भी नही कहते । कोई पृथिवी सचेतन होती है तथा कोई अचेतन । लोकमे भी 'यह मिट्टी मर गई' यह व्यवहार देखा जाता है । अत पृथिवीको सचेतन मानना चाहिए ।

§ १४५ **शंका**—अच्छा पृथिवीमे जीव मान लेते है, पर जलमे तो जीवके कोई भी चिह्न नही पाये जाते अत उसे सचेतन नही कह सकते जैसे कि पेशाबको ।

समाधान—देखो जब हाथीका शरीर हथिनीके गर्भमे कलल—पानी जैसा पतला रहता है, वह बहनेवाला होकर भी सचेतन है उसी तरह पानीको भी सचेतन मानना चाहिए । देखो अण्डेमे पक्षीका शरीर बिलकुल पानी जैसा प्रवाही रहता है, उस समय उसमे हाथ पैर चोच आदि कोई भी अवयव प्रकट नही होता । वह जिस प्रकार सचेतन है उसी तरह पानी भी सजीव है । जल अण्डेके भीतर रहनेवाले तरल पदार्थकी ही तरह सजीव है । प्रयोग—बिना बिलोया हुआ, अताडित जल सचेतन है, क्योकि वह शस्त्र आदिसे ताडित न होकर प्रवाही है । जिस प्रकार हाथीके स्थूल शरीरका मूल गर्भवर्ती कलल प्रवाही होकर सचेतन है उसी तरह जल भी । मूत्र आदि बहनेवाले पदार्थ मूत्राशय आदिसे ताडित होते है अत वे प्रवाही होकर भी सजीव नही है । ततः शस्त्रादिसे अताडित' विशेषणसे मूत्रादिकी व्यावृत्ति हो जाती है ।

२ जिस प्रकार अण्डेके भीतर रहनेवाला पतला बहनेवाला पदार्थ आघातसे रहित होकर बहनेवाला है अत वह सचेतन है । उसी तरह अताडित जल भी सचेतन है क्योकि वह अताड़ित होकर बहनेवाला है । बात यह है कि जिस जलको लकड़ी आदिसे मथ देते है, उसे छपछपा देते है वह जल लकड़ी आदिके प्रचण्ड अभिघातसे अचेतन हो सकता है अत हेतुमे 'अताडित' विशेषण दिया गया है । इसी तरह कोई-कोई बरफ आदि भी सचेतन होते है क्योकि वे जलकाय है जैसे कि अन्य पानी । जमीनसे स्वाभाविक रूपसे निकलनेवाला पानी सचेतन है क्योकि वह पृथिवी खोदने हो स्वाभाविक रूपसे निकलता है जैसे कि पृथिवी खोदनेपर निकलनेवाला मेंढक । बादलोंसे बरसनेवाला पानी सचेतन है, क्योकि वह बादलोंके मिल जानेसे अपने आप बरसता है जैसे कि

---

१ –त्पन्नं द्रवं चेतन आ०, प० । –त्पन्नं द्रवं सचेतनं म० १, प० १, प० २ । २ –द्व प्रा० म० २, प० १, प० २ । ३ –उद्भवा म० २ ।

एव संभूय पातात्, मत्स्यवदिति। तथा शीतकाले भृशं शीते पतति नद्यादिष्वल्पेऽल्पो वह्नौ बहुर्बहुतरे च बहुतरो य ऊष्मा संवेद्यते स जीवहेतुक एव, अल्पबहुबहुतरमिलितमनुष्यशरीरेष्वल्पबहुबहुतरोष्मवत्। [1]प्रयोगश्चायम्—शीतकाले जलेषूष्णस्पर्श उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, [2]उष्णस्पर्शत्वात्, मनुष्यशरीरोष्णस्पर्शवत्। न च जलेष्वयमुष्णस्पर्शः सहजः, 'अप्सु स्पर्श शीत एव' इति[3] वैशेषिकादिवचनात्। तथा शीतकाले शीते स्फीते निपतति प्रातस्तटाकादेः पश्चिमायां दिशि स्थित्वा यदा तटाकादिकं विलोक्यते, तदा तज्जलान्निर्गतो वाष्पसंभारो दृश्यते, सोऽपि जीवहेतुक एव। प्रयोगस्त्वित्थम्—शीतकाले जलेषु वाष्प उष्णस्पर्शवस्तुप्रभवः, वाष्पत्वात्, शीतकाले शीतलजलसिक्तमनुष्यशरीरवाष्पवत्। प्रयोगद्वयेऽपि यदेवोष्णस्पर्शस्य वाष्पस्य[4] च निमित्तमुष्णस्पर्शं वस्तु, तदेव तैजसशरीरोपेतमात्माख्यं वस्तु प्रतिपत्तव्यम्। जलेष्वन्यस्योष्णस्पर्शवाष्पयोर्निमित्तस्य वस्तुनोऽभावात्।

§ १४६. न च शीतकाल उत्कुरुडिकावकरतलगतोष्णस्पर्शेन तन्मध्य[5]निर्गतवाष्पेण च प्रकृत-

---

बादलोंसे गिरनेवाली मछलियाँ। जिस प्रकार बरसातमें बादलोंमें ही सरदी, गरमी आदिके निमित्त से मछलियाँ उत्पन्न होकर बरसती हैं उसी तरह जल भी बादलोंके विकारसे उत्पन्न होकर बरसता है अतः सचेतन है। ठण्डके दिनोंमें जब खूब सरदी पड़ती है तब छोटी तलैया या बावड़ीके थोड़े पानीमें थोड़ी गरमी, तालाबके पानीमें अधिक गरमी तथा नदी आदिके पानीमें तो और भी अधिक गरमी देखी जाती है। स्वभावसे ठण्डे पानीकी यह गरमी जीवके निमित्तसे उत्पन्न होती है। जैसे थोड़े, बहुत, या बहुत अधिक मनुष्योंकी भीड़ होनेपर मनुष्योंके अनुपातके अनुसार थोड़ी, बहुत या बहुत अधिक गर्मी जीव हेतुक ही हुआ करती है। प्रयोग—ठण्डके दिनोंमें नदी आदिके पानीका गरम रहना गरम वस्तुके सम्पर्कसे ही सम्भव है क्योंकि वह स्वभावसे ठण्डे पदार्थमें आयी हुई गरमी है। जैसे कि मनुष्योंकी भीड़ होनेसे कमरेमें होनेवाली गरमी। यह गरमी जलका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती क्योंकि वैशेषिक आदिने स्वयं ही जलको स्वभावसे ठण्डा माना है। कहा भी है—"जलमें ठण्डा ही स्पर्श है"। इसी तरह जब खूब जमकर ठण्ड पड़ रही हो, कुहरा आकाशको आच्छादित कर रहा हो तब टहलते हुए प्रातःकाल नदी आदिके पच्छिम किनारेपर पहुँचिए। वहाँ से जब आप नदी आदिकी शोभा देखेंगे तो मालूम होगा कि उसमें-से भापें उसी तरह निकल रही हैं जैसे किसी चूल्हेपर रखी हुई बटलोईसे। यह भाप भी जीवहेतुक ही है। प्रयोग—शीतकालमें नदी आदिसे निकलनेवाली भाप गरम वस्तुके सम्पर्कसे उत्पन्न होती है, क्योंकि वह भाप है। जिस प्रकार ठण्डके दिनोंमें किसी मनुष्यको ठण्डे पानीसे ही स्नान करानेपर उसके शरीरसे निकलनेवाली भाप उसके गरम शरीरके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होती है उसी तरह नदी आदिकी भापमें भी कोई-न-कोई गरम चीजका सम्बन्ध अवश्य ही है। उक्त दोनों अनुमानोंमें जलकी गरमी तथा उससे निकलनेवाली भापमें उष्ण स्पर्शवाली वस्तुके सम्बन्धको कारण बताया गया है। यह उष्ण स्पर्शवाली वस्तु यदि कोई हो सकती है तो वह है पानीमें रहनेवाला तैजस शरीरसे युक्त आत्मा। क्योंकि जल आदिमें गरमी लानेवाला या भाप निकलनेमें कारण अन्य कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता। अतः इन अनुमानोंसे पानीकी सजीवता बड़ी सरलतासे समझमें आ जाती है।

§ १४६. शंका—कूड़े-कचरेके घूरेसे भी ठण्डके दिनोंमें भाप निकलती हुई दिखाई देती है तथा उस घूरेके भीतर गरमी भी काफी रहती है, परन्तु वहाँ कोई भी उष्णस्पर्शवाली वस्तु नहीं है जिसके निमित्तसे गरमी या भाप का उत्पन्न होना समझमें आये। इसी तरह जलकी गरमी और

---

1 –श्चात्र शीत–म० २। 2. स्पर्शवत्त्वात् म० २। 3 –"अप्सु शीतता" –वैशे० सू० २।२।५। 4 –स्य निमि–म० २। 5 व्यवाष्पेन म० २।

हेत्वोर्व्यभिचारः शङ्क्यः, तयोरप्यवकरमध्योत्पन्नमृतजीवशरीरनिमित्तत्वाभ्युपगमात्।

§ १४७. ननु मृतजीवानां शरीराणि कथमुष्णस्पर्शवाष्पयोर्निमित्तीभवन्तीति चेत्? उच्यते–यथाग्निदग्धपाषाणखण्डिकासु [1]जलप्रक्षेपे विध्यातादप्यग्नेरुष्णस्पर्शवाष्पौ भवेतां तथा शीतसंयोगे सत्यप्यत्रापीति। एवमन्यत्रापि वाष्पोष्णस्पर्शयोर्निमित्तं सचित्तमचित्तं वा यथासंभवं वक्तव्यम्। इत्थमेव च शीतकाले पर्वतनितम्बस्य निकटे वृक्षादीनामधस्ताच्च य ऊष्मा संवेद्यते, सोऽपि मनुष्यवपुरूष्मवज्जीवहेतुरेवावगन्तव्यः। एवं ग्रीष्मकाले बाह्यतापेन तैजसशरीररूपाग्नेर्मन्दीभवनात् जलादिषु यः शीतलस्पर्शः[2], सोऽपि मानुषशरीरशीतलस्पर्शवज्जीवहेतुकोऽभ्युपगमनीयः, तत [3]एवंविधलक्षणभाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्कायाः।

§ १४८. यथा रात्रौ खद्योतकस्य देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविश्चकास्ति, एवमङ्गारादीनामपि[4] प्रतिविशिष्टप्रकाशादिशक्तिरनुमीयते जीवप्रयोगविशेषाविर्भावितेति। यथा वा ज्वरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्तते, एषैवोपमाग्नेयजन्तूनाम्। न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामग्नेः सचित्तता ज्ञेया। प्रयोगश्चात्र–आत्मसंयोगाविर्भूतोऽङ्गारादीनां प्रकाश-

---

भाप भी अकारण ही होगी उनमे पानीके तैजस शरीरवाले आत्माको निमित्त क्यो माना जाय?

समाधान—उस घूरेमे पैदा होकर मरनेवाले जीवोके मृतशरीर ही घूरेकी गरमी तथा भापमे कारण है।

§ १४७ **शंका**—यह तो एक अजीब ही बात आपने कही। कही मृत शरीर भी गरमी तथा भापमे कारण हो सकते है?

समाधान—जैसे आगमे तपाये गये पत्थर या ईटके टुकडोपर पानी डालनेसे गरमी तथा भाप निकलती है उसी तरह ठण्डकके समय घूरेसे भी गरमी और भाप निकलना युक्तियुक्त ही है। अत भाप तथा गरमीमे यथासम्भव कही सचेतन गरम पदार्थ और कही अचेतन गरम पदार्थ कारण होते है। इसी तरह जब अच्छी कडाकेकी सरदी पड रही हो पर्वतकी गुफाओके पास तथा पेड आदिके नीचे भी गरमी मालूम होती है। यह गरमी भी मनुष्यके शरीरकी गरमीकी तरह किसी तैजसशरीरवाले जीवसे ही उत्पन्न हुई माननी चाहिए। जिस तरह गरमीके दिनो बाहरकी गरमीके कारण शरीरके भीतरकी तैजसशरीर रूपी अग्नि मन्द पड जाती है उसी तरह बाहरकी तीव्र गरमीके कारण नदीका जल भी ठण्डा हो जाता है। गरमीके दिनोमे होनेवाली यह ठण्डक भी जीव हेतुक ही माननी चाहिए जैसे कि मनुष्यके शरीरके भीतरकी ठण्डक। इस तरह अनेक अनुमानोसे जलमे जीवकी सिद्धि की जाती है अत जलको सजीव मानना युक्ति तथा अनुभवसे प्रसिद्ध है।

§ १४८. रात्रिमे जुगुनू अपने शरीरके चमकदार परिणमनसे चमकता है, प्रकाश देता है। यह प्रकाश जीवकी शक्तिका प्रत्यक्ष फल है, इसी तरह आगके अंगार आदिमे भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकाश-शक्तियाँ पायी जाती है, इनसे भी उनमे रहनेवाले जीवका अनुमान होता है, क्योकि ये प्रकाश शक्तिया जीवके सयोगके विना नही हो सकती। जिस तरह बुखार आनेसे जीवित शरीरका अगारकी तरह गरम हो जाना जीवके संयोगका एक खास चिह्न है उसी तरह अग्निकी गरमी भी जीवके सयोगके विना नही हो सकती अत वह भी अग्नि जीवका अनुमान करानेमे प्रधान हेतु है। क्या कभी मुरदेको भी बुखारका आना सुना गया है? इस तरह अन्वय-व्यतिरेकसे अग्निकी गरमी ही अग्नि जीवोका अनुमान कराती है। प्रयोग—आगके अगार आदिमे पाया जानेवाला

---

१ जलप्रक्षेपविध्यातान्वप्यग्ने–भ० २। २ -तलः स्पर्श भ० १। ३. एवं लक्षण–भ० २। ४ –पि विशि–भ० २।

[illegible] , [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] । न [illegible] , [illegible] । [illegible] , [illegible] [illegible], [illegible] । [illegible]- [illegible] ।

§ १४९ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] न भवति, [illegible], [illegible] [illegible] । [illegible]— [illegible] , [illegible], [illegible] । [illegible]- [illegible] न [illegible] , [illegible], ' [illegible]- [illegible] " इति [illegible] । [illegible] ।

§ १५० [illegible] न [illegible]

मनुष्यशरीरसमानधर्मभाञ्जि भवन्ति । तथाहि—यथा पुरुषशरीरं बालकुमारयुववृद्धतापरिणामविशेषवत्त्वाच्चेतनावदधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतनाकमुपलभ्यते तथेदं वनस्पतिशरीरमपि, यतो जातः केतकतरुर्बालको युवा वृद्धश्च संवृत्त इति, अतः पुरुषशरीरतुल्यत्वात् सचेतनो वनस्पतिरिति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनवरतं बालकुमारयुवाद्यवस्थाविशेषैः प्रतिनियतं वर्धते, तथेदमपि वनस्पतिशरीरमङ्कुरकिसलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः प्रतिनियतं वर्धत इति । तथा यथा मनुष्यशरीरं ज्ञानेनानुगतं एवं वनस्पतिशरीरमपि, यतः शमीप्रपुन्नाटसिद्धे (द्ध) सरकासुन्दकबब्बूलागस्त्यामलकीकडिप्रभृतीना स्वापविबोधतस्तद्भाव. । तथाधोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहेणावेष्टनम् । तथा वटपिप्पलनिम्बादीनां प्रावृड्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङ्कुरोद्भेदः । तथा मत्तकामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरो. पल्लवकुसुमोद्भेदः । तथा युवत्यालिङ्गनात् पनसस्य । तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य । तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य । तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य । तथा पञ्चमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य च पुष्पविकिरणम् । तथा पद्मादीना प्रातर्विकसनं, घोषातक्यादिपुष्पाणा च सध्यायां; कुमुदादीनां तु चन्द्रोदये । तथासन्नमेघप्रवृष्टौ शम्या अवक्ष-

सजीव मानते है उनकी चेतना अत्यन्त स्पष्ट रहती है ठीक यही सब स्वभाव या परिणमन वृक्ष आदि वनस्पतियोमे पाये जाते है । 'यह केतकी पौधा लगा, बढा, जवान हुआ तथा बूढा हुआ' ये सब व्यवहार वनस्पतियोमे बराबर किये जाते है अत मनुष्य शरीरकी तरह इसे भी सचेतन मानना चाहिए, क्योंकि बिना चेतन अधिष्ठाताके शरीरमे यह नियत—सिलसिलेवार परिणमन नही हो सकता। जिस तरह मनुष्यका शरीर दूजके चॉदकी तरह दिन प्रतिदिन बालकपने किशोर और किशोरसे जवानीकी बहार लेता है, तथा जवानसे बूढा होकर नियत परिणमन करता रहता है उसी प्रकार वृक्षोमे भी अकुर निकलना, छोटी-छोटी कोपलोका लहलहाना, डालियोका फूटना, फूल तथा फलोका लगना आदि अनेको क्रमिक परिणमन पाये जाते है और इन्ही सिलसिलेवार

रणम्। तथा वल्लीना वृत्त्याद्याश्रयोपसर्पणम्। तथा लज्जालुप्रभृतीना हस्तादिसस्पर्शात्पत्रसंकोचादिका परिस्फुटा क्रियोपलभ्यते। अथवा सर्ववनस्पतेर्विशिष्टर्तुष्वेव फलप्रदानं, न चैतदनन्तराभिहितं तरुसंबन्धिक्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते। तस्मात्सिद्ध चेतनावत्त्व वनस्पतेरिति।

§ १५१. तथा यथा मनुष्यशरीरं हस्तादिच्छिन्न शुष्यति, तथा तरुशरीरमपि पल्लवफलकुसुमादिच्छिन्नं [1]विशोषमुपगच्छद्दृष्टम्। न चाचेतनानामय धर्म इति। तथा यथा मनुष्यशरीरं स्तनक्षीरव्यञ्जनौदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं, एवं वनस्पतिशरीरमपि भूजलाद्याहाराभ्यवहारादाहारकम्। न चेतदाहारकत्वमचेतनाना दृष्टम्। [3]अतस्तत्सद्भावात्सचेतनत्वमिति।

§ १५२. तथा यथा मनुष्यशरीरं नियतायुष्क तथा वनस्पतिशरीरमपि नियतायुष्कम्। तथाहि—अस्य दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टमायुः। तथा यथा मनुष्यशरीरमिष्टानिष्टाहारादिप्राप्त्या वृद्धिहान्यात्मकं तथा वनस्पतिशरीरमपि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्य [4]तत्तद्रोगसपर्कांद्रोगपाण्डुत्वोदरवृद्धिशोफकृशत्वाङ्गुलिनासिकानिम्नीभवनविगलनादि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि तथाविधरोगोद्भवात्पुष्पफलपत्रत्वगाद्यन्यथाभवनपतनादि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्यौषधप्रयोगाद्वृद्धिहानिक्षतभुग्नसंरोहणानि; तथा वनस्पतिशरीरस्यापि। तथा यथा मनुष्यशरीरस्य रसायनस्नेहाद्युपयोगाद्वि-

---

रात्रिमे चन्द्रका उदय होनेपर विकसित होता है। मेघकी वृष्टिका अवसर आते ही शमीवृक्ष झडने लगता है। लताएँ योग्य आश्रयको खोजकर उनपर चढ जाती हैं। लजवन्ती आदि हाथकी अगुली दिखाते ही लजाकर मुरझा जाती हैं, उनके पत्ते सकुच जाते हैं। ये सब विशिष्ट क्रियाएँ वनस्पतिमे चैतन्यका स्पष्ट अनुमान कराती हैं। सभी वनस्पतियाँ अपनी अपनी ऋतुमे ही फल देती हैं। यह सब वनस्पतियोका विचित्र खेल ज्ञानके बिना नही हो सकता। अत वनस्पतिमे चैतन्य मानना चाहिए॥

§ १५१. देखो, यदि आदमीका हाथ कट जाय तो उसका सारा शरीर दुखी होकर म्लान हो जाता है उसी प्रकार पत्ते फूल या फलोके टूटनेसे वृक्षमे भी म्लानता—मुरझाना देखा जाता है। यदि वृक्ष अचेतन होते, तो उनमे यह सब मुरझाना, लजाना या फूलना फलना नही हो सकता था। जिस प्रकार मनुष्यका शरीर माँका दूध, शाक, भात आदिका आहार करता है उसी तरह वनस्पति शरीर भी मिट्टी पानी आदिको ग्रहण कर पुष्ट होता है। अचेतन तो भोजन—पोषक वस्तुको ग्रहण नही कर सकता। अत वनस्पतिका मनुष्य शरीरके समान आहार पाकर पुष्ट होना उसकी सचेतनताका ज्वलन्त प्रमाण है।

§ १५२ जिस तरह मनुष्यके शरीरकी आयु—उमर निश्चित है, उमर पूरी होनेपर वह निर्जीव हो जाता है उसी तरह वृक्ष भी अपनी उमर पूरी होने पर उखड जाते हैं। वृक्ष अधिकसे अधिक दश हजार वर्ष तक ठहरते हैं। जिस प्रकार इष्ट—अनुकूल भोजन मिलनेसे मनुष्यके शरीरमे ताजगी तथा बाढ देखी जाती है और प्रतिकूल भोजन मिलनेपर रोग आदि होकर शरीर क्षीण हो जाता है उसी तरह वनस्पतिमे भी अनुकूल खाद पानी मिलनेसे बाढ एव प्रतिकूल खाद आदि मिलनेसे म्लानता तथा क्षय देखा जाता है। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमे अनेक पाण्डु जलोदर आदि रोग हो जानेपर पीलापन, पेटका फूल जाना, सूजन, दुर्बलता, अगुली नाक आदिका टेढा हो जाना तथा गलकर गिर जाना आदि अनेको विकार देखे जाते हैं उसी तरह वनस्पतियोमे भी रोग हो जानेपर फूल फल पत्ते छाल आदिका पीला पड जाना, झड जाना आदि विकार बराबर होते हैं। जिस प्रकार औषधि सेवनसे मनुष्यका शरीर नीरोग होकर

---

१ विशोपमुप–भ० २, क०। २ हाराभ्यवहारक भ० २। ३ अतस्तद्भावात् भ० १, भ० २, प० १, प० २। ४ तत्तद्रोगपाडुत्वो–भ० २।

शिष्टकान्तिरसबलोपचयादि तथा वनस्पतिशरीरस्यापि विशिष्टेष्टनभोजलादिसेकाद्विशिष्टरसवीर्यस्निग्धत्वादि। तथा यथा स्त्रीशरीरस्य तथाविधदौहृदपूरणात्पुत्रादिप्रसवनं तथा वनस्पतिशरीरस्यापि तत्पूरणात्पुष्पफलादिप्रसवनमित्यादि।

§ १५३. तथा च प्रयोगः—वनस्पतयः सचेतना बालकुमारवृद्धावस्था–प्रतिनियतवृद्धि–स्वापप्रबोधस्पर्शादिहेतुकोल्लाससंकोचाश्रयोपसर्पणादिविशिष्टानेकक्रिया—छिन्नावयवम्लानि—प्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहण – वृक्षायुर्वेदाभिहितायुष्केष्टानिष्टाहारादिनिमित्तकवृद्धिहानि – आयुर्वेदोदिततत्तद्रोग–विशिष्टौषधप्रयोगसंपादितवृद्धिहानिक्षतभुग्नसंरोहण– प्रतिनियतविशिष्टशरीररसवीर्यस्निग्धत्वरूक्षत्व– विशिष्टदौहृदादिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः विशिष्टस्त्रीशरीरवत्। अथवैते हेतवः प्रत्येकं पक्षेण सह प्रयोक्तव्या अयं वा संगृहीतोक्तार्थः प्रयोगः—सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरण-

---

बढने लगता है उसके घाव आदि मलहम पट्टी करनेसे भर जाते हैं, हड्डी टूट जानेपर भी उसमे-से नये अकुर निकलकर वह फिरसे जुड जाती है.—जो हाथ-पैर टेढे हो जाते हैं वे सीधे हो जाते हैं उसी तरह वनस्पतिमे भी औषधिका सीचना या लेप करनेसे उसकी म्लानता दूर हो जाती है वह अपनी प्रकृत दशामे आकर हरी-भरी हो फलने फूलने लगती है। जिस तरह रसायनका सेवन करनेसे या घी आदि पौष्टिक पदार्थोके खानेसे मनुष्यका शरीर गुलाबकी तरह लाल होकर चमकने लगता है वह अत्यन्त ताकतवर तथा रसीला बन जाता है उसी तरह वनस्पतियाँ भी समयपर हुई अच्छी बरसातसे तथा अनुकूल खाद-पानी आदिके मिलनेसे खूब हरी-भरी हो स्वादु और पुष्ट फलोसे लद जाती है। उनके सुहावने और लुभावने फलोको देखकर जीभमे पानी आ जाता है। जिस तरह गर्भिणी स्त्रीके दोहले—इच्छाओकी पूर्ति करनेसे सुन्दर शक्तिशाली पुत्रका जन्म होता है उसी तरह बकुल आदि वनस्पतियोके सुन्दरीके पैरसे ताडित होना आदि दोहलोको पूरा करते ही उनमे फूल फल आदि हरभराकर लग आते है। इस तरह मनुष्योके शरीर तथा वनस्पतियोकी समानताका कहाँ तक वर्णन करे? इस समानतासे स्पष्ट मालूम होता है कि वनस्पतियाँ हम लोगोके शरीरकी तरह सचेतन है।

§ १५३ इस विवेचनके आधारसे हम अनुमान कर सकते है कि—वनस्पतियाँ सचेतन है, क्योकि वे अकुर पौधे तथा वृक्षके रूपमे बचपन जवानी आदिको पाती है, खाद पानी मिलनेसे उनकी अकुर, पत्ते निकलना, छोटी छोटी डालियाँ फूटना आदि रूपसे क्रमशः सिलसिलेवार वृद्धि होती है, वे सोती है, जागती है, छू जानेसे लजाकर मुरझा जाती है, सुन्दरीके पाद प्रहार आदिसे फूलती है, लताएँ आश्रयको पा कर उससे लिपट जाती है, उनकी टहनी पत्ते आदि तोडनेसे वे कुम्हलाने लगती है, वे जडोके द्वारा खाद-पानी रूप आहारको ग्रहण करती है, वृक्षोके वैद्यक शास्त्रके अनुकूल खाद पानीसे उनकी आयुकी वृद्धि तथा प्रतिकूल खाद पानीसे आयुका ह्रास बताया गया है, वृक्षायुर्वेदमे वनस्पतियोके अनेक रोगोका वर्णन किया गया है, और विशेष औषधियोके सीचने या लेप करनेसे उनके काटे हुए अवयवोकी पूर्ति आदि देखी जाती है, औषधि प्रयोगसे उनके रोग नष्ट हो जाते है, पोषक खाद मिलनेसे उनमे स्वादु तथा पुष्ट फल लगते है, तथा बकुल आदि वृक्षोके विचित्र-विचित्र दोहले होते है। इन सब कारणोसे वनस्पतिमे चेतनता सिद्ध होती है। जैसे किसी स्त्रीके शरीरमे उपरोक्त सब बाते देखकर उसकी सजीवता निश्चित होती है उसी तरह वनस्पतिमे भी इन सब हेतुओसे चेतनाका निर्विवाद निश्चय हो जाता है। इन हेतुओका प्रयोग तत्तत् अंगोको पक्ष बनाकर करना चाहिए। हम सब इन सब हेतुओका संक्षिप्त रूपसे एक ही हेतुमे समावेश करके प्रयोग करते है—वनस्पतियाँ सजीव है क्योकि उनमे जन्म बुढापा मरण तथा रोग आदि होते है। किसी स्त्रीके शरीरमे जन्मादि देखकर उसकी

१. सिद्धिवि०—प्र० २।

रोगादीनां समुदिताना सद्भावात्, [1]स्त्रीवत् ।

§ १५४. अत्र समुदिताना जन्मादीनां [2]ग्रहणात् 'जातं तद्दधि' इत्यादिव्यपदेशदर्शनाद्दध्यादिभिरचेतनैर्न व्यभिचार. शङ्क्यः ।

§ १५५. तदेव पृथिव्यादीनां सचेतनत्वं सिद्धम् । आप्तवचनाद्वा सर्वेषा सात्मकत्वसिद्धिः ।

§ १५६. द्वीन्द्रियादिषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यजलचरस्थलचरखचरपश्वादिषु न केषाचित्सात्मकत्वे विगानमिति । ये तु तत्रापि विप्रतिपद्यन्ते तान् प्रतीदमभिधीयते ।

§ १५७. इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्युपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात् । प्रयोगोऽत्र–इह यो यदुपरमे यदुपलब्धानामर्थानामनुस्मर्ता स तेभ्यो व्यतिरिक्तः, यथा गवाक्षैरुपलब्धानामर्थाना गवाक्षोपरमेऽपि[3] देवदत्तः । अनुस्मरति चायमात्मान्धवधिरत्वादिकालेऽपीन्द्रियोपलब्धानर्थान् अतः स तेभ्योऽर्थान्तरमिति ।

§ १५८. अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, इन्द्रियव्यापृतावपि कदाचिदनुपयुक्तावस्थाया

सचेतनता निर्विवाद रूपमे सिद्ध हो जाती है उसी तरह वनस्पतियाँ भी जन्म, जीर्णता, उखडना, म्लान होना आदि अवस्थाओको धारण करनेके कारण सचेतन सिद्ध हो जाती हैं ।

§ १५४ शंका—दही भी उत्पन्न होता है, परन्तु वह तो अचेतन है अत उत्पन्न होनेके कारण ही किसीको चेतन कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—हमने केवल उत्पन्न होनेको ही सचेतनतामे हेतु नही वताया है किन्तु जो उत्पन्न होकर वढता है, बूढा होता है, रोगी होता है तथा अन्तमे मरता है इस जन्म जरा रोग और मरणकी चतुष्पुटीको एक साथ हेतु रूपमे उपस्थित किया है । दही आदि अचेतन पदार्थ कारणोसे उत्पन्न तो हो सकते हैं पर उनमे सिलसिलेवार वुढापा आदि अवस्थाएँ तो हरगिज नही पायी जाती । अत दही आदिसे व्यभिचार देना नासमझीकी ही वात हैं ।

§ १५५ इस तरह पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति सभीमे चेतनता सिद्ध हो जाती है । अथवा वीतरागी सर्वज्ञ देवके वचन रूप निर्दोष आगमसे सभी पृथिवी आदि सचेतन सिद्ध हो ही जाते है ।

§ १५६. कीडे, चीटियाँ, भौरा, मनुष्य, जलचर—मछली आदि, थलचर—हाथी घोडा आदि, खचर–चिडिया आदि पक्षी इन सव द्वीन्द्रिय आदिको चेतन माननेमे तो किसीको विवाद नही है । ये कीडे मकोडे आदि तो निर्विवाद रूपसे जीव माने जाते है, इनकी सजीवता प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है । परन्तु जो परमनास्तिक व्यक्ति इस प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुमे भी विवाद करते है उनके अनुग्रहके लिए कुछ युक्तियाँ देते है—

§ १५७ आत्मा इन्द्रियोसे भिन्न है, क्योकि उसे इन्द्रियोके नष्ट हो जानेपर भी उनके द्वारा जाने गये पदार्थोका भली भाँति स्मरण होता हैं । जो जिसके नष्ट होनेपर भी उसके द्वारा जाने गये पदार्थोका स्मरण करता है वह उनसे भिन्न है, जैसे कि मकानकी खिडकियोके नष्ट हो जानेपर भी उन खिडकियोके द्वारा देखे गये पदार्थोका स्मरण करनेवाला देवदत्त खिडकियोसे भिन्न वस्तु है उसी प्रकार आँखके फूट जाने और कानके तडक जानेसे अन्धा और वहरा देवदत्त भी देखे और सुने गये पदार्थोका स्मरण करनेके कारण आँख और कान आदि इन्द्रियोसे अपनी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखता है । यदि इन्द्रिय ही आत्मा हो तो इन्द्रियोके नाश होनेपर स्मरण आदि ज्ञान नही होने चाहिए ।

§ १५८ अथवा आत्मा इन्द्रियोसे भिन्न है क्योकि आँख कान आदिके खुले रहनेपर भी

---

१ 'स्त्रीवत्' नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २ । २ ग्राहकाणा ज्ञात तद्वृद्धीत्यादि व्यपदेशदर्शना–म० २ । ३ –पि (तदनुस्मर्ता) दे–म० २ ।

वस्त्वनुपलम्भात् । प्रयोगश्चात्र—इन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा, तद्व्यापारेऽप्यर्थानुपलम्भात् । इह यो यद्व्यापारेऽपि यैरुपलभ्यानर्थान्नोपलभते स तेभ्यो भिन्नो दृष्टः, यथास्थगितगवाक्षो[1]ऽप्यन्यमनस्कतयानुपयुक्तोऽपश्यंस्तेभ्यो देवदत्त इति ।

§ १५९. अथवेदमनुमानम्–समस्तीन्द्रियेभ्यो भिन्नो जीवोऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारग्रहणात् । इह योऽन्येनोपलभ्यान्येन विकारं प्रतिपद्यते स तस्माद्भिन्नो दृष्टः, यथा प्रवरप्रासादोपरिपूर्ववातायनेन रमणीमवलोक्यापरवातायनेन [2]समायातायास्तस्याः करादिना कुचस्पर्शादिविकारमुपदर्शयन्देवदत्तः । तथा चायमात्मा चक्षुषाम्लीकामश्नन्तं दृष्ट्वा [3]रसनेन हृल्लासलालास्रवणादिकं विकारं प्रतिपद्यते । तस्मात्तयोः (ताभ्यां) भिन्न इति ।

§ १६०. अथवेन्द्रियेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा अन्येनोपलभ्यान्येन ग्रहणात् । इह यो घटादिकमन्येनोपलभ्यान्येन गृह्णाति स ताभ्यां भेदवान् दृष्टः यथा पूर्ववातायनेन घटमुपलभ्यापरवातायनेन गृह्णानस्ताभ्यां देवदत्तः । गृह्णाति[4] च चक्षुषोपलब्धं घटादिकमर्थं हस्तादिना [5]जीवः; ततस्ताभ्यां भिन्न इति ।

इनका व्यापार होनेपर भी आत्माका उपयोग—चित्त व्यापार—न होनेपर पदार्थोका परिज्ञान नही होता । कितनी ही बार चित्त दूसरी ओर होनेसे सामनेकी वस्तु भी नही दिखाई देती, पासकी वात भी नही सुनाई देती । प्रयोग—आत्मा इन्द्रियोसे भिन्न है, क्योकि इन्द्रियोका व्यापार होनेपर भी कभी पदार्थोकी उपलब्धि नही होती । जिस शक्तिके न होनेसे इन्द्रियाँ पदार्थको नही जान पाती वही शक्ति आत्मा है । जिस प्रकार खिडकी खुली हो, पर जब देवदत्त अन्यमनस्क होकर कुछ विचार करता है तव उसे खिडकीमे-से कुछ भी नही दिखाई देता उसी तरह दूसरी ओर उपयोग होनेसे आँखे आदि खिडकियाँ खुली रहनेपर भी जव सामनेकी वस्तु नही दिखाई देती, पासका मधुर संगीत भी नही सुनाई देता तव यह मानना ही होगा कि आँख कानके सिवाय कोई दूसरा जाननेवाला अवश्य है । जिसका ध्यान उस ओर न होनेसे दिखाई या सुनाई नही दिया । वही ध्यानवाली वस्तु आत्मा है । यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा होती तो आँख खुली रहनेपर सदा दिखाई देना चाहिए था, कानसे सदा सुनाई देना चाहिए था । पर इनकी सावधानी रहनेपर भी जिस चित्तव्यापार उपयोग या ध्यानके अभावसे सुनाई और दिखाई नही दिया वही आत्मा है ।

§ १५९ अथवा, आत्मा इन्द्रियोसे भिन्न है क्योकि वह आँखो आदिसे पदार्थको जानकर स्पर्शन या रसना आदि इन्द्रियोमे विकारको प्राप्त होता है । जो किसी अन्य जरियेसे पदार्थको जानकर अन्य जरियेसे विकार प्रदर्शन करे वह उन जरियोसे भिन्न होता है जैसे मकान की पूरव की खिडकीसे किसी सुन्दरीको देखकर उसे पश्चिमका ओर जाता देख पश्चिमकी खिडकीमे जाकर हाथ आदिसे कुचमर्दनको चेष्टाएँ दिखानेवाला देवदत्त । यदि आत्मा इन्द्रिय रूप ही होता तो एक इन्द्रियसे पदार्थको जानकर दूसरी इन्द्रियमे विकार नही हो सकता था । यह तो दोनो इन्द्रियोके स्वामोको ही हो सकता है । किसीको इमली खाते देखकर हृदयमे उसके खानेकी इच्छा तथा जीभमे पानी आना इस वातको सूचित करता है कि आँख हृदय और जीभके ऊपर पूरा-पूरा अधिकार रखनेवाला कोई नियन्ता अवश्य है जो यथेच्छ जिस किसी भी जरियेसे अपने विकारोको दिखाता है । रमणीको आँखोसे देखकर हृदयमे गुदगुदी होना तथा इन्द्रियमे विकार होना आत्माको इन्द्रियोंसे भिन्न होकर भी उनका अधिष्ठाता माने बिना नही वन सकता । अतः यह निश्चित है कि इन सव इन्द्रिय रूपी झरोखोसे यथेच्छ देखनेवाला इन सवका स्वामी आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ है, इन्द्रियाँ तो उसके ज्ञान

१ गवाक्षेऽप्यन्य–आ०, क० । २ –यातस्तस्या भ० २ । ३. रसने हृल्लास–म० १, म० २, प० १, प० २ । ४ –ति चक्षु–म० २ । ५. जीवस्ताभ्या म० २ ।

§ १६१. एवमत्रानेकान्यनुमानानि नैकाश्च युक्तयो विशेषावश्यकटीकादिभ्यः स्वयं कर्त्त(वक्त)व्यानीति । प्रोक्तं विस्तरेण प्रथमं जीवतत्त्वम् ।

§ १६२. अजीवतत्त्वं व्याचिख्यासुराह—'यश्चैतद्विपरीतवान्' इत्यादि । यश्चैतस्माद्विपरीतानि विशेषणानि विद्यन्ते यस्यासावेतद्विपरीतवान् सोऽजीवः समाख्यातः । 'यश्चैतद्वैपरीत्यवान्' इति पाठे तु यः पुनस्तस्माज्जीवाद्वैपरीत्यमन्यथात्वं तद्वानजीवः[1] स समाख्यातः । अज्ञानादिधर्मेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शादिभ्यो भिन्नाभिन्नो नरामरादिभवान्तराननुयायी ज्ञानावरणादिकर्मणामकर्ता तत्फलस्य[2] चाभोक्ता जडस्वरूपश्चाजीव इत्यर्थः ।

§ १६३. स च धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदात् पञ्चविधोऽभिधीयते । तत्र धर्मो लोकव्यापी नित्योऽवस्थितोऽरूपी द्रव्यमस्तिकायोऽसंख्यप्रदेशो गत्युपग्रहकारी च भवति । अत्र नित्यशब्देन स्वभावादप्रच्युत आख्यायते । अवस्थितशब्देनान्यूनाधिक आविर्भाव्यते । अन्यूनाधिकश्चानादिनिधनयत्ताभ्यां न स्वतत्त्वं व्यभिचरति । तथा अरूपिग्रहणादमूर्त उच्यते । अमूर्तश्च रूपरसगन्धस्पर्श-

---

आदिके साधन मात्र हैं ।

§ १६० अथवा, आत्मा इन्द्रियोंसे भिन्न है, क्योंकि किसी अन्य जरियेसे जानकर किसी अन्य जरियेसे ही वस्तुको ग्रहण करता है । जो घडा आदि पदार्थोको अन्य जरियेसे देखकर किसी दूसरे जरियेसे ही उन्हे उठाता है वह उन जरियोसे भिन्न होता है जैसे पूरबकी खिडकीसे घडेको देखकर पश्चिम वाली खिडकीसे उस घडेको उठाने वाला देवदत्त उन खिडकियोंसे भिन्न है उसी तरह आत्मा भी आँखसे घट आदिको देखकर हाथोसे उठाता है अतः वह भी इन आँख और हाथ आदिसे भिन्न सत्ता रखता है । यदि आत्मा आँख रूप हो तब वह घडेको कैसे उठायगा ? इसी तरह यदि हाथ रूप ही हो तो देखेगा कैसे ? अतः दोनो इन्द्रियोसे भिन्न होकर भी इनको अपने अधीन रखनेवाला उनपर यथेच्छ हुक्म चलानेवाला एक आत्मा अवश्य है । जो सभी इन्द्रियोका अधिष्ठाता नियन्ता तथा यथेच्छ उपयोग करनेवाला है ।

§ १६१. इस तरह अनेको अनुमान तथा युक्तियाँ आत्माकी सत्ताको स्पष्ट रूपसे सिद्ध करती है । इन युक्तियोकी विशेष चर्चा विशेषावश्यक भाष्यकी टीका तथा अन्य जीवसिद्धि आदि ग्रन्थोसे देख लेनी चाहिए । इस तरह ज्ञानादि स्वरूपवाला जीवतत्त्वका वर्णन हुआ ।

§ १६२ अब अजीवतत्त्वका व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि—'जीवसे उलटे लक्षणोवाला अजीव होता है' इत्यादि । जो जीवसे विपरीत लक्षणवाला हो वह अजीव पदार्थ है । 'एतद्वैपरीत्यवान्' यह पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है । इसका तात्पर्य है—जिसमे जीवसे विपरीतता—उलटापन पाया जाये वह अजीव पदार्थ है । तात्पर्य यह है कि जहाँ जीवमे ज्ञान आदि धर्म पाये जाते हैं वहाँ अजीवमे अज्ञानादि धर्म पाये जायेंगे । यह अजीव अज्ञान आदि धर्मोंसे रूप रस, गन्ध स्पर्श आदि गुणोसे कथंचित् भिन्न भी है तथा अभिन्न भी, यह मनुष्य नरक आदि पर्यायोंमे गमन नहीं करता न यह ज्ञानावरण आदि कर्मोंका कर्ता ही है और न इसके फलका भोक्ता ही । तात्पर्य यह कि अजीव पदार्थ सब रूपसे जड—अचेतन है ।

§ १६३ अजीव पदार्थके पाँच भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय ४ काल ५ पुद्गलास्तिकाय । धर्मद्रव्य चलनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गतिमे सहायक होता है । यह समस्त लोकमे व्याप्त है, नित्य है अवस्थित है अरूपी है, तथा असंख्यात प्रदेशवाला अस्तिकाय द्रव्य है । नित्यका तात्पर्य है स्वभावका नष्ट नहीं होना । अवस्थितका अर्थ है इसमे न्यूनाधिकता नहीं होती, यह एक ही रहता है न तो कम होता है और न ज्यादा ही ।

१. [illegible]–म० २ । २ —[illegible]—म० २ प० १ । ३ —[illegible] म० १, म० २, प० १ प० २ । ४ [illegible]—म० २ ।

परिणामवाह्यवर्त्यभिधीयते । न खलु मूर्ति स्पर्शादयो व्यभिचरन्ति, सहचारित्वात् । यत्र हि रूप-परिणामस्तत्र स्पर्शरसगन्धैरपि भाव्यम् । अतः सहचरमेतच्चतुष्टयमन्ततः परमाणावपि विद्यते ।

§ १६४. तथा द्रव्यग्रहणाद्गुणपर्यायवान् प्रोच्यते; 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' [त० सू० ५।३८] इति वचनात् ।

§ १६५. तथास्तयः[2]—प्रदेशाः प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा निर्विभागानि खण्डानीत्यर्थः । तेषां कायः समुदायः कथ्यते ।

§ १६६. तथा लोकव्यापीति वचनेनासंख्यप्रदेश[3] इति वचनेन च लोकाकाशप्रदेशप्रमाणप्रदेशो निर्दिश्यते । तथा स्वत एव गतिपरिणतानां जीवपुद्गलानामुपकारकरोऽपेक्षाकारणमित्यर्थः ।

§ १६७. कारणं हि त्रिविधमुच्यते, यथा घटस्य मृत्परिणामिकारणम्, दण्डादयो ग्राहकाश्च निमित्तकारणम्, कुम्भकारो निर्वर्तकं कारणम् । तदुक्तम्—

"निर्वर्तकं निमित्तं परिणामी[4] च त्रिधेष्यते हेतुः ।
कुम्भस्य कुम्भकारो, वर्ता मृच्चेति समसंख्यम् ॥ १ ॥"

यह अनादि अनन्त है कभी भी अपने द्रव्यपनेको नहीं छोड सकता । अरूपीका अर्थ है अमूर्त, रूपादिसे रहित निराकार । रूप रस गन्ध तथा स्पर्श जिसमे पाये जाँय उसे मूर्त कहते है और जिसमे रूपादि न हो वह अमूर्त कहलाता है । स्पर्श आदिवाली वस्तु किसी न किसी मूर्ति—शकल मे रहेगी ही । तात्पर्य यह कि रूप रस आदि तथा मूर्तिका सहचारी सम्बन्ध है । दोनो एक साथ रहते है । ये रूप आदि भी नियत सहचारी है जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा अवश्य होगा । जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श रस गन्ध भी अवश्य ही होगे । यह तो हो सकता है कि कही कोई गुण अनुद्भूत रहे और कही उद्भूत । पर सत्ता सबकी सब पुद्गलोमे पायी जाती है । ये रूपादि चारो गुण परमाणुसे लेकर स्कन्ध पर्यन्त सभी मूर्त पदार्थोंमे पाये जाते है ।

§ १६८. निमित्तकारणं च द्वेधा निमित्तकारणमपेक्षाकारणं च। यत्र दण्डादिषु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवति तानि दण्डादीनि निमित्तकारणम्। यत्र तु धर्मादिद्रव्येषु वैस्रसिक्येव क्रिया तानि निमित्तकारणान्यपि विशेषकारणताज्ञापनार्थमपेक्षाकारणान्युच्यन्ते।

§ १६९. धर्मादिद्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाणं जीवादिकं गत्यादिक्रियापरिणतिं पुष्णातीति कृत्वा ततोऽत्र धर्मोऽपेक्षाकारणम्। एवमधर्मोऽपि लोकव्यापितादिसकलविशेषणविशिष्टो [1]धर्मवन्निर्विशेषं मन्तव्यः, नवरं स्थित्युपग्रहकारी स्वत एव स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिविषये अपेक्षाकारणं वक्तव्यः।

§ १७०. एवमाकाशमपि लोकालोकव्यापकमनन्तप्रदेशं नित्यमवस्थितमरूपिद्रव्यमस्तिकायोऽवगाहोपकारकं च [2]वक्तव्यं, नवरं लोकालोकव्यापकमिति।

§ १७१. ये केचनाचार्याः कालं द्रव्यं नाभ्युपयन्ति किंतु धर्मादिद्रव्याणां पर्यायमेव, तन्मते धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यपञ्चास्तिकायात्मको लोकः। ये तु कालं द्रव्यमिच्छन्ति, तन्मते षड्द्रव्यात्मको लोकः, पञ्चानां धर्मादिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य च तत्र सद्भावात्। आकाशद्रव्यमेकमेवास्ति

---

§ १६८ निमित्तकारण भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो शुद्ध निमित्तकारण तथा दूसरे अपेक्षा निमित्तकारण। जिन निमित्तकारणोंमें स्वाभाविक तथा कर्ताके प्रयोगसे क्रिया होती है, वे दोनों प्रकारकी क्रियावाले दण्ड आदि कारण शुद्ध निमित्तकारण हैं। परन्तु जिन धर्मास्तिकाय आदिमें केवल स्वाभाविक ही परिणमन होता हो. कर्ताके प्रयोगसे जिसमें क्रियाकी संभावना न हो वे निमित्तकारण अपेक्षाकारण कहलाते है। यद्यपि साधारण रूपसे अपेक्षा कारण भी निमित्तकारण ही हैं, पर उनमे केवल स्वाभाविक परिणमन रूप विशेषता होनेके कारण ये अपेक्षा कारण कहे जाते हैं।

§ १६९ धर्मद्रव्यमे होनेवाले स्वाभाविक परिणमनकी अपेक्षा करके ही चलनेवाले जीवादि द्रव्य अपनी गतिको पुष्ट करते हैं। स्वयं चलनेवाले जीवादि द्रव्योंकी गतिमे धर्मद्रव्यकी तटस्थभावसे अपेक्षा होती है अतः धर्मद्रव्य जीवादिकी गतिमे अपेक्षा कारण कहा जाता है। धर्मद्रव्यकी तरह अधर्मद्रव्य भी लोकव्यापी, अमूर्त, नित्य, अवस्थित आदि विशेषणोवाला है परन्तु जहाँ धर्मद्रव्य गतिमे अपेक्षा कारण होता है वहाँ अधर्मद्रव्य स्थिति—ठहरनेमे अपेक्षा कारण होता है। स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गल अधर्मद्रव्यकी अपेक्षा रख कर ही ठहरते हैं। अधर्मद्रव्य तटस्थभावसे उनके ठहरनेमे सहायक होता है उन्हे ठहरनेकी प्रेरणा नही करता। वे ठहरते हैं तो उन्हे सहायता दे देता है।

§ १७०. आकाशद्रव्य भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह नित्य, अवस्थित, अमूर्त तथा अस्तिकाय—बहुप्रदेशी है। इतनी विशेषता है कि यह अनन्त प्रदेश वाला है तथा लोक और अलोक सर्वत्र व्याप्त है। इससे बड़ा कोई द्रव्य नही है। यह अन्य समस्त द्रव्योके अवगाह—रहनेमे अपेक्षा कारण होता है।

§ १७१. कोई आचार्य कालको स्वतन्त्र नही मानते, इनका अभिप्राय है धर्म आदि जड और चेतन द्रव्योकी पर्याये ही काल हैं। इनके मतसे लोक धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पांच अस्तिकाय रूप हैं। जो आचार्य कालको स्वतन्त्र छठवाँ द्रव्य मानते है उनके मतानुसार इस लोकमें छहो द्रव्य पाये जाते हैं अतएव लोक षड्द्रव्यात्मक है. इसमे धर्मादि पांच तथा काल ये छह ही द्रव्य हैं। जहाँ केवल आकाश ही आकाश है, आकाशके सिवाय दूसरा द्रव्य नही है वह

---

१. –वन्निर्विशेषेण मन्त–म० २। २ वक्तव्यं ये के च–म० २।

यत्र सोऽलोकः लोकालोकयोर्व्यापकमवगाहोपकारकमिति स्वत एवावगाहमानानां द्रव्याणामवगाहदायि भवति न पुनरनवगाहमानं पुद्गलादि बलादवगाहयति । अतो निमित्तकारणमाकाशमम्बुवन्मकरादीनामिति । अलोकाकाशं कथमवगाहोपकारकं, अनवगाह्यत्वादिति चेत् । उच्यते । तद्धि व्याप्रियेतैवावकाशदानेन यदि गतिस्थितिहेतू धर्माधर्मास्तिकायौ तत्र स्यातां, न च तौ तत्र स्तः, तदभावाच्च विद्यमानोऽप्यवगाहनगुणो नाभिव्यज्यते किलालोकाकाशस्येति ।

§ १७२. कालोऽर्धतृतीयद्वीपान्तर्वर्ती परमसूक्ष्मो निर्विभाग एकः समयः । स चास्तिकायो न भण्यते, एकसमयरूपस्य तस्य निःप्रदेशत्वात् । आह च—

"तस्मान्मानुषलोकव्यापी कालोऽस्ति समय एक इह ।
एकत्वाच्च स कायो न भवति कायो हि समुदायः ॥१॥"

स च सूर्यादिग्रहनक्षत्रोदयास्तादिक्रियाभिव्यङ्ग्य एकीयमतेन द्रव्यमभिधीयते । स चैक-

---

अलोक कहलाता है तथा जहाँ आकाशके साथ ही साथ अन्य पाँच द्रव्य भी पाये जाते है वह लोक है। आकाश लोक और अलोक दोनो जगह व्याप्त है। आकाश द्रव्य समस्त स्वयं रहनेवाले द्रव्योंको अवकाश देता है। जो नही रहते उन्हे जबरदस्ती अवकाश देनेकी प्रेरणा नही करता। रहो तो अवकाश दे देगा, न रहो तो वह प्रेरणा नही करेगा। इसलिए आकाशद्रव्य अवकाश देनेके कारण अपेक्षा निमित्तकारण है। जिस प्रकार स्वय जलमे रहनेवाले मछली आदि प्राणियोको पानी अवकाश देता है, पर उनको वलात् पानीमे रहनेको वाध्य नही करता उसी प्रकार आकाश भी रहनेवाले द्रव्योको स्थान—आकाश देता है, प्रेरणा नही करता।

शंका—अलोकमे तो अन्य कोई द्रव्य रहता ही नही है अतः अलोकाकाश अवगाह रूप उपकार किसका और कैसे करता है। जव कोई वसनेवाला ही नही है तव वसायेगा ही किसे ?

समाधान—यदि वहाँ चलने और ठहरनेमे कारण धर्म और अधर्म द्रव्य होते और जीवादि वहाँ तक पहुँच सकते तो अवश्य ही अलोकाकाश उन्हे अवकाश देता. पर न तो वहाँ धर्मादि ही है और न जीवादि ही। अत अलोकाकाशमे अवकाश देनेका गुण विद्यमान होते हुए भी प्रकट कार्यरूपमे नही दिखाई देता। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, अत. लोकाकाशमे होनेवाला अवगाह अलोकाकाशमे भी होता ही है। आकाश जब एक अखण्ड द्रव्य है तब उसके दो परिणमन नही हो सकते कि वही लोकमे अवकाश दे तथा अलोकमे अवकाश न दे। उसमे तो एक ही अवकाश देने रूप परिणमन होगा। हाँ, अलोकाकाशके प्रदेशोमे उसका कार्य प्रकट नही दिखाई देता, पर उस गुणका परिणमन तो अवश्य होता ही है।

समयो द्रव्यपर्यायेभ्यश्चान्येव, द्रव्यार्थत्वेन प्रतिपर्यायमुत्पादव्ययरहितोऽपि स्वस्थानस्वगुणक्रमाक्रम-भाविनाऽपर्यवसानानेकान्तपरिणामः, अत एव न स स्वपर्यायप्रवाहव्यापी द्रव्यात्मना नित्योऽभिधीयते। अतीतानागतवर्तमानाख्यास्वपि काल काल इत्यविशेषवचनम्। यथा लोके परमाणु-पर्यायैरनित्योऽपि द्रव्यत्वेन सदा सर्वत्र न कदाचिदपगतः भवति, तथैव समयोऽपीति।

§ १०३. यद्यपि कालो न निर्वर्तककारणं नापि परिणामि कारणं, किन्तु स्वयं संभवतां भावानामस्मिन् काले भवितव्यं नान्यस्मिन्नित्यपेक्षाकारणम्। कालकृता वर्तनादय उपकाराः। अथवा वर्तनादय उपकाराः कालस्य लिङ्गानि, तस्मात् "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च" [त० सू० ५।२२] तत्र स्वयं वर्तमानाः पदार्थाः, तेषां वर्तमानानां प्रयोजकत्वं कालाश्रया वृत्तिर्वर्तना, प्रथमसमयाश्रया स्थितिरित्यर्थः। परिणामो द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगज-स्वभावः परिणामः। तद्यथा—वृक्षस्याङ्कुरकाद्यवस्था परिणामः आम्रादेः, सम्प्रति स्कन्धवान्, पुष्पवान् भविष्यतीति। पुरुषस्य बालकुमारयुवाद्यवस्था परिणामः। एवमन्यत्रापि।

आदिके द्वारा नाश अपने आप होता है। किन्हीं आचार्योंके मतसे वह द्रव्य रूप है। अत एक-समय रूप होकर भी उसमें उत्पाद—नाश और ध्रौव्य पाये जाते हैं। यद्यपि समय प्रतिक्षण परिवर्तन होनेसे उत्पाद और नाश होते रहते हैं फिर भी द्रव्य दृष्टिसे वह जैसाका तैसा रहता है उसके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वह कभी भी कालान्तर रूप या अन्य रूप नहीं हो जाता। वह अपने द्रव्य रूप मात्र होनेवाली अनन्त पर्यायोंमें अपनी अन्वय सत्ता रखता है। क्योंकि द्रव्य रूपसे अपनी समस्त पर्यायोंके प्रवाहमें पूरी तरह व्याप्त होनेके कारण वह नित्य कहा जाता है। अतीत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी अवस्था क्यों न हो सभीमें 'काल, काल' यह साधारण व्यवहार पाया ही जाता है। जिस प्रकार परमाणु पर्यायोंके परिवर्तित होते रहनेसे अनित्य होता है फिर भी द्रव्य रूपसे कभी भी अपने परमाणुत्वको न छोड़नेके कारण नित्य है, सदा सत् है, कभी भी असत् नहीं होता, उसी तरह समय रूप काल भी द्रव्यरूपसे नित्य है वह कभी भी अपने कालत्वको नहीं छोड़ता।

§ १०३. वह काल न तो निर्वर्तक कारण है और न परिणामी कारण ही किन्तु अपने-आप परिणमन करनेवाले पदार्थोंके परिणमनमें 'ये परिणमन इसी कालमें होने चाहिए दूसरे कालमें नहीं' इस तरहकी अपेक्षा कारण होता है। बलात् किसीमें परिणमन नहीं कराता। कालके द्वारा पदार्थोंके वर्तना परिणमन आदि उपकार होते हैं। अथवा वर्तना आदि उपकार कालके चिह्न हैं क्योंकि वर्तना आदिका निरूपण करते हैं। "वर्तना परिणाम क्रिया तथा परत्वापरत्व ये काल-द्रव्यके उपकार हैं।" पदार्थ स्वयं वर्तते हैं—हो रहे हैं, उन स्वयं वर्तनेवाले पदार्थोंको सहायता देनेवाली कालकी शक्ति वर्तना कहलाती है। प्रथम समयमें होनेवाली पदार्थोंकी स्थिति वर्तना है। अपने निजतत्त्वको न छोड़कर अपने मूल स्वभावमें हेर-फेर किये बिना एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करना परिणाम कहलाता है। परिणाम हलनचलन रूप भी होता है तथा बिना हिले-डुले ही अवस्थाओंमें हेर-फेर होनेसे भी होता है। जैसे—वृक्षकी अंकुर जड़ आदि अवस्थाएँ परिणाम हैं। यही वृक्ष पहले एक नन्हाँ-सा अंकुर था वही अब बड़ी-बड़ी डालियोंवाला वृक्ष हो गया और इसीमें आगे फूल लगेंगे। यही मनुष्य बच्चेसे कुमार तथा कुमारसे जवान हो गया है, बूढ़ा भी यही होगा। इस तरह वृक्षत्व और मनुष्यत्वको कायम रखते हुए ही अवस्थाएँ बदली हैं। इसी तरह समस्त पदार्थोंमें परिणाम होता रहता है।

---

१. –न्तरमसत्यपरि–म० २। २. निर्वर्तकका–आ०, क०। ३ नान्यस्मिन्नित्यपे–म० २। ४. वर्त-मानाद्या म० २। ५ प्रथमसमयस्थितिरि–म० २। ६. –ण स्वभाव परि–म० २।

§ १७४. [1]परिणामो [2]द्विविधः, अनादिरमूर्तेषु धर्मादिषु, मूर्तेषु तु सादिरभ्रेन्द्रधनुरादिषु स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिषु च। ऋतुविभागकृतो वेलाविभागकृतश्च परिणामस्तुल्यजातीयानां वनस्पत्यादीनामेकस्मिन्काले विचित्रो भवति .

§ १७५. प्रयोगविस्रसाभ्यां जनितो जीवानां परिणमनव्यापारः करणं क्रिया तस्या अनुग्राहकः कालः। [3]तद्यथा—नष्टो घटः, सूर्यं पश्यामि, भविष्यति वृष्टिरित्यादिका अतीतादिव्यपदेशाः परस्परासंकीर्णा यदपेक्षया प्रवर्तन्ते, स कालः।

§ १७६. इदं परमिदमपरमितिप्रत्ययाभिधाने कालनिमित्ते।

§ १७७ तदेवं वर्त्तनाद्युपकारानुमेयः कालो [4]द्रव्यं मानुषक्षेत्रे। मनुष्यलोकाद्बहिः कालद्रव्यं नास्ति। सन्तो हि भावास्तत्र स्वयमेवोत्पद्यन्ते व्ययन्त्यवतिष्ठन्ते च। अस्तित्वं च भावानां स्वत एव, न तु कालापेक्षम्। न च तत्रत्याः प्राणापाननिमेषोन्मेषायुःप्रमाणादिवृत्तयः कालापेक्षाः, तुल्यजातीयानां सर्वेषां युगपदभवनात्। कालापेक्षा ह्यर्थास्तुल्यजातीयानामेकस्मिन् काले भवन्ति, न विजातीयानाम्। ताश्च प्राणादिवृत्तयस्तद्वतां नैकस्मिन्काले भवन्त्युपरसन्ति चेति। तस्मान्न

---

§ १७४. परिणाम दो प्रकारका है—एक अनादि परिणाम और दूसरा सादि परिणाम। अमूर्त धर्म आदि द्रव्योके परिणमनकी कोई शुरूआत नही है, वह अनादि है। मूर्त पदार्थो का बादल, इन्द्रधनुष आदि रूपसे परिणमन सादि परिणाम है। इसके प्रारम्भका समय निश्चित है। पुद्‌गल द्रव्य खम्भा बन जाता है, घड़ा बन जाता है तथा कमल आदि रूप हो जाता है। यह सब सादि परिणाम है। एक ही जातिके वृक्षोमे ऋतुभेद तथा समय भेदसे एक ही समयमे विचित्र-विचित्र परिणमन देखे जाते हैं।

§ १७५ पुरुषके प्रयोगसे अथवा स्वाभाविक रूपसे परिणमनके लिए होनेवाला व्यापार क्रिया है। काल इस क्रियामे सहायक होता है। घड़ा फूट गया, सूर्यको देख रहा हूँ, वृष्टि होगी इत्यादि भूत वर्तमान तथा भविष्यत् कालके सब व्यवहार कालकी अपेक्षासे ही होते हैं। ये व्यवहार एक दूसरेसे भिन्न हैं, अतीत व्यवहार वर्तमानसे तथा वर्तमान भविष्यत्से।

§ १७६ 'यह जेठा है, यह लहुरा है, यह पुराना है, यह नया है' इत्यादि ज्ञान तथा व्यवहार भी कालके निमित्तसे ही होते हे।

§ १७७ इस तरह इस मनुष्यलोकमे वर्तना परिणाम आदि चिह्नोसे कालद्रव्यका अनुमान–पहचान–किया जाता है। मनुष्य लोकसे बाहर कालद्रव्यका सद्भाव नही है। मनुष्य लोकके बाहर से विद्यमान पदार्थ स्वयं हो उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं तथा ठहरते हैं। वहांके पदार्थोंकी सत्ता भी स्वभावसे ही है। मनुष्य लोकके बाहरके पदार्थोके परिणमन या अस्तित्वमे कालद्रव्यकी कोई अपेक्षा नही है। वहांके प्राणियोंके श्वासोच्छ्वास, पलकोका झपकना, आँखोका खुलना आदि व्यापार कालकी अपेक्षासे नही होते, क्योकि सजातीय पदार्थोके उक्त व्यापार एक साथ नही होते। सजातीय पदार्थोके एक साथ होनेवाले ही व्यापार कालकी अपेक्षा रखते हैं विजातीय पदार्थोके नही। वहांके प्राणियोके श्वासोच्छ्वासादि व्यापार न तो एक कालमे उत्पन्न ही होते है और न नष्ट ही होते है जिससे उन्हे कालकी आवश्यकता है। वहांके पदार्थोमे पुराना नया या जेठा और

---

१. "अनादिरादिमांश्च ॥४२॥ तत्रानादिररूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेष्विति। रूपिष्वादिमान् ॥४३॥ रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिरिति।"—त० सू० भा० ५।४२,४३। २ –धोऽमूर्तेषु धर्मादिष्वनादि मूर्तेषु म० २। ३ –था नष्टो भा०, म० १। ४ द्रव्यं मनुष्यलोके –म० २।

कालापेक्षास्ताः। परत्वापरत्वे अपि तत्र [1]चिराचिरस्थित्यपेक्षे, स्थितिश्चास्तित्वापेक्षा, अस्तित्वं च स्वत एवेति।

§ १७८. ये तु कालं द्रव्यं न मन्यन्ते, तन्मते सर्वेषां द्रव्याणां वर्त्तनादयः पर्याया एव सन्ति, न त्वपेक्षाकारणं कश्चन काल इति।

§ १७९. अथ पुद्गलाः। "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" [त० सू० ५।२३]। अत्र स्पर्शग्रहणमादौ स्पर्शे सति रसादिसद्भावज्ञापनार्थम्। ततोऽबादीनि चतुर्गुणानि स्पर्शत्वात्, पृथिवीवत्[2]। तथा मनः स्पर्शादिमत्, असर्वगतद्रव्यत्वात्, पार्थिवाणुवदिति प्रयोगौ सिद्धौ।

§ १८०. तत्र स्पर्शा हि मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः। अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु संभवन्ति। स्कन्धेष्वष्टावपि यथासंभवमभिधानीयाः। रसास्तिक्तकटुकषायाम्लमधुराः। लवणो मधुरान्तर्गत इत्येके, संसर्गज इत्यपरे। गन्धौ सुरभ्यसुरभी[3]। कृष्णादयो वर्णाः। तद्वन्तः पुद्गला इति। न केवलं पुद्गलानां स्पर्शादयो धर्माः, शब्दादयश्चेति [4]दर्श्यते। "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" [त० सू० ५।२४] पुद्गलाः। अत्र पुद्गलपरिणामाविष्कारी मतुप्रत्ययो नित्ययोगार्थं विहितः। तत्र शब्दो ध्वनिः। बन्धः परस्पराश्लेषलक्षणः

लहुरा आदि व्यवहार भी चिरकालीन स्थिति या अल्पकालीन स्थितिकी अपेक्षासे ही होते हैं, स्थिति अस्तित्वकी अपेक्षा रखती है तथा अस्तित्व तो पदार्थोंका स्वतः ही स्वाभाविक रूपसे ही रहता है। अतः वहाँ अस्तित्वसे ही सब व्यवहार चलते हैं।

§ १७८ जो आचार्य कालद्रव्य नहीं मानते, उनके मतसे मनुष्य लोकके बाहर या भीतर सभी जगह रहनेवाले सभी पदार्थोंके वर्तना आदि पर्याय रूप ही है, इनके होनेमें काल नामके किसी अपेक्षा-कारणकी आवश्यकता नहीं है। पर्यायें तो स्वतः ही पदार्थोंमें उपजती तथा नष्ट होती रहती हैं।

§ १७९ अब पुद्गलद्रव्यका वर्णन करते हैं—"पुद्गलद्रव्य स्पर्श रस गन्ध तथा रूपवाले होते हैं।" इस सूत्रमें सबसे पहले स्पर्शके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि—'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रस आदि अवश्य ही होंगे।' इस अविनाभावके ज्ञापनके लिए ही स्पर्श शब्दका आदिमें ग्रहण किया है। इसलिए हम अनुमान करते हैं कि—जल आदि सभी पुद्गल द्रव्योंमें स्पर्श रूप रस और गन्ध ये चारों ही गुण पाये जाते हैं क्योंकि इन सबमें स्पर्श पाया जाता है जैसे कि पृथिवीमें। इसी तरह मन भी स्पर्शवाला है, क्योंकि वह अव्यापी द्रव्य है जैसे कि पृथिवीका परमाणु।

§ १८० स्पर्श आठ प्रकारका है—१. कोमल, २ कठोर, ३. भारी, ४. हलका, ५ ठण्डा ६ गरम, ७. चिकना और ८ रूखा। इनमें चिकना रूखा गरम तथा ठण्डा ये चार ही स्पर्श परमाणुओंमें पाये जाते हैं, क्योंकि कोमलता, कठोरता या भारीपन या हलकापन स्कन्धोंमें ही पाये जाते हैं। स्कन्धोंमें तो यथासम्भव आठों ही स्पर्श पाये जाते हैं। रस पाँच होते हैं—१ कडुवा, २ तीता-चरपरा, ३ कसैला, ४ खट्टा और ५ मीठा। खारे रसको कोई आचार्य मीठे रसमें ही शामिल करते हैं तथा कोई आचार्य इसे अन्य रसोंके संसर्गसे पैदा होनेवाला मानते हैं। सुगन्ध तथा दुर्गन्धके भेदसे गन्ध दो प्रकारकी है। काला, पीला, नीला आदि रूप हैं। पुद्गलोंमें रूप रस गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं। पुद्गलोंमें केवल स्पर्श आदि धर्म ही नहीं पाये जाते किन्तु शब्द आदि भी पुद्गलोंके ही धर्म-पर्यायें हैं। "शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अन्धकार, छाया, सूर्यका ताप तथा चाँदकी चाँदनी आदि इन सबवाले भी पुद्गलद्रव्य होते हैं या ये सभी पुद्गल द्रव्योंके ही पर्याय हैं, सूत्रमें पुद्गलकी पर्यायोंके कथनके समय मतुप् प्रत्ययके

१. चिराचिरत्वे स्थित्यपेक्षे म० २। २. पृथिव्यादीनि तथा म० २। ३ सुरभिदुरभी म० २। ४. दर्श्यन्ते म० २। ५. -विष्कारे मतु- आ०, क०।

प्रयोगविस्रसादिजनित औदारिकादिशरीरेषु[1] जतुकाष्ठादिश्लेषवत् [2]परमाणुसंयोगजवद्वेति। सौक्ष्म्यं-सूक्ष्मता। स्थौल्यं-स्थूलता। संस्थानमाकृतिः। भेदः-खण्डशो भवनम्। तमश्छायादयः प्रतीताः। सर्व एवैते स्पर्शादयः शब्दादयश्च पुद्गलेष्वेव भवन्तीति।

§ १८१. पुद्गला द्वेधा, परमाणवः स्कन्धाश्च। तत्र परमाणोर्लक्षणमिदम्—

"कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च[3] ॥ १ ॥"

§ १८२. व्याख्या। सकलभेदपर्यन्तवर्तित्वादन्त्यं तदेव कारणं न पुनरन्यद्द्व्यणुकादि तदेव किमित्याह सूक्ष्मः—आगमगम्यः; अस्मदादीन्द्रियव्यापारातीतत्वात्। नित्यश्चेति—द्रव्यार्थिकनयापेक्षया[4] ध्रुवः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया तु नीलादिभिराकारैरनित्य एवेति। न ततः परमणीयो द्रव्यमस्ति, तेन परमाणुः। तथा पञ्चानां रसानां द्वयोर्गन्धयोः पञ्चविधस्य वर्णस्यैकेन रसादिना युक्तः। तथा चतुर्णां स्पर्शानां मध्ये द्वावविरुद्धौ यौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ [5]स्निग्धशीतौ रूक्षशीतौ

प्रयोगसे इनका नित्य सम्बन्ध सूचित होता है। शब्द—ध्वनि या कानसे सुनाई देनेवाली आवाज है। परस्पर चिपकनेको बन्ध कहते हैं। यह बन्ध कहीं तो पुरुषके प्रयोगसे किया जाता है और कहीं अपने ही आप स्वाभाविक रूपसे ही हो जाता है। कोई कारीगर लाख और लकडीको परस्पर चिपका देता है, यह प्रायोगिक बन्ध है। हमारे स्थूल औदारिक आदि शरीरोंमें अवयवोंका बन्ध या परमाणुओंका परस्परमें बन्ध स्वभावसे ही होता रहता है। सौक्ष्म्य—पतलापन बारीकपन। स्थौल्य-मुटाई। संस्थान—शक्ल-आकार। भेद—टुकडे-टुकडे हो जाना। अन्धकार, छाया आदि तो प्रत्यक्षसे ही प्रतीत होते हैं। ये सब स्पर्श आदि तथा शब्द आदि पुद्गल द्रव्यमें ही होते हैं।

§ १८१. पुद्गल सामान्यतः दो प्रकारके होते हैं—१ स्कन्ध रूप, २ परमाणु रूप। परमाणुका लक्षण शास्त्रमें इस प्रकार बताया है—"परमाणु कारण ही होता है—वह स्कन्ध आदि कार्योंको उत्पन्न करनेके कारण ही है। वह कभी भी किसीसे उत्पन्न नहीं होता अतः कार्य रूप नहीं है। परमाणुको कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता। वह अन्त्य-आखिरी हिस्सा है उससे छोटा कोई द्रव्य नहीं हो सकता। सूक्ष्म है, नित्य है। इसमें कोई एक रूप, एक रस, एक गन्ध, शीत और उष्णमें-से कोई एक तथा चिकने और रूखेमें-से कोई एक स्पर्श पाया जाता है। यह प्रत्यक्षमें नहीं दिखाई देता फिर भी स्कन्ध रूप कार्योंसे इसका अनुमान किया जाता है।"

§ १८२. किसी पदार्थके टुकडे-टुकडे करते-करते जो आखिरी टुकडा हो, जिसका दूसरा खण्ड न हो सके वह अन्तिम भाग ही परमाणु है। वह कारण ही होता है, द्व्यणुक—दो परमाणुओंसे बना स्कन्ध तो कार्य भी है। वह परमाणु सूक्ष्म है। हम लोगोंकी इन्द्रियोंके व्यापारसे उसका परिज्ञान नहीं हो सकता। आगमसे उसकी सत्ता जानी जाती है। वह परम सूक्ष्म होनेसे ही परमाणु कहा जाता है। द्रव्य दृष्टिसे वह ध्रुव है, सदा रहनेवाला है, किसीकी ताकत नहीं है कि वह परमाणुका नाश कर सके। हाँ पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे—उसकी हालतोंपर दृष्टिपात करनेसे—उसके नील पीतादि विकारोंके ऊपर नजर रखनेसे वह अनित्य प्रतीत होता है। उससे

§ १८४. तत्रातिदूराद्देशकालस्वभावविप्रकर्षात्[1] त्रिविधानुपलब्धिः। तत्र देशविप्रकर्षात् यथा कश्चित् देवदत्तो ग्रामान्तरं गतो न दृश्यते, तत्कथं स नास्ति। [2]सोऽस्त्येव[3], परं देशविप्रकर्षान्नोपलब्धिः। एवं समुद्रस्य परतटं मेर्वादिकं वा सदपि नोपलभ्यते। तथा कालविप्रकर्षाद् भूता निजपूर्वजादयो भविष्या[4] वा पद्मनाभादयो जिना नोपलभ्यन्ते, अभूवन् भविष्यन्ति च ते। तथा स्वभावविप्रकर्षान्नभोजीवदपिशाचादयो नोपलभ्यन्ते, न च ते न सन्ति।

§ १८५. तथातिसामीप्याद्[5] यथा नेत्रकज्जलं नोपलभ्यते तत्कथं तन्नास्ति। तदस्त्येव, [6]पुनरतिसामीप्यान्नोपलभ्यते।

§ १८६ तथेन्द्रियघाताद्[7] यथा अन्धबधिरादयो रूपशब्दादीन्नोपलभन्ते तत्कथं रूपादयो न सन्ति। सन्त्येव, ते [8]पुनरिन्द्रियघातान्नोपलभ्यन्ते[9]।

§ १८७. तथा मनोऽनवस्थानाद् यथा अनवस्थितचेता[10] न पश्यति। उक्तं च—

सबल पदार्थके द्वारा तिरस्कृत हो जानेसे, या समान पदार्थोंमे मिल जानेसे मौजूद भी पदार्थ अनुपलब्ध होते है, वे आँखोसे नही दिखाई देते।

§ १८४. अत्यन्त दूर होनेके कारण दूरदेशवर्ती पदार्थ अतीत तथा अनागतकालीन पदार्थ एव स्वभावसे ही अतीन्द्रिय परमाणु आदिकी अनुपलब्धि होती है। मान लो देवदत्त अपने गॉवसे किसी सुदूर गाँवको चला गया, इसलिए वह दिखाई नही देता तो क्या इतने मात्रसे उसका अभाव मान लिया जाय? वह है तो पर दूर देशमे चले जानेके कारण दिखाई नही देता। इसी तरह समुद्रका दूसरा किनारा, मेरुपर्वत आदि मौजूद रहकर भी दूरदेशी होनेके कारण उपलब्ध नही होते। अपने मरे हुए बाप दादा परदादा आदि पुरखे तथा आगे होनेवाले पद्मनाभ आदि तीर्थंकर कालकी दूरीके कारण नही दिखाई देते। पुरखा हुए तो अवश्य थे तथा तीर्थंकर होनेवाले भी अवश्य है परन्तु कालकी दूरीके कारण आँखोसे नही दिखाई देते। आकाशमे रहनेवाले छोटे-छोटे जीव तथा पिशाच आदि स्वभावसे ही इन्द्रियोके विषय नही हो सकते अतः वे नही दिखाई देते। इनमे स्वभावकी अपेक्षा अति दूरी है। परन्तु पिशाच आदिका अभाव तो नही किया जा सकता, वे है तो अवश्य ही।

§ १८५ आँखोका काजर अत्यन्त समीप होनेसे दिखाई नही देता, पर इससे उसका अभाव नही हो सकता। वह आखामे लगा तो अवश्य है परन्तु अत्यन्त निकटताके कारण दिखाई नही देता।

§ १८६ आँख फूट जानेसे या कान तडक जानेसे अन्धे और बहरे रूप और शब्दको नही जान पाते, तो क्या रूप और शब्दका अभाव मान लिया जाय? बात यह है कि रूप और शब्द सब कुछ मौजूद है परन्तु आंख और कान इन्द्रियोंके नष्ट हो जानेसे उनकी उपलब्धि नही होती।

§ १८७ चित्तका उस ओर झुकाव न होनेसे भी वह वस्तु उपलब्ध नही होती। जिसका चित्त उस ओर नही लगा वह उस वस्तुको आँख खुली रहनेपर भी नही देख सकता। कहा भी

§ १९१. तथाभिभवात्, सूर्यादितेजसाभिभूतानि ग्रहनक्षत्राणि नोपलभ्यन्ते, तत्कथं तेषामभावः[1]। किं तु तानि सन्त्येव, पुनरभिभवान्न दृश्यन्ते। एवमन्धकारेऽपि घटादयो नोपलभ्यन्ते।

§ १९२. समानाभिहाराच्च यथा मुद्गराशौ मुद्गमुष्टिः तिलराशौ तिलमुष्टिर्वा क्षिप्ता सती सूपलक्षितापि नोपलभ्यते, जले क्षिप्तानि लवणादीनि वा नोपलभ्यन्ते। तत्कथं तेषामभावः[2]। तानि सन्त्येव, पुनः समानाभिहारान्नोपलब्धिः।

§ १९३. तथा चोक्तं सांख्यसप्ततौ ७।

"अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥१॥" इति।

एवमष्टधा[3] सत्स्वभावानामपि भावानां यथानुपलम्भोऽभिहितः[4] एवं धर्मास्तिकायादयोऽपि विद्यमाना अपि स्वभावविप्रकर्षान्नोपलभ्यन्त इति मन्तव्यम्।

§ १९४. आह परः येऽत्र[5] देशान्तरगतदेवदत्तादयो दर्शिताः, तेऽत्रास्माकमप्रत्यक्षा अपि देशान्तरगतलोकानां केषांचित्प्रत्यक्षा[6] एव सन्ति तेन तेषां सत्त्वं प्रतीयते, धर्मास्तिकायादयस्तु कैश्चिदपि कदापि नोपलभ्यन्ते तत्कथं तेषां सत्ता[7] निश्चीयत इति। अत्रोच्यते; यथा देवदत्तादयः[8]

---

§ १९१. सूर्य आदि अधिक तेजवाले पदार्थोके प्रखर तेजसे कम चमकीले ग्रह नक्षत्र आदि ढँक जाते है. उनका प्रकाश तिरस्कृत हो जाता है, सूर्यके प्रकाशसे ही दब जाता है अत वे दिनको नही दिखाई देते तो क्या दिनको ग्रह नक्षत्र आदिका अभाव मान लिया जाय ? दिनको भी ग्रह नक्षत्र आदि बराबर मौजूद रहते है परन्तु सूर्यके तेजसे उनका तेज दब जाता है—अभिभूत हो जाता है अत वे दृष्टिगोचर नही हो पाते। इसी तरह अन्धकारमे अभिभूत हो जानेके कारण रात्रिमे घडे आदि नही दिखाई देते।

§ १९२ एक मुट्ठी भर मूँग या मुट्ठी भर तिल मूँगके ढेर या तिलके ढेरमे डाल दिये जायें तो वह समान वस्तुमे मिल जानेके कारण अच्छी तरह नही दिखाई देती, जलमे नमक डाल दीजिए परन्तु वह उसीमे घुल जानेसे अलग नही दिखता तो क्या इन सबका अभाव मान लिया जाय ? मुट्ठी भर मूंग आदि उस मूंगके ढेरमे है तो सही परन्तु समानवस्तुमे घुल मिल जानेसे पृथक् नही दिखाई देते।

§ १९३. साख्यसप्ततिनामक ग्रन्थमे कहा भी है—"अत्यन्त दूरी, अति समीपता, इन्द्रियघात, मनका उस ओर उपयोग न होना, सूक्ष्मता, व्यवधान, अभिभव तथा समान वस्तुमे मिल जानेके कारण पदार्थोकी अनुपलब्धि होती है।" इस तरह मौजूद पदार्थोको आठ कारणोसे अनुपलब्धि होती है। धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त पदार्थ विद्यमान है परन्तु स्वभावसे ही दूर अतीन्द्रिय होनेके कारण आँखोसे नही दिखाई देते। अमूर्त पदार्थोका स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे आँख आदि इन्द्रियोके ग्राह्य नही हो सकते।

§ १९४ शंका—आपने जिन दूर देशमे गये हुए देवदत्त आदिकी बात कही है, वे तो हम लोगोमे-से किसी न किसीके प्रत्यक्ष हो ही जाते है। देवदत्त हमे न दिखे पर जिस देशमे वह गया है वहाँके लोगोको तो दिखाई देता ही है अत उनकी सत्ता मानी जा सकती है पर ये धर्मास्तिकाय आदि तो किसीको कभी भी किसी भी तरह प्रत्यक्ष नही होते अत इनकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इनका तो अनुपलब्धि होनेसे अभाव ही होना चाहिए।

---

१. -व सन्त्येव तानि म० २। २ -व. सन्त्येव तानि म० २। ३ एवमष्टधापि सत्स्व- आ०, क०। ४ सत्स्वभावानामनुपलम्भोऽभिहित म० २। ५ यत्र म० २। ६ अपि तत्रस्थलोकाना प्रत्यक्षा एव म० २। ७ सत्त्वं म० २। ८. -य कस्यचित्-म० २।

केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वात्सन्तो निश्चीयन्ते, तथा धर्मास्तिकायादयोऽपि केवलिना प्रत्यक्षत्वात्किं न सन्तः प्रतीयन्ताम्। यथा वा परमाणवो नित्यमप्रत्यक्षा अपि स्वकार्यानुमेयाः स्युः, तथा धर्मास्तिकायादयोऽपि किं न स्वकार्यानुमेया भवेयुः। धर्मास्तिकायादीनां कार्याणि चामूनि। तत्र धर्मो गत्युपग्रहकार्यानुमेयः, अधर्मः स्थित्युपग्रहकार्यानुमेयः, अवगाहोपकारानुमेयमाकाशं, [1]वर्तनाद्युपकारानुमेयः कालः, प्रत्यक्षानुमानावसेयाश्च पुद्गलाः।

§ १९५. नन्वाकाशादयः स्वकार्यानुमेया भवन्तु, धर्माधर्मौ तु कथम्। अत्रोच्यते युक्तिः, धर्माधर्मौ हि स्वत एव गतिस्थितिपरिणतानां द्रव्याणामुपगृह्णीतोऽपेक्षाकारणतया आकाशकालादिवत्, न पुनर्निर्वर्तककारणतया, निर्वर्तकं हि कारणं तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यं वा गतिस्थितिक्रियाविशिष्टं, धर्माधर्मौ पुनर्गतिस्थितिक्रियाविशिष्टानां द्रव्याणामुपकारकावेव न पुनर्बलाद्गतिस्थितिनिर्वर्तकौ। यथा च सरित्तटाकह्रदसमुद्रे[2]ष्वेवेगवाहित्वे सति मत्स्यस्य स्वयमेव संजातजिगमिषस्योपग्राहकं जलं निमित्ततयोपकरोति, दण्डादिवत्कुम्भकारे कर्तरि मृदः परिणामिन्याः, नभोवद्वा नभश्चरता नभश्चराणामपेक्षाकारणं, न पुनस्तज्जलं गतेः कारणभावं बिभ्राणमगच्छन्तमपि मत्स्यं बलात्प्रेर्य

समाधान—जिस तरह देवदत्त आदिकी किसी देशान्तरवर्ती पुरुषोंके प्रत्यक्ष होनेसे सत्ता मान ली जाती है उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि भी तो केवलज्ञानियोंके प्रत्यक्ष होते हैं। अतः उनकी सत्ता भी क्यों न मानी जाय? जिस प्रकार सदा अप्रत्यक्ष रहनेवाले भी परमाणु अपने स्थूल कार्योंके द्वारा अनुमित होते हैं उसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदिका भी उनके गति स्थिति आदिमें सहकारिता रूप कार्योंके द्वारा अनुमान किया जाना चाहिए। धर्मास्तिकाय आदि के निम्नलिखित कार्य तो प्रसिद्ध ही हैं। गतिमें अपेक्षा कारण होना धर्म द्रव्यका कार्य है। स्थिति–ठहरनेमें सहकारी होना अधर्म द्रव्यका कार्य है, बसनेमें अवकाश देनेमें सहायता करना आकाशका कार्य है तथा पदार्थोंके परिणमन आदिमें मदद करना कालद्रव्यका कार्य है। इन कार्योंके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंका सहज ही अनुमान हो सकता है। पुद्गलके स्थूल स्कन्ध तो प्रत्यक्षसे ही देखे जाते हैं तथा सूक्ष्म स्कन्ध और परमाणुओंका अनुमानसे परिज्ञान होता है।

§ १९५ **शंका**—पुद्गल परमाणु तथा आकाश आदिका तो कार्यों के द्वारा अनुमान होना ठीक जँचता है, इनकी सत्ता समझमें आती है, इनके इन धर्म और अधर्म द्रव्यका अनुमान कैसे होता है? इनके कार्य भी प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देते तब अनुमान किस प्रकार किया जाय?

समाधान—जिस प्रकार आकाश और काल स्वयं रहनेवाले तथा परिणमन करनेवाले पदार्थों में तटस्थ रूपसे अपेक्षा कारण होते हैं उसी तरह ये धर्म और अधर्म द्रव्य स्वतः गति और स्थिति करनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें अपेक्षा कारण होते हैं। ये जीव पुद्गलोंकी गति और स्थितिके निर्वर्तक कारण नहीं हैं। जो जीव या पुद्गल चलते या ठहरते हैं वे ही जीव और पुद्गल अपनी गति और स्थितिके निर्वर्तक कारण होते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य तो स्वयं चलने तथा ठहरनेवाले जीव पुद्गलोंके तटस्थ उपकारक हैं, जबरदस्ती प्रेरणा करके उन्हें बलात् चलाते या ठहराते नहीं हैं। जिस प्रकार नदी तालाब या समुद्र आदि जलाशयोंमें जलके स्वभावतः बहनेसे स्वयं चलनेवाले मछली आदिका उपकार होता है, जल उनकी गतिमें साधारण अपेक्षा कारण होकर ही उपकार करता है, उसी तरह धर्म द्रव्य भी चलनेवाले पदार्थों-की गतिमें साधारण सहकारी होता है। जिस तरह परिणामिकारण मिट्टीसे कुम्हारके घडा बनानेमें दण्ड आदि साधारण निमित्त होते हैं या जिस प्रकार आकाशमें विचरनेवाले पक्षी आदि नभचरोंके उडनेमें आकाश अपेक्षा कारण होता है उसी तरह धर्मद्रव्य गतिमें अपेक्षा कारण होता है। जल

---

१ वर्तमानाद्युप–म० २। २ –समुद्रेषु वेग–आ०, क०। –समुद्रेष्वगाहित्वे म० २।

गमयति, क्षितिर्वा स्वयमेव तिष्ठतो द्रव्यस्य [1]स्थानभूयमापनीपद्यते, न पुनरतिष्ठद्द्रव्यं बलादवनिरवस्थापयति। व्योम चावगाहमानस्य स्वत एव द्रव्यस्य हेतुतामुपैत्यवगाहं प्रति, न पुनरनवगाहमानमवगाहयति स्वावष्टम्भात् । स्वयमेव कृषीवलाना कृष्यारम्भमनुतिष्ठतां वर्षमपेक्षाकारणं दृष्टम्, न च ननुकुर्वतस्तास्तदर्थमारम्भयद्वर्षवारि[2] प्रतीतम्, प्रावृषि वा नवाम्भोधरध्वनि[3]श्रवणनिमित्तोपाधीयमानगर्भा स्वत एव प्रसूते बलाका, न चाप्रसूयमाना[4] तामभिनवजलधरनिनादः प्रसभं प्रसावयति। प्रतिबुध्य वा पुरुषः प्रतिबोधनिमित्तामवद्याद्विरतिमातिष्ठमानो दृष्टो; न च पुमासमविरतं विरमयति बलात्प्रतिबोधः। न च [5]गत्युपकारोऽवगाहलक्षणाकाशस्योपपद्यते, किं तर्हि। धर्मस्यैवोपकारः स दृष्टः। स्थित्युपकारश्चाधर्मस्य नावगाहलक्षणस्य व्योम्नः। अवश्यमेव हि द्रव्यस्य द्रव्यान्तरादसाधारणः कश्चिद्गुणोऽभ्युपेयः[6]। द्रव्यान्तरत्वं च युक्तेरागमाद्वा निश्चेयम्। युक्तिरनन्तरमेवाग्रतो वक्ष्यते। [7]आगमस्त्वयम्—"कइण भते, दव्वा पण्णत्ता। गोयमा, छ दव्वा पण्णत्ता। त जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए।" ननु धर्म-

---

कुछ नही चलनेवाली मछलियोको जबरदस्ती प्रेरणा करके धक्का देकर नही चलाता। पृथिवी स्वय ठहरनेवाले पदार्थों के ठहरनेमे निमित्त तो हो जाती है परन्तु जो ठहरना नही चाहते उन पदार्थोंकी टाँग पकडकर उन्हे जबरदस्ती नही ठहरा लेती। आकाश स्वय अवकाश चाहनेवाले पदार्थों को यद्यपि अवकाश देकर उनका उपकार करता है पर वह नही रहनेवाले पदार्थों को अवकाश लेनेके लिए बाध्य नही करता। रहेगे तो अवकाश दे देगा नही तो अपने तटस्थ रहेगा। वर्षा स्वयं खेती करनेवाले किसानोको खेतीमे अपेक्षा कारण है परन्तु जबरदस्ती किसी किसानके हाथमे जोतनेके लिए हल नही पकडा देती। बरसातमे पहले-पहले आकाशमे घिरनेवाले नवमेघोकी ध्वनि सुनकर गर्भिणी बगुली स्वयं ही प्रसव करती है, मेघकी गर्जना उसे प्रसवके लिए बलात् प्रेरणा नही करती। पापाचार या ससारसे स्वय विरक्त पुरुषको ही संसारकी असारताका उपदेश उसके पापाचार या ससार त्यागमे निमित्त होता है, पर उपदेश पुरुषका हाथ पकड़कर उसे पापसे नही हटाता। इसी तरह धर्मद्रव्य किसी नही चलनेवालेपर जोर-जुल्म नही करता उन्हे बाध्य नही करता कि वे चले ही। हाँ, वे चलेगे तो उन्हे मदद अवश्य देगा। यह गतिमे उपकारी होना धर्म द्रव्यका ही कार्य है, यह अवकाश देनेवाले आकाशका कार्य नही हो सकता। इसी तरह ठहरनेमे अपेक्षा कारण होना अधर्मद्रव्यका ही कार्य है इसे अवकाश देनेवाला आकाश नही कर सकता। एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यमे पृथक् करनेवाला कोई असाधारण गुण अवश्य ही मानना होगा। यदि आकाश ही गति और स्थिति रूप कार्यो मे सहकारी हो जाय, तो धर्म और अधर्म द्रव्य जो कि युक्ति और आगमसे स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध है, निरर्थक ही हो जायेगे। जब धर्म अधर्म और आकाश तीनो ही युक्ति और आगमसे स्वतन्त्र द्रव्य है तब इनके असाधारण गुण तथा कार्य भी पृथक् होने ही चाहिए। इन तीनोका स्वतन्त्र रूपसे पृथक् द्रव्य होना युक्ति तथा आगम दोनोसे प्रसिद्ध है। युक्तियाँ तो आगे देगे। आगम इस प्रकार है—"भन्ते, द्रव्य कितने है? हे गौतम, द्रव्य छह कहे गये है। वे इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धासमय अर्थात् काल।

---

१ स्थापनभूयमा–म० २। २ –तस्ता तद्–म० १, म० २, प० १, प० २। ३ –ध्वनिनिमित्तो –म० २। ४ –मानामभिनव–म० २। ५ गत्युपग्रहकारोऽव–म० २। ६ –पेत्य म० १, प० १, प० २। –पेतव्य. म० २। ७ "छव्विहे दव्वे पण्णत्ते, तं जहा—धमत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये अ, सेत दव्वणामे।" —अनुयोग० द्रव्यगुण० सू० १२४।

§ १९७. अवगाहिनां धर्मादीनामवकाशदायित्वेनोपकारेणाकाशमनुमीयते । अवकाशदायित्वं चोपकारोऽवगाहः[1] स चात्मभूतोऽस्य लक्षणमुच्यते । मकरादिगत्युपकारकारिजलादिदृष्टान्ता अत्राप्यनुवर्तनीयाः ।

§ १९८. नन्वयमवगाहः पुद्गलादिसंबन्धी व्योमसंबन्धी च ततः स उभयोर्धर्मः कथमाकाशस्यैव लक्षणम् । उभयजन्यत्वात्, द्व्यङ्गुलसंयोगवत् । न खलु द्रव्यद्वयजनितः संयोगो द्रव्येणैकेन व्यपदेष्टुं पार्यते लक्षणं चैकस्य भवितुमर्हतीति, सत्यमेतत्; सत्यपि संयोगजन्यत्वे लक्ष्यमाकाशं प्रधानम् ततोऽवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तदाकाशमवगाह्यमवगाहलक्षणं विवक्षितम् इतरत्तु पुद्गलादिकमवगाहकम्, यस्माद्व्योमैवासाधारणकारणतयावगाह्यत्वेनोपकरोति, अतो द्रव्यान्तरासंभविना स्वेनोपकारेणातीन्द्रियमपि व्योमानुमेयम् आत्मवत्, धर्मादिवद्वा । यथा पुरुषहस्तदण्डकसंयोगभेर्यादिकारणः शब्दो भेरीशब्दो व्यपदिश्यते, भूजलानिलयवादिकारणश्चाङ्कुरो यवाङ्कुरोऽभिधीयते, असा-

---

होती अत वह जलकी अपेक्षा रखती है । गति और स्थितिमे उदासीन कारण है धर्म और अधर्म द्रव्य । इस समर्थ युक्तिसे धर्म अधर्म द्रव्यकी सिद्धि होती है ।

§ १९७ धर्म अधर्म आदि सभी अवकाश चाहनेवाले द्रव्योको अवकाश–स्थान देने रूप कार्यसे आकाशका अनुमान किया जाता है । अवकाश देना ही आकाशका अवगाह रूप उपकार है । यह आकाशका स्वाभाविक असाधारण लक्षण है । मगर आदिकी गति आदिमे जिस प्रकार जल आदि उदासीन अपेक्षा कारण है उसी तरह आकाश समस्त वस्तुओको अवकाश देनेमे उदासीन निमित्त है । इस तरह ऊपर जो जल आदिके दृष्टान्त दिये है वे सब आकाशकी सिद्धिमे भी लगा लेने चाहिए ।

§ १९८ शंका—अवकाश या अवगाह तो यदि देनेकी दृष्टिसे आकाशका धर्म है तो पानेकी दृष्टिसे पुद्गल आदिका भी है । 'आकाशमे पुद्गलादि रहते है' तो यह 'रहना' आकाश और पुद्गल दोनोका ही धर्म हो सकता है क्योकि इसमे समान रूपसे दोनो ही कारण होते है । जैसे अँगुलियोका आपसी संयोग दोनो अँगुलियोका ही धर्म होता है किसी एक अँगुलीका नही । दो द्रव्योसे उत्पन्न होनेवाला संयोग किसी एक द्रव्यका ही नही कहा जा सकता, वह तो दोनो द्रव्योका ही संयोग कहा जायगा । इसी तरह जब अवगाह भी आकाश और पुद्गलादि दोनोका ही धर्म है तब उसे केवल आकाशका ही धर्म कैसे कह सकते है ?

धारणकारणत्वात्, एवमवगाहोऽप्यम्बरस्य प्रतिपत्तव्यः ।

§ १९९. वैशेषिकास्तु[1] शब्दलिङ्गमाकाशं संगिरन्ते, गुणगुणिभावेन व्यवस्थानादिति तदयुक्तम्;रूपादिमत्त्वाच्छब्दस्य, रूपादिमत्ता च प्रतिघाताभिभवाभ्यां [2]विनिश्चेया ।

§ २००. कालस्तु वर्तनादिभिर्लिङ्गैरनुमीयते । यतो वर्तना[3] प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैकसमयस्वसत्तानुभूतिलक्षणा, सा च सकलवस्त्वाश्रया कालमन्तरेण प्रतिसमयमनुपपन्ना, अतोऽस्ति कार्यानुमेयः कालः पदार्थपरिणतिहेतुः लोकप्रसिद्धाश्च कालद्रव्याभिधायिनः शब्दाः सन्ति न तु सूर्यक्रियामात्राभिधायिनः । यथाह—

"युगपदयुगपत्क्षिप्र चिर चिरेण परमपरमिदमिति च ।
वर्त्स्यति नैतद्वर्त्स्यति [4]वृत्त तत्तन्न वृत्तमपि ।। १ ।।

साथ भूमि जल हवा आदि अनेको कारण होते हैं, पर उन सबसे उत्पन्न होनेवाला यवांकुर ही कहा जाता है भूमि या जलका अकुर नही । उसी तरह अवगाहमे आकाशके साथ भले ही पुद्गल आदि कारण रहो, पर प्रधान या असाधारण कारण तो आकाश ही है अत अवगाह असाधारण कारण रूप आकाशका ही धर्म हो सकता है साधारण कारण पुद्गलादिका नही ।

§ १९९ वैशेषिक लोग शब्दको आकाशका गुण मानकर शब्दसे आकाशका अनुमान करते है । वे शब्दको गुण तथा आकाशको गुणी कहकर इनमे गुणगुणी भाव स्थापित करते है । उनकी यह मान्यता युक्ति तथा अनुभव दोनोसे विरुद्ध है । पौद्गलिक शब्दमे तो रूप रस आदि पाये जाते है जब कि आकाशमे इनकी गन्ध भी नही है वह तो निखालिस अमूर्त है । जब आकाशमे और शब्दमे इतना बडा विरोध—भेद है तब इनमे गुणगुणिभाव कैसे बन सकता है ? शब्दका मूर्त होना या पौद्गलिक होना प्रतिघात तथा अभिभवसे सिद्ध होता है । देखो, शब्द दीवालसे टकरा जाता है, बिजली आदिको तीव्र तडतडाहट कानके परदेको फाड देती है, शब्दकी प्रतिध्वनि होती है, बाजोके जोरदार शब्द मन्द शब्दोका अभिभव—तिरस्कार कर देते है, उन्हे ढँक देते है । यदि शब्द अमूर्त होता तो उसमे प्रतिघात—टकराना तथा अभिभव—मन्द शब्दोका अभिभव—नही हो सकता था । आकाश या धर्मादि अमूर्त वस्तुएँ न तो किसीसे टकराती है और न किसीका अभिभव ही करती है । ये प्रतिघात और अभिभव ही शब्दको मूर्त तथा पौद्गलिक सिद्ध कर देते हैं ।

§ २०० काल द्रव्यका अनुमान वर्तना परिणाम आदि लिगोसे किया जाता है । प्रत्येक द्रव्य और पर्याय प्रतिक्षण जो अपनी एक समयवाली सत्ताका अनुभव करता है वह सभी वस्तुओकी एक क्षणवाली सत्ता ही वर्तना कहलाती है । यदि कालद्रव्य न हो तो यह समस्त पदार्थोकी एक समयवाली सत्ता नही बन सकती । अत इसी एक समयवाली पदार्थों की सत्ता रूप वर्तनासे पदार्थों के परिणमनमे निमित्त होनेवाले कालका अनुमान किया जाता है । सूर्यकी क्रियाको ही काल नही कह सकते, क्योकि ससारमे कालके वाचक ही 'जल्दी, देरी, एक साथ, क्रमसे' इत्यादि शब्दोका प्रयोग या व्यवहार होता है, सूर्यकी गतिका वाचक शब्द तो कालके अर्थमे कही भी प्रयुक्त नही होता । अत लोक व्यवहारके अनुसार कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानना चाहिए । कहा भी है—"सभी आप्त-प्रामाणिक पुरुष 'युगपत्,अयुगपत्–क्रमसे, क्षिप्र–शीघ्र, चिर–देर, चिरेण–बहुत देर, पर–बडा पुराना, अपर–नया छोटा, यह होगा, यह नही होगा, यह हुआ था, यह नही हुआ,

---

१ "शब्दोऽम्बरगुण श्रोत्रग्राह्य ।"—प्रश० भा०, व्यो० पृ० ६४५ । २ –येति कालस्तु भ० २ ।
३ प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।" —त० वा० ५।२२ । ४ वृत्तं तन्न आ० ।

वर्तते इदं न वर्तते इति कालापेक्षमेवाप्ता यत् ।
सर्वे ब्रुवन्ति तस्मान्ननु सर्वेषां मतः कालः ॥ २ ॥
ह्य श्वोऽद्य सप्रति [2]परुत्परारि नक्तं दिवैषमः प्रातः ।
सायमिति कालवचनानि कथं युक्तान्यसति काले ॥ ३ ॥"

§ २०१. परिणामोऽपि सजातीयानां वृक्षादिवस्तूनामेकस्मिन्काले ऋतुविभागकृतो वेलानियमकृतश्च विचित्रः कारणं नियामकमन्तरेणानुपपन्नः ततः समस्ति तत्कारणं काल इत्यवसीयते । तथा विनष्टो विनश्यति विनङ्क्ष्यति च घट इत्यादिक्रियाव्यपदेशा अतीतवर्तमानानागतकालत्रयविभागनिमित्ताः परस्परासंकीर्णाः संव्यवहारानुगुणाः कालमन्तरेण न भवेयुः, ततोऽस्ति कालः । तथेदं परमिदमपरमिति यन्निमित्ते प्रत्ययाभिधाने, [3]स समस्ति काल इति ।

§ २०२ पुद्गलाः प्रत्यक्षानुमानागमावसेयाः, तत्र [4]कटघटपटलकुटशकटादयोऽध्यक्षसिद्धाः । अनुमानगम्या इत्थम्—स्थूलवस्त्वन्यथानुपपत्त्या सूक्ष्मपरमाणुद्व्यणुकादीनां सत्तावसीयते, आगमगम्यता चैवं "पुद्गलत्थिकाए" इत्यादि[5] । तथा परमाणवः सर्वेऽप्येकरूपा एव विद्यन्ते, न पुन-

---

यह हो रहा है, यह नही हो रहा है, इत्यादि कालकी अपेक्षा ही व्यवहार करते हुए देखे जाते है। इसलिए यह मानना ही होगा कि सब लोग कालके अस्तित्वको स्वीकार करते है। यदि कालद्रव्य न हो तो—'बीता हुआ दिन, आज, आगे आनेवाला दिन, इसी समय, पीछे, बहुत जल्दी, रात, दिन, अभी, सबेरे, शाम' इत्यादि काल सम्बन्धी व्यवहार कैसे बनेगे। ये व्यवहार काल द्रव्यके माने विना सिद्ध नही हो सकते ॥ १–३ ॥

§ २०१. एक ही जातिके वृक्ष आदि पदार्थोमे एक ही समय ऋतुविभाग तथा प्रातः, दुपहरी और सायंकाल आदि समय विभागसे विचित्र-विचित्र परिणमन—हालते देखी जाती है। ये परिणमन विना किसी निमित्तकारणके तो हो ही नही सकते। अत इनसे परिणमनमे साधारण निमित्त होनेवाले कालका अनुमान किया जाता है। इसी तरह घड़ा फूट गया, फूट रहा है या फूटेगा ये भिन्न कालवर्ती क्रियात्मक व्यवहार अतीत वर्तमान और अनागत कालके बिना नियत रूपमे नही हो सकते। तीनो कालके माने विना तो ससारके व्यवहार ही रुक जायँगे। अत काल द्रव्य मानना ही चाहिए। 'यह बडा है, जेठा है, यह छोटा है, लहुरा है' ये ज्ञान तथा ऐसे शब्दोका प्रयोग भी कालके निमित्तसे ही होते है।

§ २०२. पुद्गल द्रव्य तो प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणसे प्रसिद्ध है। चटाई, घडा, कपडा, डडा गाडी आदि पौद्गलिक पदार्थ प्रत्यक्षसे ही दिखाई देते है। घट, पट आदि स्थूल पदार्थोको देखकर द्व्यणुक तथा सूक्ष्म परमाणुओका अनुमान किया जाता है। आगममे भी पुद्गलास्तिकाय की चर्चा आती ही है। पुद्गलद्रव्यके परमाणु सभी एक पुद्गल जातिके ही है उनमे पार्थिव जलीय आदि रूपसे भीतरी जाति भेद नही है। वैशेषिक परमाणुओकी चार जातियाँ मानते है। उनमे पार्थिव जातिके परमाणुओमे रूप रस गन्ध और स्पर्श ये चारो ही गुण पाये जाते है, जलीय परमाणुओमे गन्धके अतिरिक्त शेष तीन गुण पाये जाते है। अग्निके परमाणुओमे रूप और स्पर्श ये दो ही गुण होते है तथा वायुके परमाणुओमे केवल एक स्पर्श गुण ही पाया जाता है। वैशेषिकोकी यह परमाणुओमे जातिभेदकी कल्पना बिलकुल असगत तथा प्रमाण शून्य है,

---

१ –मेव सर्वे यत् आप्ता ब्रुवन्ति भ० २ । २ परुत्परारि म० २ । ३ समस्ति स काल भ० २ । ४ घटपटकटलकुट–म० २ । ५ "चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए ।" —स्थानांग स्थान ४ उद्दे० १ सू० २५१ । व्यां० प्र० श० ७ उद्दे० १० सू० ३०५ ।

वैशेषिकाभिमतं चतुस्त्रिद्व्यणुकस्पर्शादिगुणवतां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयपरमाणूनां जातिभेदाच्चतूरूपाः। यथा [2]लवणहिंगुनी स्पर्शनचक्षुरसनघ्राणयोग्येऽपि जले विलीने सती लोचनस्पर्शनाभ्यां ग्रहीतु न शक्ये परिणामविशेषवत्त्वात्, एवं पार्थिवादिपरमाणवोऽप्येकजातीया एव परिणतिविशेषवत्त्वात् न सर्वेन्द्रियग्राह्या भवन्ति, न पुनस्तज्जातिभेदादिति[3]।

§ २०३. शब्दादीना तु पौद्गलिकतैवं ज्ञेया—शब्दः पुद्गलद्रव्यपरिणामः, तत्परिणामता चास्य मूर्तत्वात्, मूर्तता चोरःकण्ठशिरोजिह्वामूलदन्तादिद्रव्यान्तरविक्रियापादनसामर्थ्यात्, पिप्पल्यादिवत्। तथा ताडयमानपटहभेरीझल्लरितलस्थकिलिञ्चादिप्रकम्पनात्। तथा शङ्खादिशब्दानामतिमात्रप्रवृद्धाना श्रवणबधिरीकरणसामर्थ्यम्[4] तच्चाकाशादावमूर्ते नास्ति। अतो न तद्गुणः शब्दः। तथा प्रतीपयायित्वात्[5], पर्वतप्रतिहतप्रस्तरवत्। तथा शब्दो नाम्बरगुणः[6], द्वारानुविधा-

क्योकि इन पृथिवी आदिमे परस्पर उपादान-उपादेय भाव देखा जाता है—पृथिवीका जल बन जाता है, जलका मोती तथा बाँस आग बन जाते है। आप जाति भेदकी कल्पना इसीलिए करते है कि—सभी पृथिवी आदि द्रव्य सभी इन्द्रियोके द्वारा गृहीत नही होते, सो इसका कारण तो पुद्गल द्रव्यके परिणमनकी विचित्रता है। देखो, जो नमक और हीग अपनी स्थूल पार्थिव अवस्थामे कानके सिवाय सभी इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण किये जाते थे वे ही जब पानीमे घुल-मिलकर पानी बन जाते है तब आँखसे तथा स्पर्शन इन्द्रियसे ग्रहण नही किये जा सकते। इसी तरह पृथिवी—जल आदि द्रव्योके सभी परमाणु साधारण रूपसे एक पुद्गलजातिके होकर भी अपने विचित्र परिणमनके कारण सभी सब इन्द्रियोके ग्राह्य नही होते। जिसमे जो गुण उद्भूत होगा वह उसी गुणको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियसे गृहीत होगा। इसके लिए परमाणुओमे जातिभेद मानना निरर्थक है। पुद्गलोके परिणमनकी विचित्रतासे ही अमुक-अमुक परमाणुओको अमुक-अमुक इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण होनेका निर्वाह हो जाता है।

§ २०३. शब्द आदि पौद्गलिक है। शब्द मूर्त होनेके कारण पौद्गलिक है। शब्दको पैदा करते समय हृदय गला सिर जीभका आखिरी मूल भाग, दात आदिमे जोर लगाना पडता है। इनमे विकार आनेसे क्रिया होनेसे ही शब्दकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पीपल आदिके खानेसे गला आदि कुछ विकृत हो जाते है उसी तरह शब्दका उच्चारण करते समय भी गलेआदिमे विकार आता ही है। अत मूर्त पदार्थोमे विकार पैदा करनेकी सामर्थ्य रखनेके कारण शब्द भी पीपल आदिकी तरह मूर्त है। जब भेरी नगाडा झालर तबला आदि बजाते है तो इनमे कम्प पैदा होता है। यदि शब्द अमूर्त होता तो उससे मूर्त झालर आदिमे कम्प कभी नही हो सकता था। शख आदिको जोरसे फूँकनेपर उत्पन्न होनेवाला तीव्र शब्द कानके परदे फाड देता है, मनुष्यको बहरा बना देता है। ये सब मूर्त पदार्थो मे विक्रिया करनी, उन्हे कँपाना तथा सुननेवालेको बहरा बना देनेकी शक्तियाँ अमूर्त आकाशमे तो सम्भव ही नही है अत शब्द आकाश-

---

१ "कथ तर्हि इमे गुणा विनियोक्तव्या इति। एकैकश्येन उत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणा तदनुपलब्धि ।" —न्यायसू० ३।१।६४। २ –गुनिम्वस्पर्शन–भ० २। ३ "पृथिव्यप्तेजोवायुमनासि पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भवन्ति, रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्। न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ता परमाणव सन्ति, जातिसकरेणारम्भदर्शनात्।"—सर्वार्थसि० ४।३। ४ "कर्णशष्कुल्या कटकटायमानस्य प्रायश प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिन शब्दस्य प्रसिद्धि अस्पर्शत्वकल्पनामस्तगमयति ।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०८। "द्रव्य शब्द, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिणामसख्यासयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवविध तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चाय शब्द, तस्माद्द्रव्यम्।"—प्रमेयक० पृ० ५५०। ५ –पव्यापित्वात् भ० २। ६ "गुणवान् शब्द स्पर्श-अल्पत्व-महत्त्वपरिमाण-सख्या-सयोगाश्रयत्वात्, यद् एवविध तद् गुणवत् यथा बदर-आमलकादि, तथा च शब्द, तस्मात्तथा इति।"—न्यायकुमु० पृ० २४३।

यित्वात्, आतपवत्। तस्मिन्नेव पक्षे[5] सनिदर्शनं साधनपञ्चकं प्रपञ्च्यते। यथा शब्दोऽम्बरगुणो न भवति संहारसामर्थ्यात् अगुरुधूपवत्, तथा वायुना प्रेर्यमाणत्वात् तृणपर्णादिवत्, सर्वदिग्ग्राह्यत्वात् प्रदीपवत्, अभिभवनीयत्वात् तारासमूहादिवत्, अभिभावकत्वात् सवितृमण्डलप्रकाशवत्। महता हि शब्देनाल्पीयानभिभूयते शब्द इति प्रतीतमेव, तस्मात्पुद्गलपरिणामः शब्दः।

§ २०४. अथ शङ्खे तद्विनाशे तदीयखण्डेषु[3] च यथा पौद्गलिकत्वाद्रूपमुपलभ्यते, तथा शब्देऽपि कुतो नेति चेत्, उच्यते, सूक्ष्मत्वात्, विध्यातप्रदीपशिखारूपादिवत् गन्धपरमाणुव्यवस्थितरूपादिवद्वेति। गन्धादीनां तु पुद्गलपरिणामता प्रसिद्धैव।

§ २०५. तमश्छायादीनां त्वेवम्—तमः[4] पुद्गलपरिणामो दृष्टिप्रतिबन्धकारित्वात् कुड्यादिवत्, आवारकत्वात् पटादिवत्।

का गुण नहीं है। वह तो मूर्त तथा पौद्गलिक है। जिस तरह पर्वतकी तरफ फेंका गया पत्थर उससे टकराकर वापिस उलटा आता है उसी तरह शब्द भी दीवाल आदिसे टकराकर वापिस प्रतिध्वनि करता है अतः उसे पत्थरकी ही तरह मूर्त मानना चाहिए। शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि जहाँ उसे रास्ता मिलता है वह वहींसे चला जाता है जैसे कि सूर्यका प्रकाश। शब्द यदि अमूर्त होता तो वह सब जगह अप्रतिहत निर्बाधरूपसे गमन कर सकता था फिर उसे द्वार—रास्तेकी आवश्यकता ही क्यों होती। शब्दको पौद्गलिक सिद्ध करनेके लिए तथा उसको

§ २०६. छायापि शिशिरत्वात् आप्यायकत्वात् जलवातादिवत्।[1] छायाकारेण परिणममानं प्रतिबिम्बमपि पौद्गलिकं साकारत्वात्।

§ २०७. अथ कथं कठिनमादर्शं प्रतिभिद्य मुखतो निर्गताः पुद्गलाः प्रतिबिम्बमाजिहत इति चेत्। उच्यते; तत्प्रतिभेदः कठिनशिलातलपरिस्रुतजलेनायस्पिण्डेऽग्निपुद्गलप्रवेशेन शरीरात्प्रस्वेदवारिलेशनिर्गमनेन च व्याख्येयः।

§ २०८. आतपोऽपि द्रव्यं तापकत्वात्, स्वेदहेतुत्वात्, उष्णत्वात्, अग्निवत्। उद्योतश्च[3] चन्द्रिकादिर्द्रव्यं आह्लादकत्वात् जलवत्, प्रकाशकत्वात् अग्निवत्। तथा पद्मरागादीनामनुष्णाशीत उद्योतः। अतो मूर्तद्रव्यविकारस्तमश्छायादिः इति सिद्धाः पुद्गलाः। इति सुस्थितमजीवतत्त्वम्।

§ २०९. अथ पुण्यतत्त्वमभिधत्ते 'पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः' इति। पुण्यं सन्तस्तीर्थंकरत्वस्वर्गादिफलनिर्वर्तकत्वात्प्रशस्ताः कर्मणा पुद्गला जीवसंबद्धाः कर्मवर्गणाः ॥ ४८-४९ ॥

§ २१०. अथ पापास्रवतत्त्वे व्याख्याति—

---

§ २०६ छाया भी पौद्गलिक है क्योंकि वह ठंडी तथा शरीरका पोषण करके शान्ति—तरावट देती है जैसे कि गरमीके दिनोंमे अचानक चलनेवाली ठंडी हवा। दर्पण आदिमे छाया रूपसे पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी पौद्गलिक है क्योंकि वह आकारवाला है।

§ २०७. शंका—मुखसे निकलनेवाले छायापुद्गल अत्यन्त कठोर दर्पणको भेदकर प्रतिबिम्ब कैसे बन जाते है?

समाधान—जिस प्रकार किसी पत्थरकी बडी शिलापर पानी टपकनेसे उनमे पानीके परमाणुओका प्रवेश हो जाता है और वह उस शिलाको ठंडा कर देते है तथा आगमे लोहेके गोलेको तपानेसे उसमे अग्निके परमाणु घुस जाते हैं और वे उसे आगकी तरह लाल और गरम बना देते है अथवा जिस तरह शरीरको भेदकर पसीना निकल आता है उसी तरह मुखके छायापुद्गल दर्पणमे घुस जाते हैं और प्रतिबिम्ब रूपसे परिणत हो जाते हैं। पुद्गलोके परिणमनकी विचित्रताएँ ही इसका एक मात्र सहज उत्तर है।

§ २०८ आतप—धूप भी पुद्गल रूप है क्योंकि वह ताप देती है, पसीना लाती है तथा उष्ण होती है जैसे कि अग्नि। इसी तरह प्रकाश तथा चाँदनी आदि भी पुद्गल रूप ही हैं क्योंकि ये जलकी तरह तरावट पहुँचाते है, इन्हे देखकर तबियत उसी तरह ठंडी और आनन्दित हो जाती है जिस प्रकार झरते हुए शीतल झरनेको देखकर। ये प्रकाश करते है जैसे कि अग्नि। पद्मराग आदि मणियोका प्रकाश अनुष्णाशीत—न ठंडा और न गरम किन्तु सम—होता है। इस तरह अन्धकार और छाया आदिको मूर्त तथा पौद्गलिक समझ लेना चाहिए। इस तरह अजीव तत्त्वका व्याख्यान हुआ।

§ २०९ अब पुण्यतत्त्वका निरूपण करते हैं—सत्–प्रशस्त कर्म पुद्गलोको पुण्य कहते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती स्वर्ग आदि प्रशस्त पदोपर पहुँचानेवाले कर्मपुद्गल पुण्य कहलाते है। ये कर्म पुद्गल जीवसे सम्बद्ध रहते हैं॥ ४८–४९ ॥

§ २१०. अब पाप और आस्रव तत्त्वका व्याख्यान करते हैं—

---

१. द्रव्य छायाचन्धकार घटाद्यावारकत्वात् काण्डपटादिवत्। गतिमत्त्वाच्चासौ वाणादिमद्द्रव्यम्।" —न्यायकुमु० पृ० ६७१। २ -कारे परि-म० २। "आतप उष्णप्रकाशलक्षण।" —त० वा० ५।२४। ३ "उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषय।" —त० वा० ५।२४।

पापं तद्विपरीतं तु मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ।
ये बन्धस्य स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने ॥५०॥

§ २११ व्याख्या—तुर्भिन्नक्रमे, पापं तु तस्मात्पुण्याद्विपरीतम्—नरकादिफलनिर्वर्तकत्वादप्रशस्ता जीवसंबद्धाः कर्मपुद्गलाः पापमित्यर्थः ।

§ २१२. इह च[1] वक्ष्यमाणबन्धतत्त्वान्तर्भूतयोरपि पुण्यपापयोः पृथग्निर्देशः पुण्यपापविषयनानाविधपरमतभेदनिरासार्थः । परमतानि चामूनि—केषाचित्तैर्थिकानामयं[2] प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति, न पापम् । अन्ये त्वाहुः [3]पापमेवैकमस्ति न पुण्यम् । अपरे तु वदन्ति उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्पं सन्मिश्रसुखदुःखाख्य[4]फलहेतुः साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति । अन्ये पुनराहुः । मूलतः कर्मैव नास्ति स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्च इति तदेतानि निखिलानि मतानि न सम्यगिति मन्तव्यानि यतः सुखदुःखे विविक्ते एवोभे सर्वै[5]रनुभूयेते, ततस्तत्कारणभूते पुण्यपापे अपि स्वतन्त्रे एवोभे अङ्गीकर्तव्ये, न पुनरेकतरं तद्द्वयं वा [5]तन्मिश्रमिति ।

§ २१३. अथ कर्माभाववादिनो नास्तिका वेदान्तिनश्च वदन्ति, ननु पुण्यपापे नभोऽम्भोजनिभे एव मन्तव्ये, न पुनः सद्भूते, [6]कुतः पुनस्तयोः फलभोगस्थाने स्वर्गनरकाविति चेत् ।

पुण्यसे विपरीत, अप्रशस्त कर्मपुद्गल पाप है । जिनशासनमें कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं, ऐसे विकारी भाव जिनसे कर्म आते हैं ॥ ५० ॥

§ २११. श्लोकमे 'तु' शब्द भिन्नान्वयी है । अतः इसका सम्बन्ध पाप शब्दके साथ लगा लेना चाहिए । पाप तो उस पुण्यसे ठीक उलटा होता है । नरक आदि अशुभ फलको देनेवाले अप्रशस्त कर्मपुद्गल पाप कहलाते है । ये पुद्गल भी जीवसे सम्बन्ध रखते है ।

§ २१२ यद्यपि आगे कहे जानेवाले बन्ध तत्त्वमे इन पुण्य और पापका अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी प्रतिवादियो-द्वारा पुण्य और पापके विषयमे की गयी कल्पनाओका निराकरण करनेके लिए उनका स्वतन्त्र निर्देश किया है । पुण्य-पापके विषयमे प्रतिवादी इस प्रकार कल्पनाएँ करते हैं—कोई अपनेको तीर्थंकर माननेवाले कहते है कि 'संसारमे पुण्य ही पुण्य है पापका तो नाम भी नही है, इस पाप शब्दको कोशसे निकाल देना चाहिए ।' तो दूसरे कहते है कि—'यह ससार पाप रूप ही है इसमे पुण्यका लेश भी नही है ।' तो तीसरे कहते है कि—'ससारमे पुण्य और पाप दोनो हो एक दूसरेसे मिले हुए है । जिस तरह मेचक मणिमे अनेकों रगोका मिश्रण रहता है उसी तरह पुण्य और पाप परस्परमे मिले हुए है । ये दु खमिश्रित सुख तथा सुखमिश्रित दु ख रूप फलको देते है । अत एक पुण्य-पाप रूप तीसरी ही मिश्रित वस्तु माननी चाहिए । तो चौथे पुण्य और पाप दोनोका समूल उच्छेद करते है । वे कहते है कि—जगत्मे पुण्य और पाप कुछ नही है । यह सारा जगत् स्वाभाविक है स्वत सिद्ध है । ये सब मत प्रमाणविरुद्ध है, क्योंकि जब ससारमे सभी प्राणियोको सुख और दु खका भिन्न ही भिन्न अनुभव होता है तब उनके उत्पन्न करनेवाले पुण्य और पापको भी स्वतन्त्र तथा भिन्न ही भिन्न स्वीकार करना चाहिए, न तो पुण्य और पापमे-से किसी एकको माननेसे ही काम चल सकता है और न दोनोको मिश्रित माननेसे ही ।

§ २१३ नास्तिक तथा वेदान्ती लोग पुण्य और पाप कर्मकी सत्ता नही मानते । उनका अभिप्राय यह है कि—जब पुण्य और पाप आकाशके फूलकी तरह असत् ही है वे किसी भी तरह सत् नही है तब उनके फल भोगनेके लिए स्वर्ग नरक आदि मानना कोरी निरर्थक कल्पना है । ये तो जीवोको डराने तथा ललचानेके लिए कुशल व्यक्तियोंके दिमागकी उपज है ।

[1] इह च–मु० २ । [2] –चित्तैर्थिकाना–मु० १, म० २, प० १, प० २, क० । [3] पापमेवैकम–मु० २ । [4] –दुःखैक– मु० २ । [5] तन्मि–मु० २ । [6] कुतस्त्यौ मु० २ ।

§ २१४. उच्यते, पुण्यपापयोरभावे सुखदुःखयोर्निर्हेतुकत्वादनुत्पाद एव स्यात्, स च प्रत्यक्षविरुद्धः, तथाहि—मनुजत्वे समानेऽपि दृश्यन्ते केचन[1] स्वामित्वमनुभवन्तो, अपरे पुनस्तत्प्रेष्यभावमाबिभ्राणाः, एके च लक्षकुक्षिभरयः, अन्ये तु स्वोदरदरीपूरणेऽप्यनिपुणाः, एके देवा इव निरन्तरं सरसविलाससुखशालिनः, इतरे पुनर्नारका इवोन्निद्रदुःखविद्राणचित्तवृत्तय इति। अतोऽनुभूयमानसुखदुःखनिबन्धने पुण्यपापे स्वीकर्तव्ये। तदङ्गीकरणे च विशिष्टयोस्तत्फलयोर्भोगस्थाने स्वर्गनरकावपि प्रतिपत्तव्यौ, अन्यथार्धजरतीयन्यायप्रसङ्गः[2] स्यात्। प्रयोगश्चात्र—सुखदुःखे कारणपूर्वके, कार्यत्वात्, अङ्कुरवत्। ये च तयोः कारणे, ते पुण्यपापे मन्तव्ये, यथाङ्कुरस्य बीजम्।

§ २१५. अथ नीलादिकं मूर्तं वस्तु यथा स्वप्रतिभासिज्ञानस्यामूर्तस्य कारणं भवति, तथान्नस्रक्चन्दनाङ्गनादिकं मूर्तं दृश्यमानमेव सुखस्यामूर्तस्य कारणं भविष्यति, अहिविषकण्टकादिकं च दुःखस्य। ततः किमदृष्टाभ्यां पुण्यपापाभ्यां परिकल्पिताभ्यां प्रयोजनमिति चेत्।

§ २१४ नास्तिकोंका यह कथन बिलकुल निराधार तथा अप्रामाणिक है, क्योंकि यदि संसारमें पुण्य और पाप कोई चीज ही न हो तो सुख और दुःखकी विचित्रताकी बात तो जाने दीजिए, सुख दुःख उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे। बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति न तो देखी ही गयी है और न सुनी ही। इस तरह पुण्य और पापके अभावमें जगत्से सुख-दुःखकी चर्चा ही उठ जायगी पर जगत्से सुख-दुःखका उठा देना तो सरासर आँखोंमें धूल झोंकना है। देखो, मनुष्य तो सभी हैं, पर एक तो राजा बने हुए हुक्म चलाते हैं दूसरे उनकी टहल चाकरी करते हैं। एक लखपती है जो लाखों भुखमरोंका भरण-पोषण करता है तो दूसरा बेचारा दिन-भर कठोर मेहनत करनेपर भी अपना पेट भी पूरी तरह नहीं भर पाता। एक देवोंकी तरह निरन्तर भोग-विलास करते हैं तो दूसरेकी दुःख दूर करनेकी चिन्तामें सैकड़ों रातें जागते हुए ही बीतती हैं, वे नारकियोंकी तरह दुःखकी दारुण ज्वालामें दिन-रात जलते हुए त्राहि-त्राहि पुकारते हैं। अतः सबको अनुभवमें आनेवाले सुख-दुःखका कारण पुण्य और पाप मानना ही चाहिए। जब पुण्य और पाप हैं तब तीव्र पुण्य और तीव्र पापके भोगनेके लिए सुखके विशिष्ट स्थान स्वर्ग तथा दुःखके विशिष्ट स्थान नरकको भी स्वीकार करना ही चाहिए। पुण्य-पापको मानकर भी स्वर्ग-नरकके माननेसे इनकार करना तो लाभमें शामिल तथा घाटेमें न्यारा होनेके समान है, यह तो स्पष्ट ही अर्धजरतीय न्याय है। जब कोई स्त्री बूढ़ी हो जाय तब उसके मुख आदि सुडौल अंगोंको तो चाहना तथा अन्य स्तन आदि शिथिल अवयवोंकी ओर देखना भी नहीं अर्धजरतीय न्याय कहलाता है। तात्पर्य यह कि जब पुण्य और पापके माने बिना काम चल ही नहीं सकता तब स्वर्ग और नरकको जो कि उनके ही भोगके स्थान हैं, तो पहले मानना होगा। प्रयोग—सुख और दुःख कारणसे उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये अंकुरकी तरह कार्य हैं। जिस प्रकार अंकुरका कारण बीज होता है उसी तरह सुख-दुःखके बीज पुण्य और पाप हैं।

§ २१५. शंका—जिस तरह मूर्त नीलादि पदार्थ नीलादिको जाननेवाले अमूर्त नीलादि ज्ञानमें कारण होते हैं उसी तरह जब अन्न माला चन्दन स्त्री आदि सामने दिखाई देनेवाले मूर्त पदार्थ ही अमूर्त सुखमें तथा साँप विष काँटा आदि दुःखमें कारण होते हैं तब अदृष्ट—नहीं दिखाई देनेवाले पुण्य और पापकी कल्पना क्यों की जाय? क्योंकि पुण्य और पाप मानकर भी आखिर तो इन्हीं सुन्दरी आदि पदार्थोंसे ही काम पड़ता है. बिना इनके सुख-दुःखका भोग हो ही नहीं सकता।

१ केचित् स्वा–म० २। २. न्यायस्य प्रश–भ० २। "तद्यथा—अर्धं जरत्या कामयन्ते अर्धं नेति।" —पातं० महाभा० ४।१।७८। "मुखं न कामयन्ते अङ्गान्तरं तु कामयन्ते जरत्याः।" —महाभा० प्रदीप। "अर्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति सोऽयमर्धजरतीन्यायः।" —ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा १।२।८।

§ २१६. तदयुक्तं, व्यभिचारात्, तथाहि—तुल्यान्नस्रगादिसाधनयोरपि[1] द्वयोः पुरुषयोः सुखदुःखलक्षणे फले महान् भेदो दृश्यते । तुल्येऽपि ह्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्याह्लादो दृश्यते[2], अपरस्य तु रोगाद्युत्पत्तिः, अयं च फलभेदोऽवश्यमेव सकारणः, निःकारणत्वे नित्यं सत्त्वासत्त्वप्रसङ्गात् । यच्च तत्कारणं तददृष्टं पुण्यपापरूपं कर्मेति । तदुक्तम्—

"जो तुल्लसाहणाण फले विसेसो न सो विणा हेउं ।
कज्जत्तणओ गोयम घडो व्व हेऊ अ सो कम्म ॥१॥"[3] इति ।

§ २१७. अथवा कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्चैवं पुण्यपापे गम्येते । तत्र कारणानुमानमिदम्-दानादिशुभक्रियाणां हिंसाद्यशुभक्रियाणां चास्ति फलभूतं कार्यं, कारणत्वात्, कृष्यादिक्रियावत् । यच्चासां फलभूतं कार्यं तत्पुण्यं पापं चावगन्तव्यं, यथा कृष्यादिक्रियाणां शालियवगोधूमादिकम् ।

---

§ २१६. समाधान—स्त्री आदि पदार्थोंके सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें व्यभिचार देखा जाता है। देखो, दो व्यक्ति हैं, जिनके पास बराबर-बराबर अन्न माला चन्दन स्त्री आदि सुखके साधन मौजूद हैं, तो क्या आप समझते हैं कि दोनोंको एक सरीखा सुख हो रहा है। सामग्री एक बराबर होनेपर भी उनके सुख-दुःखमें मुहर कौड़ी जितना अन्तर पाया जाता है। वही मिष्टान्न एक स्वस्थ व्यक्तिको आनन्द तथा पुष्टि देता है और वही दूसरे दुर्बल व्यक्तिको बदहजमी आदि रोगोंका कारण हो जाता है। वही वस्त्र वही माला तथा वही सुख भोगकी सामग्री कामीके लिए रागका कारण होती है तथा वही सामग्री मुमुक्षुको बन्धन रूप मालूम होती है। इस तरह तुल्य सामग्री होनेपर भी सुख-दुःख रूप फलमें यह जमीन और आसमान जितना अन्तर अवश्य ही किसी अन्य अदृष्ट कारणसे होता है। यदि यह निष्कारण हो तब या तो यह सदा होगा या बिलकुल ही नहीं होगा, परन्तु यह भेद कभी-कभी देखा जाता है अतः यह सकारण है निष्कारण नहीं। इस महान् भेदका कारण है अदृष्ट—पुण्य पाप रूपी कर्म। वही सामग्री पुण्यशालीको सुख देती है जब कि उसी सामग्रीसे पापी दुःख भोगता है। वही केशरिया दूध एक व्यक्तिको आनन्द देता है जब कि उसीके पीनेसे दूसरा बीमार होकर यमराजके घरका मेहमान तक भी बन जाता है। कहा भी है—"तुल्य सामग्रीवाले पुरुषोंके सुख-दुःखमें जो विशेषता देखी जाती है, अर्थात् वही सामग्री एकको अधिक सुख देती है और दूसरेको कम सुख या दुःख देती है यह विचित्रता बिना कारणके नहीं हो सकती, क्योंकि यह कार्य है, को गयी है, कभी-कभी होती है। हे गौतम, जिस तरह घड़ा बिना कारणके उत्पन्न नहीं होता उसी तरह यह समान सामग्रीवालोंके सुख-दुःखकी विचित्रता भी बिना कारणके नहीं हो सकती इस विचित्रताका कारण है कर्म।" यदि ये दृश्य पदार्थ ही स्वयं सुख-दुःखके कारण होते हों तो फिर एक ही वस्तु एकको सुख तथा दूसरेको दुःख क्यों देती है ? इस तरह इस संसारकी विचित्रता स्वयं ही अपने कारण पुण्य और पापको सिद्ध करती है।

§ २१७. अब कारण तथा कार्य हेतुसे पुण्य और पापकी सिद्धि करते हैं। दान देना, अहिंसा भाव रखना आदि शुभ क्रियाओंका तथा हिंसा आदि अशुभ क्रियाओंका फल अवश्य देता है क्योंकि ये कारण हैं। जिस प्रकार खेती आदि करनेका फल धान्य आदि मिलता है उसी तरह अहिंसा, दान और हिंसा आदि क्रियाओंका भी कुछ न कुछ अच्छा और बुरा फल मिलना ही चाहिए। इनका जो कुछ अच्छा और बुरा फल होता है वही पुण्य और पाप है। इनके सिवाय कोई दूसरा फल हो ही नहीं सकता।

---

१ –धनयोरपि पुरु–म० २ । २ –ते परस्य म० १, म० २, प० १, प० २ । ३. यस्तुल्यसाधनानां फले विशेषः न सो विना हेतुम् । कार्यत्वात् गौतम घट इव हेतुः च तत् कर्म ॥

नन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुक्तिं गच्छेयुः । ततः प्रायः शून्य एव संसारः स्यात् ततश्च संसारे दुःखी कोऽपि नोपलभ्येत । दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । दुःखिनश्चात्र बहवो दृश्यन्ते सुखिनस्त्वल्पा एव तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियादिबन्धनोऽदृष्टपापरूपफलविपाको दुःखिनां, इतरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकोऽदृष्टधर्मरूपफलविपाक इति ।

§ २१९. व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेत् । उच्यते, अशुभक्रियारम्भिणामेव[3] च बहुत्वात् शुभक्रियानुष्ठातृणामेव च स्वल्पत्वादिति कारणानुमानम्[4] ।

§ २२०. अथ कार्यानुमानम्—जीवानामात्मत्वाविशेषेऽपि नरपश्वादिषु देहादिवैचित्र्यस्य कारणमस्ति, कार्यत्वात्, यथा घटस्य [5]मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितः कुलालः । न च दृष्ट एव माता-पित्रादिकस्तस्य हेतुरिति वक्तव्यं, दृष्टहेतुसाम्येऽपि, सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्, तस्य चादृष्टशुभाशुभकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावात् । अत एव शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वं, इतरेषां[6]

तो आटेमे नमकके बराबर गिने-चुने ही लोग होगे । इसलिए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इन दु खी जीवोने पूर्वजन्ममे कुछ ऐसे हिसा आदि बुरे कार्य किये थे जिसके पापका फल आज इन्हे भुगतना पड रहा है और ये ही महानुभाव ससारमे अपना बहुमत सदा बनाये रखते है क्योकि पापकी ओर ही प्राय अधिक प्रवृत्ति देखी जाती है । इससे यह भी मालूम हो जाता है कि खेती व्यापार हिसा आदिमे पापका बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप दुःख मिलता है तथा दान आदि शुभ कामोसे पुण्यका बन्ध होकर उससे सुख मिलता है । ये ससारके थोड़े सुखी और अधिक दु खी व्यक्ति ही पुण्य और पापकी सत्ता तथा उनकी न्यूनाधिकताके जीते-जागते प्रमाण है ।

§ २१९ शंका—दानादि अच्छे कामोका बुरा फल और हिसा आदि बुरे कार्योका अच्छा फल क्यो नही मिलता ?

समाधान—यदि दान आदि अच्छे कार्योका बुरा तथा हिसा आदि बुरे कार्योका अच्छा फल होता तो आज ससारमे सुखी ही सुखी प्राणी दिखाई देते क्योकि हिंसा आदि बुरे कार्य करनेवाले ही ससारमे अधिक पाये जाते है तथा दान आदि शुभ कार्य करनेवाले तो विरले ही है । पर ससारकी पापमय प्रवृत्तिको देखते हुए सुखियोका कम और दुखियोका अधिक पाया जाना ही इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि अच्छे कामोका अच्छा तथा बुरे कार्योका बुरा फल होता है । 'जैसी करनी तैसी भरनी' यह बात तो सर्व ग्वाले भी जानते है ।

§ २१८. ननु यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टशाल्यादिफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्ति, तथा दानादिका[1] पशुहिंसादिकाश्च सर्वा अपि क्रियाः श्लाघादिना मांसभक्षणादिना च दृष्टफलमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवन्तु, किमदृष्टधर्माधर्मफलकल्पनेन। लोको हि प्रायेण सर्वोऽपि दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियासु प्रवर्तते, अदृष्टफलासु [1]पुनर्दानादिक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते न बहुः। ततश्च कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाद्दानादिशुभक्रियाणामप्यदृष्टफलाभावो भविष्यतीति चेत्। न, यत एव कृष्याद्यशुभक्रियासु दृष्टफलासु बहवः प्रवर्तन्ते, अदृष्टफलासु पुनर्दानादि[2]शुभक्रियास्वत्यल्प एव लोकः प्रवर्तते, तत एव कृषिहिंसादिका दृष्टफला: क्रिया अदृष्टपापरूपफला अपि प्रतिपत्तव्याः, अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेः।[3] ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्ध्वा अनन्तसंसारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति। यदि हि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं पापरूपं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्तारोऽदृष्टफलाभावान्मरणा-

§ २१८. शंका—जिस तरह खेती व्यापार आदिका फल यहीका यही धान या नफा आदि रूपमे मिल जाता है, प्रत्यक्ष ही जैसा बोते है वैसा ही काट लेते है, इनका कोई अदृष्ट-नही दिखाई देनेवाला परोक्ष फल नही होता, उसी तरह दान देनेका भी फल प्रशसा, अखबारोमे नाम छपना आदिके रूपमे तथा हिंसाका फल मास भक्षण और उससे होनेवाली तृप्तिके रूपमे यहीका यही 'इस हाथ दे उस हाथ ले' के अनुसार मिल ही जाता है और यह उचित भी है, तब इनका एक अदृष्ट—परोक्ष आँखोमे नही दिखाई देनेवाला पुण्य-पाप रूप फल क्यो माना जाय? ससारकी प्रवृत्ति भी साक्षात् तुरत फल देनेवाली क्रियाओमे ही अधिक देखी जाती है। खेती व्यापार या शिकार खेलना आदिमे लोग इसीलिए अधिक प्रवृत्त होते है कि इनका फल लगे हाथ तुरन्त मिल जाता है। यही कारण है कि परलोकमे अदृष्ट फल देनेवाली दानादि क्रियाओमे लोगोकी प्रवृत्ति कम होती है। यहाँ तो नगदीकी दूकानदारी है उधारका धन्धा करना तो अपने हाथका पिल्ला छोडकर फिर उसे बुलानेके लिए कूर-कूर करनेके समान ही है। अत जब खेती हिंसा आदि अशुभ क्रियाओका कोई अदृष्ट पाप रूप फल नही है तब दान आदि शुभ क्रियाओका भी अदृष्ट—पुण्य रूप फल क्यो माना जाय? यही जो कीर्ति आदि मिल जाती है वही दान आदिका साक्षात् फल है।

समाधान—आपके कहनेका तात्पर्य यही हुआ कि—'जिनका साक्षात् लगे हाथ फल मिल जाता है उन खेती हिंसा आदि अशुभ क्रियाओमे लोगोकी प्रवृत्ति अधिक होती है तथा दान आदि शुभ क्रियाओमे कम' आपके इसी कथनसे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि—हिंसा आदि अशुभ क्रियाएँ पाप रूप अदृष्ट फलको देती है, नही तो इस ससारमे इतने पापी जीव कहाँसे आते? यह ससार चलता ही कैसे? इन्हीकी कृपा है कि आज ससारकी स्थिति बनी है। ये हिंसक लोग अपने सुखोपभोगके लिए दूसरोका घात आदि करके ऐसे तीव्र पापका अनचाहा बन्ध करते है जिससे अनन्तकाय तक इसी ससारमे दुःख उठाते हुए नाना योनियोमे परिभ्रमण करते फिरते है। यदि हिंसा आदि बुरे कार्योका पाप नामका कोई अदृष्ट—परोक्ष फल न होता, तो ये हिंसक या बुरे कार्य करनेवाले इस लोकमे थोडा-बहुत मजामौज करके परलोकमे पापके न होनेसे अनायास ही मुक्तिको चले जायेगे, तब यह ससार तो शून्य ही हो जायेगा। ससारमे कोई दुःखी ढूंढनेपर भी न मिलेगा, क्योकि अशुभ क्रियाओका पाप नामका फल तो होगा ही नही जिससे किसीको दुःख हो। फिर तो ससारमे दान आदि अच्छे कार्य करनेवाले कुछ इने-गिने लोग ही सदा सुख भोगते हुए मिलेगे। परन्तु आप हिसाब लगाकर देखिए तो ससारमे दुःखी जीव ही बहुत अधिक है सुखी

१ –क्रियासु स्वल्प्य एव भ० २। २. –क्रियासु अल्पा एव लोका प्रवर्तन्ते तत् प० १, प० २। –क्रियासु स्वल्पा एव प्रवर्तन्ते भ० १। ३. तर्हि म० २।

नन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुक्तिं गच्छेयुः । ततः प्रायः शून्य एव संसारः स्यात् ततश्च संसारे दुःखी कोऽपि नोपलभ्येत । दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । दुःखिनश्चात्र बहवो दृश्यन्ते सुखिनस्त्वल्पा[2] एव तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियादिबन्धनोऽदृष्टपापरूपफलविपाको दुःखिनां, इतरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकोऽदृष्टधर्मरूपफलविपाक इति ।

§ २१९. व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेत् । उच्यते, अशुभक्रियारम्भिणामेव[3] च बहुत्वात् शुभक्रियानुष्ठातॄणामेव च स्वल्पत्वादिति कारणानुमानम्[4] ।

§ २२०. अथ कार्यानुमानम्—जीवानामात्मत्वाविशेषेऽपि नरपश्वादिषु देहादिवैचित्र्यस्य कारणमस्ति, कार्यत्वात्, यथा घटस्य[5] मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितः कुलालः । न च दृष्ट एव मार्ता-पित्रादिकस्तस्य हेतुरिति वक्तव्यं, दृष्टहेतुसाम्येऽपि, सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्, तस्य चादृष्टशुभाशुभकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावात् । अत एव शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वं, इतरेषां[7]

तो आटेमे नमकके बराबर गिने-चुने ही लोग होगे । इसलिए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इन दु खी जीवोने पूर्वजन्ममे कुछ ऐसे हिसा आदि बुरे कार्य किये थे जिसके पापका फल आज इन्हे भुगतना पड रहा है और ये ही महानुभाव संसारमे अपना बहुमत सदा बनाये रखते है क्योकि पापकी ओर ही प्राय अधिक प्रवृत्ति देखी जाती है । इससे यह भी मालूम हो जाता है कि खेती व्यापार हिसा आदिमे पापका बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप दु.ख मिलता है तथा दान आदि शुभ कामोसे पुण्यका बन्ध होकर उससे सुख मिलता है । ये ससारके थोड़े सुखी और अधिक दु.खी व्यक्ति ही पुण्य और पापकी सत्ता तथा उनकी न्यूनाधिकताके जीते-जागते प्रमाण है ।

§ २१९. शंका—दानादि अच्छे कामोका बुरा फल और हिंसा आदि बुरे कार्योका अच्छा फल क्यो नही मिलता ?

समाधान—यदि दान आदि अच्छे कार्योका बुरा तथा हिंसा आदि बुरे कार्योका अच्छा फल होता तो आज ससारमे सुखी ही सुखी प्राणी दिखाई देते क्योकि हिंसा आदि बुरे कार्य करनेवाले ही ससारमे अधिक पाये जाते है तथा दान आदि शुभ कार्य करनेवाले तो विरले ही है । पर ससारकी पापमय प्रवृत्तिको देखते हुए सुखियोका कम और दुखियोका अधिक पाया जाना ही इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि अच्छे कामोंका अच्छा तथा बुरे कार्योका बुरा फल होता है । 'जैसी करनी तैसी भरनी' यह बात तो मूर्ख ग्वाले भी जानते है ।

§ २२० अब कार्यानुमान बताया जाता है—यद्यपि सभी जीवोमे आत्मा तो एक सी है परन्तु कोई नरकमे पैदा होता है, किसीको पशुकी देह मिलती है तो कोई मनुष्यका चोला धारण करता है, इनमे भी कोई सुन्दर सुहावना लगता है तो कोई भद्दा बेडौल—कुरूप होता है । ये सब विचित्र शरीर किसी न किसी कारणसे ही मिलते हैं क्योकि ये कार्य हैं । जिस तरह अनेक छोटे-बडे घपटे आदि घडोमे मिट्टी चाक डण्डा तथा कुम्हार कारण होते है उसी तरह इन विचित्र-विचित्र देहोकी प्राप्तिमे कोई न कोई छिपा हुआ अदृष्ट कारण अवश्य है । प्रत्यक्ष मौजूद माता-पिताको तो इस विचित्रतामे कारण नही कहा जा सकता, क्योकि सुन्दर मां बापके कुरूप लड़के, कुरूप मा-बापके सुन्दर लडके, तथा उन्ही मां-बापके कभी सुन्दर और कभी कुरूप बाल-बच्चे पैदा होते है । अत मा-बाप आदि दृष्ट कारणोकी समानता होनेपर भी जिन छिपे हुए अदृष्ट—कारणसे अच्छे और बुरे शरीर प्राप्त होते है वही तो पुण्य-पाप है । इसलिए अच्छा—सुन्दर सुडौल

तु पापकार्यत्वमिति कार्यानुमानम्। सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्वा पुण्यपापयोरुभयोः सत्ता प्रतिपत्तव्या। विशेषार्थिना तु विशेषावश्यकटीकावलोकनीयेति।

§ २२१. अथास्रवमाह। 'मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतव.' इत्यादि। असद्देवगुरुधर्मेषु सद्देवादिबुद्धिर्मिथ्यात्वम्। हिंसाद्यनिवृत्तिरविरति.। प्रमादो मद्यविषयादिः। कषायाः क्रोधादयः। योगा मनोवाक्कायव्यापारा। अत्रैवमक्षरघटना। मिथ्यात्वाविरत्यादिका. पुनर्बन्धस्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धस्य[1] ये हेतव., स आस्रवो जिनशासने विज्ञेय.। आस्रवति कर्म एभ्य स आस्रव.। ततो मिथ्यात्वादिविषया[2] मनोवाक्कायव्यापारा एव शुभाशुभकर्मबन्धहेतुत्वादास्रव इत्यर्थः।

§ २२२. अथ बन्धाभावे कथमास्रवस्योपपत्तिः, आस्रवात् प्राग्बन्धसद्भावे वा न तस्य बन्धहेतुता, प्रागपि बन्धस्य सद्भावात्। न हि यद्यद्धेतुकं तत्तदभावेऽपि भवति, अतिप्रसङ्गात्।

§ २२३. असदेतत्, यत आस्रवस्य पूर्वबन्धापेक्षया कार्यत्वमिष्यते, उत्तरबन्धापेक्षया च कारणत्वम्। एवं बन्धस्यापि पूर्वोक्तरास्रवापेक्षया कार्यत्वं कारणत्वं च ज्ञातव्यं, बीजाङ्कुरयोरिव

सुहावना निरोग शरीर पुण्यके उदयसे मिलता है तथा भद्दा काना लूला लँगडा कुरूप शरीर पापका कार्य है। इस तरह इन शरीरोकी विचित्रता रूपी कार्यसे भी पुण्य और पापका अनुमान होता है। सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगममे इनका प्रतिपादन होनेसे आगमके द्वारा भी इनकी सत्ता निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो जाती है। इन पुण्य और पाप सम्बन्धी विशेष चर्चा विशेषावश्यक भाष्यकी टीकामे देखनी चाहिए।

§ २२१ मिथ्यात्व आदि बन्धके कारणोको आस्रव कहते है। कुदेव कुगुरु तथा कुधर्मको सच्चा देव, सच्चा गुरु तथा सच्चा धर्म मानना मिथ्यात्व है। असत्मे सत् बुद्धि करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा आदि पाप कार्योसे विरक्त न होना उनमे लगे रहना अविरति है। शराब पीना और विषय आदि सेवन करनेसे जो अच्छे कार्योमे अनादरका भाव होता है वह प्रमाद है। क्रोध मान माया और लोभ, जो आत्माके शान्त स्वरूप को कस देते हैं—उस स्वरूपको बिगाड देते हैं वे कषाय हैं। मन वचन और शरीरके व्यापारको योग कहते है। मिथ्यात्व और अविरति आदिको जिनसे ज्ञानावरण आदि कर्मो का बन्ध होता है, जिनशासनमे आस्रव कहते है। जिन भावो या क्रियाओ से कर्म आते है (आ—समन्तात् चारो तरफसे स्रवति—कर्मो का टपकना) उन्हे आस्रव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि—मिथ्यात्व अविरति आदि रूपमे जो मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है, और जिससे शुभ और अशुभ कर्म आते है उसे आस्रव कहते हैं।

§ २२२ शंका—जबतक आत्माके साथ कर्मोका बन्ध नही होगा तबतक उसमे मिथ्यात्व आदि बुरे भाव ही उत्पन्न नही होगे। और जब बुरे भाव और बुरी क्रियाएँ ही नहीं है तब कर्मोका आस्रव—आना किस जरियेसे होगा ? यदि आत्मामे पहलेसे ही कर्म बन्ध मौजूद है तब आस्रव निरर्थक ही है वह बन्धमे कारण नही हो सकेगा क्योकि बन्ध तो आस्रवसे पहले ही आत्मामे मौजूद है। जो जिसके अभावमे हो जाती है उसमे उस वस्तुको कारण नही कह सकते। जब आस्रव था ही नही और बन्ध पहले ही हो चुका तब आस्रवको बन्धके प्रति कारण कैसे कहा जा सकता है ? जब आस्रव है ही नही तब बन्ध किसका ? जो चीज आयी ही नही उसका सम्बन्ध कहना तो निरी मूर्खता ही है।

§ २२३ समाधान—आज जिन भावोसे कर्मोका आस्रव हो रहा है वे भाव पहले बँधे हुए कर्मोके उदयसे हुए है, अतः आजका आस्रव पूर्वबन्धका तो कार्य है तथा आगे होनेवाले कर्मबन्धका कारण है। इसी तरह बन्ध पूर्व आस्रवका कार्य तथा उत्तर आस्रवमे कारण होता है। जिस प्रकार जिस बीजको आज बोते हैं वह पहलेके वृक्षका तो कार्य है और आगे ऊँगनेवाले अंकुरका कारण

१ —स्या हे—भ० २। २ विषयमनोवाक्कायव्यापार एव म० २।

बन्धास्रवयोरन्योन्यं कार्यकारणभावनियमात् ।

§ २२४. न चैवमितरेतराश्रयदोषः, प्रवाहापेक्षयानादित्वात् ।

§ २२५. अयं चास्रवः [1]पुण्यापुण्यबन्धहेतुतया द्विविधः । द्विविधोऽप्ययं मिथ्यात्वाद्युत्तरभेदापेक्ष[2]योत्कर्षापकर्षभेदापेक्षया वानेकप्रकारः ।

§ २२६. अस्य [3]च शुभाशुभमनोवाक्कायव्यापाररूपस्यास्रवस्य सिद्धिः स्वात्मनि स्वसंवेदनाद्यध्यक्षतः, परस्मिंश्च वाक्कायव्यापारस्य कस्यचित्प्रत्यक्षतः, शेषस्य च तत्कार्यप्रभवानुमानतश्चावसेया, आगमाच्च ॥ ५० ॥

§ २२७. अथ संवरबन्धौ विवृणोति ।

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योऽन्यानुगमात्मा तु यः संबन्धो द्वयोरपि ॥५१॥

§ २२८. व्याख्या—तेषा-मिथ्यात्वाविरति[4]प्रमादकषाययोगानामास्रवाणा[5] सम्यग्दर्शन-

---

होता है, उसी तरह आस्रव और बन्धमे बीज और अकुरके समान ही परस्परमे कार्य-कारण भाव मौजूद है ।

§ २२४ शंका—यदि आस्रव बन्धसे उत्पन्न होता है तथा बन्ध आस्रवसे तो अन्योन्याश्रय दोष होनेसे एककी भी सिद्धि नही हो सकेगी ।

समाधान—यदि उसी आस्रवको वन्धका हेतु तथा उसी बन्धका ही कार्य मानते तो इतरेतराश्रय होता । परन्तु हम तो आस्रव और बन्धका प्रवाह अनादि मानते है । अनादिकालसे पूर्व बन्धसे आस्रव तथा उससे उत्तर वन्ध होता चला आया है । जिस तरह आजका बीज पूर्व वृक्षसे, वह वृक्ष पूर्व बीजसे इस तरह अनादि परम्परा चलती है उसी तरह आजका आस्रव पूर्वबन्धसे, वह पूर्व आस्रवसे, वह तत्पूर्व बन्धसे इस तरह आस्रव और बन्धको अनादिकालसे अविच्छिन्न धारा चली आती है ।

§ २२५ यह आस्रव पुण्य बन्धमे कारण होनेसे पुण्यास्रव तथा पाप वन्धमे कारण होनेसे पापास्रव कहलाता है । ये दोनो ही पुण्यास्रव और पापास्रव मिथ्यात्व आदिकी तीव्रता मन्दता आदिके भेदोसे अनेक प्रकारके होते है । इस तरह शुभ और अशुभ रूपसे होनेवाले मन वचन कायकी प्रवृत्ति ही आस्रव है ।

§ २२६ यह आस्रव अपनी आत्मामे तो स्वसवेदन प्रत्यक्षसे ही अनुभवमे आता है । दूसरेकी आत्माकी कुछ शारीरिक वाचनिक प्रवृत्तियाँ तो प्रत्यक्षसे ही जानी जाती है तथा कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ तदनुकूल कार्योसे अनुमित होती है । मनके भाव भी चेहरेकी प्रसन्नता आदिसे जान लिये जाते है । आगमसे भी दूसरेकी आत्माकी तथा अपनी आत्माकी प्रवृत्तियोका यथावत् परिज्ञान होता है । अत आगम भी आस्रवतत्त्वकी सत्ता सिद्ध करता है ॥ ५० ॥

§ २२७. अव सवर और बन्धका व्याख्यान करते है—

आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । जीव और कर्मका एकमेक होकर मिल जाना, दोनोका परस्पर-अनुप्रवेश रूप सम्बन्ध वन्ध कहलाता है ॥ ५१ ॥

§ २२८ मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगरूप कर्मके आनेके द्वारोको सम्यग्दर्शन

---

१ –पुण्यहेतु– म० २ । २ –क्षया चाने–म० २ । ३. वा म० २ । ४ –ति कषा–भ० १, म० २, प० १, प० २, क० । ५ "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।" —त० सू० ८।१ ।

विरतिप्रमादपरिहारक्षमादिगुप्तित्रयधर्मानुप्रेक्षाभिर्निरोधो-निवारणं स्थगनं संवरः[२], पर्यायकथनेन व्याख्या। आत्मन कर्मोपादानहेतुभूतपरिणामाभावः संवर इत्यभिप्रायः।

§ २२९. स च देशसर्वभेदाद् द्वेधा। तत्र बादरसूक्ष्मयोगनिरोधकाले सर्वसंवरः। शेषकाले चरणप्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवर।

§ २३० अथ बन्धतत्त्वमाह—'बन्धो जीवस्य कर्मण.' इत्यादि। तत्र बन्धनं बन्ध—परस्पराश्लेषो जीवप्रदेशपुद्गलाना क्षीरनीरवत्, अथवा बध्यते येनात्मा पारतन्त्र्यमापद्यते ज्ञानावरणादिना [३]स बन्ध—पुद्गलपरिणाम।

§ २३१ ननु जीवकर्मणो सबन्ध[४] किं [५]गोष्ठामाहिलपरिकल्पितकञ्चुकसंयोगकल्प उतान्यः कश्चिदित्याशङ्क्याह 'द्वयोरपि' कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धाना जीवस्य चान्योन्यानुगमात्मा-अन्योन्यानुगतिस्वरूप परस्परानुप्रवेशरूप इत्यर्थ। अयमत्र भाव—वह्न्ययस्पिण्डसंबन्धवत् क्षीरोदकसंपर्कवद्वा जीवकर्मणोर्मिथोऽनुप्रवेशात्मक एव संबन्धो बन्धो[६] बोद्धव्यो न पुन. कञ्चुकिकञ्चुकसंयोगकल्पोऽन्यो वेति।

§ २३२ अत्राह—कथममूर्तस्यात्मनो हस्ताद्यसभवे सत्यादानशक्तिविरहात् कर्मग्रहणमुच्यत इति चेत्।

व्रत, अप्रमादपरिणति, क्षमादिधर्म मन वचन कायके व्यापारोका निरोध तथा ससारकी अनित्यता आदिका मनन चिन्तवन रूप धर्मानुप्रेक्षा आदि उपायोसे बन्द कर देना सवर है। आस्रवोका निरोध निवारण या स्थगन ही सवर है। तात्पर्य यह कि जिन भावोसे कर्म आते हैं उनके आत्मामे उत्पन्न न होने देना ही सवर है।

§ २२९ सर्वसंवर और देशसवरके भेदसे सवर दो प्रकारका है। जिस समय मन वचन कायके स्थूल और सूक्ष्म दोनो व्यापारोका सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय अयोगि—योगरहित गुणस्थानमे सर्वसवर होता है। उसके पहले मन वचन कायकी सयत प्रवृत्ति रूप चारित्रसे देशसवर होता है।

§ २३०. जीवके प्रदेश और कर्म पुद्गलोके दूध पानीकी तरह परस्पर मिलनेको—एक दूसरेसे बँधनेको बन्ध कहते है। अथवा जिस ज्ञानावरण आदिके द्वारा आत्मामे परतन्त्रता होती है उस कर्मपुद्गलके परिणमनको बन्ध कहते है।

§ २३१. शका—क्या जिस प्रकार गोष्ठामाहिलने जीव और कर्मके सम्बन्धको शरीरपर पहिनी हुई चोली या साँपके शरीरपर लिपटी हुई काँचलीकी तरह माना है उसी प्रकारसे कर्मबन्ध होता है अथवा और किसी प्रकारसे ?

समाधान—जीव और कर्म बननेके योग्य पुद्गल स्कन्धोका परस्पर-अनुप्रवेश, एकका दूसरेमे घुस जाना एकमेक हो जाना ही बन्ध है। जिस तरह अग्नि और लोहेके गोलेका एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है या दूध और पानी मिलकर एकरस हो जाते हैं उसी तरह जीव और कर्म आपसमे मिलकर एक जैसे हो जाते है, यही उनका परस्परानुप्रवेश बन्ध कहलाता है। शरीर और चोली या साँप और काँचली जैसा साधारण सम्बन्ध नही है कि जिसे जोरकी हवा ही फाडकर अलग फेंक दे। और न इसी तरहका कोई अन्य प्रकारका ही सम्बन्ध माना जा सकता है। आत्मा और कर्मपुद्गल बन्धके समय एक जैसे हो जाते है एक दूसरेमे घुल-मिल जाते है।

§ २३२. शंका—आत्मा तो अमूर्त है। अत जब उसके हाथ ही नही है तब वह कर्मोको

---

१ "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।" —त० सू० ९।२। २ "आस्रवनिरोध सवर।" —त० सू० ९।१। ३ -भाव इत्यभि-म० २। ४ सबन्ध म० १, प० १, प० २। ५ गोष्ठामाहिलाख्यो निह्नव.। ६ सबन्धो बोद्ध-म० २।

§ २३३. उच्यते; इयमेव तावदस्थानारेकाप्रक्रिया भवतोऽनभिज्ञतां ज्ञापयति, यतः केनामूर्तताभ्युपेतात्मनः। कर्मजीवसंबन्धस्यानादित्वादेकत्वपरिणामे सति क्षीरोदकवन्मूर्त एव कर्मग्रहणे व्याप्रियते, न च हस्तादिव्यापारादेयं कर्म, किंतु पौद्गलमपि सदध्यवसायविशेषाद्रागद्वेषमोहपरिणामाभ्यञ्जनलक्षणादात्मनः कर्मयोग्यपुद्गलजालश्लेषणमादानं स्नेहाभ्यक्तवपुषो रजोलगनवदिति। प्रतिप्रदेशानन्तपरमाणुसंश्लेषाज्जीवस्य कर्मणा सह लोलीभावात्कथंचिन्मूर्तत्वमपि संसारावस्थायामभ्युपगम्यत एव स्याद्वादवादिभिरिति।

§ २३४. स च प्रशस्ताप्रशस्तभेदाद् द्वेधा। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्च[1] चतुर्धा। प्रकृतिः-स्वभावो यथा ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादनस्वभावमित्यादि। स्थितिः—अध्यवसायकृतः कालविभागः। अनुभागो-रसः। प्रदेश.—कर्मदलसंचय इति। पुनरपि मूलप्रकृतिभेदादष्टधा[2] ज्ञानावरणादिकः। [3]उत्तरप्रकृतिभेदादष्टपञ्चाशदधिकशतभेदः। सोऽपि तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतरादिभेदादनेकविध इत्यादि कर्मग्रन्थादवसेयम्[4]। उक्तं बन्धतत्त्वम्।

कैसे ग्रहण कर सकता है ? ग्रहण करनेकी शक्ति तो हाथवालोके होती है।

§ २३३ समाधान—इसी प्रकारको बेमौकेकी भद्दी शंकाएँ आपकी मूर्खताका खुला प्रदर्शन कर देती है। आत्माको सर्वथा अमूर्त मानता ही कौन है ? कर्म और जीवोका अनादिकालीन सम्बन्ध होनेसे दूधमे मिला हुआ पानी जिस प्रकार दूध जैसा ही हो जाता है उसी तरह यह आत्मा भी मूर्त हो रहा है। और यही कर्मशरीरवाली मूर्त आत्मा नये कर्मोको अपनी ओर खीचकर उन्हे उसी कर्मशरीरसे चिपटा लेती है। कर्म हाथसे उठानेकी स्थूल चीज नही है। ये तो पुद्गलोके अत्यन्त सूक्ष्म भाग है। जब आत्मामे राग द्वेष मोह या अन्य विकारी भावोकी चिकनाई आती है तभी यह पुद्गल कर्मोकी अत्यन्त बारीक धूल उसपर आकर जम जाती है। जिस प्रकार तेल लगे हुए शरीरपर धूल स्वभावत ही आकर जम जाती है और मैलका रूप धारण कर हवासे उडने लायक नही रहती उसी तरह राग-द्वेष आदि चिकनाईसे जमे हुए कर्म प्राय अपना फल दिये बिना नही झडते। कर्मके योग्य पुद्गल धूलिको चिपकानेमे कारणभूत चिकनाईका होना तथा उससे कारण कर्मोका चिपकना ही उनका ग्रहण करना है। इस तरह ससारी अवस्थामे आत्माके प्रत्येक प्रदेशसे कर्मोके अनन्त परमाणुओका एक लोली-भाव—बिलकुल घुलमिलकर सम्बन्ध हो रहा है इसीलिए स्याद्वादी जैन आत्माको कथचित् मूर्त भी स्वीकार करते है।

§ २३४ बन्ध शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। इसके चार भेद भी है—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभाग बन्ध, ४ प्रदेश बन्ध। प्रकृति—स्वभाव, जैसे ज्ञानावरणका स्वभाव है ज्ञानको ढँकना, प्रकट नही होने देना। स्थिति—अपने कषाय रूप परिणामोके अनुसार कर्मकी ठहरनेकी मर्यादा। अनुभाग—रस तीव्र मन्द या मध्यम रूपसे फल देनेकी शक्ति। प्रदेश—कर्मके परमाणुओका सचित होना। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप मूल प्रकृतियोके भेदसे आठ प्रकारका है। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ तो एक सौ अट्ठावन १५८ होती है। इनके भी तीव्र तीव्रतर मन्द मन्दतर आदि तारतम्यसे होनेवाले अनेको भेद है। इन भेदोका विशद और विस्तृत वर्णन कर्म ग्रन्थोसे जान लेना चाहिए। बन्ध तत्त्वका कथन हो चुका।

---

१ च चतुर्विधा आ०, क०। -च्चतुर्धा भ० २। "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय।" —त० सू० ८।३। २ "आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।" —त० सू० ८।४। ३ "पञ्चनवद्वयष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्।" —त० सू० ८।५। ४ -यमिति भ० २।

§ २३५. निर्जरातत्त्वमाह—

बद्धस्य कर्मणः साटो यस्तु सा निर्जरा मता।
आत्यन्तिको वियोगस्तु, देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥५२॥

§ २३६. व्याख्या। यस्तु बद्धस्य-जीवेन सहैकीभूतस्य कर्मणो-ज्ञानावरणादेः साटः—सटनं द्वादशविधेन तपसा [illegible] सा निर्जरा मता सम्मता। सा च द्विधा, सकामाकामभेदात्। तत्राद्या चारित्रिणां 'दुष्करतरतपश्चरणतापोपसर्गकरणपरीषहसहनपरिग्रहत्यागपराणां'[1] लोचादिकाय-क्लेशकारिणामष्टादशशीलाङ्गधारिणां बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरिहारिणां निष्प्रतिकर्मशरीरिणां भवति। द्वितीया त्वन्यशरीरिणां 'तीव्रतरशारीरमानसानेकदुःखसहनतो भवति।

§ २३७. अथानन्तरं मोक्षतत्त्वमाह—'आत्यन्तिक' इत्यादि। देहादेः—शरीरपञ्चेन्द्रिय-आयुरादिबाह्यप्राणपुण्यापुण्यवर्णगन्धरसस्पर्शपुनर्जन्मग्रहणवेदत्रयकषायादिसङ्गाज्ञानासिद्धत्वादेः[2] आत्यन्तिको वियोगो विरहः मोक्ष उच्यते। यो हि [illegible] न पुनः कदाचिन्न भवति, स आत्यन्तिकः।

§ २३५. अब निर्जरा [illegible] —

बँधे हुए कर्मोंके नाश—झड़नेको निर्जरा कहते हैं। कर्मोंका अत्यन्त वियोग होनेपर शरीर आदिसे भी सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष कहलाता है ॥ ५२ ॥

§ २३६. आत्मसे [illegible] ज्ञानावरण आदि कर्मोंको बारह प्रकारके तप या अन्य धर्म और उपायोंसे उखाड़ना—अलग करना निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा सकाम और अकामके भेदसे दो प्रकारकी है। [illegible] दुष्कर तप तपते हैं, गर्मी श्मशान आदि भयावने स्थानोंमें [illegible] ध्यान करते हैं, भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिकी बाईस परीषह—बाधाएँ सहते हैं, बालोंको उखाड़ते हैं, अठारह प्रकारके शीलोंको धारण कर पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन करते हैं, बाह्य स्त्री-पुत्रादि तथा आभ्यन्तर राग-द्वेष मोहादि सभी परिग्रहोंका त्याग करते हैं, जिन्हें अपने शरीरसे भी मोह नहीं है उन उग्रतपश्चरण करनेवाले देहका अनेक उपायों-से दमन करनेवाले साधुओंके सकाम—इच्छापूर्वक की जानेवाली—निर्जरा होती है। ये साधु कर्मोंको जान-बूझकर एक-एकको ढूँढ-ढूँढकर झड़ा देते हैं। यही निर्जरा वस्तुतः कार्यकारिणी एवं पुरुषार्थसे होनेवाली है। जो शान्त परिणामी व्यक्ति कर्मोंके उदयसे होनेवाले लाखों प्रकारसे तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दुःखोंको शान्तिसे भोग लेते हैं उनके अकाम—(आये हुए कर्मोंको सहना न कि उन्हें झड़ानेकी इच्छासे छेड़खान करना) निर्जरा होती है। सकाम निर्जरामें कर्मोंको जबरदस्ती पकड़-पकड़कर उदयमें लाकर रुखसत किया जाता है उन्हें खारिज किया जाता है जब कि अकामनिर्जरामें कर्म अपने आप समय पर पेन्शन ले लेते हैं, रिटायर्ड हो जाते हैं।

§ २३७. शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ, आयु आदि बाह्य प्राण, पुण्य, पाप, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, फिरसे शरीर ग्रहण, स्त्री-पुरुष और नपुंसक वेद, कषाय आदि परिग्रह, अज्ञान तथा असिद्धत्व आदिका आत्यन्तिक वियोग होना ही मोक्ष है। इन देहादिका एक बार नष्ट होकर फिरसे उत्पन्न नहीं होना ही आत्यन्तिक नाश है। इनका इस प्रकारका नाश हो कि वह नाश सदा बना रहे-अनन्तकाल तक वह नाश जैसाका तैसा रहे। ये देह आदि उत्पन्न होकर उस नाशका अभाव न कर सकें। नाशके इस सदा स्थायित्वको ही आत्यन्तिक कहते हैं।

---

१. -परिषहपराणा आ०, क० । २. -शरीरमा-आ०, क०, प० १, प० २ ।

§ २३८. अत्र पर आह, ननु भवतु देहस्यात्यन्तिको [1]वियोगः तस्य सादित्वात्, परं रागादिभिः सहात्यन्तिको वियोगो[1]ऽसंभवी प्रमाणबाधनात् । प्रमाणं चेदम्–यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति यथाकाशम् । अनादिमन्तश्च रागादय इति[2] चेत् ।

§ २३९. उच्यते, यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तः—तथापि कस्यचिद्यथावस्थितस्त्रीशरीरादिवस्तुतत्त्वावगमेन तेषा रागादीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते । ततः संभाव्यते विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षतो निर्मूलमपि क्षयः, निर्मूलक्षयानभ्युपगमेऽपचयस्याप्यसिद्धेः । यथा हि—शीतस्पर्शसंपाद्या रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य[3] वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धा उत्कर्षे च निरन्वयविनाशिनः । [4]एवमन्यत्रापि मन्दता[5]सद्भावे निरन्वयविनाशोऽवश्यमेष्टव्यः ।

§ २४०. अथ यथा ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य मन्दता भवति तत्प्रकर्षे च ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः, एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनाम[6]त्यन्तमुच्छेदो भविष्यतीति ।

---

§ २३८. शंका—देह तो उत्पन्न होता है, सादि है अत मोक्ष अवस्थामे उसके नाशकी बात तो समझमे आती है, क्योकि जो बीज उत्पन्न होता है उसका एक न एक दिन नाश होता ही है । पर राग आदि अनादिकालीन वासनाओका अत्यन्त विनाश बुद्धिगम्य नही है । अनादि वस्तुका विनाश तो प्रमाणसे बाधित है । जो अनादि होते है, जो कभी उत्पन्न नही हुए उनका नाश नही होता जैसे कि अनादि कालसे बराबर चले आनेवाले आकाशका । ये रागादिभाव भी आत्मामे अनादिकालसे ही रहते है । अत इन पुश्तैनी चीजोका नाश करना न तो युक्तिसगत है और न उचित ही ।

§ २४१. तदयुक्तम्; द्विविधं हि बाध्यं, सहभूस्वभावं सहकारिसंपाद्यस्वभावं च। [1]तत्र यत्सहभूस्वभावं, तन्न बाधकोत्कर्षे कदाचिदपि निरन्वयं विनाशमाविशति। ज्ञानं चात्मनः सहभूस्वभावम्। आत्मा च परिणामिनित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः। रागादयस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसंपादितसत्ताकाः, ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति। प्रयोगश्चात्र—ये सहकारिसंपाद्या यदुपधानादपकर्षिणः ते तदत्यन्तवृद्धौ [2]निरन्वयविनाशधर्माणः, यथा रोमहर्षादयो वह्निवृद्धौ। भावनोपधानादपकर्षिणश्च सहकारिकर्मसंपाद्या रागादय इति। अत्र 'सहकारिसंपाद्या' इति विशेषणं सहभूस्वभावज्ञानादिव्यवच्छेदार्थम्। यदपि च प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत्, न तद्विनाशमाविशति' इति, तदप्यप्रमाणम् प्रागभावेन हेतोर्व्यभिचारात्। प्रागभावो ह्यनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा [3]कार्यानुत्पत्तेः। काञ्चनोपलयोः संयोगेन च हेतुरनैकान्तिकः। तत्संयोगोऽपि ह्यनादिसंततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिनोपायेन विघटमानो दृष्ट इति।

§ २४१ समाधान—बाधित होनेवाली वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं—एक तो स्वाभाविक और दूसरी सहकारियोंसे उत्पन्न होनेवाले आगन्तुक विकार। जो स्वाभाविक धर्म हैं, उनका प्रतिपक्षीका अत्यन्त उत्कर्ष होने पर भी कभी भी समूल नाश नहीं होता। ज्ञान आत्माका ऐसा ही स्वाभाविक धर्म है, अतः ज्ञानावरणीय कर्मोंका कितना ही तीव्र उदय क्यों न हो उसका जड़से नाश नहीं हो सकता। यदि ज्ञानका समूल नाश हो जाय, तो उस समय आत्माका भी नाश नियमसे हो जायगा वह बच नहीं सकता। आत्मा परिणमनशील होकर भी द्रव्य रूपसे नित्य है अतः ज्ञानावरणीय कर्मके कारण ज्ञानमें न्यूनाधिकता रूपसे परिवर्तन होने पर भी द्रव्य—मूल स्वभावका विनाश नहीं किया जा सकता। उसकी नित्यताका तात्पर्य ही यह है कि वह कभी भी ज्ञानस्वरूपसे अज्ञानस्वरूपमें परिवर्तित नहीं हो सकती। राग आदि वासनाएँ तो लोभ आदि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले विकार हैं, आगन्तुक हैं। स्वाभाविक नहीं हैं। अतः जब लोभ आदिको उत्पन्न करनेवाले कर्म पुद्गलोंका समूल उच्छेद हो जायगा तब इनकी सत्ता तो अपने ही आप समाप्त हो जायगी। जो विकार सहकारियोंसे उत्पन्न होते हैं स्वाभाविक नहीं हैं वे जिस प्रतिपक्षी भावनासे कम होते हैं या मन्द पड़ते हैं, उस प्रतिपक्षी भावनाकी अत्यन्त वृद्धि होने पर उनका समूल नाश हो जाता है। जैसे ठण्डकसे होनेवाले रोमाञ्च अग्निके पूरी तरह जल जाने पर नष्ट हो जाते हैं उनका नामोनिशाँ नहीं रहता उसी तरह विरागी भावनाओंसे मन्द पड़नेवाले बाह्य कर्मों से उत्पन्न रागादि भावोंका भी विरागी भावनाओंकी अत्यन्त वृद्धि होने पर समूल नाश हो ही जाना चाहिए। इस अनुमानमें सहकारिसंपाद्य—जो यथार्थ आगन्तुक कारणोंसे उत्पन्न हैं स्वाभाविक नहीं हैं'—विशेषण आत्माके सदा स्थायी स्वाभाविक ज्ञान आदि धर्मों के समूल नाशका व्यवच्छेद करनेको दिया है। तथा यह भी तो नियम नहीं हो सकता कि—'जो अनादि हैं उनका विनाश होवे नहीं? देखिए—प्रागभाव अनादि है परन्तु उसका विनाश देखा जाता है। यदि प्रागभावका नाश न हो तो कार्योंकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। अतः आपका उक्त नियम प्रागभाव (जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक उस कार्यका अभाव) से व्यभिचारी है। खानिसे निकले हुए मलिन सुवर्णमें रहनेवाले सुवर्ण और पत्थर आदिके संयोगसे भी यह नियम व्यभिचारी होता है। जो सोना अनादिकालसे खदानमें पड़ा था, आज वह निकाला गया। उसके साथ पत्थर आदिका भी संयोग अनादि कालसे ही रहा है, परन्तु सुहागा आदि तीक्ष्ण पदार्थों के साथ जब उसे मिट्टीकी घरियामें पूरी तरह तपाया जाता है तब वह पत्थरका अनादिकालका भी संयोग क्षण भरमें खतम हो जाता है और सोना अपनी शुद्ध अवस्थामें निखर आता है। अतः यह कोई नियम

१. तत्र सहभूस्वभावं यत्तन्न म० २। २. -मनाशि व-म० २। ३. -नुपपत्ते म० २।

§ २४२. अथ रागादयो धर्मा धर्मिण आत्मनो भिन्नाः, अभिन्ना वा। भिन्नाश्चेत्; तदा सर्वेषां वीतरागत्वसिद्धत्वप्रसङ्गः, रागादिभ्यो भिन्नत्वात्, मुक्तात्मवत्। अभिन्नाश्चेत्; तदा तेषां क्षये धर्मिणोऽपि क्षय इति।

§ २४३. तदयुक्तम्, भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात्। कथमिति चेत्। उच्यते। धर्मिधर्माणां न भेद एव, अभेदस्यापि सत्त्वात्। नाप्यभेद एव, भेदस्यापि सद्भावात्। ततो नोक्तदोषावकाश[1] इति।

§ २४४. अथ कार्मणशरीरादेः सर्वथावियोगे कथं जीवस्योर्ध्वमालोकान्तं गतिरिति चेत्[2]। पूर्वप्रयोगादिभिस्तस्योर्ध्वगतिरिति[3] ब्रूमः। तदुक्तं तत्त्वार्थभाष्ये—

"तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः॥ १॥
कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह, तथा सिद्धगति स्मृता॥ २॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः।
कर्मसङ्गविनिर्मोक्षात्, तथा सिद्धगति स्मृता॥ ३॥

हो ही नही सकता कि 'जो अनादि है वह नष्ट नही होता।'

§ २४२ शंका—रागादि धर्म आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न ? यदि रागादि धर्म आत्मासे भिन्न हो तो सभी आत्माएँ अनायास ही रागादिरहित होकर मुक्त जीवोकी तरह वीतरागी बन जायेगी क्योंकि रागादि तो आत्मासे भिन्न है ही। यदि रागादि धर्म आत्मासे अभिन्न है तो रागादिके नाश होने पर आत्माका भी नाश होना चाहिए। धर्मके नाश होने पर उससे अभिन्न अर्थात् तद्रूप धर्मी को नष्ट हो ही जाना चाहिए।

§ २४३ **समाधान**—हम लोग न तो धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद ही मानते है और न अभेद ही। किन्तु सर्वथा भेद और अभेदसे विलक्षण कथचिद् भेदाभेद मानते है। रागादि और आत्माको जुदा-जुदा नही रख सकते अत वे अभिन्न है रागादिके नाश या उत्पाद होने पर भी आत्माका नाश या उत्पाद नही होता अत वे भिन्न है। इसलिए अत्यन्त भेद और अभेद पक्षमें आनेवाले दोष कथचिद् भेदाभेदमे लागू नही हो सकते।

§ २४४ **शंका**—जव कार्माण शरीर आदिका अत्यन्त वियोग हो गया तव यह जीव क्यों लोकके अग्रभाग तक ऊपर गमन करता है ? क्योकि गमन आदिमे कारण तो कार्माण शरीर ही था, जव वह नष्ट हो गया तव शुद्ध जीव किस कारणसे ऊपरको जाता है ?

समाधान—पूर्वके गमन करनेके संस्कार आदिसे शुद्ध जीवकी ऊर्ध्वगति होती है। तत्त्वार्थभाष्यमे इसका बहुत सुन्दर तथा सयुक्तिक विवेचन इस प्रकार किया गया है—"कर्म वन्ध छूटनेके वाद ही यह जीव लोकके ऊपरी भाग तक ऊर्ध्वगमन करता है। इस ऊर्ध्वगमनके कारण है—पूर्व प्रयोग, असगत्व-निर्लेप, वन्धच्छेद-निर्वन्ध तथा ऊर्ध्व गौरव स्वभाव। जिस प्रकार कुम्हारके चाकको एक वार घुमा देने पर पीछे घुमानेवाला डण्डा हट भी जाय तव भी वह पूर्व प्रयोगके कारण बहुत देर तक अपने आप घूमता रहता है अथवा जिस प्रकार झूलाको एक वार झुलानेपर वह पीछे अपने आप झूलता रहता है अथवा जैसे वाणको एक वार अच्छी तरह खीचकर छोडने पर वह बहुत दूर तक पूर्व प्रयोगके कारण स्वतः चला जाता है उसी तरह इस जीवने कर्मके

---

१. –श अय म० २। २ चेन्नैवं पूर्व–भ० २। ३ –र्ध्वगति–आ०।

[illegible], [illegible] गति ।
[illegible] ॥ ४ ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ५ ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ६ ॥
[illegible], [illegible] गति. ।
[illegible], [illegible] ॥ ७ ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ८ ॥" [नि० भा० १०१७]

[illegible] गति[illegible] पूर्व[illegible]मेवेति ।

§ २४५. ननु भवतु कर्माणामभावेऽपि पूर्वप्रयोगादिभिर्जीवस्योर्ध्वगतिः[1], तथापि[2] सर्वथा शरीरेन्द्रियादिप्राणानामभावान्मोक्षे जीवस्याजीवत्वप्रसङ्गः । यतो जीवनं प्राणधारणमुच्यते, तच्चेन्नास्ति, तदा जीवस्य जीवनाभावादजीवत्वं स्यात्, अजीवस्य च मोक्षाभाव इति चेत् । न, अभि-

[illegible] गमन [illegible] कर्मोका सम्बन्ध छूट जाय परन्तु [illegible] है। जिस प्रकार मिट्टीसे लिपटी हुई तूम्बडी [illegible] ऊपर [illegible] है उसी तरह कर्म लेपके धुल जाने पर [illegible] है। जिस प्रकार एरण्डके फलका बकला [illegible] है [illegible] जिस तरह वेग—रुकावट हटते ही यन्त्रका चक्र खूब पूरे [illegible] है उसी तरह कर्म [illegible] छूटते ही यह शुद्ध जीव ऊपरको गति करता है। [illegible] पुद्गलोको अधोगौरव धर्मवाला बताया है। [illegible] स्वभावत ऊपरको गमन करते है तथा पुद्गलोमे ऐसा गौरव है [illegible] ओर गिरते है। जिस प्रकार पत्थर स्वभावसे ही नीचेकी ओर गिरता है, [illegible] है, तथा अग्निकी ज्वालाएँ ऊपरको जाती है उसी तरह आत्माकी भी ऊर्ध्व-गति स्वाभाविक ही है। जीव कर्मोके वशसे नीचे नरकमे, ऊपर स्वर्गमे तथा तिरछे मध्यलोकमे गमन करते है, यह उनकी कर्मजन्य अस्वाभाविक गति है। परन्तु जब ये जीव नीचे या तिरछे घुमानेवाले कर्मोसे छूटकर मुक्त हो जाते है तब उनकी गति स्वभावत ऊपरकी ही ओर होती है। लोकसे भी ऊपर अलोकाकाशमे तो सिद्ध जीवोकी गति इसलिए नही होती कि वहाँ गमन करनेमे असाधारण सहायता देनेवाला धर्मद्रव्य नही है। यदि वहाँ धर्मद्रव्य होता तो अवश्य ही गति हो सकती थी, पर धर्म द्रव्य तो लोकाकाशमे पाया जाता है अलोकमे नही।" 'धर्मास्तिकाय गमनमे सहायक है' यह पहले सिद्ध कर चुके है।

§ २४५ शंका—अच्छा, कर्मोके अभावसे आपके मुक्त जीव पूर्व प्रयोग आदिसे ऊपरको खूब गमन करे और लोकान्तमे विराजमान भी हो जायँ, परन्तु जब मोक्षमे शरीर, इन्द्रियाँ तथा श्वासोच्छ्वास आदि जीवन सामग्री नही है तब वे अजीव—जड ही हो जायेंगे। जीवनका अर्थ है

१ तयोर्ध्व गति-म० १, म० २, प० १, प० २ । २ –व च म० १, म० २, प० १, प० २ । –व स्वभावेन भवति क० । ३ परम् आ०, क० । पर इति म० १, म० २ । ४ –मेव ननु म० २ । ५ –र्ध्व गति म० १, म० २, प० १, प० २, क० । ६ –पि शरी–म० १, म० २, प० १, प० २ ।

प्रायापरिज्ञानात्, प्राणा हि द्विविधाः, द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च । मोक्षे च द्रव्यप्राणानामेवाभावः, न पुनर्भावप्राणानाम् । भावप्राणाश्च मुक्तावस्थायामपि सन्त्येव । यदुक्तम्—

"[1]यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यदर्शनज्ञानैः ।
आत्यन्तिकैः स युक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ॥ १ ॥
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि ।
तस्मात्तज्जीवत्व नित्य सर्वस्य जीवस्य ॥ २ ॥"

ततश्चानन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तवीर्यानन्तसुखलक्षणं जीवनं सिद्धानामपि भवतीत्यर्थः । सुखं च सिद्धाना सर्वसंसारसुखविलक्षणं परमानन्दमयं ज्ञातव्यम् । उक्तं[3] च—

"नवि अत्थि माणुसाण तं मुक्ख नेव सव्वदेवाणं ।
ज सिद्धाण सुक्ख अव्वावाहं उवगयाणं ॥ १ ॥
सुरगणसुह समग्ग सव्वद्धा पिंडिय अनन्तगुण ।
नवि पावइ मुत्तिसुह णन्ताहिंवि वग्गवग्गूहि ॥ २ ॥
सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धा पिंडिउ जइ हविज्जा ।
सोऽणतवग्गभइओ सव्वागासे न माइज्जा ॥ ३ ॥"

प्राणोका धारण करना तथा श्वासोच्छ्वास लेना । यदि प्राण ही नही है तब जीवन कैसा ? उन्हे जीव क्यो कहा जाय ? वे तो सोलह आने अजीव हो गये । और अजीवको तो मोक्ष होता नही है अतः उन्हे मुक्त भी नही कह सकते ।

तथा [1]योगशास्त्रेऽप्युक्तम्--

"सुरासुरनरेन्द्राणा यत्सुख भुवनत्रये :
तत्स्यादनन्तभागेऽपि न मोक्षसुखसपद ॥ १ ॥
स्वस्वभावजमत्यक्ष यस्मिन्वै शाश्वत सुखम् ।
चतुर्वर्गाग्रणीत्वेन तेन मोक्ष प्रकीर्तित ॥ २ ॥"

§ २४६ अत्र सिद्धानां सुखमयत्वे त्रयो विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि—आत्मनो मुक्तौ बुद्धयाद्यशेषगुणोच्छेदात्कथं सुखमयत्वमिति वैशेषिकाः । अत्यन्तचित्तसंतानोच्छेदत आत्मन एवासंभवादिति सौगता । अभोक्तृत्वात्कथमात्मनो मुक्तौ सुखमयत्वमिति सांख्याः ।

§ २४७. अत्रादौ वैशेषिकाः स्वशेमुषीं विशेषयन्ति ननु मोक्षे विशुद्धज्ञानादिस्वभावता आत्मनोऽनुपपन्ना, बुद्धयादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वान्मोक्षस्य । तथाहि—प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिपन्ने जीवस्वरूपे परिपाकं प्राप्ते तत्त्वज्ञाने नवानां जीवविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदे स्वरूपेणात्मनोऽवस्थान मोक्षः । तदुच्छेदे च प्रमाणमिदम्[3] । यथा, नवानामात्मविशेषगुणानां संतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते,

सिद्ध जीवोका सुख तो समस्त संसारी जीवोके ऐन्द्रियक सुखसे विलक्षण है वह तो परमानन्द रूप है । कहा भी है—"जो निर्वाध सुख सिद्धोको होता है वह न तो किसी मनुष्यको नसीव होता और न किसी देवकी तकदीरमे ही लिखा है । समस्त देवताओके त्रिकालवर्ती सुखको इकट्ठा करके उसे अनन्तसे गुणा भी कर दीजिए पर वह सिद्धोके सुखके अनन्तवें भाग वरावर भी नही हो सकता । यदि सिद्धोके समस्त सुखोको इकट्ठा करके उसके अनन्तवे भागको भी रूपी वनाया जाय तो वह इस लोक तथा अलोक तक फैले हुए अनन्त आकाशमे भी नहीं समा सकता।' योगशास्त्रमे भी कहा है कि—"स्वर्ग पाताल तथा मर्त्यलोकमे सुरेन्द्र असुरेन्द्र तथा नरेन्द्रोको जो कुछ भी सुख होता है वह सवका सव मिल करके भी मोक्ष सुखके अनन्तवे भागकी वरावरी नही कर सकता ।" मोक्षका सुख स्वाभाविक है नियत शक्तिवाली इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखनेके कारण अतीन्द्रिय है तथा कभी नष्ट नही होनेके कारण नित्य है । इसीलिए यह मोक्ष धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे परम पुरुषार्थ तथा चतुर्वर्ग शिरोमणि कहा गया है ।"

§ २४६ मुक्त जीवोको सुखमय होनेमे वादियोमे तीन प्रकारके विवाद पाये जाते हैं। वैशेषिकोका कहना है कि जव मुक्तिमे आत्माके वुद्धि सुख-दु.ख आदि विशेष गुणोका उच्छेद हो जाता है तव आत्मा सुखमय कैसे हो सकती है ? वौद्ध इनसे भी वढकर है वे मोक्ष अवस्थामे आत्माका ही सद्भाव नही मानते । उनका तात्पर्य है कि—मुक्ति अवस्थामे चित्त सन्तानका अत्यन्त उच्छेद हो जानेसे चित्त प्रवाह रूप आत्माकी सत्ता ही जव नही है तव सुख होगा किसे ? साख्य आत्माकी नित्य सत्ता मानकर भी उसे मुक्तिमे भोक्ता नही मानते । अत सुख भले ही रहो, पर जव आत्मा उसे भोगता ही नही है तव मोक्षको सुखमय कैसे कह सकते है ?

§ २४७ इनमे सवसे पहले वैशेषिक लोग अपनी वुद्धिकी विशेषता वताते हुए कहते हैं—

वैशेषिक (पूर्वपक्ष)—मोक्ष अवस्थामे आत्माको विशुद्ध ज्ञान सुखादिरूप मानना उचित नही है, क्योकि जव वुद्धि सुख आदि आत्माके विशेष गुणोके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं तव उसमे शुद्ध ज्ञान आदिका सद्भाव कैसे हो सकता है ? जव प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे प्रसिद्ध आत्माका तत्त्व-

१. –शास्त्रेऽपि सुरा–म० २ । २ "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्ष ।" —प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । न्यायम० पृ० ५०८ । ३ प्रत्यक्षप्रमा–म० २ । ४ "नवानामात्मगुणाना सतानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, सतानत्वात्, यो य सतान स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्ट यथा प्रदीपसतान, तथाचाय सन्तान , तस्माद् अत्यन्तमुच्छिद्यते ।" —प्रश० व्यो० पृ० २० क० । "दु खसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सततित्वात् प्रदीपसततिवदित्याचार्या ।" —प्रश० किर० पृ० ९ ।

संतानत्वात्, प्रदीपादिसंतानवत् । न चायमसिद्धो हेतुः, पक्षे वर्तमानत्वात् । नापि विरुद्धः, सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्यनैकान्तिकः, केवलपरमाण्वादावप्रवृत्तेः । नापि कालात्ययापदिष्टः, विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षानुमानयोरत्रासंभवात् । ननु संतानोच्छेदे हेतुर्वक्तव्य इति चेत् । उच्यते[1], निरन्तरशास्त्राभ्यासात् कस्यचित्पुंसस्तत्त्वज्ञानं जायते, तेन च मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्विधीयते, तस्य निवृत्तौ तत्कार्यभूता रागादयो निवर्तन्ते, तदभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्तते, तद्व्यावृत्तौ च धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । आरब्धशरीरेन्द्रियकार्ययोस्तु सुखादिफलोपभोगात्प्रक्षयः । अनारब्धशरीरादिकार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः । ततश्च सर्वसंतानोच्छेदान्मोक्ष इति स्थितम् ।

§ २४८. अत्र प्रतिविधीयते ।[2] यत्तावदुक्तं 'संतानत्वात्' इत्यादि; तदसमीचीनम्; यत[3] आत्मनः सर्वथा भिन्नानां बुद्ध्यादिगुणानां संतानस्योच्छेदः साध्यते अभिन्नानां वा, कथंचिद्भिन्नानां

ज्ञान परिपूर्ण रूपमे विकसित हो जाता है तव उस तत्त्वज्ञानसे आत्माके वुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अवर्म, और सस्कार इन नौ विशेष गुणोका अत्यन्त उच्छेद करके आत्माका अपने शुद्ध रूपमे लीन हो जाना ही मोक्ष है। वुद्धि आदि गुणोका उच्छेद सिद्ध करनेवाला प्रमाण यह है—आत्माके नौ विशेष गुणोकी सन्तान-परम्परा कभी अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योकि वह सन्तान-परम्परा है जैसे कि दीपक आदिकी परम्परा। सन्तानत्व हेतु आत्माके विशेष गुण रूप पक्षमे रहता है अत असिद्ध नही है। सपक्षभूत दीपक आदिमे पाया जाता है अत. विरुद्ध नही है। परमाणु आदि विपक्षमे नही पाया जाता अत व्यभिचारी नही है। साध्यसे विपरीत अर्थको साधनेवाले प्रत्यक्ष और अनुमान नही है अत यह हेतु कालात्ययापदिष्ट—वाधित भी नही है। वुद्ध्यादि गुणोकी सन्तानका उच्छेद तत्त्वज्ञानसे इस क्रमसे होता है—सतत शास्त्रोका अभ्यास एवं सत्सग आदिसे किसी विरले भाग्यवान्‌को जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तव उससे उसका मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। मिथ्याज्ञानके नष्ट होते ही मिथ्याज्ञानसे होनेवाले राग आदि दोष नष्ट हो जाते है। रागादि दोषोका नाश होने पर दोषोसे होनेवाली मन वचन कायके व्यापार रूप प्रवृत्ति वन्द हो जायगी। प्रवृत्तिके न होनेसे प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्य और पापकी आगे उत्पत्ति नही होगी। जो पुण्य और पाप पहलेसे सचित हैं, उनमेसे जिन्होने शरीर इन्द्रिय आदिको उत्पन्न करके फल देना प्रारम्भ कर दिया है उनका तो फल भोगकर विनाश किया जायगा, तथा जिनने अभी तक फल देना प्रारम्भ नही किया सत्ता रूपमे विद्यमान है उनका भी एक साथ अनेक शरीर आदि उत्पन्न कर फलोपभोगके द्वारा ही क्षय होगा। इस प्रकार पुण्य पाप आदि की परम्पराका सर्वथा उच्छेद होने पर सर्व सन्तानोच्छेद रूप मोक्ष हो जाता है।

§ २४८ जैन—(उत्तरपक्ष)—आपका सन्तानत्व हेतु प्रमाण वाधित होनेसे साध्यकी सिद्धि नही कर सकता। आप जिन वुद्ध्यादि गुणोकी सन्तानका अत्यन्त उच्छेद सिद्ध करना चाहते हैं वे गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न है या सर्वथा अभिन्न अथवा कथचिद्भिन्न ? यदि भिन्न है, तो हेतु आश्रयासिद्ध हो जायगा, क्योकि सन्तानीसे अत्यन्त भिन्न सन्तान उपलब्ध ही नही

प्रवर्तते, न पुनः शिलाशकलकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतते, यदि[1] मोक्षावस्थायामपि पाषाणकल्पोऽपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते, तदा कृतं मोक्षेण, संसार एव वरीयान् । यत्र सान्तरापि सुखलेशप्रतिपत्तिरप्यस्ति । अतो न वैशेषिकोपकल्पिते मोक्षे कस्यचिद्गन्तुमिच्छा । उक्तं च[2]—

"वरं वृन्दावने वासः, शृगालैश्च सहोषितम् ।
[3]न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति ॥१॥"

§ २५०. एतेन यदूचुर्मीमांसका [चुर्नैयायिका] अपि—

"यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः ।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते[4] ॥१॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि संभवः सुखदुःखयोः ।
मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥ २ ॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात् ।
नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त[5] उच्यते ॥३॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥४॥

हो जाय; तो इस सर्वविनाशी मोक्षके लिए कौन प्रवृत्ति करेगा ? सभी मुमुक्षु मोक्षमे निरतिशय अनन्तसुख तथा अनन्तज्ञान आदिके प्राप्त होनेकी अभिलाषासे ही तपश्चरण योगसाधन आदि दुष्कर प्रयत्न करते है, न कि अपनी आत्माके रहे सहे सुख ज्ञान आदिका भी समूल नाश करके उसे पत्थर जैसा जड बनानेके लिए । यदि मोक्षमे तमाम ज्ञान सुख आदि गुणोका उच्छेद होकर आत्मा पत्थरकी तरह जड बन जाता है, तो ऐसे मोक्षको दूरसे ही नमस्कार, वह आपके लिए ही मुबारिक हो, हमे तो यह संसार ही कही अच्छा है जिसमे बीच-बीचमे कभी-कभी भूले-भटके ही सही थोडे बहुत सुखका अनुभव तो हो जाता है । अत. वैशेषिकके द्वारा माने गये इस सर्वविनाशी जड मोक्षमे जानेकी किसीको इच्छा तक नही हो सकती । कहा भी है— 'गौतम ऋषि वृन्दावनके जगलोमे सियारोके साथ बसना अच्छा समझते हैं पर वे वैशेषिकोको जड़ मुक्तिमे किसी भी तरह नही जाना चाहते ।"

§ २५० इस विवेचनसे मीमासको (?) (नैयायिको) का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि—"जब तक आत्माके पुण्य-पाप सस्कार आदि सभी विशेष गुणोका उच्छेद नही होता तब तक आत्यन्तिक दु खनिवृत्तिका होना सम्भव ही नही है । प्राणियोको सुख दु ख आदिकी उत्पत्ति पुण्य और पापसे ही होती है, ये पुण्य और पाप ही इस संसाररूपी महलके आधारभूत मूलस्तम्भ है । जब इन पुण्यपापरूप मूल खम्भोको ही गिरा दिया जायगा तब इनके कार्यभूत शरीर आदिकी स्वस्थतासे होनेवाले सुख और दु ख तो अपने ही आप समाप्त हो जायँगे, न तो ये आगे उत्पन्न ही होगे और न मौजूद ही रहेगे । इस तरह सुख-दु ख आदिके नाश होने पर यह जीव मुक्त हो जाता है । 'उस समय आत्माकी क्या दशा होती है ?' इस प्रश्नका तो सीधा-सा उत्तर है कि—यह जीव मोक्षमे तमाम बुद्धि आदि गुणोसे रहित होकर शुद्ध स्वरूपमात्रमे

१ "यदि हि मोक्षावस्थायां शिलाशकलकल्पः अपगतसुखसंवेदनलेशः पुरुषः संपद्यते तदा कृतं मोक्षेण ।" —न्यायकुमु० पृ० ८२८ । २ "अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति । न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतमः ।" —संबन्धवा० श्लो० ४२२ । विवरणप्र० पृ० १३७ । "वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं प्रपद्यते ।"—न्यायकुमु० पृ० ८२८ । "वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम् ।" —स्या० म० पृ० ८९ । ३ न हि वैशे—म० २ । ४ [illegible] म० १, म० २, प० १, प० २, व० । ५. [illegible] म० २ ।

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥५॥" [न्यायम० प्रमे० पृ०७]

ऊर्मयः[1] कामक्रोधमदगर्वलोभदम्भाः ।

§ २५१. "नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" [छान्दो० ८।१२।१] [2]इत्यादि, तदप्यपास्तं द्रष्टव्यम् । यतः किं शुभकर्मपरिपाकप्रभवाणि[3] भवसंभवानि सुखानि मुक्तौ निषिध्यमानानि सन्त्युत सर्वथा तदभावः । आद्ये सिद्धसाधनम् । [4]द्वितीयोऽसिद्धः आत्मनः सुखस्वरूपत्वात् । न च पदार्थानां स्वरूपमत्यन्तमुच्छिद्यते, अतिप्रसङ्गात् । न च सुखस्वभावत्वमेवासिद्धं,तत्सद्भावे प्रमाणसद्भावात् । तथाहि—आत्मा सुखस्वभावः, 'अत्यन्त-

प्रतिष्ठित—लीन हो जाता है । वह मोक्ष छह प्रकारकी ऊर्मियों-लहरोंसे रहित निस्तरंग समुद्रकी तरह शान्त है । उसमें संसारके बन्धनोंसे होनेवाले दुःख क्लेश आदिकी गन्ध भी नही रहती । तात्पर्य यह कि वह केवल दुःखनिवृत्ति रूप ही है । काम, क्रोध, मद, गर्व, लोभ और दम्भ ये छह लहरे हैं जो चित्तको सदा विकारी तथा चंचल बनाये रखती हैं ।

§ २५१ "शरीरधारी आत्माके सुख और दुःखका अभाव नही होता वह सुखी या दुखी बना ही रहता है, परन्तु अशरीरी आत्माको सुख और दुःख प्रिय और अप्रिय छू भी नही सकते, वह उनसे परे हो जाता है ।"

हम इन नैयायिकोंसे पूछते हैं कि आप लोग मुक्तिमें शुभकर्मके फलस्वरूप सासारिक सुखों-का निषेध करते हो या सभी प्रकारके सुखोंका ? यदि कर्मजन्य सांसारिक सुखोंका मोक्षमें निषेध करना ही आपको इष्ट है, तो इतना तो हम पहिलेसे ही मानते हैं, हम मोक्षमें इन्द्रिय जन्य कर्मसे होनेवाला सुख मानते ही नहीं हैं हम तो मोक्षमें परम अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुख मानते हैं अतः आपका हेतु सिद्धसाधन होनेसे अकिंचित्कर हो जायगा । मोक्षमें सभी प्रकारके सुखोंका उच्छेद मानना तो प्रमाणविरुद्ध है, क्योंकि आत्मा स्वयं सुख रूप है, सुख तो उसका निजी स्वभाव है । पदार्थोंके निजी स्वभावका उच्छेद करनेसे तो पदार्थोंका ही अभाव हो जायगा और यह जगत् शून्य हो जायगा । उस समय जब सुख रूप आत्मा ही न रहेगी तब मोक्ष होगा किसे ? आत्माकी सुखस्वभावता निम्नलिखित अनेक प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है अतः उसे असिद्ध नही कह सकते । आत्मा सुखस्वभाववाला है क्योंकि वह अत्यन्त प्रियबुद्धिका विषय है, वह सबसे अधिक प्यारा है, वह दूसरेके लिए नही किन्तु स्वयं अपनी शान्तिके लिए ग्रहण किया जाता है जैसे कि विषयजन्य सुख । धन आदिका संग्रह स्त्रीके निमित्त तथा स्त्री आदिका परिग्रह आत्माके लिए किया जाता

१ "प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतसः । शीतातपौ शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥"—न्यायम० प्रमे० पृ० ७७ । २ "तस्य च न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः बाह्यविषयसंयोगवियोग-निमित्तयोः बाह्यविषयसंयोगवियोगौ ममेति मन्यमानस्य अपहतिर्विनाश उच्छेदः एतयोरूपयोर्नास्तीति । तं पुनर्देहाभिमानादशरीरस्वरूपविज्ञानेन निवर्तिताविवेकज्ञानमशरीरं सन्तं प्रियाप्रियेन स्पृशतः । स्पृशिः प्रत्येकं संबध्यत इति प्रियं न स्पृशति अप्रियं न स्पृशतीति वाक्यद्वयं भवति 'धर्माधर्मकार्ये हि ते, अशरीरता तु स्वरूपमिति तत्र धर्माधर्मासंभवात्तत्कार्याभावो दूरत एवेत्यतो न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।—छान्दो० शा० भा० । ३. -वानि म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. द्वितीयेऽसि—आ०, क० । ५ "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो अन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा आत्मानमेव प्रियमुपासीत ।"—बृहदा० १।४।८। "एष एव प्रियतमः पुत्रादपि धनादपि । अन्यस्मादपि सर्वस्मादात्मायं परमान्तरः ॥"—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६२७ । "आत्मा सुखाभिन्नः सुखलक्षणवत्त्वाद् वैषयिकसुखवत् आत्मा सुखम् अनौपाधिकप्रेमगोचरत्वात् ।"—संक्षेपशा० टी० पृ० ३०–३१ । "परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् ।"—चित्सु० पृ० ३५८ । सिद्धान्त वि० पृ० ४४५ ।

प्रियबुद्धिविषयत्वात् [1]अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च, वैषयिकसुखवत् । यथा [2]सुखार्थो मुमुक्षु-प्रयत्नः, प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृषीवलप्रयत्नवदिति । तच्च सुखं मुक्तौ परमातिशयप्राप्तं, सा चास्यानुमानात्प्रसिद्धा यथा, सुखतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं, तरतमशब्दवाच्यत्वात्, [3]परिमाणतार-तम्यवत् । [4]तथा—

> "[5]आनन्द ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते ।
> यदा दृष्ट्वा परं ब्रह्म सर्वं त्यजति बन्धनम् ॥१॥
> तदा तन्नित्यमानन्दं मुक्तः स्वात्मनि विन्दति[6] ।"

इति श्रुतिसद्भावात् । तथा—

> "सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्[7] ।
> तं वै मोक्ष विजानीयाद्दु प्रापमकृतात्मभिः ॥१॥"

इति स्मृतिवचनाच्च मोक्षस्य सुखमयत्वं प्रतिपत्तव्यमिति स्थितम् ॥

है परन्तु आत्माका ग्रहण किसी दूसरेके लिए नही स्वय उसीके सुखके लिए ही किया जाता है। अपना विषय सुख अत्यन्त प्यारा है तथा स्वयं अपने ही लिए है अत वह सुखरूप है इसी तरह आत्मा भी सुखरूप है। मुमुक्षुओका तपश्चरण योगसाधन आदि प्रयत्न सुखके लिए है, क्योकि वह समझदार व्यक्तिका बुद्धिपूर्वक किया गया प्रयत्न है जैसे कि किसानका धान्यकी प्राप्तिके लिए किया गया खेतीका प्रयत्न। मोक्षमे सुख अपने पूरे विकासको पा लेता है वहाँ परम अतीन्द्रिय अनन्त सुख होता है। मोक्षकी परमानन्दरूपता इस अनुमानसे सिद्ध होती है—सुखकी तरतमता-क्रमिक विकास कहीपर अपनी पूर्णताको प्राप्त होती है क्योकि वह तरतमता है क्रमिक विकास है जैसे कि मापका क्रमिक विकास आकाशमे पूर्णता प्राप्त करता है। अथवा सुखकी न्यूनाधिकता कही समाप्त हो जाती है अर्थात् वहाँ सुख आखिरी मर्यादा को पहुँच जाता है कमोवेश नही रहता, क्योकि वह न्यूनाधिकता है जैसे कि नापकी न्यूनाधिकता। "आनन्द ही ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप है, वह मोक्षमे प्रकट होता है। जिस समय परब्रह्मका साक्षात्कार करके समस्त अविद्याबन्धनोको काट दिया जाता है उस समय बन्धनोसे मुक्त आत्मा अपने स्वरूपमे उस परमानन्दका अनुभव करता है।" ये श्रुतियाँ भी मोक्षमे आनन्दरूपताका स्पष्ट प्रतिपादन कर रही हैं। स्मृतिमें भी कहा है कि—"जहाँ इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करनेके अयोग्य अतीन्द्रिय अनन्त सुख होता है वही मोक्ष है। यह अतीन्द्रियमुख केवल बुद्धिके द्वारा ही गृहीत होता है। यह मोक्ष आत्मज्ञानसे रहित मूढ ससारियोको कठिनतासे ही प्राप्त होता है।" इत्यादि श्रुतिस्मृतिके प्रमाणोसे भी मोक्षकी आनन्दरूपता प्रसिद्ध होती है।

---

१ वित्तस्त्रीपुत्रादयो हि आत्मार्थमुपादीयन्ते, पर चात्मन उपादान तु नान्यार्थम्, स्वयमात्मा आत्मार्थमेवोपादीयते इत्यर्थ । "प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च यच्च यावच्च चेष्टितम् । आत्मार्थमेव नान्यार्थं नात प्रियतमं पर ।"—सर्ववेदान्तसि० श्लो० ६३० । २ "इष्टार्थो मुमुक्षुप्रयत्न , प्रेक्षापूर्वकारिप्रयत्नत्वात्, कृष्यादिप्रयत्नवत् इति ।"—न्यायकुमु० पृ० ८३१ । ३. परमाणुतार—म० २ । ४. तथाहि आ०, म० २ । ५. 'मोक्षेऽभिपद्यते'—प्रश० व्यो० पृ० २० ख । "आनन्द ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम् ।"—वेदान्तसि० पृ० १५१ । तुलना—"नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते ।—न्यायभा० १।१।२२ । न्याय म० पृ० ५०९ । प्रकृतपाठ—सन्मति० टी० पृ० १५१ । न्यायकुमु० पृ० ८२१ । ६. उद्धृतोऽयम्—न्यायकुमु० पृ० ८२१ । ७ "सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।"—भगवद्गी० ६।२१। यो० नि० ३।५५ ।

३७

§ २५२. [illegible] ब्रुवते। [illegible] पुरुष, [illegible] [illegible]त्योरन्तर्गतं, [illegible], [illegible] प्रकृति [illegible] । अज्ञानतमश्छन्नतया प्रकृतिरूपमपि सुखादि-[illegible] प्रतिबिम्बित [illegible] मोहादात्मन प्रकृति [illegible] मोहान्धतमसात् [illegible] । [illegible] 'दृष्टाहमनया न समानया सह नसर्गो युक्त' इति, तदा [illegible] भुक्ते। [illegible] 'विज्ञानविनाशाद् न मदीय कर्म-[illegible]' इति [illegible] । तत उपरताया प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपे [illegible] मोक्ष । [illegible] चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा प्रतिदर्शितविषया-नन्ता' [illegible] पुनरनन्तादिस्वभाव, तस्य प्रकृतिकार्यत्वात्, तस्याश्च [illegible] ।

§ २५३. [illegible] । यदप्युक्तम्-'ससारिणो अज्ञानतमश्छन्नतया' इत्यादि, तद-[illegible] , [illegible] न [illegible] । प्रथमपक्षे मुक्तात्मापि प्रकृतिस्थितापि

§ २५२. (सांख्य पूर्वपक्ष)—[illegible] है, वह [illegible] [illegible] है। [illegible] भी [illegible] नहीं है किन्तु [illegible] [illegible] है। [illegible] अन्धकारसे व्याप्त होनेसे प्रकृतिमें होने-वाले [illegible] प्रतिबिम्बित [illegible] अपना ही मानता हुआ सुखी होता है। [illegible] प्रकृतिको सुन्दर मानकर संसार चक्रमें पड़ा हुआ है। [illegible] कि—'अरे, यह प्रकृति ही समस्त दु खोकी जड है, मेरा इससे [illegible] है' तब इस भेदविज्ञानसे वह आत्मा उन प्रकृतिके द्वारा लाये गये कर्मफलोंको नहीं भोगता, उनकी तरफ [illegible] भी नहीं है। प्रकृति भी बडी [illegible] है। उसने [illegible] यह जान लिया कि—'यह पुरुष मुझसे विरक्त हो गया है, इसने [illegible] और अब यह मेरे द्वारा लाये गये कर्मफलोको नहीं भोगेगा' तब वह [illegible] पुरुषके पास नहीं जायगी, उससे सुद दूर रहेगी। इस तरह प्रकृतिका [illegible] जानेपर पुरुष अपने निजी शुद्ध चैतन्य मात्रमें स्थित हो जाता है, यही स्वरूपावस्थिति मोक्ष है। पुरुषका स्वरूप चैतन्यमय है। यह चेतनाशक्ति, अपरिवर्तन-शील नित्य है, अप्रतिसङ्क्रमा दर्पणकी तरह स्वय विषयोके आकार तो नही होती, परन्तु प्रदर्शितविषया बुद्धिके द्वारा विषयोका प्रदर्शन करती है और अनन्त है। मुक्तात्मा इसी शुद्ध चैतन्य स्वरूपमे अवस्थित होता है सुख आदि स्वरूप नही, क्योकि सुख पुरुषका स्वभाव नही है यह तो प्रकृतिका कार्य है। प्रकृति तो ससारका नाश होनेसे मुक्त जीवके प्रति नष्ट हो चुकी है उसका अधिकार अब मुक्त पुरुषपर नही रहा वह मुक्त पुरुषके प्रति चरितार्थ हो चुकी है।

§ २५३. जैन (उत्तरपक्ष)—आपने ससारी आत्माको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित बताया था, तो क्या अज्ञानका नाम ही अन्धकार है या अज्ञान और अन्धकार दो वस्तुएँ है? यदि अज्ञान का नाम ही अन्धकार है और अज्ञानी पुरुष प्रकृतिके सुखको अपना सुख मानता है, तो

---

१ 'तत्प्रधानावगम प्रति यदा पुरुषस्य सम्यग् ज्ञानमुत्पद्यते तदा तेन ज्ञानेन दृष्टा प्रकृति पुरुषसङ्गान्नि-वर्तते। स्वैरिणीव पुरुषेणोपलक्षिता। अये इयममाध्वी मा मोहयति तस्मान्न समानया कार्यमितिवत्। तस्या च निवृत्ताया मोक्ष गच्छति।"—सांख्य० माठरवृ० श्लो० ६१। २. "चितिशक्तिरपरि-णामिन्यप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च।" —योगभा० १।२। ३ —माठप्र—भ० १। ४. —या अत—भ० २।

सुखादिफलं किं नात्मस्थं मन्येत, ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वाद्बुद्धेश्च प्रकृत्या सममुपरतत्वात्, मुक्तात्मनोऽपि ज्ञानाभावेनाज्ञानतमश्छन्नत्वाविशेषात्। द्वितीयपक्षे तु किमिदमज्ञानादन्यत्तमो नाम। रागादिकमिति चेत्; तन्न; तस्यात्मनोऽत्यन्तार्थान्तरभूतप्रकृतिधर्मतयात्माच्छादकत्वानुपपत्तेः। आच्छादकत्वे वा मुक्तात्मनोऽप्याच्छादनं स्यात्, अविशेषात्।

§ २५४. किं च ससार्यात्मनोऽकर्तुरपि भोक्तृत्वेऽङ्गीक्रियमाणे कृतनाशाकृतागमादयो दोषाः प्रसज्यन्ते।

§ २५५ [2]किं च, प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः केन कृतः किं प्रकृत्योतात्मना वा। न तावत्प्रकृत्या, तस्याः सर्वगतत्वान्मुक्तात्मनोऽपि तत्संयोगप्रसङ्गः[3]। अथात्मना, तर्हि स आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूपः सन् किमर्थं प्रकृतिमादत्ते। तत्र कोऽपि हेतुरस्ति न वेति वक्तव्यम्। अस्ति चेत्, तर्हि स हेतुः प्रकृतिर्वा स्यात् आत्मा वा। अन्यस्य कस्याप्यनभ्युपगमात्। आद्यपक्षे यथा. सा प्रकृतिस्तस्यात्मनः प्रकृतिसंयोगे हेतुः स्यात्, [4]तथा मुक्तात्मनः किं न स्यात्। प्रकृतिसंयोगात्पूर्वं शुद्धचैतन्यस्वरूपत्वेनो-

---

मुक्त पुरुष भी अज्ञानी ही है, क्योकि ज्ञान तो बुद्धिका धर्म है और बुद्धि प्रकृतिके साथ ही साथ मुक्त पुरुषसे विदा हो चुकी है। तात्पर्य यह कि मुक्त पुरुष भी बुद्धिके नष्ट हो जानेसे अज्ञानी ही है, अत अज्ञान अन्धकारसे व्याप्त होनेके कारण वे भी प्रकृतिके सुखको अपना सुख क्यो नही मानते और हमारी ही तरह ससारी क्यो नही हो जाते ? क्योकि यदि हममे अभीतक विवेकज्ञान उत्पन्न न होनेके कारण अज्ञान है तो मुक्त पुरुषोमे विवेकज्ञान उत्पन्न होकर भी नष्ट हो-जानेके कारण अज्ञान है। ज्ञानका उत्पन्न न होना और होकर नष्ट हो जाना करीब करीब एक ही बात है। यदि अज्ञानसे अन्धकार भिन्न वस्तु है, तो बताइए वह कौन सा अज्ञान से भिन्न अन्धकार है जिससे आच्छादित होकर आत्मा अपने स्वरूपको भूल जाता है ? राग आदि तो अन्धकार होकर आत्माके आवरण नही हो सकते, क्योकि ये भी आत्माके धर्म न होकर अत्यन्त भिन्न प्रकृतिके ही धर्म है, अतः वे आत्माके आच्छादक नही हो सकते। यदि अत्यन्त भिन्न प्रकृतिके धर्म होकर भी आत्माके आवारक हो तो मुक्तात्माओके स्वरूपको भी ये ढँक देवे, जिस तरह प्रकृति हमारी आत्माओसे भिन्न होकर भी उसके रागादि धर्म हमारी आत्मामे अपना प्रभाव जमा सकते है उसी तरह मुक्तात्माओपर भी उन्हे अपना असर दिखाना ही चाहिए।

§ २५४. ससारी आत्माको कर्त्ता नही मानकर भी भोक्ता माननेमे कृतनाश और अकृतागम नामके वडे भारी दोष होगे। जिस विचारी प्रकृतिने परिश्रम करके काम किया उसे तो उसका फल नही मिला और जिस निकम्मे पुरुषने कुछ भी किया-कराया तो है नही पर फल भोगनेको उसे ही विठाया जाता है। यह तो 'करै कोई और भोगे कोई' वाली वात हुई।

§ २५५ आप यह वताइए कि—प्रकृति और पुरुषका सयोग किया किसने ? क्या प्रकृति अपने आप पुरुषपर रीझ गई या पुरुष ही प्रकृतिपर मोहित हुआ है ? यदि प्रकृतिने स्वय सयोग किया होता, तो प्रकृति तो सर्वव्यापी है अत मुक्तपुरुषोसे भी उसे संयोग करना चाहिए। यदि आत्माने ही प्रकृतिपर मोहित होकर इससे सम्बन्ध किया है, तो यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा क्यो इस प्रकृतिपर मोहित हुआ और किस प्रयोजनसे उसने इसके साथ अपना सम्बन्ध किया ? आत्माके इस प्रकृति सयोगका कोई कारण है या नही ? यदि कोई कारण है, तो वह कारण या तो प्रकृति ही हो सकती है या आत्मा ? इन दोसे भिन्न तीसरी वस्तु तो है ही नही जो इनके सयोगमे कारण हो सके। यदि प्रकृति ही कारण है, तो जिस तरह प्रकृति ससारी आत्माका

---

१ –ज्ञान नाम म० २। २. अपि च म० १, म० २, प० १, प० २। ३ –ग अया—म० २। ४. तथात्मन म० २।

पुरुषस्य वा। न प्रकृतेः; [1]तस्या असंवेद्यपर्वणि स्थित[2]त्वादचेतनत्वादनभ्युपगमाच्च। नाप्यात्मनः, तस्याप्यसंवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्।

§ २५८. तथा यदपि 'विज्ञातविरूपाहम्' इत्याद्युक्तम्, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, [3]प्रकृतेर्जडतयेत्थं विज्ञानानुपपत्तेः। किं च, विज्ञातापि प्रकृतिः संसारदशावन्मोक्षेऽप्यात्मनो भोगाय स्वभावतो वायुवत्प्रवर्ततां तत्स्वभावस्य नित्यतया तदापि सत्त्वात्। नहि प्रवृत्तिस्वभावो वायुर्विरूपतया येन ज्ञातस्तं प्रति तत्स्वभावादुपरमत इति कुतो मोक्ष. स्यात्। तदा तदसत्त्वे वा प्रकृतेर्नित्यैकरूपताहानिः, पूर्वस्वभावत्यागेनोत्तरस्वभावोपादानस्य नित्यैकरूपताया विरोधात्, परिणामिनि[4] नित्य एव तदविरोधात्। प्रकृतेश्च परिणामिनित्यत्वाभ्युपगमे आत्मनोऽपि तदङ्गीकर्तव्यं तस्यापि प्राक्तनसुखोपभोक्तृस्वभावपरिहारेण मोक्षे तदभोक्तृस्वभावस्वीकारात्, अमुक्तादिस्वभावत्यागेन मुक्तत्वादिस्वभावोपादानाच्च। सिद्धे चास्य परिणामिनित्यत्वे सुखादिपरिणामैरपि परिणामित्वम-

---

तो ऐसी विवेकख्याति प्रकृतिको होती है या पुरुषको? प्रकृतिको तो नही हो सकती; क्योकि वह स्वय असवेद्यपर्व—जहाँ किसी पदार्थका ज्ञान नही होता—मे स्थित है अर्थात् ज्ञानसे शून्य है, अचेतन है और आप स्वय प्रकृतिमे विवेकख्याति मानते भी नही हैं। इसी तरह आत्माको भी विवेकख्याति—भेद विज्ञान नही हो सकती; क्योकि वह भी स्वयं असवेद्यपर्वमे स्थित होनेसे अज्ञानी है—ज्ञानशून्य है।

जो आपने कहा था कि प्रकृति भी समझ लेती है कि पुरुषने मुझे कुरूपा समझ लिया है इत्यादि, वह तो निरा वेसमझीका कथन है, क्योकि जब प्रकृति अचेतन है, जड है, तब वह इतनी समझदार कैसे हो सकती है? इतना परिज्ञान किसी भी जड या अचेतन पदार्थको कभी भी सम्भव नही है।

[मान लो कि पुरुषने उसे कुरूपा समझ भी लिया है तब भी अचेतन प्रकृतिको संसारदशाकी तरह मोक्ष अवस्थामे भी स्वभावसे ही भोगके लिए पहुँच जाना चाहिए जिस तरह कि वायु स्वभावसे ही सर्वत्र चलती रहती है। प्रकृतिका 'पुरुषके पास भोगको जाना' रूप स्वभाव तो नित्य होनेसे सदा वना ही रहता है, अत बिना रोक-टोक मोक्षमे भी पुरुषके पीछे लगकर भोगकी सृष्टि करनी चाहिए। मान लो किसी आदमीको वायु अच्छी नही लगती या वायुसे चिढ है, तो क्या स्वभावत वहनेवाली वायु उस आदमीसे बच करके किनाराकशी करके चलेगी? इस तरह जब मुक्त आत्माओके पास भी भोगके निमित्त प्रकृति पहुँच जायगी तब मोक्ष कहाँ रहा? वह तो भोगभूमि ही हो जायगा। यदि उस समय प्रकृतिका पुरुष भोगरूप स्वभाव नष्ट हो जाता है, तो वह नित्य एक रूप नही रह सकेगी; क्योकि जिस पदार्थमे किसी एक पूर्वस्वभावका त्याग तथा नये स्वभावका उत्पाद होता है वह नित्य एक रूप नही रह सकता। परिणामी नित्य पदार्थमे ही पूर्वस्वभावका त्याग तथा उत्तर स्वभावके ग्रहणकी व्यवस्था हो सकती है। यदि प्रकृति परिणामी-परिवर्तनशील होकर भी नित्य है, तो आत्माको भी कूटस्थनित्य न मानकर परिणामी नित्य ही मानना चाहिए। आत्मा भी तो मोक्ष अवस्थामे अपने पहलेके भोगीस्वभावको छोडकर अव एक नये योगी-अभोगी-स्वभावको धारण करता है, अस्तु-ससारी स्वभावको छोडकर मुक्त स्वभावको ग्रहण करता है। इस तरह जब आत्मा कूटस्थ नित्यकी जगह परिणामी नित्य सिद्ध हो गया तब उसमे सुख ज्ञान आदि परिणाम भी मान लेने चाहिए। यदि उसका अनन्त सुख ज्ञान आदि रूपसे

---

१ "तस्या· असवेद्यपर्वणि स्थितत्वात्, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमाच्च।"—न्यायकुमु० पृ० ८२२। २—त्त्वादनभ्यु—म० २। ३ "प्रकृतेर्जडतया इत्थ विज्ञानानुपपत्ते—न्यायकुमु० ८२२। ४. णामिनित्य—म० २।

स्याभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गः। ततश्च न कथमपि सांख्यपरिकल्पितो मोक्षो घटत इति यथोक्तस्वरूप एवानन्तसुखादिस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्यः ।

§ २५१. अथ सौगताः सङ्गिरन्ते। ननु ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरेकेण कस्याप्यात्मनोऽभावात्कस्य मुक्तौ ज्ञानादिस्वभावता प्रसाध्यते। मुक्तिश्चात्मदर्शिनो दूरोत्सारिता—यो हि पश्यत्यात्मानं स्थिरादिरूपं तस्यात्मनि स्थैर्यगुणदर्शननिमित्तस्नेहोऽवश्यंभावी, आत्मस्नेहाच्चात्मसुखेषु परितृष्यन् सुखेषु तत्साधनेषु च दोषांस्तिरस्कृत्य गुणानारोपयति, गुणदर्शी च परितृष्यन्ममेति सुखसाधनान्युपादत्ते। ततो यावदात्मदर्शनं तावत्संसार एव। तदुक्तम्—

"यः पश्यत्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥ १ ॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्स संसारे ॥ २ ॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः समायान्ति ॥ ३ ॥" [प्र० वा० १।२१९-२२१]

परिगमन नहीं होता तो उसे मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। इस तरह सांख्योंके द्वारा माना गया मोक्षका स्वरूप किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता अतः हमारे द्वारा माना गया अनन्तसुख ज्ञान आदि स्वरूप वाला ही मोक्ष युक्तिसंगत है तथा वही माननेके योग्य है।

§ २५१ बौद्ध (पूर्वपक्ष)—जब प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाले ज्ञानक्षणोकी धाराके सिवाय किसी स्थायी आत्माका सद्भाव ही नहीं है तब आप मुक्तिमें किसको ज्ञानादि स्वभाववाला सिद्ध करना चाहते हैं? यदि कोई ज्ञान आदि स्वभावोंमें रहनेवाला अनुयायी आत्मा होता तो वही मोक्षमें अनन्तज्ञान आदि स्वभावोंको धारण कर लेता। पर ज्ञानधाराको छोडकर आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आत्मदर्शी—आत्माकी सत्ता माननेवालेको मुक्ति ही नहीं हो सकती। जो आत्माको नित्य सदा रहनेवाली देखता है उसे आत्मामें नित्यत्व आदि गुणोंके कारण राग अवश्य ही होगा। जब आत्मामें रागका सिलसिला जारी हुआ तो वह आत्माके सुखके लिए प्रयत्न करता है, सुखके साधनोंको जुटाता है। वह सुखके साधनोंको जुटाते समय उसमें होनेवाले हिंसा आदि दोषोंकी ओरसे आँखे बन्द कर उनमें गुण ही गुण देखता है और ममतापूर्वक 'यह मेरे हैं' इस बुद्धिसे सुखके साधनभूत स्त्री धनधान्य आदिका संग्रह करता है और मकडीके जालकी तरह इस संसारके जालमें फँसता जाता है। तात्पर्य यह कि तमाम संसार-की जड यह आत्मदर्शन ही है। सब पदार्थोंको आत्माके लिए ही जोडते हैं, यदि आत्माकी ओरसे ही दृष्टि हट जाय तो कोई किसलिए इस संसारके चक्करमें पडेगा फिर तो 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी' वाली बात होगी। कहा भी है— "जो आत्माको नित्यत्व आदि रूपमें देखता है उसे आत्मामें 'अहं मैं' इस प्रकारका शाश्वत-बहुत दिनों तक टिकाऊ स्नेह हो जाता है। जहाँ स्नेह हुआ कि उसके सुखकी चिन्ता हुई। सुखकी तृष्णामें यह मनुष्य सुखके साधनोंके इकट्ठे करते समय होनेवाले हिंसा आदि दोषोंको दृष्टिसे ओझल करके उनमें गुण ही गुण देखता है। और तृष्णापूर्वक 'यह मेरा है यह मेरा है' इस ममकारके साथ उन पदार्थोंके मोहमें पड जाता है उनसे बुरी तरह चिपट जाता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्मा है' यह दुराग्रह चित्तमें रहता है तब तक यह सब जाल रचना पडता है, यह आत्मदर्शन ही संसारके फैलनेका मूल कारण है। जब हम किसी एकको 'अपना आत्मा' मान लेते हैं तब यह स्वाभाविक ही है कि

१ —हमिति हि आ०, क० । २ —तस्ने-आ० । ३. तृष्यति प० २ ।

ततो मुक्तिमिच्छता पुत्रकलत्रादिकं स्वरूपं चानात्मकमनित्यमशुचि दुःखमिति [1]श्रुतमय्या चिन्तामय्या च भावनया भावयितव्यम् एवं [2]भावयतस्तत्राभिष्वङ्गाभावादभ्यासविशेषाद्वैराग्यमुपजायते, ततः सास्रवचित्तसंतानलक्षणसंसारविनिवृत्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते ।

§ २६०. अथ तद्भावनाभावेऽपि कायक्लेशलक्षणात्तपसः सकलकर्मप्रक्षयान्मोक्षो भविष्यतीति चेत्; न; कायक्लेशस्य कर्मफलतया नारकादिकायसंतापवत् तपस्त्वायोगात्[3] । विचित्रशक्तिकं च कर्म, विचित्रफलदानान्यथानुपपत्तेः । तच्च कथं कायसंतापमात्रात् क्षीयते, अतिप्रसङ्गात् ।

§ २६१. अथ तपःकर्मशक्तीनां संकरेण [4]क्षयकरणशीलमिति कृत्वा एकरूपादपि तपसश्चित्रशक्तिकस्य कर्मणः क्षयः । नन्वेवं[5] स्वल्पक्लेशेनोपवासादिनाप्यशेषस्य कर्मणः क्षयापत्तिः[6], शक्तिसांक-

---

दूसरे पदार्थ 'पराये' माने जाये। और इस स्व और परका विभाग होते ही स्व-अपनेका परिग्रह-राग तथा परसे द्वेष होने लगता है। इन परिग्रह और द्वेषके होते ही क्रोध मान काम लोभ आदि अनेको दोष आकर अपना अधिकार जमा लेते है, क्योकि ये सब छोटे-मोटे दोप राग-द्वेषकी सेनाके ही सैनिक रूप है।" अत जिस व्यक्तिको मुक्ति चाहना है उसे पुत्र स्त्री आदि पदार्थोको अनात्मक—आत्मस्वरूपसे भिन्न, अनित्य, अशुचि तथा दु खरूप देखना चाहिए। और श्रुतमयी-शास्त्राभ्यास या शब्दसे होनेवाला परार्थानुमान-तथा चिन्तामयी-स्वयं विचारना या स्वार्थानुमान—भावनाओ उक्त विचारोको खूब दृढ करना चाहिए—उनकी वारम्वार भावना करते रहना चाहिए। इस तरह ससारके समस्त स्त्री पुत्रादि पदार्थोमे अनित्य आत्मस्वरूपसे भिन्न तथा दु खादिरूप भावना भानेसे इनसे ममत्व हटकर धीरे-धीरे वैराग्य हो जायगा। इस वैराग्यसे अविद्या और तृष्णा रूप आस्रवसे युक्त चित्तसन्तति स्वरूप संसारका नाश हो जायगा। यही अविद्या तृष्णायुक्त चित्तसन्ततिका नाश ही मोक्ष है।

§ २६०. **शंका**—इस तरहकी अनित्य या दु ख रूप भावना न भाकर भी जब कायक्लेश रूप तपसे भी समस्त कर्मोका नाश होकर मुक्ति हो सकती है तब आप भावनाओपर ही अधिक भार क्यों देते हैं?

समाधान—जिस प्रकार नरकके दुःख पूर्वकृत कर्मोके फल है, उसी तरह कायक्लेश भी पूर्वकृतकर्मोका फल ही है, उसे तप हो नही कह सकते। तप तो इच्छाओका निरोध करके स्वयं किया जाता है पर यह कायक्लेश तो कर्मके फलसे होता है किया नही जाता। कर्मोकी विचित्र शक्तियाँ है जिनसे नाना प्रकारके कायक्लेश आदि रूप फल मिलते है। ऐसे विचित्रफल देनेवाले विचित्र शक्तिधारी कर्म मामूली शरीरको क्लेश देनेवाले तपसे कैसे नष्ट किये जाते है? एकरूप कारण अनेक रूपवाली वस्तुको नष्ट नही कर सकता।

§ २६१ **शंका**—तपमे ऐसी शक्ति है जिससे वह कर्मोकी शक्तिमे परिवर्तन करके उन्हे संकर—एक रूप बनाकर उनका नाश कर देता है। अथवा तप और पूर्वकर्म दोनोकी शक्ति मिलकर कर्मोका नाश कर देगी, अत एक रूपवाले अकेले तपसे ही विचित्र शक्तिवाले कर्मोका क्षय हो

---

१ "तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्य परार्थानुमानवाक्येभ्य समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता पर प्रकर्ष प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निवृत्ता चिन्तमयीभावनामारभते।" —आप्तप० का० ८३। २ —त्वानभि—भ० २। ३ "फलवैचित्र्यदृष्टेश्च शक्तिभेदोऽनुमीयते। कर्मणा तापसक्लेशात् नैकरूपात्तत· (क्षय)॥ फलं कथचित्तज्जन्याल्प स्यात् न विजातिमत्। अथापि तपस शक्त्या शक्तिसंकरसक्षयै। क्लेशात् कुतश्चिद्धीयेताशेपमक्लेशलेशत। यदीष्टमपर क्लेशात् तत्तप क्लेश एव चेत्। तत कर्मफलमित्यस्मात् न शक्ते संकरादिकम्॥"—प्र० वा० १।२७६–७८। ४ क्षयसंकरेण शी—भ० २। ५. तन्नैवं भ० २। ६. पत्तिशक्ति सा—भ० २। उद्धृतौ इमौ। न्यायकुमु० पृ० ८४१। स्या० र० पृ० १११८।

[illegible]नुपपत्तेः । उक्तं च—

"[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २ ॥"

तस्मान्नैरात्म्यभावनाप्रकर्षविशेषाच्चित्तस्य निःक्लेशावस्था मोक्षः ।

§ २६२ अत्र प्रतिविधीयते । तत्र यत्तावदुक्तं 'ज्ञानक्षणप्रवाह' इत्यादि; तदविचारितविलपितम्, ज्ञानक्षणप्रवाहव्यतिरिक्तं मुक्ताकणानुस्यूतसूत्रोपममन्वयिनमात्मानमन्तरेण कृतनाशाकृतागमादिदोषप्रसक्तेः स्मरणाद्यनुपपत्तेश्च ।

हो जायगा, तब भी नारकियोंके कष्ट सहना और देनेका क्या कारण है ?

समाधान—तब आपके उपवास और कायक्लेशसे भी सभी कर्मोंको शक्तिमें परिवर्तन होकर उनमें एकरूपता आ जाय और उन कर्मोंका नाश हो जाना चाहिए, क्योंकि आप तो तप और कर्मोंकी शक्तिके मिश्रणसे ऐसी ही शक्ति बताते हैं जिससे विचित्र शक्तिवाले कर्मोंकी विचित्रता परिवर्तित होकर एकरूपता बन जाती है और एक रूपवाले तपसे एक रूपवाले कर्मोंका नाश सहज ही हो जाता है। कहा भी है—"कर्मोंके क्षयसे मोक्ष होता है, और कर्मोंका क्षय होता है तपसे। जब तप मात्र कायक्लेश रूप ही है, जो कि नारकी जीवोंके दारुण दुःखकी तरह मात्र पूर्वकृत कर्मोंका फल ही हो सकता है, तो उन कर्मोंके फलरूप कायक्लेशको तप कैसे कह सकते हैं ? अन्यथा नारकियोंके कायक्लेशको भी तप कहना चाहिए।[1] एकरूप तपसे विचित्र शक्तिवाले कर्मोंका क्षय होना तो नितान्त असम्भव है। तपको कर्मोंकी शक्तिमें परिवर्तन करके उनमें सकर—एकरूपता लानेवाला मानकर कर्मोंका क्षय करनेवाला कहना अथवा तप और कर्मोंकी मिश्रित शक्तिको कर्मक्षय करनेवाला कहना तो केवल बकवाद करना ही है। तपमें ऐसी शक्ति हो ही नहीं सकती।" इस तरह 'आत्मा नहीं है या संसार निरात्मक है—आत्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकारकी नैरात्म्य भावना जब उत्कृष्ट अवस्थामें पहुँच जाती है तब उसके द्वारा चित्तके अविद्या तृष्णा आदि क्लेशोंका नाश होकर उसकी निःक्लेश अवस्थाका नाम ही मोक्ष है। यही चित्त जब अविद्या तृष्णा रूप आस्रवोंसे युक्त होता है तब संसार कहलाता है और जब अविद्या तृष्णारूप क्लेशोंका, आस्रवोंका नाश होकर वह निरास्रव निःक्लेश हो जाता है तब वही मोक्ष कहा जाता है।

§ २६२. जैन (उत्तरपक्ष)—आपने जो ज्ञानप्रवाहको ही आत्मा कहा है वह तो सचमुच बिना विचारे ही यद्वा तद्वा कुछ कह दिया है। यदि मोतियोंमें पिरोये गये धागेकी तरह पूर्व तथा उत्तर ज्ञानक्षणोंमें आत्मस्वरूपसे अनुयायी कोई आत्मा नहीं है, तब कृतनाश अकृतागम आदि दोष होंगे। जिस ज्ञानक्षणने किसी जीवकी हत्या की वह तो उसी समय नष्ट हो जायगा अत उसे तो अपने कियेका कुछ भी फल नहीं मिला, यह तो कृतनाश हुआ। और अन्य जिस ज्ञानक्षणने हत्या नहीं की उस बिचारेको हत्याके अपराधमें फाँसीकी सजा मिली, यह हुआ अकृतका आगम 'करे कोई और भोगे कोई' इस नियमसे तो जगत् अन्धेर नगरी बन जायगा। जिसे हमने रुपये दिये थे वह भी नष्ट हो गया तथा हम भी, तब कौन किससे स्मरण करके रुपयेका लेन-देन करेगा ? जिसने पदार्थोंका अनुभव किया था जब वह समूल नष्ट हो गया तब स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि कैसे हो सकेंगे ?

१. तच्चित्र क्षय—भ० २। २. तत्कर्मशक्ति—भ० २। ३ करक्षय-प० १, प० २। ४. क्षयकरी—आ०, क०।

§ २६३. यत्पुनरुक्तं 'आत्मानं यः पश्यति' इत्यादि; तत्सूक्तमेव; [1]किंत्वज्ञो जनो दुःखानुषक्तं सुखसाधनं पश्यन्नात्मस्नेहात्सांसारिकेषु दुःखानुषक्तसुखसाधनेषु प्रवर्ततेऽपथ्यादौ[2] मूर्खातुरवत् । हिताहितविवेचकस्तु[3] [4]तादात्विकसुखसाधनमङ्गनादिकं परित्यज्यात्मस्नेहादात्यन्तिकसुखसाधने मुक्तिमार्गे प्रवर्तते, पथ्यादौ चतुरातुरवत् ।

§ २६४. यदप्युक्तं 'मुक्तिमिच्छता' इत्यादि; तदप्यज्ञानविजृम्भितम्; [5]सर्वथाऽनित्यानात्मकत्वादिभावनाया निर्विषयत्वेन मिथ्यारूपत्वात्सर्वथा नित्यादिभावनावन्मुक्तिहेतुत्वानुपपत्तेः । नहि कालान्तरावस्थाय्येकानुसंधातृव्यतिरेकेण भावनाप्युपपद्यते । तथा यो हि निगडादिभिर्बद्धस्तस्यैव तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानानुष्ठानाभिसंधिव्यापारे सति मोक्ष., इत्येकाधिकरण्ये सत्येव बन्धमोक्ष-

---

§ २६३ आपने जो 'आत्मदर्शीको ससार होता है' इत्यादि विवेचन किया है, वह किसी हद तक अच्छा है। वात यह है कि—अज्ञानी मोही आत्मा दु खसे मिश्रित सुख-साधनोको देखकर आत्माके मिथ्यारागसे उस दु ख मिश्रित सासारिक सुखके स्त्री-पुत्रादि साधनोको जुटानेमे प्रवृत्ति करता है। जिस तरह कोई मूर्ख रोगी अपथ्यको ही पथ्य मानकर खा लेता है और दिन दूना रोगमे फँसता जाता है, उसी तरह यह मूढ आत्मा दु खको ही सुख मानकर स्त्री पुत्रादिमे ममता करके राग करता है और ससारके जालमे उलझता जाता है। परन्तु जो विवेकी है जिन्हे हित और अहितका यथार्थ परिज्ञान है वे ज्ञानी जीव इस मिथ्या सासारिक सुखके कारण स्त्री आदिको छोडकर आत्माके शुद्ध स्वरूपमे प्रेम करके अतीन्द्रिय सुखके साधनभूत मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करते है। जिस तरह समझदार रोगी वैद्यके द्वारा वताये गये पथ्यका सेवन कर जल्दी ही नीरोग हो जाता है उसी तरह आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्तिके उपायोका आचरण करनेसे आत्माके परम अतीन्द्रिय सुख स्वरूपकी भी प्राप्ति सहज हो हो जाती है।

§ २६४ आपने जो मुमुक्षुओके लिए अनित्यत्व आदि भावनाएँ वतायी है वह तो सचमुच आपके अज्ञानका ही फैलाव है। ससारमे पदार्थ ही जब सर्वथा अनित्य नही है तब सर्वथा अनित्यत्व आदिकी निर्विषयक काल्पनिक मिथ्या भावनाएँ मोक्षमे कारण नही हो सकती। जिस तरह ससारमे सर्वथा नित्य पदार्थ कोई नही है उसी तरह सर्वथा अनित्य पदार्थकी सत्ता भी ससारमे नही है। अत' जैसे सर्वथा नित्यत्वकी भावना निर्विषयक है और उस मिथ्या काल्पनिक भावनासे

व्यवस्था नोपपद्यते । यतो ह्यन्यः[1] क्षणो बद्धोऽन्यस्य च तन्मुक्तिकारणपरिज्ञानमन्यस्य चानुष्ठानाभिलाषोऽन्यस्य व्यापारोऽन्यस्येति वैयधिकरण्यात्सर्वमयुक्तम् ।

§ २६५ किं च, सर्वो बुद्धिमान् बुद्धिपूर्वं प्रवर्तमानः किंचिदिदमतो मम स्यादित्यनुसंधानेन प्रवर्तते । इह[2] च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमानो मोक्षो मम स्यादित्यनुसंदध्यात् क्षणः, संतानो वा । न तावत्क्षणः, तस्यैकक्षणस्थायितया निर्विकल्पतया चैतावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वात् । नापि संतानः, तस्य संतानिव्यतिरिक्तस्य सौगतैरनभ्युपगमात् ।

§ २६६ किं च, निरन्वयविनश्वरत्वे च संस्काराणां मोक्षार्थं प्रयासो व्यर्थ एव स्यात्, यतो रागाद्युपरमो हि भवन्मते मोक्षः, उपरमश्च विनाशः, स च[3] निर्हेतुकतयाऽयत्नसिद्धः, ततस्तदर्थोऽनुष्ठानादिप्रयासो निष्फल एव ।

माननेपर तो 'जो बँधा है वही छूटा' इस प्रकारकी बन्ध-मोक्षकी नियत व्यवस्था हो सकती है। संसारमें भी बँधना और छूटना एक अधिकरणमें ही देखे जाते हैं। पर आप तो जब किसी अनुगामी आत्माकी सत्ता ही नहीं मानते तब अन्य ज्ञानक्षण बँधेगा तो छूटनेके कारणोंका ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान क्षणको होगा तो उन उपायोंके आचरण करनेकी इच्छा किसी तीसरेको होगी और आचरण कोई चौथा ही क्षण करेगा, इस तरह सभी बातें भिन्न-भिन्न ज्ञान क्षणोंको होंगी तब बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था किसी भी तरह नहीं बन सकेगी।

§ २६५ संसारमें कोई भी बुद्धिमान् जब किसी कार्यमें जान-बूझकर प्रवृत्ति करता है तो यह सोचकर ही उसमें प्रवृत्त होता है कि—'इस कार्यके करने से मुझे अमुक लाभ होगा' अब आप बताइए कि आपके यहाँ मोक्षमार्गके अभ्यासमें प्रवृत्ति करनेवाला तथा 'इससे मुझे मोक्ष होगा' इस अभिप्रायको रखनेवाला विचारक कौन है? ऐसा विचार ज्ञानक्षण करेंगे या सन्तान? ज्ञानक्षण तो एक ही क्षण तक ठहर कर नष्ट हो जानेवाले हैं तथा निर्विकल्पक हैं, अत वे इतना लम्बा विचार नहीं कर सकते। इतना बड़ा विचार तो दस बीस क्षण तक ठहरनेवाला सविकल्प ज्ञान ही कर सकता है। परस्पर भिन्न ज्ञान क्षणरूप सन्तानियोंसे पृथक् सत्ता रखनेवाली सन्तान तो बौद्ध मानते ही नहीं हैं, अत जिस तरह क्षणिक ज्ञानक्षण उतना लम्बा विचार नहीं कर सकते उसी तरह उन ज्ञानक्षणरूप सन्तान भी उस विचार को करने में समर्थ नहीं हो सकती।

§ २६६ जब आपके यहाँ सभी पदार्थ क्षणिक हैं तथा रागादि संस्कार भी दूसरे क्षणमें निरन्वय—समूल नष्ट हो जाते हैं, तब रागादिका नाश भी अपने ही आप हो जायगा, और मोक्षकी प्राप्ति भी स्वत ही हो जायगी, अत सिर मुड़ाकर कषायसे वस्त्र धारण कर बुद्ध दीक्षा लेना व्यर्थ ही है, क्योंकि आपने रागादिके उपरमको ही मोक्ष माना है। उपरम का अर्थ है नाश। और नाश तो आपके यहाँ निर्हेतुक है, वह कारणो से नहीं होता किन्तु स्वभावसे ही अपने आप हो जाता है। अत रागादिका नाश भी अपने ही आप अनायास ही हो जानेवाला है उसके लिए प्रव्रज्या लेना आदि प्रयत्न करना निरर्थक ही है।

---

१. 'न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ—क्षणिकमेक यच्चित्त तत्संस्थौ बन्धमोक्षौ न स्याताम्। यस्य चित्तस्य बन्ध तस्य निरन्वयप्रणाशादुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसङ्गात्। यस्यैव बन्ध तस्यैव मोक्ष इति एक चित्तसंस्थौ बन्धमोक्षौ।"—युक्त्यनु० टी० पृ० ४१। न्यायकुमु० पृ० ८४२। २ "इह च कस्तथाविधो मार्गाभ्यासे प्रवर्तमान 'मोक्षो मम स्यात्' इत्यनुसंदध्यात्—क्षण सतानो वा।—न्यायकुमु० पृ० ८४२। ३ "अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसक। चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुक॥"—आप्तमी० का० ५२। युक्त्यनु० टी० पृ० ४०। "निर्हेतुकतया विनाशस्य उपायवैयर्थ्यम्, अयत्नसाध्यत्वात्।"—प्रश० व्यो० पृ० २०। न्यायकुमु० पृ० ८४३।

§ २६७. किं च तेन[1] मोक्षार्थानुष्ठानेन प्राक्तनस्य रागादिक्षणस्य नाशः क्रियते, भाविनो वानुत्पादः, तदुत्पादकशक्तेर्वा क्षयः, संतानस्योच्छेदः[2], अनुत्पादो वा, निराश्रय (स्रव) चित्तसंतत्युत्पादो वा, तत्राद्योऽनुपपन्नः, विनाशस्य निर्हेतुकतया भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । द्वितीयोऽप्यत एवासाधीयान्, उत्पादाभावो ह्यनुत्पादः, सोऽभावरूपत्वात्कथं कुतश्चिदुत्पद्यते, अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । तच्छक्तेः क्षयोऽनुपपन्नः, तस्याप्यभावरूपतया निर्हेतुकत्वेन भवन्मते कुतश्चिदुत्पत्तिविरोधात् । संतानस्योच्छेदार्थोऽ[3]नुत्पादार्थो वा तत्प्रयास इत्यप्यनेन निरस्तम्, क्षणोच्छेदानुत्पादवत् । तयोरप्यभावरूपतया[4] निर्हेतुकत्वात्कुतोऽप्युत्पत्त्यनुपपत्तेः । किं च, वास्तवस्य संतानस्यानभ्युपगमात्किं तदुच्छेदादिप्रयासेन । न हि मृतस्य मारणं क्वापि दृष्टम्, तन्न संतानोच्छेदलक्षणा[5] मुक्तिर्घटते ।

§ २६८. अथ [6]निराश्रय (स्रव) चित्तसंतत्युत्पत्तिलक्षणा सा तत्प्रयाससाध्येति[7] पक्षस्तु ज्यायान् । केवलं[8] सा चित्तसंततिः सान्वया निरन्वया वेति वक्तव्यम् । आद्ये सिद्धसाधनम्;

---

§ २६७ अच्छा यह बताइए कि-मोक्ष के लिए जो प्रव्रज्या आदि धारण करते हैं उनसे क्या होता है? क्या मौजूद रागक्षणका नाश होता है, या आगे राग उत्पन्न नहीं हो पाता, अथवा रागको पैदा करनेवाली शक्तिका नाश हो जाता है, किंवा सन्तानका उच्छेद हो जाता है, अथवा रागादि सन्तति आगे उत्पन्न नही हो पाती, या निरास्रव चित्तसन्तति उत्पन्न हो जाती है? प्रव्रज्यासे रागादिका नाश तो नही हो सकता, क्योकि आपके मतसे विनाश तो निर्हेतुक है वह किसी प्रव्रज्या आदि कारण से उत्पन्न नही हो सकता वह तो स्वत. ही होता है। रागादिके अनुत्पादका मतलब है रागादिके उत्पादका अभाव, सो वह भी उत्पादका नाश ही है, अत. उसका कारणोसे उत्पन्न होना असम्भव है क्योकि आप विनाशको निर्हेतुक मानते हैं। यदि रागादि नाशकी किसी प्रव्रज्या आदि कारणसे उत्पत्ति मानी जायगी, तो आपके अहेतुक विनाशवाले सिद्धान्तका विरोध हो जायेगा। इसी तरह शक्तिका क्षय भी विनाश रूप ही है, अतः इसकी भी उत्पत्ति कारणो से नही हो सकती। इसी प्रकार सन्तानका उच्छेद या उसका अनुत्पाद-उत्पादाभाव भी विनाशरूप होनेसे क्षणोके नाश और अनुत्पादकी तरह निर्हेतुक ही होगे अत इनके लिए भी प्रव्रज्या आदि अनुष्ठानोका कोई उपयोग नही है। आप सन्तानको तो वास्तविक मानते ही नही हैं उसे तो आप काल्पनिक कहते हैं; तब ऐसी काल्पनिक सन्तानके उच्छेदके लिए क्यो प्रयत्न किया जाय। वह तो काल्पनिक होनेसे है ही नही, बिचारी अपने ही आप अच्छिन्न है। इस मरी हुई सन्तानको मारनेके लिए इतनी दुष्कर प्रव्रज्या आदिका धारण करना महज मनकोपन ही है। इस तरह सन्तानोच्छेद रूप मुक्ति किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही होती।

§ २६८। हां, 'जो चित्तसन्तति पहले सास्रव-अविद्या और तृष्णासे संयुक्त थी, प्रव्रज्या आदि अनुष्ठानोसे वही चित्तसन्तति निरास्रव-अविद्या तृष्णासे रहित हो जाती है' आपका यह विचार उचित प्रतीत होता है। केवल उस चित्तसन्ततिको सान्वय तथा वास्तविक मानना चाहिए। बताइए—आप उसे सान्वय मानना चाहते हैं या निरन्वय? निरास्रव चित्तसन्ततिको सान्वय-वास्तविक रूपसे पूर्व उत्तर क्षणोमे अपनी सत्ता रखनेवाली—मानना ही सच्चा मोक्षका

तथाभूत एव चित्तसन्ताने मोक्षोपपत्तेः, बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः। द्वितीयोऽनुपपन्नः; निरन्वये हि सन्तानेऽन्यो बध्यतेऽन्यश्च मुच्यते, तथा च बद्धस्य मोक्षार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्, कृतनाशादयश्च दोषाः पृष्ठ[1](ष्ठ)लग्ना एव धावन्ति।

§ २६९. तथा यदुक्तं 'कायक्लेश' इत्यादि, [2]तदप्यसत्यम्, [3]हिंसाविरतिरूपव्रतोपबृंहकस्य कायक्लेशस्य [4]कर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्, व्रताविरोधी हि कायक्लेशः कर्मनिर्जराहेतुत्वात्तपोऽभिधीयते। न चैवं नारकादिकायक्लेशस्य तपस्त्वप्रसक्तिः, तस्य हिंसाद्यावेशप्रधानतया तपस्त्व[5]विरोधात्, अतः कथं[6] प्रेक्षावता तेन समानता साधुकायक्लेशस्यापादयितुं शक्या।

§ २७०. तदपि शक्तिसंकरपक्षे 'स्वल्पेन' इत्यादि प्रोक्तम्, तत्सूक्तमेव, विचित्रफलदानसमर्थानां कर्मणां शक्तिसंकरे सति [7]क्षीणमोहान्त्यसमयेऽयोगिचरमसमये [8]चाक्लेशतः स्वल्पेनैव शुक्लध्यानेन तपसा [9]प्रक्षयाभ्युपगमात्, जीवन्मुक्तेः परममुक्तेश्चान्यथानुपपत्तेः, स[10] तु तच्छक्ति-

स्वरूप है और उसे तो हम लोग भी मानते ही है अतः सिद्ध साधन है। जो बँधता है वही मुक्त होता है बिना बँधा नही। इस तरह बन्धसे मोक्ष तक की अवस्थाओमे उस चित्तसन्ततिकी वास्तविक सत्ता माननी चाहिए। चित्तसन्ततिको निरन्वय मानना तो किसी भी तरह उचित नही है, क्योंकि ऐसी चित्तसन्ततिको निरन्वय—पूर्व और उत्तर क्षणोको परस्पर सम्बन्ध शून्य-मानने पर तो बँधेगा कोई और छूटेगा कोई, जो बँधा है उसीकी मोक्षके लिए प्रवृत्ति नही होगी। इसी तरह कृतनाश आदि दोष इस पक्षके पीछे ही पीछे चले आयेगे। तात्पर्य यह कि निरन्वय चित्तसन्तति माननेमे 'करे कोई और भोगे कोई' आदि अनेक दोषोका प्रसग होगा।

§ २६९. आपने जो कायक्लेश रूप तपके बाबत कहा वह तो बिलकुल ही असत्य है, कायक्लेश भले ही कर्मका फल हो परन्तु जब वह अहिंसाव्रतकी वृद्धिमे सहायता देता है तो उसे तप ही कहना चाहिए। जो कायक्लेश व्रतोका अविरोधी है, अहिंसा और सयमकी स्थिरता करता है वह कर्मोकी निर्जरामे कारण होनेसे तपरूप ही है। नारकी आदि जीवोको होनेवाले कायक्लेशमे तो हिंसादिका आवेश पाया जाता है वह इच्छा निरोध करके स्वय तपा नही जाता अतः उसे तप कैसे कह सकते है। अतः नारकियोकी हिंसात्मक दुःखरूप शरीर पीडासे मुनियोके द्वारा इच्छापूर्वक तपे गये अहिंसात्मक कायक्लेशकी तुलना करना बुद्धिमानोको तो शोभा नही देता।

§ २७०. आपने जो तपके द्वारा शक्ति सकर माननेसे स्वल्प उपवास आदिसे ही समस्त कर्मोका क्षय होना चाहिए इत्यादि कहा है, वह आपने ठीक ही कहा है। वास्तवमे बात ऐसी ही है। जिसका मोह कर्म नष्ट हो गया है उस बारहवे गुणस्थानवर्ती क्षीणमोही व्यक्तिके थोडे-से शुक्लध्यान रूपी तपसे विचित्र फल देनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोकी शक्तिमे परिवर्तन होकर उनमे सकर—एकरूपता आकर उनका नाश हो जाता है। और दूसरे ही क्षण वह क्षीणमोही व्यक्ति जीवन्मुक्त केवली हो जाता है। जिनके मन वचन कायके समस्त व्यापार रुक गये है उन चोदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवोका थोडा-सा ही शुक्लध्यान रूपी तप एक ही क्षणमे सब कर्मो

---

१ पृष्टित्य—म० १, म० २, प० १, प० २, क०। २ तदसत्यम् आ०। ३ "हिंसादिविरतिलक्षणवृत्तोपवृहकस्य कायक्लेशकर्मफलत्वेऽपि तपस्त्वाविरोधात्।"—न्यायकुमु० पृ० ८४७। ४ कर्मत्वेऽपि आ०, क०। ५ -विरोधित्वात्-म० १, म० २, प० १, प० २। ६ कथ समानता प्रेक्षावता तेन साधु-म० २। ७ -समययोगि-म० २। ८ चाक्लेशेन स्व-म० १, म० २, प० १, प० २। ९ प्रत्यया-आ०, क०। १० एतदन्तर्गत पाठो नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २।

संकरो बहुतरकायक्लेशसाध्य इति युक्तस्तदर्थोऽनेकोपवासादिकायक्लेशाद्यनुष्ठानप्रयासः; तमन्तरेण तत्संकरानुपपत्तेः, ततः कथंचिदनवच्छिन्नो ज्ञानसतानोऽनेकविधतपोनुष्ठानान्मुच्यते, तस्य चानन्तचतुष्टयलाभस्वरूपो मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ।

§ २७१. अथात्र दिगम्बराः स्वयुक्तीः स्फोरयन्ति । ननु भवतु यथोक्तलक्षणो मोक्षः, परं स पुरुषस्यैव घटते न त्वङ्गनायाः, तथाहि—न स्त्रियो मोक्षभाजनं भवन्ति, पुरुषेभ्यो हीनत्वात्, नपुंसकवत्[२] ।

§ २७२. अत्रोच्यते—स्त्रीणा पुरुषेभ्यो हीनत्वं किं चारित्राद्यभावेन, विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन, पुरुषानभिवन्द्यत्वेन, स्मा(क्षा)रणाद्यकर्तृत्वेन, अमर्हाद्धकत्वेन, मायादिप्रकर्षवत्त्वेन वा । तत्र न तावदाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः; यतः किं चारित्राभाव[३] सचेलत्वेन, मन्दसत्त्वतया वा । तत्र [४]यद्याद्यपक्षः; तदा चेलस्यापि चारित्राभावहेतुत्वं किं परिभोगमात्रेण, परिग्रहरूपतया वा । यदि परि-

---

का नाश कर ही देता है । और वह परमयोगी योगी दूसरे ही क्षणमे परममुक्तिको पा लेता है । परन्तु उस शुक्लध्यान रूपी तपमे वह विशिष्ट शक्ति पहले किये गये अनेको उपवास आदि कठोर कायक्लेशसे हो आती है । अत उस विशिष्ट शक्तिकी प्राप्तिके लिए अनेक उपवास रसत्याग आदि कायक्लेश करना ही चाहिए । इन वाह्य तपोको तपे बिना तपमे ऐसी शक्ति तथा कर्मोमे परिवर्तन नही हो सकता । इस तरह अन्वयी ज्ञान सन्तान ही अनेक प्रकारके अन्तरग और बाह्य तपोको तपनेसे कर्मोका नाश करके मोक्ष प्राप्त करती है । उस अन्वयी ज्ञान सन्तान-आत्माको अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त सुख और अनन्तवीर्य इस अनन्त चतुष्टयवाले स्वरूपकी प्राप्ति होना ही मोक्ष है ।

§ २७१ दिगम्बर सम्प्रदाय वाले स्त्रियोको मोक्ष नही मानते है, उनका अभिप्राय इस प्रकार है ।

दिगम्बर—मोक्षका उक्त स्वरूप तथा उसकी सिद्धिका प्रकार तो वस्तुत ऐसा ही है, परन्तु यह मुक्ति पुरुष ही पा सकते है, स्त्रियोको अपनी उसी योनिवाली स्त्रीपर्यायिसे मुक्ति नही मिल सकती । वे उस पर्यायको छोडकर पुरुष शरीर धारण करने पर ही मुक्त हो सकती है । स्त्रियाँ मोक्ष नही जा सकती क्योकि वे पुरुषोसे हीन है जिस प्रकार नपुसक—हीजडा पुरुषोसे हीन होने के कारण मोक्ष जाने की सामर्थ्य नही रखता उसी तरह स्त्रियाँ भी पुरुषोसे हीन है अवलाएँ है अत वे भी अपने उस कमजोर शरीरसे मुक्तिका साधन नही कर सकती और न मोक्ष ही जा सकती है ।

§ २७२ श्वेताम्बर—स्त्रियोको पुरुषोसे हीन या कमजोर क्यो समझा जाय ? क्या वे चारित्र आदि धारण नही कर सकती या उनमे विशिष्ट शक्ति नही है, अथवा पुरुष साधु उन्हे नमस्कार नही करते, या वे शास्त्रोका पठन पाठन या स्मरण नही करा सकती, दूसरोको पाठका स्मरण नही कराती, किंवा उन्हे कोई लौकिक ऋद्धि सिद्धि प्राप्त नही होती अथवा उनमे तीव्र छल कपट मायाचार आदि पाये जाते है ? पहला पक्ष तो 'चारित्र न होनेसे स्त्रियाँ कमजोर है' विचारको सहन नही कर सकता । आप वताइए कि स्त्रियोको चारित्रका अभाव क्यो है ? क्या वे कपडा पहनती है इसलिए चारित्र नही पाल सकती, या उनमे शक्ति या धैर्यकी कमी है ? यदि वे कपडा धारण करती हैं इसीलिए चारित्र नही पाल सकती, तो वस्त्र क्या पहिनने मात्रसे ही चारित्रका विघात कर देता है, अथवा परिग्रहरूप होनेसे उसमे ममता होनेसे चारित्र नही हो

---

१ -तयानुष्ठा- म० २ । २ "तत स्त्रीणा न मोक्ष पुरुषेभ्यो हीनत्वात् नपुंसकादिवत् ।" — न्यायकुमु० पृ० ८६६ । ३. -व. कि स चे-म० २ । ४. -य प-म० १, म० २, प० १, प० २ ।

भोगमात्रेण, तत्र परिभोगोऽपि[1] किं वस्त्रपरित्यागासमर्थत्वेन संयमोपकारित्वेन वा। तत्र न तावदाद्यः, यतः प्राणेभ्योऽपि नापरं प्रियम्, प्राणानप्येताः परित्यजन्त्यो दृश्यन्ते, वस्त्रस्य का कथा। अथ संयमोपकारित्वेन, तर्हि किं न पुरुषाणामपि संयमोपकारितया [2]वस्त्रपरिभोगः।

§ २७३. अथाबला एता बलादपि पुरुषैरुपभुज्यन्त इति तद्विना तासां संयमबाधासंभवो न पुनर्नराणामिति न तेषां तदुपभोग इति चेत्।

§ २७४. तर्हि न वस्त्राच्चारित्राभावः, तदुपकारित्वात्तस्य, आहारादिवत्। नापि परिग्रहरूपतया, यतोऽस्य तद्रूपता किं मूर्च्छाहेतुत्वेन, धारणमात्रेण[3] वा अथवा स्पर्शमात्रेण जीवसंसक्तिहेतुत्वेन वा। तत्र यद्याद्यः, तर्हि शरीरमपि मूर्च्छाया हेतुर्न वा। तावदहेतुः; तस्यान्तरङ्गत्वेन दुर्लभतरतया विशेषतस्तद्धेतुत्वात्। अथ मूर्च्छाया हेतुरिति पक्षः, तर्हि वस्त्रवत्तस्यापि किं

पाता ? यदि वस्त्रके पहिननेसे साध्वीके चारित्रमें बाधा आती है चारित्र पूर्ण नही हो पाता, तो यह विचारणीय है कि स्त्रियाँ क्यो वस्त्रको धारण करती है ? क्या वे वस्त्रका त्याग करनेमे असमर्थ है, अथवा वे उसे संयमका साधक मानकर पहिनती है ? वस्त्रके त्यागनेकी असामर्थ्य तो नही कही जा सकती, वस्त्र कुछ प्राणोसे अधिक प्यारा तो है ही नही, जब ये धर्मप्राण माताएँ अपने धर्मकी रक्षाके लिए अपने प्राणोको भी हँसते-हँसते निछावर कर देती है तब उस चिथडेकी तो बात ही क्या ? यदि स्त्रियाँ वस्त्रको संयमका उपकारी समझकर उसे पहिनती है, तो पुरुष साधु भी यदि संयमके साधनेके लिए उसकी स्थिरताके लिए वस्त्र पहिन लेते है तो क्या हानि है ? वस्त्र पहिन लेनेसे ही उनका परम चारित्र क्यो रुका जाता है ?

§ २७३. दिगम्बर—स्त्रियाँ तो अबला है, उनके शारीरिक अवयवोकी रचना ही ऐसी है कि पुरुष पशु उनकी लाज बलात्कार करके लूट सकते है, अत वस्त्र पहिने बिना इनका सयम साधना इनके शीलकी रक्षा होना असम्भव है इस लिए स्त्रियोका तो सयमकी रक्षाके लिए वस्त्र पहिनना उचित और आवश्यक है परन्तु पुरुषोकी तो कोई जबरदस्ती लाज नही लूटता, ये तो नग्न रहकर भी सयम साध सकते है अत इनका वस्त्र पहिनना किसी भी तरह उचित तथा सयमका उपकारी नही माना जा सकता।

§ २७४. श्वेताम्बर—आपके उपरोक्त कथनसे यह तात्पर्य तो सहज ही निकल आता है कि वस्त्रके पहिनने मात्रसे स्त्रियोके चारित्रका अभाव नही होता, वह तो उनके सयमका उसी तरह उपकारी है जिस प्रकार कि भोजन-पानी आदि शरीरकी स्थिरताके द्वारा सयमके उपकारक होते है।

'वस्त्रकी परिग्रहमे गिनती है अत वह चारित्रमे बाधक होगा उसके पहिननेसे चारित्र नही हो सकता' यह कथन भी विचारणीय है। बताइए वस्त्र ममत्व परिणाम उत्पन्न करता है इसलिए परिग्रह रूप है, अथवा धारण करने मात्रसे, या छू लेने मात्रसे अथवा जीवोकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे ? यदि वस्त्र ममताका कारण होनेसे परिग्रह रूप है, तो शरीर भी ममताका कारण होता है या नही ? 'शरीर ममताका कारण नही है' यह कथन तो नितान्त असगत है; क्योकि शरीर तो वस्त्रसे भी अधिक दुर्लभतर है। वस्त्रको फेक देनेपर भी दूसरा इच्छानुकूल वस्त्र मिल सकता है। वस्त्र बाह्य है पर शरीरको छोड देनेपर इच्छानुकूल दूसरा शरीर मिलना असम्भव ही है वह अन्तरग है। अत अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण शरीर तो और भी अधिक ममता उत्पन्न कर सकता है तथा करता भी है। यदि शरीर वस्त्रकी ही तरह ममताका उत्पादक है, तो उसे पहलेसे ही क्यो नही छोडते ? क्या उसका छोडना वस्त्र त्यागकी तरह अत्यन्त

१. किमपरत्याग म० २। २. वस्त्रभोग म० २। ३. -अथवा म० २।

दुस्त्यजत्वेन, मुक्त्यङ्गतया वा न प्रथमत एव परिहारः। यदि दुस्त्यजत्वेनेति[1] पक्षः; तदा तदपि किं सर्वपुरुषाणाम्, केषांचिद्वा। न तावत्सर्वेषाम्, दृश्यन्ते हि बहवो वह्निप्रवेशादिभिः शरीरमपि त्यजन्तः। अथ केषांचित्, तदा वस्त्रमपि केषांचिद्दुस्त्यजमिति न परिहार्यं शरीरवत्। अथ मुक्त्यङ्गत्वेनेति पक्षः; तर्हि वस्त्रस्यापि तथाविधशक्तिविकलानां[2] स्वाध्यायाद्युपष्टम्भकत्वेन शरीरवन्मुक्त्यङ्गत्वात्किमिति परिहारः। अथ धारणमात्रेण; एवं सति शीतकाले[3] प्रतिमापन्नं साधुं दृष्ट्वा केनाप्यविपद्योपनिपातमद्य शीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना साधुशिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते[4] सपरिग्रहता स्यात्। अथ यदि स्पर्शमात्रेण; तदा भूम्यादिना निरन्तरं[5] स्पर्शसद्भावात्सपरिग्रहत्वेन तीर्थंकरादीनामपि न मोक्षः स्यादिति लाभमिच्छतो[6] भवतो मूलक्षतिः संजाता। अथ जीवसंसक्तिहेतुत्वेन; तर्हि शरीरस्यापि जीवसंसक्तिहेतुत्वात्परिग्रहहेतुत्वमस्तु, कृमिमण्डूकाद्युत्पादस्य तत्र प्रतिप्राणिप्रतीतत्वात्। अथास्ति, परं यतना तत्र विधीयते, तेनायमदोष इति चेत्; तर्हि वस्त्रेऽप्ययं न्यायः किं काकैर्भक्षितः। वस्त्रस्यापि यतनयैव सीवनक्षालनादिकरणेन जीवसंसक्तिनिवारणात्। तन्न वस्त्र-

---

कठिन है अथवा वह सयम का साधक होकर मोक्षका कारण होता है? यदि शरीरका त्याग अत्यन्त कठिन है; तो सभी पुरुषोको उसका छोड़ना अत्यन्त कठिन है, या कुछ अल्पशक्ति वालो को? 'सब पुरुषोको शरीरका छोडना अत्यन्त कठिन है' यह तो नही कहा जा सकता, क्योकि बहुत-से साहसी पुरुष धर्मके लिए अग्निमे जलकर, पर्वतसे गिरकर तथा कासी करवट आदि लेकर खुशीसे शरीरको छोड देते है। यदि किन्ही हीनशक्तिक पुरुषोके लिए शरीरका छोडना अत्यन्त कठिन है, तो वस्त्रका छोडना भी तो किन्हीके लिए अत्यन्त कठिन होता है अत शरीरकी ही तरह उसके छोडने का आग्रह नही होना चाहिए। यदि शरीर मुक्ति का साधक होने से अपरिहार्य है, तो वस्त्र भी तो किन्ही वृद्ध दुर्बल आदि शक्तिहीन लोगोको स्वाध्याय सयम आदिकी प्रवृत्तिमे स्थिरता लाता है और इस तरह वह उन लोगोको शरीरकी ही तरह संयमका साधक होनेसे मोक्षका अग है अत क्यो वस्त्रके परिहारका ऐकान्तिक आग्रह किया जाता है? यदि वस्त्र शरीरपर आ जाने मात्रसे ही परिग्रहरूप हो जाय, तो कडी सरदीके दिनोमे नदीके

तद्भावेन चारित्रसद्भावः ।

§ २७५. नापि सत्त्वहीनतया, यतः सत्त्वमिह व्रततपआचरणविषयमेषितव्यम्, तच्च तास्वत्यन्तदुर्धरं धीरतयापि समस्ति । अतो न चारित्राभावेन तासां हीनत्वम् । ननु भवत्वविशिष्टं चारित्रं स्त्रीणां, परं परमप्रकर्षप्राप्तं यथाख्यातचारित्रं तासां न स्यादिति पुरुषेभ्यो हीनत्वमिति चेत् । तर्हि चारित्रपरमप्रकर्षाभावोऽपि तासां किं कारणाभावेन, [1]विरोधिसद्भावेन वा । न तावदाद्यः पक्षः, अविशिष्टचारित्राभ्यासस्यैव तन्निमित्तत्वात्, तस्य च स्त्रीष्वनन्तरमेव समर्थितत्वात् । नापि द्वितीयः, यथाख्यातचारित्रस्यातीन्द्रियत्वेनात्यन्तपरोक्षतया केनचिद्विरोधानिर्णयादिति न चारित्राभावेन स्त्रीणां हीनत्वम् ।

§ २७६. नापि विशिष्टसामर्थ्याभावेन, यतः इदमपि किं [2]सप्तमनरकपृथ्वीगमनायोग्यत्वेन, वादादिलब्ध्यभावेन, [3]अल्पश्रुतत्वेन वा । न तावदाद्यः पक्षः, यतस्तदभावः किं यत्रैव जन्मनि

से उसमें जीवोंकी उत्पत्तिकी भी कम सम्भावना है तथा होने पर भी बुद्धि पूर्वक हिंसा न होने से उसे परिग्रह या हिंसा नहीं होना चाहिए। अतः वस्त्रके रहने मात्रसे स्त्रियोंमें चारित्रका अभाव नहीं किया जा सकता।

§ २७५. सत्त्व–मानसिक शक्तिकी हीनतासे भी स्त्रियोंको हीन कमजोर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत्त्व–मानसिक शक्तिका अर्थ है व्रत उपवास तप आदि धारण करनेकी सामर्थ्य। सो यह सामर्थ्य तो कहीं-कहीं स्त्रियोंमें पुरुषोंसे भी अधिक पायी जाती है। वे भी अत्यन्त दुर्धर व्रत उपवास आदि धैर्यपूर्वक करती हैं। उनका अखण्ड शील और कठिन कायक्लेश उनकी इस सामर्थ्यका पक्का प्रमाण है। अतः चारित्रका अभाव होनेके कारण स्त्रियोंको पुरुषसे हीन नहीं माना जा सकता।

दिगम्बर—साधारण व्रत उपवासादि रूप चारित्र स्त्रियोमे भले ही हो जाय, परन्तु परम उत्कृष्ट यथाख्यात—स्वरूपस्थिति रूप चारित्र स्त्रियोमे नही हो सकता अतः वे पुरुषोसे हीन है।

श्वेताम्बर—परम उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र स्त्रियोमे क्यो नही होता? कौन-सा ऐसा बाधक है जिसके कारण उनका यथाख्यात चारित्र परमोत्कृष्ट दशाको नही पहुँच पाता? क्या उनमे उसके कारण ही नही जुट पाते अथवा कोई विरोधी कारणके आनेसे वह रुक जाता है? कारणोका अभाव तो नही कहा जा सकता, क्योकि साधारण व्रत उपवास आदि चारित्रका अभ्यास ही यथाख्यात चारित्रमे कारण होता है। सो स्त्रियोमे इस व्रत उपवासादि रूप चारित्रका सद्भाव तो अभी ही बता आये है। यथाख्यात चारित्र अतीन्द्रिय होने के कारण अत्यन्त परोक्ष है, अतः उसका किसके साथ विरोध है। इसका निर्णय अल्पज्ञानवाले हम लोग नही कर सकते। इस तरह चारित्रके अभावके कारण हम स्त्रियोको पुरुषोसे हीन नही कह सकते।

§ २७६. विशिष्ट शक्तिके अभावसे भी स्त्रियाँ पुरुषोसे हीन नही कही जा सकती, आप बताइए कि स्त्रियोमे कौन सी विशिष्ट शक्तिका अभाव है? क्या वे सातवे नरक नही जा सकती, या वाद आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नही कर पाती। वे वाद नही कर सकती अथवा उनमे श्रुतज्ञानकी पूर्णता नही होती? सातवे नरक नही जा सकनेके कारण विशिष्ट शक्तिका अभाव नही माना जा सकता, क्योकि वे जिस जन्ममे मोक्ष जाती है उसी ही जन्ममे सातवे नरक नही जा

1 विरोधिस–म० १, भ० २, प० १, प० २। 2. सप्तमपृथ्वी–म० २, क०। 3 अलब्धश्रुत–म० २।

तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्यते, सामान्येन वा। यद्याद्यपक्षः; तर्हि पुरुषाणामपि यत्र जन्मनि मुक्तिगामित्वं तत्र सप्तमपृथ्वीगमनयोग्यत्वं[1], ततस्तेषामपि मुक्त्यभावः स्यात्। अथ द्वितीयः; तदायमाशयो भवतः, यथा सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेन प्राप्यते, सर्वोत्कृष्टे च द्वे एवं पदे सर्वदुःखस्थानं [2]सप्तमी नरकपृथ्वी सर्वसुखस्थानं मोक्षश्च, ततो यथा स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनमागमे निषिद्धं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्ट[3]मनोवीर्याभावात्, एवं [4]मोक्षोऽपि तथाविधशुभमनोवीर्याभावान्न स्त्रीणां भविष्यति। प्रयोगश्चात्र—नास्ति स्त्रीषु [5]मुक्तिकारणशुभमनोवीर्यपरम-[6]प्रकर्षः प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणाशुभमनोवीर्यपरमप्रकर्षवत्;[7] तदेतदयुक्तम्; [8]व्याप्तेरभावात्। न हि बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमकः स्यात्, किं त्वन्तर्व्याप्त्या, अन्यथा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वप्रसङ्गः, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेनैव सिध्यति, न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते, ततः संदिग्ध-

सकती इसलिए उनमे विशिष्ट शक्तिका अभाव है या सामान्यरूपसे किसी भी जन्ममे वे सातवे नरक नही जा सकती ? यदि उसी जन्ममे सातवे नरक नही जानेके कारण वे अशक्त समझी जाँय, तो चरमशरीरी पुरुष भी तो जिस जन्मसे मोक्ष जाते है उसी जन्ममे सातवे नरक नही जाते अत उन्हे भी असमर्थ करार दिया जाय तथा मोक्ष जानेके अयोग्य मान लिया जाय। एक ही जन्ममे वही व्यक्ति सातवे नरक भी जाय और मोक्ष भी यह तो असम्भव बात है।

दिगम्बर—हमारा अभिप्राय यह है कि—सर्वोत्कृष्ट पदकी प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट ध्यानसे ही होती है। सबसे ऊँचे दो ही पद हो सकते है—एक तो सबसे अधिक दु खका स्थान सातवॉ नरक और दूसरा सबसे अधिक सुखका स्थान मोक्ष। तो जिस तरह आगममे स्त्रियोको सातवे नरक जानेका निषेध है क्योकि उनमे सातवे नरकको जानेके योग्य तीव्र मानसिक सक्लेश तथा उतनी हिम्मत नही होती, ठीक उसी तरह उनमे मोक्ष जानेके योग्य हिम्मत तथा शुभ मानसिक भाव नही होते अत वे मोक्ष भी नही जा सकती। प्रयोग—स्त्री जातिमे मोक्ष जानेके कारण शुभ भाव तथा शक्तिकी प्रकर्षता नही है, उनमे इतनी अधिक हिम्मत तथा तीव्र शुभभाव नही है, क्योकि वह परम प्रकर्ष—सर्वोच्च दशा है जिस तरह सातवे नरक जानेमे कारण तीव्र संक्लेश भाव तथा उतनी हिम्मत स्त्रियोमें इसीलिए नही पायी जाती कि वह सर्वोच्चदशा है उसी तरह मोक्ष जानेके लायक शक्ति तथा सर्वोच्च विशुद्धभावोके प्राप्त करने की योग्यता अवलाओमे नही है।

श्वेताम्बर—आपका कथन अयुक्त है, क्योकि वैसा नियम नही है। किसी दृष्टान्तमे हेतु और साध्यकी व्याप्ति मिल जानेसे ही वह हेतु सच्चा नही हो सकता, किन्तु पक्षमे भी उसका अविनाभाव विधिवत् मिलना चाहिए। उसको अन्तर्व्याप्ति पक्षमे साध्य साधनकी व्याप्ति ही सचमुच उसमे सत्यता लाने का प्रधान कारण होती है। यदि वहिर्व्याप्ति-दृष्टान्तमे साध्यसाधनकी व्याप्ति-मात्रसे ही हेतु सच्चा मान लिया जाय, तो गर्भगत लडकेमे सॉवलापन सिद्ध करनेके लिए दिया जानेवाला तत्पुत्रत्व-चूकि यह भी उसीका लड़का है—हेतु भी सच्चा हो जाना

१ गमनायोग्य–आ०। २ सप्तमनरक–म० २। ३ सर्वोत्कृष्टाशुभ–इत्यादि पाठ आ० पा०। ४ यथा मुक्तिगमनमपि तद्गमनयोग्यतथाविधशुभमनोवीर्याभावात् इत्यपि पाठ आ० पा०। ५ –रण शुभ–म० २, क०। ६ –प्रकर्षात्सप्तम-क०। ७ "निर्वाणकारणज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्, सप्तमपृथिवीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्।"—न्यायकुमु० पृ० ८६०। प्रमेयक० पृ० ३२८। ८ –द्विचन्तव्य–आ०, क०। "सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते। निर्वाणाभावेनापरिणमतनवो न ता यान्ति॥" —स्त्रीमु० श्लो० ५। सन्मति० टी० पृ० ७५३। प्रज्ञा० मलय० पृ० २० B। नन्दि० मलय० पृ० १३२ B.। रत्नाकराव० ७।५७। शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२८ A.। युक्तिप्र० पृ० ११५।

§ २७८. तथाल्पश्रुतत्वेनेति पक्षस्त्वनुद्‌घोष्य एव; मुक्त्यवाप्त्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यैर्माषतुषादिभिरनैकान्तिकत्वात्, तच्च विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वं स्त्रीणां घटते ।

§ २७९. नापि पुरुषानभिवन्द्यत्वेन स्त्रीणा हीनत्वम्, यतस्तदपि किं सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षया वा । आद्योऽसिद्धः; तीर्थंकरजनन्यादयो हि शक्रैरपि पूज्यन्ते किमङ्ग शेषपुरुषैः । द्वितीयश्चेत्; तदा गणधरा अपि तीर्थंकरैर्नाभिवन्द्यन्त इति तेषामपि हीनत्वान्मोक्षो न स्यात् । तथा चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य तीर्थंकरैर्वन्द्यत्वात्सङ्घान्तर्गतत्वेन संयतीनामपि तीर्थंकरवन्द्यत्वाभ्युपगमात्कथं स्त्रीणा हीनत्वम् ।

§ २८०. अथ स्मा(सा)रणाद्यकर्तृत्वेनेति पक्षः; तदाचार्याणामेव मुक्तिः स्यान्न शिष्याणां

---

§ २७८. इसी तरह श्रुतज्ञानकी अपूर्णता या अल्प श्रुतज्ञान होनेके कारण भी स्त्रियाँ हीन या मोक्षके अयोग्य नहीं हैं । अल्पश्रुत होने की तो दरअसल आपको बात ही नहीं छेडनी चाहिए. क्योंकि मोक्षके साथ पूर्ण श्रुतज्ञानकी कोई व्याप्ति नहीं है । जिन्हें केवल 'उडदकी बिजी अलग है तथा ऊपरका छिलका अलग है' इतना ही भेदज्ञान था ऐसे माषतुष आदि मुनियोंने भी मोक्ष प्राप्त किया है अत श्रुतज्ञानकी पूर्णता या अपूर्णताका मोक्षके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । मोक्ष जानेके लिए तो अन्तरंगकी भाव श्रुतरूप विशिष्ट शक्ति चाहिए, सो स्त्रियोंमें हो ही सकती है । अत अल्पश्रुत होनेसे मोक्ष नहीं जा सकने का नियम माषतुषादिसे व्यभिचारी है । इस तरह विशिष्ट सामर्थ्यके अभावके कारण स्त्रियोंको हीन कहकर उन्हें मोक्ष जानेसे नहीं रोक सकते ।

तेषां स्मा(सा)रणाद्यकर्तृत्वात् ।

§ २८१ अथामहर्द्धिकत्वेनेति पक्ष, सोऽपि न दक्ष:, यतो दरिद्राणामपि केषांचिन्मुक्तिः श्रूयते केषाचिन्महर्द्धिकाणामपि चक्रवर्त्यादीनां तदभाव. ।

§ २८२. अथ मायादि[1] प्रकर्षवत्त्वेनेति, तदपि न युक्तम्, नारददृढप्रहारिभिर्व्यभिचारात् ।

§ २८३. तन्न हीनत्वं कथमपि स्त्रीणां जाघटीतीति हीनत्वादित्यसिद्धो हेतुः । ततश्चाविगानेन पुरुषाणामिव योषितामपि निर्वाणं प्रतिपत्तव्यम् । प्रयोगश्चात्र— [2]अस्ति स्त्रीणां मुक्ति, अविकलकारणवत्त्वात्, पुंवत्, तत्कारणानि सम्यग्दर्शनादीनि स्त्रीषु संपूर्णान्युपलभ्यन्ते । ततो भवत्येव स्त्रीणा मोक्ष [3]इति सुस्थितं मोक्षतत्त्वम् ।* एतेन[4] ।

§ २८४. "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तार परम पदम् ।
गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारत: ॥१॥"*

इति परपरिकल्पितं पराकृतम् ॥५२॥

सकती इसलिए पुरुषोसे हीन होकर मोक्षके अयोग्य मानी जाँय, तो फिर पढानेवाले आचार्योंकी ही मुक्ति होनी चाहिए और पढनेवाले शिष्योको संसारमे ही चक्कर काटते रहना चाहिए ।

§ २८१ स्त्रियोको ऋद्धि नही होती इसलिए हीन कहना तो वस्तुत जैन शासनकी अनभिज्ञता ही प्रकट करना है । भला वीतरागी मोक्षका ऋद्धिसे क्या सम्बन्ध है । बहुत-से दरिद्र भी मुक्ति गये हैं तथा बड़े-बड़े चक्रवर्ती आदि इसी संसारमे पडे हुए हैं ।

§ २८२ माया आदिकी प्रकर्षता होनेसे स्त्रियोको हीन तथा मोक्षके अयोग्य कहना भी उचित नही है, क्योकि अत्यन्त कलहप्रिय नारद तथा तीव्र हिंसक दृढप्रहारी आदिमे कषायकी तीव्रता होने पर भी वे पुरुषोमे हीन नही समझे जाते और न उनकी मुक्तिकी योग्यतामे ही किसी प्रकारका बट्टा लगा ।

§ २८३ इस प्रकार किसी भी तरह स्त्रियाँ पुरुषोसे हीन कमजोर सिद्ध नही हो पाती । अत. उन्हे हीन कहना असिद्ध ही है । अत. निर्विवाद रूपसे पुरुषोकी तरह स्त्रियोको भी मोक्ष मानना चाहिए । प्रयोग—स्त्रियोको भी मोक्ष होता है क्योकि उनमे पुरुषोकी ही तरह मोक्षके कारणोकी समग्रता तथा पूर्णता पायी जाती है । मोक्षके कारण हैं सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र । सो ये तीनो ही पुरुषोकी तरह स्त्रियोमे भी पूर्णरूपसे पाये जाते हैं । अत. स्त्रियोको मोक्ष होता ही है, इसमे किसी प्रकारकी शका नही है । इस तरह मोक्षतत्त्वका निरूपण हुआ ।

§ २८४ यह मोक्ष जिसे हो जाता है उसे अनन्तकाल तक रहता है । वह कभी भी वहाँसे लौटकर संसारी नही बनता । अत: परवादियोका यह कथन खण्डित हो जाता है कि—"धर्मतीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी जीव अपने धर्मकी हानि या तिरस्कार देखकर मोक्षसे फिर वापस आकर अवतार ग्रहण करते हैं ।" ॥५२॥

---

१ -प्रकर्षकत्वेनेति आ०, क० । २ "अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुक स्त्रीषु । न विरुद्धयति हि रत्नत्रयसंपदनिर्वृतेर्हेतु ॥" —स्त्रीमु० श्लो० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । एतदर्थम् उत्तराध्ययनस्य पाइयटीकापि विलोकनीया । "इत्थीलिङ्गसिद्धा—सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते तथाहि " —प्रज्ञा० मलय० पृ० २० A. । नन्दि० मलय० पृ० १३१ B. । रत्नाकराव० ७।५७ । "यथोक्तं यापनीयतन्त्रे–णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहो, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणगणरहिता, णो अजोगा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कह न उत्तमधम्मसाहिगत्ति ।"—ललितवि० पृ० ५७ B. । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२९ B. । ३ इति स्थित आ०, क० ।
४ *एतदन्तर्गत पाठो नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २ ।

§ २८५. एतानि नव तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥५३॥

§ २८६. व्याख्या—एतानि–अनन्तरोदितानि नवसंख्यानि तत्त्वानि यः स्थिराशयो–न पुनः शङ्कादिना चलचित्तः श्रद्धानस्य ज्ञानपूर्वकत्वाज्जानीते श्रद्धत्ते च—अवैपरीत्येन मनुते । एतावता जानन्नप्यश्रद्दधानो मिथ्यादृगेवेति सूचितम् । यथोक्तं श्रीगन्धहस्तिना महातर्के "द्वादशाङ्गमपि श्रुत विदर्शनस्य मिथ्या" इति । तस्य श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वज्ञानयोगेन—सम्यग्दर्शनज्ञानसद्भावेन चारित्रस्य—सर्वसावद्यव्यापारनिवृत्तिरूपस्य देशसर्वभेदस्य योग्यता भवति, अत्र ज्ञानात्सम्यक्त्वस्य प्राधान्येन पूज्यत्वात्प्राग्निपातः, अनेन सम्यक्त्वज्ञानसद्भाव एव चारित्रं भवति नान्यथेत्यावेदितं[१] द्रष्टव्यम् ॥५३॥

§ २८७. तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ॥५४॥

§ २८८. व्याख्या—जीवा द्वेधा [२]भव्याभव्यभेदात्, अभव्यानां सम्यक्त्वाद्यभावः, भव्यानामपि भव्यत्वपाकमन्तरेण तदभाव एव, तथाभव्यत्वपाके तु तत्सद्भावः, ततोऽत्रायमर्थः[३]—भविष्यति विवक्षितपर्यायेणेति भव्यः, तद्भावो भव्यत्वम्, भव्यत्वं नाम सिद्धिगमनयोग्यत्वम्,

---

§२८५. इन नवतत्त्वो पर जो स्थिरचित्त तथा अडिग श्रद्धासे विश्वास करता है उसमे सम्यग्दर्शन और ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे चारित्रकी योग्यताका विकास होने लगता है ॥५३॥

§ २८६ इन जीवादि नव तत्त्वोका जो स्थिर अभिप्रायसे शका आदिसे होने वाली चित्तकी चचलताको छोड कर अविपरीत यथावत् ज्ञान तथा श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि तथा ज्ञानी है । श्रद्धान ज्ञानपूर्वक होता है अतः इन तत्त्वोके श्रद्धानमे इनका ज्ञान भी अन्तर्भूत रहता ही है । श्रद्धान शब्दके प्रयोगमे यह सूचित होता है कि जो व्यक्ति जानकर भी यथावत् श्रद्धान नही करता वह मिथ्यादृष्टि है । उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है निरर्थक है । गन्धहस्तिने महातर्कमे कहा है कि—"यदि मिथ्यादृष्टिको द्वादशाग श्रुतका भी परिज्ञान हो जाय तब भी वह मिथ्या ही है निरर्थक है ।" उस श्रद्धालु सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सद्भाव होनेसे समस्त पाप क्रियाओसे निवृत्ति करनेवाले चारित्रकी योग्यताका अशत या पूर्णरूपसे विकास होने लगता है । सर्व चारित्र तथा देश चारित्रके भेदसे चारित्र दो प्रकारका होता है । ज्ञानसे पहले सम्यग्दर्शनका प्रयोग सम्यग्दर्शनकी प्रधानता तथा पूज्यताका सूचन करता है । यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञानमे 'सम्यग्' व्यवहार करता है । सम्यग्दर्शन और ज्ञानके होने पर ही सम्यक् चारित्र हो सकता है, इनके बिना होनेवाली क्रियाएँ मिथ्या चारित्र रूप ही है ॥५३॥

§ २८७. जिस भव्यको भव्यत्व गुणके परिपाकसे ये रत्नत्रय प्राप्त हो जाते हैं वही भव्य सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी पूर्णतासे मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥५४॥

§ २९०. 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं' इति प्रकर्षेण संशयाद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम्[2] । स्वमात्मा ज्ञानस्य स्वरूपं परः स्वस्मादन्योऽर्थ इति यावत् तौ विशेषेण यथावस्थितस्वरूपेणावस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत्तत्स्वपरव्यवसायि ।

§ २९१. ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम् अत्र ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरूपस्य व्यवहारमार्गानवतारिणः सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य संनिकर्षादेश्चाचेतनस्य नैयायिकादिकल्पितस्य प्रामाण्यपराकरणार्थम्[3] ।

§ २९२. ज्ञानस्यापि च प्रत्यक्ष'रूपस्य शाक्यैर्निर्विकल्पतया प्रामाण्येन कल्पितस्य संशयविपर्ययानध्यवसायानां च प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थं व्यवसायीति ।

§ २९३. पारमार्थिकपदार्थसार्थापलापिज्ञानाद्वैतादिवादिमतमपाकर्तुं परेति ।

§ २९४. नित्यपरोक्षबुद्धिवादिनां मीमांसकानामेकात्मसमवायिज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां वैशेषिकयौगानामचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च कदाग्रहनिग्रहाय स्वेति ।

§ २९५. समग्रं तु लक्षणवाक्यं परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेत्वादेः[4] प्रमाणलक्षणस्य प्रतिक्षेपार्थम् ।

के लक्षणके पहले सब जगह सामान्य लक्षणके कहनेकी परिपाटी है। इसीलिए प्रमाण सामान्यका लक्षण कहते है—

§ २९०. स्व—अपने स्वरूप तथा परपदार्थोका व्यवसाय निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। प्र—प्रकर्षसे अर्थात् सशय विपर्यय आदिका निराकरण करके मीयते—जाना जाता है वस्तुतत्त्व जिसके द्वारा उसे प्रमाण कहते है। स्व—आत्मा ज्ञानका स्वरूप, पर अपनेसे भिन्न वाह्य पदार्थ इन स्व परका वि—विशेष रूपसे यथावत् जिस रूपमे पदार्थ है ठीक उसी रूपसे निश्चय करनेवाला पदार्थका ज्ञान प्रमाण है।

§ २९१ जाना जाता है प्रधान रूपसे गृहीत होता है विशेष अंश जिसके द्वारा उसे ज्ञान कहते है। इस 'ज्ञान' विशेषणसे ज्ञानसे भिन्न अर्थात् अज्ञानरूप, सामान्यमात्रका आलोचन करने वाले तथा प्रवृत्ति आदि व्यवहारके अनुपयोगी जैन आगममे प्रसिद्ध दर्शन और नैयायिक आदिके द्वारा माने गये अचेतनात्मक सन्निकर्ष आदिमे प्रमाणताका व्यवच्छेद हो जाता है, क्योकि दर्शन चेतन होकर भी ज्ञानरूप नही है तथा सन्निकर्ष आदि तो अवचेतन होनेसे स्पष्ट ही अज्ञान रूप है।

§ २९२ व्यवसायी-निश्चयात्मक विशेषणसे बौद्धोके द्वारा प्रमाण रूपसे माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्षका तथा सशय विपर्यय और अनध्यवसायकी प्रमाणताका व्यवच्छेद होता है।

§ २९३ 'पर व्यवसाय' विशेषण वास्तविक घट-पटादि वाह्य पदार्थोका लोप करके मात्र ज्ञानकी ही सत्ता माननेवाले विज्ञानाद्वैतवादीके मतका निराकरण हो जाता है।

§ २९४ ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसकोके ज्ञानका द्वितीय अनुव्यवसाय रूप से प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिक और वैशेषिकोके तथा ज्ञानको प्रकृतिका धर्म मान कर अचेतन माननेवाले सांख्योके दुरभिप्रायका निराकरण करनेके लिए 'स्व व्यवसाय' पद दिया है।

§ २९५ पूरे लक्षण वाक्यसे नैयायिक आदिके अर्थकी उपलब्धिमे जो कारण है उसे प्रमाण कहते है इत्यादि प्रमाणके लक्षणोका निषेध हो जाता है।

§ २९६. अत्र च स्वस्य ग्रहणयोग्यः परोऽर्थः स्वपर इत्यस्यापि समासस्याश्रयणाद्व्यवहारिजनापेक्षया यस्य यथा यत्र ज्ञानस्याविसंवादः, तस्य तथा तत्र प्रामाण्यमित्यभिहितं भवति, ते संशयादेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः ॥५४॥

§ २९७. अथ विशेषलक्षणाभिधित्सया प्रथमं तावत्प्रमाणस्य संख्या विषयं चाह—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥५५॥

§ २९८. व्याख्या—अक्षम्-इन्द्रियं प्रति गतमिन्द्रियाधीनतया यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षमिति तत्पुरुषः, इदं [1]व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्पष्टत्वम्, तेनानिन्द्रियादिप्रत्यक्षमपि-प्रत्यक्ष शब्दवाच्यं सिद्धम्, [2]अक्षो-जीवो वात्र व्याख्येयः, जीवमाश्रित्यैवेन्द्रियनिरपेक्षमनिन्द्रियादि

---

§ २९६ स्वपरका 'अपने ग्रहण करनेके लायक पर' ऐसा अर्थ करनेपर अपने-अपने योग्य पदार्थोंको जाननेवाले संशयादिज्ञान भी स्वरूपकी अपेक्षासे तथा सामान्य वस्तुको जाननेकी अपेक्षासे कथंचित् प्रमाण है यह बात सूचित हो जाती है। ('जो ज्ञान वस्तुके जिस अंशमें अविसंवादी हो वह ज्ञान वस्तुके उस अंशमें प्रमाण है') इस व्यवहार प्रसिद्ध नियमके अनुसार संशयादिज्ञान भी वस्तुके सामान्य अंशमें प्रमाण हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे तो संशय विपर्यय या सम्यग्ज्ञान सभी ज्ञानमात्र प्रमाण हैं ॥५४॥

§ २९७ अब प्रमाण विशेषके लक्षणोंको कहनेकी इच्छासे पहले प्रमाणकी संख्या तथा विषयका निरूपण करते हैं—

प्रमाणके दो भेद हैं एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष है। अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमाणका विषय होती है, प्रमाणके द्वारा अनन्तधर्मात्मकपदार्थ जाना जाता है ॥५५॥

§ २९८ अक्ष-इन्द्रियोंके आधीन जिन ज्ञानों की उत्पत्ति है वे प्रत्यक्ष हैं। यह प्रत्यक्षशब्दकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है। प्रत्यक्षशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त तो स्पष्टता है। जो ज्ञान स्पष्ट है वह चाहे इन्द्रियसे उत्पन्न हो या इन्द्रियोंके विना ही उत्पन्न हो जाय अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा। इससे जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते वे अतीन्द्रियज्ञान भी प्रत्यक्षकी मर्यादामें आकर प्रत्यक्ष शब्दके वाच्य हो जाते हैं। अथवा, अक्षका अर्थ है जीव। जीवमात्रको निमित्त लेकर इन्द्रियादिके विना ही जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे भी प्रत्यक्ष ही हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार अतीन्द्रिय और अनिन्द्रिय-मानसज्ञानमें प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाती है। तत्पुरुष समास करने पर प्रत्यक्ष शब्दका

---

१ "अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य । न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि च अक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात् इन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियाया व्युत्पादितोऽपि गोशब्दः गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति, तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" —न्यायबि० टी० १।३ । "यद् इन्द्रियमाश्रित्य उज्जिहीते अर्थसाक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् इत्यर्थः, एतच्च प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं न प्रवृत्तिनिमित्तम्"—इत्यादि, न्यायब० टी० पृ० १६ । "वैशद्यास्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः ।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२ । न्यायकुमु० पृ० २६ । २ "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् ।" —सर्वार्थसि० १।१२ । त० व० १।१२ । प्रमाणप० पृ० ६८ । "तथा च भद्रबाहु —जीवो अक्खो तं पइ जं वट्टई तं तु होइ पच्चक्खं । परओ पुण अक्खस्स वट्टन्तं होई पारोक्खं ।" (निर्युक्ति) न्यायाव० टी० टि० पृ० १५ । "जीवो अक्खो अत्थव्वावण भोयण गुणण्णिओ जेण । तं पई वट्टई णाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहम् ॥८९॥" —विशेषाव० भा० । न्यायकुमु० पृ० २६ ।

प्रत्यक्षस्योत्पत्तेः। तत्र तत्पुरुषाश्रयणात्प्रत्यक्षो बोधः प्रत्यक्षा बुद्धिरित्यादौ [1]स्त्रीपुंसभात्त्रोऽपि सिद्धः।

§ २९९. अक्षाणां परं—अक्षव्यापारनिरपेक्षं मनोव्यापारेणासाक्षादर्थपरिच्छेदकम् [2]परोक्षमिति परशब्दसमानार्थेन 'परस्' शब्देन सिद्धम्।

§ ३००. [3]चशब्दौ द्वयोरपि तुल्यकक्षतां लक्षयतः, तेनानुमानादेः परोक्षस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेर्यत्कैश्चित्प्रत्यक्षं[4]ज्येष्ठमभीष्टमेतन्न श्रेष्ठमिति सूचितम्, द्वयोरपि प्रामाण्यं प्रतिविशेषाभावात्। 'पश्य मृगो धावति'। इत्यादौ प्रत्यक्षस्यापि परोक्षपूर्वकस्य प्रवृत्तेः परोक्षस्य ज्येष्ठताप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षपूर्वकमेव च परोक्षमुपजायत इति नायं सर्वत्रैकान्तः, अन्यथानुपपन्नतावधारितोच्छ्वासनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावाभ्यां जीवसाक्षात्कारिप्रत्यक्षलक्षणेऽपि जीवन्मृतप्रतीतिदर्शनात्, अन्यथा लोकव्यवहाराभावप्रसङ्गात्।

विशेष्यके लिंगके अनुसार तीनो लिंगोमें प्रयोग होता है जैसे प्रत्यक्षो बाधः, प्रत्यक्षा बुद्धिः इत्यादि। यहाँ बोध और बुद्धिरूप विशेष्य क्रमसे पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग है अतः प्रत्यक्ष शब्द भी उक्त दोनो लिंगोमे प्रयुक्त हुआ है।

§ २९९. इन्द्रियोसे जो परे हो अर्थात् जिसमे इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा न हो केवल मनके व्यापारसे हो जो ज्ञान वस्तुको असाक्षात् रूपसे जाने उसे परोक्ष कहते है। पर शब्दका पर्यायवाची 'परस्' शब्द भी है। अतः परस् + अक्ष मिलकर परोक्ष बन जाता है।

§ ३०० 'च' शब्दसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो का ही समान बल या एकश्रेणीपन सूचित होता है। ये दोनो ही ज्ञान तुल्यबलवाले है और समानरूपसे अपने-अपने विषयमे प्रमाण है। इससे जो वादी अनुमान आदि परोक्षज्ञानोकी उत्पत्ति प्रत्यक्षपूर्वक होने से प्रत्यक्षको ज्येष्ठ तथा प्रधान कहते हैं, उनका निराकरण हो जाता है। उनका प्रत्यक्षकी ज्येष्ठताका कथन किसी भी तरह श्रेष्ठ नही कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही अपने-अपने विषयमे स्वतन्त्र तथा समान बलवाले है इनमे कोई ज्येष्ठ नही है। 'देखो. हरिण दौड़ रहा है' इस वाक्यको सुनकर उसका अर्थ विचार कर होनेवाला मृगका प्रत्यक्ष शब्दज्ञानरूप परोक्षपूर्वक हुआ, अतः परोक्षको भी प्रत्यक्षसे ज्येष्ठ मानना चाहिए। 'प्रत्यक्षपूर्वक ही सब जगह परोक्ष उत्पन्न होता है' यह ऐकान्तिक नियम नही है। देखो, जिस समय हम दूसरेको आत्माको देख रहे हैं उसी समय जीवन के साथ अविनाभाव रखनेवाले श्वासोच्छ्वास आदि चिह्नोसे उसकी सत्ताको तथा श्वासोच्छ्वास आदिके अभावसे उसके अभावको भी जानते है। जिस समय हम उसे देखते हैं उसी समय हमे उसके जीने और मरने का भी अनुमानसे परिज्ञान हो ही जाता है। अतः ये दोनो प्रत्यक्ष और

---

१. स्त्रीपुंस्वभा—भ० २। २. "ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु ॥५९॥"—प्रवचनसार पृ० ७५। "पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।"—सर्वार्थसि० १।११। "उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्।" —तत्त्वार्थरा० वा १।११। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्। ततः परैः इन्द्रियादिभिः उक्ष्यते सिञ्च्यते अभिवर्ध्यते इति परोक्षम्।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। प्रमाणप० पृ० ६९। परीक्षामुख ३।१। पञ्चाध्यायीश्लो० ६९६। न्यायाव० श्लो० ४। विशेषाव० भा० श्लो० ९०। सन्मति० टी० पृ० ५९५। न्यायकुमु० पृ० २७। प्रमाण० त० ३।१। प्रमाणमी० ३।१। ३ "चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति।"—न्यायवि० टी० १।३। ४. "आदौ प्रत्यक्षग्रहणं प्राधान्यात्" तत्र किं शब्दस्यादावुपदेशो भवतु आस्विोस्वित् प्रत्यक्षस्येति। प्रत्यक्षस्येति युक्तम्। किं कारणम्। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् इति।" न्यायवा० १, १, ३। साङ्ख्यत० का० ५। न्यायम० पृ० ६५, १०९। "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्, तस्य पौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतः सिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।"—भामती पृ०६।

गवयशब्दवाच्यमर्थमजानानः कञ्चन वनेचरं पुरुषमप्राक्षीत् । 'कीदृग् गवयः' इति, स प्राह 'यादृग्गौस्तादृग्गवयः' : इति ततस्तस्य प्रेष्यपुरुषस्यामातिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकारि गोसदृशगवयपिण्डज्ञानं 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपत्ति फलरूपामुत्पादयत्प्रमाणमिति ।

§ ३०४. मीमांसकमते तु येन प्रतिपत्रा गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवयः' इति श्रुतं, तस्य विकटाटवी पर्यटतो गवयदर्शने प्रथमे समुत्पन्ने सति यत्परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानमुन्मज्जति 'अनेन सदृशः स गौः' इति 'तस्य गोरनेन सादृश्यं' इति वा, तदुपमानम् ।

§ ३०५. तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ [मी० श्लो० उप० श्लो० ३] ।

इति वचनादिति । एतच्च[3] परोक्षभेदे प्रत्यभिज्ञायामन्तर्भाव्यम् ॥

गवयको जानता ही न था । उसने डरके मारे राजासे गवयकी पहिचान नही पूछी और वह चुपचाप जगलकी ओर चला । रास्तेमे एक भीलसे पूछा कि भाई, गवय कैसा होता है ? भील बोला—'अरे तुम इतना ही नही जानते, जैसी गइया होती है ठीक वैसा ही गवय होता है' नौकर उस भीलके वचनोको याद करता हुआ जगलमे जा पहुँचता है और वहाँ भीलके वचनोको याद करके सामने एक गायके समान अवयववाले प्राणीको देखते ही 'यही गवय है, इसे ही गवय शब्दसे पुकारते हैं' इस उपमितिको उत्पन्न करता है । इसमे 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश वाक्यके स्मरणके साथ ही साथ गो सदृश गवयका ज्ञान भी कारण होता है अत. यही गो सदृश गवयका ज्ञान अर्थात् सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण कहलाता है । तात्पर्य यह कि सादृश्य-ज्ञान तो उपमान प्रमाण है तथा 'इसकी गवय संज्ञा है' यह सज्ञा सज्ञि सम्बन्ध ज्ञान उपमितिरूप फल है ।

§ ३०४ मीमासक उपमानका स्वरूप इस प्रकार कहते है—जिस व्यक्तिने गायको तो देखा है पर गवयको अभी तक नही देखा और न 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश वाक्य—परिचय वाक्यको ही सुना है । वह विकट जंगलमे घूमते-घूमते अचानक पहले ही पहले गवयको देखता है । गवयको देखते ही उसे परोक्ष गौ का स्मरण हो आता है और वह सोचता है कि 'गाय तो ठीक इसी गवयके समान होती है' 'उस गौ मे इस गवयकी बडी सदृशता है' इस तरह परोक्ष गौमे जो सादृश्य ज्ञान उत्पन्न होता है उसे उपमान कहते है । कहा भी है—"गवयको देखकर जिस गायका स्मरण होता है वही गाय गवयकी समानतासे विशिष्ट होकर उपमान प्रमाणके द्वारा जानी जाती है । अथवा गायसे विशिष्ट गवयकी समानता उपमान प्रमाणका विषय होती है । गोविशिष्ट सादृश्य या सादृश्यविशिष्ट गौ दोनो ही उपमान प्रमाणके प्रमेय है ।'

[1]प्रत्यक्षेणैव घटादिविविक्तस्य भूतलादेर्ग्रहणात्। क्वचित्तु तदघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान्न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनाग्नेरित्यनुमानेन,[2] गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेन [3]वाभावप्रतीतेः क्वाभावः प्रमाणं प्रवर्तताम्। तृतीयपक्षस्य पुनरसंभव एव, आत्मनो ज्ञानाभावे कथं[4] वस्त्वभाववेदकत्वं, वेदनस्य ज्ञानधर्मत्वात्, अभाववेदकत्वे वा ज्ञानविनिर्मुक्तत्वस्याभावात्, तन्नाभावः प्रमाणान्तरम्।

§ ३०८. [5]संभवोऽपि समुदायेन समुदायिनोऽवगम इत्येवंलक्षणः संभवति खार्यां द्रोण

जो स्वय गधेके सीगकी तरह अवस्तु है वह अभावज्ञान रूप कार्य कैसे कर सकता है? द्वितीय पक्षमे तो पर्युदास पक्षके अनुसार घड़ेसे अन्य भूतल आदिका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही हो रहा है, वह प्रत्यक्षरूप ही है। जब प्रत्यक्षसे ही घडेसे रहित शुद्ध भूतलका परिज्ञान हो जाता है तब उससे अतिरिक्त अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है। कही पर 'यह वही भूतल आज घडेसे शून्य है जिसमे कल घडा रखा था' इस प्रकारका अभावज्ञान प्रत्यभिज्ञानसे हो जाता है। कही 'जो अग्निवाला नही है वह धूमवाला भी नही है' यह सार्वत्रिक अग्नि और धूमके अभावका ज्ञान तर्कसे होता है। कही 'यहाँ धूम नही है क्योकि अग्नि नही पायी जाती' यह धूमके अभावका ज्ञान अनुमानसे हो रहा है। कही 'गर्ग घरमे नही है' इस प्रामाणिक वाक्यसे घरमे गर्गके अभावका ज्ञान आगम प्रमाणरूप ही है। इस तरह यथा सम्भव प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे ही जब अभावका ज्ञान हो जाता है तब अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है? वह कहाँ प्रवृत्ति करेगा? अभावका ज्ञाननिर्मुक्तआत्मावाला प्रकार तो बन ही नही सकता, क्योकि जब आत्मामे बिलकुल ही किसी प्रकारका ज्ञान नही रहेगा, तब वस्तुके अभावका परिज्ञान किससे होगा? अभाव हो या सद्भाव, दोनोका जानना तो ज्ञानका ही कार्य है। यदि आत्मा अभावको जान रहा है, तो फिर उसे ज्ञान निर्मुक्त—ज्ञान शून्य कैसे कह सकते हैं? इस तरह अभाव प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण नही है, वह यथासम्भव इन्ही प्रत्यक्षादिमे अन्तर्भूत है।

§ ३०८ समुदायसे समुदायीका ज्ञान सम्भव प्रमाण है। बड़ी चीजसे अपने अवयवभूत किसी छोटी वस्तुका अनुमान सम्भव प्रमाण है। जैसे खारी (=१८ द्रोण) मे द्रोणकी सम्भावना

—प्रश० व्यो० पृ० ५९२। प्रश० कन्द० पृ० २२६। "शब्दे ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् अनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध।" —न्यायसू० २।२।६। "अभावोऽप्यनुमानमेव"— न्यायवा० पृ० २७६। "सत्यमभावः प्रमेयमभ्युपगम्यते प्रत्यक्षाद्यवसीयमानस्वरूपत्वान्न प्रमाणान्तरमात्मपरिच्छित्तये मृगयते। अदूरमेदिनिदेशवर्तिनस्तस्य चक्षुषा। परिच्छेदः परोक्षस्य क्वचिन्मानान्तरैरपि॥" —न्यायमं० पृ० ५१। "अन्यस्य घटादिविविक्तस्य भूतलस्योपलब्ध्या घटानुपलब्धिरिति प्रत्यक्षसिद्धानुपलब्धिः। एतदुक्तं भवति—घटग्राहकत्वस्य भूतलग्राहकत्वस्य चैकज्ञानसंसर्गित्वात् यदा भूतलग्राहकमेव तज्ज्ञानं भवति तदा घटग्राहकत्वाभावं निश्चाययतीति प्रतीतिप्रत्यक्षसिद्धैव घटानुपलब्धिः।" प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ५१६। तत्त्वसं० पृ० ४७५। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७। न्यायकुमु० पृ० ४९८। स्या० र० पृ० २९०। न्यायाव० टी० टि० पृ० ७१।

१ तत्प्रम–म० २। २. "अभावोऽप्यनुमानमेव, यथा उत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२५। "क्वचित्तु [illegible] निर्दृष्टदेशप्रवृत्तिरनुमेयोऽपि भवत्यभाव।" —न्यायमं० पृ० ४९। न्यायकुमु० पृ० ४९९। ३. चाभाव–म० २। ४ कथमु–म० २। ५ "संभवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २२५। 'सम्भवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणं यथा—द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम् आढकस्य ग्रहणात् प्रस्थस्येति।' —न्यायभा० २।२।१।

इत्यादिको नानुमानात्पृथक्, तथाहि—खारी द्रोणवती, खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत् ।

§ ३०९. [1]ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम्, एवमूचुर्वृद्धा यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, तदप्रमाणं, अनिर्दिष्टवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति।

§ ३१०. यदपि [2]प्रातिभमक्षलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षमकस्मादेव 'अद्य मे महीपतिप्रसादो भविता' इत्याकारं स्पष्टतया वेदनमुदयते तदप्यनिन्द्रियनिबन्धनतया [3]मानसमिति—प्रत्यक्षकुक्षिनिक्षिप्तमेव ।

§ ३११. यत्पुन. प्रियाप्रियप्राप्तिप्रभृतिफलेन सार्धं गृहीतान्यथानुपपत्तिकात्मनः प्रसादोद्वेगादेर्लिङ्गादुदेति तत्पिपीलिकापटलोत्सर्पणोत्थज्ञानवदस्पष्टमनुमानमेव ।

§ ३१२. एवं युक्त्यनुपलब्ध्योरादिशब्दाद्विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन

है वह उसमे समा जाना ही है । यह भी अनुमानमे ही अन्तर्भूत है । इस खारीमे द्रोण की पूरी-पूरी सम्भावना है क्योकि वह खारी है जैसे कि पहले देखी गयी खारी ।

§ ३०९ जिनके कहनेवालोका कुछ भी पता न हो ऐसे परम्परासे चले आये प्रवाद—जनश्रुतियाँ ऐतिह्य हैं । जैसे—बूढे पुराने लोग कहते थे कि 'इस वट वृक्षमे एक यक्ष रहता है'। यह ज्ञान प्रमाणभूत ही नही है, क्योकि इसके वक्ताका पता न होनेसे यह निश्चित नही है सन्दिग्ध है, मुमकिन है कि उसमे यक्ष न रहता हो। जिन प्रवादोके वक्ता तथा उनकी प्रामाणिकता निश्चित है वे तो आगमप्रमाणमे ही अन्तर्भूत हो जायेगे ।

§ ३१० इन्द्रियाँ लिंग तथा शब्दके व्यापारके विना ही अचानक 'आज मुझ पर राजा प्रसन्न होगे' इत्यादि प्रकारके स्पष्ट भानको प्रातिभ ज्ञान कहते है । यह ज्ञान मनोभावनासे उत्पन्न होनेके कारण मानस प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत हो जाता है ।

३११ जिस प्रातिभ ज्ञानमे मनकी सहज प्रसन्नतासे या मनकी उद्विग्नता-उचाट रहनेसे इष्ट-अनिष्टका अस्पष्ट भान होता है वह तो अनुमान रूप ही है । जैसे चीटियोको अण्डे लेकर जाते हुए देखकर वृष्टि होनेका अनुमान । तात्पर्य यह कि मनमे सहज उल्लास होनेसे पहले कई बार इष्टकी प्राप्ति हो चुकी थी इसी तरह मनके उचाट रहनेसे अनिष्ट भी हुआ था । आज यदि सहसा मनमे प्रसन्नता होती है और उससे हृदय अपने आप कहे कि 'आज कुछ लाभ होगा' तो यह अस्पष्ट ज्ञान एक प्रकारका अनुमान ही है । क्योकि मनकी प्रसन्नता आदिका इष्ट प्राप्ति आदिसे अविनाभाव पहले ही ग्रहण किया जा चुका है और अविनाभावजन्य ज्ञान तो अनुमानरूप ही होता है ।

§ ३१२ इसी तरह युक्ति और अनुपलब्धि इन्ही प्रमाणोमे अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। युक्ति यदि अविनाभाव रखती है तो अनुमानमे अन्तर्भूत होगी। यदि अविनाभाव नही है तो प्रमाण

---

१. "ऐतिह्यमर्थापत्ति सभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि तानि कस्मान्नोक्तानि । 'इति होचु' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृक—प्रवादपारपर्यम् ऐतिह्यम् ।" —न्यायभा० २।२।१ । "तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति ।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २३० । २ "आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसो सयोगाद्—धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभ यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते । तत्तु—प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेष लौकिकाना यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राता गन्तेति हृदय मे कथयतीति ॥" —प्रश० भा० पृ० ६२१ । जैनतर्कभा० पृ० ७७ । ३ "स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभ च तथापरे । स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसवेदनमेव न ॥" —न्यायावता० श्लो० १९ ।

सामान्यतो लिखितं साक्षिणो भुक्ति प्रमाणं त्रिविध स्मृतम्"[1] [याज्ञव० स्मृ० २।२२] इत्युक्तस्य प्रमाणस्यान्येषां च केषांचित्प्रमाणान्तरत्वेन परपरिकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावो निराकरणं च विधेयम् । तदेवं न प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणद्वैविध्यातिक्रमं शक्रोऽपि कर्तुं क्षमः ।

अथ तयोर्लक्षणाद्यभिधीयते—स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं प्रत्यक्षम्[2] । तद्द्विप्रकारं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।

§ ३१३. तत्र सांव्यवहारिकं[3] बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकमस्मदादिप्रत्यक्षम् । [4]पारमार्थिकं त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादिप्रत्यक्षम् ।

§ ३१४. सांव्यवहारिकं द्वेधा, चक्षुरादीन्द्रियनिमित्तं मनोनिमित्तं च । तद्द्विविधमपि चतुर्धा, [5]अवग्रहेहावायधारणाभेदात् । तत्र विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शना[6]ज्जा-

---

रूप हो नही है। अनुपलब्धि तो अभाव प्रमाण रूप है अत उसका यथासम्भव प्रत्यक्षादिमे अन्तर्भाव हो जायगा। आदि शब्दसे प्रतिवादियो-द्वारा माने गये अन्य प्रमाणोका भी इन्हीमे अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जैसे वृद्ध नैयायिक विशिष्ट उपलब्धिको उत्पन्न करनेवाले ज्ञानात्मक या अज्ञानात्मक सभी पदार्थोको साधारण रूपसे प्रमाण मान लेते है। उन्होने कहा है कि "लिखित स्टाम्प आदि, साक्षी—गवाही तथा भुक्ति—अनुभव सभी प्रमाण है" तथा अन्य वादियो-द्वारा भी प्रमाणान्तर माने जाते है उन सबके लक्षणोको विचार करनेपर यदि वे स्वपर व्यवसायी ज्ञानरूप हों तो उन्हे प्रमाण मानकर इन्ही प्रत्यक्ष और परोक्षमे शामिल कर लेना चाहिए। यदि वे प्रमाणहीन हो तो उनका निराकरण करना चाहिए। इस तरह प्रमाणको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे कही गयी दो सख्याका उल्लघन इन्द्र भी नही कर सकता, वह सर्वत· अवाधित है।

§ ३१३. अब प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण आदि कहते है। स्व और परके निश्चय करनेवाले स्पष्ट—पर निरपेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ सांव्यवहारिक, २ पारमार्थिक। बाह्य चक्षुरादि तथा प्रकाश आदि सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाला हमलोगोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मानस प्रत्यक्ष साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वस्तुत· यह इन्द्रियादिकके परतन्त्र होनेसे परोक्ष है—अपारमार्थिक है परन्तु लोक व्यवहारमे इसको प्रत्यक्षरूपमे प्रसिद्धि होनेसे इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है। यह अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है।

§ ३१४ साव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—एक तो चक्षुरादि इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा मात्र मनसे उत्पन्न होनेवाला मानस प्रत्यक्ष। ये दोनो ही प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारके होते है। इन्द्रिय और पदार्थके योग्य देश स्थितिरूप सम्बन्ध होनेपर सत्तामात्रका आलोचन करनेवाला दर्शन होता है। इस

---

१. -तमित्यस्य भ० २। २ "प्रत्यक्षं विशद ज्ञानं मुख्यसव्यवहारत ।" —लघी० श्लो० ३। ३ "इन्द्रियमणोभव ज त सववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" —विशेषा० भा०। "तत्र साव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ४। प्रमाणपरी० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५२। जैनतर्कवा० पृ० १००। परीक्षामु० २।५। प्रमाणमी० १।१।२१। न्यायदी० पृ० ९। ४. "अतीन्द्रियप्रत्यक्ष व्यवसायात्मक स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ६१। "सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।" परीक्षामु० २।११। "पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ।" —प्रमा० तत्त्वा० २।१८। प्रमाणमी० १।१।१८। न्यायदी० पृ० ३०। ५ "अवग्रहेहावायधारणा ।" —तत्त्वार्थसू० १।१५। ६. -नाज्ज्ञानम- न्तर—भ० १, भ० २, प० १, प० २।

इत्यादिको नानुमानात्पृथक्, तथाहि—खारी द्रोणवती, खारीत्वात्पूर्वोपलब्धखारीवत् ।

§ ३०९. [1]ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम्, एवमूचुर्वृद्धा यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, तदप्रमाणं, अनिर्दिष्टवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्, आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति ।

§ ३१०. यदपि [2]प्रातिभमक्षलिङ्गशब्दव्यापारानपेक्षमकस्मादेव 'अद्य मे महीपतिप्रसादो भविता' इत्याकारं स्पष्टतया वेदनमुदयते तदप्यनिन्द्रियनिबन्धनतया [3]मानसमिति—प्रत्यक्षकुक्षि-निक्षिप्तमेव ।

§ ३११. यत्पुनः प्रियाप्रियप्राप्तिप्रभृतिफलेन सार्धं गृहीतान्यथानुपपत्तिकात्मनः प्रसादोद्वेगादेर्लिङ्गादुदेति तत्पिपीलिकापटलोत्सर्पणोत्थज्ञानवदस्पष्टमनुमानमेव ।

§ ३१२. एवं युक्त्यनुपलब्ध्योरादिशब्दाद्विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाबोधरूपविशेषत्यागेन

है वह उसमे समा जाता ही है । यह भी अनुमानमे ही अन्तर्भूत है । इस खारीमे द्रोण की पूरी-पूरी सम्भावना है क्योंकि वह खारी है जैसे कि पहले देखी गयी खारी ।

§ ३०९ जिनके कहनेवालोका कुछ भी पता न हो ऐसे परम्परासे चले आये प्रवाद—जनश्रुतियाँ ऐतिह्य हैं । जैसे—बूढे पुराने लोग कहते थे कि 'इस वट वृक्षमे एक यक्ष रहता है' । यह ज्ञान प्रमाणभूत ही नहीं है, क्योंकि इसके वक्ताका पता न होनेसे यह निश्चित नहीं है सन्दिग्ध है, मुमकिन है कि उसमे यक्ष न रहता हो । जिन प्रवादोके वक्ता तथा उनकी प्रामाणिकता निश्चित हैं वे तो आगमप्रमाणमे ही अन्तर्भूत हो जायेंगे ।

§ ३१० इन्द्रियाँ लिंग तथा शब्दके व्यापारके बिना ही अचानक 'आज मुझ पर राजा प्रसन्न होंगे' इत्यादि प्रकारके स्पष्ट भानको प्रातिभ ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान मनोभावनासे उत्पन्न होनेके कारण मानस प्रत्यक्षमे अन्तर्भूत हो जाता है ।

३११. जिस प्रातिभ ज्ञानमे मनकी सहज प्रसन्नतासे या मनकी उद्विग्नता-उचाट रहनेसे इष्ट-अनिष्टका अस्पष्ट भान होता है वह तो अनुमान रूप ही है । जैसे चीटियोंको अण्डे लेकर जाते हुए देखकर वृष्टि होनेका अनुमान । तात्पर्य यह कि मनमे सहज उल्लास होनेसे पहले कई बार इष्टकी प्राप्ति हो चुकी थी इसी तरह मनके उचाट रहनेसे अनिष्ट भी हुआ था । आज यदि सहसा मनमे प्रसन्नता होती है और उससे हृदय अपने आप कहे कि 'आज कुछ लाभ होगा' तो यह अस्पष्ट ज्ञान एक प्रकारका अनुमान ही है । क्योंकि मनकी प्रसन्नता आदिका इष्ट प्राप्ति आदिसे अविनाभाव पहले ही ग्रहण किया जा चुका है और अविनाभावजन्य ज्ञान तो अनुमानरूप ही होता है ।

§ ३१२ इसी तरह युक्ति और अनुपलब्धि इन्हीं प्रमाणोमे अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । युक्ति यदि अविनाभाव रखती है तो अनुमानमे अन्तर्भूत होगी । यदि अविनाभाव नहीं है तो प्रमाण

---

१. "ऐतिह्यमर्थापत्ति संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि तानि कस्मान्नोक्तानि । 'इति होचुः' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृक—प्रवादपारंपर्यम् ऐतिह्यम् ।" —न्यायभा० २।२।१ । "तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति ।" —प्रश० भा०, कन्द० पृ० २३० । २ "आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसो संयोगाद्—धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते । तत्तु—प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राता गन्तेति हृदय मे कथयतीति ॥" —प्रश० भा० पृ० ६२१ । जैनतर्कभा० पृ० ७७ । ३ "स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथापरे । स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव न ॥" —न्यायावता० श्लो० १९ ।

सामान्यतो लिखित साक्षिणो भुक्ति प्रमाणं त्रिविध स्मृतम्"[1] [याज्ञव० स्मृ० २।२२] इत्युक्तस्य प्रमाणस्यान्येषां च केषांचित्प्रमाणान्तरत्वेन परपरिकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षपरोक्षयोरन्तर्भावो निराकरणं च विधेयम् । तदेवं न प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणद्वैविध्यातिक्रमं शक्रोऽपि कर्तुं क्षमः ।

अथ तयोर्लक्षणाद्यभिधीयते—स्वपरव्यवसायि ज्ञानं स्पष्टं प्रत्यक्षम्[2] । तद्द्विप्रकारं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।

§ ३१३. तत्र सांव्यवहारिकं[3] बाह्येन्द्रियादिसामग्रीसापेक्षत्वादपारमार्थिकमस्मदादिप्रत्यक्षम् । [4]पारमार्थिकं त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादिप्रत्यक्षम् ।

§ ३१४. सांव्यवहारिकं द्वेधा, चक्षुरादीन्द्रियनिमित्तं मनोनिमित्तं च । तद्द्विविधमपि चतुर्धा, [5]अवग्रहेहावायधारणाभेदात् । तत्र विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्ज्ा-

---

रूप हो नही है । अनुपलब्धि तो अभाव प्रमाण रूप है अत उसका यथासम्भव प्रत्यक्षादिमे अन्तर्भाव हो जायगा । आदि शब्दसे प्रतिवादियो-द्वारा माने गये अन्य प्रमाणोका भी इन्हीमे अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । जैसे वृद्ध नैयायिक विशिष्ट उपलब्धिको उत्पन्न करनेवाले ज्ञानात्मक या अज्ञानात्मक सभी पदार्थोको साधारण रूपसे प्रमाण मान लेते है । उन्होने कहा है कि "लिखित स्टाम्प आदि, साक्षी—गवाही तथा भुक्ति—अनुभव सभी प्रमाण है" तथा अन्य वादियो-द्वारा भी प्रमाणान्तर माने जाते है उन सबके लक्षणोको विचार करनेपर यदि वे स्वपर व्यवसायी ज्ञानरूप हो तो उन्हे प्रमाण मानकर इन्ही प्रत्यक्ष और परोक्षमे शामिल कर लेना चाहिए । यदि वे प्रमाणहीन हो तो उनका निराकरण करना चाहिए । इस तरह प्रमाणको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे कही गयी दो सख्याका उल्लघन इन्द्र भी नही कर सकता, वह सर्वत· अबाधित है ।

§ ३१३ अब प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण आदि कहते है । स्व और परके निश्चय करनेवाले स्पष्ट—पर निरपेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ सांव्यवहारिक, २ पारमार्थिक । बाह्य चक्षुरादि तथा प्रकाश आदि सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाला हमलोगोका इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा मानस प्रत्यक्ष साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । वस्तुत· यह इन्द्रियादिकके परतन्त्र होनेसे परोक्ष है—अपारमार्थिक है परन्तु लोक व्यवहारमे इमको प्रत्यक्षरूपमे प्रसिद्धि होनेसे इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है । पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो आत्ममात्रसे हो उत्पन्न होता है । यह अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है ।

§ ३१४ साव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—एक तो चक्षुरादि इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष और दूसरा मात्र मनसे उत्पन्न होनेवाला मानस प्रत्यक्ष । ये दोनो ही प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारके होते हैं । इन्द्रिय और पदार्थके योग्य देश स्थितिरूप सम्बन्ध होनेपर सत्तामात्रका आलोचन करनेवाला दर्शन होता है । इस

---

१ –तमित्यस्य भ० २ । २ "प्रत्यक्ष विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारत ।" —लघी० श्लो० ३ । ३ "इन्द्रियमणोभव जं त संववहारपच्चक्खम् ॥९५॥" —विशेषा० भा० । "तत्र साव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ४ । प्रमाणपरी० पृ० ६८ । सन्मति० टी० पृ० ५५२ । जैनतर्कवा० पृ० १०० । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणमी० १।१।२१ । न्यायदी० पृ० ९ । ४ "अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मक स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम् ।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ६१ । "सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।" परीक्षामु० २।११ । "पारमार्थिक पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ।" —प्रमा० नत्वा० २।१८ । प्रमाणमी० १।१।१८ । न्यायदी० पृ० १० । ५ "अवग्रहेहावायधारणा ।" —तत्त्वार्थसू० १।१५ । ६. –नाज्ज्ञानम-भ्यन्तर–भ० १, भ० २, प० १, प० २ ।

तमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः[1]। अस्यार्थः—विषयो द्रव्यपर्यायात्मकोऽर्थः विषयी चक्षुरादिः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्यवस्थानं तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं दर्शनं निराकारो बोधस्तस्माज्जातमाद्यं सत्तासामान्याद्यवान्तरैर्मनुष्यत्वादिभिर्विशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद्ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रहः। पुनरवगृहीतविषयसंशयानन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः[4]। अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा।

दर्शनसे उत्पन्न होनेवाला मनुष्यत्व आदि विशेष सत्तासे युक्त घट आदि पदार्थोंको विषय करनेवाले प्रथम ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। विषय—द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ विषयी चक्षु आदि इन्द्रियाँ, इनके समीचीन विपर्यय संशय आदिको उत्पन्न नहीं करनेवाले निपातसे योग्यदेशमें स्थिति रूप सम्बन्धसे सत्तामात्रका आलोचन करनेवाला निराकार ज्ञानरूपी दर्शन उत्पन्न होता है। इस सामान्य सत्ताका भान करनेवाले दर्शनके बाद ही उससे मनुष्यत्व आदि अवान्तरविशेष सामान्यसे युक्त वस्तुको 'यह मनुष्य है' इत्यादि रूपसे जाननेवाला जो सबसे पहला ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थमें उत्पन्न होनेवाले संशयके बाद विशेष निर्णयके लिए होनेवाला 'यह ऐसा होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता प्रत्यय ईहा कहा जाता है। जैसे सामान्यरूपसे पुरुषको जान लेनेके बाद 'यह दक्षिणी है या उत्तरी' यह संशय होता है, इस संशयके बाद होनेवाले 'इसे दक्षिणी होना चाहिए' इस सम्भावना प्रत्ययको ईहा कहते हैं। ईहाके द्वारा सम्भावित विशेषका यथार्थ निर्णय अवाय कहलाता है। जिस पदार्थका पक्का निश्चय हो गया है उसका कालान्तरमें स्मरण करानेवाले कारणको धारणा कहते हैं। इतना दृढ़ निश्चय होना जिससे उसको बहुत दिन तक याद बनी रहे।

---

१. "तत्र अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैः विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५२। प्रमा० नय० २।७। न्यायदी० पृ० १०। २. दर्शनाज्जातम् भ० १, म० २, प० १, प० २। ३. "अवगृहीतेऽर्थे विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा।" —तत्त्वार्थाधि० १।१५। "अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।"—सर्वार्थ० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवला टी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।८। प्रमाणमी० १।१।२७। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५। ४. "अवगृहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदोषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपायः।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ५। राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।९। प्रमाणमी० १।१।२८। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५। ५. "धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम्।" —तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५। "अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा।" —सर्वार्थसि० १।१५। लघी० श्लो० ६। राजवा० १।१५। धवलाटी० सत्प्ररू०। प्रमाणप० पृ० ६८। सन्मति० टी० पृ० ५५३। प्रमा० नय० २।१०। प्रमाणमी० १।१।२९। न्यायदी० पृ० ११। जैनतर्कभा० पृ० ५।

§ ३१५. अत्र च [1]पूर्वपूर्वस्य प्रमाणतोत्तरोत्तरस्य च फलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यं कथंचित् प्रमाणफलभेदश्चोपपन्नः। तथा यद्यपि क्रमभाविनामवग्रहादीनां हेतुफलतया व्यवस्थितानां पर्यायार्थाद्भेदः तथाप्येकजीवतादात्म्येन द्रव्यार्थादेशादमीषामैक्यं कथंचिदविरुद्धम्, अन्यथा हेतुफलभावाभावप्रसक्तिर्भवेदिति प्रत्येयम्।

§ ३१६. [2]धारणास्वरूपा च मतिरविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात्प्रमाणं, स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञापि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्ताप्यनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात्। तदुक्तम्—
"मति स्मृति. सज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।" [त०सू० १।१३] अनर्थान्तरमिति—कथंचिदेकविषयं प्राक्शब्दयोजनान्मतिज्ञानमेतत्। शेषमनेकप्रभेदं शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं[3]

§ ३१५ इन अवग्रहादि ज्ञानोमे पहले-पहलेके ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानोमे कारण होनेसे प्रमाण रूप है तथा आगे-आगेके ज्ञान कार्य होनेसे फलरूप है। अवग्रह प्रमाण है तो ईहा फल, ईहाकी प्रमाणतामे वस्तुत' यह एक ही मतिज्ञान है परन्तु अवाय फल होता है। पर्याय भेदसे उसके ही ये चार रूप हो जाते है और इनमे परस्पर प्रमाण और फलरूपसे कथचिद् भेद भी हो जाता है। इस तरह यद्यपि क्रमसे उत्पन्न होनेवाले इन अवग्रह आदि चारो ज्ञानोमे, जो कि क्रमश. कारण कार्य रूप है, पर्यायार्थिक-अवस्थाओके भेदसे भेद है परन्तु ये सभी ज्ञान एक आत्मासे तादात्म्य अभेद रखते है अत उस आधारभूत आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे ये सभी ज्ञान कथंचिद् अभिन्न भी है। यदि इनमे आत्मद्रव्यकी अपेक्षा कथचिदेकता तथा अवस्था भेदसे अनेकता न हो तो इनमे परस्पर उपादान-उपादेयभाव या कार्यकारणभाव नही वन सकेगा। कार्य और कारण ये दो तो अवस्था भेद होनेपर ही हो सकते है तथा उपादान-उपादेय भावके लिए एक द्रव्यात्मक होना आवश्यक ही है।

§ ३१६. धारणा नामका मतिज्ञान अविसवादी स्मरणमे कारण होता है अत वह प्रमाण है तथा स्मरण फल है। स्मरणसे 'यह वही है' इत्यादि संकलन रूप संज्ञा-प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है अत' प्रत्यभिज्ञान फल है और स्मरण प्रमाण। प्रत्यभिज्ञान भी अविनाभावको ग्रहण करनेवाले तर्क रूप चिन्ताको उत्पन्न करता है अत' वह प्रमाण है तथा तर्क फल। तर्कसे अविनाभावका परिज्ञान कर आभिनिवोध-अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है अत. तर्क प्रमाण है तथा अनुमान फल। अनुमानसे हेयोपादेय वुद्धि रूप फल उत्पन्न होता है अत. अनुमान भी प्रमाणरूप है। कहा भी है—"मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध ये अनर्थान्तर हैं। कथचिद् अभिन्न है" अनर्थान्तर–कथचिद् एकविषयक। अकलंकदेव इस सूत्रका निम्न तात्पर्य वताते हैं—जव तक इन ज्ञानोका शब्द रूपसे उल्लेख नही किया जाता, इनमे शब्द योजना नही होती तव तक ये सव मतिज्ञान रूप हैं। शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकारका अविशद ज्ञान

१ "पूर्वपूर्वप्रमाणत्व फल स्यादुत्तरोत्तरम्। प्रमाणफलयो क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वं च प्रत्येयम्।"—लघी० स्ववृ० श्लो० ७। "पूर्वपूर्वप्रमाणमुत्तरोत्तर फलमिति क्रम।"—प्रमाणवार्तिकाल० ३।३१०। "तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति।" —न्यायवि० टी० टि० पृ० ४०। सन्मति० टी० पृ० ५५३। "अवग्रहादीना क्रमोपजनधर्माणा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्।" —प्रमाणमी० १।१।३९। २ "अविसंवादस्मृते फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृति संज्ञाया प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्ताया तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादे।" —लघी० स्ववृ० श्लो० ११। सन्मति० टी० ५५३। ३ –द श्रुत–म० २।

ज्ञानं श्रुतमिति केचित्[1]। [2]सैद्धान्तिकास्त्ववग्रहेहावायधारणाप्रभेदरूपाया मतेर्वाचकाः पर्यायशब्दा मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्येते शब्दा इति प्रतिपन्नाः। स्मृतिसंज्ञाचिन्तादीनां च कथंचिद्गृहीतग्राहित्वेऽप्यविसंवादकत्वादनुमानवत्प्रमाणताभ्युपेया, अन्यथा व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन[3] गृहीतविषयत्वेनानुमानस्याप्रमाणताप्रसक्तेः। [4]अत्र च यच्छब्दसंयोजनात्प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादि व्यवहारनिर्वर्तनक्षमं वर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात्प्रादुर्भूतं[5] तु सर्वं श्रुतमिति विभागः। स्मृतिसंज्ञादीनां च स्मरणतर्कानुमानरूपाणां परोक्षभेदानामपि यदिह प्रत्यक्षाधिकारे[6] भणनं तन्मतिश्रुतविभागज्ञानाय प्रसङ्गेनेति विज्ञेयम्।

§ ३१७ अथ परोक्षम्—अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्[7]। स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानु-

श्रुत है। तात्पर्य यह कि जब तक मति स्मृति आदिमें शब्द योजना नहीं होती तब तक वे मतिज्ञान रूप हैं तथा शब्दयोजना होनेपर ये, तथा अन्य भी शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। परन्तु सैद्धान्तिक तो इन मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोधको अवग्रह ईहा अवाय और धारणा रूपसे चतुर्भेदवाले मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द ही मानते हैं। वे इनमें शब्दयोजनाके द्वारा मति और श्रुत रूपसे भेद नहीं करते। स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क आदि यद्यपि पूर्व प्रत्यक्ष आदिके द्वारा जाने गये पदार्थोंको ही जानते हैं फिर भी कुछ विशेष अंशका परिच्छेद करनेके कारण तथा अविसंवादी होनेसे अनुमानकी तरह ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार व्याप्तिज्ञान तर्कके द्वारा जाने गये सामान्य अग्नि और धूमको ही कुछ विशेष रूपसे जाननेवाला अनुमान कथंचित् अगृहीतग्राही मानकर प्रमाण समझा जाता है उसी तरह स्मृति आदि ज्ञान भी प्रमाण ही हैं। अन्यथा अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। इनमें अविसंवादी तथा लोक व्यवहारके चलानेमें समर्थ स्मृति आदि ज्ञान शब्द योजनासे पहले मतिज्ञान रूप हैं तथा शब्द योजनासे उत्पन्न होनेवाला हर एक ज्ञान श्रुत रूप है। ये स्मृति आदि भी शब्द योजनाके अनन्तर श्रुत रूप हो जाते हैं। इस प्रत्यक्षके प्रकरणमें स्मृति-स्मरण, संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता—तर्क, अभिनिबोध—अनुमान आदि परोक्षके प्रकारोंका निरूपण इसलिए किया है जिससे इनमें मति और श्रुतका स्पष्ट विभाग मालूम हो जाय।

§ ३१७. अस्पष्ट अविसंवादि ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्षके पाँच भेद हैं—१ स्मृति,

१. "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (चा) भिनिबोधकम्॥ प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्। 'प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम्॥" —लघी० स्ववृ० श्लो० १०। २ "आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव त्रिकालविषयस्यैते पर्याया नार्थान्तरतेति मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यस्यानर्थान्तरमेतदिति।" —तत्त्वार्थाधि० भा० टी० १।१३। ३ -प्रमाणागृहीतवि-म० २। ४ "अत्र च यत् शब्दसयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः।" —सन्मति० टी० पृ० ५५३। ५ -तं सर्वं म० १, म० २, प० १, प० २। ६ -कारेण भणनं म० २। ७ 'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु॥५९॥" —प्रव० सार पृ० ७५। 'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्य आत्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षम् इत्याख्यायते।" —सर्वार्थसि० पृ० ५९। "अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेण। तेहिं तो जं णाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व॥९०॥" —विशेषाव० भा०। "परोक्षं शेषविज्ञानम्।" —लघी० श्लो० ३। "अक्षाद् आत्मनः परावृत्तं परोक्षम्, ततः परैः इन्द्रियादिभिः ऊक्ष्यते सिञ्च्यते अभिवर्ध्यत इति परोक्षम्।" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८२। "परोक्षमविशदं ज्ञानात्मकम्।" —प्रमाणप० पृ० ६९। सन्मति० टी० पृ० ५९५। "परोक्षमितरत्।" —परीक्षामु० ३।१। न्यायाव० श्लो० ४। प्रमाणनय० ३।१। प्रमाणमी० २।१। पञ्चाध्या० श्लो० ६९६।

मानागमभेदतस्तत्पञ्चधा[1]। संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं[2] वेदनं स्मरणम्[3], यथा तत्तीर्थंकरबिम्बमिति। अनुभवस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्, [4]तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि, यथा स एवायं देवदत्तः गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः इदमस्माद्दीर्घं ह्रस्वमणीयो महीयो दवीयो वा दूरादयं तीव्रो वह्निः सुरभीदं चन्दनमित्यादि। अत्रादिशब्दात् स एव वह्निरनुमीयते स एवानेनाप्यर्थः कथ्यत इत्यादि स्मरणसचिवानुमानागमादिजन्यं च संकलनमुदाहार्यम्। उपलम्भानुपलम्भसंभवं [5]त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनं तर्कः[6], यथाग्नौ सत्येव धूमो भवति तदभावे न भवत्येवेति।

२ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान ५ आगम। पहले देखे गये पदार्थके संस्कारके प्रबोधसे उत्पन्न होनेवाला, अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला, 'वह था' इत्यादि रूपमे 'वह' शब्दसे जिसका निरूपण होता है उस अविसंवादी ज्ञानको स्मरण कहते है। जैसे तीर्थकरकी वह प्रतिमा कितनी मनोज्ञ थी। अनुभव और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले सकलन-ज्ञान पूर्व और उत्तरमे एकत्व सादृश्य आदि रूपसे सम्बन्ध, या उन दोनोके जोडको प्रत्यभिज्ञान कहते है। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकारका है। एकत्व प्रत्यभिज्ञान–यह वही है, जैसे यह वही देवदत्त है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान–यह उसके समान है, जैसे गायके सदृश गवय है। वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान–यह उससे विलक्षण है, जैसे भैस गायसे विलक्षण है। प्रतियोगि प्रत्यभिज्ञान–यह उसकी अपेक्षा दूर समीप छोटा बड़ा इत्यादि रूपसे होता है। जैसे यह इससे लम्बा है, यह छोटा है, कम वजनका है, बहुत दूर है। अग्नि तेज है, चन्दन सुगन्धि है। आदि शब्दसे स्मरण और अनुमानके द्वारा तथा स्मरण और आगमसे होनेवाले सकलनका भी प्रत्यभिज्ञानमे समावेश कर लेना चाहिए। जैसे 'यह उसी अग्निका अनुमान किया जा रहा है जिसे पहले देखा था' 'यह शब्द भी उसी अर्थको कह रहा है'। उपलम्भ और अनुपलम्भसे उत्पन्न होनेवाले त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सभी साध्य साधनोके सम्बन्धको विषय करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। 'साध्यके होनेपर ही साधन होता है' इस साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वयको जाननेवाला ज्ञान उपलम्भ कहलाता है। 'साध्यके अभावमे साधन नही होता' इस साध्य और साधनके अभावरूप व्यतिरेकको जाननेवाला ज्ञान व्यतिरेक कहलाता है। 'यह इसके होनेपर ही होता है, इसके अभावमे तो कभी भी नही होता' यह तर्क प्रमाणका आकार है। जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है अग्निके अभावमे तो कभी भी नही होता। इस तरह साधारण रूपसे संसारके समस्त अग्नि और धूमोके अविनाभाव सम्बन्धको तर्क प्रमाण जान लेता है।

१ "प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम भेदम्।" —परीक्षामु० ३।२। लघी० स्ववृ० श्लो० १०। प्रमाणनय० ३।१। प्रमाणमी० १।२।२। २ –कारवेदन म० २। ३. "संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। स देवदत्तो तथा।" —परीक्षामु० ३।३-४। "तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणमिति। तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथेति।" —प्रमाणनय० ३।३-४। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणमी० १।२।३। ४ "दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि। यथा स एवायं देवदत्तः। गोसदृशो गवयः। गोविलक्षणो महिषः। इदमस्माद् दूरम्। वृक्षोऽयमित्यादि।" —परीक्षामु० ३।५-१०। प्रमाणप० पृ० ६९। प्रमाणनय० ३।५-६। प्रमाणमी० १।२।४। ५ –कालकलित– आ०, क०। ६ "उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।" —परीक्षामु० ३।११-१३। "उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन्सत्येव भवतीत्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्क इति।" —प्रमाणनय० ३।७। प्रमाणसं० का० १२। प्रमाणप० पृ० ७०। प्रमाणमी० १।२।५।

§ ३१८. अनुमानं द्विधा, स्वार्थं परार्थं च। हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणहेतुकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्[1]। निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः[2]। इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्[3]। साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी पक्षः[4]। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्[5]। मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि[6]। दृष्टान्तो द्विधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्[7]। साधनसत्तायां यत्रावश्यं साध्यसत्ताप्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः[8]। साध्याभावेन साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः[9]। हेतोरुपसंहार उपनयः[10]। प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम्[11]। एते पक्षादयः पञ्चावयवा

§ ३१८. साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। अनुमान दो प्रकारका है—१ स्वार्थानुमान २ परार्थानुमान। हेतुका ग्रहण तथा अविनाभावके स्मरणसे होनेवाला साध्यका ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। जिसकी साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति-(अन्यथा साध्यके अभावमें अनुपपत्ति नहीं होना अर्थात् अविनाभाव) सुनिश्चित हो उस एक मात्र अविनाभाव लक्षणवाले पदार्थको हेतु कहते हैं। जिसे सिद्ध करना वादीको इष्ट है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित नहीं होता तथा जो अभी तक प्रतिवादीको असिद्ध है उसे साध्य कहते हैं। साध्यसे युक्त धर्मी पक्ष कहलाता है। धर्मी प्रसिद्ध होता है। पक्ष और हेतुके कथनको सुनकर श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यका ज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। यद्यपि मुख्यरूपसे तो परार्थानुमान ज्ञानात्मक ही होता है फिर भी जिन वचनोंसे वह ज्ञान उत्पन्न होता है उन वचनोंको भी कारणभूत ज्ञानका कारणभूत वचनोंमें उपचार करके परार्थानुमान कहते हैं। अनुमानके प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव

---

१. "तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति।" —प्रमाणनय० ३।१०।
२. "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।" —न्यायाव० श्लो० २२। "साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्।" —प्रमाणसं० पृ० १०२। न्यायवि० श्लो० २६९। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०४। परीक्षामु० ३।१५। "तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥" —प्रमाणप० पृ० ७२। प्रमाणनय० ३।११। ३. "पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः।" —न्यायप्रवे० पृ० १। "साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।" —न्यायाव० श्लो० १४। "स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।" —न्यायबि० पृ० ७९। "साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।" —न्यायवि० श्लो० १७२। परीक्षामु० ३।१५। प्रमाणनय० ३।१२। जैनतर्कभा० पृ० १३। प्रमाणमी० १।२।१२।
४. "साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी। पक्ष इति यावत्। प्रसिद्धो धर्मी।" —परीक्षामु० ३।२५–२७। न्यायप्र० पृ० १। प्रमाणमी० १।२।१५–१६। ५ "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।" —न्यायबि० ३।१। "साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्। परार्थमनुमानं तत्पक्षादिवचनात्मकम्॥" —न्यायाव० श्लो० १३। परीक्षामु० ३।५५। प्रमाणमी० २।१।१–२। "पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति।" —प्रमाणनय० ३।२३। ६. "बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।" —परीक्षामु० ३।४६। "मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानीति।" —प्रमाणनय० ३।४२। प्रमाणमी० २।१।१०। ७ "दृष्टान्तो द्वेधा। अन्वयव्यतिरेकभेदात्।" —परीक्षामु० ३।४७। न्यायप्र० पृ० १। प्रमाणनय० ३।४३। प्रमाणमी० १।२।२१। ८. "साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।" —परीक्षामु० ३।४८। न्यायप्र० पृ० १ न्यायाव० श्लो० १८। प्रमाणनय० ३।४२, ४३। प्रमाणमी० १।२।२२। ९ "साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः।" —परीक्षामु० ३।४९। न्यायप्र० पृ० २। न्यायाव० श्लो० १९। प्रमाणनय० ३।४४, ४५। प्रमाणमी० १।२।२३। १०. "हेतूपसंहार उपनयः।" —परीक्षामु० ३।५०। प्रमाणनय० ३।४६, ४७। प्रमाणमी० २।१।१४। ११ "प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।" —परीक्षामु० ३।५१। प्रमाणनय० ३।४८, ४९। प्रमाणमी० २।१।१५।

कीर्त्यन्त इत्यादि । अत्रोदाहरणम्—'परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः, यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । कृतकश्चायम् तस्मात्परिणामी[2] इत्यादि ।

§ ३१९. नन्वत्र निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं हेतोर्लक्षणमभ्यधायि किं न [3]पक्षधर्मत्वादित्रैरूप्यमिति चेत्, उच्यते; पक्षधर्मत्वादौ त्रैरूप्ये सत्यपि तत्पुत्रत्वादेर्हेतोर्गमकत्वादर्शनात्[4], [5]असत्यपि च त्रैरूप्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात्, तथाहि—जलचन्द्रात् नभश्चन्द्रः, कृत्तिकोदयात् शकटोदयः, पुष्पितै-

---

होते है परन्तु मोटी बुद्धिवाले मन्द शिष्योको समझानेके लिए दृष्टान्त उपनय और निगमन इन तीन अवयवोका भी प्रयोग कर सकते है । दृष्टान्त दो प्रकारका है—१ अन्वय दृष्टान्त, २ व्यतिरेक दृष्टान्त । जहाँ साधनकी सत्तामे नियत रूपसे अवश्य ही साध्यकी सत्ता दिखायी जाय वह अन्वय दृष्टान्त है । जहाँ साध्यके अभावमे नियमसे साधनका अभाव बताया जाय वह व्यतिरेक दृष्टान्त है । दृष्टान्तका कथन करके पक्षमे हेतुकी सत्ताके दुहरानेको उपनय कहते है । पक्षमे हेतुकी सत्ताका उपसहार करके साध्यके सद्भावको दुहराना निगमन कहलाता है । ये पक्ष हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमन 'पचावयव' कहे जाते है । जैसे, शब्द परिवर्तनशील है, परिणामी है, क्योकि वह उच्चारणसे उत्पन्न किया गया है, कृतक है, जो कृतक होते है वे परिणामी होते है जैसे घडा, चूँकि यह शब्द भी कृतक है, अत उसे परिणामी होना ही चाहिए, जो परिणामी नही होते वे कृतक भी नही होते जैसे वन्ध्याका लडका, चूँकि शब्द कृतक है, अत वह परिणामी होगा ही ।

§ ३१९ शंका—आपने एक मात्र अविनाभावको ही हेतुका लक्षण माना है । पर हेतुके लक्षणमे तो 'पक्षमे रहना, सपक्षमे रहना तथा विपक्षमे नही रहना' इन तीन रूपोका भी विशिष्ट स्थान है अत. इन्हे लक्षणमे शामिल क्यो नही किया ?

समाधान—त्रैरूप्य हेतुका अव्यभिचारी लक्षण नही है । 'गर्भमे रहनेवाला मैत्रका लडका सावला है क्योकि वह मैत्रका लडका है जैसे कि उसके पाँच सावले लडके' इस मैत्रतनयत्व हेतुमे त्रैरूप्य पाया जाता है फिर भी यह सच्चा हेतु नही है, क्योकि मैत्रतनयत्वका सावलेपनसे कोई अविनाभाव नही । त्रैरूप्यके न होनेपर भी केवल अविनाभाव मात्रसे अनेको हेतु अपने साध्यका

---

१ "परिणामी शब्द, कृतकत्वात् ।" —परीक्षामु० ३।६५ । प्रमाणनय० ३।७३ । २ –णामी शब्द इत्यादि आ०, क० । ३ "त्रैरूप्य पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।" —न्यायबि० २।५ । ४ "न च सपक्षे सत्त्व पक्षधर्मत्व विपक्षे चासत्त्वमात्र साधनलक्षणम्, स श्याम तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यत्र साधनाभासे तत्सद्भावसिद्धे । सपक्षे हीतरत्र तत्पुत्रे तत्पुत्रत्वस्य साधनस्य श्यामत्वव्याप्तस्य सत्त्व प्रसिद्धम्, विवादाध्यासिते च तत्पुत्रे पक्षीकृते तत्पुत्रत्वस्य सद्भावात् पक्षधर्मत्वम्, विपक्षे चाश्यामे क्वचिदन्यपुत्रे तत्पुत्रत्वस्याभावात् विपक्षेऽसत्त्वमात्र च । न च तावता साध्यसाधनत्वं साधनस्य ।" —प्रमाणप० पृ० ७० । न्यायकुमु० पृ० ४४० । सन्मति० टी० पृ० ५९० । स्या० र० पृ० ५१८ । प्रमेयर० ३।१५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । ५ "तत्सद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि साधनस्य सम्यक्त्वप्रतीते उदेष्यति शकट कृत्तिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाभावेऽपि प्रयोजकत्व व्यवस्थिते ।" —प्रमाणप० पृ० ७१ । "तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता । पक्षधर्मत्वशून्योऽस्तु गमक कृत्तिकोदय ॥ चन्द्रोदयस्तु नैर्मल्य तदागस्त्युदये न च । तत्र हेतु मुनिर्वीन पूर्वं शरदि सम्मत ॥ चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथाविध । छायादिपादपादौ च सोऽपि तत्र कदाचन ॥" —तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०१ ।

कचूततः पुष्पिताः शेषचूताः, शशाङ्कोदयात् समुद्रवृद्धिः, सूर्योदयात् पद्माकरबोधः, वृक्षात्च्छाया चैते [1]पक्षधर्मताविरहेऽपि सर्वजनैरनुमीयन्ते। कालादिकस्तत्र[2] धर्मी समस्त्येवेति चेत्। न; [3]अतिप्रसङ्गात्। एवं हि शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये काककार्ष्ण्यादेरपि गमकत्वप्रसक्तेः, लोकादेर्धर्मिणस्तत्र कल्पयितु शक्यत्वात्। [4]'अनित्यः शब्दः श्रावणात्, मद्भ्रातायम् एवंविधस्वरान्यथानुपपत्तेः, सर्वं नित्यमनित्यं वा सत्त्वादित्यादिषु सपक्षे सत्वस्याभावेऽपि गमकत्वदर्शनाच्चेति।

सफल अनुमान कराते है। जैसे—'आकाशमे चन्द्रमा ऊँग आया है क्योकि जलमे उसका प्रतिविम्व पड रहा है' इस अनुमानमे जलमे पडा हुआ चन्द्रका प्रतिविम्ब रूप हेतु, 'रोहिणी नक्षत्रका एक मुहूर्त्तके वाद उदय होगा क्योकि अभी कृत्तिका नक्षत्रका उदय हो रहा है' इसमे कृतिकोदय हेतु, 'सभी आमोमे वोर आ गये है क्योकि वे आम हैं जेसे कि यह वौरवाला आम' इसमे पुष्पित आम्रत्व हेतु, 'समुद्र मे ज्वारभाटा आ रहा है क्योकि चन्द्रका उदय हो रहा है' इसमे चन्द्रोदय हेतु, 'कमल खिल गये क्योकि सूर्यका उदय हो गया है' इसमे सूर्योदय हेतु, 'छाया पड रही है क्योकि धूप भी है और वृक्ष भी' यहाँ वृक्षत्व हेनु, इत्यादि अनेक हेतुओमे पक्षधर्मत्व नही पाया जाता, ये हेतु अपने पक्षमे नही रहते फिर भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु है। देखो कृत्तिकोदय हेतु शकट रूप पक्षमे नही पाया जाता, इसी तरह चन्द्रोदय हेतु समुद्र रूप पक्षमे नही रहता फिर भी अविनाभावी होनेसे अपने साध्यका यथार्थ अनुमान कराते ही है।

शंका—कृत्तिकोदय हेतुमे आकाश या कालको धर्मी वनाकर पक्षधर्मता घटायी जा सकती है। जैसे काल या आकाश एक मुहूर्तमे रोहिणीके उदयसे युक्त होगा क्योकि अभी उसमे कृत्तिका का उदय हो रहा है।

समाधान—इस तरह व्यापक चीजोको पक्ष वनानेकी परम्परा कायम की जायेगी और इसके वलपर हेनुको सच्चा माना जायगा, तो वडी गडवड हो जायगी। ससारमे कोई भी हेतु पक्षधर्मसे रहित नही हो सकेगा। 'शब्द अनित्य है क्योकि कौआ काला है' यह पक्षधर्मसे रहित हेतु भी लोकको धर्मी मानकर पक्षधर्मवाला वनाया जा सकेगा—लोक अनित्यशब्दवाला है क्योकि उसमे काला कौआ पाया जाता है। अत' काल आकाश आदि तटस्थ व्यापक पदार्थोको धर्मी मानकर किसीमे पक्षधर्मत्व सिद्ध करना केवल कल्पना जाल है। इसमे अतिप्रसंग—अव्यवस्था नामका दूपण होता है। 'शब्द अनित्य है क्योकि वह सुना जाता है' 'यहाँ मेरा भाई है क्योकि इस प्रकारकी आवाज भाईके वोले विना नही आ सकती' 'समस्त पदार्थ नित्य वा अनित्य हैं

---

१ –धर्मतो विरहेऽपि म० २। "नो हि शकटे धर्मिणि उदेष्यताया साध्याया कृत्तिकाया उदयोऽस्ति तस्य कृत्तिकाधर्मत्वात् ततो न पक्षधर्मत्वम्।" —प्रमाणप० पृ० ७१। न्यायकुमु० पृ० ४४०। प्रमेयक० पृ० ३५४। स्या० र० पृ० ५१९। प्रमेयर० ३।१५। प्रमाणमी० पृ० ४०। २. "तथा न चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमान चन्द्रोदयात् (पूर्व पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात्। चन्द्रोदयकाल एव तदनुमान तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसवन्धित्वमेव साध्यसाधनयो, तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सवन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्।" —प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११३। ३ "कालादिधर्मिकल्पनायामतिप्रसङ्ग।" —प्रमाणसं० पृ० १०४। "यदि पुनराकाश कालो वा धर्मी तस्योदेष्यच्छकटवत्त्व साध्य कृत्तिकोदयसाधनं पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणी महोदध्याधाराग्निमत्त्व साध्य महानसधूमवत्त्व साधन पक्षधर्मोऽस्तु तथा च महानसधूमो महोदधौ अग्नि गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतु स्यात्।" —प्रमाणप० पृ० ७१। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २००। "काककार्ष्ण्यादेरपि-प्रासादधावल्ये साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कल्पयितु शक्यत्वात्।" —न्यायकुमु० पृ० ४४०। सन्मति० टी० पृ० ५९१। स्या० र० पृ० ५१९। जैनतर्कभा० पृ० १२। ४ "अनित्य शब्द. श्रावणत्वात्, सर्व क्षणिक सत्त्वात्, इत्यादे सपक्षे सत्त्वाभावेऽपि गमकत्वप्रतीते.।" —न्यायकुमु० ४४०।

§ ३२०. [1]आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः, [2]उपचारादाप्तवचनं च [3]यथाऽस्त्यत्र निधिः, [4]सन्ति मेर्वादयः। [5]अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते, स आप्तो [6]जनक-तीर्थकरादिः। इत्युक्तं परोक्षम्। [7]तेन।

"मुख्यसंव्यवहारेण सवादिविशदं मतम्।
ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि, परोक्षमिति सग्रह ॥१॥ इति।
यद्यथैवाविसवादि प्रमाण तत्तथा मतम्।
विसंवाद्यप्रमाण च तदध्यक्षपरोक्षयो ॥२॥" [सन्मतितर्कटीका, पृ० ५९]

§ ३२१. तत एकस्यैव ज्ञानस्य [8]यत्राविसंवादस्तत्र प्रमाणता, इतरत्र च तदाभासता, यथा [9]तिमिराद्युपप्लुतं ज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात्प्रमाणं तत्संख्यादौ च तदेव विसंवादकत्वाद-

---

क्योकि वे सत् है' इन अनुमानोके श्रावणत्व आदि हेतु सपक्षमे नही रहते फिर भी अविनाभावके बलसे सच्चे है, और अपने साध्योका प्रामाणिक ज्ञान कराते है।

§ ३२०. आप्तके वचनोसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको आगम कहते है। उपचारसे आप्तके वचनोको भी आगम कहते है, क्योकि उन्हीके द्वारा ही तो ज्ञान उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति जिस वस्तुका कथन करता है उसे अविसवादी यथार्थरूपसे जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी प्रकार उसका कथन करता हो उसे आप्त कहते है, जैसे माता पिता या तीर्थंकर आदि। जैसे 'यहाँ धन गडा है' 'मेरु पर्वत है' इत्यादि वाक्योके अर्थको पिता और तीर्थकर अच्छी तरह जानते है अत वे उक्त वाक्योके आप्त है। एक बार आप्तताका निश्चय होनेपर उनके द्वारा कहे गये अन्य वाक्य भी आगम प्रमाण है। इस तरह परोक्ष प्रमाणका निरूपण हुआ। अतः "अविसवादी विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है, वह मुख्य और साव्यवहारिक रूपसे दो प्रकारका है, प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त ज्ञान परोक्ष है। यह सामान्य रूपसे प्रमाणो का सग्रह है। जो ज्ञान वस्तुके जिस अशका जिस रूपसे अविसंवादी ज्ञान कराता है वह उस अशमे उस रूपसे प्रमाण है तथा जिस अशमे विसवादी है उस अशमे अप्रमाण है। यही व्यवस्था प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो प्रकारके ज्ञानोकी है। ये भी अविसवादी अंशमे प्रमाण तथा विसवादी अशमे प्रमाणाभास है।"

§ ३२१. इसलिए एक ही ज्ञान जिस अशमे अविसवादी होगा उस अशमे प्रमाण माना जायेगा तथा जिस अशमे विसवादी होगा उस अशमे अप्रमाण या प्रमाणाभास समझा जायेगा।

---

१ "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम.।" —परीक्षामु० ३।९९। प्रमाणनय० ४।१। २. "उपचारादाप्तवचन चेति।"—प्रमाणनय० ४।२। ३ "समस्त्यत्र प्रदेशे रत्नविधान सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति।"—प्रमाणनय० ४।३। ४. "यथा मेर्वादय सन्ति।" —परीक्षामु० ३।१०१। ५. "अभिधेय वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्त इति।" —प्रमाणनय० ४।४। ६ "स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्चेति। लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिरिति।" —प्रमाणनय० ४।६, ७। ७ तत् म० २। "तेन मुख्यसव्यवहारेण ·।" —सन्मति० टी० पृ० ५१५। ८ "यद्यथैवा-विसवादि प्रमाण तत्तथा मतम्।"—लघी० श्लो० २२। सिद्धिवि०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। अष्टसह० पृ० १६२। सन्मति० टी० पृ० ५२५। ९. "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसवादकं प्रमाणम् यथा तत्संख्यादौ विसवादकत्वादप्रमाण प्रमाणेतरव्यवस्थाया तल्लक्षणत्वात्।" लघी० स्वपृ० श्लो० २२। 'येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायश संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि सख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।' —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०। सन्मति० टी० पृ० ५०५।

प्रमाणम् । प्रमाणेतरव्यवस्थाया:' विसंवादाविसंवादलक्षणत्वादिति स्थितमेतत्—प्रत्यक्षं परोक्षं च द्वे एव प्रमाणे'। अत्र च मतिश्रुतावधिमन.पर्यायकेवलज्ञानानां[2] मध्ये मतिश्रुते परमार्थतः परोक्ष[3] प्रमाणम्, अवधिमन.पर्यायकेवलानि[4] तु प्रत्यक्षं[5] प्रमाणमिति ।

§ ३२२. अथोत्तरार्धं व्याख्यायते। 'अनन्तधर्मकं वस्तु' इत्यादि। इह प्रमाणाधिकारे प्रमाणस्य प्रत्यक्षस्य परोक्षस्य च विषयस्तु[6] ग्राह्यं पुनरनन्तधर्मकं वस्तु, अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता धर्मा:—स्वभावाः सहभाविन. क्रमभाविनश्च स्वपरपर्याया यस्मिंस्तदनन्तधर्ममेव स्वार्थे कप्रत्ययेऽनन्तधर्मकमनेकान्तात्मकमित्यर्थः। अनेकेऽन्ता अंशा धर्मा वात्मास्वरूपं यस्य तदनेकान्तात्मकमिति व्युत्पत्तेः, वस्तु—सचेतनाचेतनं सर्वं द्रव्यम्, अत्र अनन्तधर्मकं वस्त्विति पक्षः, प्रमाणविषय इत्यनेन प्रमेयत्वादिति केवलव्यतिरेकी हेतु' सूचितः, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव[7] साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति, यथा व्योमकुसुममिति केवलो व्यतिरेक', साधर्म्यदृष्टान्ताना पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वया-

---

जिस तरह तिमिर रोगीको एक ही चन्द्रमा दो दिखाई देते है। उसका यह द्विचन्द्र ज्ञान चन्द्र अश मे यथार्थ तथा अविसवादी ज्ञान पैदा करनेके कारण प्रमाण है, और वही द्वित्व अगमे विसवादी होनेसे अप्रमाण है। चन्द्र तो है पर दो चन्द्र नही है। प्रमाणकी व्यवस्था अविसवादसे तथा अप्रमाणकी व्यवस्था विसवादसे होती है। जिस ज्ञानमे अविसवादी अग अधिक होगे वह ज्ञान प्रमाण कहा जायेगा तथा जिसमे विसवादी अग अधिक होगे वह अप्रमाण। जैसे कि कस्तूरीमे गन्ध उत्कट होनेसे वह गन्ध द्रव्य कही जाती है। 'पर्वतपर चन्द्र ऊग रहा है' यह सत्य ज्ञान भी चन्द्राशमे प्रमाण होकर भी 'पर्वत पर' इस अशमे अप्रमाण है। अत. इस विवेचनसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण है। मति श्रुत अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान इन पाँच ज्ञानोमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुत. तो परोक्ष है, तथा अवधि मन'पर्यय ओर केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। हाँ मतिज्ञानको लोक व्यवहारमे प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते है।

§ ३२२ अब प्रमाणके विषयका निरूपण करते है—अनन्तधर्मवाली वस्तु प्रमेय है। इस प्रमाणके प्रकरणमे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही प्रमाणोका विषय जानने लायक अनन्तधर्मवाला पदार्थ होता है। जिसमे अनन्त तीनो कालोमे रहनेवाले अपरिमित सहभावी तथा क्रमभावी धर्मस्वभाव पाये जाते है वह वस्तु अनन्तधर्मक या अनेकान्तात्मक कही जाती है। अनन्तधर्मसे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय होनेसे 'अनन्तधर्मक' शब्द सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक—अनेक अन्त-धर्म या अश ही जिसका आत्मा—स्वरूप हो वह पदार्थ अनेकान्तात्मक कहा जाता है। 'चेतन या अचेतन सभी वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली हैं' यह पक्ष है। 'प्रमाण विषय' शब्दसे 'प्रमेयत्वात्-प्रमेय होनेसे' यह केवलव्यतिरेकी हेतु सूचित होता है। हेतुका अविनाभाव ही एकमात्र असाधारण लक्षण है तथा पक्षमे ही साध्य और साधनके अविनाभावको ग्रहण करनेवाली अन्तर्व्याप्तिके बलसे ही हेतु साध्यका ज्ञान कराता है अत उक्त अनुमानमे दृष्टान्त आदिकी कोई आवश्यकता नही है। 'जो अनन्तधर्मवाला नही है वह प्रमेय भी नही है जैसे कि 'आकाशका फूल' यह व्यतिरेक व्याप्ति हो प्रमेयत्वहेतुको पायी जाती है अत. यह केवलव्यतिरेकी हेतु है। अन्वय-

---

१ –न्या सवादावि म० १, म० २, प० १, प० २, क०। २ "मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्"– त० सू० १।९। ३ "आद्ये परोक्षम्"–त० सू० १।११। ४. –नि प्रत्य–म० २। ५ "प्रत्यक्षमन्यत्"–त० सू० १।१२। ६ ग्राह्य तत्पुन भ० २। ७ "अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृति। व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येव न्यायविदो विदु'॥" —न्यायावता० श्लो० २०।

योगादिति। अस्य च हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषाणां सर्वथानवकाश एव प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनानन्तधर्मात्मकस्यैव सकलस्य प्रतीतेः।

§ ३२३. ननु कथमेकस्मिन् वस्तुन्यनन्ता धर्माः[1] प्रतीयन्त इति चेत्। उच्यते; प्रमाणप्रमेयरूपस्य सकलस्य क्रमाक्रमभाव्यनन्तधर्माक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनो यथैव स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रमातॄणां प्रतीतिर्जायमानास्ति तथैव वयमेते सौवर्णघटदृष्टान्तेन सविस्तरं दर्शयामः। विवक्षितो हि घटः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विद्यते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च[2] न विद्यते, तथाहि—स घटो यदा सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्मैश्चिन्त्यते तदा तस्य सत्त्वादयः स्वपर्याया एव सन्ति, न तु केचन [3]परपर्यायाः, सर्वस्य वस्तुनः, सत्त्वादीन्धर्मानधिकृत्य सजातीयत्वाद्विजातीयस्यैवाभावान्न कुतोऽपि व्यावृत्तिः। द्रव्यतस्तु यदा पौद्गलिको घटो विवक्ष्यते, तदा स पौद्गलिकद्रव्यत्वेनाऽस्ति, धर्माधर्माकाशादिद्रव्यत्वैस्तु नास्ति। अत्र पौद्गलिकत्वं स्वपर्यायः,[4] धर्मादिभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन [5]परपर्याया अनन्ताः, जीवद्रव्याणामनन्तत्वात्, पौद्गलिकोऽपि[6] स घटः पार्थिवत्वेनास्ति न पुनराप्यादित्वैः, अत्र पार्थिवत्वं स्वपर्यायः, आप्यादिद्रव्येभ्यस्तु बहुभ्यो व्यावृत्तिः ततः परपर्याया अनन्ताः। एवमग्रेऽपि स्वपरपर्यायव्यक्तिर्वेदितव्या। पार्थिवोऽपि स धातु-

---

दृष्टान्त तो पक्षमे ही आ गये है, क्योकि संसारके सभी चेतन-अचेतन पदार्थोको पक्ष बनाया गया है। यह प्रमेयत्वहेतु असिद्ध विरुद्ध या व्यभिचारी नही है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण अनन्तधर्मवाली ही वस्तुको विषय करते है। अत. इस प्रमाण प्रसिद्ध अनेकान्तको सिद्ध करनेके लिए प्रमेयत्व हेतु सर्वथा उपयुक्त है।

§ ३२३ शंका—एक वस्तुमे परस्पर विरोधी अनन्तधर्म कैसे हो सकते है? एक वस्तुको अनेकरूप मानना तो स्पष्ट ही विरोधी है।

समाधान—सभी प्रमाण या प्रमेय रूप वस्तुमे स्व-पर द्रव्यकी अपेक्षा क्रम और युगपत् रूपसे अनेक धर्मोकी सत्ता पायी जाती है। वस्तुकी अनेकान्तात्मकता तो सभी प्राणियोको सदा अनुभवमे आती है। हम उसी सर्वप्रसिद्ध अनेकान्तात्मकताको सोनेके घड़ेके उदाहरणसे विस्तारपूर्वक समझाते है। देखो, अमुक घडा अपने द्रव्यमे है अपनी जगह है अपने समयमे है तथा अपनी पर्यायसे है दूसरे पदार्थोके द्रव्यक्षेत्र काल भावकी दृष्टिसे नही है। घडा घडा रूप ही है कपडा या चटाई रूप नही है, वह अपनी जगह है कपडे और चटाई की जगह नही है, वह अपने समयमे है दूसरेके समय या अतीत अनागत समयमे नही है, वह अपनी घट पर्यायमे है कपडा चटाई आदिकी हालतमे नही है। जिस समय उसी घडेका सत्त्व ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व आदि सामान्य धर्मोकी दृष्टिसे विचार करते है तब वे सत्त्व आदि सामान्य धर्म घडेके स्वपर्याय रूप ही हो जाते हैं, उस समय कोई भी पर पर्याय नही रहती, क्योकि सत् ज्ञेय या प्रमेय कहनेसे सभी वस्तुओका ग्रहण हो जाता है। सत्की दृष्टिसे तो घट पट आदि अचेतन तथा मनुष्य पशु आदि चेतनमे कोई भेद नही है। सभी सत्की दृष्टिसे सजातीय है, कोई विजातीय नही है जिससे व्यावृत्ति की जाय। अत. घडेका सत् ज्ञेय प्रमेय आदि सामान्यदृष्टिसे विचार करनेपर सभी सत् रूपसे घड़ेके स्वपर्यायरूप फलित होते है सभी सजातीय है उस समय घडेकी किससे व्यावृत्ति की जाय? व्यावृत्ति तो विजातीयसे होती है। सत् ज्ञेय आदिकी दृष्टिसे तो घड़ेका विजातीय कोई है ही नही। जब पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे घडेका विचार करते है तो घडा पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे सत् है धर्म अधर्म

---

१ –न्तधर्मा आ०, ब०। २ "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान् न चेन्न व्यवतिष्ठते॥" —आप्तमी० श्लो० १५। –भावैर्न वि–म० २, प० १, प० २। ३. –पर्यया म० २। ४ स्वपर्यय म० २। ५ परपर्यया म० २। ६ –पि घट: म० २।

रूपतयास्ति न पुनर्मृत्त्वादिभिः। धातुरूपोऽपि स सौवर्णत्वेनाऽस्ति न पुना राजतत्वादिभिः। सौवर्णोऽपि स घटितसुवर्णात्मकत्वेनास्ति न त्वघटितसुवर्णात्मकत्वा[1]दिना। घटितसुवर्णात्मापि देवदत्तघटितत्वेनास्ति न तु यज्ञदत्तादिघटितत्वादिना[2]। देवदत्तघटितोऽपि पृथुबुध्नाद्याकारेणास्ति न पुनर्मुकुटादित्वेन। पृथुबुध्नोदराद्याकारोऽपि वृत्ताकारेणास्ति नावृत्ताकारेण। वृत्ताकारोऽपि स्वाकारेणास्ति न पुनरन्यघटाद्याकारेण। स्वाकारोऽपि स्वदलिकैरस्ति न तु परदलिकैः। एवमनया दिशा[3] परेणापि स येन येन पर्यायेण[4] विवक्ष्यते स तस्य स्वपर्यायः, तदन्ये तु [5]परपर्यायाः। तदेव द्रव्यतः स्तोकाः [6]स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, [7]अनन्तेभ्यो द्रव्येभ्यो [8]व्यावृत्तत्वात्।

§ ३२४. क्षेत्रतश्च[9] स त्रिलोकीवर्तित्वेन विवक्षितो न कुतोऽपि व्यावर्तते। ततः स्वपर्यायोऽस्ति न परपर्यायः[10]। त्रिलोकीवर्त्यपि स तिर्यग्लोकवर्तित्वेनास्ति न पुनरूर्ध्वाधोलोकवर्तित्वेन।

आकाशादि द्रव्योकी दृष्टिसे असत् है। पौद्गलिक घडेका पौद्गलिकत्व ही स्वपर्याय है तथा जिन धर्म अधर्म आकाश और अनन्त जीव द्रव्योसे घडा व्यावृत्त होता है वे सब अनन्त ही पर पदार्थ परपर्याय है। घडा पौद्गलिक है धर्मादिद्रव्यरूप नही है। घड़ा पुद्गल होकर भी पार्थिव-पृथिवीका बना है जल आग या हवा आदिसे नही बना है। अत पार्थिवत्व घडेकी स्वपर्याय है तथा जल आदि अनन्त परपर्याय हैं जिनसे कि घडा व्यावृत्त रहता है। इस तरह आगे भी जिस रूपसे घडेकी सत्ता हो उसे स्वपर्याय तथा जिससे घडा व्यावृत्त होता हो उन्हे परपर्याय समझ लेना चाहिए। घडा पार्थिव होकर भी धातुका बना हुआ है मिट्टी या पत्थरका नही है अत वह धातुरूपसे सत् है मिट्टी या पत्थर आदि अनन्तरूपसे असत् है। घडा धातुका बना होकर भी सुवर्णका है चाँदी पीतल ताँबे आदिका नही है अत सुवर्ण रूपसे सत् है चाँदी या पीतल सैकडो धातुओकी दृष्टिसे असत् है। सोनेका होकर भी जिस सोनेकी डलीको गढा गया है वह उस गढे गये सुवर्णकी दृष्टिसे सत् है तथा नही गढे गये खदान आदिमे पड़े हुए अघटित सुवर्णकी दृष्टिसे असत् है। गढे गये सुवर्णकी दृष्टिसे होकर भी वह देवदत्तके द्वारा गढे गये उस सुवर्णकी दृष्टिसे सत् है। यज्ञदत्त आदि सुनारोंके द्वारा गढे गये सुवर्णकी दृष्टिसे असत् है। गढे हुए सुवर्णको दृष्टिसे होकर भी वह मुँहपर सकरे तथा बीचमे चौडे आकारसे सत् है तथा मुकुट आदिके आकारोकी दृष्टिसे असत् है। घडा मुँहपर सकरा तथा बीचमे चौडा होकर भी वह गोल है अत गोल आकारसे सत् है तथा अन्य लम्बे आदि आकारोंसे असत् है। गोल होकर भी घडा अपने नियत गोल आकारसे सत् है अन्य गोल घड़ोके गोल आकारसे असत् है। अपने गोल आकारवाला होकर भी घडा अपने उत्पादक परमाणुओसे बने हुए गोल आकारकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य परमाणुओंसे बने हुए गोल आकार से असत् है। इस तरह घडेको जिस-जिस पर्यायसे सत् कहेगे वे पर्याये स्वपर्याय हैं तथा जिन अन्य पदार्थोंसे वह व्यावृत्त होगा वे सभी परपर्याय होगी। इस तरह घडेकी द्रव्यकी दृष्टिसे कुछ पर्याये बतायी तथा स्वपर्याये परपर्यायोसे कम भी होती हैं। परपर्याये तो अनन्त हैं क्योंकि अनन्त ही द्रव्योंसे वह घट व्यावृत्त होता है।

§ ३२४. क्षेत्रकी दृष्टिसे जब घडेको त्रिलोकमे रहनेवाले रूपसे व्यापक क्षेत्र दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह किसीसे व्यावृत्त नही होता अत त्रिलोक रूप व्यापक क्षेत्रकी दृष्टिसे परपर्याय तो बन सकती है परपर्याय नही। यद्यपि अलोकाकाशमे घडा नही रहता अत. अलोका-

---

१. -कादिना म० २। २ -ना घटितोऽपि म० १, प० १, प० २, आ०, क०। ३ -श येन म० २। ४ पर्ययेण म० २। ५. -पर्यया म० २। ६ स्वपर्यया भ० २। ७ अनन्तेभ्यो व्या- ल० १, म० २, प० १, प० २। ८ व्यावृत्तित्वात् आ० क०। ९ -तश्च त्रि-मा० २। १० -योऽस्ति त्रि-म० २।

तिर्यग्लोकवर्त्यपि स जम्बूद्वीपवर्तित्वेनास्ति न पुनरपरद्वीपादिवर्तितया[1]। सोऽपि भरतवर्तित्वेनास्ति न पुनर्विदेहवर्तित्वादिना। भरतेऽपि स पाटलिपुत्रवर्तित्वेनास्ति न पुनरन्यस्थानीयत्वेन। पाटलिपुत्रेऽपि देवदत्तगृहवर्तित्वेनास्ति न पुनरपरथा। गृहेऽपि गृहैकदेशस्थतयास्ति न पुनरन्यदेशादितया। गृहैकदेशेऽपि स येष्वाकाशप्रदेशेष्वस्ति तत्स्थिततयास्ति न पुनरन्यप्रदेशस्थतया। एवं यथासंभवमपरप्रकारेणापि वाच्यम्। तदेवं क्षेत्रतः स्वपर्यायाः स्तोकाः परपर्यायास्त्वसंख्येयाः, लोकस्यासंख्येयप्रदेशत्वेन। अथवा मनुष्यलोकस्थितस्य घटस्य तदपरस्थानस्थितद्रव्येभ्योऽनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ता परपर्यायाः[2]। एवं देवदत्तगृहादिवर्तिनोऽपि। ततः [2]परपर्याया अनन्ताः।

§ ३२५. कालतस्तु नित्यतया स स्वद्रव्येणावर्तत वर्तते वर्तिष्यते[3] च ततो न कुतोऽपि व्यावर्त्तते। स चैदंयुगीनत्वेन विवक्ष्यमाणस्तद्रूपत्वेनास्ति न त्वतीतानागतादियुगवर्तित्वेन। अस्मिन् युगेऽपि स [4]ऐषमस्त्यवर्षतयास्ति न पुनरतीतादिवर्षत्वादिना। ऐषमस्त्योऽपि स वासन्तिक-

काशको परपर्याय कह सकते है, परन्तु चाहनेपर भी अलोकमे घडा कभी भी नही रह सकता वह सर्वदा लोकमे ही रहता है अत. उस रूपसे परपर्यायकी विवक्षा नही की है। यदि विवक्षा की जाय तो फिर 'घडा आकाशमे रहता है' इस रूपमे जब आकाश स्वपर्याय होगी तब परपर्याय कुछ भी नही होगी। त्रिलोकवर्ती भी घडा मध्यलोकमे रहता है स्वर्ग या नरकमें नही अत. मध्यलोककी दृष्टिसे सत् है तथा ऊर्ध्व और अधोलोककी दृष्टिसे असत्। मध्यलोकवर्ती होकर भी घडा जम्बूद्वीपमे रहता है अत जम्बूद्वीपकी दृष्टिसे सत् तथा अन्य द्वीपोकी दृष्टिसे असत् है। जम्बूद्वीपमे भी वह भरत क्षेत्रमे रहता है विदेह आदि क्षेत्रोमे नही अत. भरतक्षेत्रकी दृष्टिसे सत् है तथा विदेह आदिकी दृष्टिसे असत्। भरतक्षेत्रमे भी वह पटनामे रहता है अत. पटनेकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य शहरोकी दृष्टिसे असत्। पटनेमे भी वह देवदत्तके घरमे रखा है, अतः देवदत्तके घरकी दृष्टिसे सत् तथा अन्य घरोकी दृष्टिसे असत् है। देवदत्तके घरमे भी वह घरके एक कोनेमे रखा है, अत उस कोनेकी दृष्टिसे वह सत् है तथा मकानके अन्य भागोकी दृष्टिसे असत्। कोनेमे भी वह जिन आकाश प्रदेशोमे रखा है उन आकाश प्रदेशोकी दृष्टिसे सत् है तथा अन्य आकाशोकी दृष्टिसे असत्। इस तरह यथासम्भव और भी प्रकारोसे सदसत्त्वका विचार करना चाहिए। जिनकी अपेक्षा अस्तित्वका विचार किया जाता है वे स्वपर्याये थोडी हैं तथा जिनकी अपेक्षा नास्तित्वका विचार होता है वे परपर्याये तो असख्य है, क्योकि लोकके असख्य प्रदेश होते है। घडा जिस समय कुछ अमुक प्रदेशोमे रहेगा तब स्वपर्याय तो एक होगी तथा परपर्याये तो लोकके वाकी असख्य प्रदेश ही होंगे। अथवा मनुष्यलोकवर्ती घड़ा अन्य अनन्त क्षेत्रोसे व्यावृत्त होगा अत समस्त आकाशके अनन्त ही प्रदेश परपर्याय हो सकते है। इस तरह क्षेत्रकी अपेक्षा भी परपर्याये अनन्त हो सकती है। देवदत्तके घरमे रहनेवाला भी घड़ा घरके बाहरके अनन्त आकाशप्रदेशोमे नही रहता अत. परपर्याये अनन्त हो सकती है।

§ ३२५ कालकी दृष्टिसे जब घडेको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य मानते है तब वह वर्तमानमे रहता है अतीतमे था तथा आगे भी होगा इस तरह त्रिकालवर्ती होनेके कारण त्रिकाल तो स्वपर्याय है तथा कोई ऐसा काल है ही नही जिसमे घडा न रहता हो अत. त्रिकालको स्वपर्याय माननेपर कोई भी परपर्याय नही है। त्रिकालवर्ती भी घडा इस युगमे रहता है अत वह इस युगकी दृष्टिसे सत् है तथा अतीत या अनागत युगकी दृष्टिसे असत्। इस युगमे भी वह इस वर्षमे सत् है तथा

१ –तया जम्बूद्वीपवर्त्यपि भरत– म० २। २ परपर्याया– म० २। ३ –ष्यति ततो म० १, म० २, प० १, प० २। ४ –मस्तन्या– म० १ म० २ प० १, प० २।

तयास्ति न पुनरन्यर्तुनिष्पन्नतया। तत्रापि नवत्वेन विद्यते न पुन. पुराणत्वेन। तत्राप्यद्यतनत्वे-नास्ति न पुनरनद्यतनत्वेन। तत्रापि वर्तमानक्षणतयास्ति न पुनरन्यक्षणतया। एवं कालतोऽ-संख्येयाः स्वपर्याया', एकस्य द्रव्यस्यासंख्यकालस्थितिकत्वात्। अनन्तकालवर्तित्वविवक्षायां तु तेऽनन्ता अपि वाच्याः। परपर्यायास्तु विवक्षितकालादन्यकालवर्तिद्रव्येभ्यो अनन्तेभ्यो व्यावृत्तत्वेना-नन्ता एव।

§ ३२६. भावत. पुनः स पीतवर्णेनाऽस्ति न पुनर्नीलादिवर्णैः। पीतोऽपि सोऽपरपीतद्रव्या-पेक्षयैकगुणपीतः, स एव च तदपरापेक्षया द्विगुणपीतः, स एव च तदन्यापेक्षया त्रिगुणपीतः, एवं तावद्वक्तव्यं यावत्कस्यापि पीतद्रव्यस्यापेक्षयानन्तगुणपीतः। तथा स एवापरापेक्षयैकगुणहीन, तदन्यापेक्षया द्विगुणहीन इत्यादि तावद्वक्तव्यं यावत्कस्याप्यपेक्षयानन्तगुणहीनपीतत्वेऽपि स भवति। तदेवं पीतत्वेनानन्ता. स्वपर्याया लब्धाः। पीतवर्णवत्तरतमयोगेनानन्तभेदेभ्यो नीलादिवर्णेभ्यो व्यावृत्तिरूपाः परपर्याया अप्यनन्ताः। एवं रसतोऽपि स्वमधुरादिरसापेक्षया पीतत्ववत्स्वपर्याया अनन्ता ज्ञातव्या, [1]नीलादित्ववत् क्षारादिपररसापेक्षया परपर्याया अप्यनन्ता [2]अवसातव्या। एवं सुरभिगन्धेनापि स्वपरपर्याया अनन्ता अवसातव्याः। एवं गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शा-ष्टकापेक्षयापि तरतमयोगेन प्रत्येकमनन्ताः स्वपरपर्याया अवगन्तव्याः, यत एकस्मिन्नप्यनन्तप्रदेशके

अतीत आदि वर्षोकी दृष्टिसे असत्। इस वर्षमे भी वह वसन्त ऋतुमे उत्पन्न होनेके कारण सत् है तथा अन्य ऋतुओकी दृष्टिसे असत्। वसन्त ऋतुमे भी वह नया है अत. नूतन अवस्थाकी दृष्टिसे सत् है तथा जीर्ण या पुरानी अवस्थाकी दृष्टिसे असत्। नया होकर भी वह आज ही बनाया गया है अत आज को दृष्टि से सत् है कलकी दृष्टिसे असत्। आज भी वह अभी-अभी बनाया गया है अत वर्तमान क्षणरूपसे सत् है तथा अन्य क्षणोकी दृष्टिसे असत्। इस तरह कालकी दृष्टिसे असंख्य स्वपर्यायें होती हैं, क्योकि एक द्रव्य असंख्य कालोमे अपनी स्थिति रखता है। अनन्तकालकी विवक्षासे तो द्रव्य अनन्तकाल तक ठहरनेवाला है अत. अनन्त ही स्वपर्यायें हैं। विवक्षित कालसे भिन्न अन्य अनन्तकालोसे तथा उनमें रहनेवाले अनन्त ही द्रव्योसे घडा व्यावृत्त रहता है अत परपर्यायें भी अनन्त ही हैं।

§ ३२६. भावकी दृष्टिसे घडा पीला है अतः पीले रगकी अपेक्षा सत् है तथा अन्य नीले लाल आदि रगोसे असत्। घड़ेका वह पीलापन किसी पीले द्रव्यसे दुगुना पीला है किसीसे तिगुना किसीसे चौगुना इस तरह किसीसे अत्यन्त कम पीले द्रव्यसे अनन्तगुना पीला भी होगा। इसी तरह घडेका वह पीलापन किसीसे एक गुना कम पीला है किसीसे दोगुना कम पीला है किसीसे तीनगुना कम। इस तरह किसी परिपूर्ण पीले द्रव्यसे अनन्तगुणा कम पीला भी तो है। तात्पर्य यह कि तरतम रूपसे पीलेपनके ही अनन्त भेद हो सकते हैं, वे सब उसकी स्वपर्यायें हैं। तथा पीलेपन-की ही तरह नीले और लाल आदि रंग भी तरतम रूपसे अनन्त प्रकारके होते हैं उन सब अनन्तनीलादि रंगोसे इस घड़ेका पीलापन पृथक् है अत परपर्यायें भी अनन्त ही हैं। इसी तरह उस घड़ेका अपना जो भी मीठा आदि रस होगा उसके भी रूपकी ही तरह तरतम रूपसे अनन्त भेद होगे, ये सभी उसकी स्वपर्यायें हैं तथा नील आदि पर रूपोकी तरह खारे आदि पर रस भी तरतम रूपसे अनन्त है, उन सबसे इसका रस व्यावृत्त होता है अत. परपर्यायें भी अनन्त हैं। इसी तरह उसकी सुगन्धके तरतम रूपसे अनन्त ही भेद होगे जो कि उसकी स्वपर्यायें कहे जायेगे तथा जो गन्ध उसमे नही पायी जाती उसके अनन्त भेद परपर्याय होगे। इसी तरह भारी हलका कोमल खुरदरा ठडा गरम चिकना और रूखा इन आठ स्पर्शोंके भी प्रत्येकके तरतम रूपसे अनन्त भेद

---

१ नीलादिवत् म० २। २. अवेतव्याः म० १, म० २। अचेतव्या' क०।

स्कन्धेऽष्टावपि स्पर्शाः प्राप्यन्त इति सिद्धान्ते [1]प्रोचानम् । तेनात्रापि कलशेऽष्टानामभिधानम् ।

§ ३२७. अथवा सुवर्णद्रव्येऽप्यनन्तकालेन[2] पञ्चापि वर्णा द्वावपि गन्धौ षडपि रसा अष्टावपि स्पर्शाश्च सर्वेऽपि तरतमयोगेनानन्तशो भवन्ति । तत्तदपरापरवर्णादिभ्यो व्यावृत्तिश्च भवति । [3]तदपेक्षयापि स्वपरधर्मा अनन्ता अवबोधव्याः । शब्दतश्च घटस्य नानादेशापेक्षया घटाद्यनेकशब्दवाच्यत्वेनानेके स्वधर्मा घटादितत्तच्छब्दानभिधेयेभ्योऽपरद्रव्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माः । अथवा तस्य घटस्य ये ये स्वपरधर्मा उक्ता वक्ष्यन्ते च तेषां सर्वेषां वाचका [4]यावन्तो ध्वनयस्तावन्तो घटस्य स्वधर्माः, तदन्यवाचकाश्च परधर्माः । संख्यातश्च घटस्य तत्तदपरापरद्रव्यापेक्षया प्रथमत्वं द्वितीयत्वं तृतीयत्वं यावदनन्ततमत्वं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः, तत्तत्संख्यानभिधेयेभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माः । अथवा परमाणुसंख्या पलादिसंख्या वा यावती तत्र घटे वर्तते सा स्वधर्मः, तत्संख्यारहितेभ्यो व्यावृतत्वेनानन्ताः परपर्यायाः । अनन्तकालेन तस्य घटस्य सर्वद्रव्यैः समं संयोगवियोगभावेनानन्ताः स्वधर्माः, संयोगवियोगाविषयीकृतेभ्यो व्यावृत्तस्यानन्ताः परधर्माश्च ।

होते है। इनमे जो स्पर्श जिस रूपसे उसमे पाये जाते है उनकी अपेक्षा अनन्त स्वपर्याये तथा जो स्पर्श नही पाये जाते उनको अपेक्षा अनन्त ही परपर्याये समझ लेनी चाहिए। सिद्धान्तमे स्पष्ट कहा है कि—एक अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धमे भारी आदि आठो ही स्पर्श पाये जाते है, अत. इस घडेमे भी आठो ही स्पर्शका कथन किया गया है।

§ ३२७ अथवा उसी सुवर्ण द्रव्यमे, जिसका कि घडा बनाया गया है, अनादिकालसे अभी तक पाँचो ही रग, दोनो गन्ध, छहो रस तथा आठो ही स्पर्श तरतम रूपसे अनन्त ही प्रकारके हुए है। तो उसमे जिस जातिका रूप रस गन्ध तथा स्पर्श होगा उसकी अपेक्षा अनन्त स्वधर्म तथा जो रूपादि उसमे नही रहते होगे उनकी अपेक्षा अनन्त ही परधर्म समझ लेने चाहिए। घड़ेको भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोमे घडा, झज्झर, हँडिया, कलश आदि अनेक शब्दोसे कहते हैं इसी तरह विदेशोमे उसे पाट (Pot) आदि अनेक शब्दोसे पुकारते है इस तरह अनेको शब्दोके द्वारा वाच्य होनेसे अनेक ही स्वधर्म होगे तथा जिन पटादि अनन्त पदार्थोमे घटके वाचक शब्दोका प्रयोग नही होता उन सबसे घडा व्यावृत्त होता है अतः अनन्त ही परधर्म होते हैं। अथवा, घडेके जितने स्वधर्म कहे हैं तथा कहे जायेगे उनके वाचक जितने भी शब्द हैं उतने ही घडेके स्वधर्म है तथा अन्य पदार्थोके वाचक जितने शब्द है उतने ही परधर्म हैं। सख्याकी अपेक्षा भी घडेमे स्वधर्म और परधर्मका इस प्रकार विचार करना चाहिए। भिन्न-भिन्न द्रव्योकी अपेक्षा घडेमे पहला दूसरा तीसरा चौथा अनन्तसंख्या तकके व्यवहार हो सकते हैं ये सभी स्वधर्म है तथा इन सख्याओ के अविषय भूत पदार्थोसे व्यावृत्त होनेके कारण वे सब परधर्म हैं। अथवा, घडेके परमाणुओकी जितनी सख्या तथा उसके वजनके रत्तियोकी जितनी संख्या है वह सख्या स्वधर्म है और वह संख्या जिन अनन्त पदार्थोमे नही पायी जाती वे सब परधर्म हैं। अनन्तकालसे उस घड़ेका सभी द्रव्योके साथ सयोग तथा विभाग होता रहा है अत वे संयोग और विभाग स्वधर्म हैं तथा जिनमे वे सयोग और विभाग नही पाये जाते उन अनन्त पदार्थोसे घडेकी व्यावृत्ति होती है अत वे परधर्म हैं।

---

१ "अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु सम्भवन्ति, स्कन्धेष्वष्टावपि-यथासंभवमभिधानीया ।" —तत्त्वार्थाधि० भा० टी० ५।२३। २. –काले पञ्चापि म० २। ३ तत्तदपेक्षयापि म० २। ४ –वन्तो ध्वन्य म० २।

§ ३२८. परिमाणतश्च तत्तद्द्रव्यापेक्षया तस्याणुत्वं महत्त्वं ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं चानन्तभेदं स्यादित्यनन्ताः स्वधर्माः। ये सर्वद्रव्येभ्यो व्यावृत्त्या तस्य[1] परपर्यायाः संभवन्ति ते सर्वे पृथक्त्वतो ज्ञातव्याः। दिग्देशतः परत्वापरत्वाभ्यां तस्य घटस्यान्यान्यानन्तद्रव्यापेक्षयासन्नतासन्नतरतासन्नतमता दूरता दूरतरता दूरतमता एकद्व्याद्यसंख्यपर्यन्तयोजनैरासन्नता दूरता च भवतीति [2]स्वपर्याया अनन्ताः। अथवा परवस्त्वपेक्षया स पूर्वस्यां तदन्यापेक्षया[3] पश्चिमायां स इत्येवं दिशो विदिशश्चाश्रित्य दूरासन्नादितयाऽसंख्याः [4]स्वपर्यायाः।

§ ३२९. कालतश्च परत्वापरत्वाभ्यां सर्वद्रव्येभ्यः क्षणलवघटीदिनमासवर्षयुगादिभिर्घटस्य पूर्वत्वेन परत्वेन चानन्तभेदेनानन्ताः स्वधर्माः।

§ ३३०. ज्ञानतोऽपि घटस्य ग्राहकैः सर्वजीवानामनन्तैर्मत्यादिज्ञानैर्विभङ्गाद्यज्ञानैश्च स्पष्टास्पष्टस्वभावभेदेन ग्रहणाद्ग्राह्यस्याप्यवश्यं स्वभावभेदः संभवी, अन्यथा तद्ग्राहकाणामपि स्वभावभेदो न स्यात्तया च तेषामैक्यं भवेत्। ग्राह्यस्य स्वभावभेदे च ये स्वभावाः ते स्वधर्माः। सर्वजीवानामपेक्षयाल्पबहुबहुतराद्यनन्तभेदभिन्नसुखदुःखहानोपादानोपेक्षा गोचरेच्छापुण्यापुण्य-

---

§ ३२८. परिमाण-मापकी अपेक्षा भी घड़ेमें स्वधर्म और परधर्म होते हैं। घड़ा किन्हीं बड़े मकान आदि द्रव्योंकी अपेक्षा छोटा, छोटे लोटा आदि की अपेक्षा बड़ा, लम्बा ठिगना आदि अनन्त प्रकारके मापवाला कहा जा सकता है ये सब स्वधर्म हैं तथा अन्य परधर्म। घड़ा जिन समस्त पर पदार्थोंसे पृथक् है वे सब परपर्याय हैं तथा जिनसे पृथक् नहीं है वे स्वपर्याय हैं। यह पृथक्त्वकी अपेक्षा स्व-परधर्मोंका निरूपण है उसी घड़ेमें अन्य अनन्त द्रव्योंकी अपेक्षा पास, बहुत पास, अत्यन्त पास, दूर, बहुत दूर, अत्यन्त दूर, एक योजन दो योजन आदि अनन्त योजन दूर, तथा एक दो या चार योजन पास इत्यादि दिशा और देशकी अपेक्षा अनन्त ही व्यवहार होते हैं ये सभी स्वधर्म हैं। अथवा, वही घड़ा किसी वस्तुकी अपेक्षा पूर्वमें किसीकी अपेक्षा पश्चिममें किसीकी अपेक्षा उत्तरमें तो किसीकी अपेक्षा दक्षिणमें रहता है। तात्पर्य यह कि दिशाओं और विदिशाओंकी अपेक्षा परत्व और अपरत्वका विचार करनेसे असंख्य स्वपर्यायें हो सकती हैं।

§ ३२९ कालकी अपेक्षा वही घड़ा किसीसे एक क्षण पुराना है तो किसीसे दो क्षण, किसीसे एक घड़ी दो घड़ी एक दिन माह वर्ष युगादि पुराना है, तो वही घड़ा किसीसे एक दो चार क्षण नया किसीसे एक दिन माह वर्ष या युग भर नया होता है। तात्पर्य यह कि घड़ा अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा एक क्षणसे लेकर अनन्त वर्ष तकका नया या पुराना होता है अतः ये सब उसके स्वधर्म हैं।

§ ३३०. ज्ञानकी दृष्टिसे वही घड़ा संसारके अनन्त जीवोंके अनन्त ही प्रकारके मतिज्ञान श्रुतज्ञान विभंगादि अवधिज्ञान आदिका स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे विषय होता है। ग्राहक ज्ञानमें भेद होनेसे उसकी अपेक्षा ग्राह्य-विषयभूत पदार्थमें भी भेद होता ही है। यदि पदार्थ एक रूप ही रहे तो उसको जाननेवाले ज्ञानोंमें भी स्वभाव भेद नहीं होगा, वे सर्वथा एकरूप ही हो जायेंगे। इस तरह घड़ेको जाननेवाले अनन्त ज्ञानोंकी अपेक्षा घड़ेमें भी अनन्त ही स्वभाव भेद हैं और ये सब उसके स्वधर्म हैं। एक ही घड़ा किसीको थोड़ा सुख किसीको अधिक तथा किसीको बहुत अधिक सुख उत्पन्न करता है। इस तरह अनन्त जीवोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारके ही सुख-दुःखको उत्पन्न करनेके कारण, अनन्त जीवोंकी हान उपादानता उपेक्षा बुद्धिका विषय होनेसे, अनन्त जीवोंकी अनन्त इच्छाओंका अवलम्बन होनेसे, अनन्त ही प्रकारके पुण्य और पापके बन्धका कारण होनेसे, अनन्त ही जीवोंपर अपना भिन्न-भिन्न असर डालनेके कारण, उसे देखकर किसीको

---

१. तस्यापरपर्या- म० २। २. स्वपर्यया म० २। ३. तदनपेक्षया म० २। ४. स्वपर्यया म० २।

कर्मबन्धचित्तादिसंस्कारक्रोधाभिमानमायालोभरागद्वेष[1]मोहाद्युपाधिद्रव्यत्वलुठनपतनादिवेगादीनां कारणत्वेन[2] सुखादीनामकारणत्वेन वा घटस्यानन्तधर्मत्वम् ।

§ ३३१ स्नेहगुरुत्वे तु पुरापि स्पर्शभेदत्वेन प्रोचाते ।

§ ३३२. कर्मतश्चोत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणभ्रमणस्यन्द[3]नरेचनपूरणचलनकम्पनान्यस्थानप्रापणजलाहरणजलादिधारणादिक्रियाणां[4] तत्तत्कालभेदेन तरतमयोगेन [5]वानन्तानां हेतुत्वेन घटस्यानन्ताः क्रियारूपाः स्वधर्मा, तासां क्रियाणामहेतुभ्योऽन्येभ्यो व्यावृत्तत्वेनानन्ताः परधर्माश्च ।

§ ३३३. सामान्यतः पुनः प्रागुक्तनीत्यातीतादिकालेषु ये ये विश्ववस्तूनामनन्ताः स्वपरपर्याया भवन्ति तेष्वेकद्वित्र्याद्यनन्तपर्यन्तधर्मैः सदृशस्य [6]घटस्यानन्तभेदस्यानन्तभेदसादृश्यभावेनानन्ताः स्वधर्माः ।

§ ३३४. विशेषतश्च घटोऽनन्तद्रव्येष्वपरापरापेक्षयैकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा यावदनन्तैर्वा धर्मैर्विलक्षण इत्यनन्तप्रकारवैलक्षण्यहेतुका अनन्ताः स्वधर्माः, अनन्तद्रव्यापेक्षया च घटस्य स्थूलता-

---

क्रोध किसीको मान किसीको माया तथा किसीको लोभ होता है, इस तरह भिन्न-भिन्न व्यक्तियोको क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष मोह आदि विकारोभावोकी उत्पत्तिमे निमित्त होनेसे लुढकना गिरना वेग आदिमे कारण होनेसे, अथवा किसीके सुख आदिमे निमित्त न होनेके कारण भी अनन्त स्वभाववाला होता है ।

§ ३३१. चिकनापन और भारीपन तो स्पर्शके ही भेद है अत स्पर्शका वर्णन करते समय इनकी अपेक्षा स्व-परपर्यायोका निरूपण कर दिया गया है।

§ ३३२ क्रियाकी दृष्टिसे वही सोनेका घडा ऊपर फेका जा सकता है नीचे पटका जा सकता है मोड दिया जा सकता है फैलाया जा सकता है तथा इधर-उधर अनेक तरहसे चलाया जा सकता है, वह चू सकता है, वह खाली भी रहता है, भरा भी जाता है, यहाँसे वहाँ पहुँचाया जाता है, हिलता है, पानी भरनेके काम आता है, उसके द्वारा कुएँसे पानी भी खीचा जाता है इस तरह असख्य क्रियाओका कारण होनेसे अनेक स्वभाववाला है । तथा इन्ही क्रियाओके तीनो काल और जोरसे धीरेसे मध्यमरूपसे इत्यादि तरतमभावोसे अनन्त भेद हो सकते है । वह घडा इन अनन्त क्रियाओका कारण होता है अतः वह घडा अनन्त क्रियावाला होनेसे अनन्तधर्मवाला है । ये सब उसके स्वधर्म है तथा इन क्रियाओमे जो पदार्थ कारण नही होते उन सबसे व्यावृत्त होनेके कारण उसमे अनन्त ही परधर्म है।

§ ३३३. पहले जितने प्रकारके स्वधर्म या परधर्म कहे गये हैं उन सबमे प्रकृत घडा अन्य घडोसे एक दो तीन आदि अनन्तधर्मोसे समानता रखता है, घडोसे ही क्या, अन्य पदार्थोसे भी घडेकी एक दो आदि सैकडो धर्मोसे समानता पायी जाती है । अतः सादृश्य रूपी सामान्यकी दृष्टिसे घडेके अनन्त ही सदृशपरिणमन रूप स्वभाव हो सकते हैं । इस प्रकार सामान्यकी अपेक्षा घडेमे स्वपर्याय तथा उससे भिन्न धर्मोकी अपेक्षा परपर्याये विचारनी चाहिए ।

§ ३३४ इसी तरह यह घडा अन्य अनन्त ही द्रव्योसे एक दो तीन आदि अनन्त ही धर्मोकी अपेक्षा विलक्षण है उनसे व्यावृत्त होता है, अत उनमे अन्य पदार्थोसे विलक्षणता करानेवाले अनन्त ही धर्म विद्यमान हैं और इसीलिए वह विशेष विलक्षणताकी दृष्टिसे भी अनन्त स्वभाववाला है । अनन्त ही द्रव्योकी अपेक्षा इस घडेमे किसीकी अपेक्षा मोटापन तो किसीकी

---

१ –रागद्वेषा– म० १; म० २, प० १, प० २ क० । २ –न तेषामकारणत्वेन वा म० १, म० २, प० १, प० २ । ३ –स्पन्दनदवनरेचन– म० २ । –स्पन्दनपूरण– प० १, प० २ । ४ –णादिक्रि– म० २ । ५. वान– म० २ । ६ –नानेकभेद– म०, आ०, क० ।

कृशतासमताविषमतासूक्ष्मतावादरतातीव्रताचाकचिदय[1] - सौम्यतापृथुतासंकीर्णतानीचतोच्चता-विशालमुखतादयः प्रत्येकमनन्तविधाः स्युः। ततः स्थूलतादिद्वारेणाप्यनन्ता धर्माः। [2]संवन्धतस्त्व-नन्तकालेनानन्तैः परैर्वस्तुभिः समं प्रस्तुतघटस्याधाराधेयभावो[3]ऽनन्तविधो भवति, ततस्तदपेक्षया-प्यनन्ताः स्वधर्माः। एवं स्वस्वामित्वजन्यजनकत्वनिमित्तनैमित्तकत्वषोढाकारकत्वप्रकाश्यप्रकाश-कत्वभोज्यभोजकत्ववाह्यवाहकत्वाश्रयाश्रयिभाववध्यवधकत्वविरोध्यविरोधकत्वज्ञेयज्ञा[4]पकत्वादि - संख्यातीतसंवन्धैरपि प्रत्येकमनन्ता धर्मा ज्ञातव्याः।

§ ३३५. तथा ये येऽत्र घटस्य स्वपरपर्याया[5] [6]अनन्तानन्ता ऊचिरे, तेषामुत्पादा विनाशाः स्थितयश्च पुनः पुनर्भवनेनानन्तकालेनानन्ता अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च, तदपेक्षयाप्यनन्ता धर्माः।

§ ३३६. एवं पीतवर्णादारभ्य भावतोऽनन्ता धर्मा.।

§ ३३७. तथा द्रव्यक्षेत्रादिप्रकारैर्ये ये स्वधर्माः परधर्माश्चाचचक्षिरे तैरुभयैरपि युगपदादिष्टो घटोऽवक्तव्यः स्यात्, यतः कोऽपि स शब्दो न विद्यते येन घटस्य स्वधर्मा परधर्माश्चोच्यमाना द्वयेऽपि युगपदुक्ता भवन्ति, शब्देनाभिधीयमानानां क्रमेणैव प्रतीतेः।

अपेक्षा पतलापन किसीकी अपेक्षा समानता, असमानता, सूक्ष्मता, स्थूलता, तीव्रता, चकचकाहट, सुन्दरता, चौडापन, सकरापन, नीचता, उच्चता, विशालमुखपना आदि अनन्त ही प्रकारके धर्म पाये जाते है। इस तरह इन स्थूलता आदि धर्मोकी अपेक्षा भी घडेमे अनन्त स्वधर्म है। सम्वन्धकी दृष्टिसे अनन्त कालमे अनन्त परवस्तुओके साथ प्रस्तुत घटका आधाराधेयभाव अनन्त प्रकारका होता है अतएव उस दृष्टिसे भी घटके अनन्त स्वधर्म होते है। इसी तरह इस सोनेके घडेका अपने स्वामीके साथ स्वस्वामिभाव सम्वन्ध, पैदा करनेवाले सुनारके साथ जन्यजनक भाव, स्वामीमे धनी आदि व्यवहार करानेमे या जल आदि खीचनेमे निमित्त नैमित्तिक भाव, किसी जल लाने आदि पदार्थोसे कर्ता, कर्म, करण आदि छहो कारक रूप सम्वन्ध, दीपक आदिसे प्रकाश्य प्रकाशक-भाव, जिसके उपभोगमे आता है उस भोक्तासे भोज्य-भोजकभाव, जिस जल दूध आदि पदार्थोको ढोता है उससे वाह्यवाहकभाव अथवा जिन खच्चरो आदिसे या पानी भरनेवालोंके सिरसे ढोया जाता है उनसे वाह्यवाहक भाव, जिस स्थानपर रखा जाता है या उसमे जो चीज रखी जाती है उससे आधार-आधेयभाव, जो उस घडेको फोडता है तथा जिसके सिरमे लगनेसे उसका कपार फूट जाता है उनसे वध्यघातकभाव, उस घडेके कारण जिनसे विरोध होता है या उसमे रखनेसे जो वस्तु खराव हो जाती है उससे विरोध्यविरोधकभाव, तथा ज्ञानके साथ ज्ञेयज्ञापक भाव आदि असख्य सम्वन्ध है। इन सम्वन्धोकी अपेक्षा एक हो घडेमे अनन्त स्वभाव हो जाते है।

§ ३३५ इसी तरह घडेकी जिन-जिन स्व-परपर्यायोका कथन किया है उनके उत्पाद विनाश तथा स्थिति रूप धर्म अनादिकालसे वरावर प्रतिक्षण होते आ रहे है पहले भी होते थे तथा आगे भी होते जायेंगे। इन त्रैकालिक उत्पाद विनाश तथा स्थिति रूप त्रिपदीसे भी घडेमे अनन्त धर्म सिद्ध होते है।

§ ३३६ इसी तरह पीलेपन आदि पर्यायोसे भी अनन्त धर्म होते है। इस प्रकार एक ही घडेमे स्वधर्मोकी अपेक्षा अस्तित्व तथा परधर्मोकी अपेक्षा नास्तित्व समझना चाहिए।

§ ३३७ जव ऊपर कहे गये स्व द्रव्य क्षेत्र आदि तथा परद्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा घटको एक ही शब्दसे एक ही साथ कहनेकी इच्छा होती है तो घडा अवक्तव्य हो जाता है, क्योकि संसारमे ऐसा कोई शब्द हो नही है जिससे घड़ेके स्व-परधर्मोका युगपत् प्रधान भावसे कथन किया

---

१. -क्य सौ-आ०, क०। २. संवन्धस्त्वनन्तानन्तकालतोऽनन्तैः म० २। ३ -भावेऽनन्त-म० २। ४ -ज्ञायक-म० १, म० २, प० १, प० २। ५. -पर्यया म० २। ६ नानन्तानन्तका-म० २।

§ ३३८. संकेतितोऽपि शब्दः क्रमेणैव स्वपरधर्मान् प्रत्याययति, न तु युगपत्, 'शतृशानचौ सत्' इति शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत् ।

§ ३३९. ततः प्रतिद्रव्यक्षेत्रादिप्रकारं घटस्यावक्तव्यतापि स्वधर्मः स्यात्, तस्य चानन्तेभ्यो वक्तव्येभ्यो धर्मेभ्योऽन्यद्रव्येभ्यश्च व्यावृत्तत्वेनानन्ता अवक्तव्याः परधर्मा अपि भवन्ति ।

§ ३४०. तदेवमनन्तधर्मात्मकत्वं यथा घटे दर्शितं, तथा सर्वस्मिन्नप्यात्मादिके वस्तुनि भावनीयम् ।

§ ३४१. तत्राप्यात्मनि तावच्चैतन्यं कर्तृ[2]त्वं भोक्तृ[3]त्वं प्रमातृत्वं प्रमेयत्वममूर्तत्वमसंख्यातप्रदेशत्वं[4] निश्चलाष्टप्रदेशत्वं लोकप्रमाणप्रदेशत्वं[5] जीवत्वमभव्यत्वं भव्यत्वं परिणामित्वं स्वशरीरव्यापित्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादौ सुखदुःखे मत्यादिज्ञानचक्षुर्दर्शनोपयोगौ देवनारकतिर्यग्नरत्वानि शरीरादितया परिणमितसर्वपुद्गलत्वमनाद्यनन्तत्वं सर्वजीवैः सह सर्वसंबन्धवत्त्वं संसारित्वं क्रोधाद्यसंख्याध्यवसायवत्त्वं हास्यादिषट्कं[6] स्त्रीपुंनपुंस[7]कत्वमूर्खत्वान्धत्वादीनीत्यादयः क्रमभाविनो धर्माः ।

जा सके । शब्दके द्वारा वे दोनो धर्म क्रमसे ही कहे जा सकते है एक साथ प्रधान रूपसे नही ।

§ ३३८ यद्यपि शब्दकी प्रवृत्ति सकेतके अनुसार होती है, अतः यह शंका की जा सकती है कि—'जिस तरह शतृ और शानच् दो प्रत्ययोकी 'सत्' संज्ञा दोनो ही प्रत्ययोका कथन करती है उसी तरह दोनो धर्मोमे जिस शब्दका सकेत किया गया है उसके द्वारा दोनो धर्मोका युगपत् कथन हो जायगा' पर शकाकारको यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि—शतृ और शानच्की 'सत्' संज्ञा दोनो प्रत्ययोका क्रमसे ही ज्ञान कराती है, अत. संकेत करनेपर भी किसी भी शब्दके द्वारा दोनो धर्मोका प्रधानभावसे युगपत् कथन नही हो सकता ।

§ ३३९ इस तरह प्रत्येक स्वधर्म और परधर्मकी एक साथ कहनेकी इच्छा होनेपर घडेमें अवक्तव्य धर्म भी पाया जाता है । यह अवक्तव्य धर्म स्वपर्याय है । यह अवक्तव्य धर्म अन्य अनन्त वक्तव्य धर्मोसे तथा अन्य पदार्थोसे व्यावृत्त है अत इसकी अपेक्षा अनन्त ही परपर्याय होते हैं ।

§ ३४० जिस तरह घडेमे अनन्त धर्मो की योजना की गयी है उसी तरह समस्त आत्मा आदि पदार्थोमे अनन्तधर्मोमे अनन्त धर्मों का सद्भाव समझ लेना चाहिए । अतः वस्तु अनन्त धर्म वाली है क्योकि वह प्रमेय है यह हेतु अबाधित सिद्ध हो जाता है ।

§ ३४१ आत्मा चेतन है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रमाता है, प्रमेय है, अमूर्त है, असंख्यात प्रदेशवाला है, इसके मध्यके आठ प्रदेश निष्क्रिय रहते है, लोकाकाशके बराबर ही इसके असख्य प्रदेश है, जीव है, भव्य है, अभव्य है, परिणामी-परिवर्तनशील है, अपने शरीरके बराबर ही परिमाणवाला है अत आत्मामे ये सब अनेक सहभावी—एक साथ रहनेवाले धर्म पाये जाते हैं तथा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, मति आदि ज्ञान, चक्षुदर्शन आदि दर्शन, देव नारक तिर्यंच और मनुष्य ये चार अवस्थाएँ, शरीर रूपसे परिणत समस्त पुद्गलोंसे सम्बन्ध रखना, अनादि अनन्त होना, सब जीवोसे सब प्रकारके सम्बन्ध रखना, संसारी होना, क्रोधादि असंख्य कषायोसे विकृत होना, हास्य, रति, अरति, शोक भय, ग्लानि आदि भावोका सद्भाव, स्त्री पुरुष और नपुसकोंके समान कामी प्रवृत्ति, मूर्खता तथा अन्धा, लूला, लँगडा आदि क्रमसे होनेवाले भी अनेक धर्म संसारी जीवमे पाये जाते हैं ।

१ –मेवमस्ति मु० २ । २ कर्तृत्व प्रमा–प० १ प० २ । ३. –क्तृत्वं प्रमे–मु० २ । ४ –शता[illegible]–मु० १, मु० २ प० १, प० २. क० । ५ –[illegible]–मु० २, प० १, प० २ । ६. –षट्कत्वं [illegible]–मु० २ । ७ –[illegible]–मु० २ ।

§ ३४२. मुक्तात्मनि तु सिद्धत्वं साद्यनन्तत्वं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वसुखवीर्याण्यनन्तद्रव्यक्षेत्र-कालसर्वपर्यायज्ञातृत्वदर्शित्वानि अशरीरत्वमजरामरत्वमरूपरसगन्धस्पर्शशब्दत्वानि निश्चलत्व नीरुक्त्वमक्षयत्वमव्याबाधत्वं [1]प्राक्संसारावस्थानुभूतस्वस्वजीवधर्माश्चेत्यादयः।

§ ३४३. [2]धर्माधर्माकाशकालेष्वसंख्यासंख्यानन्तप्रदेशाप्रदेशत्वं सर्वजीवपुद्गलानां गतिस्थित्यवगाहवर्तनोपग्राहकत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमनाद्यनन्तत्वमरूपित्वमगुरुलघुत्वैकस्कन्धत्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं[3] सत्त्वं द्रव्यत्वमित्यादय।

§ ३४४. पौद्गलिकद्रव्येषु[4] घटदृष्टान्तोक्तरीत्या स्वपरपर्याया। शब्देषु चोदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणताभिलाप्यानभिलाप्यार्थवाचकावाचकताक्षेत्रकालादिभेदहेतुकतत्तदनन्तार्थप्रत्यायनशक्त्यादय।

§ ३४५. आत्मादिषु च सर्वेषु नित्यानित्यसामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यत्वात्मकता परेभ्यश्च वस्तुभ्यो व्यावृत्तिधर्माश्चावसेया।

§ ३४६ आह—ये स्वपर्यायास्ते[5] तस्य संबन्धिनो भवन्तु, ये तु [6]परपर्यायास्ते विभिन्न-

---

§ ३४२ मुक्त जीवोमे सिद्धत्व, सादि-अनन्तत्व-सिद्ध अवस्थाकी शुरूआत तो होती है पर अनन्त नही होता, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अनन्त द्रव्य क्षेत्र तथा कालमे रहनेवाली समस्त पर्यायोका जानना देखना, अशरीरी होना, बुढापा मृत्यु आदिसे रहित होना, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दसे शून्य होना, निश्चलत्व, रोग रहित होना, अविनाशी होना, निर्बाध रूपसे सुखी होना, संसारी अवस्थामे रहनेवाले जीवद्रव्यके अपने-अपने जीवत्व आदि सामान्य धर्मोका पाया जाना आदि अनेको धर्म पाये जाते हैं। अत. जीवद्रव्यमे इनकी अपेक्षा अस्तित्व तथा इनसे भिन्न पररूपोकी अपेक्षा नास्तित्व आदिका विचार कर लेना चाहिए।

§ ३४३ धर्म अधर्म आकाश तथा काल द्रव्यमे क्रमश. असख्यात असख्यात अनन्त तथा एकप्रदेशका होना, समस्त जीव और पुद्गलोके चलने ठहरने अवकाश पाने तथा वर्तना परिणमन मे अपेक्षा सरकारी होना, भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी अपेक्षा घटाकाश मठाकाश, घटकाल प्रातःकाल आदि व्यवहारोका पात्र होना, अवस्थित रहना. अनादि अनन्त होना, अरूपित्व-अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व न कम होना और न बढना ही, अखण्ड एक द्रव्य होना, मतिज्ञान आदि ज्ञानोका विषय होना, सत्ता, द्रव्यत्व आदि अनेको धर्म पाये जाते हैं।

§ ३४४ पुद्गल द्रव्यमे घडेके दृष्टान्तमे कहे गये अनन्त स्व-परधर्म पाये जाते है। शब्दमे उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, स्वरितत्व, विवृतत्व सवृतत्व, घोषता, अघोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणता, कहे जाने लायक पदार्थका कथन करना तथा जिसका कथन नही हो सकता हो उसका कथन नही करना, भिन्न-भिन्न समयोमे तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रोमे बदलनेवाली भाषाओके अनुसार अनन्त पदार्थोके कथन करनेको शक्ति रखना आदि बहुत-से धर्म है।

§ ३४५ आत्मादि सभी पदार्थोमे नित्यत्व, अनित्यत्व, सामान्य, विशेष, सत्त्व, असत्त्व, वक्तव्यत्व, अवक्तव्यत्व तथा अनन्त परपदार्थोसे व्यावृत्त होनेका स्वभाव होना आदि अनेको धर्मोका सद्भाव है।

§ ३४६. **शंका**—आपने जिस-जिस प्रकारसे जिन-जिन स्वपर्यायोका विवेचन किया है वे सब स्वपर्याये तो वस्तुके धर्म अवश्य हो सकती है तथा है भी परन्तु परपर्याये तो भिन्न वस्तुओके आधीन है अतः उन्हे वस्तुका धर्म कैसे कह सकते हैं? घडेका अपने स्वरूप आदिकी अपेक्षा

---

१ –स्यानभूत–म० २। २ –ष्वसख्यातप्रदेशवत्त्व सर्व– म० २। –ष्वसख्यानन्तप्रदेशत्व सर्व–क०, म० १, प० १, प० २। ३. –यत्वं द्रव्य–म० २। ४. –द्रव्ये तु घट–म० २। ५ –पर्याया– म० २। ६. स्वपरपर्ययै–म० २।

वस्त्वाश्रयत्वात्कथं तस्य संबन्धिनो व्यपदिश्यन्ते ।

§ ३४७. उच्यते, इह द्विधा संबन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च। तत्र स्वपर्यायैरस्तित्वेन संबन्धः यथा घटस्य रूपादिभिः। परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन संबन्धस्तेषां तत्रासंभवात्, यथा घटावस्थायां मृद्रूपतापर्यायेण, यत एव[1] च ते तस्य न सन्तीति नास्तित्वसंबन्धेन संबद्धाः, अत एव च ते परपर्याया[2] इति व्यपदिश्यन्ते ।

§ ३४८. ननु ये यत्र न विद्यन्ते[3] ते कथं तस्येति व्यपदिश्यन्ते, न खलु धनं दरिद्रस्य[4] न विद्यत इति तत्तस्य सबन्धि व्यपदेष्टुं शक्यम्, इम प्रापल्लोकव्यवहारातिक्रमः, तदेतन्महामोहमूढमनस्कतासूचकं, यतो यदि नाम ते नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य तस्येति न व्यपदिश्यन्ते, तर्हि सामान्यतस्ते परवस्तुष्वपि न सन्तीति प्राप्तम्, तथा च ते स्वरूपेणापि न भवेयुर्न चैतद्दृष्टमिष्टं वा, [5]तस्मादवश्यं ते नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य तस्येति व्यपदेश्याः, धनमपि च नास्तित्वसंबन्धमधिकृत्य दरिद्रस्येति व्यपदिश्यत एव, तथा च लोके वक्तारो भवन्ति 'धनमस्य दरिद्रस्य न विद्यते' इति। यदपि चोक्तं 'तत्तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं' इति, तत्रापि तदस्तित्वेन तस्येति व्यपदेष्टुं न शक्यं, न पुनर्नास्तित्वेनापि, ततो न कश्चिल्लोकव्यवहारातिक्रमः ।

अस्तित्व तो उसका धर्म हो सकता है परन्तु पट आदि परपदार्थोका नास्तित्व तो पट आदि पर पदार्थोके आधीन है अत उसे घटका धर्म कैसे कह सकते है ? जब वे परपर्यायि है तो उसकी कैसे कही जा सकती है ?

§ ३४७ समाधान—वस्तुसे पर्यायोका सम्बन्ध दो प्रकारसे होता है एक अस्तित्व रूपसे और दूसरा नास्तित्व रूपसे। स्वपर्यायोका तो अस्तित्व रूपसे सम्बन्ध है तथा परपर्यायोका नास्तित्व रूपसे। जिस तरह रूप रसादिका घडेमे अस्तित्व है अत उनका अस्तित्वरूप सम्बन्ध है उसी तरह स्वपर्यायि घडेमे पायी जाती है अतः उनका भी अस्तित्वरूप सम्बन्ध है। परपर्यायि तो घडेमे नही पायी जाती अत उनका नास्तित्व रूपसे सम्बन्ध है। जिस प्रकार घटावस्थामे मिट्टीकी पिण्ड आदि पर्यायि नही पायी जाती अतः उनका घडेके साथ नास्तित्वरूपसे सम्बन्ध है। जिस कारणसे वे परपर्यायि उस पदार्थमे नही रहती असत् है इसीलिए तो वे परपर्यायि कही जाती है। यदि वे उसमे अपना अस्तित्व रखती तो वे स्वपर्याय ही हो जाती। परकी अपेक्षा नास्तित्व नामका धर्म तो घट आदि वस्तुओमे पाया ही जाता है। यदि घडा पटरूपसे असत् न हो तो वह भी पटरूप हो जायगा। अत परपर्यायोसे वस्तुका नास्तित्व रूप सम्बन्ध मानना ही चाहिए।

§ ३४८. शका—जो परपर्यायि उस वस्तुमे पायी ही नही जाती वे उसकी कैसे कही जा सकती है ? दरिद्रीके धन नही पाया जाता तो क्या कही भी 'दरिद्रीका धन' ऐसा व्यवहार होता है ? जो चीज जहा नही पायी जाती उसका उसमे सम्बन्ध जोडना तो स्पष्ट ही लोकव्यवहारका विरोध करना है। आपको इस तरह लोकव्यवहारको नही कुचलना चाहिए।

समाधान—आपकी यह शका महामूर्खता तथा पागलपन की निशानी है, यदि परपर्यायि नास्तित्व रूपसे भी घडे को न कही जाये, तो वे परपर्यायि सामान्यरूपसे तो परवस्तुमे भी नही रहेगी, क्योकि परवस्तुमे तो वे स्वपर्याय होकर रह सकती है सामान्यपर्याय होकर नही। अतः जब घडे मे तथा अन्य परवस्तुओमे उनका कोई सम्बन्ध नही रहा तब उन्हे पर्याय ही कैसे कह सकते है ? परन्तु उन्हे पर्याय मानना इष्ट है तथा अनुभवका विषय भी है। इसीलिए उन परपर्यायोको नास्तित्वरूपसे घडेकी अवश्य ही कहना चाहिए। यदि घडेमे उनका अस्तित्व कहा जाता

---

१ एव ते मु० २। २. –पर्यया मु० २। ३ –न्ते कथं ते त– मु० २। ४ –स्य दरिद्र– मु० २। ५ –तस्य नास्ति– मु० २।

§ ३४९. ननु नास्तित्वमभावोऽभावश्च तुच्छरूपस्तुच्छेन च सह कथं संबन्ध, तुच्छस्य सकलशक्तिविकलतया [1]संबन्धशक्तेरप्यभावात्। अन्यच्च, यदि परपर्यायाणां तत्र नास्तित्वं तर्हि नास्तित्वेन सह संबन्धो भवतु, [2]परपर्यायैस्तु सह कथं संबन्ध., न खलु घटः पटाभावेन [3]संबद्ध पटेनापि सह [4]संबद्धो भवितुमर्हति, तथाप्रतीतेरभावात्, तदेतदसमीचीनं, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, तथाहि—नास्तित्वं नाम तेन तेन रूपेणाभवनमिष्यते तेन तेन रूपेणाभवनं च वस्तुनो धर्मः ततो नैकान्तेन तत्तुच्छरूपमिति न तेन सह संबन्धाभावः। तेन तेन [5]रूपेणाभवनं च तं तं [6]पर्यायमपेक्ष्यैव भवति नान्यथा, तथाहि—योऽयः पटादिगतः पर्यायः तेन तेन रूपेण मया न भवितव्यमिति सामर्थ्याद् घटस्तं तं पर्यायमपेक्ष्यते इति सुप्रतीतमेतत्, ततस्तेन तेन पर्यायेणाभवनस्य तं तं पर्यायमपेक्ष्य संभवात्तेऽपि [7]परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति व्यपदिश्यन्ते। एवंरूपायां च विवक्षायां पटोऽपि घटस्य सम्बन्धी भवत्येव, पटमपेक्ष्य घटे पटरूपेणाभवनस्य भावात्, तथा च लौकिका अपि घटपटादीन् परस्परमितरेतराभावमधिकृत्य संबद्धान् व्यवहरन्तीत्यविगीतमेतत्। इतश्च ते [8]पर्यायास्तस्येति व्यपदिश्यन्ते, स्वपर्यायविशेषणत्वेन[9] तेषामुपयोगात्। इह ये यस्य स्वपर्यायविशेषकत्वेनोपयुज्यन्ते ते तस्य पर्यायाः, यथा घटस्य रूपादयः[10] पर्यायाः परस्परविशेषका.।

तो अवश्य ही लोकविरोध होता, परन्तु हम तो उनका नास्तित्व ही घड़ेमे बतला रहे हैं। दरिद्र और धनका भी नास्तित्व रूपसे सम्बन्ध है ही। ससारमे सभी लोग कहते ही हैं कि 'इस दरिद्रके धन नहीं है' अर्थात् धन और दरिद्रका अस्तित्व रूप सम्बन्ध न होकर नास्तित्वरूप सम्बन्ध है। इसी तरह परपर्यायोका भी पदार्थके साथ अस्तित्वरूप सम्बन्ध न होकर नास्तित्वरूपसे ही सम्बन्ध माना जाता है। परपर्यायें अस्तित्वरूपसे उसकी न कही जाये पर नास्तित्वरूपसे तो वे उसकी कही ही जा सकती हैं। और नास्तित्वरूपसे परपर्यायोका वस्तुमे सम्बन्ध माननेसे किसी भी लोकव्यवहारका विरोध नहीं होता।

§ ३४९ शंका—नास्तित्व तो अभावको कहते हैं, अभाव तो तुच्छ या नीरूप होता है, उसका कोई भी वास्तविक स्वरूप नहीं होता, अत उस तुच्छ अभावके साथ वस्तुका सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? नि.स्वरूप अभाव तो समस्त शक्तियोंसे रहित होता है, उसमे वस्तुके साथ सम्बन्ध रखने की भी शक्ति नहीं होती। यदि घड़ेमे परपर्यायोका नास्तित्व है तो नास्तित्व नामके धर्मसे घडेका सम्बन्ध माना जा सकता है न कि परपर्यायोंके साथ। यदि पटका अभाव घडेमे रहता है—पटके नास्तित्वसे घड़ेका सम्बन्ध है तो इससे पटसे भी घड़ेका सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है? कही भी ऐसी प्रतीति नहीं होती कि जिस पदार्थका अभाव जिसमे पाया जाता है वह पदार्थ भी उसमे पाया जावे। घड़ेका अभाव भूतलमे पाया जायेगा?

समाधान—आपकी शंका बिलकुल मिथ्या है, आपने वस्तुके तत्त्वको ठीक तरह नहीं समझा। 'जो जो पट आदिकी पर्यायें हैं उस रूपसे मुझे परिणमन नहीं करना चाहिए' इस रूपसे ही घड़ा उन उन पटादि की पर्यायोकी अपेक्षा करता है न कि उन पटादिपर्याय रूपसे अपना परिणमन करनेके लिए। यह बात तो सर्व प्रसिद्ध है। उन पटादिपर्याय रूपसे अपना परिणमन नहीं होने देना उन पर्यायोकी अपेक्षा रखकर ही हो सकता है। अत. उस रूपसे परिणमनके निषेध के लिए ही वे परपर्यायें घड़ेके उपयोगी हैं। और इसी उपयोगिताके कारण ही वे घड़ेकी पर्यायें

---

१. संबन्ध न श–म० १, म० २, प० १, प० २। २. –पर्ययैस्तु म० २। ३. संबन्ध. म० २। ४ संबन्धो म० २, आ० क०। ५ रूपेण भवन–म० २। ६ पर्यय–म० २। ७ पर्यया–म० २। ८ पर्यया–म० २। ९ –विशेषकत्वेन– म० २। १० –य पर म० २।

उपयुज्यन्ते च घटस्य पर्यायाणां विशेषतया पटादिपर्यायाः, तानन्तरेण तेषां [1]स्वपर्यायव्यपदेशाभावात्, तथाहि—यदि ते परपर्याया न भवेयुः तर्हि घटस्य स्वपर्यायाः स्वपर्याया इत्येवं न व्यपदिश्येरन्, परापेक्षया स्वव्यपदेशस्य[2] सद्भावात्, ततः स्वपर्यायव्यपदेशकारणतया तेऽपि परपर्यायास्तस्योपयोगिन इति तस्येति, व्यपदिश्यन्ते । अपि च, सर्वं वस्तु प्रतिनियतस्वभावं, सा च प्रतिनियतस्वभावता प्रतियोग्यभावात्मकतोपनिबन्धना । ततो यावन्न प्रतियोगिविज्ञानं भवति तावन्नाधिकृतं वस्तु तदभावात्मकं तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यते, तथा च सति पटादिपर्यायाणामपि घटप्रतियोगित्वात्तदपरिज्ञाने घटो न याथात्म्येनावगन्तुं शक्यत इति पटादिपर्याया अपि घटस्य पर्यायाः । तथा चात्र प्रयोगः—यदनुपलब्धौ यस्यानुपलब्धिः स तस्य संबन्धी, यथा घटस्य रूपादयः, पटादिपर्यायानुपलब्धौ च घटस्य न याथात्म्येनोपलब्धिरिति ते तस्य संबन्धिनः । न चायमसिद्धो हेतुः, पटादिपर्यायरूपप्रतियोग्यपरिज्ञाने तदभावात्मकस्य[3] घटस्य तत्त्वतो ज्ञातत्वायोगादिति । आह च भाष्यकृत्—

कही जाती है । इन निषेधकी विवक्षासे तो घडे और कपडेका भी सम्बन्ध कहा जा सकता है । 'घडा कपडा नही है' इस प्रयोगमे घडा और कपडा नास्तित्वरूपसे एक दूसरेके सम्बन्धी है ही । घडेका 'पटरूपसे न होना' पटकी अपेक्षाके बिना कैसे हो सकता है । यदि पट नही है या अज्ञात है तो घडेका पटरूपसे अपरिणमन कैसे कहा जा सकता है ? 'घड़ा पटरूप नही है तथा पट घटरूप नही है' इस तरह घट और पटका परस्परमे अभाव है, इसी इतरेतराभावको निमित्त लेकर लोकमे भी घट और पटमे नास्तित्वरूप सम्बन्धका व्यवहार होता है यह बिलकुल निर्विवाद है और इस अनुभावसे भी कि—जिनका परस्पर अभाव होता है वे नास्तित्वरूपसे एक दूसरेके सम्बन्धी होते ही हैं । इन परपर्यायो स्वपर्यायोका भेद होनेपर ही ये स्वपर्याय कहे जाते है, अत भेदक होनेके कारण भी परपर्याये घडेकी कही जाती है । भेद करनेमे उनका असाधारण उपयोग है । जो स्वपर्यायोमे भेद डालनेमे उपयागी होते है वे उसीके पर्याय है जैसे कि घड़ेमे रहनेवाले परस्पर भेदक रूपादि पर्याये । चूँकि घटकी पर्यायोका पटादि पर्यायोसे भेद करनेमे पटादिपर्यायोका पूरापूरा उपयोग होता हे अत विशेषक—भेदक होनेके कारण परपर्याये भी घडेकी ही कही जानी चाहिए । परपर्यायोके बिना घडकी स्वपर्यायोमे स्व' व्यपदेश ही नही होता । यदि पटादिपर्याये न हो तो घडेकी स्वपर्यायोमे 'स्व' व्यपदेश ही नही हो सकता । किसी परकी अपेक्षा ही दूसरेको 'स्व' कह सकते है । इस तरह स्वपर्यायोमे 'स्व' व्यपदेश करानेमे कारण होनेसे वे परपर्याये भी घडेकी उपयोगी है तथा इसी दृष्टिसे घडेकी कही जा सकती है । ससारकी समस्त वस्तुएँ अपने-अपने प्रतिनियत—निश्चित स्वरूपमे स्थित है, किसीका स्वरूप दूसरेसे मिलता नही है अपने-अपने स्वाधीन है । वस्तुओकी यह प्रतिनियत स्वभावता—असाधारण स्वरूपका होना—जिन वस्तुओसे उसका स्वरूप भिन्न रहता है उन प्रतियोगी पदार्थोके अभावके बिना नही बन सकती । घडेका स्वरूप पटादिमे भिन्न है तो जबतक पटादिका अभाव न होगा तब तक घडेमे अपना असाधारण पटस्वरूप भी सिद्ध नही हो सकता । इसलिए जबतक उन प्रतियोगी परपदार्थों का परिज्ञान नही होगा तबतक हम घटादिको उनसे व्यावृत्तरूपमे परमार्थत नही जान सकते । जिस पदार्थका अभाव किया जाता है उसे प्रतियोगी कहते हैं । जबतक पटादि प्रतियोगियोका परिज्ञान नही होगा तबतक 'घडा पटाभावरूप है' यह जानना ही नितान्त असम्भव है । घडेमे पटादिका अभाव पाया जाता है अत घडेके ज्ञानके लिए प्रतियोगी पटादिका ज्ञान तो पहले ही चाहिए । इस दृष्टिसे भी परपर्याये घडेकी कही जा सकती है । जबतक उन परपर्यायोका ज्ञान न होगा तबतक घड़ेके यथार्थ

---

१ –पर्यय म० २ । २ –स्वभावात् म० १, म० २, प० २ । ३. –स्य तत्त्व– म० २ ।

"जेसु[1] अनाएसु तओ, न नज्जाए नज्जाए य नाएसु ।
किह तस्स ते न धम्मा, घडस्स रूवाइयम्मव्व ॥ १ ॥"

तस्मात्पटादिपर्याया अपि घटस्य संबन्धिन इति । परपर्यायाच्च स्वपर्याये भ्योऽनन्तगुणा. उभये तु स्वपरपर्याया. सर्वद्रव्यपर्यायपरिमाणा. ।[2] न चैतदनार्षं यत उक्तमाचाराङ्गे—

"जे[3] एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।"

अस्यायमर्थ.—य एकं वस्तूपलभते सर्वपर्याये. स नियमात्सर्वमुपलभते, सर्वोपलब्धिमन्तरेण विवक्षितस्यैकस्य स्वपरपर्यायभेदभिन्नतया सर्वात्मनावगन्तुमशक्यत्वात्, यश्च सर्वं सर्वात्मना साक्षादुपलभते, स एकं स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति, अन्यत्राप्युक्तम्[4]—

"एको भाव सर्वथा येन दृष्ट , सर्वे भावा: सर्वथा तेन दृष्टा ।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा , एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट ॥१॥"

स्वरूपका परिज्ञान ही नही हो सकता। प्रयोग जिसकी अनुपलब्धि रहनेसे जिसके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान न हो सके वह उसका सम्बन्धी है, जैसे कि रूपादिकी अनुपलब्धि रहनेपर घड़ेका परिज्ञान नही हो पाता अत रूपादि घड़ेके सम्बन्धी हैं, चूँकि पटादिपर्यायोकी अनुपलब्धि रहने पर भी घड़ेका यथार्थ परिज्ञान नही हो पाता अत. पटादिपर्याये भी घड़ेके साथ सम्बन्ध रखती हैं। यह हेतु असिद्ध नही है, क्योकि जबतक पटादिपर्यायरूप प्रतियोगियोका परिज्ञान नहीं होगा तबतक उनका निषेध करके परपर्यायाभावात्मक घडेका तत्त्वत. ज्ञान ही नही हो सकता। भाष्यकारने कहा भी है—"जिनके अज्ञात रहनेपर जिसका ज्ञान नही हो पाता और जिनका ज्ञान होने से ही जिसका ज्ञान होता है वे उसके धर्म क्यो नही कहे जायेंगे ? जिस तरह रूपादिका ज्ञान न होनेपर घड़ा अज्ञात रहता है तथा रूपादिका ज्ञान होनेपर ही घड़ेका ज्ञान होता है अत. रूपादि घडेके धर्म हैं उसी तरह परपर्यायोका ज्ञान न होनेपर घड़ा यथार्थ रूपसे अज्ञात रहता है तथा परपर्यायोंके ज्ञानसे ही परपर्यायाभावात्मक घड़ेका परिज्ञान होता है अतः परपर्यायोको भी घड़ेका धर्म मानना चाहिए।" अत. पटादिपर्याये भी घड़ेकी सम्बन्धी हैं उनमे और घड़ेमें नास्तित्वरूपसे ही सही, सम्बन्ध तो मानना ही पडेगा। स्वपर्यायोंसे परपर्यायोका प्रमाण अनन्तगुना है। दोनो ही स्व-परपर्याये सभी द्रव्योमे पायी जाती हैं, सभी द्रव्योका स्वपर्याय तथा परपर्यायरूपसे परिणमन होता है। यह बात पुराने ऋषियोकी परम्परानुसार हो कही गयी है, क्योकि आचारांग सूत्रमे ही कहा है कि—"जो एकको जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वही एकको जानता है" इसका तात्पर्य यह है कि जो एक वस्तुको उसकी समस्त पर्यायोंके साथ निश्चित रूपसे जानता है उसे नियमसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो ही जाता है। समस्त पदार्थोंको जाने विना विवक्षित एक वस्तुमें स्वपर्याय और परपर्यायोका भेद करके उसका ठीक-ठीक पूरे रूपसे ज्ञान हो ही नही सकता। इस वस्तुका परपर्यायोसे भेद समझनेके लिए परपर्यायोका ज्ञान आवश्यक है। जो समस्त पदार्थोको पूरे-पूरे रूपसे साक्षात् जानता है वही एक वस्तुका स्वपर्याय और परपर्यायका भेद करके यथार्थ परिज्ञान कर सकता है। स्व और परका भेद तो स्व और परके यथार्थ ज्ञानकी आवश्यकता रखता है। दूसरे शास्त्रोमे भी इसी बातको इस रूपसे कहा है—"जिसने एक भी पदार्थको सब रूपसे—स्व-परका पूर्ण भेद करके पूर्णरूपसे जान लिया है उसने सभी पदार्थोका सब रूपसे परिज्ञान कर लिया। क्योकि सबको जाने विना एकका पूरा परिज्ञान नही हो सकता। जिसने सब पदार्थोको सब रूपसे जान लिया है वही एक पदार्थको पूरे रूपसे जान सकता है।"

---

१. येषु अज्ञातेषु ततो न ज्ञायते ज्ञायते च ज्ञातेषु । कथ तस्य ते न धर्मा घटस्य रूपादिधर्मा इव ॥ २ न चैतदर्थं यदाह परमेश्वर. जे भ० २ । ३. य एकं जानाति स सर्वं जानाति । य सर्वं जानाति स एकं जानाति ॥ ४ उद्धृतोऽयम्—तत्त्वोप० पृ० ७९ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ३७ ।

ततः सिद्धं प्रमेयत्वादनन्तधर्मात्मकत्वं[1] सकलस्य वस्तुन इति ॥ ५५॥

§ ३५०. अथ सूत्रकार एव प्रत्यक्षपरोक्षयोर्लक्षणं लक्षयति—

अपरोक्षतयार्थस्य[2] ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ५६ ॥

§ ३५१. व्याख्या—तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देशः । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमिति लक्षणनिर्देशः । परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तयाऽपरोक्षतया—साक्षात्कारितया, न पुनरस्पष्टसंदिग्धादितया, अर्थस्य—आन्तरस्यात्मस्वरूपस्य, बाह्यस्य च [3]घटकटपटशकटलकुटादेर्वस्तुनो ग्राहकं व्यवसायात्मकतया साक्षात्परिच्छेदकं ज्ञानम् [4]ईदृशम् विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वादीदृशमेव प्रत्यक्षं न त्वन्यादृशम् । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसंकीर्णतामध्यक्षस्य परिहरति । एतेन परपरिकल्पितानां[5] कल्पनापोढत्वादीनां प्रत्यक्षलक्षणानां निरासः कृतो द्रष्टव्यः ।

इस विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि—'सभी वस्तुएँ अनन्त धर्मवाली है क्योकि वे प्रमेय है' इति ॥ ५५ ॥

§ ३५० अब स्वयं सूत्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण कहते है—पदार्थोको अपरोक्ष—स्पष्ट रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, प्रत्यक्षसे भिन्न अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है। ज्ञानमे परोक्षता बाह्यपदार्थके ग्रहण को अपेक्षासे ही है, क्योकि स्वरूपसे तो सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही है।" ॥ ५६ ॥

§ ३५१. प्रत्यक्ष लक्ष्य है तथा 'अपरोक्ष रूपसे पदार्थका ग्रहण करनेवाला ज्ञान' यह लक्षण है। परोक्ष—इन्द्रियोका अविषय, उससे भिन्न अर्थात् इन्द्रियोके द्वारा जाने गये पदार्थकी तरह साक्षात् रूपसे, न कि अस्पष्ट या सन्दिग्ध रूपसे, अर्थका—अपने आन्तरिक स्वरूपका तथा घट, चटाई, कपडा, गाडी और लकडी आदि बाह्य वस्तुओका ग्राहक—साक्षात् रूपसे निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। विशेषण अन्यसे व्यवच्छेद कराते है अतः ऐसा ही ज्ञान प्रत्यक्ष है न कि किसी दूसरे प्रकार का। 'अपरोक्षतया' पदसे इस प्रत्यक्षके लक्षणका परोक्षके लक्षणसे भेद सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्षका इस प्रकार विशदज्ञानात्मक लक्षण करनेसे बौद्ध आदिके द्वारा माने गये प्रत्यक्षके कल्पनापोढ–निर्विकल्पक–आदि लक्षणोका निरास हो जाता है।

---

१ –कत्व वस्तुन म० २ । २ "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम् ।"—न्यायाव० श्लो० ४ । "प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा ।" —न्यायविनि० १।३ । प्रमाणप० पृ० ६७ । परीक्षामु० २।३ । पञ्चाध्यायी १।६९६ । न्यायाव० श्लो० ४ । जैनतर्कवा० पृ० ९३ । प्रमाण० तत्त्वा० २।२ । प्रमाणमी० १।१।१३ । ३. घटपटवट —म० २ । ४ ईदृगविशेषण–म० २ । ५ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥३॥"—प्रमाणस० पृ० ८ । "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।" न्यायबि० पृ० १६ । तत्त्वस० का० १२१४ । "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" —न्या० सू० १।१।४ । "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा ।" – न्यायभा० पृ० १७। न्या० वा० पृ० २८। सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्।"—न्यायसार पृ० २। 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।" —वैशे० द० ३।१।१८ । "अक्षमक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम् सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" —प्रशस्तपा० पृ० १८६ । 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।" —मुक्तावली, श्लो० ५२ । न्यायबो० ४३ । साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् ।" —न्यायसि० मं०

§ ३५२. ज्ञानवादिनोऽत्रावदिषुः । अहो आर्हताः, अर्थस्यात्मस्वरूपस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येव अत्र व्याख्यायताम्, अर्थशब्देन बाह्योऽप्यर्थः कुतो व्याख्यातो बाह्यार्थस्यासत्त्वादित्याशङ्क्याह 'अर्थस्य ग्राहकं' इत्यत्रापि 'ग्रहणेक्षया' इति वक्ष्यमाणं पदं संबन्धनीयं, बहिरर्थनिराकरणपरान् योगाचारादीनधिकृत्यैव 'ग्रहणेक्षया' इति वक्ष्यमाणपदस्य योजनात्, ततोऽयमर्थः—ग्रहणं ज्ञानात्पृथग् बाह्यार्थस्य यत्संवेदनं तस्येक्षयापेक्षयार्थस्य यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षम् । न चार्थस्य ग्राहकमित्येतावतैव बाह्यार्थापेक्षया यद्ग्राहकं तत्प्रत्यक्षमित्येतत्सिद्धमिति वाच्यं, यत आत्मस्वरूपस्यार्थस्य ग्राहकमित्येतावताप्यर्थस्य ग्राहकं भवत्येव, ततो ग्रहणेक्षयेत्यनेन ये योगाचारादयो बहिरर्थकलाकलनविकलं सकलमपि ज्ञानं प्रलपन्ति तान्निरस्यति । स्वांशग्रहणे ह्यन्तःसंवेदनं यथा व्याप्रियते तथा बहिरर्थग्रहणेऽपि, इतरथा बहिरर्थग्रहणाभावे सर्वप्रमातृणामेकसदृशो नीलादिप्रतिभासो नियतदेशतया न स्यात् । अस्ति च स सर्वेषां नियतदेशतया, ततोऽर्थोऽस्तीत्यवसीयते । अथ चिद्रूपस्यैव तथा तथा प्रतिभासनान्न बहिरर्थग्रहणमिति चेत्; तर्हि बहिरर्थवत् स्वज्ञानसंतानादन्यानि संतानान्तराण्यपि[3] विशीर्येरन् । अथ संतानान्तरसाधकमनुमानमस्ति, तथाहि—विवक्षितदेवदत्तादेरन्यत्र यज्ञदत्तादौ व्यापारव्याहारौ बुद्धिपूर्वकौ व्यापारव्याहारत्वात्, संप्रतिपन्नव्यापारव्याहार-

---

§ ३५२. विज्ञानाद्वैतवादी—अहो, जैनियो, अर्थका तात्पर्य ज्ञानके अपने स्वरूप तक ही सीमित रखना चाहिए, उसे बाह्य घटपटादि पदार्थों तक नहीं ले जाना चाहिए । अर्थ शब्दसे बाह्य घटपट आदिका तात्पर्य आपने कहाँ से निकाल लिया ? ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य अर्थ की तो सत्ता ही नहीं है । ज्ञान ही एकमात्र परमार्थसत् है, वही अविद्यावासना के विचित्र विपाकसे नीलपीत आदि अनेक पदार्थोंके आकारमें प्रतिभासित होने लगता है । इसलिए अर्थग्राहक पदका अर्थ 'ज्ञानका मात्र अपने स्वरूपका ग्रहण करना' इतना ही करना चाहिए ।

समाधान—अर्थग्राहक पदके साथ 'ग्रहणेक्षया' पदका भी सम्बन्ध लगा लेना चाहिए । 'ग्रहणेक्षया' पद खासकर बाह्य अर्थका लोप करनेवाले योगाचार आदि का निराकरण करनेके लिए ही दिया गया है । ग्रहणेक्षया—ज्ञानसे भिन्न सत्ता रखनेवाले बाह्य घटपटादि पदार्थोंके संवेदनको 'ग्रहण' कहते हैं, इस बाह्यपदार्थके ग्रहणकी ईक्षा—अपेक्षा करके अर्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शंका—जब अर्थग्राहक पदसे ही 'बाह्य अर्थकी अपेक्षा अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' इतना मतलब निकल आता है तब 'ग्रहणेक्षया' पद व्यर्थ ही है ।

पृ० २ । तर्कभा० पृ० ५ । "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।" —सांख्यका० ५ । "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" —योगद० व्यासभा० पृ० २७ । "यत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।" सांख्यद० ११८९ । "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।" —मीमां० द० १। १४ । "साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम् ।" —प्रकरणपं० पृ० ५१ । "तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम् । प्रत्यक्षप्रमा । चात्र चैतन्यमेव (पृ० १२) तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् ।" —वेदान्तपरि० पृ० २६ । "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।" —चरकसं० ११।२० । १. इति पदम् म० २ । २ ग्राहकं भवत्येव म० २ । ३. -राणि च वि- म० २ । ४ "बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भावः सा न येषु न तेषु धीः ॥" —सन्तान० सि० श्लो० १ । त० वा० पृ० २६ ।

वदिति । संतानान्तरसाधकमनुमानं स्वस्मिन् व्यापारव्याहारयोर्ज्ञानकार्यत्वेन प्रतिबन्धनिश्चयादिति चेत्, न, एतस्यानुमानस्यार्थस्येव स्वप्नदृष्टान्तेन भ्रान्ततापत्तेः, तथाहि—सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवदिति, तदभिप्रायेण यथा बहिरर्थग्रहणस्य निरालम्बनतया बाह्यार्थाभावस्तथा संतानान्तरसाधनस्यापि निरालम्बनतया [1]संतानान्तराभावः स्यादिति । 'इतरज्ज्ञेयं परोक्षं' प्रागुक्तात् प्रत्यक्षादितरत्–अस्पष्टतयार्थस्य स्वपरस्य ग्राहकं–निर्णायकं परोक्षं ज्ञेयम्–अवगन्तव्यम् । परोक्षमप्येतत् स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षमेव बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयन्नाह 'ग्रहणेक्षया' इति । इह ग्रहणं प्रस्तावादपरोक्षे बाह्यार्थे ज्ञानस्य प्रवर्तनमुच्यते न तु स्वस्य

समाधान—अर्थग्राहक पदका तो 'अपने स्वरूपमात्रका ग्राहक' यह भी अर्थ होता है, अभी विज्ञानवादियोने ही अर्थग्राहक पदका 'स्वरूपमात्रका ग्राहक' यह तात्पर्य निकालकर प्रत्यक्षका मात्र स्वरूपग्राहक कहा था । अत. 'ग्रहणेक्षया' पदसे जो योगाचार आदि समस्त ज्ञानोको बाह्य अर्थके निश्चायक न कहकर केवल स्वरूपमात्रके ग्राहक मानते है, उनका निराकरण हो ज़ाता है । जिस प्रकार अन्तःसवेदन अपने स्वरूपको जाननेमे व्यापार करता है उसी तरह वह बाह्य घट पटादि पदार्थोको भी जानता है । यदि ज्ञान बाह्य पदार्थोको न जानकर मात्र स्वरूपका ही प्रकाशक हो; तो सभी प्राणियोको नियत बाह्यदेशमे नीलादि पदार्थोका एक सरीखा प्रतिभास नही हो सकेगा । ज्ञानवादियोके मतसे अपने-अपने ज्ञानका ही नील आदि आकारोमे प्रतिभास होता है, सो वे ज्ञानरूप नीलादि बाहर नही दिखाई देने चाहिए तथा सब प्राणियोको साधारणरूपसे उनका प्रत्यक्ष नही होना चाहिए ज्ञानका आकार तो स्वसवेद्य होता है, साधारण जनसवेद्य नही । परन्तु नीलादि पदार्थ निश्चित बाह्यप्रदेशमे सबको साधारणरूपसे ही प्रतिभासित होते है । अतः बाह्यनीलादि पदार्थोकी सत्ता अवश्य ही माननी चाहिए ।

विज्ञानवादी—ज्ञान ही अनादि वासनाओके विचित्र विपाकसे उन-उन नीलादिरूपोमें बाह्यदेशमे भासित होता है, बाह्य अर्थ तो कोई है ही नही, अत' उसका ग्रहण करनेवाला कोई ज्ञान भी नही है ।

जैन—यदि बाह्यार्थ कोई वास्तविक नही है किन्तु ज्ञान ही नील-पीत आदि अनेक आकारो मे अपनी छटा दिखाता है, तब अपनी ज्ञानसन्तानके सिवाय अन्य ज्ञान सन्ताने, जिन्हे सन्तानान्तर या आत्मान्तर भी कहते है, भी नही माननी चाहिए । वही एक स्वज्ञानसन्तान ही विचित्र वासनाके कारण नीलादि बाह्यपदार्थ रूप तथा सन्तानान्तर रूपसे प्रतिभासित होती रहेगी अन्य ज्ञानसन्तान मानना निरर्थक है ।

विज्ञानवादी—ज्ञानकी अनेक सन्तानोको सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है । जैसे—देवदत्तकी ज्ञान सन्तानसे भिन्न यज्ञदत्त आदिको ज्ञानसन्तानोमे होनेवाली वचन-व्यवहार या प्रवृत्तियां बुद्धिपूर्वक है क्योकि वे वचन व्यवहार तथा प्रवृत्तियां है, जैसे कि खुद अपनी ज्ञानसन्तानमे होनेवाली बुद्धिपूर्वक वचन तथा प्रवृत्तियां । हम अपनी ज्ञानसन्तानमे ही वचन तथा अन्य प्रवृत्तियोंका ज्ञानके साथ कारणकार्यभाव ग्रहण करते है—हममे ज्ञान है अत' अच्छी तरह बोलते है तथा अन्य भोजन आदि प्रवृत्तिया चलाते है । उसी तरह यज्ञदत्त आदि भी बोलते तथा भोजन आदिमे प्रवृत्ति करते है अतः उनकी ये प्रवृत्तियां ही उन्हे स्वतन्त्र ज्ञानसन्तान सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है ।

१ "[illegible] प्रमाणस्य परिशुद्धि ।"
—प्रमाणवार्तिकाल० [illegible]

ग्रहणं, 'स्वग्रहणापेक्षया हि स्पष्टत्वेन सर्वेषामेव ज्ञानानां प्रत्यक्षतया व्यवच्छेद्याभावाद्विशेषण-वैयर्थ्यं स्यात्, ततो ग्रहणस्य बहिःप्रवर्तनस्य² या ईक्षा-अपेक्षा ³तया, बहिःप्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदयमत्रार्थः—परोक्षं यद्यपि स्वसंवेदनापेक्षया प्रत्यक्षं, तथापि लिङ्गशब्दादिद्वारेण बहिर्विषयग्रहणेऽसाक्षात्कारितया व्याप्रियत⁴ इति परोक्षमित्युच्यते ॥५६॥

जैन—आप नीलादि बाह्यपदार्थोंके ग्रहण करनेवाले प्रत्यय-ज्ञानको भ्रान्त कहते हो। आपका यह प्रसिद्ध अनुमान है कि—'ससारके समस्त प्रत्यय निरालम्बन हैं—उनका कोई बाह्य-पदार्थ विषय नही है, वे केवल स्वरूपमात्रको विषय करते हैं—क्योकि वे प्रत्यय हैं। जो-जो प्रत्यय हैं वे सब निरालम्बन—निर्विषयक हैं जैसे कि स्वप्नप्रत्यय। जिस प्रकार स्वप्नमे घट-पट आदि पदार्थोका अस्तित्व न होनेपर भी सैकडो घट-पट आदि पदार्थोका साक्षात् नियतरूपमे प्रतिभास होता है उसी तरह यह जगत् भी एक दीर्घस्वप्न है, इसमे इन घट-पटादि पदार्थोकी कोई सत्ता नही है मात्र ज्ञान ही इन सब रूपोमे प्रतिभासित होता है, अत. जिस तरह आप स्वप्नका दृष्टान्त देकर नीलादि प्रत्ययोको भ्रान्त बताकर बाह्यनीलादि पदार्थोका अभाव करते हो उसी तरह यह सन्तानान्तरका साधक अनुमान भी तो प्रत्यय ही है अत. यह भी स्वप्नके ही दृष्टान्तसे भ्रान्त हो जायेगा और फिर इससे सन्तानान्तरको सिद्धि नही हो सकेगी। सन्तानान्तर साधक अनुमान भी स्वप्नप्रत्ययकी तरह निरालम्बन—निर्विषयक होगा अत सन्तानान्तरका भी अभाव ही हो जायेगा। परन्तु सन्तानान्तरका अभाव किसी भी तरह मानना उचित नही है, क्योकि गुरु-शिष्यवादी प्रति-वादी आदिके रूपसे अनेको ज्ञान-सन्ताने प्रत्यक्षसे ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली अनुभव में आती है।

प्रत्यक्षसे भिन्न—अस्पष्ट रूपमे स्व और परका निश्चय करनेवाला ज्ञान परोक्ष है' अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष होता है। परोक्षज्ञान भी स्वसवेदनकी अपेक्षा प्रत्यक्ष ही होते है, क्योकि सभी स्वरूप सवेदी होनेके कारण स्वरूपमे प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मामें चाहे परोक्षज्ञान उत्पन्न हो या संशयज्ञान उसके स्वरूपका प्रत्यक्ष हो ही जायेगा। यह नहीं हो सकता कि ज्ञान उत्पन्न भी हो जाये और उसका प्रत्यक्ष भी न हो, वह तो दीपककी तरह अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ हो उत्पन्न होता है। अत परोक्ष ज्ञान भी स्वरूपमे प्रत्यक्ष होता है। ये प्रत्यक्ष और परोक्ष सज्ञाएँ तो बाह्यपदार्थके स्पष्ट और अस्पष्टरूपसे जानने के कारण होती है। इसी बातका सूचन करनेके लिए 'ग्रहणेक्षया' पद दिया गया है। अर्थात् वह ज्ञान बाह्यपदार्थके ग्रहणकी अपेक्षासे परोक्ष है। 'ग्रहण' का मतलब इस प्रत्यक्षके प्रकरणमे 'ज्ञानका अपरोक्ष बाह्य पदार्थमे प्रवृत्ति करना' है। न कि स्वरूप मात्रका जानना। स्वरूपको जाननेकी अपेक्षा तो सभी ज्ञान स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हैं अत प्रत्यक्षके लक्षणमे 'अपरोक्षतया' विशेषण व्यर्थ ही हो जायेगा। यदि कोई परोक्ष रूपसे जाननेवाला ज्ञान होता तो उसकी व्यावृत्तिके लिए 'अपरोक्षतया' विशेषण सार्थक होता। इसलिए ग्रहण-बाह्यपदार्थोमे प्रवृत्तिको ईक्षा-अपेक्षासे पदार्थोका अस्पष्ट रूपसे निश्चय करनेवाला ज्ञान परोक्ष है। ग्रहणेक्षाका सीधा अर्थ है बाह्यपदार्थोमे प्रवृत्तिका विचार या अपेक्षा। यद्यपि स्वसवेदन की अपेक्षा परोक्ष भी स्पष्ट होनेसे प्रत्यक्ष है फिर भी वह बाह्यपदार्थोके हेतु या शब्द आदिके द्वारा अस्पष्ट रूपसे जानता है अत परोक्ष कहलाता है। परोक्षता बाह्य अर्थको अपेक्षासे ही है।

---

१. स्वस्य ग्रहणा–म० २। २. –स्येक्षा म० २। ३. तयोर्बहि–म० २। ४. –ते परो–म० २।

§ ३५३. अथ प्रागुक्तामेव वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकतां द्रढयन्नाह–

> येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं[1] यत्तत्सदिष्यते ।
> अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥५७॥

§३५४. व्याख्या—येनेति शब्दोऽग्रे व्याख्यास्यते । वाक्यस्य सावधारणत्वात् यदेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यैः समुदितैर्युक्तं तदेव सद्विद्यमानमिष्यते । उत्पत्तिविनाशस्थितियोग एव सतो वस्तुनो लक्षणमित्यर्थः ।

§ ३५५. ननु पूर्वमसतो भावस्योत्पादव्ययध्रौव्ययोगाद्यदि पश्चात्सत्त्वम्; तर्हि शशशृङ्गादेरपि [2]तद्योगात्सत्त्वं स्यात् । पूर्वं सतश्चेत्; तदा स्वरूपसत्त्वमायातं किमुत्पादादिभिः कल्पितैः । तथोत्पादव्ययध्रौव्याणामपि यद्यन्योत्पादादित्रययोगात्सत्त्वम्; तदानवस्थाप्रसक्तिः । स्वतश्चेत्सत्त्वम्; तदा भावस्यापि स्वत एव तद्भविष्यतीति व्यर्थमुत्पादादिकल्पनमिति चेत् । उच्यते-न हि भिन्नोत्पादव्ययध्रौव्ययोगाद्भावस्य सत्त्वमभ्युपगम्यते, किं तूत्पादव्ययध्रौव्ययोगात्मकमेव सदिति स्वीक्रियते[3] । तथाहि—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा, परिस्फुट[4]मन्वयदर्शनात् ।

---

§ ३५३ अब पहले कही गयी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताको और भी प्रमाणोंसे दृढ करते है–

जिस कारणसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली ही वस्तु सत् होती है इसीलिए पहले अनन्तधर्मात्मक पदार्थको प्रमाणका विषय बताया है ॥ ५७ ॥

§ ३५४. येन' शब्दका व्याख्यान आगे किया जायगा। सभी वाक्य सावधारण—निश्चयात्मक होते है, अत' जो ही वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त होगी वही सत्–विद्यमान कही जा सकती है। उत्पत्ति, विनाश और स्थितिका पाया जाना ही सत् वस्तु का लक्षण है। जिसमे ये तीनो धर्म पाये जाये वही वस्तु सत् कही जा सकती है।

§ ३५५ शंका—जो पदार्थ पहले असत् है वे यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सम्बन्धसे सत् हो जाते हो, तो खरगोशके सीग आदि असत् पदार्थोकी भी उत्पादादिके सम्बन्धसे सत्ता हो जानी चाहिए। यदि पहले सत् पदार्थोमे ही उत्पादादिका सम्बन्ध होता हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादादिके सम्बन्धसे पहले भी वे पदार्थ स्वरूपसे सत् थे, और यदि वे पदार्थ स्वरूपसे ही सत् है तब उनमे उत्पादादिका सम्बन्ध मानकर सत्ता लाना निरर्थक ही है। जिस तरह पदार्थो मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे सत्ता आती है, उसी तरह यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमे अन्य उत्पादादिसे सत्ता आवे और उनमे भी अन्यसे तो अनवस्था दूषण होगा। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अन्य उत्पादादिकी अपेक्षा किये बिना स्वत. ही सत् है, तो समस्त पदार्थ भी उसी तरह स्वत ही सत् हो जायंगे, उनमे भी उत्पादादिसे सत्त्वकी कल्पना निरर्थक ही है।

समाधान—हम लोग 'पदार्थ स्वतन्त्र हो, तथा उत्पादादि भी स्वतन्त्र हो, और उनका सम्बन्ध होनेसे थैलीमे रुपयोकी तरह सत्ता आ जाती हो' ऐसा भेद नही मानते। किन्तु हमारा तो अभिप्राय यह है कि—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोका तादात्म्य ही वस्तु है और वही सत् है उत्पादादि पृथक् तथा वस्तु पृथक् नही है। जैसे, पृथिवी पहाड वृक्ष आदि सभी पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे न तो उत्पन्न ही होते है और न विनष्ट ही, क्योकि उनमे पुद्गल द्रव्यका परिस्फुट निर्बाध अन्वय देखा जाता है। यह एक निर्बाध सिद्धान्त है कि—किसी भी असत् द्रव्यकी उत्पत्ति

१ "उप्पन्ने वा विगए वा धुवे वा।" —स्या० स्या० १०। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।" —तत्त्वा० सू० ५।३०। २ —[illegible] स० २। ३. "न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्। व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्।" —आप्तमी० श्लो० ५७। ४ —स्फुटान्वय— आ०, क०।

§ ३५६. लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानत्वात् ।

"सर्वव्यक्तिषु नियत क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेष ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्[1] ॥" [ ] इति वचनात् ।

§ ३५७. ततो द्रव्यात्मना सर्वस्य वस्तुन. स्थितिरेव, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते[2] वा, अस्खलितपर्यायानुभवस.द्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात्, न खलु सोऽस्खलद्रूपो, येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोपादानाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्याया[3]नुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् ।

नही होती और न सत्का अत्यन्त नाश ही होता है हाँ रूपान्तर अवश्य होता रहता है। अत किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति और नाश तो हो ही नही सकता।

§ ३५६ शंका – देखो, दाल बनवाते समय नख और बालोको कटवाकर फेंक दिया है, उनकी जगह नये ही बाल तथा नाखून निकले हैं। इस तरह बालोका उत्पाद और विनाश स्पष्ट ही अनुभव सिद्ध है। परन्तु 'ये वही बाल हैं ये वही नाखून हैं' इस प्रकार अन्वय यहाँ भी देखा जाता है अत अन्वयके बलपर उत्पाद और व्ययका निषेध करना उचित नही है।

समाधान—आपको हमारे हेतुपर ध्यान देना चाहिए। हमने 'परिस्फुट अन्वय' को हेतु बनाया है। जो अन्वय किसी भी प्रमाणसे बाधित न हो वह 'अन्वय परिस्फुट' कहलाता है और जिसमे बाधा आ जाती है वह तो अपरिस्फुट ही है। कटकर फिरसे उगे हुए बाल या नखोका अन्वय प्रमाणसे बाधित है। वहाँ तो सदृश बालो और नखोमे यह वही हैं' ऐसा एकत्व भान करनेवाला झूठा अन्वय है। पर पृथिवी आदिमे द्रव्यरूपसे पाया जानेवाला अन्वय किसी भी प्रमाणसे बाधित नही है। सत्य प्रत्यभिज्ञानके द्वारा 'यह वही पुद्गल है' इत्यादि अन्वय निर्बाध रूपसे अनुभवमे आते हैं। कहा भी है—"सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं वे जो पहले समयमे थे तो दूसरे समयमे नही रहते। यह प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी सर्वथा भेद या विनाश नही होता। उपचय और अपचय होनेपर भी आकृति जाति या द्रव्यकी सत्ता बनी रहती है।"

§ ३५७ अत. द्रव्यदृष्टिसे समस्त वस्तुओ की स्थिति ही है। पर्यायकी दृष्टिसे वस्तु उत्पन्न भी होती है तथा नष्ट भी। क्योकि पदार्थकी पर्याय—परिवर्तन निर्बाधरूपसे अनुभवमे आता है। हमारा हेतु सफेद शंखमें पीले रगकी पर्यायको जाननेवाले भ्रान्त पीतशखज्ञानसे व्यभिचारी नही है; क्योकि शुक्लशखमे पीली पर्यायका अनुभव तो भ्रान्त है बाधित है। इसीलिए हमने हेतुमे 'अस्खलत्—निर्बाध' विशेषण दिया है। शुक्लशंखमे पीले रंगका अनुभव अभ्रान्त नही है जिससे वह भी पूर्वपर्यायका विनाश उत्तरपर्यायका उत्पाद तथा दोनोमे पायी जानेवाली कभी भी नहीं टूटनेवाली स्थिति रूप परिणामसे अविनाभाव रख सके। जीव आदि पदार्थों मे सुख दु ख उदासीनता आदि पर्यायों का— परिवर्तनोका अनुभव भ्रान्त नही कहा जा सकता, क्योकि पदार्थों का प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन सभीके अनुभवमे आता है, उसमे कोई भी प्रमाण बाधक नही है। जो आदमी अभी खुशहाल है वही एकक्षणमे दु खी तथा दूसरे क्षणमे फिर सुखी देखा जाता है। घटादि पदार्थों का परिवर्तन तो नयेसे पुराना और पुरानेसे जीर्ण होनेसे प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

---

१. उद्धृतेयम्—अनेकान्तवादप्र० पृ० ५१ । २ –तेऽस्ख–म० २ । ३ –पर्यया–म० २ ।

§ ३५८. ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा । यदि भिद्यन्ते; [1]कथमेकं त्र्यात्मकम् । न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्र्यात्मकमिति चेत्; तदयुक्तम्; कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि—[2]उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्; असत आत्मलाभ उत्पादः, सतः सत्तावियोगो विनाशः, द्रव्यरूपतयानुवर्तनं ध्रौव्यम्, इत्येवमसंकीर्णलक्षणानां तेषां सर्वैः प्रतीतेः । न चामी परस्परानपेक्षत्वेन भिन्ना एव, [3]परस्परानपेक्षाणां खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, [4]स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत्, एवं स्थितिरपि केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव, इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च कथं [5]नैकं त्र्यात्मकम् । तथा चोक्तम्—

---

§ ३५८ शंका—ये उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य तीनो ही परस्पर भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र पदार्थ है तो एक वस्तुमे कैसे रह सकते है ? यदि ये परस्पर भिन्न नही है अर्थात् एक है तब भी एक वस्तुमे तीन धर्म कहाँ रहे ? ये तीनो मिलकर जब एक ही हो गये तब एकधर्मवाली ही वस्तु हुई त्रयात्मक नही ।

समाधान—इन उत्पाद आदिके लक्षण भिन्न-भिन्न है अतः इनमे कथचिद् भेद है । ये कभी भी वस्तुसे भिन्न या परस्पर भिन्न उपलब्ध नही होते, एक वस्तुके उत्पाद आदिको दूसरी वस्तुमे नही ले जा सकते अत ये अभिन्न हैं । उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं क्योकि इनके लक्षण ही भिन्न-भिन्न है । जेसे रूप रस आदिके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे उनमे परस्पर भेद है उसी तरह लक्षण भेदसे उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यमे भी भेद है । उत्पाद, विनाश आदिका लक्षणभेद असिद्ध नही है, क्योकि उनके भिन्न-भिन्न ही लक्षण हैं । जो पदार्थ पहले नही है असत् है उसके स्वरूपलाभ हो जानेको उत्पाद कहते हैं । मौजूद पदार्थकी सत्ताका च्युत हो जाना—उस की सत्ताका वियोग होना विनाश है । इन उत्पाद और विनाशके होते हुए भी द्रव्यरूपसे अन्वय रहना ध्रौव्य है । इस तरह उत्पादादिके असाधारण लक्षण सभीके अनुभवमे आते हैं । ये उत्पादादि लक्षणभेदसे कथचिद् भिन्न होकर भी परस्पर सापेक्ष है एक दूसरेकी अपेक्षा रखते है । ये परस्पर निरपेक्ष होकर अत्यन्त भिन्न नही है । यदि ये परस्पर निरपेक्ष तथा अत्यन्त भिन्न हो जायेगे तो इनका गधेके सीगकी ही तरह अभाव हो जायगा । जैसे अकेला उत्पाद सत् नही है क्योकि वह स्थिति और विनाशसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम । अकेला विनाश सत् नही कहा जा सकता क्योकि वह उत्पत्ति और स्थितिसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम । स्थिति अकेली सत् नही है क्योकि वह उत्पाद और विनाशसे रहित है जैसे कि कछवेके रोम । इस तरह परस्पर सापेक्ष ही

---

१ कथमेकात्मक-आ० । २ -द्रव्ययध्रौ-म० २ । ३. "उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षा खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि—उत्पाद केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ ।" —अष्टश० अष्टसह० पृ० २१० । ४ स्थित्युत्पादरहि-म० २ । ५ नैकमात्मकम् म० २, आ० । "द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचका क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका. क्रियन्ते, पुनरावृत्त सुवर्णपिण्ड पुनरपरया आकृत्या युक्त खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवत , आकृतिरन्या अन्या च भवति द्रव्य पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।"—पात० महाभा० १।१।१ । योगभा० ४।१३ । "वर्धमानकभङ्गे च रुचक क्रियते यदा । तदा पूर्वार्थिन. शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन. ॥२१॥ हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥२२॥ न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् । स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥२३॥" —मी० श्लो० पृ० ६१९ ।

"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौली समुत्पादिते
पुत्र' प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ।।"
घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम् [ष्वयम्]।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।
पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।।" [आप्तमी० श्लो० ५९-६०]

परो हि वादीदं प्रष्टव्यः । यदा घटो विनश्यति तदा किं देशेन विनश्यति, आहोस्वित्सामस्त्येनेति ।

उत्पादादि सत् हो सकते है तथा वस्तुमे भी इनकी परस्पर सापेक्ष ही सत्ता है। बात यह है कि उत्पाद विनाश और स्थिति इन तीनोसे युक्त ही वस्तु सत् होती है। यदि उत्पाद आदि विनाश आदि धर्मों से रहित हो जाये तो वे सत् ही नही हो सकते। इस तरह उत्पाद आदिको परस्पर सापेक्ष होनेसे वस्तु त्रयात्मक सिद्ध हो जाती है। कहा भी है—"एक राजाने सोनेके कलशको तुडवाकर मुकुट बनवाने का विचार किया। सुनार कलशको तोडकर मुकुट बनाने लगा तो राजकुमारीको उसके पानी भरनेके घडेके टूट जानेसे शोक हुआ, राजकुमारको लगानेके लिए मुकुट बन रहा था, सो वह किसी अनिवर्चनीय खुशीके मारे उछला फिरता था, राजा कलश और मुकुट दोनो अवस्थाओमे सोनेकी सत्ता रखनेके कारण मध्यस्थ था। उसे तो सोनेकी सत्तासे ही प्रयोजन था। इस तरह राजकुमारी, युवराज तथा राजाको तीन प्रकारके भाव सोनेके कलश आकारके विनाश, मुकुट आकारके उत्पाद तथा सोनेकी दोनो अवस्थाओमे स्थिति रखनेके कारण ही हुए हैं। इस प्रकार वस्तुमे उत्पाद, विनाश और स्थिति रूप तीन धर्म होनेसे वह त्रयात्मक है।"
'एक सुनार सोनेके घडेको गलाकर मुकुट बना रहा था। कलश खरीदनेवाला कलशका विनाश देखकर दु खी हुआ, जिसे मुकुट खरीदना था उसकी खुशीका पार नही रहा और जिसे सोना खरीदना था वह हर हालतमे सोनेकी स्थिति देखकर मध्यस्थ हुआ न उसे रज ही हुआ और न खुशी ही। इस तरह विभिन्न व्यक्तियोको एक ही साथ तीन प्रकारके भाव घट-नाश, मुकुट-उत्पाद और सुवर्ण-स्थितिके विना नही हो सकते अत वस्तु त्रयात्मक सिद्ध होती है।" जिस व्रतीने आज केवल 'दूध ही पीऊँगा' ऐसा पयोव्रत किया है वह व्रती दही नही खाता। यदि दही अवस्थामे दूधका विनाश नही हुआ तो उस पयोव्रतीको दही भी खा लेना चाहिए, क्योकि दही अवस्थामे भी दूध मौजूद है उसका नाश नही हुआ। पर वह दही नही खाता अत' यह मानना ही चाहिए कि दही जमते समय दूध नष्ट हो जाता है। जिस व्रतीने 'आज मै केवल दही ही खाऊँगा' यह दधिव्रत लिया है वह दूध नही पीता। यदि दूधमे दही नामकी नयी अवस्थाका उत्पाद नही होता है और दूधका नाम ही दही हो तब दधिव्रतीको दूध भी पी लेना चाहिए, क्योकि उसमे किसी नये दहीके उत्पाद होनेकी तो आशा ही नही है। पर दधिव्रती दूध नही पीता, अतः यह मानना ही चाहिए कि दूधसे उत्पन्न होनेवाला दही भिन्न वस्तु है, और दहीका उत्पाद होता है। जिस व्रतीने 'आज मुझे गोरस—गायके दूधसे बनी हुई दूध दही आदि—नही खाना है' ऐसा अगोरस व्रत लिया है वह दूध और दही दोनोको नही खाता। क्योकि गोरसकी सत्ता तो दूधकी तरह दहीमे भी है। यदि गोरस नामकी एक अनुस्यूत वस्तु दूध और दहीमे न हो तो उसे दोनो ही खा लेने चाहिए। पर वह दोनोका ही त्याग करता है अत. गोरसकी दोनोमे स्थिति माननी ही चाहिए। इस तरह वस्तु उत्पादादि तीन धर्मवाली सिद्ध हो जाती है।"

§ ३५९. यदि देशेनेति पक्षः; तदा [1]घटस्यैकदेश एव विनश्येत् न तु सर्वः, सर्वश्च स विनष्टस्तदा प्रतीयते, न पुनर्घटस्यैकदेशो भग्न इति प्रतीतिः कस्यापि स्यात्, अतो न देशेनेति पक्षः कक्षीकारार्हः। सामस्त्येन विनश्यतीति पक्षोऽपि न; [2]यदि हि सामस्त्येन घटो विनश्येत्, तदा घटे विनष्टे कपालानां मृद्रूपस्य च प्रतीतिर्न स्यात्, घटस्य सर्वात्मना विनष्टत्वात्। न च तदा कपालानि मृद्रूपं च न प्रतीयन्ते, मार्दान्येतानि कपालानि न पुनः सौवर्णानीति प्रतीतेः, अतः सामस्त्येनेत्यपि पक्षो न युक्त। ततो बलादेवेदं प्रतिपत्तव्यं घटो घटात्मना विनश्यति कपालात्मनोत्पद्यते मृद्द्रव्यात्मना तु ध्रुव इति।

तथा घटो यदोत्पद्यते, तदा किं देशेनोत्पद्यते, सामस्त्येन वा? इत्यपि परः प्रष्टव्योऽस्ति। यदि देशेनेति वक्ष्यति; तदा घटो देशेनैवोत्पन्नः प्रतीयेत न पुनः पूर्ण इति। प्रतीयते च घटः पूर्ण उत्पन्न इति। ततो देशेनेति पक्षो न क्षोदक्षमः। नापि सामस्त्येनेति पक्षः। यदि सामस्त्येनोत्पन्नः स्यात्, ततो मृदः प्रतीतिस्तदानी न स्यात्, न च सा नास्ति, मार्दोऽयं न पुनः सौवर्ण इत्येवमपि प्रतीतेः। [3]ततो घटो यदोत्पद्यते तदा स घटात्मनोत्पद्यते मृत्पिण्डात्मना विनश्यति मृदात्मना च ध्रुव इति बलादभ्युपगन्तव्यं स्यात्।

---

§ ३५९. यदि वस्तु त्रयात्मक नही है, तो उन न माननेवाले प्रतिवादियोसे पूछना चाहिए कि—जब घडा नष्ट होता है तब वह एकदेशमे कुछ नष्ट होता है या सर्वदेशसे पूराका पूरा? यदि घडा एक देशसे नष्ट होता है, तो पूरे घडेका नाश न होकर उसके एकदेशका ही नाश होना चाहिए। पर हम तो घडेको समूचाका समूचा पूरा ही नष्ट हुआ पाते है। ऐसा तो कोई भी नही कहता कि—'घड़ेका एक हिस्सा फूटा है।' इसलिए घड़ेका एक देशसे नाश मानना तो उचित नही है। यदि घडा पूरा ही सर्वदेशसे नष्ट होता है, तो घडेके नाश होनेपर मिट्टी और खपरियाँ नही मिलनी चाहिए, क्योकि आप तो घडेका पूरे रूपसे अर्थात् मिट्टी और खपरियो आदिके साथ ही साथ सर्वात्मना नाश मानते है। पर घडेके नष्ट होते ही मिट्टी और खपरियाँ वही पडी हुई मिलती ही है। उस समय देखनेवाले कहते है कि 'ये मिट्टीको खपरियाँ है न कि सुवर्णकी।' इसलिए जब घडेके नाश होनेपर मिट्टी और खपरियोका नाश नही होता तब घडेका सर्वात्मना पूरे रूपसे नाश मानना भी समुचित नही है। अन्तमे अनन्यगतिक हो—और कोई तीसरा रास्ता न मिलनेके कारण आपको यह मानना ही होगा कि—'घडा घटरूप पर्यायकी दृष्टिसे नष्ट होता है उससे खपरियाँ उत्पन्न होती है। तथा मिट्टी ज्योकी त्यो स्थिर रहती है।' मिट्टी पहले भी थी अब भी है उसकी घटपर्याय नष्ट हुई तथा खपरियाँ उत्पन्न हुई है। इसी तरह हम पूछेंगे कि जब घडा उत्पन्न होता है तब वह एक देशसे कुछ उत्पन्न होता है या सर्वदेशसे पूराका पूरा? यदि एक देशसे उत्पन्न होता है, तो उसका कुछ हिस्सा ही उत्पन्न होना चाहिए पूरा घडा नही। परन्तु घड़ा तो समूचा उत्पन्न होता है यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। इसलिए एक देशसे घडेकी उत्पत्तिभावना तो उचित नही है। यदि पूरे रूपसे उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी मिट्टी भी उत्पन्न होती है, परन्तु यदि मिट्टीके साथ ही साथ घडा पूरे रूपसे उत्पन्न होवे, तो उस मिट्टीकी प्रतीति नही होनी चाहिए। 'उस समय वह मिट्टी नही है' यह तो नही कहा जा सकता, क्योकि 'यह मिट्टीका घडा है न कि सुवर्णका' यह प्रतीति सभी प्राणियोको होती है। अतः घडा जब उत्पन्न होता है तब 'वह घडेकी पर्यायसे उत्पन्न होता है मिट्टीके पिण्ड रूपसे नष्ट होता है तथा मिट्टी द्रव्यके रूपमे ध्रुव-स्थिर रहता है' यह मानना ही पडेगा। इस त्रयात्मकताके बिना व्यवहार चल ही नही सकता।

---

१. घटै– [illegible] प्रतीतिः स्यात् म० २। २. यदि सा म० २। ३. ततो यदा घट उत्प– म० २।

§ ३६०. यथा हि वस्तु सर्वैः प्रतीयते तथा चेन्नाभ्युपगम्यते, तदा सर्ववस्तुव्यवस्था कदापि न भवेत्। अतो यथाप्रतीत्यैव वस्त्वस्त्विति। अत एव यद्वस्तु नष्टं तदेव नश्यति नङ्क्ष्यति च कथंचित्, यदुत्पन्नं तदेवोत्पद्यत उत्पत्स्ये च कथंचित्, यदेवं स्थितं तदेव तिष्ठति स्थास्यति च कथंचित्। तथा यदेव केनचिद्रूपेण नष्टं तदेव केनचिद्रूपेणोत्पन्नं केनचिद्रूपेण स्थितं च, एवं यदेव नश्यति तदेवोत्पद्यते तिष्ठति च, यदेव नङ्क्ष्यति तदेवोत्पत्स्यते स्थास्यति चेत्यादि सर्वमुपपन्नम्। अन्तर्बहिश्च सर्वस्य वस्तुनः सर्वदोत्पादादित्रयात्मकस्यैवाबाधिताध्यक्षेणानुभूयमानत्वात् अनुभूयमाने च वस्तुनः स्वरूपे विरोधासिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो रूपरसादिष्वपि विरोधप्रसक्तेः। प्रयोगश्चात्रायम्—सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं, सत्त्वात्, यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति तत्सदपि न भवति, यथा खरविषाणम्, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति केवलव्यतिरेकानुमानम्। अनेन च सल्लक्षणेन नैयायिकादिपरिकल्पितः सत्तायोगः सत्त्वं बौद्धाभिमतं चार्थक्रियालक्षणं सत्त्वं द्वे अपि प्रतिक्षिप्ते द्रष्टव्ये। तन्निरासप्रकारश्च ग्रन्थान्तरादवसातव्यः।

---

§ ३६०. जैसी वस्तु सर्वसाधारणके अनुभवमें आती है यदि वैसी न मानी जाय तथा स्वेच्छासे उसके अप्रतीत स्वरूपकी कल्पना की जाय तो संसारकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाये कल्पना तो जलको गरम तथा अग्निको ठण्डा माननेकी भी की जा सकती है, कल्पनापर कोई अंकुश तो है ही नहीं। अतः वस्तुकी जब जिस प्रकारकी निर्बाध प्रतीति हो उस समय उसे उसी ही प्रकारकी माननी चाहिए। इसलिए जो वस्तु पहले नष्ट हुई थी वही आज नाशको प्राप्त कर रही है तथा आगे भी कथंचित्—पर्यायरूपसे नष्ट होगी। जो उत्पन्न हुई थी वही उत्पन्न हो रही है तथा आगे भी कथंचित्—पर्याय रूपसे उत्पन्न होगी। जो स्थिर थी वही स्थिर है तथा आगे भी द्रव्यरूपसे कथंचित् स्थिर रहेगी। जो वस्तु किसी रूपसे नष्ट हुई थी वही किसी अन्यरूपसे उत्पन्न हुई थी तथा वही किसी रूपसे स्थिर थी जो किसी रूपसे नष्ट हो रही है वही किसी अन्य रूपसे उत्पन्न हो रही है तथा किसी रूपसे स्थिर है। जो किसी रूपसे नष्ट होगी वही किसी अन्यरूपसे उत्पन्न होगी तथा किसी रूपसे स्थिर रहेगी। इत्यादि त्रिकालवर्ती वस्तुकी उत्पादादि त्रयात्मकता युक्ति सिद्ध हो जाती है। संसारकी समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओंका सदा उत्पादादि त्रयात्मक रूपसे ही निर्बाध प्रत्यक्षसे अनुभव होता है जब वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक रूपसे अनुभवमें आ रही है तब उसमें विरोधकी शंका भी नहीं हो सकती। वस्तुका स्वरूपसे तो विरोध हो ही नहीं सकता, अन्यथा घड़ेका अपने रूप रस आदि प्रतीतिसिद्ध धर्मोंसे भी विरोध होना चाहिए।

प्रयोग—समस्त वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो उत्पादादि धर्मवाली नहीं है वह सत् भी नहीं है जैसे कि गधे का सींग। चूँकि संसारकी समस्त वस्तुएँ सत् हैं अतः वे उत्पादधर्मवाली हैं। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तुको उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध कर देता है। सत्त्वके इस उत्पादादित्रयात्मकत्व रूप लक्षणसे नैयायिक आदिके द्वारा माना गया सत्ताका सम्बन्ध रूप सत्त्वका लक्षण तथा बौद्धके द्वारा माना गया अर्थक्रिया रूप सत्त्वका लक्षण दोनों ही खंडित हो जाते हैं। क्योंकि इन लक्षणोंमें सत्ता सम्बन्ध सत् पदार्थमें माना जाय या असत्में' इत्यादि दूषण तथा 'अर्थक्रियामें सत्ता यदि अन्य अर्थक्रियासे मानी जाय तो अनवस्था

---

१. "तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति, नश्वर एव तिष्ठति, स्थास्नुरेवोत्पद्यते, स्थितिरेवोत्पद्यते, विनाश एव तिष्ठति, उत्पत्तिरेव नश्यति, स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति, उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति।" —अष्टश० अष्टसह० पृ० ११२। २. "किमिदं कार्यत्वं नाम। स्वकारणसत्तासंबन्ध, तेन सत्ता कार्यमिति व्यवहारात्।" —प्रश० व्यो० पृ० १२९। ३. "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।" —प्र० वा० ३।३।

§ ३६१. अथ येनेति शब्दो योज्यते। येन कारणेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिष्यते, तेन कारणेन मानयोः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणयोर्गोचरो विषयः। अनन्तधर्माः स्वभावाः सत्त्वज्ञेयत्व[1]प्रमेयत्ववस्तुत्वादयो यस्मिन् तदनन्तधर्मकमनन्तपर्यया[2]त्मकमनेकान्तात्मकमिति यावत्। वस्तु—जीवाजीवादि, उक्तमभ्यधायि। अयं भावः—यत एवोत्पादादित्रयात्मकं परमार्थसत्, तत एवानन्तधर्मात्मकं सर्वं वस्तु [3]प्रमाणविषयः, अनन्तधर्मात्मकतायामेवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकताया उपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति।

§ ३६२. अत्रानन्तधर्मात्मकस्यैवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव भूयोऽनन्तधर्म[4]कपदप्रयोगो न पुनः पाश्चात्यपद्योक्तेनानन्तधर्मकपदेनात्र पौनरुक्त्य[5]माशङ्कनीयमिति। तथा च प्रयोगः—अनन्तधर्मात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरमिति व्यतिरेक्यनुमानम्। अनन्ताश्च धर्मा यथैकस्मिन् वस्तुनि भवन्ति, तथा प्रागेव दर्शितम्। धर्माश्चोत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, [6]धर्मी च द्रव्यरूपतया[7] सदा नित्यमवतिष्ठते। धर्माणां धर्मिणश्च कथंचिदनन्यत्वेन धर्मिणः सदा सत्त्वे कालत्रयवर्तिधर्माणामपि कथंचिच्छक्तिरूपतया सदा सत्त्वं अन्यथा धर्माणामसत्त्वे [8]कथंचि-

---

यदि अर्थक्रिया स्वत सत् हो तो पदार्थ भी स्वत. सत् हो जाये' इत्यादि दूषण आते है। इन लक्षणोका विस्तृत खडन अन्य ग्रन्थोमे देख लेना चाहिए।

§ ३६१ अब श्लोकके 'येन' शब्दका सम्बन्ध मिलाते हैं—जिस कारणसे वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली मानकर सत् मानते है उसी कारणसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाणोके विषय अनन्त धर्मवाले जीवादिपदार्थ कहे गये है। जिसमे अनन्त धर्म सत्त्व ज्ञेयत्व प्रमेयत्व वस्तुत्व आदि स्वभाव पाये जाते है वह अनन्त धर्मक अनन्त पर्यायात्मक या अनेकान्तात्मक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि—जिस कारण उत्पादादि तीन धर्मवाली ही वस्तु परमार्थसत् है इसीलिए सभी वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली है और वे ही प्रमाणके विषय होती है। वस्तुको अनन्तधर्मवाली माननेपर ही उसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घट सकते हैं। यदि वस्तु अनेक धर्मवाली न हो नित्य या क्षणिक किसी एक रूपवाली हो; तो उसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नही वन सकते। सर्वथा नित्यमे उत्पाद और व्यय नही हो सकते तथा क्षणिक स्थिरता—ध्रौव्य नही वन सकता। नित्यत्व क्षणिकत्व आदि अनन्तधर्मवाली वस्तुमे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता निर्वाध युक्तियोसे सिद्ध होता है।

§ ३६२ इसी अनन्तधर्मात्मकताका उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतासे अविनाभाव वतानेके लिए इस श्लोकमे भी 'अनन्तधर्मात्मक' पदका प्रयोग किया है। इसलिए पहलेके श्लोकमे कहे गये 'अनन्तधर्मात्मक' पदके कारण इस पदको पुनरुक्त नही कहना चाहिए, क्योकि यहाँ वह उत्पादादित्रयात्मकके साथ अविनाभाव सूचनके लिए प्रयुक्त हुआ है और इसीलिए वह सार्थक है। प्रयोग—समस्त वस्तुएँ अनन्तधर्मवाली हैं क्योकि उनमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं। जो अनन्तधर्मवाले नही है उनमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी नही पाये जाते जैसे कि आकाशके कमलमे। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान वस्तुको निर्विवाद रूपसे अनन्तधर्मवाली सिद्ध कर देता है। जिस जिस तरह एक वस्तुमे अनन्तधर्म सिद्ध होते है वे प्रकार पहले वता चुके है। धर्म-स्वभाव-पर्याय उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं तथा धर्मी द्रव्य या स्वभाववान् पदार्थ द्रव्यरूपसे स्थिर रहता है, नित्य है। धर्म और धर्मीमे कथंचित् अभेद है, अत. जव धर्मी सदा स्थायी है नित्य है

१ –[illegible] –म० २। २ –पर्यया–म० २। ३ वस्तु विषय म० २। ४ –धर्मात्मकपद–आ०। ५ –नरुक्तिमिति म० २। ६ धर्मी द्रव्य–म० २। ७ –या नित्य–म० १, म० २, प० १, प० २। ८ [illegible]–म० २।

त्तदभिन्नस्य धर्मिणोऽप्यसत्त्वप्रसङ्गात् ।

§ ३६३. न च धर्मिणः सकाशादेकान्तेन भिन्ना एवाभिन्ना एव वा धर्माः, तथानुपलब्धेः, कथंचित्तदभिन्नानामेव तेषां प्रतीतेश्च ।

§ ३६४. न चोत्पद्यमानविपद्यमानतत्तद्धर्मसद्भावव्यतिरेकेणापरस्य धर्मिणोऽसत्त्वमेवेति वक्तव्यं, धर्म्याधारविरहितानां केवलधर्माणामनुपलब्धेः, [1]एकधर्म्याधाराणामेव च तेषां प्रतीतेः, उत्पद्यमानविपद्यमानधर्माणामनेकत्वेऽप्येकस्य तत्तदनेकधर्मात्मकस्य द्रव्यरूपतया ध्रुवस्य धर्मिणोऽबाधिताध्यक्षगोचरस्यापह्नोतुमशक्यत्वात्, अबाधिताध्यक्षगोचरस्यापि धर्मिणोऽपह्नवे सकलधर्माणामपह्नवप्रसङ्गात् । तथा च सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति सिद्धमनन्तधर्मात्मकं वस्तु । प्रयोगश्चात्र- विवादास्पदं वस्त्वेकानेकनित्यानित्यसदसत्सामान्यविशेषाभिलाप्यनभिलाप्यादिधर्मात्मकं, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वात्, यद्यथैवास्खलत्प्रत्ययेन [2]प्रतीयमानं तत्तथैव प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् यथा घटो घटरूपतया प्रतीयमानो घटतयैव प्रमाणगोचरोऽभ्युपगम्यते न तु पटतया, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानं च वस्तु, तस्मादेकानेकाद्यात्मकं प्रमाणगोचरतयाभ्युपगन्तव्यम् ।

तो उससे अभिन्न कालत्रयवर्ती अनन्तधर्म भी कथंचित् शक्तिरूपसे सदा रहते हैं। यदि धर्मोका त्रैकालिक सत्त्व न माना जाय तो धर्मोके अभावसे उससे अभिन्न धर्मीका भी अभाव हो जायगा।

§ ३६३. धर्म न तो धर्मीसे सर्वथा अभिन्न ही है और न सर्वथा भिन्न ही। धर्मीसे सर्वथा भिन्न या अभिन्न धर्म किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध नही होते। प्रमाण तो धर्म और धर्मीमे कथंचिद् भेद को ही ग्रहण करता है। धर्मीको छोड़कर स्वतन्त्र धर्म कही नही मिलते और न धर्मोसे शून्य धर्मी ही। धर्मधर्म्यात्मक वस्तु ही सदा प्रमाणका विषय होती है।

§ ३६४ **बौद्ध**—उत्पन्न होनेवाले तथा विनष्ट होनेवाले धर्मोको छोड कर किसी अतिरिक्त धर्मीका सद्भाव नही है। धर्म ही प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं तथा विनष्ट होते रहते हैं। उन धर्मो मे रहनेवाला कोई स्थायी या अन्वय रखनेवाला धर्मी नही है।

जैन—धर्मीरूप आधारके विना निराधार धर्मोकी उपलब्धि नही होती। धर्म किसी न किसी आधारभूत धर्मीमे ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि उत्पन्न तथा विनष्ट होनेवाले धर्मी अनेक—भिन्न या अनित्य हैं फिर भी उन अनेकधर्मोका आधारभूत धर्मी द्रव्यरूपसे एक अभिन्न और नित्य है। ऐसा धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाणोका निर्बाध रूपसे विषय होता है, उसका लोप करना असम्भव है। यदि प्रत्यक्ष सिद्ध निर्बाध धर्मीका भी लोप किया जाय, तो इसी न्यायसे समस्त धर्मोका भी लोप हो जायगा और इस तरह धर्म और धर्मी दोनोंका लोप होनेसे संसारके समस्त प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारो का उच्छेद हो जायगा। 'घडा ही उत्पन्न या विनष्ट होता है' इस प्रतीतिमे उत्पाद और विनाशका आधार घटरूप धर्मी अनुभवसिद्ध है ही। इस तरह समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक या अनन्तधर्मवाले सिद्ध हो जाते हैं। प्रयोग—संसारके समस्त विचाराधीन पदार्थ एक अनेक नित्य अनित्य सत् असत् सामान्य विशेष वाच्य अवाच्य आदि रूपसे अनेकधर्मात्मक है, क्योकि वे अनन्तधर्मात्मक रूपसे ही निर्बाध प्रतीतिके विषय होते है। जो पदार्थ जिस रूपसे निर्बाध प्रतीतिका विषय होता है वह उसी रूपसे प्रमाणका विषय होता है जैसे घटरूपसे निर्बाध प्रतीतिमे प्रतिभासित होनेवाला घडा घटरूपसे ही प्रमाणका विषय होता है न कि पटरूपसे। चूंकि नित्य अनित्य एक या अनेक आदि रूपसे ही समस्त पदार्थो का निर्बाध प्रतिभास होता है अत समस्त वस्तुओको एक अनेक आदि अनेकान्तात्मक रूपसे ही प्रमाणका विषय मानना चाहिए।

---

१ धर्म्याधा–म० २। एकधर्माधा–क०। २ प्रतीयते तत्त–म० २।

§ ३६५. न चात्र स्वरूपासिद्धो हेतुः, तथैवास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वस्य सर्वत्र वस्तुनि विद्यमानत्वात् । न हि [1]द्रव्यपर्यायात्मकाभ्यामेकानेकात्मकस्य[2] नित्यानित्यात्मकस्य च स्वरूपपररूपाभ्यां सदसदात्मकस्य सजातीयेभ्यो विजातीयेभ्यश्चानुवृत्तव्यावृत्तरूपाभ्यां सामान्यविशेषात्मकस्य [3]स्वपरपर्यायाणां [4]क्रमेणाभिलाप्यत्वेन युगपत्तेषामनभिलाप्यत्वेन चाभिलाप्यानभिलाप्यात्मकस्य[5] च सर्वस्य पदार्थस्यास्खलत्प्रत्ययेन प्रतीयमानत्वं कस्यचिदसिद्धम् । तत एव न [6]संदिग्धासिद्धोऽपि, न खल्वबाधकतया प्रतीयमानस्य वस्तुनः संदिग्धत्वं नाम । नापि विरुद्धः, विरुद्धार्थसंसाधकत्वाभावात् । न हि साङ्ख्यसौगताभिमतद्रव्यैकान्तपर्यायैकान्तयोः काणादयौगाभ्युपगतपरस्परविविक्तद्रव्य[7]पर्यायैकान्ते च तथैवास्खलत्प्रत्ययेन [8]प्रतीयमानत्वमास्ते, येन विरुद्धः[9] स्यात् । नापि पक्षस्य प्रत्यक्षादिबाधा, येन हेतोरकिंचित्करत्वं स्यात् । नापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता साधनविकलता वा, न खलु घटस्यैकानेकादिधर्मात्मकत्वम् तथैवास्खलत्प्रत्ययप्रतीयमानत्वं [10]चासिद्धं, प्रागेव दर्शितत्वात् । तस्मादनवद्यं प्रयोगमुपश्रुत्य किमित्यनेकान्तो नानुमन्यते ।

---

§ ३६५ हमारा हेतु स्वरूपसे असिद्ध नही है, क्योकि अनेकान्तात्मक रूपसे समस्त वस्तुओका निर्बाध प्रतिभास होता ही है । द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य तथा एक है और पर्याय रूपसे अनित्य तथा अनेक । स्वरूप स्वक्षेत्र आदिकी दृष्टिसे वस्तु सदात्मक है तथा पररूप या परक्षेत्र आदिकी दृष्टिसे असदात्मक । सजातीय पदार्थो मे एक जैसा अनुगत प्रत्ययका कारण होनेसे सामान्यात्मक तथा विजातीय पदार्थोसे व्यावृत्त प्रत्ययका कारण होनेसे विशेषात्मक है । स्वपर्याये या परपर्याये क्रमसे तो शब्दोके द्वारा कही जा सकती है अत वस्तु अभिलाप्य—वाच्य है तथा उनको एक साथ कहनेवाला कोई शब्द नही है इसलिए वस्तु अवाच्य है । इस तरह वस्तुके नित्य अनित्य आदि अनेकधर्म निर्बाध प्रतीतिके विषय होते ही है । इनकी निर्बाधता किसीसे छिपी हुई नही है, वह तो सर्व प्रसिद्ध है । चूंकि उक्त प्रतीति निर्बाधरूपसे सर्वजन प्रसिद्ध है अत. उसमे सन्देह पैदा नही किया जा सकता इसीलिए हमारा हेतु सन्दिग्धसिद्ध नही है । निर्बाधप्रतीतिमे सन्देहका क्या काम ? हमारा हेतु साध्यसे उलटे अर्थको सिद्ध नही करता अत. विरुद्ध भी नही है । साख्यके द्वारा माने गये द्रव्यैकान्त—सर्वथानित्यत्व, बौद्धोके द्वारा माने गये पर्यायैकान्त सर्वथा क्षणिकत्व तथा वैशेषिक और नैयायिकोके द्वारा स्वीकृत द्रव्य-पर्याय—सामान्य और द्रव्य गुण कर्म आदिके सर्वथा भेदका तो कभी भी अनुभव नही होता जिससे हमारा अनेकान्तात्मक वस्तुको सिद्ध करनेवाला हेतु विरुद्ध कहा जाय । हमारा अनेकान्तात्मक रूप प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे बाधित नही है जिससे हेतु बाधित होकर अकिंचित्कर कहा जाय । हमारा घट नामका दृष्टान्त भी साध्यशून्य या साधनशून्य नही है । एक-अनेक आदि अनेक धर्मवाला घडा जिस प्रकार निर्बाध प्रतीतिका विषय होता है वह प्रक्रिया पहले बता ही चुके हैं । इस तरह इन निर्दोष अनुमानके द्वारा जब निर्बाधरूपसे वस्तुकी अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है तब आप प्रामाणिक होनेका दावा रखकर भी उसे क्यो नही स्वीकार करते ?

---

१ द्रव्यपर्यायात्मा–म० २ । द्रव्यपर्यायात्मन्या–म० १, प० १, प० २ । २. –स्य च नि–म० २ ।
३ –पर्याया–म० २ । ४ क्रमेणाभिलाप्यानभिलाप्यत्वेन युगपत्तेषामनभिलाप्यानभिलाप्यात्म–म० २ ।
५. –स्य सर्व–म० । ६. संदिग्धोऽसिद्धोऽपि म० २ । ७ पर्यये–म० २ । ८ –मास्ति येन म० २ ।
९ –रस्यात्मकोऽपि पक्षस्य म० २ । १० वा सिद्ध म० २ ।

§ ३६६. ननु[1] सत्त्वासत्त्वनित्यानित्याद्यनेकान्तो दुर्धरविरोधादिदोषविषमविषधरदष्टत्वेन कथं स्वप्राणान् धारयितुं धीरतां दधाति। तथाहि–यदेव वस्तु सत् तदेव कथमसत्। [2]असच्चेत् सत्कथमिति विरोधः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परपरिहारेण स्थितत्वात्, शीतोष्णस्पर्शवत्। यदि पुनः

---

§ ३६६ शंका—एक ही वस्तुमे सत्त्व-असत्त्व नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्मोका सद्भाव रूप अनेकान्तको तो विरोध आदि दोष रूपी काले नागने इस तरह डँस लिया है कि विचारेको अपने प्राणोका धारण करना ही कठिन हो रहा है। इस अनेकान्तमे विरोध आदि आठो दूषण आते है। जैसे जो वस्तु सत्—विद्यमान है वही असत् कैसे हो सकती है? यदि असत् है, तो सत् कैसे हो सकती है? इस तरह सत्त्व और असत्त्व एक साथ नही रहते। जहाँ सत्त्व होगा वहाँ असत्त्व नही रह सकता। जैसे शीत और उष्णता एक दूसरेका परिहार करके रहती हैं उसी तरह सत्त्व और असत्त्व भी एक दूसरेका परिहार—परहेज करके रहते है। यदि सत्त्व

---

१ "अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते। एषामेव न सत्त्व स्यात् एतद्भावावियोगत ॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते। पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्यय कथम् ॥ ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धी कथ सत्त्वं प्रतीयते। प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात्सत्त्व कुतोऽन्यथा ॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुन संभव क्वचित्। अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत् ॥"—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० १४२। "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।" —हेतुवि० टी० पृ० १४६। "भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ॥१५॥"—पंचास्तिकाय। "द्रव्यपर्यायरूपत्वाद् द्वैरूप्य वस्तुन किल। तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेद सञ्ज्ञादिभेदत ॥१॥ भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथ न वा। प्रत्येक ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते ॥६२॥ न चैव गम्यते तेन वादोऽय जाल्मकल्पित ॥४५॥ —हेतुवि० टी० पृ० १०४–१०७। तत्त्वसं० पृ० ४८६। "तद्वति सामान्यविशेषवति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तमभेदभेदौ स्याताम् अथ सामान्यविशेषयो कथचिद्भेद इष्यते। अत्राप्याह—अन्योन्यमित्यादि। सदृशासदृशात्मनो सामान्यविशेषयो यदि कथचिदन्योन्य परस्पर भेद तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात् दिगम्बरस्यापि तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्। मिथ्यावाद एव स्याद्वाद।" —प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ३३२–४२। "सद्भूता धर्मा सत्तादिधर्मे समाना भिन्नाश्चापि यथा निर्ग्रन्थादीनाम्। तन्मत न समञ्जसम्। कस्मात्। न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात् " उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्। "भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूत न्यायासिद्ध सत्याभास गृहीतम्।" —विज्ञप्ति० परि० २ ख० २। "एक हीद वस्तूपलभ्यते। तच्चेदभाव, किमिदानी भावो भविष्यति। तद्यदि पररूपतयाभाव, तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश तथा अभावत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मक स्यात्।" —तत्त्वे प० पृ० ७८–७९। "नित्यानित्ययो विधिप्रतिषेधरूपत्वात् अभिन्ने धर्मिण्यभाव एव सदसत्त्वादेरपीति।" —प्रश० व्यो० पृ० २०। "नैकस्मिन्नसंभवात् ।२।२।३३। न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेश सभवति, शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्यु, इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूप ज्ञान सशयज्ञानवत्प्रमाणमेव स्यात्। अनेकात्मक वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमान सशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूम। निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्व सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्, स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एव निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एव सति कथ प्रमाणभूत सन्तीर्थकर प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टु शक्नुयात्।"—ब्रह्मसू० शा० भा० २।२।३३। विज्ञानामृत-भा०, श्रीकण्ठभा०, अणुभा०, निम्बार्कभा० २।२।३३। वेदान्तदी० पृ० १११। २ असच्च सत्कथम् म० २।

सत्त्वमसत्त्वात्मना असत्त्वं च सत्त्वात्मना व्यवस्थितं स्यात् तदा सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात्प्रतिनियत-व्यवहारोच्छेदः स्यात् । एवं नित्यानित्यादिष्वपि वाच्यम् । तथा सत्त्वासत्त्वात्मकत्वे वस्तुनोऽभ्यु-पगम्यमाने सदिदं वस्त्वसद्वेत्यवधारणद्वारेण निर्णीतेरभावात् संशयः । तथा येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि सत्त्वासत्त्वम् । यद्याद्यः पक्षः, तदा स्याद्वादहानिः । द्वितीये पुनः येनांशेन सत्त्वं तेन किं सत्त्वमेवाहोस्वित्तेनापि सत्त्वासत्त्वमित्यनवस्था । तथा येनांशेन भेदः तेन किं भेद एवाथ तेनापि भेदाभेदः । आद्ये मतक्षतिः । द्वितीये पुनरनवस्था । एवं "नित्यानित्य-सामान्यविशेषादिष्वपि वाच्यम् । तथा सत्त्वस्यान्यदधिकरणमसत्त्वस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेन सत्त्वमसत्त्वं च स्यादिति संकरः, 'युगपदुभयप्राप्तिः संकरः' इति वचनात् । तथा येन रूपेण सत्त्वं तेनासत्त्वमपि स्यात् येन चासत्त्वं तेन सत्त्वमपि स्यादिति व्यतिकरः, 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' इति वचनात् । तथा सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे जलादेर-प्यनलादिरूपता[3], अनलादेरपि जलरूपता, ततश्च जलार्थ्यनलादावपि [4]प्रवर्तेत, अनलार्थी च

और असत्त्वकी स्थिति एक दूसरेका परिहार करके न मानी जाय, तो इसका यह अर्थ हुआ कि सत्त्व भी असत्त्व रूपसे तथा असत्त्व भी सत्त्व रूपसे रहता है, तब सत्त्व और असत्त्वमे एकरूपता होनेसे विद्यमानता तथा गैर मौजूदगीमे कोई भेद ही न रहेगा और इस तरह संसारके समस्त व्यवहारोका लोप हो जायगा 'है' भी 'नही' तथा 'नही' भी 'है' कहा जायगा । इसी तरह मिथ्यात्व और अनित्यत्व आदिमे भी विरोध दूषण आता है । यदि वस्तु सत्त्वासत्त्वात्मक है तो 'उसका सत् या असत्' किसी भी रूपसे निर्णय नही हो सकता अतः 'वह सत् है या असत्' यह सशय हो जाता है । जिस स्वरूपसे वस्तु सत् है उस रूपसे क्या वह सत् ही है या उस रूपसे भी वह सत्त्व और असत्त्व दोनो ही धर्मवाली है ? यदि उस रूपसे सत् ही है, तब एकान्तवाद हो जायगा और सर्वथा सत् ही माननेसे स्याद्वाद कहाँ रहा ? यदि जिस रूपसे सत् है उस रूपसे वह सदसत् दोनो ही धर्मवाली है, तो अनवस्थानामका दूषण होगा, क्योकि वहाँ भी यही प्रश्न बराबर होता रहेगा कि वस्तु जिस रूपसे सत् है उस रूपसे सत् हो या सदसत् ? यदि सत् है तो स्याद्वाद हानि, यदि सदसत् है तो वही प्रश्न फिर होगा इस तरह अनेक अप्रामाणिका धर्मोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दूषण हो जाता है । इसी तरह जिस स्वरूपसे वस्तुमे भेद है उस स्वरूपसे वस्तुमे भेद ही है या भेद और अभेद दोनो ही ? यदि सर्वथा भेद ही माना जाय तो एकान्तवादका प्रसग होनेसे स्याद्वादकी क्षति होगी । यदि भेद और अभेद दोनो हैं तो वही प्रश्न बराबर चालू रहेगा । इस तरह अनवस्था दूषण आता है । इसी तरह वस्तुको नित्यानित्यात्मक या सामान्यविशेषात्मक आदि माननेमे भी अनवस्था दूषण आता है । सत्त्वधर्मका अन्य आधार होना चाहिए तथा असत्त्वधर्मका अन्य । इस तरह इन विरोधीधर्मोंको एक आधारमे न रह सकनेके कारण वैयधि-करण्य दूषण होता है । वस्तुका सत्त्व और असत्त्व दोनो धर्मोंसे आप कथचित्तादात्म्य मानते है, अतः जिस रूपसे वस्तुमे सत्त्व है उस रूपसे उसमे सत्त्व भी होगा तथा असत्त्व भी । इस तरह एक ही रूपसे दोनो धर्मोंकी युगपत् प्राप्ति होनेसे संकर नामका दूषण होगा । कहा भी है—"दोनो धर्मोकी एक साथ प्राप्तिको संकर कहते हैं" जिस रूपसे वस्तुमे सत्त्व है उस रूपसे असत्त्व भी होगा तथा जिस रूपसे वस्तु असत् है उस रूपसे सत् भी होगी इस तरह व्यतिकर दूषण होता है । कहा भी है—"एक दूसरेके विषयमे हस्तक्षेप करने को व्यतिकर कहते हैं" सत्त्वके विषयमे असत्त्व तथा असत्त्वके विषयमे सत्त्वके भी पहुँच जानेसे व्यतिकर दोष स्पष्ट ही है । सभी वस्तुओ को अनेक धर्मवाली माननेसे जलमे भी अग्निरूपता तथा अग्निमे भी जलरूपताका प्रसग होगा ।

१ [illegible]

जलादावपीति, ततश्च प्रतिनियतव्यवहारलोपः। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधः। ततश्च तादृशो वस्तुनोऽसंभव एव।

§ ३६७. अत्रोच्यते—यदेव सत्तदेव कथमसदित्यादि यदवादि वादिवृन्दवृन्दारकेण तद्वचनरचनामात्रमेव, विरोधस्य[1] प्रतीयमानयोः[2] सत्त्वासत्त्वयोरसंभवात्, तस्यानुपलम्भलक्षणत्वात्,

---

तब जल पीनेवाला आगको पोनेके लिए दौड़ेगा तथा जिसे ठंडक दूर करनेके लिए आग तापने की इच्छा है वह जलमे भी प्रवृत्ति करने लगेगा। तात्पर्य यह कि ससारके समस्त नियत व्यवहारो मे गड़बडी होकर व्यवहार लोप नामका दूषण होगा। वस्तुको अनेकान्तात्मक माननेमे कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण सहायक नही होते उलटे उसमे बाधा ही देते हैं अत. प्रमाणबाधा नामका दूषण होता है। जब ऐसी वस्तु न तो किसी प्रमाणका ही विषय होती है और न किसी व्यवहारको ही सिद्ध करती है तो ऐसी वस्तुका अभाव ही मानना चाहिए। ऐसी निरर्थक वस्तुकी सम्भावना ही नही की जा सकती।

§ ३६७. **समाधान**—आपके ये दूषण सर्वथा निर्मूल तथा कोरे बकवाद रूप ही हैं। आपने अपनेको बडा भारी समझकर जो जो 'सत् है वही असत् कैसे ?' यह विरोध दूषण दिया है, वह तो बिलकुल युक्तिशून्य है सिर्फ कहने के ढगसे ही वह विरोध जैसा मालूम होता है। जब

---

१ "विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते।···" —मी० श्लो० पृ० ५६०। "यदप्युक्त भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येद चोद्यम्। एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते। नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोऽपि नेष्यते॥ यत्प्रमाणै· परिच्छिन्नमविरुद्ध हि तत् तथा। वस्तुजात गवाश्वादि भिन्नाभिन्न प्रतीयते॥ न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचित् दर्शयितु शक्यते। सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्त्यात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्भिन्नम्। तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोध कोऽयमुच्यते। विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥ एकरूप प्रतीतत्वात् द्विरूप तत्तथेष्यताम्। एकरूप भवेदेकमिति नेश्वरभाषितम्॥ · अत्र प्रागल्भ्यात् कश्चिदाह—यथा संशयज्ञान स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाण तथा भेदाभेदज्ञानमिति, तदसत्, परस्परोपमर्देन न कदाचित् सहस्थिति। प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणता॥ अत्र पुन· कारण पूर्वसिद्ध मृत्सुवर्णादिलक्षण तत कार्य पश्चाज्जायमान तदाश्रितमेव जायते · अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम्। सग्रहश्लोक —कार्यरूपेण नानात्वमभेद कारणात्मना। हेमात्मना यथाभेद कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥" —भास्करभा० पृ० १६-१७। · तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्। ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम्। न विरोध, सह दर्शनात्। यदि हि 'इद रजतम्, नेद रजतम्' इतिवत् परस्परोपमर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयाताम ततो विरुध्येयाताम्, न तु तयो परस्परोपमर्देन प्रतीति। इयं गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेक वस्तुद्वयात्मक व्यवस्थापयति समानाधिकरण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अत प्रतीतिबलादविरोध। अपेक्षाभेदाच्च, एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेद द्रव्यरूपेण चाभेद ··" —शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५। "विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात्। न चैवमस्तित्वनास्तित्वयो क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिरस्ति, इति भवताभ्युपगम्यते, यतो वध्यघातकभावरूपो विरोध तयो कल्प्येत। न च तथा जीवस्यास्तित्वनास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनि। यदि स्याताम्, अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्ता मात्र सर्वं प्राप्नुवीत। नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावात्तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्। सर्वथैवासत· पुन· आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सत पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्ते नैतयो सहानवस्थान युज्यते। तथा जीवादिषु प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोऽपि न विरोध सम्भवति। · न च तथा अस्तित्व नास्तित्वस्य प्रयोजन प्रतिबध्नाति तस्मिन्नेव काले परद्रव्यादिरूपेणानुपलब्धिबुद्धयुत्पत्तिदर्शनात्। नास्तित्व वा सदस्तित्वप्रयोजनं प्रतिबध्नाति तदैव स्वरूपाद्यपेक्षयोपलब्धिबुद्धिदर्शनात्। तस्माद् वाङ्मात्रमेव विरोध।" —त० वा० पृ० २६१। प्रमाणस० पृ० १०३। अष्टश० अष्टसह० पृ० २०६। तत्त्वार्थ० श्लो० पृ० ४३४। सन्मति० टी० पृ० ४५१। न्यायकुमु० पृ० ३७०। न्या० र० पृ० ७४१। प्रमेयरत्न मा० ४।१। प्रमाणमी० पृ० २८। स्याद्वादम० पृ० १९७। सप्तभंगीत० पृ० १८१। शास्त्रवा० टी० पृ० २६६। २ —मानयोरसभ—म० १, म० २, प० १, प० २।

वन्ध्यागर्भे स्तनन्धयवत् । न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्यात्, शीतोष्णवत् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोध एकत्राम्रफलादौ रूपरसयोरिव संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न पुनरसंभवतोः संभवदसंभवतोर्वा । एतेन वध्यघातकभावविरोधोऽपि फणिनकुलयोर्बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोराशङ्कनीय एव, तयोः समानबलत्वात्, मयूराण्डरसे नानावर्णवत् ।

§ ३६८, किं च, अयं विरोधः किं स्वरूपमात्रसद्भावकृतः, उतैककालासंभवेन, आहोस्विदेकद्रव्यायोगेन, किमेककालैकद्रव्याभावतः, उतैककालैकद्रव्यैकप्रदेशासंभवात्, तत्राद्यो न युक्तः; यतो न हि शीतस्पर्शोऽनपेक्षितान्यनिमित्तः स्वात्मसद्भाव एवोष्णस्पर्शेन सह विरुध्यते, उष्णस्पर्शो वेतरेण, अन्यथा त्रैलोक्येऽप्यभावः स्यादनयोरिति । नापि द्वितीयः, एकस्मिन्नपि काले पृथक्

वस्तुमे सत्त्व और असत्त्व दोनों ही प्रतीत हो रहे है तब उनमे विरोध कैसा ? विरोध तो उनमे होता है जिन दोनोकी एक साथ अनुपलब्धि रहती है । जैसे वन्ध्या—बाँझ स्त्रीके गर्भमे लड़का नही पाया जाता अत वन्ध्या स्त्रोके गर्भका और बालबच्चे का विरोध है । शीत और उष्ण एक साथ नही रह सकते अत इनमे सहानवस्थान—एक साथ नही रहना नामका विरोध माना जाता है । परन्तु वस्तुमे जिस समय स्वरूपकी अपेक्षा सत्त्व रहता है उसी समय पररूपकी अपेक्षा असत्त्वके रहने मे कोई आपत्ति तो है ही नही जिससे इनमे शीत और उष्णकी तरह सहानवस्थान नामका विरोध माना जाय । यदि सत्त्वके रहते समय असत्त्वकी अनुपलब्धि होती तो कदाचित् उनमे विरोध माना जाता । पर घडा जिस समय घट है उसी समय वह पट नही है । एक आमके फलमे रूप अपनी स्थितिमे रसकी अपेक्षा नही रखता तथा अपनी स्थितिमे रूपकी, अतः इनमे परस्परपरिहारस्थिति—स्वतन्त्रस्थिति—नामका विरोध माना जाता है । यह विरोध दो विद्यमान पदार्थो मे ही होता है, जब दोनो अविद्यमान हो, या एक विद्यमान और दूसरा अविद्यमान तब उनमे यह विरोध नही हो सकता । अतः यदि रूप और रसकी तरह सत्त्व और असत्त्वमे परस्पर परिहारस्थितिलक्षण विरोध मानना है तो वस्तुमे दोनोकी सत्ता माननी पडेगी । जब वस्तुमे दोनोकी सत्ता सिद्ध हो गयी तो उसकी अनेकान्तात्मकता अपने ही आप सिद्ध हो जाती है । साँप और नेवलेमे वध्यघातक भाव नामका विरोध होता है । यह विरोध हमेशा बलवान् और कमजोरमे हुआ करता है । सो सत्त्व और असत्त्व तो दोनो ही समान बलशाली है इसलिए कोई एक दूसरेका घात नही कर सकता । जिस प्रकार मोरके अण्डेके द्रव पदार्थमे स्वभावसे ही अनेक रग होते है उसी तरह वस्तुमे सत्त्व-असत्त्व आदि अनेक धर्म होते हैं ।

§ ३६८. आप यह बताइए कि इन सत्त्व-असत्त्व आदि धर्मोमे विरोध क्यो होता है ? क्या दोनोका स्वतन्त्र स्वरूप होनेसे ही उनमे विरोध होता है, या दोनो एक समयमे एक साथ नही रह सकते अथवा एक द्रव्यमे दोनो एक साथ नहीं रह सकते, अथवा एक कालमे एक द्रव्यमे नही रह सकते, या एक समयमे एक द्रव्यके एक प्रदेशमे नही रह सकते ? दोनोका स्वतन्त्र स्वरूप होनेसे ही तो विरोध नही कहा जा सकता, क्योकि शीतस्पर्श अपने स्वरूपसे ही अन्य किसी समीपदेश सयोग आदि निमित्तके बिना ही यदि उष्ण स्पर्शका विरोधी हो जाय या उष्ण स्पर्श शीतस्पर्शका विरोधी हो जाय; तो ससारसे ही दोनोका लोप हो जाना चाहिए । शीतस्पर्श अपने स्वरूपके सद्भाव मात्रसे जहाँ कही भी रहकर सारे त्रिलोकके उष्णस्पर्शका नाश कर देगा तथा उष्णस्पर्श अपने स्वरूपकी सत्तासे ही त्रिलोकके शीतस्पर्शका लोप कर देगा । एक समयमे होनेसे भी विरोध नही कहा जा सकता, क्योकि एक ही समयमे शीत और उष्ण दोनोका ही पृथक्-पृथक् सद्भाव हो सकता है तथा है भी उसी समय बरफ ठण्डा

पृथग्द्वयोरप्युपलम्भात् । नापि तृतीयः; एकस्मिन्नपि लोहभाजने रात्रौ शीतस्पर्शो दिवा चोष्णस्पर्शः समुपलभ्यते, न च तत्र विरोधः । नापि तुरीय, धूपकडुच्छुकादौ द्वयोरप्युपलम्भात् । पञ्चमोऽपि न घटते, यत एकस्मिन्नेव तप्तलोहभाजने स्पर्शापेक्षया यत्रैवोष्णत्वं तत्रैव प्रदेशे रूपापेक्षया शीतत्वम् । यदि हि रूपापेक्षयाप्युष्णत्वं स्यात्, तर्हि जननयनदहनप्रसङ्गः ।

§ ३६९. नन्वेकस्य युगपदुभयरूपता कथं घटत इति चेत्, न, यतो यथैकस्यैव पुरुषस्यापेक्षावशाल्लघुत्वगुरुत्वबालत्ववृद्धत्वयुवत्वपुत्रत्वपितृत्वगुरुत्वशिष्यत्वादीनि[1] परस्परविरुद्धान्यपि युगपदविरुद्धानि तथा सत्त्वासत्त्वादीन्यपि । तस्मान्न[2] सर्वथा भावानां विरोधो घटते कथंचिद्विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधकः ।

है तथा अग्नि गरम । एक द्रव्यरूप आधारकी अपेक्षा भी विरोध नही कहा जा सकता, क्योंकि एक ही लोहेका बर्तन रात्रिमे ठण्डा तथा दिनमे गरम देखा जाता है । उस लोहेके बर्तनमे रहने वाले शीतस्पर्श तथा उष्णस्पर्शमें कोई विरोध नही देखा जाता । एक द्रव्यमे एक समयमे भी दो धर्मोका विरोध नही माना जा सकता; क्योकि धूपदहनी तथा करछुली आदि एक ही अवयवीद्रव्य मे उसी समय एक ओर ठण्डापन तथा दूसरी ओर उष्णस्पर्श पाया जाता है । धूपदहनी और करछुलीको जिस तरफसे पकडते हैं, वह उस ओर ठण्डी तथा दूसरी ओर गरम रहती है । एक समयमे एक द्रव्यके एक ही प्रदेशकी अपेक्षा भी विरोध नही कह सकते, क्योकि तपे हुए लोहेके बर्तनके जिस प्रदेशमे स्पर्शकी अपेक्षा उष्णता पायी जाती है उसी प्रदेशमे रूपकी अपेक्षा शीतलता सुहावनापन मालूम होता है । यदि उसका रूप भी गरम होता तो देखने वालोकी आँखें जल जानी चाहिए थी ।

§ ३६९ शंका—एक वस्तुमे एक साथ परस्परविरोधी दो धर्म कैसे रह सकते हैं ? एक ही वस्तुकी यह युगपत् उभयरूपता तो किसी भी तरह समझमें नही आती ।

समाधान—देखो, जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समयमे एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओसे छोटा, बड़ा, बच्चा, बूढा, जवान, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य आदि परस्पर विरुद्ध रूपोंको धारण करता है, उसी तरह सत्त्व असत्त्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वस्तुमे एक ही साथ पाये जाते हैं । जिस समय देवदत्त अपने लड़केका बाप है उसी समय वह अपने बापका बेटा भी तो है, अपने शिष्यका यदि गुरु है तो अपने गुरुका शिष्य भी तो है । यदि किसी कम उमर जवानकी अपेक्षा बूढा है तो किसी अधिक उमरवाले बूढेकी अपेक्षा जवान भी तो है । तात्पर्य यह कि एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओसे एक ही वस्तुमे अनेको विरोधी धर्म रहते हैं । इसलिए पदार्थोमें सर्वथा अत्यन्तविरोध तो नही कहा जा सकता । कथचित् थोडा बहुत विरोध तो सभी पदार्थोमे पाया जाता है । जो एक वस्तुमें धर्म है वह दूसरीमे नही हैं । वस्तुओंमे कथंचिद् विरोध हुए विना भेद ही नही हो सकता । अतः कथचिद् विरोध तो प्रयत्न करने पर भी नही हटाया जा सकता इसलिए वह अपरिहार्य—अवश्यभावी होनेसे दूषणरूप नही है ।

---

१. –त्वपितृत्वपुत्रत्वगुरु–म० २ । "यथा एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता भागिनेय इत्येवमादय सबन्धा जनकत्वजन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते, अर्पणाभेदात् । पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादि तथा द्रव्यमपि सामान्यापेक्षया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति विरोध ।" —सर्वार्थसि० ५।३२ । "अर्पणाभेदादविरोध. पितापुत्रादिसंबन्धवत् ।" —त० वा० पृ० ३६ । २. –न्न भावाना सर्वथा वि–म० २ ।

§ ३७०. तथा संशयोऽपि न युक्तः, सत्त्वासत्त्वयोः[1] स्फुटरूपेणैव प्रतीयमानत्वात् । अदृढप्रतीतौ हि संशयः, यथा क्वचित्प्रदेशे स्थाणुपुरुषयोः । तथा यदुक्तम्—'अनवस्था' इति; तदप्यनुपासितगुरोर्वचः, यतः सत्त्वासत्त्वादयो वस्तुन एव धर्माः, न तु धर्माणां धर्माः, 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचनात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्तहानिः, अनेकान्तस्य[3] सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्, अन्यथानेकान्तस्यैवाघटनात् नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।

§ ३७१. किं च, प्रमाणार्पणया सत्त्वेऽपि [5]सत्त्वासत्त्वकल्पनापि भवतु । न च तत्र कश्चनापि दोषः । ननूक्तमनवस्थेति चेत्, न, यतः साप्यनेकान्तस्य भूषणं न दूषणं, अमूलक्षि(क्ष)तिकारित्वेन प्रत्युतानेकान्तस्योद्दीपकत्वात्, मूलक्षि(क्ष)तिकरी[6] ह्यनवस्था दूषणम् । यदुक्तम्—

---

§ ३७० वस्तुमे सत्त्व और असत्त्व दोनों ही साफ-साफ स्फुट रूपसे प्रतीत हो रहे है अतः संशय हो ही नही सकता । यदि इनकी दृढ प्रतीति न होकर चलित प्रतीति होती तो संशय कहा जा सकता था । जैसे किसी प्रदेशमे 'यह स्थाणु–ठूँठ है या पुरुष' यह चलित प्रतीति संशय रूप हुआ करती है । अनवस्था नामका दूषण तो ऐसे व्यक्तिका दिया हुआ मालूम होता है जिसने गुरुके पास क ख भी नही पढा है । सत्त्व और असत्त्व वस्तुके धर्म है धर्मोके धर्म नही है । कहा भी है—"धर्मोके धर्म नही होते धर्म निर्धर्म होते हैं ।" 'धर्म धर्मरूप ही है' इस एकान्तके माननेसे अनेकान्तकी हानि नही हो सकती, क्योकि अनेकान्त सच्चे एकान्तका अविनाभावी होता है । यदि सम्यगेकान्त न हो तो उनका समुदायरूप अनेकान्त ही नही बन सकेगा । नयकी दृष्टिसे एकान्त तथा प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्त माना जाता है । जो एकान्त-एकधर्म वस्तुके दूसरे-धर्मोकी अपेक्षा करता है उनका निराकरण नही करता वह सच्चा एकान्त है यह सुनयका विषय होता है । जो एकान्त अन्यधर्मोका निराकरण करता है वह मिथ्या एकान्त है यह दुर्नयका विषय होता है । सम्यगेकान्तोके समुदायको ही अनेकान्त—अनेकधर्मवाली वस्तु कहते हैं । यह अनेकान्तात्मक वस्तु प्रमाणका विषय होती है । प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा उक्त व्यवस्थामे कोई भी बाधा तो आती ही नही है प्रत्युत ये प्रत्यक्ष और अनुमान इस अनेकान्तके साधक ही हैं ।

§ ३७१ प्रमाणकी दृष्टिसे सत्त्व भी वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण वस्तुरूप हो जाता है अतः उसमे भी सत्त्व और असत्त्वकी कल्पना खुशीसे कीजिए हमे उसमे कोई आपत्ति नही है और न उसमे कोई दोष ही है । इस स्थितिमे अनवस्था दूषणकी बात कहना तो निरर्थक ही है; क्योकि ऐसी अनवस्था-अनन्तधर्मोकी कल्पना तो अनेकान्तकी साधक होनेसे भूषणरूप है न कि दूषण । यह अनन्तधर्मकल्पना रूप अनवस्था तो मूलवस्तुका नाश नही करनेके कारण उलटी अनेकान्तका उद्दीपन ही करती है इससे अनेकान्तकी पुष्टि ही होती है । जहाँ मूल वस्तुका लोप

---

१ "संशयहेतुरिति चेन्न, विशेषलक्षणोपलब्धेः ।" —त० वा० पृ० ३६ । अष्टसह० पृ० २०७ । न्यायकुमु० पृ० ३६८ । २ "तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां त्रयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमनेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।" —अष्टसह० पृ० २०८ । ३ "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।" —बृ० स्वय० श्लो० १०३ । त० वा० पृ० ३५ । ४. प्रमाणादने–आ०, ब० । ५ सत्तासत्त्व–म० २ । ६ –क्षिकारी ब० ।

"मूलक्षि(क्ष)तिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम् ।
वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ च [1]नानवस्थापि (स्था वि) वार्यते ॥१॥"

ततो यथा यथा सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पना विधीयते, तथा तथानेकान्तस्यैवोद्दीपनं [2]न तु मूलवस्तुक्षि(क्ष)तिः। तथाहि–इह सर्वपदार्थानां स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्। तत्र जीवस्य तावत्सामान्योपयोगः स्वरूपं, तस्य तल्लक्षणत्वात्, ततो[3]ऽन्योऽनुपयोगः पररूपम्, ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते। तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः स्वरूपं, दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपं, तद्विपरीतं तु पररूपम्, ततस्ताभ्यां तत्रापि [4]सत्त्वासत्त्वे। तथा पुनर्ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपं, दर्शनस्यापि [5]चक्षुरचक्षुर्निमित्तं चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपं, अवधिदर्शनस्याप्यवध्यालोचनं स्वरूपं, अन्यच्च पररूपम्। ततस्ताभ्यां तत्रापि सत्त्वासत्त्वे। परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं स्वार्थाकारग्रहणं स्वरूपं, अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपं, प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनः[6]पर्यायरूपस्य मनोऽक्षानपेक्षं स्पष्टार्थग्रहणं स्वरूपं, सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपं, ततोऽन्यत्पररूपम्। ताभ्यां पुनरपि तत्रापि सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये। एवमुत्तरोत्तरविशेषाणामपि स्वपररूपे तद्वेदिभिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषा-

होता है वही अनवस्था दूषणरूप है। कहा भी है—"अनवस्था दूषण मूलवस्तुकी क्षति करने वाला होता है इससे मूल वस्तुका ही लोप हो जाता है। परन्तु जहाँ वस्तुकी अनन्तरूपता होनेके कारण हमारी बुद्धि थक जाय वह उसके अन्ततक न पहुँचे उस वस्तुकी अनन्ततामे अनवस्थाका विचार नही किया जा सकता। वस्तुकी अनन्तताके कारण यदि अनवस्था है तो उसका वारण नही किया जाता वह तो भूषण है।" तो सत्त्वको वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण वस्तु रूप मानकर उसमे जैसे-जैसे सत्त्व असत्त्व आदि धर्मो की कल्पना की जायगी वैसे ही वैसे अनेकान्तका उद्दीपन—पुष्टि होगी। इसमे मूल वस्तुकी क्षति न होकर उसके स्वरूपका सम्पोषण ही होगा। जैसे—सभी पदार्थोमे स्वरूपसे सत्त्व तथा पररूपसे असत्त्व है। जीवका सामान्यसे ज्ञानदर्शनरूप उपयोग ही स्वरूप है, क्योकि जीवका असाधारण लक्षण उपयोग ही है। उपयोगसे भिन्न अनुपयोग अचेतनत्व पररूप है। इन उपयोग और अनुपयोगसे सत्त्व और असत्त्वका विचार किया जाता है। उपयोगमे भी विशेषरूपसे ज्ञानोपयोगका स्वरूप है स्व और अर्थका निश्चय करना। दर्शनोपयोगका स्वरूप है निराकार सामान्य आलोचन करना। इनसे विपरीतधर्म पररूप होगे। अत. इन दोनोसे सत्त्व और असत्त्वका विचार किया जायगा। ज्ञानमे भी परोक्षका स्वरूप है अस्पष्टज्ञान तथा प्रत्यक्षका स्पष्टज्ञान। दर्शनमे भी चक्षुदर्शनका स्वरूप है चक्षुरिन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानके पहले पदार्थका सामान्य अवलोकन करना। अचक्षुदर्शनका स्वरूप है—चक्षुसे भिन्न स्पर्शनादि इन्द्रियोसे होनेवाले ज्ञानके पहले सामान्य प्रतिभास करना। अवधिज्ञानके पहले होनेवाला सामान्य प्रतिभास अवधिदर्शन है। ये तो हुए इनके स्वरूप, और इनसे विपरीतधर्म पररूप होते है। इनसे इनमे सत्त्व और असत्त्वका विचार करना चाहिए। परोक्षमे भी मतिज्ञानका स्वरूप है इन्द्रिय और मनके द्वारा स्व और अर्थका निश्चय करना श्रुतज्ञानमात्र मनके निमित्तसे ही होता है। प्रत्यक्षमे भी अवधिज्ञान और मन.पर्याय रूप विकल प्रत्यक्षका स्वरूप है—इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना ही तत्तत् ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही पदार्थोको स्पष्ट जानना। समस्त द्रव्योकी समस्त पर्यायोको साक्षात् हस्तामलकवत् जानना सकलप्रत्यक्ष है। ये तो इनके स्वरूप है और इनसे भिन्न पररूप है। इनके द्वारा इनमे फिर भी सत्त्व और असत्त्वका विचार होना

१ –वस्थेति वा–म० २। २ न मूल–म० १, भ० २, प० १, प० २, आ०, क०। ३ न्योपयोग म० २। ४ सत्वासत्व म० १, म० २, प० १, प० २, क०। ५ चक्षुर्निमित्त चक्षुराद्यालो–म० १, प० १, प० २। चक्षुर्निमित्त चक्षुरालो–म० २। ६ –पर्यय–म० २।

णामनन्तत्वात् । एवं घटपटादिपदार्थानामपि स्वपररूपप्ररूपणा कार्या, तदपेक्षया च सत्त्वासत्त्वे प्रतिपाद्ये । एवं च वस्तुनः [1]सत्त्वेऽपि सत्त्वासत्त्वकल्पनायामनेकान्तोद्दीपनमेव, न पुनः कापि क्षि(क्ष)तिरिति ।

§ ३७२. ननु सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पने 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचो विरुध्यते । मैवं वोचः । अद्याप्यनभिज्ञो भवान् स्याद्वादामृतरहस्यानां, यतः [2]स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः स एव स्वधर्मान्तरापेक्षया धर्मी, एवमेवानेकान्तात्मकव्यवस्थोपपत्तेः[3] । ततः सत्त्वेऽपि सत्त्वान्तरकल्पनायां सत्त्वस्य धर्मित्वं, सत्त्वान्तरस्य च धर्मत्वमिति[4] धर्मिण एव धर्माभ्युपगमान्न पूर्वोक्तदोषावकाशः । न चैवं धर्मस्यापि धर्मान्तरापेक्षया धर्मित्वप्राप्त्यानवस्था, अनाद्यनन्तत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य, दिवसरात्रिप्रवाहवत्, बीजाङ्कुरपौर्वापर्यवत्, अभव्यसंसारवद्वा । एवं नित्यानित्यभेदाभेदादिष्वपि वाच्यम् ।

§ ३७३. तथा वैयधिकरण्यमप्यसत्[5]; निर्बाधकाध्यक्षबुद्धौ सत्त्वासत्त्वयोरेकाधिकरणत्वेन

है । इस तरह आगे-आगेके धर्मोंके स्व-पररूपका समझदार पुरुषोको स्वयं ही विचार कर लेना चाहिए, क्योकि इनके भेद-प्रभेद तो अनन्त है, जिसकी जितनी शक्ति और बुद्धि हो वह उतने ही स्व-पररूपकी कल्पना कर सकता है । इसी तरह घट-पट आदि पदार्थोंके भी स्वरूप और पररूपका विचार करके उनसे सत्त्व और असत्त्वका निरूपण करना चाहिए । इस तरह वस्तुके सत्त्वधर्ममे भी सत्त्व और असत्त्व की कल्पना करनेसे अनेकान्तका उद्दीपन ही होता है इससे कोई हानि तो हो ही नही सकती ।

§ ३७२ शंका—यदि सत्त्वधर्ममे भी अन्य सत्त्व आदि कल्पना की जायेगी तो आपका 'धर्मोमे अन्यधर्म नही होते' यह सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा ।

समाधान—तुम आज तक भी स्याद्वादामृतके रहस्यको नही समझ सके हो इसका समझना गूढ है । बात यह है जो सत्त्व अपनी आधारभूत वस्तुकी अपेक्षा धर्म है वही अपनेमे रहनेवाले अन्य धर्मोकी अपेक्षा धर्मी रूप भी होता है । इसी प्रकार हर एक वस्तु तथा वस्त्वंशमें धर्म और धर्मी रूपसे अनेकान्तात्मकता है । अत. सत्त्व भी अन्य सत्त्वधर्मकी कल्पना करनेसे धर्मीरूप हो जाता है और दूसरा सत्त्व धर्म रहता है, इस तरह जो धर्म था वही धर्मी तथा जो धर्मी है वही धर्म भी हो सकता है । जिस समय सत्त्वमे अन्य कोई धर्म रहता है उस समय वह धर्मरूप न होकर धर्मीरूप होता है । अतः कोई दोष नही है । सत्त्वधर्मको अन्य किसी धर्मकी अपेक्षा धर्मी माननेसे अनवस्था दूषणकी शका भी नही करनी चाहिए, क्योकि जिस प्रकार दिवसके बाद रात्रि तथा रात्रिके बाद दिन अनन्तकालतक बराबर होता रहता है अथवा जिस तरह बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी परम्परा अनन्तकाल तक चलती है या जिस प्रकार अभव्यजीवके संसारमे एक पर्यायके बाद दूसरी पर्याय क्रमश. अनन्तकाल तक होती जाती है ठीक उसी तरह अनादिसे अनन्तकालतक धर्म-धर्मिव्यवहारकी परम्परा चालू रहती है । जो ज्ञान जीवका धर्म है वही अपनेमे रहनेवाले सत्त्वकी अपेक्षा धर्मी है । सत्त्व ज्ञानकी अपेक्षा धर्म होकर भी अपने प्रमेयत्वकी अपेक्षा धर्मी है । इस तरह धर्मधर्मिभाव अनादि अनन्त है । इसी तरह नित्य अनित्य भेद अभेद आदि धर्मोको व्यवस्थाका विचार करना चाहिए ।

§ ३७३ वैयधिकरण–भिन्न आधारोमे रहना–दूषणकी बात तो नरासर आँखोमे धूल झोकना है, क्योकि निर्बाध प्रत्यक्षसे एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनो ही धर्मोकी प्रतीति होती ही

१ सत्त्वे सत्ता–म० २ । २ स्वधर्मादि–म० २ । ३ –वस्थोपपत्ते म० २ । ४. –ति धर्मिण एव धर्मान्तरमिति धर्मिण एव आ०, क० । ५ "नापि वैयधिकरण्यम्, एकाधारतया निर्बाधबोधे तयो. प्रतिभासमानत्वात् ।"—न्यायकुसु० पृ० २७१ । स्याद्वादम० पृ० २०६ ।

प्रतिभासनात्। न खलु तथाप्रतिभासमानयोर्वैयधिकरण्यं, एकत्र फले रूपरसयोरपि तत्प्रसङ्गात्।

§ ३७४. [2]संकरव्यतिकरावपि मेचकज्ञानदृष्टान्तेन निरसनीयौ। यथा मेचकज्ञानमेकमप्यनेकस्वभावं, न च तत्र संकरव्यतिकरौ, एवमत्रापि। किं च यथानामिकाया युगपन्मध्यमाकनिष्ठिकसयोगे ह्रस्वदीर्घत्वे न च तत्र संकरादिदोषः[3] एवमत्रापि।

§ ३७५. तथा यदप्यवादि 'जलादेरप्यनलादिरूपता' इत्यादि; तदपि महामोहप्रमादिप्रलपितप्रायम्; यतो जलादेः स्वरूपापेक्षया जलादिरूपता न पररूपापेक्षया[4], न ततो जलार्थिनामनलादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः, स्वपरपर्यायात्मकत्वेन [5]सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा वस्तुस्वरूपस्यैवाघटमानत्वात्।

§ ३७६. किं च, भूतभविष्यद्गत्या जलपरमाणूनामपि भूतभाविवह्निपरिमाणापेक्षया वह्निरूपताप्यस्त्येव। तथा तप्तोदके कथंचिद्वह्निरूपतापि जलस्याङ्गीक्रियत एव। प्रत्यक्षादिवृद्धौ प्रति-

है। जिस तरह एक आम आदि फलमे रूप और रस जब स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं तो उनमे वैयधिकरण्य नही कहा जा सकता उसी तरह एक ही वस्तुमे जव सत्त्व और असत्त्वका साफ-साफ स्फुट अनुभव होता है तव उनमे वैयधिकरण्यदूषण देना किसी भी तरह उचित नही कहा जा सकता।

§ ३७४ जिस प्रकार अनेक रंगोका मिश्रित प्रतिभास करानेवाला मेचकरत्नका ज्ञान एक होकर भी अनेक स्वभाव या आकारवाला है पर उसके आकार न तो एक दूसरे रूप हो होते हैं और न सवकी युगपत् प्राप्ति हो होती है उसी तरह एक वस्तुको सत्त्व असत्त्व आदि अनेकधर्मवाली मानने पर भी सकर और व्यतिकर दूषण नही हो सकता। देखो छिगुरीके पासकी अनामिका—विना नामवाली अंगुली वीचवाली मध्यमा अगुलीसे छोटी तथा कनिष्ठा—सवसे छोटी छिगुरीसे वड़ी है, परन्तु उसमे एक साथ छोटापन तथा वड़ापन होनेमे संकर या व्यतिकर दूषण तो नही आता? उसी तरह वस्तुमे सत्त्व और असत्त्व दो धर्म माननेमे भी कोई दूपण नही है।

§ ३७५. आपने जो 'जलमे भी अग्निरूपताका प्रसंग' दिया है, वह तो अत्यन्त तीव्र मोही-अज्ञानीके प्रलाप जैसा ही है, क्योकि जल आदि पदार्थोमे अपने जल स्वरूप आदिकी दृष्टिसे जलादि रूपता है न कि अग्नि आदि पररूपकी अपेक्षासे। अत जलार्थी–प्यासा अग्निको पीनेके लिए क्यो दौडेगा? पानी पानी रूपसे सत् है न कि अग्नि रूपसे। संसारकी समस्त वस्तुएँ किन्ही पदार्थोके साथ स्वपर्याय रूपसे तथा किन्ही पदार्थोके साथ परपर्याय रूपसे सम्वन्ध रखती है अत किसीसे अस्तित्वरूप और किसीसे नास्तित्वरूप सम्वन्ध होनेसे सभी वस्तुएँ सर्वात्मक मानी जाती है। अन्यथा वस्तुकी व्यवस्था हो घट नही सकती। जलका अपनी शीतलता आदिके साथ यदि स्वपर्यायरूपसे अस्तित्वात्मक सम्बन्ध है तो अग्नि आदिके साथ परपर्यायरूपसे नास्तित्वात्मक सम्वन्ध भी तो है।

§ ३७६ पुद्गलद्रव्यके विचित्र परिणमन होते हैं। जो परमाणु आज जलरूप हैं सम्भव है कि वे घडी भर वाद आग रूप या हवा रूप हो जॉय। इनके सदा जल रूप या अग्निरूप ही रहनेका कोई नियम नही है। अत. वहुत कुछ सम्भव है कि यही अग्निके परमाणु जो आज जल हैं, पहले अग्निरूप रहे हो या आगे अग्निरूपसे परिणत होगे। इसलिए भूत और भविष्यत् अग्नि

१ –मानवै–भ० २। २ "नापि सङ्कर-व्यतिकरौ, स्वस्वरूपेणैव अर्थे तयो प्रतीयमानत्वात्।" —न्यायकुमु० पृ० ३७१। "एकत्र वहुभेदाना सभवान्मेचकादिवत् ॥" —न्यायविनि० ३।४५। "यथा कल्मापवर्णस्य यथेष्टं वर्णनिग्रह ॥५७॥ चित्रत्वाद्वस्तुनोऽप्येव भेदाभेदाववारणम्। यदा तु शवल वस्तु युगपत्प्रतिपद्यते ॥६२॥ तदान्यानन्यभेदादि सर्वमेव प्रलीयते ॥" —मीमांसाश्लो० आकृतिवाद। "एकानेकस्वभावात्मकत्वं मेचकस्य वा। कथं च एकस्य नरसिंहत्वम् उमेश्वरत्वं वा स्यात्।" —न्यायकुमु० पृ० ३६९। ३ –दोपपोप एव–म० २। ४. –यत्ततो न जला–म० २। ५ सर्वस्वार्यस्य म० २।

भासमानयो[1]: सत्त्वासत्त्वयोः का नाम प्रमाणबाधा। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, अन्यथा सर्वत्रापि तत्प्रसङ्गः। प्रमाणप्रसिद्धस्य च नाभावः कल्पयितुं शक्यः, अतिप्रसङ्गात्, प्रमाणादिव्यवहार-विलोपश्च स्यादिति।

§ ३७७. एतेन [2]यदप्युच्यते 'अनेकान्ते प्रमाणमप्यप्रमाणं सर्वज्ञोऽप्यसर्वज्ञः सिद्धोऽप्यसिद्धः' इत्यादि, तदप्यक्षरगुणनिकामात्रमेव; यतः प्रमाणमपि स्वविषये प्रमाणं परविषये चाप्रमाणमिति स्याद्वादिभिर्मन्यत एव। सर्वज्ञोऽपि स्वकेवलज्ञानापेक्षया सर्वज्ञः सांसारिकजीवज्ञानापेक्षया त्वसर्वज्ञः। यदि तदपेक्षयापि सर्वज्ञः स्यात्; तदा सर्वजीवानां सर्वज्ञत्वप्रसङ्गः, सर्वज्ञत्वस्यापि छाद्मस्थिकज्ञानित्वप्रसङ्गो वा। सिद्धोऽपि स्वकर्मपरमाणुसंयोगक्षयापेक्षया सिद्धः परजीवकर्म-संयोगापेक्षया त्वसिद्धः। यदि [3]तदपेक्षयापि सिद्धः स्यात्; तदा सर्वजीवानां सिद्धत्वप्रसक्तिः

पर्यायकी अपेक्षा जलको भी अग्निरूप कह सकते है। गरम जलमे तो कथचिद् अग्निरूपता मानी ही जाती है। अतः वर्तमान जल पर्यायसे चलने वाले लोक व्यवहारमे कोई विरोध नही आ सकता। जब सत्त्व और असत्त्व प्रत्यक्षबुद्धिमे स्पष्टरूपसे प्रतिभास होता है तब प्रमाणबाधाका प्रसंग ही कैसे आ सकता है? प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थमे अनुपपत्ति कैसी? अन्यथा सभी पदार्थोमे विवाद हो सकता है। प्रमाणसिद्ध वस्तुका अभाव भी कैसे किया जा सकता है? अन्यथा संसारके समस्त पदार्थोका अभाव हो जायगा। और सभी व्यवहारोका लोप हो जायगा।

§ ३७७ इस विवेचनसे आपका यह कहना 'अनेकान्तवादमें प्रमाण भी अप्रमाण, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ तथा सिद्ध भी ससारी हो जायगा' भी केवल अर्थशून्य अक्षरोकी गिनतीके समान ही निरर्थक है। क्योकि स्याद्वादी प्रमाणको भी अपने विषयमे ही प्रमाण रूप मानते हैं, पर विषयमे तो वह अप्रमाण रूप ही है। घटज्ञान घटविषय मे प्रमाण है तथा पटादिविषयोमें अप्रमाण। अत. एक ही ज्ञान विषयभेदसे प्रमाण भी है तथा अप्रमाण भी। सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञानकी अपेक्षा सर्वज्ञ है तथा संसारी जीवोके अल्पज्ञानकी अपेक्षा असर्वज्ञ। यदि संसारियोके ज्ञानकी अपेक्षा भी वह सर्वज्ञ हो जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसारके समस्त प्राणी सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ अपने ज्ञानके द्वारा ही सबको जानता है। यदि वह हम लोगोके ज्ञानके द्वारा भी पदार्थोका ज्ञान कर सके तो फिर उसकी आत्मा और हमारी आत्मामे कोई अन्तर ही नही रहेगा। जिस तरह हम अपने ज्ञानसे जानते है उसी तरह सर्वज्ञ भी हमारे ही ज्ञानसे जानता है। अत. सर्वज्ञ और हमारी आत्मा मे अभेद होनेसे या तो सर्वज्ञकी तरह हम सब लोग सर्वज्ञाता हो जायेंगे या हमारी तरह सर्वज्ञ भी अल्पज्ञ ही हो जायगा। सिद्ध–मुक्तजीव भी अपने साथ लगे हुए कर्मपरमाणुओंसे छूटकर सिद्ध हुए है अत वे स्वसयोगी कर्मपरमाणुओको अपेक्षा मुक्त हुए है न कि अन्य आत्माओसे सयुक्त कर्म परमाणुओकी अपेक्षा। यदि वे अन्य आत्माओंसे संयुक्त कर्म परमाणुओकी अपेक्षा भी सिद्ध माने जाय. तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'अन्य आत्माओके धर्म भी सिद्धजीवके स्वपर्याय है तभी तो वह अन्य आत्माओसे सयुक्त कर्म परमाणुओको अपेक्षा भी सिद्ध माना जाता है।' इस तरह अन्य ससारी आत्माएँ तथा सिद्ध आत्माओमे सीधा स्वपर्यायका सम्बन्ध होनेसे अभेदरूपता हो जायगी और इससे या तो समस्त ससारी जीव सिद्ध हो जायगे या फिर सिद्ध ससारी हो जांयगे। अभेद

---

१ –नयो: आ, म० २। २ 'स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः।''—ब्रह्मसू० शां० भा० २।२।३३। ''तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्तते इति मुक्तो न मुक्तश्चेति स्यात्। एवं च सति स एव मुक्तः संसारी चेति प्रसक्तेः।'' —प्रश० व्यो० पृ० २०८। ३ तदपि म० २।

स्यात्। एवं 'कृतमपि न कृतम्, उक्तमप्यनुक्तम् भुक्तमप्यभुक्तम्' इत्यादि सर्वं यदुच्यते परैः, तदपि निरस्तमवसेयम्।

§ ३७८. ननु सिद्धानां कर्मक्षयः किमेकान्तेन कथंचिद्वा, आद्येऽनेकान्तहानिः। द्वितीये सिद्धानामपि सर्वथा कर्मक्षयाभावादसिद्धत्वप्रसङ्गः, संसारिजीववदिति, अत्रोच्यते—सिद्धैरपि स्वकर्मणां क्षयः स्थित्यनुभागप्रकृतिरूपापेक्षया चक्रे, न परमाण्वपेक्षया। न ह्यणूनां क्षयः केनापि कर्तुं पार्यते, अन्यथा मुद्गरादिभिर्घटादीनां [1]परमाणुशो विनाशे कियता कालेन सर्ववस्त्वभावप्रसङ्गः स्यात्। ततस्तत्राप्यनेकान्त एवेति सिद्धं दृष्टेष्टाविरुद्धमनेकान्तशासनम्।

§ ३७९. एते हि बौद्धादयः स्वयं स्याद्वादवादं युक्त्याभ्युपगच्छन्तोऽपि तं वचनैरेव निरा-

---

पक्षमें एकरूपता हो हो सकती है या तो सब संसारी बने रहें या फिर सब मुक्त हो जाँय। इसी तरह अनेकान्तवादमें कहा हुआ भी वचन कथंचित् नहीं कहा हुआ, किया हुआ भी कार्य कथंचित् नहीं किया हुआ, खाया हुआ भी भोजन कथंचित् नहीं खाया हुआ होना चाहिए इत्यादि दूषण भी असत्य हैं, क्योंकि एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे विरोधी धर्म मानना प्रमाणसिद्ध है। जो कार्य किया गया है उसकी ही अपेक्षा 'कृत' जो बात कही गयी है उसकी ही अपेक्षा 'उक्त' तथा जो भोजन खाया गया है उसकी ही अपेक्षा 'भुक्त' व्यवहार हो सकता है न कि अन्यवस्तुओंकी अपेक्षा। अतः अन्यवस्तुओंकी अपेक्षा 'अकृत अनुक्त या अभुक्त' व्यवहार होनेमें कोई भी बाधा नहीं आती।

§ ३७८ शंका—आपके सिद्ध मुक्त जीवोंने कर्मोंका एकान्तसे सर्वथा क्षय किया है या कथंचित्? यदि सर्वथा क्षय किया है; तो अनेकान्तवाद कहाँ रहा? जहाँ कोई भी बात सर्वथा-'ऐसा ही है'—मानी वहीं एकान्तवादका प्रसंग हो जाता है। यदि सिद्धोंने कर्मोंका क्षय कथंचित् किया है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि आपके सिद्ध सर्वथा कर्मरहित नहीं हैं उनमें भी कथंचित् कर्मका सद्भाव है जैसे कि संसारी जीवोंमें। इस तरह अनेकान्तवाद बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

समाधान—सिद्ध जीवोंने भी कर्मपरमाणुओं की स्थिति फल देनेकी शक्ति तथा अपने प्रति कर्मत्वरूपसे परिणमन करनेका नाश किया है न कि कर्मपरमाणुमात्रका समूलनाश। उन्होंने उन परमाणुओंका अपनी आत्मामें कर्मरूपसे सम्बन्ध नहीं रहने दिया। परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य तो नष्ट नहीं किया ही जा सकता। कोई भी अनन्तशक्तिशाली भी किसी द्रव्यका समूलनाश नहीं कर सकता। यदि इस तरह परमाणुओंका नाश होने लगे तो फिर मुद्गर आदि के परमाणुओं तक समूलनाश होनेसे एक न एक दिन संसारसे परमाणुओंका नामोनिशाँ मिट जायगा। उनका सर्वापहारी लोप हो जानेसे संसारके समस्त पदार्थोंका अभाव हो जायगा। अतः जिस तरह मुद्गरकी चोट घड़ेकी पर्यायका नाश करता है और परमाणुओंको पड़े रहने देता है उसी तरह सिद्ध भी कर्मपरमाणुओंकी कर्मत्वपर्यायका नाश करते हैं न कि परमाणुओंका। वे परमाणु जली रस्सीकी तरह सिद्धकी आत्माके ऊपर भी पड़े रहें तब भी बन्धनमें कारण नहीं हो सकते। अतः सिद्धोंके कर्मक्षयमें भी अनेकान्त रूपता है। इस तरह प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंसे सर्वथा अबाधित अनेकान्त शासनकी सिद्धि हो जाती है।

§ ३७९. इन अकाट्य युक्तियोंसे बौद्ध आदि वादी स्वयं स्याद्वादको स्वीकार करते हैं, इसके माने बिना उनका शास्त्रव्यवहार या लोकव्यवहार ही गड़बड़ीमें पड़ जाता है। इस तरह अपने

---

1. परमाणुविना—आ०, क०।

कुर्वन्तो नूनं कुलीनताभिमानिनो मानवस्य स्वजननीमाजन्मतोऽप्यसतीमाचक्षाणस्य वृत्तमनुकुर्वन्ति। तथाहि-प्रथमतः सौगताभ्युपगतोऽनेकान्तः प्रकाश्यते। दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणं, किं तु प्रत्युताप्रमाणं, विपरीताध्यवसायाक्रान्तत्वात्। क्षणिकत्वेऽपि न तत्प्रमाणं अनुरूपाध्यवसायाजननात् नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात्प्रमाणमित्येवं वादिनां बौद्धानामेकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यं,[1] नीलादौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो[2] बलादापतति। तथा दर्शनोत्तरकालभाविनः स्वाकाराध्यवसायिन एकस्यैव विकल्पस्य बाह्यार्थे सविकल्पकत्वमात्म-

---

कार्य तथा व्यवहारमे स्याद्वादको स्वीकार करके भी उसे मुँहसे नही कहना चाहते उलटे उस व्यवहारनिर्वाहक स्याद्वादका अंटसट वचनोसे खण्डन करते है। उस समय उनकी दशा उस मूर्ख कुलीनकी तरह दयनीय हो जाती है, जो अपने कुलकी पवित्रताका अभिमान रख कर भी मूर्खतावश अपने ही वचनोसे अपनी माताको असती—व्यभिचारिणी कहता फिरता हो। सर्व प्रथम बौद्धो ने जिस-जिस प्रकार अनेकान्तवादको अगत्या स्वीकार किया है उसका विवेचन करते है—बौद्ध निर्विकल्पकदर्शनको प्रमाण रूप भी मानते है तथा अप्रमाणरूप भी। उनका मत है कि—निर्विकल्पकदर्शन—प्रत्यक्ष ऐसे साधारण पदार्थको विषय करता है जो क्षणिक भी हो सकता है तथा अक्षणिक—नित्य भी। अनादिकालीन अविद्या और पदार्थोकी प्रतिक्षण सदृशरूपसे उत्पत्ति रूप कारणोसे वस्तुमे 'यह वही वस्तु है' इस प्रकारका नित्यत्वका आरोप हो जाता है। इस मिथ्या आरोपके कारण वस्तु नित्यरूपमे भासित होने लगती है। निर्विकल्पकदर्शन इस नित्यत्वके आरोपमें प्रमाण नही है वह इसका समर्थन नही करता। वह तो उलटा इस नित्यत्वारोपमे अप्रमाण ही है। क्षणिकवस्तुमे नित्यत्वरूप विपरीत आरोप होनेके कारण दर्शन इसमे प्रमाण हो ही नही सकता, क्योकि दर्शन तो वस्तुके अनुसार ही उत्पन्न होता है। इस तरह निर्विकल्पदर्शन नित्यत्व के आरोपमे प्रमाण तो है हो नही बल्कि अप्रमाण ही है। यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन क्षणिक अशका अनुभव कर लेता है परन्तु 'यह क्षणिक है' ऐसे अनुकूल विकल्पको उत्पन्न न करनेके कारण वह क्षणिकाशमे भी प्रमाण नही है। यदि निर्विकल्पक ही क्षणिकाशमे प्रमाण हो जाय, तो अनुमानसे क्षणिकत्वकी सिद्धि करनेकी कोई आवश्यकता ही न होनी चाहिए। और ऐसी हालतमे 'सब क्षणिक है सत् होनेसे' यह अनुमान निरर्थक ही हो जायगा। इस तरह निर्विकल्पक क्षणिक अशमे भी प्रमाण नही है। नीलादि अशोमे तो 'यह नीला है' इस प्रकारके अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण वह प्रमाण माना जाता है। तात्पर्य यह कि एक ही निर्विकल्पक दर्शनको नीलादि अशोमे अनुकूलविकल्पको उत्पत्ति होनेसे प्रमाण रूप तथा क्षणिक और अक्षणिक अंशोमे अप्रमाणरूप माननेवाले बौद्धोने अनेकान्तको बलात् अपना ही लिया है। उनका एक ही दर्शनको प्रमाण और अप्रमाण दोनो रूप मानना अनेकान्तवादका ही समर्थन करना है। इसी तरह वे निर्विकल्पकके बाद उत्पन्न होनेवाले सविकल्पकज्ञानको बाह्यार्थमे सविकल्पक तथा स्वरूपमे निर्विकल्पक मानते हैं। निर्विकल्पकदर्शनके बाद 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होते है। ये विकल्पज्ञान अपने आकारमात्रका ही निश्चय करने वाले होते हैं। ये बाह्य नीलादि अंशोमे ही शब्द योजना होनेसे सविकल्पक होते हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान निर्विकल्पक ही होते है। ज्ञान चाहे निर्विकल्पक हो या सविकल्पक, दोनोका स्वसवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक रूप ही होता है। धर्मकीर्ति नामके बौद्धाचार्यने स्वय न्यायबिन्दुमे कहा है कि—"जिस जिस सामान्य अवस्थाको ग्रहण करनेवाले ज्ञान तथा जैन विशेष अवस्थाओके ग्राहक

स्वरूपे तु सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति वचनान्निर्विकल्पकत्वं च रूपद्वयमभ्युपगतवतां तेषां कथं नानेकान्तवादापत्तिः। तथा हिंसाविरतिदानादिचित्तं यदेव स्वसंवेदनगतेषु सत्त्वबोधरूपत्वसुखादिषु प्रमाणं, तदेव क्षणक्षयित्वस्वर्गप्रापणशक्तियुक्तत्वादिष्वप्रमाणमित्यनेकान्त एव। तथा यद्वस्तु नीलचतुरस्रोर्ध्वतादिरूपतया प्रमेयं तदेव मध्यभागक्षणविवर्त्तादिनाप्रमेयमिति कथं नानेकान्तः। तथा सविकल्पकं स्वप्नादिदर्शनं वा[1] यद्बहिरर्थापेक्षया भ्रान्तं ज्ञानं, तदेव स्वस्वरूपापेक्षयाभ्रान्तमिति बौद्धाः प्रतिपन्नाः। तथा यन्निशीथिनीनाथद्वयादिकं द्वित्वेऽलीकं, तदपि धवल-

---

ज्ञानोंका स्वरूपसवेदन प्रत्यक्ष—निर्विकल्पक होता है" अत एक ही विकल्पज्ञानको बाह्य नीलादिकी अपेक्षा सविकल्पक तथा स्वरूपकी अपेक्षा निर्विकल्पक. इस तरह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनो ही रूप माननेवाले बौद्धोने अनेकान्तवादको स्वीकार कर ही लिया है। उनका एक ही विकल्पको दो रूप मानना अनेकान्तवादके बिना कैसे हो सकता है ? इसी तरह वे अहिसा रूप धर्मक्षणके प्रत्यक्षको अपनी सत्तामे प्रमाण रूप तथा स्वर्गप्राप्त कराने की शक्तिमे अप्रमाण रूप मानते है। हिसासे विरक्त होकर अहिसक बनना तथा दान देना आदि शुभ क्रियाओमे स्वर्ग पहुँचाने की शक्ति आगमसे प्रसिद्ध है, इनको बौद्ध क्षणिक भी मानते हैं। जिस समय कोई व्यक्ति किसी पर अहिसा दया करके उसे कुछ दान देता है उस समयका अहिसा और दानका प्रत्यक्ष अहिसा आदिकी सत्ता, उनकी ज्ञानरूपता तथा उनको सुखरूपताका प्रत्यक्ष ही अनुभव कराता है तथा आगे 'मैने दया की उससे सन्तोष या सुख हुआ' ऐसे अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करनेके कारण वह अहिसा आदिकी सत्ता और सुखरूपतामे प्रमाण माना जाता है। अथवा अहिसा और दान आदि स्वय ज्ञानक्षणरूप है अत वे अपनी सत्ता ज्ञानरूपता तथा सुखरूपताका स्वय ही अनुभव करनेके कारण उक्त अंशोमें प्रमाण है। परन्तु अहिसा आदिमे रहनेवाली स्वर्गप्रापणशक्ति में तथा उसकी क्षणिकतामें वह अहिंसा प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। यद्यपि प्रत्यक्षसे उसकी क्षणिकता तथा स्वर्गप्रापण शक्तिका अनुभव हो जाता है परन्तु उनके अनुकूल 'ये क्षणिक हैं ये स्वर्गप्रापक हैं' इत्यादि विकल्पोकी उत्पत्ति न होनेके कारण प्रत्यक्ष इन अशोमे प्रमाण नही माना जाता। इस तरह एक ही अहिसाक्षणको अपनी सत्ता आदिमे प्रमाणात्मक तथा स्वर्गप्रापणशक्ति या क्षणिकतामे अप्रमाणरूप माननेवाले बौद्धोने अनेकान्तको स्वीकार किया ही है। इसी तरह वे नीलादि वस्तुओंको नीलादिकी अपेक्षा प्रमेय तथा क्षणिकत्व आदिकी अपेक्षा अप्रमेय कहते हैं। जो नीलवस्तु अपने नीलेपन चौकोण और सामने दिखनेवाले ऊपरी आकार आदिकी दृष्टिसे प्रमेय हैं—प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होता है वही अपने भीतरी अवयवोकी दृष्टिसे तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नही होनेसे अप्रमेय है। इस तरह एक ही नीलादिको प्रमेय तथा अप्रमेय दो रूप मानना क्या अनेकान्त नही है ? इसी तरह वे स्वप्नादि भ्रान्तज्ञानको बाह्य पदार्थकी प्राप्ति न करानेके कारण भ्रान्त तथा स्वरूपकी दृष्टिसे अभ्रान्त मानते है। स्वप्नमे 'मैं धनी हूँ, मै राजा हूँ' इत्यादि विकल्प ज्ञान होते है। ये विकल्पज्ञान बाह्यमे धनीपन या राजापनका अभाव होनेसे जागने पर कंगालीका अनुभव होनेसे भ्रान्त हैं, परन्तु वे अपने स्वरूपकी दृष्टिमे अभ्रान्त है। वैसे विकल्पज्ञान स्वप्नमे हुए तो अवश्य ही हैं। इसी तरह सीपमे चाँदीका भान करानेवाली मिथ्या विकल्प चाँदी रूप बाह्य अर्थका प्रापक न होनेसे भ्रान्त है परन्तु वैसा मिथ्याज्ञान हुआ तो अवश्य है, उसका स्वरूप सवेदन तो होता ही है अत वह स्वरूपकी दृष्टिसे अभ्रान्त है। इस तरह एक ही मिथ्याविकल्पको बाह्य अर्थमे भ्रान्त तथा स्वरूपमे अभ्रान्त मानना स्पष्ट ही अनेकान्तको स्वीकार करना है। इसी तरह वे द्विचन्द्रज्ञानको द्वित्व अंशमे विसवादी होनेसे

---

1. च म० २।

तानियतदेशचारितादौ तेऽनलीकं प्रतिपद्यन्ते। कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयात्मानमसंविदत् ज्ञानरूपतया चावगच्छत् स्वात्मनि स्वभावद्वयं विरुद्धं न साधयेत्। तथा पूर्वोत्तरक्षणापेक्षयैकस्यैव क्षणस्य जन्यत्वं जनकत्वं चाभ्युपागमन्। तथार्थाकारमेव ज्ञानमर्थस्य ग्राहकं नान्यथेति मन्यमानाश्चित्रपटग्राहकं ज्ञानमेकमप्यनेकाकारं संप्रतिपन्नाः। तथा सुगतज्ञानं सर्वार्थविषयं सर्वार्थाकारं चित्रं कथं न भवेत्। तथैकस्यैव हेतोः पक्षधर्मसपक्षसत्त्वाभ्यामन्वयं विपक्षेऽविद्यमानत्वाद् व्यतिरेकं चान्वयविरुद्धं ते तात्त्विकमूरीचक्रिरे। एवं वैभाषिकादिसौगताः स्वयं स्याद्वादं स्वीकृत्यापि तत्र विरोधमुद्भावयन्तः स्वशासनानुरागान्धकारसंभारविलुप्तविवेकदृशो विवेकिनामपकर्णनीया एव भवन्ति।

§ ३८०. किं च, सौत्रान्तिकमत एकमेव कारणमपरापरसामग्र्यन्तःपातितयानेककार्यकार्या-

---

अप्रमाण तथा सफेदी नियतदेशमे गमन करना आदि चन्द्रगत धर्मोमे उसे प्रमाण मानते है। अतः एक ही द्विचन्द्रज्ञानको अंशतः प्रमाण तथा अंशतः अप्रमाण कहना अनेकान्तका ही निरूपण करना है। जिस व्यक्तिको मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है वह उस मिथ्या ज्ञानका ज्ञानरूपसे तो अनुभव करता है परन्तु मिथ्यात्वरूपसे अनुभव नही कर पाता। यदि अपनी भ्रान्तताको जानने लगे तो सम्यग्ज्ञान ही हो जायेगा अथवा मिथ्याज्ञान अपनी ज्ञानरूपताका तो स्वसवेदन प्रत्यक्षसे साक्षात्कार करता है पर अपनी भ्रान्तताको नही जान पाता। अतः एक ही मिथ्याज्ञानका अंशतः ज्ञानरूपसे स्वरूप साक्षात्कार तथा अशतः मिथ्यारूपसे असाक्षात्कार स्पष्ट ही दो विरोधी भावोको बताता हुआ अनेकान्तको सिद्ध कर रहा है। इसी तरह वे एक किसी भी क्षणको पूर्व क्षणका कार्य तथा उत्तरक्षणका कारण मानते ही है। यदि वह पूर्वक्षणका कार्य न हो तो सत् होकर भी किसीसे उत्पन्न न होनेके कारण वह नित्य हो जायगा। यदि उत्तर क्षणको उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु हो जायगा। तात्पर्य यह कि एक मध्यक्षणमे पूर्वकी अपेक्षा कार्यता तथा उत्तरकी अपेक्षा कारणता रूप विरुद्धधर्म मानना अनेकान्तको खुलेरूपसे ही स्वीकार करना है। बौद्ध 'जो ज्ञान जिस पदार्थके आकार होता है वह उसी पदार्थको जानता है, निराकार ज्ञान पदार्थको नही जान सकता' इस तदाकारताके नियमको बौद्धोने प्रमाणताका नियामक माना है। इस नियमके अनुसार नाना रंग वाले चित्र पटको जाननेवाला ज्ञान भी चित्राकार ही होगा। अतः एक ही चित्र पट ज्ञानको अनेक आकारवाला मानना एकको ही चित्र-विचित्ररूप मानना अनेकान्त नही तो और क्या है। इसी नियमके अनुसार ससारके समस्त पदार्थोको जाननेवाले सर्वज्ञ सुगतका ज्ञान सर्वाकार याने चित्र-विचित्राकार होना ही चाहिए। इस तरह सुगतके एक ही ज्ञानको सर्वाकार मानना भी अनेकान्तका ही समर्थन करना है। बौद्ध हेतुके तीन रूप मानते है। वे हेतुको पक्षमे रहनेके कारण और सपक्ष दृष्टान्तमे उसकी सत्ता होनेके कारण अन्वयात्मक तथा विपक्षमे उसकी सत्ता न होनेके कारण व्यतिरेकात्मक मानते है। अन्वय और व्यतिरेक स्पष्ट ही एक दूसरेके विरोधी हैं। इस तरह एक ओर तो एक ही हेतुको वस्तुत अन्वय रूप और व्यतिरेक रूप मानना तथा दूसरी ओर अनेकान्तको कोसना कहाकी बुद्धिमानी है? इस तरह वैभाषिक आदि बौद्ध उक्त प्रकारसे स्याद्वादको स्वयं स्वीकार करके भी अपने मतके दुराग्रहसे विवेक शून्य होकर अनेकान्तमे विरोध आदि दूषणोंको देते हैं। सचमुच उनकी इस शराबियो-जैसी उन्मत्तदशापर विवेकियोको दया ही करनी चाहिए। उनकी इस तरहकी स्ववचन विरोधी बातें उपेक्षाके योग्य हैं।

§ ३८० सौत्रान्तिक एक ही कारणको भिन्न-भिन्न सामग्रीके सहकारसे एक साथ अनेक कार्योंका उत्पादक मानते है। जैसे रूप-रस-गन्ध आदि सामग्रीका एक ही रूपक्षण अपने उत्तर

१ [illegible]

विद्यते, [1]यथा रूपरसगन्धादिसामग्रीगतं रूपमुपादानभावेन स्वोत्तरं रूपक्षणं जनयति, रसादिक्षणांश्च सहकारितया, [2]तदेव च रूपं रूपालोकमनस्कारचक्षुरादिसामग्र्यन्तरगतं सत्पुरुषस्य ज्ञानं सहकारितया जनयति । आलोकाद्युत्तरक्षणांश्च तदेवमेकं कारणमनेकानि कार्याणि युगपत्कुर्वाणं किमेकेन स्वभावेन कुर्यात्, नानास्वभावैर्वा । यद्येकेन स्वभावेन; तर्ह्येकस्वभावेन कृतत्वात्कार्याणां भेदो न स्यात् । अथवा नित्योऽपि पदार्थ एकेन स्वभावेन नानाकार्याणि कुर्वाणः कस्मान्निषिध्यते। अथ नित्यस्यैक[3]स्वभावत्वेन नानाकार्यकरणं न घटते, तर्ह्यनित्यस्यापि तेषां करणं कथमस्तु। निरंशैकस्वभावत्वात् । सहकारिभेदाच्चेत्कुरुते । तर्हि नित्यस्यापि सहकारिभेदात्तदस्तु । अथ नानास्वभावैरनित्य. कुर्यादिति चेत्, नित्यस्यापि तथा तत्करणमस्तु । अथ नित्यस्य नानास्वभावा न संभवन्ति, कूटस्थनित्यस्यैकस्वभावत्वात्, तर्ह्यनित्यस्यापि नानास्वभावा न सन्ति, निरंशैकस्वभावत्वात् । तदेवं नित्यस्यानित्यस्य च समानदोषत्वान्नित्यानित्योभयात्मकमेव वस्तु मानितं वरम्। तथा चैकान्तनित्यानित्यपक्षसंभवं दोषजालं सर्वं परिहृतं भवतीति ।

रूपक्षणको उपादान होकर उत्पन्न करता है । वही रूपक्षण उत्तर रसादि क्षणोकी उत्पत्तिमे सहकारी होता है वही रूपक्षण रूप आलोक मनस्कार चक्षुरादि ज्ञानसामग्रीमे शामिल होकर रूपज्ञानमे आलम्बन कारण होता है तथा आलोक आदिके उत्तरक्षणोकी उत्पत्तिमे सहकारी। रूपज्ञानको उत्पत्तिमे मनस्कार-पूर्वज्ञान तो समनन्तर प्रत्यय—उपादान कारण होता है, रूपक्षण आलम्बन प्रत्यय—विषयरूपसे कारण, आलोक-सहकारी कारण तथा चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय है । चक्षुरादि ज्ञानके स्वामी होकर कारण होते है । जिस इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानका उसी इन्द्रियके नामसे चाक्षुष रासन आदि रूपसे व्यवहार होता है, अतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय होती हैं । इस तरह एक ही रूपक्षण अनेक कार्योको एक साथ उत्पन्न करता है । इस विषयमे सौत्रान्तिकोसे पूछना चाहिए कि—वह रूपक्षण युगपत् अनेक कार्योको एक स्वभावसे उत्पन्न करता है या अनेक स्वभावोसे ? यदि एक स्वभावसे ही अनेक कार्य उत्पन्न हो, तो उन कार्योमे स्वभावभेद नही हो सकेगा, वे सब एक ही स्वभाववाले हो जायगे । और इसी तरह नित्य भी यदि एक स्वभावसे अनेक कार्य करता है तो कार्योमे अभिन्न-स्वभावताका प्रसग देकर उसका निषेध क्यो किया जाता है ? यदि एक स्वभाववाला होनेसे नित्य अनेक कार्योको नही कर सकता तो एकस्वभाववाला क्षणिक भी कैसे उन्हे करता है ? नित्य की तरह क्षणिकको भी तो आप निरंश तथा एक स्वभाववाला ही मानते हैं । यदि विभिन्न सहकारियोकी सहायतासे निरंश और एक स्वभाववाला भी क्षणिक कारण अनेक कार्योको उत्पन्न करता है, तो इसी तरह विभिन्न सहकारियोकी मददसे एकस्वभाववाले नित्यको भी अनेक कार्योका उत्पादक मान लेना चाहिए । यदि क्षणिक पदार्थ अनेक स्वभावोसे अनेक कार्य उत्पन्न करता है, तो नित्यको भी अनेक स्वभावो-द्वारा अनेक कार्योका कर्ता मान लेना चाहिए । यदि एकस्वभाववाला होनेके कारण कूटस्थ सदास्थायी नित्यमे अनेक स्वभावोकी सम्भावना नही हो, तो निरंश तथा एक स्वभाववाले क्षणिकमे भी अनेक स्वभाव कहाँसे आयगे ? वह भी तो नित्यकी ही तरह एक स्वभाववाला है ? इस तरह सर्वथा नित्य तथा सर्वथा क्षणिक वस्तुमे बराबर समान दोष आते है अत नित्यानित्यात्मक वस्तुको ही कार्यकारी मानना समुचित है । वस्तुको नित्यानित्यात्मक माननेसे सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्षमे आनेवाले सभी दोषोका परिहार हो जाता है । इस तरह सौत्रान्तिक एक क्षणको युगपत् अनेक कार्यकारी मानकर भी अपने सर्वथा क्षणिकत्वके आग्रहके कारण उसे हजम नही कर सकते ।

---

१ यथा स्वरूप–म० २ । २. तदेव न रूपा–म० २ । ३. –स्वभावेन नाना–म० २ ।

§ ३८१. ज्ञानवादिनोऽपि ताथागताः स्वार्थाकारयोरभिन्नमेकं[1] संवेदनं संवेदनाच्च भिन्नौ ग्राह्यग्राहकाकारौ स्वयमनुभवन्तः कथं स्याद्वादं निरस्येयुः। तथा संवेदनस्य ग्राह्यग्राहकाकार-विकलता स्वप्नेऽपि भवद्भिर्नानुभूयते, तस्या अनुभवे वा सकलासुमतामधुनैव[2] मुक्ततापत्तेः, तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्मुक्तिरिति वचनात्। अनुभूयते च संवेदनं संवेदनरूपतया कथंचित्। तत एकस्यापि संवेदनस्यानुभूताननुभूततयानेकान्तप्रतिभासो दुःशकोऽपह्नोतुमिति। तथा सर्वस्य ज्ञानं स्वसंवेदनेन ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतयात्मानमसंविदत्, संविद्रूपतां चानुभवद्विकल्पेतरात्मकं सदेकान्तवादस्य प्रतिक्षेपकमेव भवेत्। तथा ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चित्रैकरूपता प्रतिक्षिपत्येवैकान्तवादमिति।

§ ३८२. नैयायिकैर्वैशेषिकैश्च यथा स्याद्वादोऽभ्युपजग्मे तथा प्रदर्श्यते। इन्द्रियसंनिकर्षादेर्धूमज्ञानं जायते, तस्माच्चाग्निज्ञानम्। अत्रेन्द्रियसंनिकर्षादि प्रत्यक्षं प्रमाणं तत्फलं धूमज्ञानम्, धूमज्ञानं चाग्निज्ञानापेक्षयानुमानं प्रमाणम्, अग्निज्ञानं त्वनुमानफलम्। तदेवं धूमज्ञानस्य प्रत्यक्षफलतामनुमानप्रमाणतां चोभयरूपतामभ्युपगच्छन्ति। एवमन्यत्रापि ज्ञाने फलता प्रमाणता च

---

§ ३८१. ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार ज्ञानाकार और अर्थाकारको अभिन्न मानते है। वे ज्ञानसे भिन्न किसी बाह्य अर्थकी सत्ता स्वीकार नही करते। ज्ञान ही ग्राह्य-पदार्थके आकारमे तथा ग्राहक-ज्ञानके आकारमे प्रतिभासित होता है। इस तरह एक ही सवेदनमे परस्पर भिन्न ग्राह्याकार तथा ग्राहकाकारका स्वयं अनुभव करनेवाले ज्ञानवादी स्याद्वादका कैसे निराकरण कर सकते है। उनका ग्राह्य-ग्राहकाकार सवेदन ही स्वय अनेकान्तवादका समर्थन कर रहा है। सवेदनमात्र परमार्थतः ग्राह्य और ग्राहक दोनो ही आकारोसे सर्वथा शून्य निरंश है। परन्तु सवेदनकी यह वास्तविक ग्राह्याद्याकाररहितता सपनेमे भी नही दिखाई देती। यदि सवेदनके इस वास्तविक ग्राह्याद्याकारहित निरश स्वरूपका अनुभव होने लगे तो सभी प्राणियोको तत्त्वज्ञान होनेसे अभी ही मुक्ति हो जायगी। "तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति ही मुक्ति है" यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। सवेदनकी सवेदनरूपताका अनुभव तो सभी प्राणियोको होता ही रहता है। इस तरह एक ही सवेदनका ग्राह्यादि आकार शून्यताकी दृष्टिसे अनुभव न होना तथा उसीका सवेदनरूपताकी दृष्टिसे अनुभव होना अनेकान्तवादका ही रूप है। एक ही सवेदनमे अननुभूतता तथा अनुभूतता रूप दो धर्मोके माननेवालेको अनेकान्तका लोप करना स्ववचन विरोध ही होगा, उसका लोप करनेसे सवेदनके स्वरूपका ही लोप हो जायगा। इसी तरह सभी ज्ञानोके स्वसवेदन ज्ञानकी ग्राह्याद्याकार रहितता—निरशताका तो अनुभव नही कर पाते पर सवेदनरूपताका अनुभव अवश्य करते है। इस तरह एक ही ज्ञानको निरंशताकी दृष्टिसे अनिश्चयात्मक तथा सवेदनरूपताकी दृष्टिसे निश्चयात्मक मानना स्वय उनके एकान्तवादका खण्डन करके स्याद्वादकी सिद्धि कर देता है। सवेदनका ग्राह्याकार भी एक साथ अनेक पदार्थोके आकार परिणत हो एक होकर भी चित्र-विचित्र रूपसे प्रतिभासित होता है। एक ग्राह्याकारको यह चित्ररूपता भी अनेकान्तका स्थापन तथा एकान्तवादका खण्डन कर देती है।

§ ३८२. अब नैयायिक और वैशेषिकोने जहाँ-जहाँ जिस जिस पदार्थ व्यवस्थामे अनेकान्तका उपयोग किया है, वे स्थल बताते हैं—इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे धूमका प्रत्यक्ष होता है तथा धूमज्ञानसे अग्निका अनुमान होता है। यहाँ इन्द्रियसन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है तथा धूमज्ञान उसका फल। धूमज्ञान अग्निका अनुमान करानेके कारण अनुमान प्रमाणरूप है तथा अग्निका ज्ञान उसका फल है। अब विचार कीजिए कि—एक ही धूमज्ञानमे प्रत्यक्षकी दृष्टिसे फलरूपता तथा अग्निज्ञानकी दृष्टिसे प्रमाणरूपता स्वयं वैशेषिकोने मानी है। इसी तरह और भी

---

१ –[illegible] अ० २। २ –[illegible] अ० २।

पूर्वोत्तरापेक्षया यथार्हमवगन्तव्या। एकमेव चित्रपटादेरवयविनो रूपं विचित्राकारमभ्युपयन्ति। न च विरोधमाचक्षते। तदुक्तं कन्दल्याम्[1]:—

"विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् न तथा च प्रावादुकप्रवादः—

एकं चेत्तत्कथं चित्रं चित्रं चेदेकता कुतः। एकं चैव तु चित्रं चेत्येतच्चित्रतरं ततः[2] ॥१॥"

इति को विरोध इत्यादि। चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता, विचित्रकारणसामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादितत्वात्" [प्रश० कन्द० पृ० ३०] इत्यादि। एकस्यैव धूपकडुच्छकस्यैकस्मिन् भागे शीतस्पर्शः परस्मिश्च भागे उष्णस्पर्शः। अवयवानां भिन्नत्वेऽप्यवयविन एकत्वादेकस्यैव द्वौ विरुद्धौ तौ स्पर्शौ, यतस्तेषामेवं सिद्धान्तः 'एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृताद्यनेकविरुद्धधर्मोपलम्भे[3]ऽपि दुर्लभो विरोधगन्धः' इति। नित्यस्येश्वरस्य सिसृक्षासंजिहीर्षा च, रजस्तमोगुणात्मकौ स्वभावौ, क्षितिजलाद्यष्टमूर्तिता

ज्ञानोंमें पूर्व-पूर्व साधकतम अंशोंमें प्रमाणता तथा उत्तरोत्तर साध्य अंशोंमें फलरूपता समझ लेनी चाहिए। एक ही ज्ञान पूर्वकी अपेक्षा फल तथा उत्तरकी अपेक्षा प्रमाणरूप होता है। इस तरह एक ही ज्ञानमें प्रमाणता तथा फलरूपता मानना अनेकान्तका ही समर्थन करना है। एक ही नाना-रंगवाले चित्रपट रूप अवयवीमें चित्र-विचित्र रूप मानते हैं। एक ही अवयवीको चित्र-विचित्र अनेक रूप वाला माननेमें इन्हें कोई विरोध नहीं मालूम होता। वे स्वयं अवयवीकी चित्ररूपतामें आनेवाले विरोधका परिहार करते हैं। न्यायकन्दलीमें श्रीधराचार्यने विरोधपरिहार करते हुए लिखा है कि—"शंका—एक अवयवीमें अनेक रूप माननेमें तो विरोध दूषण आता है अतः एक अवयवीको चित्ररूप मानना अयुक्त है। किसी बकवादी वादीने कहा भी है—यदि एक है तो चित्र—अनेकरूपवाला कैसे हो सकता है? यदि चित्र—अनेकरूपवाला है तो उसमें एकता कैसे हो सकती है? एकता और चित्रतामें तो विरोध है। एक भी कहना और चित्र—अनेक भी कहना तो वस्तुतः चित्रतर—अत्यन्त आश्चर्यकी बात है। **समाधान**—इनमें क्या विरोध है? रूपको चित्र मानना किसी भी तरह अयुक्त नहीं है, क्योंकि चित्र रूपवाले कारणोंसे रूप स्वयं ही चित्र रूपसे उत्पन्न होता है। यह बात सब लोगोंको प्रत्यक्षसे ही अनुभवमें आती है। प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें विरोध कैसा?" इस तरह एक अवयवीको चित्ररूपवाला मानना अनेकान्तवादके बिना नहीं हो सकता। एक ही धूपदानीका एक हिस्सा ठण्डा तथा दूसरा हिस्सा गरम देखा जाता है। यद्यपि धूपदानीमें अवयवभेद माना जा सकता है; परन्तु धूपदानी नामका अवयवी तो एक ही है और उसी एक धूपदानीरूप अवयवीमें परस्पर विरुद्ध शीत और उष्ण दोनों ही स्पर्श पाये जाते हैं। वैशेषिकों का ही यह सिद्धान्त है कि—एक ही पट आदि अवयवीमें एक हिस्सेसे चलरूपता-क्रिया होना हिलना तथा दूसरे हिस्सेसे अचल—स्थिर रहना, एक हिस्सेमें लालरंगका संयोग होनेसे लाल हो जाना तथा दूसरी ओर बिना रंगा, सफेद ही रहना, एक हिस्सेको किसी दूसरे कपड़ेसे आवृत—ढँका जाना तथा दूसरे हिस्सेसे खुला रहना आदि अनेक विरोधी धर्मोंके रहनेपर भी कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब होता जब एक ही हिस्से की दृष्टिसे विरोधी दो धर्मोंकी सत्ता मानी जाती पर भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंको माननेमें विरोधकी गन्ध भी नहीं है। वे नित्य एक ईश्वरमें जगत्के रचनेकी इच्छा तथा जगत्का प्रलय संहार करनेकी इच्छा, रजोगुण और तमोगुण

१. "विरोधादेकमनेकस्वभावमयुक्तमिति चेत् तथा च प्रावदुकप्रवादः। एकं च चित्रं चेत्येतच्च चित्रतरं तत इति। को विरोधो नीलादीनां न तावदितरेतराभावात्मको भावस्वभावानुगमात्। अन्योन्यसंश्रयापत्तेश्च स्वरूपान्यत्वं विरोध इति चेत् सत्यमस्त्येव तथापि चित्रात्मनो रूपस्य नायुक्तता विचित्रकारण-सामर्थ्यभाविनस्तस्य सर्वलोकप्रसिद्धेन प्रत्यक्षेणैवोपपादितत्वात्।" —प्रश० कन्द० पृ० ३०।

२. -तर मत आ०, क०। ३. -लम्भे दुर्ल-म० २।

च, सात्त्विकस्वभावाः परस्परं विरुद्धाः । एकस्यामलकस्य कुवलयबिल्वाद्यपेक्षया महत्त्वमणुत्वं च विरुद्धे । एवमिक्षोः समिद्वंशापेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि । देवदत्तादेः स्वपितृसुतापेक्षया परत्वापरत्वे अपि । अपरं सामान्य नाम्ना सामान्यविशेष इत्युच्यते । सामान्यविशेषश्च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वलक्षणः । द्रव्यत्वं हि नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यं, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं गुणत्वकर्मत्वयोरपि सामान्यविशेषता विभाव्या । ततश्च सामान्यं च तद्विशेषश्चेति सामान्यविशेषः । तस्यैकस्य सामान्यता विशेषता च विरुद्धे । एकस्यैव हेतोः पञ्च रूपाणि संप्रतिपद्यन्ते । एकस्यैव पृथिवीपरमाणोः सत्तायोगात्सत्त्वं, द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्यत्वं, पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीत्वं, परमाणुत्वयोगात्परमाणुत्वं अन्त्याद्विशेषात्परमाणुभ्यो भिन्नत्वं चेच्छतां परमाणोस्तस्य सामान्यविशेषात्मकता बलादापतति, सत्त्वादीनां परमाणुतो भिन्नतायां तस्यासत्त्वाद्रव्यत्वापृथिवीत्वाद्यापत्तेः । एवं देवदत्तात्मनः सत्त्वं द्रव्यत्वम्, आत्मत्वयोगादात्मत्वम्, अन्त्याद्विशेषाद्यज्ञदत्ताद्यात्मभ्यो भिन्नतां चेच्छतां तस्यात्मनः सामान्यविशेषरूपतावश्यं स्यात् । एवमाकाशादिष्वपि सा भाव्या । योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु च प्रत्याधारं विलक्षणोऽयमिति

रूप स्वभाव तथा अनेक सात्त्विक भावोका मानना स्पष्ट ही परस्पर विरुद्ध है। एक ही ईश्वरको पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश दिशा काल रूप अष्टमूर्ति मानना अनेकान्तवादका ही रूप है। एक ही आँवलेमे कमलकी अपेक्षा महत्त्व—बड़ापन तथा बेलकी अपेक्षा अणुत्व—छोटापन मानना भी अनेकान्तात्मकताका ही सम्पोषण है। इसी तरह वे एक ही ईखको किसी छोटी यज्ञके काम आनेवाली लकडीकी अपेक्षा लम्बा तथा बाँसकी अपेक्षा छोटा मानते है। देवदत्तको अपने पिताकी अपेक्षा लहुरा तथा अपने लडकेकी अपेक्षा जेठा मानते है। अपर सामान्य को सामान्य विशेष कहते है, अर्थात् अपर सामान्य एक विशेष प्रकारका सामान्य है। द्रव्यत्व गुणत्व और कर्मत्व सत्ताकी अपेक्षा अपर सामान्य सामान्य विशेष है। जो द्रव्यत्व पृथिवी आदि नौ द्रव्योमे अनुगत होनेसे सामान्यरूप है वही गुण कर्म आदिमे न पाया जानेके कारण इनसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप है। इसी तरह गुणत्व और कर्मत्व भी अपनी रूपादि गुण और उत्क्षेपणादि कर्म व्यक्तियोमे अनुगत होनेसे सामान्यरूप है तथा वे ही द्रव्य आदिसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप है। चूँकि ये सामान्यरूप भी है तथा विशेषरूप भी है अतः इन्हे सामान्य विशेष कहते हैं। इस तरह एक ही पदार्थमे परस्पर विरुद्ध सामान्य रूप तथा विशेषरूप होनेसे वह अनेकान्तका ही समर्थक सिद्ध होता है। वे एक ही हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व आदि पाँच रूप मानते है। एक ही पृथिवीके परमाणुमे सत्ताके सम्बन्धसे सत्त्व, द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्यत्व, पृथिवीत्वके समवायसे पृथिवीत्व, परमाणुत्वके योगसे परमाणुत्व आदि अनेक सामान्य धर्म पाये जाते हैं। यही परमाणु नित्यद्रव्यमे रहनेवाले विशेष पदार्थसे तथा अन्य परमाणुओंसे व्यावृत्त होनेके कारण विशेषरूप भी है। इस तरह एक ही परमाणुमे सामान्यरूपता तथा विशेषरूपता पायी जाती है जिससे अनेकान्तात्मकताकी पूरी-पूरी सिद्धि हो जाती है। यदि सत्त्व द्रव्यत्व पृथिवीत्व आदिसे परमाणुओका भेद माना जायेगा, तो वे असत् अद्रव्य तथा अपृथिवी रूप हो जायेगे। इसी तरह एक ही देवदत्तकी आत्मामे सत्त्व, द्रव्यत्व, आत्मत्वके समवायसे आत्मत्व आदि अनेक सामान्यधर्म पाये जाते हैं, यही आत्मा अन्त्य जगत्के विनाश तथा आरम्भरूप आखिरी अवस्थाओंमे शेष रहनेवाले नित्यद्रव्योमे रहनेवाले विशेष पदार्थसे तथा यज्ञदत्त आदिकी आत्माओंसे व्यावृत्त—भिन्न भी होती है अतः इसमे विशेषरूपता भी है। इस तरह एक ही आत्मामे सामान्यरूपता और विशेषरूपता पायी ही जाती है। इसी तरह आकाशकाल आदिमे भी सत्ता और द्रव्यत्वकी अपेक्षा सामान्यरूपता तथा अन्य द्रव्य गुण आदिसे भिन्न होनेके कारण विशेषरूपता समझ लेनी चाहिए। विशेषपदार्थका लक्षण करते

---

१ विरुद्धे ते तदव म० १, म० २, प० १, प० २ । २ –षाद्देवदत्ताद्यात्म– म० २ ।

प्रत्ययो येभ्यो भवति तेऽन्त्या विशेषा, इत्यत्र तुल्याकृतिगुणक्रियत्वं[1] विलक्षणत्वं चोभयं प्रत्याधार-मुच्यमानं स्याद्वादमेव साधयेत्। एवं नैयायिकवैशेषिका आत्मनानेकान्तमुररीकृत्यापि तत्प्रति-क्षेपायोद्यच्छन्तः सतां कथं नोपहास्यतां यान्ति।

३८३. किं च, अनेकान्ताभ्युपगमे सत्येष गुणः परस्परविभक्तेष्ववयवावयव्यादिषु मियो-वर्तनचिन्तायां यद्दूषणजालमुपनिपतति तदपि परिहृतं भवति। तथाहि–अवयवानामवयविनश्च मिथोऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते नैयायिकादिभिर्न पुनः कथंचित्। ततः पर्यनुयोगमर्हन्ति ते। अवयवे-ष्ववयवी वर्तमानः किमेकदेशेन वर्तते किं वा सामस्त्येन। यद्येकदेशेन, तदयुक्तम्; अवयविनो निरवयवत्वाभ्युपगमात्। सावयवत्वेऽपि तेभ्योऽवयवी यद्यभिन्नः, ततोऽनेकान्तापत्तिः, एकस्य निरंशस्यानेकावयवत्वप्राप्तेः[2]। अथ तेभ्यो भिन्नोऽवयवी; तर्हि तेषु स कथं वर्तत इति वाच्यम्। एकदेशेन, सामस्त्येन वा। एकदेशपक्षे पुनस्तदेवावर्तत इत्यनवस्था। अथ सामस्त्येन तेषु स वर्तते, तदप्यसाधीयः; प्रत्यवयवमवयविनः परिसमाप्ततयावयविबहुत्वप्रसङ्गात्। ततश्च तेभ्यो भिन्नोऽव-यवी न विकल्पभाग् भवति। नन्वभेदपक्षेऽप्यवयविमात्रमवयवमात्रं वा स्यादिति चेत्; न, अभे-

हुए लिखा है कि तुल्य आकार समानगुण तथा एक जैसी क्रियावाले समपरमाणुओमे, मुक्त जीवो-की निर्गुण आत्माओमे मुक्तजीवोसे छूटे हुए मनमे जिसके कारण योगियोको 'यह इससे विलक्षण है, यह इससे विलक्षण है' ऐसा विलक्षण प्रत्यय होता है उन्हे अन्त्य विशेष कहते है। इस लक्षणमे दो बाते बतायी है कि परमाणु या मुक्त आत्मा आदि आकृति गुण क्रिया आदिकी अपेक्षा समान हैं तथा इनमे विलक्षण प्रत्यय भी होता है। इस तरह हर एक परमाणुमे समानरूपता तथा विलक्षणताका होना भी स्याद्वादको ही सिद्ध करता है। इस तरह नैयायिक वैशेषिकोने अनेको जगह अनेकान्तको स्वयं स्वीकार किया है फिर भी जब ये अनेकान्तका खण्डन करनेके लिए तैयार होते हैं तब इनकी बुद्धिपर समझदारोको हँसी ही आती है। उस समय इनका स्ववचन विरोध ही इनकी बुद्धिका दिवाला निकाल देता है।

§ ३८३ अनेकान्तवादको माननेसे सबसे बड़ा फायदा तो यह है कि इन नैयायिक और वैशेषिकोके द्वारा अवयवीकी वृत्ति माननेमे बौद्ध जो अनेको दूषण देते हैं उनका परिहार सहज ही हो जायेगा। केवल अवयवीको ही बात नही है सत्तासामान्य आदि की भी अपनी व्यक्तियोंमे वृत्ति माननेपर बौद्ध इसी प्रकारके अनेक दूषण देते है, उनका भी परिहार हो जायेगा। नैयायिक आदि अवयवीका अवयवोसे अत्यन्त भेद मानते हैं कथचिद् भेद तो मानते ही नही है, अत बौद्ध उन्हे इस प्रकारके दूषण देते है—अवयवी अपने अवयवोमे एक देशसे रहता है या सर्वदेशसे? अवयवीको तो निरवयव माना है अत. एक देशसे रहना तो नही बन सकता। यदि अवयवीके अनेक प्रदेश माने जाँय, तो वे प्रदेश उससे अभिन्न है या भिन्न? यदि अपने अनेक प्रदेशोसे अवयवी अभिन्न है, तो एक ही अवयवी अनेक प्रदेशात्मक होनेसे अनेकान्तरूप ही हो गया, क्योकि एक निरश अवयवीको अनेक प्रदेशी मानना पडा। यदि अवयवी अपने अनेक प्रदेशोंसे भिन्न है, तो वह उनमे एकदेशसे रहता है या सर्वदेशसे? एक देशसे वृत्ति मानना तो उचित नही है, क्योकि अवयवीके निरंश होने से उसके प्रदेश ही नही है। प्रदेश माने जाँय तो उनमे वह सर्वदेशसे रहेगा या एकदेशसे इत्यादि प्रश्न पुन चालू हो जायेंगे और इस तरह अनवस्था नामका दूषण होगा। यदि अवयवी अपने प्रत्येक अवयवमे पूरे-पूरे रूपसे—सर्वदेशसे रहता है, तो जितने अवयव है उतने ही स्वतन्त्र अवयवी हो जायेंगे, क्योकि हरएक अवयवमे अवयवी अपने पूर्णरूपसे रहता है। इस तरह अवयवोसे भिन्न अवयवीका अपने अवयवोंमे रहना ही कठिन है। सर्वथा अभेद माननेपर या तो अवयवीको ही सत्ता रह सकती है या

१ –क्रियात्वं आ०, क०। २ –प्राप्ति म० २।

दस्याप्येकान्तेनानभ्युपगमात् । किं तर्ह्यन्योन्याविश्लिष्टस्वरूपो विवक्षया संदर्शनीयभेदोऽवयवेष्वव-यव्यभ्युपगम्यते, [1]अबाधितप्रतिभासेषु सर्वत्रावयवावयविनां मिथो भिन्नाभिन्नतया प्रतिभासनात्, अन्यथा प्रतिभासमानानामन्यथा[2]परिकल्पने ब्रह्माद्वैतशून्यवादादेरपि कल्पनाप्रसङ्गात् । एवं संयोगिषु संयोगः, समवायिषु समवायः गुणिषु गुणः, व्यक्तिषु सामान्यं चात्यन्तं भिन्नान्यभ्युपगम्यमानानि तेषु वर्तनचिन्तायां सामस्त्यैकदेशविकल्पाभ्यां दूषणीयानि । तदेवमेकान्तभेदेऽनेकदूषणोपनिपातादनेकान्ते च [3]दूषणानुत्थानादनेकान्ताभ्युपगमात् न मोक्ष इति । अतो वरमादावेव मत्सरितां विहायानेकान्ताभ्युपगमः[4] किं भेदैकान्तकल्पनया अस्थान एवात्मना परिक्लेशितेनेति ।

§ ३८४. सांख्यः सत्त्वरजस्तमोभिरन्योन्यं विरुद्धैर्गुणैर्ग्रथितं प्रधानमभिदधान एकस्याः प्रकृतेः संसारावस्थामोक्षसमययोः प्रवर्तननिवर्तनधर्मौ विरुद्धौ स्वीकुर्वाणश्च कथं स्वस्यानेकान्तमतवैमुख्यमाख्यातुमीशः स्यात् ।

फिर अवयवकी । अभेद पक्षमे दोकी सत्ता हो ही नही सकती । इस प्रकारका सर्वथा अभेद जैन लोग नही मानते । वे तो अवयव रूप ही अवयवी मानते है, हाँ भेदकी विवक्षा होने पर 'यह अवयवी है, ये अवयव है' इस प्रकारका भेद उनमे दिखाया जा सकता है । ताने और बाने रूपसे परस्पर सम्वद्ध तन्तुओको छोडकर उनसे भिन्न पट नामका अतिरिक्त अवयवी है ही नही । सब जगह अवयव और अवयवीका कथचिद् भेदाभेद ही निर्वाध प्रतीतिका विपय होता है । हम चाहे कि तन्तुओसे अतिरिक्त पट मिल जाय, तो नही मिल सकता, इसलिए उनमे अभेद है । पटकी पट सज्ञा, तन्तुकी तन्तु सज्ञा, इत्यादि सज्ञा भेद, लक्षण भेद, परिमाण भेद आदिकी दृष्टिसे उनमे भेद है । इस तरह अवयवसे कथचिद् भिन्न-भिन्न अवयवीका प्रतिभास होनेपर भी यदि उनमे सर्वथा अप्रतिभासमान अत्यन्त भेद माना जायेगा; तो फिर अप्रतिभासमान ब्रह्माद्वैत या शून्याद्वैत आदिको भी मान लेना चाहिए । इसी तरह दही और घडा आदिमे सयोग सम्बन्ध माना जाता है । दो द्रव्योमे सयोग सम्बन्ध होता है, बशर्ते कि उनमे अवयव-अवयविभाव न हो । गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान्, विशेष और नित्यद्रव्य तथा अवयव और अवयवीमे समवाय सम्बन्ध होता है । अत. सयोगकी अपने सयोगियोमे, समवायकी समवायियोमे, गुणकी गुणीमे, सामान्यकी अपनी व्यक्तियोमे वृत्ति—रहना एक देशसे होगा या सर्वदेशसे इत्यादि दूषण सयोग और समवाय आदिका सयोगी और समवायी आदिसे सर्वथा भेद माननेमे बराबर लागू होते रहेगे । इस तरह सर्वथा भेद माननेमे अनेको दूषण आते है और उनका परिहार करना भी असभव है पर अनेकान्तवादमे किसी भी दूषणकी गन्ध तक नही आती, वह सर्वथा निर्दोष है । इसलिए आखिरमे जब दूषणोका परिहार करनेके लिए और वस्तुकी व्यवस्था करनेके लिए अनेकान्तके माने बिना चारा ही नही है तब इससे अच्छा तो यही है कि ईर्ष्या तथा दुराग्रहको छोडकर पहले ही उसे स्वीकार कर लिया जाय । प्रतीतिमे बाधित सर्वथा भेदको मानकर आत्माको व्यर्थ ही क्लेशमे डालना कहाकी बुद्धिमानी है ।

§ ३८४ सांख्य एक ही प्रधानको त्रिगुणात्मक मानते हैं । यह प्रधान परस्पर विरोधी सत्त्व रज और तम इन तीन गुणोसे गूँथा गया है—त्रयात्मक है । एक ही प्रकृतिमे संसारी जीवोकी अपेक्षा उन्हे सुख-दुखादि उत्पन्न करनेके लिए प्रवृत्त्यात्मक स्वभाव तथा मुक्त जीवोकी अपेक्षा निवृत्तिरूप स्वभाव माना जाता है । वही प्रकृति ससारियोके प्रति तो प्रवृत्ताधिकार—सत्ता रखने वाली और मुक्त जीवोके प्रति निवृत्ताधिकार—नष्ट हो चुकी है, वह उनमे कोई भी सुख-दुखादि उत्पन्न नही कर सकती । इस तरह एक ही प्रधानको त्रिगुणात्मक तथा एक ही प्रकृतिको भिन्न जीवोकी

१ [illegible] सर्वत्रापि च [illegible] मिथो भिन्नतया प्रति–म० २ । २ भेदैकदू–म० २ ।
३ [illegible] पाठान्तरम् । ४ [illegible] मि म० १, प० १, प० २, आ०, ज० ।

§ ३८५. मीमांसकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति अथवा शब्दस्य तत्संबन्धस्य च नित्यत्वैकान्तं प्रति तेऽप्येवं पर्यनुयोज्याः- त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका नोदनेति मीमांसकाभ्युपगमः। अत्र कार्यतायास्त्रि- कालशून्यत्वेऽभावप्रमाणस्य विषयता स्यात्, अर्थत्वे तु प्रत्यक्षादिविषयता भवेत्, उभयरूपताया पुनर्नोदनाया विषयतेति।

§ ३८६. अथ बौद्धादि[1]सर्वदर्शनाभीष्टा दृष्टान्ता युक्तयश्चानेकान्तसिद्धये समाख्यायन्ते- बौद्धादिसर्वदर्शनानि संशयज्ञानमेकमुल्लेखद्वयात्मकं प्रतिजानानानि[2] नानेकान्तं प्रतिक्षिपन्ति। तथा स्वपक्षसाधकं परपक्षोच्छेदकं च विरुद्धधर्माध्यस्तमनुमानं मन्यमानाः परेऽनेकान्तं कथं पराकुर्युः। मयूराण्डरसे नीलादयः सर्वेऽपि वर्णा नैकरूपा नाप्यनेकरूपाः, [3]किंत्वेकानेकरूपा यथावस्थिताः, तथैकानेकाद्यनेकान्तोऽपि। तदुक्तं नामस्थापनाद्यनेकान्तमाश्रित्य—

"मयूराण्डरसे यद्वद्वर्णा नीलादयः स्थिता.।
सर्वेऽप्यन्योन्यसमिश्रास्तद्वन्नामादयो घटे ॥१॥

अपेक्षा नष्टानष्ट प्रवृत्ताप्रवृत्त आदि विरुद्ध धर्मोवाली माननेवाले सांख्य कैसे अपनेको अनेकान्तका विरोधी कह सकते है। उनका यह मानना ही अनेकान्तका अप्रत्यक्ष रूपसे समर्थन करना है।

§ ३८५. मीमासकोमे कुमारिल आदि तो स्वयं ही सामान्य और विशेषमे कथचित्तादात्म्य धर्म और धर्मीमे भेदाभेद तथा वस्तुको उत्पादादि त्रयात्मक स्वीकार करके अनेकान्तको मानते ही है। अतः उनसे इस विषयकी विशेषरूपसे पूछताछ करनेकी आवश्यकता नही है। हाँ, वे शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे चोदना—श्रुतिवाक्यको कार्यरूप अर्थमे ही प्रमाण मानते हैं। इस कार्यको वे त्रिकाल शून्य कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थको ही विषय करते हैं। इसी विषयमें उनसे पूछना है कि—यदि कार्यरूपता त्रिकाल- शून्य है—किसी भी कालमे अपनी सत्ता नही रखती, तव वह अभाव प्रमाणका ही विषय हो जायेगी, उसे आगमगम्य मानना अयुक्त है। यदि वह अर्थरूप है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ही उसका परिज्ञान हो जायेगा। अत. कार्यको त्रिकालशून्य भी मानना होगा तथा अर्थरूप भी, तभी वह वेद वाक्यका विषय हो सकता है। इसलिए जव अनेकान्तके माने विना वेदवाक्यका विषय ही सिद्ध नही हो सकता तव उसे अगत्या मान ही लेना चाहिए।

§ ३८६ अव अनेकान्तकी सिद्धिके लिए बौद्धादि दर्शनोमे दिये गये कुछ दृष्टान्त तथा युक्तियाँ उपस्थित करते हैं—बौद्ध आदि सभी दार्शनिक जव एक ही सशय ज्ञानमे परस्पर विरोधी दो आकारोका प्रतिभास तथा उल्लेख मानते हैं तव वे अनेकान्तका खण्डन कैसे कर सकते हैं? सभी दार्शनिक अपनी युक्ति तथा प्रमाणोको स्वपक्षका साधक तथा परपक्षका खण्डन करनेवाला मानते है। अत. जव वे एक ही हेतुमे स्वपक्ष-साधकता तथा परपक्ष-असाधकता—दूषकता रूप विरुद्ध धर्म मानते ही है तव वे अनेकान्तका खण्डन किस मुँहसे करेगे। मोरके अण्डेके तरल पदार्थ- मे नीले-पीले आदि अनेक रंग पाये जाते है। उन रगोको न तो सर्वथा एक रूप ही कहा जा सकता है और न स्वतन्त्र भावसे अनेकरूप ही। अतः जिस प्रकार मोरके अण्डेमे नीलादि सभी रंग कथचित् एकानेक रूपसे तादात्म्य भावसे रहते है उसी तरह वस्तुमे एक अनेक नित्य अनित्य आदि अनेक धर्म भी कथचित् तादात्म्य रूपसे ही रहते हैं, वे न तो सर्वथा भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। एक ही वस्तुमे नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारो निक्षेपोसे व्यवहार होता है। इन्ही नाम स्थापना रूपसे अनेकान्तका समर्थन करते हुए लिखा है कि—"जिस तरह मोरके अण्डेमे नीलादि अनेक रंग परस्पर मिश्रित होकर कथचित् तादात्म्य रूपसे रहते हैं उसी

---

१. -दि दर्श-म० २। २ -जानन्ति नाने-म० २। ३ किन्त्वनेकान्तरूपा म० २।

नान्वयः[1] स हि भेदित्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं घटः ॥२॥"

अत्र हिशब्दो हेतौ यस्मादर्थे स घटः ।

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते[2] ॥३॥
न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः ।
शब्दविज्ञानकार्याणां भेदाज्जात्यन्तरं हि सः[3] ॥४॥"

"त्रैरूप्यं पाञ्चरूप्यं वा ब्रुवाणा हेतुलक्षणम् ।
सदसत्त्वादि सर्वेऽपि कुतः परे न मन्वते ॥५॥"

§ ३८७ यथैकस्यैव नरस्य पितृत्वपुत्रत्वाद्यनेकसंबन्धा भिन्ननिमित्ता न विरुध्यन्ते। तद्यथा–स नरः स्वपित्रपेक्षया पुत्रः, स्वसुतापेक्षया तु पितेत्यादि। अभिन्ननिमित्तास्तु संबन्धा विरुध्यन्ते, तद्यथा–स्वपित्रपेक्षयैव[4] स पिता पुत्रश्चेत्यादि । एवमनेकान्तेऽपि द्रव्यात्मनैकं पर्यायात्मना त्वनेकमित्यादिभिन्ननिमित्ततया न विरुध्यते । द्रव्यात्मनैवैकमनेकं चेत्यादि त्वभिन्ननिमित्ततया विरुध्यते ।

तरह एक ही वस्तुमे नामघट स्थापनाघट आदि रूपसे नामादि चार निक्षेपोका व्यवहार हो जाता है। उसमे चारो ही धर्म परस्पर सापेक्ष भावसे मिलकर रहते है।१॥ मिट्टीके घड़ेमे न तो मिट्टी और घडेका सर्वथा अभेद ही माना जा सकता है और न भेद ही। मिट्टीरूपसे सर्वथा अभेद नही कह सकते, क्योकि वह मिट्टी दूसरी थी यह दूसरी है, अवस्था भेद तो है ही। उनमे सर्वथा भेद भी नही कहा जा सकता, क्योकि मिट्टीरूपसे अन्वय पाया जाता है पिण्ड भी मिट्टीका ही था और घडा भी मिट्टीका ही है। तात्पर्य यह कि घडा सर्वथा अभेद और सर्वथा भेद रूप दो जातियोसे अतिरिक्त एक कथचिद् भेदाभेद रूप तीसरी जातिका ही है। न सर्वथा उसी अवस्थावाली मिट्टी-रूप है और न मिट्टीसे सोनेका बन गया है, किन्तु द्रव्यरूपसे उस मिट्टीका उसमे अन्वय है तथा पर्यायरूपसे भेद। इस श्लोकमे 'हि' शब्दका 'यस्मात्–जिस कारणसे' अर्थ है। नरसिंहावतारकी चर्चा ससारमे प्रसिद्ध है। वह ऊपरके मुख आदि अवयवोमे सिहके आकारका है तथा अन्य पैर आदि अवयवोकी दृष्टिसे नर—मनुष्यके आकार है। तात्पर्य यह कि जो उक्त दोनो प्रकारके अवयवोका अखण्ड अविभागीरूप है वही नरसिह है। उसमे भेद दृष्टिसे भले ही नर और सिंहकी कल्पना कर ली जाय परन्तु वस्तुतः वह दोनो अवयवोसे तादात्म्य रखनेवाला अखण्ड पदार्थ है। न तो उसे नर ही कह सकते है क्योकि वह अशत सिहरूप भी तो है और न उसे सिंहरूप ही कह सकते है क्योकि वह अशत नररूप भी है। वह तो इन दोनोसे भिन्न एक तीसरी ही मिश्रित जातिका अखण्ड पदार्थ है जिसमे वे दोनो भाग पाये जाते है। नरसिंहका वाचक शब्द, नरसिंहाकार ज्ञान तथा नरसिहका कार्य मनुष्य और सिहके वाचक शब्द ज्ञान और कार्योसे अत्यन्त भिन्न है। जो बौद्ध और नैयायिक एक ही हेतुके तीनरूप तथा पाँच रूप तक मानते है वे एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व इन दो रूपोको माननेमे आनाकानी करते है यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥"

§ ३८९ जैसे एक ही पुरुषमे पितापन पुत्रपन आदि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न पुरुषोकी अपेक्षासे बन जाते है उनमे कोई विरोध नही आता उसी तरह अनेकान्तात्मक वस्तु भी सर्वथा निर्बाध है। वही मनुष्य अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र तथा अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है। यदि एक ही निमित्तसे—किसी एक ही अपेक्षासे वह पिता और पुत्र दोनो रूपसे कहा जाता तो अवश्य ही विरोध होता, पर

---

१ उद्धृतोऽयम्—अनेकान्तवादप्र० पृ० ३१। न्यायकुमु० पृ० ३६९। अनेकान्तजयप० पृ० १११। [illegible] टी० पृ० ३६७। २ उद्धृतोऽयम्—तर्कप० पृ० ७९। ३. उद्धृतोऽयम्—न्यायावता० वा० वृ० पृ० ८८। न्यायकुमु० पृ० ३६९। ४. –क्षया म मिता म० २।

§ ३९०. तर्हि केवलान्वयकेवलव्यतिरेकानुमानयोः पञ्चलक्षणत्वासंभवेनागमकत्वप्रसङ्गः। न च तयोरगमकत्वं यौगैरिष्टं, तस्मात्प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणासंभवेन[1], अन्यथानुपपत्तेः अनिश्चय एव तत्पुत्रत्वादेरगमकतानिबन्धनमस्तु, न तु त्रैलक्षण्याद्यभावः।

३९१ अथात्र विपक्षेऽसत्त्वं निश्चितं नास्ति, [2]न हि श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति सौगतः। यौगस्तु गर्जति—शाकाद्याहारपरिणामः श्यामत्वेन समव्याप्तिको, न तु तत्पुत्रत्वेनेत्युपाधिसद्भावान्न तत्पुत्रत्वे विपक्षासत्त्वसंभव इति।

§ ३९२. तौ ह्येवं निश्चितान्यथानुपपत्तिमेव शब्दान्तरेण शरणीकुरुत इति सैव हेतोर्लक्षणमस्तु। अपि च, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रात्, उदेष्यति श्वः सविता, अद्यतनादित्योदयात् इत्यादिषु पक्षधर्मत्वाभावेऽपि, मन्मातेयमेवंविधस्वरान्यथानुपपत्तेः, सर्वं क्षणिकमक्षणिकं वा सत्त्वात्, इत्यादिषु च सपक्षस्याभावेऽपि हेतूनां गमकत्वदर्शनात्किं त्रैरूप्यादिना।

§ ३९० जैन—यदि पाँच रूप होनेसे ही हेतुमे सचाई आती है, तो केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी हेतुओमे पाँच रूप न होनेसे हेत्वाभासता होनी चाहिए। केवलान्वयीमे विपक्षव्यावृत्ति तथा केवल व्यतिरेकीमे सपक्षसत्त्व नही पाया जाता है। पर नैयायिक केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी हेतुओको हेत्वाभास नही मानते, उनके मतमे ये भी सच्चे ही हेतु हैं। चूँकि तत्पुत्रत्व और श्यामत्वके अविनाभावका ग्रहण करनेवाले प्रमाण नही मिलते इसलिए उनके अविनाभावका निश्चय नही हो पाता। यही अविनाभावका अनिश्चय तत्पुत्रत्व हेतुकी हेत्वाभासतामे कारण है न कि त्रिरूपता या पचरूपताका अभाव।

§ ३९१. **बौद्ध और नैयायिक**—बौद्ध कहते है कि तत्पुत्रत्व हेतुमे विपक्षासत्त्वका निश्चय नही है। यदि इसकी विपक्षव्यावृत्ति निश्चित होती तो श्यामत्वकी निवृत्तिमे तत्पुत्रत्वकी निवृत्ति अवश्य ही होनी चाहिए थी। पर 'श्यामत्वके अभावमे तत्पुत्रत्व अवश्य ही निवृत्त होता है' इसका निश्चय करनेवाला कोई भी प्रमाण नही है। इस तरह विपक्षासत्त्वका निश्चय न होनेसे तत्पुत्रत्व हेतु हेत्वाभास है। नैयायिक तो इस प्रकार गरजकर कहते है कि गर्भिणी माताका हरे पत्तेकी शाक खाना आदि ही गर्भके लड़केके सावले होनेमे कारण है। इस तरह शाकाद्याहारपरिणामकी ही श्यामत्वके साथ समान व्याप्ति है न कि तत्पुत्रत्वकी। अत. तत्पुत्रत्व हेतुमे शाकाद्याहार परिणाम रूप उपाधि होनेसे यह हेतु विपक्षसे व्यावृत्त नही है, व्याप्यत्वासिद्ध है। जो धर्म साध्यका व्यापक हो तथा साधनका अव्यापक उसे उपाधि कहते है, जैसे 'यह धूमवाला है क्योकि अग्निवाला होनेसे' यहाँ गीले ईंधनका संयोग उपाधि है। गीले ईंधनका सयोग साध्यभूत धूएँके साथ सदा रहता है पर साधनभूत अग्निके साथ उसके रहनेका नियम नही है। तपे हुए लोहेके गोलेमे अग्निके रहनेपर भी उसमे गीले ईंधनका सयोग नही पाया जाता। शाकाद्याहार परिणाम सावलेपनके साथ तो रहता है पर तत्पुत्रत्वके साथ रहनेका उसका नियम नही है। तात्पर्य यह कि अकेले तत्पुत्रत्वकी श्यामत्वसे व्याप्ति नही है किन्तु जब वह शाकाद्याहारपरिणामसे विशिष्ट हो जाता है तभी उसकी सावलेपनसे व्याप्ति हो सकती है।

§ ३९२. **जैन**—विपक्षासत्त्वकी ऐसी व्याख्या करके तो आपने अविनाभावको ही दूसरे शब्दो मे स्वीकार कर लिया है। आप घूम-फिरकर अविनाभावकी ही शरणमे जा पहुँचे है अत अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और निर्दोष लक्षण मानना चाहिए। देखो, 'आकाशमे चन्द्र है क्योकि जलमे उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, जलचन्द्र दिखाई देता है,' 'कल सूर्यका उदय होगा क्योकि आज सूर्यका उदय हो रहा है' इत्यादि हेतुओमे पक्षधर्म नही पाया जाता, फिर भी सोलह आने सच्चे है। 'यह मेरी माता मालूम होती है क्योकि इस प्रकारकी आवाज अन्यथा आ ही नहीं

१ -प्रमाणसभवेन आ०। २ तर्हि आ०, क०।

§ ३९३. निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैकं लिङ्गलक्षणमक्षूणं तत्त्वमेतदेव, प्रपञ्चः पुनरयमिति चेत्, तर्हि सौगतेनानाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं ज्ञातत्वं च यौगेन च ज्ञातत्वं लक्षणमाख्यानीयम् ।

§ ३९४. अथ[1] विपक्षान्निश्चितव्यावृत्तिमात्रेणाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च ज्ञापकहेत्वधिकाराज्ज्ञातत्वं च लब्धमेवेति चेत्, तर्हि गमकहेत्वधिकारादशेषमपि लब्धमेवेति किं शेषेणापि प्रपञ्चेनेति । अत एव नान्वयमात्राद्धेतुर्गमकः, अपित्वाक्षिप्तव्यतिरेकादन्वयविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात्, किन्त्वङ्गीकृतान्वयाद्व्यतिरेकविशेषात् । न चापि परस्परानानुविद्धतदुभयमात्रात्, अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तान्वयव्यतिरेकत्वात्, निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणस्य हि हेतोर्यथाप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकरूपत्वात् । न च जैनानां हेतोरेकलक्षणताभिधानमनेकान्तस्य विघातकमिति वक्तव्यं, प्रयोगनियम एवैकलक्षणो हेतुरित्यभिधानात्, न तु स्वभावनियमे, नियतैकस्वभावस्य शशशृङ्गादेरिव निःस्वभावत्वात्, इति कथं न हेतोरनेकान्तात्मकता ।

सकती थी' 'सब पदार्थ क्षणिक या नित्य हैं क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि हेतुओमें सपक्षसत्त्व न रहने पर भी पूरी-पूरी सचाई है। ये सच्चे हेतु माने जाते हैं। अत. अविनाभावको ही हेतुका एकमात्र असाधारण लक्षण मानना चाहिए—त्रैरूप्य आदि दूषित लक्षणोका मानना निरर्थक ही है।

§ ३९३. बौद्धादि—भाई, तत्त्वकी बात यही है कि—निश्चित अविनाभावको ही एकमात्र हेतुका मुख्यतया तथा निर्दोष लक्षण माना जाय। पर उसी अविनाभाव के प्रपंचके लिए विस्तारसे समझने और समझानेके लिए त्रैरूप्य और पाचरूप्य मान लिये जाते है।

जैन—यदि विस्तार और स्पष्टता ही इष्ट है, तो बौद्धोंको चाहिए कि वे अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और ज्ञातत्वको भी हेतुका स्वरूप मानें तथा नैयायिक ज्ञातत्व नामके रूपको भी स्वीकार कर षड्रूप हेतु मानें। हेतुका 'ज्ञातत्व' रूप तो नितान्त आवश्यक है; क्योंकि जब तक हेतु ज्ञात नही होता तब तक अनुमिति हो ही नही सकती।

§ ३९४ बौद्धादि—हेतुको विपक्षसे निश्चित व्यावृत्तिका ज्ञान होनेपर अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व अपने ही आप फलित हो जाते है तथा ज्ञापक हेतुका प्रकरण होनेसे हेतुको ज्ञात तो होना ही चाहिए, क्योंकि अज्ञात पदार्थ ज्ञापक नही होता। इस तरह त्रैरूप्यसे ही अन्य अबाधितविषयत्व आदि अर्थात् ही फलित हो जाते हैं इसलिए उनके पृथक् कथन करनेकी कोई आवश्यकता नही है।

जैन—तब गमक हेतुका अधिकार होनेसे केवल अविनाभावके कथनसे ही अन्य सब पक्षधर्मत्वादि अपने आप ही फलित हो जायेंगे, उनका भी कथन निरर्थक है। अतः एकमात्र अविनाभावको ही हेतुका लक्षण मानना चाहिए। अविनाभावी ही हेतु साध्यका गमक हो सकता है। अतः त्रैरूप्य आदिका आग्रह छोडकर उसे ही मानना चाहिए। इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि हेतु मात्र अन्वयके बलपर गमक नही हो सकता, किन्तु उसमें व्यतिरेक—विपक्षव्यावृत्तिका बल अवश्य होना चाहिए। विपक्षव्यावृत्ति और व्यतिरेकका सीधा अर्थ अविनाभाव है। अत. अविनाभाव विशिष्ट अन्वयसे ही हेतु साध्यका वस्तुतः साधक हो सकता है। इसी तरह केवल व्यतिरेकसे भी हेतुमें गमकता नही है किन्तु गमकता तो अन्वयकी अपेक्षा रखनेवाले ही व्यतिरेकसे होती है। परस्पर निरपेक्ष अन्वय और व्यतिरेक भी हेतुकी गमकतामे कारण नही हो सकते। गमकताके लिए तो अन्वय और व्यतिरेकको परस्पर सापेक्ष होकर तादात्म्य रखना चाहिए। अनेकान्तवादी हेतुमें अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष हैं तथा तादात्म्य रखते हैं। साध्यके अभावमें नही होना साध्यके होनेपर ही होनेसे सम्बद्ध है। इस तरह यदि जैन लोग एकमात्र

---

१. [illegible]

§ ३९५. तथा ननु भोः भो. सकर्णाः प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणप्रतिष्ठितानेकान्तविरुद्धबुद्धिभिर्भवद्भिरन्यैश्च कणभक्षाक्षपादवुद्धादिशिष्यकैरुपन्यस्यमानाः सर्व एव हेतवो विवक्षयासिद्धविरुद्धानैकान्तिकतां स्वीकुर्वन्तीत्यवगन्तव्यम्। तथाहि—पूर्वं तावत्तेषां विरुद्धताभिधीयते। यदि ह्येकस्यैव हेतोस्त्रीणि पञ्च वा रूपाणि वास्तवान्यभ्युपगम्यन्ते, तदा सोऽनेकधर्मात्मकमेव वस्तु साधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः, एकस्य हेतोरनेकधर्मात्मकस्याभ्युपगमात्। न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्षएव सत्त्वं तदेव विपक्षात्सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यं, अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न तु त्रिरूपः पञ्चरूपो वा, तथा च साधनाभासोऽपि गमकः स्यात्।

§ ३९६. अथ न विपक्षासत्त्वं नाभ्युपेयते किं तु साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव साध्याभावे नास्तित्वमभिधीयते न तु ततस्तद्भिन्नमिति चेत्, तदसत्। एवं हि विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावाद्धेतोस्त्रैरूप्यादि न स्यात्। अथ ततस्तदन्यद्धर्मान्तरं; तर्ह्येकरूपस्यानेकात्मकस्य हेतोस्तथाभूतसाध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तवस्तुप्रसाधनात्कथं न परोपन्यस्तहेतूनां सर्वेषां विरुद्धता, एकान्तविरुद्धेनानेकान्तेन व्याप्तत्वात्।

अविनाभाव ही को हेतुका लक्षण मानते है तो भी अनेकान्त सिद्धान्तकी कोई क्षति नही होती, क्योकि हमलोग हेतुके प्रयोगको मात्र अविनाभावकी दृष्टिसे नियमित करना चाहते है न कि उसके स्वभावको। यदि हेतुका कोई भी एक स्वभाव नियत कर दिया जाय, उसमे कोई परिवर्तन और अनेकरूपता न मानी जाय, तो वह असत् स्वभाववाले खरगोशके सीगकी तरह नि स्वभाव ही हो जायगा। अत. जो हेतु अनुमान प्रयोगकी दृष्टिसे मात्र अविनाभाव लक्षणवाला है वही स्वभावकी दृष्टिसे अनेक रूप होता है। इस तरह हेतुमे अनेकान्तात्मकता स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है।

§ ३९५. तथा और भी आप लोग कान खोलकर सुन लो कि प्रमाण प्रसिद्ध तथा सर्वानुभव सिद्ध अनेकान्तवादके विरुद्ध अपना खोटा अभिप्राय रखनेवाले आपने तथा अन्य कणाद अक्षपाद तथा बुद्ध आदिके कुत्सित शिष्योने स्वपक्षसिद्धिके लिए जितने भी हेतु दिये है वे सब असिद्ध विरुद्ध तथा अनैकान्तिक है। सबसे पहले उन हेतुओकी विरुद्धता दिखाते हैं। यदि एक ही हेतुके वास्तविक तीन या पाँच रूप माने जाते है तो वह अनेकान्तात्मक हेतु एकान्तके विरुद्ध अनेकान्तको ही सिद्ध करेगा। इस तरह एक ही हेतुको अनेकरूप माननेसे तथा उसको अनेकान्तका ही साधक होनेसे आपके हेतु विरुद्ध हो जाते है।

शंका—आप बार-बार हेतुको अनेकान्त रूप कह देते है। वस्तुतः वह अनेकान्त रूप है ही नही। पक्षधर्म हेतुका जो सपक्षमे रहना है वही विपक्षमे नही रहना है। हेतुकी विपक्षव्यावृत्ति ही सपक्षसत्त्व रूप है। अत. एकरूप ही हेतु है न कि अनेक रूप।

समाधान—भावरूप अन्वय और अभावरूप व्यतिरेकको सर्वथा एक नही माना जा सकता। यदि ये दोनो वस्तुत एक हो, तो फिर सभी हेतु या तो केवलान्वयी हो जायेगे या फिर केवलव्यतिरेकी। ऐसी हालतमे कोई भी हेतु त्रिरूपी या पचरूपी नही रह सकेगा। और इस तरह जो केवलान्वयी या केवलव्यतिरेकी हेतु त्रिरूपता और पचरूपता न होनेके कारण आपके मतसे साधनाभास हुए वे भी साध्यके गमक सिद्ध करनेवाले हो जायेंगे।

§ ३९६ शंका—विपक्षासत्त्वको हम मानते ही नही है यह बात नही, किन्तु साध्यके सद्भावमे हेतुका होना ही उसका साध्यके अभावमे नही होना है। अर्थात् सपक्षसत्त्वका फलितरूप ही विपक्षासत्त्व है, इससे भिन्न नही है।

§ ३९७. तथासिद्धतापि सर्वसाधनधर्माणामुन्नेया, यतो हेतुः सामान्यं वा भवेत्, विशेषो वा, तदुभयं वा अनुभयं वा। न तावत्सामान्यं हेतुः, तद्धि सकलव्यापि सकलस्वाश्रयव्यापि वा हेतुत्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षसिद्धं वा स्यात्, तदनुमानसिद्धं वा। न तावत्प्रत्यक्षसिद्धम्; प्रत्यक्षं ह्यक्षानुसारितया प्रवर्तते। अक्षं च नियतदेशादिनैव[1] संनिकृष्यते। अतोऽक्षानुसारि ज्ञानं नियतदेशादावेव प्रवर्तितुमुत्सहते, न सकलकालदेशव्यापिनि।

§ ३९८. अथ नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेकात्तन्निश्चये तस्यापि निश्चय इति चेत्; न; नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेके नियतदेशतैव स्यात्, न व्यापिता, तन्न व्यापिसामान्यरूपो हेतुः प्रत्यक्षसिद्धः। अनुमानसिद्धतायामनवस्थाराक्षसी दुर्निवारा। अनुमानेन हि लिङ्गग्रहणपूर्वकमेव प्रवर्तमानेन सामान्यं साध्यते लिङ्गं च न विशेषरूपमिष्यते, अननुगमात्। सामान्यरूपं तु लिङ्गमवगतं वानवगतं वा भवेत्। न तावदनवगतं, अनिष्टत्वादतिप्रसङ्गाच्च। अवगतं चेत्, तदा तस्यावगमः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा। न प्रत्यक्षेण, संनिकृष्टग्राहित्वात्तस्य। नाप्यनुमानेन, तस्याप्यनुमानमन्तरेण लिङ्गग्रहणे पुनस्तदेवावर्तते। तथा चानुमानानामानन्त्याद्युगसहस्रैरप्येकलिङ्गिग्रहणं न भवेत्। अपि च, अशेषव्यक्त्याधेयस्वरूपं सामान्यं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां निश्चीयमानं स्वाधारनिश्चयमुत्पादयेत्। स्वाधारनिश्चयोऽपि निजाधारनिश्चयमिति सकलो जनः सर्वज्ञः प्रसज्यते।

समाधान—यदि विपक्षासत्त्व वास्तविक रूप न हो, तो हेतुमे त्रिरूपता या पंचरूपता कैसे बन सकेगी ? यदि त्रिरूपताकी सिद्धिके लिए विपक्षासत्त्वको पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्वसे अतिरिक्त रूप माना जाता है, तो एक ही हेतु अनायास ही अनेकरूप–अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जाता है। और यह अनेकान्तात्मक हेतु अनेकान्तात्मक साध्यके साथ ही अविनाभाव रखनेके कारण अनेकान्तका ही साधक होगा। इस तरह एकान्तके विरुद्ध अनेकान्तके अविनाभावी होनेके कारण अनेकान्तके ही साधक होनेसे सभी हेतु विरुद्ध है।

§ ३९७. इसी तरह परवादियोके सभी हेतु असिद्ध हैं। बताइए—आपके हेतु सामान्य रूप हैं, या विशेषरूप, या उभयात्मक अथवा इन सबसे विलक्षण अनुभय रूप ? यदि हेतु सामान्यरूप है, तो वह सकल पदार्थ व्यापी है या मात्र अपनी व्यक्तियोमे ही रहता है ? जैसा भी हो, वह सामान्यरूप हेतु प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध है या अनुमानसे ? उसे प्रत्यक्ष सिद्ध तो नही कह सकते; क्योकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोके अधीन है, और इन्द्रियोका सन्निकर्ष नियतदेशवाली स्थूल व्यक्तियो तक ही सीमित है। इसलिए इन्द्रियोके अनुसार चलनेवाला ज्ञान नियतदेश वर्तमानकाल तथा स्थूल पदार्थोमे ही प्रवृत्ति कर सकता है। उसमे सकलदेश तथा त्रिकालवर्त्ती व्यक्तियोमे रहनेवाले सामान्यको जाननेकी शक्ति नही है।

§ ३९८ शंका—जो सामान्य नियतदेशवाली व्यक्तियोमे रहता है वही तो दूर देश तथा अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियोमे पाया जाता है। अत नियत देशमे उसका प्रत्यक्ष होनेसे उसके दूर देश और अतीतादिकालवर्ती व्यक्तियोमे रहनेवाले स्वरूपका भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है।

समाधान—यदि सामान्य नियतदेशवर्ती व्यक्तियोमे रहनेवाले सामान्यसे सर्वथा अभिन्न है, तो फिर वह भी नियतदेशवाला ही हो जायगा। ऐसी हालतमे वह सर्वव्यापी या सर्वस्वव्यक्तिव्यापी नही रह सकेगा। इस तरह व्यापी सामान्य रूप हेतु प्रत्यक्षसिद्ध तो नही है। उसे अनुमानसिद्ध माननेमे तो अनवस्था राक्षसी तुम्हारे पक्षको खा जायगी। जो अनुमान सामान्यको सिद्ध करनेके लिए तैयार होगा वह लिंगज्ञान पूर्वक ही प्रवृत्ति करेगा। और लिंग विशेषरूप तो हो ही नही सकता, क्योकि विशेषका तो दूसरी व्यक्तियोमे अनुगम नही होता। अब रहा सामान्य रूप, सो वह ज्ञात होकर लिंग बनेगा या अज्ञात रहकर ही ? अज्ञात तो लिंग हो ही नही सकता;

---

1 –... लि०–स०, १, प० १, प० २।

§ ३९९. किं च, स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात्प्राक् स्वज्ञानमजनयत्सामान्यं पश्चादपि न तज्जनयेत्, अविचलितरूपत्वात् परैरनाधेयातिशयत्वाच्च, विचलितत्वे आधेयातिशयत्वे च क्षणिकतापत्तिः।

§ ४००. अन्यच्च, तत्सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं, भिन्नाभिन्नं वा हेतुर्भवेत्। न तावद्भिन्नम्; व्यक्तिभ्यः पृथगनुपलम्भात्।

§ ४०१. समवायेन व्यक्तिभिः सह सामान्यस्य संबन्धितत्वात् पृथगनुपलम्भ इति चेत्; न; समवायस्येहबुद्धिहेतुत्वं गीयते, इहेदमिति बुद्धिश्च भेदग्रहणमन्तरेण न भवेत्। किं च, अतोऽश्वत्वादिसामान्यं स्वाश्रयसर्वगतं वा, सर्वसर्वगतं वेष्यते। यदि स्वाश्रयसर्वगतम्; तदा कर्कादिव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेरश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवति, व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यस्यानवस्थानाद्व्यक्त्यन्तरादनागमनाच्च। अथ सर्वसर्वगतं तत्स्वीक्रियते; तदा कर्कादि-

---

अन्यथा जिस व्यक्तिने धूमादि लिगोको नही जाना है उन्हे भी अग्नि आदिका अनुमान होना चाहिए, तथा जिस किसी व्यक्तिको जिस किसी लिंगसे जिस किसी भी साध्यका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि वह सामान्य रूप लिग ज्ञात है, तो उसका ज्ञान प्रत्यक्षसे होगा या अनुमानसे? प्रत्यक्ष तो इन्द्रियोसे सम्बन्ध रखनेवाले स्थूल पदार्थोंमे ही प्रवृत्ति करता है, अत उससे तो सर्वव्यापी सामान्यका परिज्ञान हो ही नही सकता। अनुमानसे भी उसका ज्ञान सम्भव नही है, क्योकि यह अनुमान भी लिंगग्रहणपूर्वक होगा, लिग विशेषरूप नही होकर सामान्यरूप होगा, इस सामान्यका ज्ञान प्रत्यक्षसे होगा या अनुमानसे इस तरह वही प्रश्न बराबर चालू रहेगा। इस तरह हजारो अनुमानोकी कल्पना करके भी हजारो वर्षोमे भी एक साध्यका ज्ञान नही हो सकेगा। सामान्य अपनी समस्त व्यक्तियोमें रहता है। यदि इस सर्वव्यापी सामान्यका प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणसे निश्चय होता है; तो समस्त व्यक्तिरूप आधारमे रहनेवाले सामान्यका निश्चय होनेसे आधारभूत समस्त व्यक्तियोका भी निश्चय हो ही जायगा। इस तरह समस्त आधारभूत व्यक्तियोका निश्चय होनेसे सभी प्राणी सहज ही सर्वज्ञ हो जायेगे।

§ ३९९. सामान्य नित्य और एक रूप माना जाता है। अत यदि वह अपनी आधारभूत व्यक्तिसे इन्द्रिय सम्बन्ध न होने तक ज्ञान उत्पन्न नही करता है तो वह बादमे भी ज्ञानोत्पादक नही हो सकेगा, क्योकि उसका स्वरूप अविचलित—सदा स्थायी है, उसमे किसी दूसरे पदार्थसे कोई नया अतिशय या सामर्थ्य उत्पन्न नही हो सकता। यदि उसका स्वरूप विचलित—परिवर्तनशील माना जाय और उसमें किसी सहकारीसे किसी नयी शक्तिके उत्पन्न होनेकी सम्भावना हो, तो वह नित्य नही रह सकेगा। क्षणिक हो जायगा।

§ ४०० वह सामान्य रूप हेतु व्यक्तियोसे भिन्न है या अभिन्न, अथवा कथचिद् भिन्नाभिन्न? भिन्न तो नही कह सकते, क्योकि विशेष व्यक्तियोसे पृथक् सत्ता रखनेवाले सामान्य की उपलब्धि नही होती।

§ ४०१ **नैयायिक**—यद्यपि सामान्य व्यक्तियोसे भिन्न है, परन्तु उसका व्यक्तियोमे नित्य समवाय रहनेके कारण व्यक्तियोसे भिन्न स्वतन्त्र रूपसे उपलब्धि नही होती।

जैन—समवाय 'इहेदम्—इसमे यह है' इस बुद्धिका कारण होता है। जब तक सामान्य और विशेषका स्वतन्त्र भावसे ज्ञान नही होगा तब तक इहेदं बुद्धि उत्पन्न ही नही हो सकती। 'इह–विशेषमे इदं–सामान्य है' यह बुद्धि स्पष्ट ही भेदको ग्रहण करती है। अच्छा, यह बताइए कि इस इहेदं बुद्धिसे अश्वत्व आदि सामान्यकी वृत्ति–रहना समस्त अश्व रूप स्वाश्रयोमे सिद्ध की जायगी, या सर्वसर्वगत–संसारमे सर्वत्र? यदि अश्वत्व सामान्य कर्क—सफेद घोड़ा पीला घोड़ा

भिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यंज्येत[1] । न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तौ सामर्थ्यं न शाबलेया-दीनामिति वाच्यं, यतः किंरूपं तत्कर्काद्यानां सामर्थ्यम् । साधारणरूपत्वमिति चेत्; न; स्वतश्चेत्सा-धारणरूपा व्यक्तयः, तदा स्वत एव ता अश्वोऽश्व इत्यनुवृत्तं प्रत्ययं जनयिष्यन्तीति किं तद्भिन्न-सामान्यपरिकल्पनया । यदि च स्वतोऽसाधारणरूपा व्यक्तयः, तदापरसामान्ययोगादपि न साधारणा भवेयुः, स्वतोऽसाधारणरूपत्वात्, इति व्यक्तिभिन्नस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुः । कथं ततः साध्यसिद्धिर्भवेत् ।

§ ४०२. अथ व्यक्त्यभिन्नं[2] सामान्यं हेतुः, तदप्ययुक्तं, व्यक्त्यभिन्नस्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्य-न्तराननुगमात्सामान्यरूपतानुपपत्तेर्व्यक्त्यभिन्नत्वस्य सामान्यरूपतायाश्च मिथोविरोधात् । अथ भिन्नाभिन्नमिति चेत्, न, विरोधात् । अथ केनाप्यंशेन भिन्नं केनाप्यभिन्नमिति । तदपि न युक्तं, सामान्यस्य निरंशत्वात् । तन्न एकान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धः ।

आदि अपनी व्यक्तियोमे ही रहता है; तो जिस समय घुडसालमे कोई नया घोडा उत्पन्न होता है उस समय उसमे अश्वत्वसामान्यका सम्बन्ध नही होना चाहिए, क्योकि उस घुडसालके उस खाली भागमे तो अश्वत्व रहता ही नही था जिससे वह वहीका वही नवजात घोड़ेसे चिपट जाता। सामान्य निराश्रय तो रहता ही नही है। सामान्य निष्क्रिय है अतः अश्वत्व दूसरे घोड़ेसे निकल कर इस नये घोडेमे आ भी नही सकता। तात्पर्य यह कि नवजात घोडेमे अश्वत्वका सम्बन्ध हो ही नही सकेगा। यदि अश्वत्वको समस्त जगत्मे व्याप्त माना जाय; तो सफेद घोड़े आदिकी तरह खंडी मुंडी गायोमें भी अश्वत्वका प्रतिभास होना चाहिए, क्योकि अश्वत्व सामान्य तो सर्वगत है अत: घोडोकी तरह गाय आदिमे रहता ही है। 'घोडोमे ही अश्वत्वको प्रकट करनेकी सामर्थ्य है गौओमे नही है' यह नियम करना ही कठिन है। घोड़ोमे ही अश्वत्वको प्रकट करनेकी ऐसी कौन-सी विशेषता है जो गाय आदिमे नही पायी जाती हो? 'घोड़ोमे परस्पर समानता है अतः वे ही अश्वत्वको प्रकट कर सकते हैं न कि घोडोसे अत्यन्त विलक्षण गाय आदि' यह दलील भी अत्यन्त लचर है, क्योकि यदि समस्त घोड़े स्वभावसे ही सदृश है परस्परमें अत्यन्त समान है तो इसी सदृशतासे ही 'अश्वः अश्व.' ऐसा अनुगताकार ज्ञान हो जायगा, तव 'अश्वः अश्व.' इस अनुगताकार ज्ञानके लिए एक अश्वत्व नामके सामान्यकी कल्पना करना निरर्थक ही है। यदि समस्त घोड़े स्वभावसे असाधारण–विलक्षण है एक दूसरेके समान नही है; तो अश्वत्व नामके सामान्यमे भी यह शक्ति नही है कि वह उनमे 'अश्व' अश्व.' इस साधारण सदृश प्रत्ययको उत्पन्न कर सके। जो स्वतः विलक्षण हैं उनमे दूसरा पदार्थ समानता या सदृशता कैसे ला सकता है। इस तरह व्यक्तियोसे सर्वथा भिन्न सामान्यकी तो जव सत्ता ही नही सिद्ध होती तव उसे हेतु वनाकर उससे साध्यकी सिद्धि करना आकाशके फूलकी माला वनाकर उसकी महकमे आनन्द लेनेके समान कल्पनाकी ही वस्तु है।

§ ४०२ यदि सामान्य व्यक्तियोंसे अभिन्न है, तो वह व्यक्ति स्वरूप ही हुआ, अतः जिस तरह एक व्यक्तिका दूसरी व्यक्तिमे अन्वय नही पाया जाता उसी तरह सामान्यका भी दूसरी व्यक्तिमे अन्वय नही होगा। जव वह दूसरी व्यक्तिमे अनुगत ही नही है तव उसे सामान्य ही कैसे कह सकते है? सामान्य तो अनेकानुगत होता है। 'व्यक्तिसे अभिन्न भी होना तथा सामान्य भी होना' ये तो परस्पर विरोधी बाते है। भिन्नाभिन्न पक्षमे तो आप स्वयं विरोध कहते थे। तथा एक सामान्य भिन्न भी हो और अभिन्न भी यह सचमुच विरोधी है ही। सामान्यको किसी अंशसे भिन्न तथा किसी अंशसे अभिन्न माननेकी वात तो कही ही नही जा सकती;

---

१. –व्यज्येत आ०। २. –भिन्नाभिन्नं म० १, प० १, प० २।

§ ४०३. नापि विशेषरूपः, तस्यासाधारणत्वेन गमकत्वायोगात्, साधारणत्व एवान्वयोपपत्तेः। नापि सामान्यविशेषोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः उभयदोषप्रसङ्गात्। नाप्यनुभयं, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात्। बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यमवस्तुरूपत्वात्साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च न हेतुः। तदेवं सामान्यादीनामसिद्धत्वे तल्लक्षणाः सर्वेऽपि हेतवोऽसिद्धा एव।

§ ४०४. तथा प्रतिबन्धविकलाः समस्ता अपि परोपन्यस्ता हेतवोऽनैकान्तिका अवगन्तव्याः। न चैकान्तसामान्ययोर्विशेषयोर्वा साध्यसाधनयोः प्रतिबन्ध उपपद्यते। तथाहि-सामान्ययोरेकान्तेन नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकभूतयोः कः प्रतिबन्धः, मिथः कार्यकारणादिभावेनोपकार्योपकारत्वे त्वनित्यत्वापत्तेः। विशेषयोस्तु नियतदेशकालयोः प्रतिबन्धग्रहेऽपि तत्रैव तयोर्ध्वंसात्साध्यधर्मिण्यगृहीतप्रतिबन्ध एवान्यो विशेषो हेतुत्वेनोपादीयमानः कथं नानैकान्तिकः।

क्योंकि सामान्यके अश ही नही है, वह तो सर्वथा निरश है। इस तरह हेतु सर्वथा सामान्य रूप तो सिद्ध नही हो सकता।

§ ४०३ हेतुको विशेष रूप तो कह ही नही सकते, क्योंकि विशेष तो असाधारण—परस्पर विलक्षण होते है उनमे परस्पर अन्वय नही पाया जाता अतः वे साध्यका अनुमान नही करा सकेंगे। अन्वय तो साधारण—सदृशवस्तुओमे ही हो सकता है। परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषको हेतु माननेमे तो सामान्य और विशेष दोनो ही पक्षोमे आनेवाले दूषणोका प्रसग होगा। अनुभय रूप तो ससारमे कोई पदार्थ ही नही हो सकता। सामान्य और विशेष एक दूसरेका निषेध करके रहते है। जो सामान्य होगा वह विशेषका व्यवच्छेद करेगा तथा जो विशेष होगा वह सामान्यका। अतः यदि उसे सामान्यरूप नही मानते तो वह विशेष रूप अवश्य ही होगा और यदि वह विशेषरूप नही है तो सामान्यरूप अवश्य होगा। एकका निषेध करने से दूसरेका विधान अवश्यभावी है, दोनोका एक साथ निषेध नही किया जा सकता। बौद्धोके द्वारा माना गया बुद्धिकल्पित अन्यापोहरूप सामान्य तो अवस्तु है, उसका साध्यके साथ अविनाभावी सम्बन्ध भी नही है। इस तरह वह सर्वथा असिद्ध होनेके कारण हेतु बनकर साध्य साधक नही हो सकता। इस तरह सामान्य आदिके असिद्ध होनेके कारण सामान्य आदि रूप हेतु भी असिद्ध ही है।

§ ४०४ प्रतिवादियोके द्वारा प्रयुक्त हेतुओका अपने साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध नही है। अतः वे सभी हेतु अविनाभावशून्य होनेसे अनैकान्तिक हैं। परवादी साध्य और हेतुको या तो सामान्यरूप मान सकते है या फिर विशेष रूप, सामान्यविशेषात्मक तो वे मान ही नही सकते। अतः सर्वथा सामान्य या विशेषरूप हेतु और साध्यमे अविनाभावसम्बन्ध ही नही बन सकता। यदि हेतु और साध्य सामान्य रूप हैं, तो सामान्य नित्य होनेके कारण एक दूसरेकी अपेक्षा नही रखते और न वे अविकारी नित्य होनेके कारण एक दूसरेका उपकार ही कर सकते हैं। अतः परस्पर उपकार शून्य साध्य सामान्य और हेतु सामान्यमे सम्बन्ध ही नही हो सकता। जो पदार्थ एक दूसरेके कार्य या कारण होकर उपकार करते हैं उन्हीमे सम्बन्ध होता है। परन्तु नित्य सामान्य तो न किसीके कारण ही हो सकते हैं और न कार्य ही। ज्यो ही उनमे कार्यकारणभाव आया त्यो ही उनकी नित्यरूपता समाप्त हो जायगी और वे अनित्य हो जायँगे। साध्यविशेष और साधनविशेष तो अपने नियत देश तथा नियत कालमे रहनेवाले है अतः उनमे सम्बन्ध ग्रहण कर भी लिया जाय तो भी जब वे दूसरे क्षणमे नष्ट ही हो जानेवाले है तो उनमे सम्बन्धका ग्रहण करना और न करना बराबर ही है, क्योकि जिनमे सम्बन्ध ग्रहण किया था वे तो नष्ट ही हो गये है, इस समय तो पक्ष एक नया ही हेतु विशेष दिखाई दे रहा है। जब इस नये हेतु विशेष का साध्यके साथ सम्बन्ध ही ग्रहण नही किया तब वह साध्यका अनुमान कैसे करा सकता

§ ४०५. किं च प्रतिबन्धः पक्षधर्मत्वादिके लिङ्गलक्षणे सति संभवी, न च साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तेन भेदेऽभेदे वा पक्षधर्मत्वादिधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः।

§ ४०६. संबन्धो हि साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च किं समवायः, संयोगः, विरोधः, विशेषणविशेष्यभावः, तादात्म्यं, तदुत्पत्तिर्वा भवेत्। न तावत्समवायः, तस्य धर्मधर्मिद्वयातिरिक्तस्य प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्, इह तन्तुषु पट इत्यादेस्तत्साधकस्य प्रत्ययस्यालौकिकत्वात्, पांसुलपादानामपीह पटे तन्तव[1] इत्येवं प्रतीतिदर्शनात्, इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। सत्त्वे वा समवायस्य स्वत एव धर्मधर्म्यादिषु वृत्त्यभ्युपगमे तद्वत्साध्यादिधर्माणामपि स्वत एव धर्मिणि वृत्तिरस्तु किं व्यर्थया समवायकल्पनया। समवायस्य समवायान्तरेण वृत्त्यभ्युपगमे तु तत्राप्यपरसमवायकल्पनेऽनवस्थानदी दुस्तरा। अस्तु समवायस्य स्वतः परतो वा वृत्तिः, तथापि तस्य प्रतिनियतानामेव संबन्धिनां संबन्धकत्वं न स्यात् अपि त्वन्येषामपि व्यापकत्वेन, तस्य सर्वत्र तुल्यत्वादेकस्वभावत्वाच्च।

है ? और यदि इस नये अगृहीत सम्बन्धवाले पदार्थको हेतु बनाया जायगा तो वह अनैकान्तिक हो जायगा।

§ ४०५ जब हेतुका पक्षमें रहना आदि सिद्ध हो तभी अविनाभाव सम्बन्ध बन सकता है। परन्तु साध्य साधन और धर्मीमें सर्वथा भेद मानने पर तो पक्ष आदिका स्वरूप ही नही बन पाता, उनमे सर्वथा अभेद माननेसे कोई एक पदार्थ ही बचेगा। एक पदार्थमे तो धर्मधर्मिभाव का होना असम्भव ही है। इस तरह धर्मी साध्य और साधनका सम्बन्ध न होनेके कारण हेतुके पक्षधर्मत्व आदि रूपोकी सिद्धि नही हो सकती।

§ ४०६. आप ही बताइए कि—धर्मी साध्य और साधनमे कौन-सा सम्बन्ध होगा ? उनमे समवाय माना जाय, या सयोग, अथवा विरोध, किवा विशेषणविशेष्यभाव, या तादात्म्य या तदुत्पत्ति ? साध्यधर्म और पर्वतादिधर्मोमे समवाय सम्बन्ध तो नही माना जा सकता, क्योकि धर्म और धर्मीको छोडकर उन दोनोमे रहनेवाला कोई तीसरा सम्बन्ध किसी भी प्रमाणसे अनुभव मे नही आता। 'यदि यह धर्म है, यह धर्मी है और यह उनका समवाय है' इस तरह समवायका धर्म और धर्मीसे भिन्न प्रतिभास होता तो उसकी सत्ता मानी जा सकती थी। पर उसका अनुभव ही नही होता। 'इन तन्तुओमे कपडा है' इत्यादि इहेदंप्रत्यय, जो समवायकी सिद्धिके लिए पेश किये जाते है, वे सचमुचमें अलौकिक ही है। नंगे पैर चलनेवाले गाँवड़ेके किसान भी 'कपड़ेमे तन्तु है' यही कहते है न कि तन्तुओमे कपड़ा। यदि 'इहेद' प्रत्ययसे ही समवायकी सिद्धि होती हो; तो 'इस पृथिवीमे घडेका अभाव है' इस प्रत्ययसे भी भूतल और घटाभावमे समवायकी सिद्धि हो जानी चाहिए। समवायकी सत्ता मान भी ली जाय परन्तु वह धर्म और धर्मीमे यदि दूसरे सम्बन्धके बिना ही अपने आप रह जाता है, तो समवायकी तरह साध्य आदि धर्मोकी ही अपने धर्मीमे स्वत वृत्ति मान लेनी चाहिए, व्यर्थ ही उनमे समवायकी कल्पना करनेसे क्या फायदा है ? यदि समवाय अन्य किसी दूसरे समवायसे धर्म और धर्मीमे रहता है, तो वह समवाय भी अपने सम्बन्धियोमे किसी तीसरे समवायसे रहेगा, तीसरा भी चौथेसे, इस तरह अनेको समवायों की कल्पना करनेसे अनवस्था नामका दूषण होगा। इस अनवस्था नदीका तैरना कठिन हो जायगा। अस्तु समवायकी स्वतः या परत. किसी भी रूपसे वृत्ति मान भी ली जाय तो भी 'वह अमुक सम्बन्धियोमे ही सम्बन्ध कराता है' यह नियम करना कठिन है। समवाय नित्य व्यापक और एकस्वभाववाला है, अतः उसे तन्तुका पटकी तरह घटमे भी समवाय करा देना चाहिए।

१. तन्तव इति–म० १, प० १, प० २।

§ ४०७. नापि संयोगः, स हि साध्यसाधनादीनां भवन् किं ततो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा। प्राचि पक्षे कथं विवक्षितानामेवैष किं नान्येषामपि। भेदाविशेषात्, न च समवायोऽत्र नियामकः तस्य सर्वत्र सदृशत्वात्। द्वितीये तु साध्यादीन्येव स्युः न कश्चित्संयोगो नाम कथंचिद्भिन्नसंयोगाङ्गीकारे तु परवादाश्रयणं भवेत्।

§ ४०८. नापि विरोधोऽभिधातव्यः, तस्याप्येकान्तमतेऽसंभवात्। [1]स हि सहानवस्थानं परस्परपरिहारो वा भवेत्। [2]तत्राद्ये किं कदाचिदप्येकत्रानवस्थानमुत कियत्कालं स्थित्वा पश्चादनवस्थानम्। आद्ये पक्षेऽहिनकुलादीनां न विरोधः स्यात् अन्यथा त्रैलोक्येऽप्युरगादीनामभावः। द्वितीये तु नरवनितादेरपि विरोधः स्यात्, तयोरपि किंचित्कालमेकत्र[3] स्थित्वापगमात्। किं च वडवानलजलधिजलयोर्विद्युदम्भोदाम्भसोश्च चिरतरमेकत्रावस्थातः कथमयं विरोधः। परस्परपरिहारस्तु सर्वभावानामविशिष्टः कथमसौ प्रतिनियतानामेव भवेत्।

---

§ ४०७. यदि साध्य और साधनका परस्पर सयोग सम्बन्ध माना जाय; तो वह सयोग उनसे भिन्न होगा या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो 'वह इन्ही साध्य साधनका सयोग है अन्यका नही' यह नियम नही हो सकेगा। जब सयोग विवक्षित साध्य-साधनोसे उतना ही भिन्न है जितना कि अविवक्षित साध्य और साधनोसे; तो क्या कारण है कि वह इन्हीका कहा जाय और अन्य साध्य-साधनोका नही कहा जाय। समवाय तो नित्य और व्यापी होनेसे सभीके प्रति समान दृष्टि रखने वाला है, अत वह भी सयोगका अमुक साध्य-साधनोसे ही गठबन्धन नही करा सकता। यदि साध्य आदिसे संयोग अभिन्न है; तो साध्य और साधनकी ही सत्ता रहेगी न कि सयोगकी, अभेद मे तो एक ही वस्तु बच सकती है। कथचिद् भेद मानने पर तो अनेकान्तवादकी शरणमे पहुँचना होगा।

§ ४०८. साध्य और साधनमे परस्पर विरोध भी नही कह सकते, क्योकि सर्वथा एकान्त पक्षमे विरोधका सिद्ध करना भी असम्भव है। बताइए साध्य और साधनमे सहानवस्थान रूप विरोध होगा या परस्परपरिहारस्थिति रूप ? उनमे सहानवस्थान रूप विरोध भी क्यो माना जाता है—क्या वे कभी भी एक जगह नही रह सकते या कुछ देर तक साथ रहकर पीछे अलग हो जाते है ? यदि कभी भी एक जगह न रहनेवालोमे ही सहानवस्थान रूप विरोध माना जाय, तो साँप और नेवला आदि भी कभी-कभी एक साथ भी रहते है अत. उनमे सहानवस्थान विरोध नही कहना चाहिए। यदि उनमे सहानवस्थान विरोध हो तो ससारसे साँपोका लोप ही हो जायगा। स्त्री और पुरुष भी कुछ देर तक इकट्ठे रह कर पीछे अलग हो जाते है, अतः उनमे भी सहानवस्थान विरोध मानना चाहिए। यदि कुछ देर तक एक साथ रह कर पीछे तुरन्त ही अलग हो जानेवालोमे ही विरोध माना जाय, तो वडवानल—समुद्री आग और समुद्रका जल, बिजली और बादलोमे रहनेवाला पानी, ये सभी बहुत देर तक एक साथ रहते है अत. इनमे विरोध नही होना चाहिए। परस्पर परिहार स्थिति रूप विरोध तो सभी पदार्थोमे साधारण रूपसे हुआ ही करता है। हर एक पदार्थ दूसरे पदार्थोसे भिन्न अपनी स्थिति रखता ही है। अतः इस सर्व साधारण विरोधका अमुक साध्य-साधनोसे ही सम्बन्ध कैसे जोडा जा सकता है ?

---

१. "द्विविधो हि पदार्थाना विरोध । अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद् विरोधगति । शीतोष्णस्पर्शवत्। परस्परपरिहारस्थितिलक्षणतया वा भावाभाववत्।"—न्यायवि० २।७२-७५। २. तत्राद्ये किं म० १, प० १, प० २। ३. -कत्रमिति स्थि -म० १, प० १, प० २।

§ ४०९. नापि विशेषणविशेष्यभावो घटामियर्ति, तस्य संयोगाद्यसंभवेऽभावात्[1] तस्य तु प्रागेव निरासात् ।

§ ४१०. नापि साध्यसाधनयोस्तादात्म्यं घटते, साध्यसाधनयोरसिद्धसिद्धयोर्भेदाभ्युपगमेन तादात्म्यायोगात्, तादात्म्ये च [2]साध्य साधनं चैकतरमेव भवेन्न द्वयं कथंचित्तादात्म्ये तु जैनमतानुप्रवेशः स्यात् ।

§ ४११. तदुत्पत्तिस्तु कार्यकारणभावे संभविनी कार्यकारणभावश्चार्थक्रियासिद्धौ सिध्येत् । अर्थक्रिया च नित्यस्य क्रमाक्रमाभ्यां सहकारिषु सत्स्वसत्सु च जनकाजनकस्वभावद्वयानभ्युपगमेन नोपपद्यते । अनित्यस्य तु सतोऽसतो वा सा न घटते [3]सतः समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, व्यापारे वा स्वस्वकारणकाल एव जातानामुत्तरोत्तरसर्वक्षणानामेकक्षणवर्तित्वप्रसङ्गात्, सकलभावानां मिथः कार्यकारणभावप्रसक्तेश्च, असतश्च सकलशक्तिविकलत्वेन कार्यकारणासंभवात्,

§ ४०९. साध्य और साधनमें विशेषणविशेष्यभाव भी नही माना जा सकता; क्योकि विशेषणविशेष्यभाव तो उन पदार्थोंमे होता है जिनमें पहलेसे परस्पर कोई संयोग या समवाय आदि सम्बन्ध रहते है। पर जब साध्य और साधनमे संयोगादि सम्बन्धोका अभाव सिद्ध किया जा चुका है तब उनमे विशेषणविशेष्यभावकी बात बिलकुल अप्रासंगिक है।

§ ४१०. साध्य और साधनमे तादात्म्य सम्बन्ध भी नही माना जा सकता; क्योंकि साध्य असिद्ध होता है तथा साधन सिद्ध। इस तरह जब उनमे जमीन-आसमान-जैसा भेद है तो तादात्म्य सम्बन्ध कैसे बन सकता है ? यदि उनमे तादात्म्य माना जायगा; तो जब तादात्म्य होनेसे साध्य और साधनमे अभेद हो जायगा तब या तो साध्य ही बचेगा या फिर साधन ही। तादात्म्य सम्बन्धमे दो नही बच सकते। कथंचित्तादात्म्य माननेसे तो जैन मतको स्वीकार करना होगा।

§ ४११. साध्य और साधनमे कार्यकारणभाव होने पर ही तदुत्पत्ति सम्बन्धको बात उठ सकती है। कार्य-कारण भाव अर्थ क्रिया करनेवाले पदार्थोंमे होता है। सर्वथा नित्य तथा अनित्य साध्य-साधनोमे जब अर्थक्रिया ही नही हो सकती तब उनमे कार्यकारणभाव या तदुत्पत्ति सम्बन्ध की चर्चा ही व्यर्थ है। नित्य पदार्थ सदा एक स्वभाववाला होता है, अतः उसमे क्रमसे तथा युगपत् सहकारियोकी मददसे तथा उनकी मददके विना, किसी भी तरह कोई भी अर्थक्रिया नही हो सकती, क्योकि हर हालतमे अनेक कार्योको उत्पन्न करनेके लिए अनेक स्वभावोकी आवश्यकता है, जिनका कि नित्यमे सर्वथा अभाव है। सर्वथा क्षणिक पदार्थ भी अपने सद्भावमें तथा असद्भावमे अर्थक्रिया नही कर सकता। यदि वह अपनी मौजूदगीमें ही अपने कार्यको उत्पन्न करता है, तो पहली बात तो यह है कि—समान समय वालोमे कार्यकारणभाव नही होता। यदि एक साथ रहनेवालोमे भी कार्यकारणभाव हो जाय, तो समस्त उत्तरोत्तर कार्य पूर्व पूर्व क्षणमे उत्पन्न हो जॉयगे। नवॉं क्षण दसवे क्षणको अपनी मौजूदगीमे अर्थात् नवे क्षणमें ही उत्पन्न करता है, इसी तरह आठवॉं नवेको अपनी मौजूदगी अर्थात् आठवे क्षणमे, सातवॉं आठवे को अपनी सातवे क्षणकी सत्तामे, छठवॉं सातवेको अपने छठे क्षणमे, इस तरह समस्त उत्तरोत्तरक्षण खिसकते-खिसकते प्रथमक्षणमे ही उत्पन्न होगे और दूसरे क्षणमे नष्ट होकर संसारको शून्य बना देगे। ऊपर यदि सहभावियोमे कार्यकारणभाव हो, तो समस्त सहभावी पदार्थोंमे परस्पर कार्यकारण भाव हो जाना चाहिए। कोई भी कारण असत् होकर तो कार्यको उत्पन्न ही नही कर सकता, क्योकि असत् पदार्थ जब समस्त शक्तियोसे रहित होता है तो उसमें कार्यको उत्पन्न करने

१ संयोगाद्यभावा–म० १, प० १, प० २। २ चो म० १, प० १, प० २। ३ सत. समवायवर्ति–आ०, क०। सतसमसमयवर्ति –प० १, प० २।

अन्यथा शशविषाणादेरपि तत्प्रसङ्गात्। तदित्थं साध्यादीनां संबन्धानुपपत्तेरेकान्तमते पक्षधर्मत्वादि हेतुलक्षणमसंगतमेव स्यात्, तथा च प्रतिबन्धो दुरुपपाद एव।

§ ४१२. तथैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि न जाघटीति, अविचलितस्वरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात्, प्रतिक्षणध्वंसिन्यपि कार्यकारणाद्युभयग्रहणानुवृत्त्यैकचैतन्याभावात्।

§ ४१३. न च कार्याद्यनुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावादिः प्रतिबन्धोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यं अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात्। न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः, तस्योभयनिष्ठत्वात्। उभयस्य पूर्वापरकालभाविन एकेनाग्रहणादिति न प्रतिबन्धनिश्चयोऽपि।

§ ४१४. तदेवमेकान्तपक्षे परैरुच्चार्यमाण. सर्वोऽपि हेतुः प्रतिबन्धस्याभावादनिश्चयाच्चानैकान्तिक एव भवेत्।

को शक्ति भी नही रह सकती। यदि असत् पदार्थ भी कार्य करने लगे तो, खरगोशके सीगको भी कुछ कार्य करना चाहिए और कार्यकारी होनेसे सत् हो जाना चाहिए। इस तरह जब साध्य-साधन आदिका एकान्तमतमे सम्बन्ध ही नही बन पाता तब हेतुके पक्षधर्मत्व आदि रूप कैसे सिद्ध हो सकते है? उन्हे हेतुका स्वरूप मानना असगत है। अत. साध्य और साधन आदिका सम्बन्ध सिद्ध करना वस्तुत. कठिन है।

§ ४१२ एकान्त नित्यवादी आत्माको सर्वथा अपरिवर्तनशील नित्य मानते है। वह सर्वथा अविचलित स्वभाववाला है इसलिए उसमे ज्ञानकी पर्याये भी नही बदलती। जब ऐसा कूटस्थ नित्य आत्मा है; तो उसे साध्य और साधनके सम्बन्धको ग्रहण करना ही कठिन है। जिस आत्माके ज्ञानमे साध्य-साधन और उनका सर्वोपसंहारी अविनाभाव क्रमश. प्रतिभासित हो वही आत्मा सम्बन्धको ग्रहण कर सकता है। जो सदा एकरस है उसमे इतना क्रमिक परिणमन हो ही नही सकता। बौद्ध आत्माको क्षणिक ज्ञान प्रवाह रूप मानते हैं उनका यह क्षणिक आत्मा भी साध्यसाधनके सम्बन्धको ग्रहण नही कर सकता जिस ज्ञानक्षणने साधनको जाना है वह साध्यको नही जानता, साध्यको जाननेवाला ज्ञानक्षण साधनको नही जानता। इस तरह कार्यकारण या साध्यसाधन दोनोके जाननेवाले किसी अन्वयी चैतन्यका सद्भाव न होनेसे उनके सम्बन्धका जानना नितान्त असम्भव है।

§ ४१३ **बौद्ध**—कार्यकारण या साध्यसाधनके अनुभवसे उत्पन्न होनेवाले स्मरणके द्वारा कार्यकारण भाव तथा अविनाभाव आदि सम्बन्धोका ज्ञान भलीभांति किया जा सकता है।

जैन—स्मरण तो अनुभवके अनुसार होता है। जिस पदार्थका अनुभव होगा उसीका स्मरण आता है। जब कार्यकारणभाव या अविनाभाव आदि सम्बन्धोका अनुभव ही नही हुआ है तब उनका स्मरण कैसे आ सकता है? सम्बन्ध तो दोमे रहता है। जब आपका कोई भी क्षणिक ज्ञानक्षण पूर्वोत्तर कालभावी दो पदार्थो को नहीं जानता तब वह कैसे उन दोमे रहनेवाले सम्बन्धका परिज्ञान कर सकेगा? कार्यकारण भाव तो क्रमभावी कारण और कार्यमे रहता है। आपके किसी एक ज्ञानक्षणके द्वारा क्रमभावी कार्य और कारणका ग्रहण करना नितान्त असम्भव है। अत. उससे उनके सम्बन्धका ग्रहण भी नही हो सकता।

§ ४१४ इस तरह एकान्तपक्षमे प्रतिवादियोके सभी हेतु अनैकान्तिक हैं, क्योकि एक तो उनमे सम्बन्ध ही नही बनता, किसी तरह बन भी जाय तो उसका निश्चय करना ही असम्भव है।

§ ४१५. एवं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य च द्वयोर्वा परस्परविविक्तयोस्तयोर्हेतुत्वाघटनादनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययनिबन्धनपरस्परसंवलितसामान्यविशेषात्मनो हेतोरनेकान्तात्मनि साध्ये गमकत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

§ ४१६. न च यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति, यच्चानुवर्तते तत्कथं व्यावृत्तिमाश्रयति इति वक्तव्यं, अनुवृत्तव्यावृत्तरूपतयाध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुरूपे विरोधासिद्धेः, सामान्यविशेषवच्चित्रज्ञानवच्चित्रपटस्यैकचित्ररूपवद्वा ।

§ ४१७. किं च एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः साध्यं किं सामान्यमाहोस्विद्विशेष उतोभयं परस्परविविक्तमुतस्विदनुभयमिति विकल्पाः । न तावत्सामान्यम्, केवलस्य तस्यासंभवादर्थक्रियाकारित्ववैकल्याच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नाप्युभयम्; उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्; तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्मस्य साध्यधर्मिणि साधनायान्योन्यानुविद्धान्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयात्मैकहेतोः प्रदर्शने लेशतोऽपि नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः संभवी, अतोऽनेकान्तात्मकं हेतुस्वरूपं

---

§ ४१५ इस तरह हेतु न तो केवल सामान्यरूप हो सकता है न केवल विशेषरूप और न परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र सामान्य विशेष रूप ही । अत. परस्पर सापेक्ष सामान्य विशेषात्मक रूप ही हेतु अनेकान्तात्मक साध्यका अनुमापक हो सकता है । परस्पर तादात्म्य रखनेवाले सामान्य और विशेष ही अनुगताकार साधारण प्रत्यय तथा व्यावृत्ताकार विलक्षण प्रत्यक्षमे कारण होते है ।

§ ४१६. शंका—जो पदार्थ विशेषात्मक है दूसरोसे व्यावृत्त होता है वही अनुवृत्त-साधारण प्रत्ययमे कारण कैसे हो सकता है । इसी तरह जो साधारण सामान्यरूप होकर अनुगत प्रत्ययमे कारण होता है वही व्यावृत्त प्रत्ययमे कारण कैसे हो सकता है ? ये दोनों ही रूप परस्पर विरोधी है, अत: एक वस्तुमे कैसे रह सकते है ?

समाधान—जिस तरह सामान्य विशेष—पृथिवीत्व आदि अपर सामान्य जलादिसे व्यावर्तक होनेके कारण विशेष रूप होकर भी पृथिवी व्यक्तियोमे अनुगत—एकाकार प्रत्यय करानेके कारण सामान्यरूप भी है । अथवा जिस प्रकार चित्रज्ञान एक होकर भी अनेक नील पीतादि आकारोको धारण करता है । अथवा जैसे एक ही रंग-विरंगे चित्रपटमे अनेक नीले पीले रग रह जाते है उसी तरह एक हो वस्तु सामान्य और विशेष दो आकारोको भी धारण कर सकती है । जव एक ही वस्तुका अनुगताकार तथा व्यावृत्ताकार प्रत्ययमे कारण होना प्रत्यक्ष सिद्ध है तव उनमे विरोध कैसे हो सकता है ? विरोध तो उनमे होता है जिनकी एक साथ उपलब्धि न हो सकती हो ।

§ ४१७ अच्छा, आप सब एकान्तवादी कृपया यह वतावे कि—आप अपने हेतुओका साध्य केवल सामान्यरूप ही मानते है, या विशेषरूप, अथवा परस्पर निरपेक्ष उभयरूप, किंवा अनुभयरूप ? केवल सामान्य पदार्थ तो गधेके सींगकी तरह असत् है, वह कोई भी अर्थ-क्रिया नहीं कर सकता । अत. उसे साध्य वनाना निरर्थक ही है । केवल विशेष तो दूसरी व्यक्तिमे अनुगत नही होता अत उसका सम्बन्ध अगृहीत रहनेके कारण वह साध्य नही वनाया जा सकता । परस्पर निरपेक्ष उभयपक्षमे तो सामान्य और विशेप दोनो पक्षोमे आनेवाले दूषणोका प्रसंग होगा । अनुभयरूप तो कोई पदार्थ ही नही हो सकता, या तो वह सामान्यरूप होगा या विशेषरूप । परस्पर व्यवच्छेदात्मक सामान्य और विशेष दोनोका युगपत् निषेध नही किया जा

चावश्यमङ्गीकर्तव्यं, अन्यथा सकलानुमानेषु साध्यसाधनानामुक्तन्यायत उच्छेद एव भवेत्। तस्माद्भो एकान्तवादिन्, निजपक्षाभिमानत्यागे[1]नाविषादिनोऽक्षिणी निमील्य बुद्धिदृशमुन्मील्य मध्यस्थवृत्त्या युक्त्यानुसारैकप्रवृत्त्या तत्तत्त्वं जिज्ञासन्तो भवन्तो[2]ऽनेकान्तं कान्तं विचारयन्तु, प्रमाणैकमूलसकलयुक्तियुक्तं प्रागुक्तनिखिलदोषविप्रमुक्तम् तत्तत्त्वं चाधिगच्छन्तु। इति परहेतुतमोभास्करनामकं वादस्थलम्। ततः सिद्धं सर्वदर्शनसंमतमनेकान्तमतम् ॥५७॥

§ ४१८. अथ जैनमतं [3]संक्षेपयन्नाह—

जैनदर्शनसंक्षेप इत्येष गदितोऽनघः।
पूर्वापरपराघातो यत्र क्वापि न विद्यते ॥५८॥

§ ४१९. व्याख्या—जैनदर्शनस्य संक्षेपो विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमशक्यत्वादुपयोगसारः समास इत्यमुनोक्तप्रकारेणैव—प्रत्यक्षो गदितो–अभिहितोऽनघो–निर्दूषणः सर्ववक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वे दोषकालुष्यानवकाशात्। यत्र—जैनदर्शने क्वापि क्वचिदपि जीवाजीवादिरूपविचारणावि[4]षयसूक्ष्ममतिचर्चायामपि पूर्वापरयोः—पूर्वपश्चादभिहितयोः पराघातः—परस्परव्याहतत्वं न विद्यते, अयं

सकता है। इस तरह जब अनुभय पदार्थकी सत्ता ही नही तब वह हेतुका व्यापक होकर साध्य नही बन सकता। इस तरह पक्षमे सामान्यविशेपात्मक वस्तुकी सिद्धिके लिए सामान्यविशेषात्मक ही हेतुका प्रयोग करना युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है। इस सामान्य विशेषात्मक पक्षको एकान्त पक्षमे दिये जानेवाले दूषणोकी हवा भी नही लग सकती। अतः हेतुका स्वरूप अनेकान्तात्मक ही मानना चाहिए। उसे एकान्त रूप माननेसे समस्त साध्य-साधनोका लोप होकर अनुमान मात्रका उच्छेद हो जायगा। इसलिए हे एकान्तवादियो, यदि आप लोग अपने पक्षका मिथ्याभिमान छोड़कर शान्तचित्तसे योगीकी तरह इन चचल आंखोको मूँदकर ज्ञान नेत्रोको खोलकर, तटस्थवृत्तिसे युक्तियोंका आलोडनकर, तत्त्वजिज्ञासापूर्वक अनेकान्तका थोड़ी देर भी विचार करेगे तो आप पहले कहे गये समस्त दूषणोसे रहित प्रमाण प्रसिद्ध अनेकान्ततत्त्वको सहज ही पा सकेंगे। इस तरह यह परहेतुतमोभास्कर नामका वादस्थल पूर्ण हुआ। ऊपरके विवेचनसे अनेकान्ततत्त्व सर्वदर्शनसम्मत सिद्ध हो जाता है ॥५७॥

§ ४१८. अब जैनमतका उपसंहार करते हैं—

इस तरह सर्वथा निर्दोष जैनदर्शनका संक्षेपसे कथन किया है। इनकी मान्यताओमे कही भी पूर्वापर विरोध नही है ॥५८॥

§ ४१९ जैनदर्शन अगाध है, उसका विस्तारसे वर्णन करना तो समुद्रको तैरनेके समान असम्भव है। अत. सारभूत उपयोगी पदार्थो का इस प्रकरणमे कथन किया गया है। जैनदर्शनके मूलवक्ता सर्वज्ञ हैं, अत. उसमे दोषकी कालिमा हो ही नही सकती। यह वर्णन भी उन्हीके वचनोके अनुसार है अतः इसमे किसी भी तरहके दोषकी सम्भावना नही है। इस जैनदर्शनकी जीव अजीवादिविषयक गहनतम सूक्ष्म चर्चाओमे कहीपर भी पूर्वापर विरोध नही देखा जाता। पहले कुछ और कहा जाय और वादमे कुछ और ही तब पूर्वापर विरोध होता है। परन्तु जैनदर्शनमे पहले और पीछे सर्वत्र प्रमाणसिद्ध अवाधित वस्तुनिरूपण है। तात्पर्य यह कि जिस तरह अन्यमतोके मूलशास्त्रोमे ही पहले कुछ कहा तथा वादमे कुछ निरूपण होनेसे पूर्वापर विरोध है

---

१. –गेप्यविपादि–म० १, प० १, प० २। २. –नेकान्त विचारयन्त प्र—आ०।–नेकान्त विचारयन्तु प्र– क०। ३. सक्षिपन्नाह म० १, म० २, प० १, प० २। ४ विषये सूक्ष्ममपि पूर्वापरयो परघात म० २।

भावः-[1]यथा अपरदर्शनसंबन्धिषु मूलशास्त्रेष्वपि किं पुनः पाश्चात्यविप्रलम्भकग्रथितग्रन्थकथासु[2] प्रथमपश्चादभिहितयोर्मिथोविरोधोऽस्ति, तथा जैनदर्शने क्वापि केवलिप्रणीतद्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेषु च [3]सुसंबद्धार्थत्वात्सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्षितोऽपि स नास्ति। यत्तु परदर्शनेष्वपि क्वचन सहृदयहृदयंगमानि वचनानि कानिचिदाकर्णयामः तान्यपि जिनोक्तसूक्तसुधासिन्धुसमुद्गतान्येव संगृह्य मुधा स्वात्मानं बहु मन्वते। यच्छ्रीसिद्धसेनपादाः—

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥१॥" [द्वात्रिंश०] इति।

§ ४२०. अत्र परे प्राहुः—अहो आर्हताः, अर्हदभिहिततत्त्वानुरागिभिर्युष्माभिरिदमसंबद्धमेवाविर्भावयांबभूवे यदुत युष्मद्दर्शनेष्वपि पूर्वापरयोर्विरोधोऽस्तीति। न ह्यस्मन्मते सूक्ष्मेक्षणैरीक्ष-[4][5]माणोऽपि विरोधलेशोऽपि क्वचन निरीक्ष्यते, अमृतकरकरनिकरेष्विव कालिमेति चेत्। उच्यते। भोः, स्वमतपक्षपातं परिहृत्य माध्यस्थ्यमवलम्बमानैर्निरभिमानैः[6] प्रतिभावद्भिर्यद्यवधानं विदधानैर्निशम्यते, तदा वयं भवतां सर्वं दर्शयामः।

उस तरह जैन दर्शनमे केवली भगवान्के द्वारा प्रणीत द्वादशांगमे तथा इनके आधारसे वने हुए उत्तरकालीन ग्रन्थोमे कहीपर भी पूर्वापर विरोध नही देखा जाता। सूक्ष्मदृष्टिसे अच्छी तरह विचारनेपर जैनदर्शन आगे पीछे सर्वत्र निर्विरोध प्रतीत होता है, उसका कथन सर्वत्र सम्बद्ध है। अन्यमतोके मूलग्रन्थ ही जव इस तरह पूर्वापर विरोधसे भरे पड़े हैं तव उत्तरकालीन विप्रलम्भक लोगो द्वारा गूँथे गये ग्रन्थोकी तो वात ही क्या कहना? अन्य मतोंमे भी जो कुछ सहृदय विद्वत्समाजके चित्तमे फवनेवाले सुन्दर हृदयहारी वचन सुने जाते है, वे सब वस्तुतः जैनवचन रूपी समुद्रसे ही निकाल-निकालकर अपने-अपने शास्त्रोमे सजा लिये गये है। अतः परवादी उन मँगनीमे आये हुए पराये सुन्दर वचनोके बलपर अपने शास्त्रोको व्यर्थ ही बड़े महत्त्वशाली कहनेका ढोग करते है। वस्तुत. रत्नोकी उत्पत्ति तो रत्नाकर—समुद्रमें ही होती है जौहरियोकी दुकानपर तो वे माँगकर या उठाकर ही लाये जाते है। श्री सिद्धसेनदिवाकरने स्पष्ट कहा है कि—"हे भगवन्, यह वात सुनिश्चित है कि—परशास्त्रोमे जो कुछ भी थोड़े-से सुन्दर सूक्त—सुवचन या सुयुक्तियाँ चमक रही है वे सव मूलतः तुम्हारी ही है। वे जिनवचनरूपी समुद्रकी उचटी हुई बूँदे है। अत जैनवाक्य ही सूक्तियो तथा सुयुक्तियोके समुद्र है और प्रमाण रूप हैं। संसार इस वातको अच्छी तरह जानता है कि जलबिन्दुओका सवसे बड़ा भण्डार समुद्र ही होता है।"

§ ४२०. परवादी—अय जैनियो, जिन शासनके अनुरागसे आपलोग यह मिथ्या और असम्वद्ध ही वकते रहते हो कि—हम लोगोके मतोमे आगे-पीछे असम्वद्धता है उनमें पूर्वापर विरोध है। किसीके मतका इस तरह मिथ्या अपवाद करना आपको शोभा नही देता। हमारे मत तो पूर्णचन्द्रकी धवल चाँदनोकी तरह दूधके धुले हुए स्वच्छ तथा निर्दोष हैं, उनमे विरोधकी कालिमा जरा भी नही है। आप कितनी हो वारीकोसे खोज क्यो न करे, पर आपको कही भी विरोध या असम्वद्धताकी गन्ध तक नही आ सकती। अत इस पूर्वापर विरोधकी व्यर्थ वकवादको वन्द कर देना चाहिए।

जैन—आप घवडाइए नही, यदि आप लोग अपने मतका मिथ्या पक्षपात छोड़कर मध्यस्थ भावसे निरभिमान होकर अपनी वुद्धि तथा प्रतिभाके कान खड़े करके सावधानीसे सुनना चाहते है तो हम एक एक करके समस्त विरोधोको गिनाते हैं।

---

१ यथा पर आ०। २. ग्रन्थकथासु म० १, प० १, प० २, -ग्रन्थनंकथासु म० २। ३ च संव-म० २। ४ -क्षणैरीक्षणैरी -म०। ५ -क्षमा- -म० २, प० १, प० २। ६. -मानैर्धीप्रधानैः प्रतिभावदधान आ०. क०. -मानैं प्रतिभावदधानं म० २।

§ ४२१. तथाहि प्रथमं तावत्ताथागतसंमते मते पूर्वापरविरोध उद्भाव्यते। पूर्वं सर्व क्षणभङ्गुरमभिधाय पश्चादेवमभिदधे "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारण, नाकारण विषय." [ ] इति। अस्यायमर्थः—ज्ञानमर्थे सत्येवोत्पद्यते न पुनरसतीत्यनुकृतान्वयव्यतिरेकोऽर्थो ज्ञानस्य कारणम्। यतश्चार्थाज्ज्ञानमुत्पद्यते तमेव तद्विषयीकरोतीति। एवं चाभिदधानेनार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिरभिहिता। तद्यथा—अर्थात्कारणाज्ज्ञानं कार्यं जायमानं द्वितीये क्षणे जायते न तु समसमये कारणकार्ययोः समसमयत्वायोगात्। तच्च ज्ञानं स्वजनकमेवार्थं गृह्णाति नापरम् "नाकारण विषयः" [ ] इति वचनात्। तथा चार्थस्य क्षणद्वयं स्थितिर्बलादायाता सा च क्षणक्षयेण विरुद्धेति पूर्वापरविरोधः।

§ ४२२. तथा नाकारणं विषय इत्युक्त्वा योगिप्रत्यक्षस्यातीतानागतादिरप्यर्थो विषयोऽभ्यधायि। अतीतानागतश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेन तस्य कारणं न भवेत्। अकारणमपि च तं विषयतयाभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात्।

§ ४२३. एवं साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहकस्य ज्ञानस्य कारणत्वाभावेऽपि त्रिकालगतमर्थं

---

§ ४२१ सबसे पहले हम बौद्धमतकी कुछ असम्बद्ध तथा पूर्वापर विरुद्ध बातोका वर्णन करते है। बौद्ध एक ओर तो ससारके समस्त पदार्थोको क्षणभगुर मानते है और दूसरी ओर क्षणिकताके विरुद्ध भी बोल जाते है। वे कहते हैं कि—'जो पदार्थ कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक नही रखता वह कारण नही हो सकता, जो ज्ञान कारण नही होता वह ज्ञानका विषय भी नही हो सकता।" ज्ञान पदार्थके रहनेपर ही उत्पन्न होता है न कि पदार्थके अभावमे। अतः ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेके कारण पदार्थ ज्ञानमे कारण होता है। जिस पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उसी पदार्थको जानता है। इस तरह उसी पदार्थको ज्ञानका कारण तथा उसी पदार्थको ज्ञानका विषय माननेके लिए पदार्थकी दो क्षणतक स्थिति माननी आवश्यक है। देखो, पदार्थ ज्ञानका कारण है। कार्य कारणके दूसरे क्षणमे उत्पन्न होता है तथा कारण कार्यसे एक क्षण पहले रहता है। अत यदि ज्ञान पदार्थरूप कारणसे उत्पन्न होता है तो वह दूसरे क्षणमे ही उत्पन्न होगा। पदार्थ ज्ञानको अपने समान समयमे तो उत्पन्न नही कर सकता, क्योकि कार्य और कारण समान समयवर्ती नही होते, वे नियमसे आगे पीछे—पूर्वोत्तर कालवर्ती होते है। यह भी नियत है कि ज्ञान अपने कारणभूत पदार्थको ही जानता है। "जो ज्ञानका कारण नही है वह ज्ञानका विषय नही होता" यह उन्हीका वचन है। तब वही अर्थ कारण होनेसे तो ज्ञानसे एक क्षण पहले रहेगा और विषय होनेके कारण ज्ञानके साथ रहेगा। इस तरह पदार्थको दो क्षण तक जबरदस्ती ठहरना ही पड़ेगा। पदार्थोको दो क्षण तक स्थिति माने विना उन्हे ज्ञानका विषय नही बना सकते। इस तरह एक ओर तो पदार्थको दो क्षण तक स्थिति मानना और दूसरी ओर संसारको क्षणिक कहना सरासर विरोधी बातें है।

§ ४२२. 'जो ज्ञानके कारण नही वे ज्ञानके विषय भी नही' इस नियमके अनुसार तो त्रिकालवर्ती यावत् पदार्थो को जाननेवाले योगियोके ज्ञानमे अतीत अनागत और वर्तमान सभी पदार्थो को कारण मानना ही होगा। अब विचार कीजिए कि जब अतीत तो अतीत है विनष्ट हो चुके है तथा अनागत आये नही है, उत्पन्न ही नही हुए है तब वे योगिज्ञानमे कारण कैसे हो सकते हैं। यदि अतीत और अनागत पदार्थ योगिज्ञानमे कारण न होकर भी उसके विषय माने जाते हैं तो उक्त नियमका विरोध होनेसे स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है।

§ ४२३ इसी तरह त्रिकालवर्ती साध्य और साधनोको जाननेवाले व्याप्ति ग्राहक ज्ञानमे

विषयं व्याहरमाणस्य कथं न पूर्वापरव्याघातः, अकारणस्य[1] प्रमाणविषयत्वानभ्युपगमात् ।

§ ४२४. तथा क्षणक्षयाभ्युपगमेऽन्वयव्यतिरेकयोर्भिन्नकालयोः प्रतिपत्तिर्न संभवति । ततः साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयं व्याप्तिग्रहणं मन्वानस्य कथं न पूर्वापरव्याहतिः ।

§ ४२५. तथा क्षणक्षयमभिधाय ।

"इत एकनवतौ[2] कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
[3]तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव. ॥१॥"

इत्यत्र श्लोके जन्मान्तरविषये मेशब्दास्मिशब्दयोः प्रयोगं क्षणक्षयविरुद्धं ब्रुवाणस्य बुद्धस्य कथं न पूर्वापरविरोधः ।

§ ४२६. तथा निरंशं सर्वं वस्तु प्राक्प्रोच्य हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनं तु स्वगतं सद्द्रव्यचेतनत्वस्वर्गप्रापणशक्त्यादिकं[4] गृह्णदपि स्वगतस्य सद्द्रव्यत्वादेरेकस्यांशस्य निर्णयमुत्पादयति न पुनः स्वगतस्यापि द्वितीयस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरंशस्येति सांशतां पश्चाद्वदतः सौगतस्य कथं पूर्वापरविरुद्धं वचो न स्यात् ।

त्रिकालवर्ती अर्थ कारण न होकर भी विषय हो रहे है। अतः 'जो ज्ञानका कारण नही वह ज्ञानका विषय नही' इस नियमका सर्वसंग्राही व्याप्ति ज्ञानसे भी विरोध होता है।

§ ४२४. ससारके पदार्थोंको क्षणक्षयी माननेपर अन्वय और व्यतिरेकका ज्ञान नही हो सकेगा। जो ज्ञान पहले साधनका सद्भाव ग्रहण कर उसकी सत्तामे ही साध्यकी सत्ताको तथा साध्यके अभावमे साधनके अभावको जाननेका इतना—दस बीस क्षण लम्बा व्यापार कर सकता है उसी ज्ञानसे अन्वय-व्यतिरेक जाने जा सकते है। पर क्षणभंगवादमे किसी भी ज्ञानक्षणका इतना लम्बा व्यापार होना असम्भव है। अतः क्षणभग मानकर अन्वय-व्यतिरेकके ग्रहणको असम्भव बना देना तथा सर्वसग्राही अन्वय-व्यतिरेकमूलक व्याप्तिज्ञानसे व्यवहार भी चलाना क्या परस्पर विरोधी नही है।

§ ४२५ आत्माको क्षणभगुर भी मानना और "आजसे एकानबे कल्प पहले मैने भालेसे एक पुरुषको मारा था। हे भिक्षुओ, उसी हिंसा कर्मके फलस्वरूप आज मेरे पैरमें काँटा चुभा है।" यह एकानबे कल्पसे लेकर आज तक ठहरनेवाले आत्माका स्पष्ट कथन करना परस्पर विरोधी नही तो क्या है ? इससे एकानबेवां कल्प और आज इन दोनो कालों तक स्थायी 'मे और अस्मि' शब्दका वाच्य, जन्मान्तरोमे अपनी सत्ता रखनेवाला आत्मा सिद्ध होता है जो क्षणभंगवादको समूल नष्ट कर देगा। यह वाक्य और किसीका नही है। स्वय बुद्धने ही जन्मान्तर—परलोककी सत्ता सिद्ध करनेके लिए यह श्लोक कहा था। इसमे 'जो मैं भालेसे पुरुषको मारनेवाला था वही मैं आज काँटेसे छिद रहा हूँ' इस प्रत्यभिज्ञानसे आत्माका स्थायित्व साफ साफ जाहिर हो रहा है।

§ ४२६ इसी तरह पहले वस्तुको सर्वथा निरंश मानकर पीछे उसका साश रूपसे कथन करना भी स्ववचन विरोध है। वे कहते है कि अहिंसाक्षण या दानक्षण रूप चित्त अपने सत्ता, द्रव्यत्व, चेतनत्व, स्वर्ग-प्राप्त करानेकी शक्ति आदि अनेक अंशोको जानकर भी सत्त्व, द्रव्यत्व और चेतनत्व आदि अंशोका तो निश्चय कर पाता है पर अपने ही स्वर्गप्रापण शक्ति आदि अंशोका निश्चय नही कर सकता। इस तरह एक ओर वस्तुको निरंशताकी घोषणा करना और दूसरी ओर वस्तुके विभिन्न अंशोंका निरूपण भी करना स्पष्ट ही वदतोव्याघात—स्ववचन विरोध है।

---

१. -स्य विषय- । २ -नवते कल्पे म० १, म० २, प० १, प० २, क० । उद्धृतोऽयम्--स्या० म० पृ० २१३ । ३. तेन कर्मवि- म० १, म० २, प० १, प० २ । ४. -कं तदपि म० २ ।

§ ४२७. एवं निर्विकल्पकमध्यक्षं नीलादिकस्य वस्तुन. सामस्त्येन ग्रहणं कुर्वाणमपि नीलाद्यंशे निर्णयमुत्पादयति न पुनर्नीलाद्यर्थगते क्षणक्षयेंऽश इति सांशतामभिदधतः सौगतस्य पूर्वापर-वचोविरोधः सुबोध एव।

§ ४२८. तथा हेतोस्त्रैरूप्यं संशयस्य चोल्लेखद्वयात्मकतामभिदधानोऽपि स सांशं वस्तु यन्न मन्यते तदपि पूर्वापरविरुद्धम्[1]।

§ ४२९. तथा परस्परानाश्लिष्टा एवाणवः प्रत्यासत्तिभाजः समुदिता [2]घटादिरूपतया प्रतिभासन्ते न पुनरन्योन्यमङ्गाङ्गिभावरूपेणारब्धस्कन्धकार्यास्ते इति हि बौद्धमतम्। तत्र चामी दोषाः। परस्परपरमाणूनामनाश्लिष्टत्वाद्घटस्यैकदेशे हस्तेन धार्यमाणे कृत्स्नस्य घटस्य धारणं न स्यात्, उत्क्षेपावक्षेपापकर्षाश्च तथैव न भवेयुः। धारणादीनि च घटस्यार्थक्रियालक्षणं सत्त्वमङ्गीकुर्वाणैः सौगतैरभ्युपगतान्येव[3] तानि च तन्मतेऽनुपपन्नानि। ततो भवति पूर्वापरयोर्विरोधः।

§ ४३०. अथ नैयायिकवैशेषिकमतयोः पूर्वापरतो व्याहतत्वं [4]दर्श्यते। सत्तायोगः सत्त्व-

---

§ ४२७ इसी तरह निर्विकल्प प्रत्यक्षको नीलादिवस्तुओके समस्त धर्मो का ग्राहक मानकर भी उसे नीलांशमे विकल्प-निश्चयका उत्पादक कहना तथा उसी नीलपदार्थके क्षणक्षयांशमे निश्चयका उत्पादक न मानना ही वस्तुकी सांशताका स्पष्ट निरूपण करना है। जो निरंश सिद्धान्तका विरोधी है।

§ ४२८ इसी तरह वस्तुको निरंश मानकर भी हेतुके तीन रूप मानना तथा संशयज्ञानमे दो विरोधी आकारोको स्वीकार करना बौद्धोके परस्पर विरोधको समझनेके लिए पर्याप्त है।

§ ४२९. बौद्धोका यह सिद्धान्त है कि—घट आदि स्थूलपदार्थो की वास्तविक सत्ता नही है। यह तो परस्पर असम्बद्ध पर अत्यन्त निकट रखे हुए परमाणुओका एक पुंज—समुदाय है। परमाणु परस्पर सापेक्ष होकर स्कन्ध नही बनते। यही परमाणुओका ढेर हम लोगोको घट पट आदि स्थूल पदार्थो के रूपमे प्रतिभासित होता है। ये परमाणु असम्बद्ध होकर भी एक दूसरेके इतने इतने निकट है कि उनका स्वतन्त्र प्रतिभास न होकर स्थूल और स्थिर रूपसे प्रतिभास होता है। उनके इस परमाणुपुंजवादमे ये दूषण आते हैं—यदि घट नामका एक स्कन्ध नही है, तो घड़ेको मुखकी ओरसे उठानेपर पूरा घडा नही उठना चाहिए। उसके उतने ही परमाणु हाथमे आने चाहिए जिन्हे कि हाथसे पकड रखा है न कि पूरा घडा। इसी तरह घडेको ऊपर नीचे या तिरछे फेकनेपर परमाणुओके ढेरको बिखरकर घडेकी सत्ता नष्ट कर देनी चाहिए। उसमे पानी तो हरगिज नही भरा जाना चाहिए। क्योकि परमाणुओके ढेरको न तो उठा सकते है न ऊपर नीचे या तिरछे फेक सकते है और न उसमे पानी आदि ही भर सकते है। इस तरह एक ओर तो परमाणुपुंजवाद मानना और दूसरी ओर घडे आदिसे पानी भरने आदि अर्थ-क्रियाओके होनेकी बात कहना परस्पर विरोधी बाते है। घडेकी सत्ता जलधारण आदि अर्थक्रिया-के बिना हो ही नही सकती। इस तरह अर्थक्रियाको सत्ताका लक्षण कहना तथा परमाणुपुंजवाद मानना, जिसमे किसी भी अर्थक्रियाकी सम्भावना नही है, साफ-साफ स्ववचन विरोध है। यह तो उस मौनीके समान है जो अपनेको 'मौनी' कहता भी जाता है और मौन व्रती होनेका ढोंग भी रचता है।

§ ४३० अब नैयायिक और वैशेषिकमतमे पूर्वापर विरोध दिखाते है। इन्होंने सत् पदार्थका लक्षण तो किया है कि—'जिसमे सत्ताका समवाय हो वह सत्' पर सामान्य, विशेष

---

१. -परविरो -म० २। २. घटस्कन्धकार्यास्ते म० २। ३. -गतानि च तन्मते म० २। ४. दर्शयते आ०, क०।

मित्युक्त्वा सामान्यविशेषसमवायानां सत्तायोगमन्तरेणापि सद्भावं भाषमाणानां कथं न व्याहतं वचो भवेत् ।

§ ४३१. ज्ञानं स्वात्मानं न वेत्ति स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यभिधायेश्वरज्ञानं स्वात्मनि क्रियाविरोधाभावेन स्वसंवेदितमिच्छतां कथं न स्ववचनविरोधः । प्रदीपोऽप्यात्मानमात्मनैव प्रकाशयन् स्वात्मनि क्रियाविरोधं व्यपाकरोति ।

§ ४३२. परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकताप्रख्यापनमिव कथं न व्याहन्यते ।

§ ४३३. आकाशस्य निरवयवत्वं स्वीकृत्य तद्गुणः शब्दस्तदेकदेश एव श्रूयते न सर्वत्रेति सावयवतां ब्रुवाणस्य कथं न विरोधः ।

§ ४३४. सत्तायोगः सत्त्वं योगश्च सर्वैर्वस्तुभिः सांशतायामेव भवति सामान्यं च निरंशमेकमभ्युपगम्यते, ततः कथं न पूर्वापरतो व्याहतिः ।

§ ४३५. समवायो नित्य एकस्वभावश्चेष्यते सर्वैः समवायिभिः संबन्धश्च नैयत्येन जाय-

---

और समवायको सत्तासम्बन्धके विना ही स्वरूप सत् मान लिया है। इस तरह सत्का लक्षण कुछ दूसरा ही है और पदार्थ किसी दूसरे प्रकारसे भी सत् माने जाते है यह तो स्पष्ट ही स्ववचन विरोध है।

§ ४३१ इन्होने ज्ञानको अस्वसंवेदी माना है। वे कहते है कि—ज्ञान अपने स्वरूपको नही जानता क्योकि स्वात्मामे क्रियाका विरोध है, कोई कितना ही कुशल नट क्यो न हो, वह अपने ही कन्धेपर चढकर नृत्य नही कर सकता, तेजसे तेज भी दुधारी तलवार अपने आपको नही काट सकती। इस तरह ज्ञानको अस्वसवेदी कहकर ईश्वरके ज्ञानको स्वसवेदी मानना स्ववचन विरोध नही तो क्या है ? ईश्वरके ज्ञानको स्वसवेदी मानते समय स्वात्मामे क्रियाका विरोध कहाँ गया ? दीपक अपनी ही लौसे अपने स्वरूपका भी प्रकाश करता है तथा पर पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, अत स्वात्मामे क्रियाके विरोधकी बात कहना निरर्थक है। दीपकके दृष्टान्त से ही वह खण्डित हो जाती है।

§ ४३२ अक्षपाद ऋषि एक ओर तो दोषनिवृत्ति और तत्त्वज्ञानके द्वारा वैराग्य दृढ़ करनेका उपदेश देते है और दूसरी ओर शास्त्रार्थमे वादियोको ठगनेके लिए उन्हे भुलावेमे डालनेके लिए छल जाति और निग्रहस्थान-जैसे षड्यन्त्रके कूट उपायोको तत्त्व मानते है। क्या यह उनका अन्धकारको ही प्रकाश कहनेके समान स्ववचनविरोध नही है ?

§ ४३३ आकाशको निरंश भी कहना तथा 'शब्द आकाशके एक देशमे ही सुनाई देता है सव देशोमे नही' इस तरह उसके देशो—हिस्सोका वर्णन भी करना क्या स्ववचनविरोध नही है। ये लोग शब्दको आकाशका गुण मानते हैं और उसकी आकाशके अमुक देशोमे ही उत्पत्ति स्वीकार करते है।

§ ४३४ ये सत्ताके सम्बन्धको सत्त्व कहते है। एक सत्तासामान्यका सभी विभिन्न देशवर्ती सत् पदार्थो से युगपत् सम्बन्ध तो तब बन सकता है जब सामान्यको सांश—हिस्सोवाला सावयव माना जाय। परन्तु सामान्यको निरंश और एक भी मानना तथा समस्त सत् पदार्थो से उसका युगपद् सम्बन्ध भी मानना दोनो वाते कैसे हो सकती है ? यह तो स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है।

§ ४३५ इसी तरह समवायको नित्य तथा एक स्वभाववाला भी कहना और समस्त समवायियोमे नियत सम्बन्ध करानेवाला भी मानना स्ववचन विरोध है। घट और रूपका समवाय

मानोऽनेकस्वभावतायामेव भवति, तथा च पूर्वापरविरोधः सुबोधः।

§ ४३६. अर्थवत्प्रमाणमित्यत्रार्थः सहकारी यस्य तदर्थवत्प्रमाणमित्यभिधाय योगिप्रत्यक्षमतीताद्यर्थविषयमभिदधानस्य पूर्वापरविरोधः स्यात्, अतीतादेः सहकारित्वायोगात्।

§ ४३७. तथा स्मृतिर्गृहीतग्राहित्वेन[1] न प्रमाणमिष्यते अनर्थजन्यत्वेन वा। गृहीतग्राहित्वेन स्मृतेरप्रामाण्ये धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतग्राहित्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गः। न च धारावाहिज्ञानानामप्रामाण्यं नैयायिकवैशेषिकैः स्वीक्रियते, अनर्थजन्यत्वेन तु स्मृतेरप्रामाण्येऽतीतानागतादिविषयस्यानुमानस्याप्यनर्थजन्यत्वेनाप्रामाण्य भवेत्, त्रिकालविषयं ते चानुमानं शब्दवदिष्यते, धूमेन हि वर्तमानोऽग्निरनुमीयते मेघोन्नत्या भविष्यन्ती वृष्टिर्नदीपूरेण च सैव भूतेति, तदेव धारावाहिज्ञानैरनुमानेन[2] च स्मृतेः सादृश्ये सत्यपि यत्स्मृतेरप्रामाण्यं धारावाहिज्ञानादीनां च प्रामाण्यमिष्यते स पूर्वापरविरोधः।

§ ४३८. ईश्वरस्य सर्वार्थविषयं प्रत्यक्षं किमिन्द्रियार्थसंनिकर्षनिरपेक्षमिष्यत आहोस्विदिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नम्। यदीन्द्रियार्थसंनिकर्षनिरपेक्षं तदेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-

---

तथा ज्ञान ओर आत्माका समवाय एकस्वभाववाला नही हो सकता। भिन्न समवायियोमे नियम पूर्वक सम्बन्धव्यवस्था करनेवाला समवाय एक स्वभाववाला रह ही नही सकता, अन्यथा सभीमे एक ही प्रकारका समवाय होगा। पर घट और रूपका समवाय आत्मा और ज्ञानके समवायसे जुदा ही है।

§ ४३६. 'प्रमाण अर्थवाला होता है' यहाँ 'अर्थवत्' को व्याख्या यह की गयी है कि—'चूँकि प्रमाण' ज्ञानमे अर्थ सहकारी कारण होता है अत. प्रमाण अर्थवाला कहा जाता है।' इस तरह अर्थकारणतावादको स्वीकार करके भी योगियोके प्रत्यक्षको अतीत और अनागत आदि विनष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोको विषय करनेवाला मानना स्पष्ट ही स्ववचन विरोध है। अतीतादिपदार्थ तो असत् होनेके कारण योगिज्ञानमे सहकारी कारण हो ही नही सकते। अर्थकारणतावादका अतीतादिपदार्थोके ज्ञानके साथ सीधा विरोध है।

§ ४३७. आप यह बताइए कि स्मृति अप्रमाण क्यो है क्या वह गृहीत—जाने गये पदार्थको जानती है या वह पदार्थसे उत्पन्न नही होती—अनर्थज है ? यदि गृहीतग्राही होनेसे स्मृति अप्रमाण है, तो 'यह घडा है यह घडा है' इस प्रकारके एक सरीखे धारावाही ज्ञानोको भी अप्रमाण कहना होगा। पर नैयायिक और वैशेषिक धारावाही ज्ञानोको प्रमाण मानते है। यदि पदार्थसे उत्पन्न न होनेके कारण स्मृति अप्रमाण हो, तो अतीत और अनागतपदार्थोके अनुमान भी अप्रमाण हो जायँगे। अतीत और अनागत पदार्थ विनष्ट तथा अनुत्पन्न होनेसे असत् है, अत. उससे अनुमानको उत्पत्ति नही हो सकती। नैयायिक और वैशेषिक आगमकी तरह अनुमानको भी त्रिकालविषयक मानते हैं। धूमसे मौजूदा वर्तमान अग्निका अनुमान होता है, विशिष्ट काले घने मेघोको देखकर आगे होनेवाली वर्षाका अनुमान किया जाता है तथा नदीके पूरको देखकर अतीत वृष्टिका अनुमान होता है। इस तरह धारावाही ज्ञान तथा अनुमानसे स्मृतिकी पूरी-पूरी समानता है, फिर भी धारावाही ज्ञान और अनुमानको प्रमाण माना जाना तथा स्मृतिको अप्रमाण, यह स्ववचनविरोध या मूर्खतापूर्ण पक्षपात ही है।

§ ४३८. यह बताइए कि—आपलोग सब पदार्थो को जाननेवाले ईश्वरके प्रत्यक्षको इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पत्ति मानते है, या सन्निकर्षके बिना ही ? यदि ईश्वरका प्रत्यक्ष सन्निकर्षके विना ही हो जाता है, तो 'इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षमे उत्पन्न होनेवाले, अव्यप-

---

१ -त्वेन प्रामा-म० २, प० १, प० २,। २. -न स्मृते म० २, प० २।

मित्यत्र सूत्रे संनिकर्षोपादानं निरर्थकं भवेत्, ईश्वरप्रत्यक्षस्य संनिकर्षं विनापि भावात् । अथेश्वर-प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमेवाभिप्रेयत इति चेत्; उच्यते-[1]नहीश्वरसंबन्धिमनसोऽणुपरिमाण-त्वाद्युगपत्सर्वार्थैः संयोगो[2] भवेत्, ततश्चैकमर्थं स यदा वेत्ति तदा नापरान् सतोऽप्यर्थान् ततोऽस्मदादि-वन्न तस्य कदापि सर्वज्ञता, युगपत्संनिकर्षासंभवेन सर्वार्थानां युगपदवेदनात् । अथ सर्वार्थानां क्रमेण संवेदनात्[3] स सर्वज्ञ इति चेत्, न, बहुना कालेन सर्वार्थसंवेदनस्य खण्डपरशाविवास्मदादि-ष्वपि[4] संभवात्तेऽपि सर्वज्ञाः [5]प्रसजेयुः । अपि च अतीतानागतानामर्थानां विनष्टानुत्पन्नत्वादेव मनसा संनिकर्षो न भवेत् सतामेव संयोगसंभवात्तेषां च तदानीमसत्त्वात्, ततः कथं महेश्वरस्य ज्ञानमतीतानागतार्थग्राहकं स्यात्, सर्वार्थग्राहकं च तज्ज्ञानमिष्यते ततः पूर्वापरो विरोधः सुबोधः ।

§ ४३९. एवं योगिनामपि सर्वार्थसंवेदनं दुर्धरविरोधरुद्धमवबोद्धव्यम् ।

§ ४४०. कार्यद्रव्ये प्रागुत्पन्ने सति तस्य रूपं पश्चादुत्पद्यते निराश्रयस्य रूपस्य गुणत्वात्प्राग-नुत्पादनेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाच्च कार्यद्रव्ये विनष्टे[6] सति तद्रूपं विनश्यतीत्युच्यमानं पूर्वापरविरुद्धं

देश्य—निर्विकल्पक, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है' इस प्रत्यक्षसूत्रमें 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' विशेषण निरर्थक ही है; क्योकि ईश्वरका प्रत्यक्ष तो सन्निकर्षके विना ही हो गया । यदि ईश्वरका प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे ही उत्पन्न होता है, तो ईश्वर-के इन्द्रियाँ तो आपलोग मानते ही नही, रहा मन, सो उसके सन्निकर्षसे वह सर्वज्ञ नही बन सकता । ईश्वरका मन अणुरूप है, अत उसका एक साथ समस्तपदार्थो से संयोग नही हो सकता । वह जिस समय एक अर्थको जानेगा उस समय वह अन्य विद्यमान भी पदार्थोंको नही जान सकेगा । तात्पर्य यह कि वह हमलोगोकी तरह कभी भी सर्वज्ञ नही हो सकेगा, क्योकि जब समस्त पदार्थोंके साथ युगपत् सन्निकर्ष ही नही हो सकता तब उनका परिज्ञान तो दूरकी बात है । यदि क्रमसे सभी पदार्थोके साथ सन्निकर्ष करके महेश्वर सर्वज्ञ बनते है, तो इस तरह क्रमिक सर्वज्ञता तो हम लोगोको भी हो सकती है । धीरे-धीरे ससारके सभी पदार्थोंका ज्ञान महेश्वरकी तरह हम लोगोको भी हो सकता है । इस तरह सन्निकर्षके द्वारा वर्तमान पदार्थो के परिज्ञानकी समस्या किसी तरह सुलझ भी जाय, पर अतीत और अनागत पदार्थ तो विनष्ट तथा अनुत्पन्न है अत. उनके साथ मनका सन्निकर्ष तो हो ही नही सकता । सयोग तो मौजूद पदार्थोसे होता है न कि अविद्यमान पदार्थो के साथ । अतीत और अनागत तो वर्तमान कालमे असत् है अत' उनके साथ सन्निकर्षकी सम्भावना ही नही है । अतः महेश्वर अतीत और अनागत पदार्थोंके ज्ञाता कैसे हो सकते है ? इस तरह एक ओर तो महेश्वरको सर्वज्ञ मानना और दूसरी ओर उसके ज्ञानको सन्निकर्षज मानना स्पष्टत विरोधी है ।

§ ४३९. इसी तरह अन्य योगियोके ज्ञान भी यदि सन्निकर्षज होगे तो वे सर्वज्ञ नही हो सकेगे ।

§ ४४०. वे मानते है कि कार्यद्रव्य प्रथमक्षणमे उत्पन्न हो जाता है उसके बाद द्वितीय क्षणमे उसमे रूप उत्पन्न होता है । इसका कारण वे यह बताते है कि—रूपादि गुण निराधार नही रह सकते । प्रथम क्षणमे तो कार्यद्रव्य उत्पन्न ही नही है तब उस क्षणमे रूपादि गुणोकी निराधार उत्पत्ति नही मानी जा सकती । इस तरह रूपादिकी निराधारताके भयसे गुणोकी उत्पत्ति द्वितीय क्षणमे मानकर भी वे कार्य द्रव्यके नाश होनेपर द्वितीय क्षणमे रूपादिका नाश

---

१. तर्हीश्वर-म० १, म० २, प० १, प० २ । २ -गो न भवेत् म० १, म०-२, प० १, प० २ । ३ -नात् सर्वज्ञ आ०, क० । ४ -दाने (अस्मदादय)ऽपि आ० । ५ प्रसज्जेत् म० २ । ६ -मेवापरो-म० २ । ७ -नष्टे तद्रूप आ० ।

भवेत्, यतोऽत्र रूपं कार्ये विनष्टे सति निराश्रयं स्थितं सत् पश्चाद्विनश्येदिति ।

§ ४४१. साङ्ख्यस्य त्वेवं स्ववचनविरोधः । प्रकृतिर्नित्यैका निरवयवा निष्क्रियाव्यक्ता चेष्यते । सैवानित्यादिभिर्महदादिविकारैः परिणमत इति[1] चाभिधीयते, तच्च पूर्वापरतोऽसंबद्धम् । अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाच्चेतनाविषयपरिच्छेदरहितार्थं न बुध्यत इत्येतत्सर्वलोकप्रतीतिविरुद्धम् । बुद्धिर्महदाख्या जडा न किमपि चेतयत इत्यपि स्वपरप्रतीतिविरुद्धम् । आकाशादिभूतपञ्चकं स्वरादितन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मसंज्ञेभ्य उत्पन्नं यदुच्यते तदपि नित्यैकान्तवादे पूर्वापरविरुद्धं कथं श्रद्धेयम् । यथा पुरुषस्य कूटस्थनित्यत्वान्न[2] विकृतिर्भवति नापि बन्धमोक्षौ तथा प्रकृतेरपि न ते संभवन्ति[3] कूटस्थनित्यत्वादेव. कूटस्थनित्यं चैकस्वभावमिष्यते ततो ये प्रकृतेर्विकृतिर्बन्धमोक्षौ चाभ्युपगम्यन्ते परैः, ते नित्यत्वं च परस्परविरुद्धानि ।

§ ४४२. मीमांसकस्य पुनरेवं स्वमतविरोधः ।

"न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति "न वै हिंस्रो भवेत्" [ ] इति चाभिधाय ।

मानते हैं। यह स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध है, क्योकि जिस तरह उत्पत्तिके समय रूपादि में निराधारताका भय था उसी तरह नाशके समय कार्यके नष्ट हो जानेपर कमसे कम एक क्षण तक तो उन्हे निराश्रय रहना ही होगा । तात्पर्य यह कि निराधारताके भयसे यदि रूपादि गुणोकी उत्पत्ति कार्योत्पत्तिके एक क्षण बाद मानी जाती है तो उनका नाश भी कार्यके साथ ही मानना चाहिए जिससे उन्हे निराश्रय न रहना पडे न कि एक क्षण बाद ।

§ ४४१ सांख्योके मतमें स्ववचन विरोध अर्थात् पूर्वापर विरोध इस प्रकार है—वे जिस प्रकृति—प्रधानको निरवयव निष्क्रिय नित्य एक तथा अव्यक्त-कारणरूप मानते हैं, उसी प्रकृतिका अनित्य सावयव सक्रिय अनेक तथा कार्यरूप महान् अहंकार आदिरूपसे परिणमन मानते हैं। यह स्पष्ट ही स्ववचन विरुद्ध है—नित्य निष्क्रिय आदि धर्मोवाली प्रकृतिका अनित्य और सक्रिय आदि धर्मवाले महान् आदिरूपसे परिणमन कैसे हो सकता है ? अर्थके निश्चयको—जड़ बुद्धिका धर्म कहना तथा चैतन्यको बाह्य विषयोके परिज्ञानसे शून्य कहना—चैतन्यको अर्थका ज्ञाता नही कहना, लोकप्रतीति तथा अनुभव दोनोसे विरुद्ध है। संसार यही मानता है तथा अनुभव भी ऐसा ही है कि चैतन्य बुद्धि उपलब्धि आदि पर्यायवाची हैं, एक हैं । चैतन्य ही पदार्थोका मुख्यत परिज्ञान करनेवाला है। महान्—बुद्धितत्त्व जड है, चैतन्यशून्य है. उसमे चेतना शक्ति नही है। यह बुद्धिको जड़ कहना भी प्रतीतिविरुद्ध है। ऐसी प्रतीति न तो स्वय साख्योको ही हो सकती है और न हम लोगोको ही होती है। फिर, बुद्धि तो स्व और पर दोनोका अनुभव करती है। यदि वह जड़ और चैतन्यशून्य है तो उसके द्वारा स्व तथा परका अनुभव नही हो सकेगा। शब्द रूप रस आदि सूक्ष्मसंज्ञक तन्मात्राओसे आकाश अग्नि जल आदि पाँच महाभूतो की उत्पत्ति मानना सर्वथा नित्यत्वके विपरीत है। सर्वथा नित्य मानने मे उत्पत्ति तो हो ही नही सकती। जिस तरह कूटस्थनित्य—सदा एक स्वभाव वाले पुरुषमे विकार तथा बन्ध मोक्ष आदि नही होने क्योकि वह कूटस्थ नित्य है. उसी तरह प्रकृतिमे भी विकार और बन्ध मोक्ष नही बन सकते, क्यो कि वह भी नित्य है। सदा एक स्वरूप रहनेवाला पदार्थ कूटस्थनित्य कहलाता है। अत प्रकृतिको नित्य भी मानना तथा उसमे विकार और बन्ध मोक्ष भी मानना परस्पर विरोधी है।

§ ४४२ मीमासकोंके मतमे पूर्वापरविरोध इस प्रकार है—वेदमे एक स्थानपर तो "किसी भी प्राणीको हिंसा नही करनी चाहिए, कभी भी हिंसक नही होना चाहिए" इन अहिंसक

---

1. इत्येवानि– म० २ । 2 –नित्यचित्त्वान्न म० २ । 3 –वन्ति कूटस्थनित्य म० २ ।

"महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्" [याज्ञ० स्मृ० १९९] इति जल्पतो वेदस्य कथं न पूर्वापरविरोधः। [1]तथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तदागमे पठितमेवम्—

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥" [ ]

तथा "अग्नीषोमीय पशुमालभेत" [ऐतरेय आ० ६।१२] "सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेत" [तैत्ति० स० १।४] [2]इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते।

§ ४४३ तथानृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चादूचे "ब्राह्मणार्थेऽनृत ब्रूयात्" [ ] इत्यादि। तथा

"न नर्मयुक्त वचन हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।" [वसि० धर्म० १६।३६]

§ ४४४. तथादत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तम्। यद्यपि [3]ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते बलेन वा, तथापि तस्य नादत्तादानं, यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ब्राह्मणानां नु दौर्बल्या-

---

वाक्योका कथन है तथा अन्यत्र "श्रोत्रिय ब्राह्मणके आतिथ्यके लिए सॉड या बड़े बकरेका भी उपयोग करे" इस सॉड या बकरोकी महाहिंसाका विधान है। इससे वेदका पूर्वापर विरोध साफ-साफ मालूम हो जाता है। इसी तरह पहले "किसी भी प्राणी को नही मारना चाहिए" यह कहकर भी पीछे "अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमे तीन कम छह सौ अर्थात् ५९७ पशुओका वध किया जाता है", "अग्निषोम यज्ञ सम्बन्धी पशुका वध करना चाहिए"; "प्रजापति यज्ञ सम्बन्धी सत्रह पशुओका वध करना चाहिए" इत्यादि हिंसाका क्रूर विधान करना क्या पूर्वापर विरोध नही है?

§ ४४३. इसी तरह पहले असत्य भाषणका निषेध करके पीछे "ब्राह्मणोंके लाभ के लिए झूठ बोलनेमे कोई दोष नही है" तथा "हे राजन्, हँसी-दिल्लगीमे झूठ बोलनेमे कोई हानि नही है, इसीतरह स्त्रियोकी विलास गोष्ठीमे, विवाहके समय हँसी-खुशीमे, प्राणोके नाशका समय उपस्थित होनेपर तथा समस्तधन के लुटने के मौकेपर झूठ बोलनेमे कोई दोष नही है। ये पाँच असत्यवचन क्षम्य है, पापरूप नही है।" इत्यादि रूपसे असत्यभाषणका विधान करना मीमासकोके पूर्वापर विरोधको साफ-साफ प्रकट कर रहा है।

§ ४४४. इसी तरह चोरीका अनेक प्रकारसे निषेध करके भी "यदि कोई हठसे या छलसे दूसरेके धनका हरण करता है, तो भी उसे चोरीका पाप नही लगता, क्योकि संसारकी समस्त सम्पत्ति ब्राह्मणोको ही दी गयी थी, ब्राह्मण ही इस जगत् की सम्पत्तिके वस्तुतः स्वामी हैं, ब्राह्मणोकी कमजोरीसे ही यह सम्पत्ति शूद्रोके हाथमे पहुँची है, शूद्र इसका उपभोग कर रहे हैं, इसलिए यदि कोई ब्राह्मण दूसरोके या खासकर शूद्रोके धनको छीनता है तो वह अपने ही धनको लेता है,

---

१ "तथाहि "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥" तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत", "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत" इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा 'नानृतं ब्रूयात्" इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य, "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्" इत्यादि तथा—"न नर्मयुक्तं..."—स्या० म० पृ० ०१। २. इत्यादीनि वचनानि म० २। ३ "सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्। श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च। आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥"—मनु० १।१००–१०१।

द्वृषलाः परिभुञ्जते, तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते 'स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददातीति।

§ ४४५ [2]तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ ] इति लपित्वोक्तम्—

"अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥१॥" इत्यादि ॥ तथा

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥" [मनु० ५।५६]

इति स्मृतिगते श्लोके । यदि प्रवृत्तिर्निर्दोषा, तदा कथं ततो निवृत्तिस्तु महाफलेति व्याहतमेतत् ।

§ ४४६. वेदविहिता हिंसा धर्महेतुरित्यत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः, तथाहि–धर्महेतुश्चेद्धिंसा कथम् । हिंसा चेद्धर्महेतुः कथम् । न हि भवति माता च वन्ध्या चेति । धर्मस्य च लक्षणमिदं श्रूयते ।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥१॥ [चाणक्य १।७]

इत्यादि अर्चिर्मार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिर्गर्हिता चेयं हिंसा ।

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥१॥" [3]इति ॥

अपने ही धनका उपभोग करता है, अपना ही पहनता-ओढता है और अपना ही देता है, यह सब उसीका है।" इन वाक्योंसे ब्राह्मणोंको चोरीमें केवल दोषका अभाव ही नहीं बताया है किन्तु उन्हें अप्रत्यक्ष रूपसे चोरी करनेकी प्रेरणा भी की है।

§ ४४५ इसी तरह एक जगह "जिसके पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ उस अपुत्री व्यक्तिकी गति नहीं होती वह तिरता नहीं है" यह कहकर भी अन्यत्र "हजारों ब्रह्मचारी विप्रकुमार अपनी कुल परम्परा चलाये बिना ही स्वर्ग गये हैं।" इस वाक्यसे ब्राह्मणोंकी अपुत्रताको स्वर्गमें कारण कहा है। "मांस खानेमें, शराब पीनेमें तथा मैथुनभोग-विलासमें कोई दोष नहीं है। इनमें तो प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती ही है, हाँ इनका त्याग करना अवश्य ही महान् फलको देता है।" इस मनुस्मृतिके श्लोकमें साफ-साफ विरोधी बातोंका प्रतिपादन किया है। यदि जीवोंकी मांसभक्षणादि प्रवृत्ति निर्दोष है तो उससे निवृत्त होनेमें पुण्य कैसे हो सकता है। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो मांसभक्षणादिको निर्दोष जानकर भी उनसे निवृत्त होगा और उनका परित्याग करेगा। प्रवृत्तिमें यदि दोष नहीं है तो निवृत्तिका बहुत फल कैसे हो सकता है ?

§ ४४६ वेदविहित याज्ञिक हिंसाको धर्म कहना तो सरासर स्ववचन विरोध है। यदि वह धर्म हेतु है तो हिंसा कैसे हो सकती है। यदि वह हिंसा है तो धर्म हेतु कैसे हो सकती है। 'माता भी हो और वन्ध्या भी' यह तो असम्भव बात है। हिंसा त्रिकालमें भी धर्मका कारण नहीं हो सकती। देखो, आपके ही शास्त्रोंमें धर्मका अहिंसात्मक ही लक्षण बताया है—"जो व्यवहार हमको प्रतिकूल मालूम होता हो अच्छा न लगता हो दुःखदायक हो वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ नहीं करना चाहिए, यही सब धर्मोंका सार है, यह धर्म सर्वस्व है, इसे अच्छी तरह सुनकर धारण करो।" अर्चिमार्गविदान्तियोंने इस वैदिकी हिंसाकी बड़े ही कठोर और मार्मिक शब्दोंमें निन्दा की है— 'यदि हम पशुओंका वध करके ईश्वरकी पूजा करते हैं तो घोर अन्धकारमें डूबते हैं। हिंसा कभी भी धर्मरूप न हुई है और न होगी।"

---

१ –व भुङ्क्ते म० २। २ "तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" इति लपित्वा, "अनेकानि सहस्राणि" –स्या० म० पृ० ५२। ३ उद्धृतोऽयम्—स्या० म० पृ० १३०।

§ ४४७. [1]तथा भवान्तरं प्राप्तानां तृप्तये च श्राद्धादिविधानं तदप्यविचारितरमणीयम् । तथा च तद्यूथिनः पठन्ति—

"मृतानामपि जन्तूना श्राद्ध चेत्तृप्तिकारणम् ।
[2]तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेह· संवर्धयेच्छिखाम् ॥१॥" इति[3]

एवमन्यान्यपि पुराणोक्तानि पूर्वापरविरुद्धानि संदेहसमुच्चयशास्त्रादत्रावतार्य वक्तव्यानि ।

§ ४४८. तथा नित्यपरोक्षज्ञानवादिनो भट्टाः स्वात्मनि क्रियाविरोधाज्ज्ञानं [5]स्वाप्रकाशकमभ्युपगच्छन्तः प्रदीपस्य परं (स्व) प्रकाशकमनङ्गीकुर्वन्तश्च कथं सद्भूतार्थभाषिणः ।

§ ४४९. तथा ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं प्रत्यक्षमिति ब्रुवाणाः कथं न विरुद्धवादिनः, अविद्यानिरासेन सन्मात्रस्य ग्रहणात् ।

§ ४५०. तथा पूर्वोत्तरमीमांसावादिनः कथमपि देवमनङ्गीकुर्वाणा अपि सर्वेऽपि ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीन्देवान्पूजयन्तो ध्यायन्तो वा दृश्यन्ते । तदपि पूर्वापरविरुद्धम् इत्यादि ।

§ ४५१. अथवा ये ये बौद्धादिदर्शनेषु स्याद्वादाभ्युपगमाः प्राचीनश्लोकव्याख्यायां [6]प्रदर्शिताः ते सर्वेऽपि पूर्वापरविरुद्धतयात्रापि सर्वदर्शनेषु यथास्वं दर्शयितव्याः, यतो बौद्धादय उक्त-

---

§ ४४७ परलोकमें पहुँचे हुए मृतव्यक्तियोकी तृप्तिके लिए श्राद्ध आदि करना तो सचमुच बडी भारी मूर्खता है । तुम्हारे ही साथियोने कहा है कि—"यदि मरे हुए प्राणी श्राद्धमे दिये गये अन्न-जलसे तृप्त होते हो तो बुझा हुआ दीपक भी तेल डालने मात्रसे जलने लगना चाहिए ।" इसी तरह पुराणोमे तो अनेको पूर्वापरविरोधी कथन भरे पडे है । इनके विवरणके लिए 'सन्देह समुच्चय शास्त्र' देखना चाहिए ।

§ ४४८. ज्ञानको सदा परोक्ष माननेवाले भाट्ट लोग ज्ञानको स्वप्रकाशक नही मानते । ये भी 'स्वात्मामे क्रियाका विरोध है' यही दलील देते है । ये लोग दीपकको सरासर स्वपरप्रकाशक देखते हुए भी ज्ञानको स्वप्रकाशक नही मानते । यह इनका दुराग्रह तथा सर्वसिद्ध बातका हठात् लोप करना है । इस तरह इनको यथार्थवादी कैसे कह सकते है ? इनका प्रदोपकी प्रकाशकताका लोप करना तो सचमुच आँखोमे धूल झोकना ही है ।

§ ४४९. ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यक्षसे अविद्या रहित सन्मात्र ब्रह्मको साक्षात्कार करते है परन्तु प्रत्यक्षको निषेधक—निषेध करनेवाला नही मानते । जब प्रत्यक्ष अविद्याका निषेध करके सन्मात्र ब्रह्मका अनुभव कर रहा है तो वह निषेधक तो अपने ही आप सिद्ध हो जाता है । प्रत्यक्षसे अविद्याका निषेध भी करना और उसे निषेधक भी नही मानना क्या स्ववचन विरोध नही है ?

§ ४५० इसी तरह सभी पूर्वमीमांसा या उत्तरमीमांसा मतवाले शास्त्रोमें किसी भी ईश्वरको स्वीकार नही करते, बल्कि ईश्वरका निषेध ही करते हैं, फिर भी वे व्यवहारमे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवोकी पूजा-उपासना करते है । इन देवोका ध्यान करते हैं । यह इनका स्वशास्त्र विरोध हैं ।

§ ४५१ अथवा पहले श्लोककी व्याख्यामें बौद्धादिदर्शनोने जितने प्रकारसे स्याद्वादको स्वीकार करना बताया है वे सब प्रकार उनके पूर्वापर विरोधको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ दिखाये जा सकते है । बौद्ध आदि उक्त प्रकारसे स्याद्वादको स्वीकार करके भी स्याद्वादका खण्डन करनेके

---

१. तथा च भ– म० २ । २ तन्निर्वाणस्य प्र—प० १, प० २ । निर्वाणस्य प्र०-म० २ । ३. उद्धृतोऽयम्—स्या० मं० पृ० १३४ । ४. –दवतार्य म० २ । ५ स्वप्रका– म० २, आ० । ६ प्रदर्शिता म० २ ।

प्रकारेण स्याद्वादं स्वीकुर्वन्तोऽपि तन्निरासाय च युक्तीः स्फोरयन्तः [1]पूर्वापरविरुद्धवादिनः कथं न भवेयुः। कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृष्णा (कृपणा) विविच्यन्त इत्युपरम्यते।

§ ४५२. चार्वाकस्तु वराक आत्मतदाश्रितधर्माधर्मानेकान्तस्वर्गापवर्गादिकं सर्वं कुग्रहग्रहिलतयैवाप्रतिपद्यमानो[2]ऽवज्ञोपहत एव कर्तव्यः, न पुनस्तं प्रत्यनेकान्ताभ्युपगमोपन्यासेन पूर्वापरोक्तविरोधप्रकाशनेन वा किमपि प्रयोजनं, सर्वस्य तदुक्तस्य सर्वलोकशास्त्रैः सह विरुद्धत्वात्। मूर्तेभ्यो भूतेभ्योऽमूर्तचैतन्योत्पादस्य विरुद्धत्वाद्भूतेभ्य उत्पद्यमानस्यान्यत आगच्छतो वा चैतन्यस्यादर्शनात्, आत्मवच्चैतन्यस्याप्यैन्द्रियकप्रत्यक्षाविषयत्वात् इत्यादि।

§ ४५३. तदेवं बौद्धादीनामन्येषां सर्वेषामागमाः प्रत्युत स्वप्रणेतॄणामसर्वज्ञत्वमेव साधयन्ति न पुनः सर्वज्ञमूलताम्, पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात्। जैनमतं तु सर्वं पूर्वापरविरोधाभावात्स्वस्य सर्वज्ञमूलतामेवावेदयतीति स्थितम्।

§ ४५४. अथानुक्तमपि किमपि लिख्यते। प्राप्यकारीण्येवेन्द्रियाणीति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसांख्याः समाख्यान्ति। चक्षुःश्रोत्रेतराणि तथेति ताथागताः। चक्षुर्वर्जानीति स्याद्वादावदातहृदयाः।

लिए कुछ कुतर्क उपस्थित करते हैं, यह भी उनका स्ववचन विरोध है। सच तो यह है कि स्याद्वादको माने बिना किसीकी तत्त्वव्यवस्था या व्यवहार सिद्धि हो ही नहीं सकती। इस तरह दही और उड़दसे बने हुए भोजनमें-से काले उड़द (जन्तु) बीननेके समान कहाँतक दोषोंकी कालिमाको ऊपर लावें, अतः इतना कहकर ही इस पूर्वापरविरोध रूपी दोषान्वेषणके प्रसङ्गको समाप्त करते हैं।

§ ४५२. चार्वाक तो विचारा अत्यन्त तुच्छ है। वह तो किसी कुग्रहके आवेशसे बेसुध होकर आत्मा और आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले पुण्य-पाप, स्वर्ग-मोक्ष, अनेकान्त आदि सभीका लोप करके संसारकी हँसीका पात्र बना हुआ है, लोग उसकी बुरी तरह उपेक्षा करते हैं, उसकी चर्चा करना पाप समझते हैं। अतः उसके मतमें स्याद्वादका स्वीकार करना और पूर्वापर विरोध दिखाना निरर्थक ही है। उसके सिद्धान्तोंका सभी अन्य दर्शनवालोंने खण्डन किया है। लोक व्यवहार भी उसके नास्तिक विचारोंका समर्थन नहीं करता। मूर्त पृथिवी आदिसे अमूर्त चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें सरासर विरोध है। चैतन्य न तो कहींसे आता ही है और न पृथिवी आदि भूतोंसे उत्पन्न ही होता है वह तो आत्मामें रहनेवाला उसीका निजधर्म है। आत्माकी तरह चैतन्य भी इन्द्रिय प्रत्यक्षका विषय नहीं होता। वह तो अहंप्रत्ययके द्वारा मानसिक ज्ञानका विषय होता है।

§ ४५३. इस तरह बौद्ध आदि दार्शनिकोंके पूर्वापर विरोधसे भरे हुए आगम अपने प्रणेताओंकी असर्वज्ञताको ही खुले तौरसे जाहिर कर रहे हैं। ऐसे बाधित आगम सर्वज्ञमूलक नहीं हो सकते। सर्वज्ञके वचनोंमें पूर्वापर विरोध हो ही नहीं सकता। जैन दर्शनमें कहीं भी पूर्वापर विरोध या स्ववचन बाधाका न होना उसकी सर्वज्ञमूलकताको सिद्ध करता है। यदि जैनदर्शनको सर्वज्ञने न कहा होता तो वह इस तरह सर्वथा निर्बाध तथा प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता था। अतः जैनमत ही सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित है तथा सत्य है।

§ ४५४. अब मूल ग्रन्थमें जिन बातोंका कथन नहीं है, उनका भी थोड़ा निरूपण करते हैं। वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य चक्षु आदि सभी इन्द्रियोंको प्राप्यकारी—पदार्थों को प्राप्त करके उनसे सन्निकर्ष करके ज्ञान उत्पन्न करनेवाला—मानते हैं। बौद्ध चक्षु और श्रोत्रके सिवाय बाकी स्पर्शन आदि तीन इन्द्रियोंको प्राप्यकारी कहते हैं। पर स्याद्वादी जैन चक्षुके सिवाय सभी श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको प्राप्यकारी मानते हैं।

---

१. पूर्वापराविरुद्धवादिनः कथं भवेयुः म० १, प० १, प० २। २. -मानो वज्रोपहत म० २।

§ ४५५. श्वेताम्बराणां संमतिर्नयचक्रवालः स्याद्वादरत्नाकरो रत्नाकरावतारिका तत्त्वार्थप्रमाणवार्त्तिकं प्रमाणमीमांसा न्यायावतारोऽनेकान्तजयपताकानेकान्तप्रवेशो[1] धर्मसंग्रहणी[2] प्रमेयरत्नकोशश्चेत्येवमादयोऽनेके तर्कग्रन्थाः । दिगम्बराणां तु प्रमेयकमलमार्तण्डो न्यायकुमुदचन्द्र आप्तपरीक्षाष्टसहस्री सिद्धान्तसारो न्यायविनिश्चयटीका चेत्यादयः ॥५८॥

इति[3] श्रीतपागणनभोङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां[4] जैनमतस्वरूपनिर्णयो नाम चतुर्थोऽधिकारः[5] ॥

§ ४५५. श्वेताम्बरोंके सन्मतितर्क, नयचक्रवाल, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थप्रमाणवार्तिक, प्रमाणमीमासा, न्यायावतार, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, धर्मसंग्रहणी, प्रमेयरत्नकोश इत्यादि अनेकों तर्कग्रन्थ हैं। दिगम्बरोंके प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री, सिद्धान्तसार तथा न्यायविनिश्चय टीका आदि प्रमुख तर्क ग्रन्थ हैं ॥५८॥

इति श्री तपागणरूपी आकाशके सूर्य श्री देवसुन्दर सूरिके चरण सेवक श्री गुणरत्नसूरिके
द्वारा रची गयी षड्दर्शन समुच्चयकी तर्करहस्य दीपिका नामकी टीकामें
जैनमतके स्वरूपका निर्णय करनेवाला चौथा अधिकार पूर्ण हुआ।

१ –न्तान्तजयप्र– म० २. । २. संग्रहणी आ०, क०, म० १, प० १, प० २ । ३. इति श्रीमत्तपोगणगगनगणतरणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविश्रीगुणरत्नाचार्य –म० २ । ४. –या स्याद्वादमुद्राङ्कितो नाम चतुर्थः प्रस्तावः म० २ । ५ पुष्पिकेयं प०१ प० २ प्रत्यो नास्ति ।

अर्हम्

अथ पञ्चमोऽधिकारः

§ ४५६. अथ वैशेषिकमतविवक्षया प्राह—

देवताविषयो भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वे तु विद्यतेऽसौ निदर्श्यते ॥५९॥

§ ४५७. व्याख्या—अस्य लिङ्गवेषाचारदेवादिनैयायिकप्रस्तावे प्रसङ्गेन प्रागेव प्रोचानम् । मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादायादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात्कणाद इति संज्ञा अजनि । तस्य कणादस्य मुनेः पुरः शिवेनोलूकरूपेण मतमेतत्प्रकाशितम् । तत औलूक्यं प्रोच्यते । पशुपतिभक्तत्वेन पाशुपतं चोच्यते । कणादस्य शिष्यत्वेन वैशेषिकाः काणादा भण्यन्ते । आचार्यस्य च [1]प्रागभिधानीपरिकर इति नाम समाम्नायते ।

§ ४५८. अथ प्रस्तुतं प्रस्तूयते । देव एव देवता तद्विषयो भेदो—विशेषो वैशेषिकाणा नैयायिकैः समं नास्ति एतेन यादृग्विशेषण ईश्वरो देवो नैयायिकैरभिप्रेत., तादृग्विशेषणः स एव वैशेषिकाणामपि देव इत्यर्थ. । तत्त्वे तु तत्त्वविषये पुनर्विद्यते भेदः । असौ तत्त्वविषयो भेदो [2]निदर्श्यते—प्रदर्श्यते ॥५९॥

---

§ ४५६. अब वैशेषिक मतका निरूपण करते हैं—

वैशेषिकोके देवताके स्वरूपमे नैयायिकोसे कोई मतभेद नही है । हाँ, तत्त्वोकी संख्या तथा स्वरूपका विषयमें जितना मतभेद है वह दिखाते है ॥५९॥

§ ४५७ वैशेषिकोके लिग वेष आचार तथा देवता आदिका स्वरूप नैयायिकमतके निरूपणके समय प्रसंगसे बता दिया गया है । एक विशिष्ट मुनि कापोती वृत्तिसे मार्गमे पडे हुए चावलोको उठा-उठाकर अपनी उदरपूरणा करते थे । अत उनकी कणाद—कणको आद-खानेवाला संज्ञा थी । लोग उन निस्पृही साधुको कणाद कहते थे । जिस तरह कबूतर रास्तेमे पडे हुए चावलोकी कनीको चोचसे बीन-बीनकर खाते है उसी तरह किसी गृहस्थसे याचना किये विना रास्तेमे पडे हुए निकम्मे अन्नसे भोजन करना कापोती वृत्ति है । उन कणाद ऋषिके सामने शिवजीने उल्लूके शरीरको धारण करके इस वैशेषिक मतका आदिमे निरूपण किया था, अत इस मतको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं, वैशेषिक लोग पशुपति—शिवके भक्त होते हैं, अत यह दर्शन पाशुपतदर्शन भी कहा जाता है । उन कणाद-ऋषिने सर्वप्रथम 'कणादसूत्र' की रचना की तथा वैशेषिक कणादके ही शिष्य हैं अत इन्हे काणाद भी कहते है । आचार्यका 'प्रागभिधानी परिकर' यह नाम कहते हैं ।

§ ४५८ देवको ही देवता कहते हैं । जिस प्रकार नैयायिक लोग नित्य सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता आदि रूपसे ईश्वरको देवता मानते हैं वैशेषिक भी उसी तरह ईश्वरको ही देवता मानते हैं । अत नैयायिक और वैशेषिकोमे देवताके विषयमे कोई मतभेद नही है । तत्त्वविषयक मतभेद काफी है अत. वही तत्त्वविषयक मतभेद दिखाया जाता है—

---

१. प्रागभिधानोपकरिकर म० २ । प्रागभिधानोपरिकर म० १, प० १, प० २, क० । २. निदर्शने तमेवाह म० २ ।

तमेवाह—

[1]द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं तु तन्मते ॥६०॥

§ ४५९. व्याख्या—द्रव्यं प्रथमं तत्त्वं गुणो द्वितीयम् । तथाशब्दो भेदान्तरसूचने । कर्म तृतीयं सामान्यं च चतुर्थमेव । चतुर्थकम् स्वार्थे कप्रत्ययः । विशेषसमवायौ च पञ्चमषष्ठे तत्त्वे । उभयत्र चकारौ समुच्चयार्थौ । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वे तत्त्वषट्कमेव न न्यूनाधिकं षडेव पदार्था इत्यर्थः । तन्मते वैशेषिकमते । अत्र पदार्थषट्के द्रव्याणि गुणाश्च, केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्याः, कर्मानित्यमेव, सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति । केचित्त्वभावं सप्तमं पदार्थमाहुः[2] ॥६०॥

§ ४६०. अथ द्रव्यभेदानाह—

तत्र द्रव्यं [3]नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा ॥६१॥

४६१. व्याख्या—तत्र-तेषु षट्सु पदार्थेषु द्रव्यं नवधा, व्यवच्छेदफलं वाक्यमिति न्यायान्नवधैव न तु न्यूनाधिकप्रकारम् । अत्र द्रव्यमिति जात्यपेक्षमेकवचनम्, एवं प्रागग्रे च ज्ञेयम्, ततो नवैव द्रव्याणीत्यर्थः । एतेन[4] छायातमसो आलोकाभावरूपत्वान्न द्रव्ये भवत इत्युक्तम् । [5]भूः पृथिवी,

---

वैशेषिक मतमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह तत्त्व है ॥६०॥

§ ४५९ वैशेषिक मतमे पहला द्रव्य, दूसरा गुण । तथा शब्द अन्य भेदोकी सूचना करता है । तीसरा कर्म, चौथा सामान्य । स्वार्थमे 'क' प्रत्यय करनेसे चतुर्थको ही चतुर्थक कहते है । पाँचवाँ विशेष और छठवाँ समवाय है । च शब्द समुच्चयार्थक है । तु शब्द निश्चयवाचक है, अर्थात् छह ही तत्त्व है कम-वढ नही न तो पाँच ही है और न सात ही । इन छह पदार्थोमे कुछ द्रव्य और कुछ गुण तो नित्य है तथा कुछ द्रव्य और गुण अनित्य । कर्मपदार्थ अनित्य ही है । सामान्य, विशेष और समवाय नित्य ही है । कोई आचार्य अभावको भी सातवाँ पदार्थ मानते है ।

§ ४६०. अब द्रव्यके भेदोको कहते है—

उनमे द्रव्यपदार्थ नौ प्रकारका है—१ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश, ६ काल, ७ दिशा, ८ आत्मा, ९ मन । गुणपदार्थ पच्चीस प्रकार का है ॥६१॥

§ ४६१ उन छह पदार्थोमे द्रव्य नौ प्रकारका है । प्रत्येक वाक्य निश्चयात्मक होता है, अतः नौ ही द्रव्य है न कम और न वढती । द्रव्य न तो आठ ही हो सकते है और न दस ही । यद्यपि द्रव्य नौ है फिर भी 'द्रव्यम्' यह एकवचनका प्रयोग द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा समझना चाहिए । पहले श्लोकमे तथा आगे भी जहाँ कही एकवचनान्त द्रव्य शब्दका प्रयोग हो वह द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा समझना चाहिए । इसलिए द्रव्य नौ ही है । इस तरह द्रव्यकी नौ सख्या नियत हो जानेसे

---

१ "धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।"—वैशे० सू० १।१।४ । २. "भावपरिज्ञानापेक्षित्वादभावस्य पृथगनुपनख्यानम् ।"—प्रश० व्यो० पृ० २० । "अभावस्य पृथगनुपदेश भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात् ।"—प्रश० कन्दली० पृ० ७ । "अभावस्य च समानतन्त्रसिद्धस्याप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधाद् अभ्युपगमसिद्धान्तसिद्धत्वात् ।"—न्यायली० पृ० ३ । ३ "पृथिव्यापस्तेजो-वायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।" —वैशे० सू० १।१।५ । ४ "भाभावरूपत्वाच्छायायाः ।" —प्रश० व्यो० पृ० ४६ । "द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।"—वैशे० सू० ५।२।१९ । "उद्भूतरूपवद्यावत्तेज समग्राभावस्तम ।"—वैशे० उप० ५।२।२० । ५ "पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी । विषयस्तु द्व्यणुकादि[illegible] मृत्पाषाणस्थावरलक्षण । तत्र भूप्रदेशा —प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकारा । पाषाणा—[illegible] । स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति ।"—प्रश० भा० पृ० १२ ।

काठिन्यलक्षणा मृत्पाषाणवनस्पतिरूपा। [1]जलमापः तच्च [2]सरित्समुद्रकरकादिगतम्। [3]तेजोऽग्निः, [4]तच्च चतुर्धा, भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम्, दिव्यं सूर्यविद्युदादिजम्, आहारपरिणामहेतुरौदर्यम्, आकरजं च सुवर्णादि। [5]अनिलो वायुः। एतानि चत्वार्यनेकविधानि।

§ ४६२. अन्तरिक्षमाकाशम्। तच्चैकं नित्यममूर्तं विभु च द्रव्यम्। विभुशब्देन विश्वव्यापकम्। इदं च शब्देन लिङ्गेनावगम्यते, आकाशगुणत्वाच्छब्दस्य[6]। द्वन्द्वे भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि।

§ ४६३. [7]कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गो द्रव्यम्। तथाहि-परः[8] पितापरः पुत्रो युगपदयुगपद्वा चिरं क्षिप्रं कृतं करिष्यते वेति यत्परापरादिज्ञानं तदादित्यादिक्रियाद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्। योऽस्य हेतुः स

छाया और अन्धकार द्रव्य नही है। छाया और अन्धकार तेजोद्रव्यके अभाव रूप है, अत वे अभावपदार्थ हैं न कि द्रव्यपदार्थ। भू–पृथिवी। पृथिवी कठोर होती है, जैसे मिट्टी, पत्थर, वृक्ष आदि। जल-पानी, नदी, समुद्र, बरफ आदि अनेक रूपोमें मिलता है। तेज-आग। पानी आग चार प्रकार की है—१ लकडी आदि ईंधनसे सुलगनेवाली भौम जातिकी, २ सूर्य, बिजली आदिमे दिव्य जाति की, ३. जठराग्नि, इससे भोजन आदि पचते है। ४ आकरज—खनिज सुवर्णादि पदार्थोमे रहनेवाली। अनिल—वायु। ये चारो द्रव्य अनेक रूपोमे देखे जाते है।

§ ४६२ अन्तरिक्ष—आकाश। आकाश नित्य एक अमूर्त तथा व्यापक द्रव्य है। विभुका अर्थ है विश्वव्यापक। शब्द आकाशका गुण है, अतः शब्द नामक लिंगसे ही आकाशका अनुमान होता है। भू जल आदि का द्वन्द्व समास करना चाहिए।

§ ४६३ दिशा गुण जातिकी अपेक्षा जिस समीपवर्ती अधमजातीय मूर्ख बूढे पुरुषमे अपर प्रत्यय होता है उसीमे काल द्रव्य जवान विद्वान् युवककी अपेक्षा पर प्रत्यय कराता है। तथा जिस दूरदेशवर्ती जवान विद्वान् युवकमे दिशा आदिकी अपेक्षा परप्रत्यय होता है उसीमे काल, द्रव्य, अधमजातीय मूर्ख बूढेकी अपेक्षा अपर प्रत्यय कराता है। इस तरह यह पर और अपर प्रत्ययोकी विपरीतता दिशा आदिसे भिन्न काल द्रव्यकी सत्ता सिद्ध करती है। 'यह कार्य एक साथ किया गया, यह क्रम से किया गया, यह जल्दी किया गया. यह देरीसे किया गया' इत्यादि काल सम्बन्धी प्रत्यय भी कालकी सत्ता सिद्ध करते है। 'पिता जेठा है, पुत्र लहुरा है, युगपत् क्रममे, शीघ्र, धीरे-धीरे कार्य किया या किया जायगा' इत्यादि परापरादिप्रत्यय, सूर्यकी गति तथा अन्य द्रव्योसे उत्पन्न नही होकर किसी दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे होते है, क्योकि सूर्यकी गति आदिमे होनेवाले प्रत्ययोसे ये प्रत्यय विलक्षण प्रकारके है। जिस प्रकार घटसे होनेवाला 'यह घट है' यह प्रत्यय सूर्यकी गति आदिसे भिन्न घट नामक पदार्थकी अपेक्षा रखता है उसी तरह परापरादि प्रत्यय भी सूर्यकी गति आदिसे भिन्न काल द्रव्यकी अपेक्षा रखते है। सूर्यकी गतिमे तो 'यह सूर्यकी गति है' यह प्रत्यय होगा, सफेद बालोमे या मुँहपर पडी हुई झुर्रियोमे भी 'सफेद बाल, झुर्रियाँ'

---

१ "अप्त्वाभिसम्बन्धादापः।...विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादि।"—प्रश० भा० पृ० १४। २ समुद्रसरित्करका– म० २। ३ "तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः। विषयसंज्ञकं चतुर्विधम्" सुवर्णादि।"—प्रश० भा० पृ० १५। ४ तच्चतुर्धा म० १ म० २, प० १, प० २। ५ "वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः।"—प्रश० भा० पृ० १६। ६ तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः शब्दलिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्। विभववचनात् परममहत्परिमाणम्।" —प्रश० भा० पृ० २३-२४। ७. "तत्र परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम्। काललिङ्गाविशेषादेकत्वं सिद्धम्। तानि काल इति वचनात् परममहत्परिमाणम्।"—प्रश० भा० पृ० २६। ८ परः पिता परोऽपरः पुत्र पितु युग–म० २।

पारिशेष्यात्कालः स चैको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च ।

§ ४६४. [1]दिगपि द्रव्यमेका नित्यामूर्ता विभुश्च (विभ्वी च)। मूर्तेष्वेव हि द्रव्येषु मूर्तं द्रव्यमवधिं कृत्वेदमस्मात्पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणापरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दशप्रत्यया यतो भवन्ति, सा दिगिति। एतस्याश्चैकत्वेऽपि प्राच्यादिभेदेन नानात्वं कार्यविशेषाद्व्यवस्थितम् ।

§ ४६५. [2]आत्मा जीवोऽनेको नित्योऽमूर्तो विभुर्द्रव्यं च ।

§ ४६६. [3]मनश्चित्तं, तच्च नित्यं द्रव्यमणुमात्रमनेकमाशुसंचारि प्रतिशरीरमेकं च। [4]युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्, आत्मनो हि सर्वगतत्वाद् युगपदनेकेन्द्रियार्थसंनिधाने सत्यपि क्रमेणैव ज्ञानोत्पत्त्युपलम्भादनुमीयते। आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षेभ्यो व्यतिरिक्तं कारणान्तरं मनोऽस्तीति, यस्य

यही प्रत्यय होगे। अतः इनसे भिन्न निमित्त सिवाय कालके दूसरा नही हो सकता। इस तरह अन्य सब सम्भवित निमित्तोका निषेध होनेपर अन्तमें परिशेष न्यायसे कालद्रव्यकी सिद्धि होती है। यह कालद्रव्य नित्य एक अमूर्त तथा व्यापक है।

§ ४६४. दिग् द्रव्य भी नित्य अमूर्त एक तथा व्यापक है। मूर्त पदार्थोमे एक दूसरेकी अपेक्षा यह इससे पूर्वमे, दक्षिणमे, पश्चिममे, उत्तरमे, आग्नेय कोणमे, नैऋत्य कोणमे, वायव्य कोणमे, ईशान कोणमे, ऊपर या नीचे है। ये दस प्रत्यय जिसके निमित्तसे होते है वही दिशा है। यद्यपि यह एक है फिर भी मेरुके चारो ओर घूमनेवाले सूर्यका जब भिन्न-भिन्न दिशाके प्रदेशोमे रहनेवाले लोकपालोके द्वारा ग्रहण किये गये दिशाके प्रदेशोंसे संयोग होता है तब उसमे पूर्व पश्चिम आदि व्यवहार होने लगते हैं। दस प्रकारके प्रत्ययोसे भी दिशा—पूर्व आदि दश भेदोका अनुमान भलीभाँति किया जा सकता है।

§ ४६५ आत्मा जीव, यह नित्य अमूर्त तथा व्यापक होकर भी अनेक हैं।

§ ४६६. मन—चित्त, यह नित्य है, परमाणु रूप है, अनेक है, तथा हर एक शरीरमे एक-एक रहता है तथा बहुत ही शीघ्र सारे शरीरमे गति करता है। एक साथ अनेक ज्ञानोकी उत्पत्ति न होना ही मनके सद्भावका प्रबल साधक है। आत्मा तो सर्वव्यापक है, अत उसका एक साथ सभी इन्द्रियोके साथ सयोग है ही। पदार्थोंके साथ इन्द्रियोका भी युगपत् सयोग हो ही सकता है। एक गरम पूडीको खाइए, उसके रूप, रस, गन्ध आदि सभीके साथ इन्द्रियोका युगपत् सम्बन्ध हो रहा है। फिर भी रूपादि पाँचो ज्ञान एक साथ उत्पन्न न होकर क्रमसे ही होते है। इस क्रमोत्पत्तिसे ज्ञात होता है कि कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ अवश्य है जिसके क्रमिक सयोगसे ज्ञान एक साथ

---

१. "दिक् पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गा। मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेव द्रव्येष्वेतस्मादिदं पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेण अपरोत्तरेण उत्तरपूर्वेण चाधस्तादुपरिष्टाच्चेति दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिगिति, अन्यनिमित्तासंभवात्। दिग् लिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपि दिशः परममहर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुं प्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगविशेषा लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्था प्राच्यादिभेदेन दशविधा संज्ञा कृता अतो भक्त्या दश दिशः सिद्धा।" —प्रश० भा० पृ० २८। २ "आत्मत्वाभिसंबन्धादात्मा। तथा चात्मेति वचनात्परममहत्परिमाणम्। —प्रश० भा० पृ० ३०। ३. "मनस्त्वयोगान्मनः। सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते। श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम्।" "प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम्। पृथक्त्वमप्यत एव। तदभाववचनादणुपरिमाणम्।" "प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसञ्चारि चेति।" —प्रश० भा० पृ० ३९। ४ न्यायसू० १।१।१६।

संनिधानाज्ज्ञानानामुत्पत्तिरसंनिधानाच्चानुत्पत्तिरिति। तस्य च मनसो मृतशरीरान्निर्गतस्य मृतशरीरप्रत्यासन्नमदृष्टवशादुपजातक्रियैरणुभिर्द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धमतिसूक्ष्ममनुपलब्धियोग्यं शरीर संक्रम्यैव स्वर्गादौ गतस्य स्वर्गाद्युपभोग्यशरीरेण संबन्धो भवति। केवलस्य त्वेतावद्दूरं गतिर्न स्यात्। तच्च मरणजन्मनोरान्तरालं गतं शरीरं मनसः स्वर्गनारकादिदेशं प्रतिवहनधर्मकत्वादातिवाहिकमित्युच्यते। ततो द्वन्द्वे कालदिगात्ममनांसि। चः समुच्चये।

§ ४६७. तत्र पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतच्चतुःसङ्ख्यं द्रव्यं प्रत्येकं नित्यानित्यभेदाद्द्विप्रकारम्। तत्र परमाणुरूपं नित्यं "सदकारणवन्नित्यम्" [वैशे० सू० ४।१।१] इति वचनात्। तदारब्धं तु द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यमनित्यम्। आकाशादिकं नित्यमेव, अनुत्पत्तिमत्त्वात्।

§ ४६८. एषां च द्रव्यत्वाभिसंबन्धाद् द्रव्यरूपता। द्रव्यत्वाभिसंबन्धश्च द्रव्यत्वसामान्योपलक्षितः समवायः। तत्समवेतं वा सामान्यम्। एतच्च द्रव्यत्वाभिसंबन्धादिकमितरेभ्यो गुणादिभ्यो व्यवच्छेदकमेषां लक्षणम्। एवं पृथिव्यादिभेदानामपि पाषाणादीनां पृथिवीत्वाभिसंबन्धादिकं

उत्पन्न न हो कर क्रमसे ही उपजते हैं। आत्मा, इन्द्रिय और पदार्थका सयोग इनसे भिन्न एक मन नामका कारण अवश्य है, जिसका जिस इन्द्रियसे सयोग होता है उसी इन्द्रियमे ज्ञान उत्पन्न होता है अन्यसे नही है। इसीका संयोग ज्ञानको उत्पत्तिमे कारण होता है। यदि मनका सयोग न हो तो ज्ञान उत्पन्न ही नही हो सकता। यही मन मृत शरीरसे निकलकर स्वर्ग आदिमे जाता है और वहाँ स्वर्गीय दिव्य शरीरसे सम्बन्ध करके उसका उपभोग करता है। जब मनुष्य मरता है तब मनका स्थूल शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है। वह उस समय अदृष्ट-पुण्य-पापके अनुसार वहीं बने हुए अत्यन्त सूक्ष्म आतिवाहिक लिंग शरीरमे घुस जाता है और उसीके द्वारा वह स्वर्ग आदि तक पहुँचता है। जीवके पुण्य-पापके अनुसार मरनेके बाद ही परमाणुओमे क्रिया होकर द्व्यणुक त्र्यणुक आदि क्रमसे अत्यन्त सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर बन जाता है। यह शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि आँखोसे नही दिखाई देता और न किसी अन्य इन्द्रियसे भी इसका परिज्ञान हो पाता है। अकेला मन इस आतिवाहिक शरीरके बिना इतनी दूर तक नही जा सकता। यह मरण और नूतन जन्मके बीचमे रहनेवाला सूक्ष्म शरीर मनको स्वर्ग और नरक आदि तक ढोता है—पहुँचा देता है अत. इसे ढोनेवाला आतिवाहिक शरीर कहते हैं। काल आदिका द्वन्द्व समास करना चाहिए। 'च' शब्द समुच्चयार्थक है।

§ ४६७ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार द्रव्य नित्य भी होते हैं तथा अनित्य भी। परमाणु रूप पृथिवी आदि नित्य हैं। कहा भी है—"सत् होकर भी जो वस्तु कारणोसे उत्पन्न न हो उसे नित्य कहते हैं।" परमाणु रूप द्रव्य सत् तो है ही और किसी अन्य कारणसे उत्पन्न भी नही होते अतः वे नित्य हैं। इन परमाणुओंके सयोगसे बने हुए द्व्यणुक आदि स्थूल कार्य द्रव्य अनित्य हैं। आकाश आदि द्रव्य किसी कारण से उत्पन्न न होनेके कारण नित्य ही हैं।

§ ४६८ द्रव्यत्व नामक जातिका सम्बन्ध ही इनमे द्रव्यरूपता लाता है तथा 'द्रव्य द्रव्य' यह अनुगत व्यवहार कराता है द्रव्यत्वका द्रव्यके साथ समवाय सम्बन्ध होता है। समवाय तो नित्य और एक है अत द्रव्यत्व विशेषणवाला समवाय या समवायसे सम्बद्ध द्रव्यत्व द्रव्योंमें द्रव्यरूपताके प्रयोजक होते हैं। यह द्रव्यत्वका समवाय गुणादि पदार्थोंसे द्रव्यको व्यावृत्त करता है तथा उनमे 'द्रव्य द्रव्य' व्यवहार कराता है। अत यह द्रव्यका व्यवच्छेदक लक्षण – असाधारण स्वरूप है। इसी तरह पृथिवीमे पृथिवीत्वका समवाय, जलमे जलत्वका समवाय, वायुमे वायुत्वका समवाय

[1]लक्षणमितरेभ्योऽबादिभ्यो भेदव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्यम् । अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादितच्छब्दवाच्यता[2] द्रष्टव्या ।

§ ४६९. इदं च नवविधमपि द्रव्यं सामान्यतो द्वेधा, अद्रव्यं द्रव्यं अनेकद्रव्यं च द्रव्यम्-तत्राद्रव्यमाकाशकालदिगात्ममनःपरमाणवः कारणद्रव्यानारब्धत्वात् । अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः । तत्र च द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धस्य [3]द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिचतुरैः परमाणुभिरारब्धस्यापि [4]कार्यद्रव्यस्याणुपरिमाणतैव स्यात्, परं द्व्यणुकव्यपदेशो न स्यात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वारब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, न तु द्वाभ्या द्व्यणुकाभ्यामारब्धे, द्वाभ्यामारब्धस्य ह्युपलब्धिनिमित्तं महत्त्वं न स्यात् । त्र्यणुकं च

तथा अग्निमे अग्नित्वका समवाय उनकी इतर द्रव्योसे व्यावृत्ति कराके 'पृथिवी' आदि अनुगत व्यवहारमे कारण होता है । आकाश काल और दिशा ये एक-एक ही द्रव्य है । इसलिए इनमे आकाशत्व आदि जातियाँ नही पायी जाती । अतः इनकी 'आकाश, काल और दिशा' ये सज्ञाएँ तथा व्यवहार अनादि कालीन है ।

§ ४६९. ये नवो द्रव्य सामान्यसे दो प्रकारके है—एक अद्रव्य द्रव्य और दूसरे अनेक द्रव्य द्रव्य, जिनको उत्पन्न करनेवाला कोई अन्य द्रव्य रूप समवायिकारण न हो वे अद्रव्य द्रव्य है अर्थात् नित्य द्रव्य । जैसे आकाश काल दिशा आत्मा मन और पृथिवी आदिके परमाणु । इनको उत्पन्न करनेवाला कोई कारण द्रव्य नही है जिनकी उत्पत्तिमे अनेक द्रव्य समवायिकारण होते है वे अनेक द्रव्य द्रव्य अर्थात् अनित्य द्रव्य कहलाते है जैसे परमाणुओसे बननेवाले द्व्यणुक आदि । मतलब यह कि द्रव्य या तो अद्रव्य नित्य होगे या अनेक द्रव्य अनित्य । कोई भी द्रव्य 'एकद्रव्य'—जिसकी उत्पत्तिमे एक ही द्रव्य समवायिकारण हो जैसे ज्ञानादि गुण—नही हो सकता । दो परमाणुओसे उत्पन्न होनेवाले कार्य द्रव्यको 'अणु' कहते है, क्योकि दो परमाणुओसे उत्पन्न द्रव्यमे अणुपरिमाण ही रहता है । इसी तरह तीन चार परमाणुओसे उत्पन्न होनेवाले कार्य द्रव्य भी 'अणु' ही कहे जाते है उन्हे द्व्यणुक नही कहते । तीन या चार द्व्यणुकसे उत्पन्न होनेवाला कार्य द्रव्य त्र्यणुक कहलाता है । दो द्व्यणुकोसे उत्पन्न होनेवाले कार्यद्रव्यको त्र्यणुक नही कह सकते; क्योकि दो द्व्यणुकोसे उत्पन्न कार्यमे इन्द्रियोसे ग्रहण करने लायक महत्त्व परिमाण नही होता । त्र्यणुक द्रव्य ही इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण करने लायक होता है । इस तरह आगे आगे महान् परिमाणवाले कार्य द्रव्योकी उत्पत्ति होती जाती है । विशेष कारण द्रव्यका परिमाणको कार्यमे स्वसजातीय उत्कृष्ट परिमाण उत्पन्न करनेका नियम है । यदि परमाणुके परिमाणको द्व्यणुकके परिमाणमे कारण माना जायगा तो उसमे अणु परिमाणके सजातीय उत्कृष्ट अणुतर परिमाणकी उत्पत्ति होगी । अत. परमाणुके अणुपरिमाणको कार्यके परिमाणमे कारण नही मान कर परमाणुकी सख्याको कारण मानते है । जिससे द्व्यणुकमे अणुपरिमाणकी ही उत्पत्ति होती है न कि अणुतर परिमाणकी । इसी तरह यदि द्व्यणुकके अणुपरिमाणको त्र्यणुकके परिमाणमे कारण मानेगे, तो इसमे भी अणुजातीय उत्कृष्ट-अणुतर परिमाणकी ही उत्पत्ति होगी । अत. द्व्यणुकोमे रहनेवाली वहुत्व सख्याको कारण

---

१ "लक्षण च भेदार्थं व्यवहारार्थं चेति । तथाहि पृथिव्यादीनि इतरस्माद् भिद्यन्ते द्रव्याणीति वा व्यवहर्तव्यानि द्रव्यत्वयोगात् ।" —प्रश० व्यो० पृ० १५० । "पृथिव्यादीना नवानामपि द्रव्यत्वयोग ।" —प्रश० भा० पृ० २० । "एतेन द्रव्यादिपदार्थस्य इतरेभ्यो भेदलक्षणमुक्तम् ।" —प्रश० कन्दली पृ० २० । २ "आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्त्र सज्ञा भवन्ति आकाश कालो दिगिति ।" —प्रश० भा० पृ० ५८ । ३. कस्याणु परमाणुत्वात् म० १, म० २. प० , प० २ ।—कस्याणुपरमाणुत्वात् क० । ४. कार्यस्याणु – म० १, प० १, प० २ ।—कार्यस्याणुपरमाणुतैव म० २ ।

द्रव्यमुपलब्धियोग्यमिष्यते । ततश्चापरापरारब्धत्वेऽपरापरद्रव्योत्पत्तिर्ज्ञेया । गुणः पुनः पञ्चविंशतिधा स्पष्टम् ॥६१॥

§ ४७०. [1]गुणस्य पञ्चविंशतिविधत्वमेवाह—

स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः संख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥६२॥
बुद्धिः सुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥६३॥ [4]युग्मम् ॥

§ ४७१. व्याख्या—[5]स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः । [6]रसो-रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः । चक्षुर्ग्राह्यं रूपं[7] पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति, तच्च रूपं जलपरमाणुषु तेजःपरमाणुषु च नित्यं, पार्थिवपरमाणुरूपस्य त्वग्निसंयोगो विनाशकः । सर्वकार्येषु च कारणरूपपूर्वकरूपमुत्पद्यते, उत्पन्नेषु हि द्व्यणुकादिकार्येषु पश्चात्तत्र रूपोत्पत्तिः, निराश्रयस्य कार्यरूपस्यानु-

---

मानने पर ही त्र्यणुकमे महापरिमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। यही कारण है कि तीन द्व्यणुकसे त्र्यणुककी उत्पत्ति वताया है न कि दो द्व्यणुकसे। दो द्व्यणुकमे वहुत्व सख्या न होकर द्वित्व सख्या ही रहती है। गुण पच्चीस प्रकारका है यह स्पष्ट है।

§ ४७० अव पच्चीस गुणोका निरूपण करते है—

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग, ये पच्चीस गुण हैं ॥६२-६३॥

§ ४७१ स्पर्शन इन्द्रिय का विषयभूत गुण स्पर्श है। यह स्पर्शनेन्द्रियसे छुआ जाता है और पृथिवी जल अग्नि और वायुमे रहता है। जीभके द्वारा चखा जानेवाला गुण रस है। यह पृथिवी और जलमे रहता है। आँखसे दिखाई देनेवाला गुण रूप है। यह पृथिवी जल और अग्निमे पाया जाता है। जल तथा अग्निके परमाणुओका रूप नित्य है परन्तु पृथिवीके परमाणुओका रूप अग्निके संयोगसे नष्ट हो जाता है। पृथिवीमे अग्निके सयोगसे पूर्वरूप नष्ट होकर नया पाकजरूप उत्पन्न होता है। कारणके रूपसे ही सभी कार्योमे रूपकी उत्पत्ति होती है। जव पहले द्व्यणुकादिकार्य उत्पन्न हो जाते हैं तव उनमे रूपादि गुणोकी उत्पत्ति होती है, क्योकि रूपादि गुण हैं, अतः वे निराधार उत्पन्न नही हो सकते, उनका आधारभूत द्रव्य होना ही चाहिए। इस तरह जव गुण निराधार उत्पन्न नही होते तव उनका नाश भी आधारके नाशसे ही होगा। कार्यद्रव्यरूपी आधारके नष्ट होते ही द्वितीयक्षणमे रूपादि गुणोका नाश होता है। क्षण इतना सूक्ष्म है कि वह हम लोगोकी

---

१ पश्च – म० २। २ गुणपञ्च – म० २। ३ "रूपरसगन्धस्पर्शाः सख्या परिमाणानि पृथक्त्व संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।" वैशे० सू० १।१।६। "इति कण्ठोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः।" —प्रश० भा० पृ० ३। ४ युगलम्। म० २। ५ "स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। क्षित्युदकज्वलनपवनवृत्तिः।" —प्रश० भा० पृ० ४५। ६ "रसो रसनग्राह्यः। पृथिव्युदकवृत्तिः।" —प्रश० भा० पृ० ४५। ७ 'तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयनसहकारि शुक्लाद्यनेकप्रकारं सलिलादिपरमाणुषु नित्यं पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगविरोधि सर्वकार्यद्रव्येषु कारणगुणपूर्वकमाश्रयविनाशादेव विनश्यतीति।" —प्रश० भा० पृ० ४४।

त्पादात् । तथा कार्यरूपविनाशस्याश्रयविनाश एव हेतुः । पूर्वं हि कार्यद्रव्यस्य नाशः, तदनु च रूपस्य, आशुभावाच्च क्रमस्याग्रहणमिति । [1]गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः । स्पर्शादेश्च गुणत्वे सति त्वगिन्द्रियग्राह्यादिकं लक्षणमितरव्यवच्छेदकम् ।

§ ४७२. [2]शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गगनवृत्तिः क्षणिकश्च । श्रोत्रेन्द्रियं चाकाशात्मकम् । अथाकाशे निरवयव इदमात्मीयं श्रोत्रमिदं च परकीयमिति विभागः कथमिति चेत् । उच्यते– यदीयधर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धं [3]यन्नभस्तत्तस्य श्रोत्रमिति विभागः, अत एव नासिकादि-रन्ध्रान्तरेण न शब्दोपलम्भः संजायते । तत्कर्णशष्कुलीविघाताद्बाधिर्यादिकं च व्यवस्थाप्यत[4] इति ।

§ ४७३. संख्या तु [5]एकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा । सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च तत्रैकसंख्यैकद्रव्या, [6]अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । तत्रैकद्रव्यायाः सलिलादिपरमाण्वादिगत-

---

स्थूलदृष्टिमे नही झलकता । यही कारण है कि हमलोग कार्यद्रव्यके नाशको तथा उसके गुणोके नाशको एक ही क्षणमे मान लेते है । क्षण होते क्या देर लगती है ? वह बहुत ही जल्दी होता है इसीलिए हम द्रव्यनाश और गुणनाशके क्रमको नही जान पाते । नाकसे सूँघा जानेवाला गुण गन्ध है । गन्ध मात्र पृथिवीमे ही रहती है । स्पर्श आदिके इतर व्यावर्तक असाधारण लक्षण इस प्रकार हैं । स्पर्शनेन्द्रियसे छुआ जाकर जो गुण हो वह स्पर्श, रसनेन्द्रियसे चखा जाकर जो गुण हो वह रस, आँखोंसे देखा जाकर जो गुण हो वह रूप और नाकसे सूँघा जाकर जो गुण हो वह गन्ध । यद्यपि रूपत्व रसत्व गन्धत्व और स्पर्शत्व जातियाँ भी चक्षु आदि इन्द्रियोसे देखी, चाटी सूँघी और छुई जाती है तो भी वे गुण नही है अतः उनमे पूरा लक्षण अतिव्याप्त नही हो सकता । जिस इन्द्रियसे जो पदार्थ जाना जाता है उसी इन्द्रियसे उसकी जाति और उसके अभावके परिज्ञान होनेका नियम है । अतः 'गुण' विशेषणसे रूपत्व आदि सामान्योमे लक्षण अतिव्याप्त नही हो सकता ।

§ ४७२ कानसे सुनाई देनेवाला गुण शब्द है । यह आकाशमे रहता है तथा क्षणिक है । कान इन्द्रिय आकाश रूप ही है ।

शंका—आकाश तो निरवयव है, अतः यह हमारा श्रोत्र है और यह पराया यह विभाग कैसे हो सकेगा ?

समाधान—स्व-पर विभागमे कोई कठिनाई नही है । जिसके पुण्य-पापसे सस्कृत कर्ण-शष्कुलि—कानका तारा—मे आकाशका जो भाग आता है वह उसीका श्रोत्र कहा जायगा । इसीलिए नाकके छेदमे समाये हुए आकाशसे शब्द नही सुनाई देता । जिसके कानका तारा फट जाता है या उसमे छेद हो जाता है वही व्यक्ति बहरा या कम सुननेवाला हो जाता है ।

§ ४७३. एक दो तीन आदि व्यवहार करानेवाला गुण एकत्व द्वित्व आदि सख्या है । यह एक द्रव्यमे भी रहती है और अनेक द्रव्योमे भी । एकत्वसंख्या एकद्रव्यमे रहता है तथा द्वित्व त्रित्व आदि सख्याएँ अनेक द्रव्योमे । एक द्रव्यमे रहनेवाली एकत्व सख्या जल आदिके परमाणुओमे तथा कार्यद्रव्यमे रहनेवाले रूपादि गुणोकी तरह नित्य भी है और अनित्य भी । परमाणुओमे नित्य तथा कार्यद्रव्यमे अनित्य । कार्यद्रव्यकी एकत्वसख्या कारणकी एकत्वसख्यासे उत्पन्न होती है । अनेक द्रव्यमे रहनेवाला द्वित्व आदि अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होते हैं तथा अपेक्षाबुद्धिके नाशसे ही नष्ट हो जाते है, कही आधारभूत द्रव्यके नाशसे भी इनका नाश होता है । दो या तीन

१. "गन्धो घ्राणग्राह्य । पृथिवीवृत्ति ।"—प्रश० भा० पृ० ४५ । २. "शब्दोऽम्बरगुण श्रोत्रग्राह्य क्षणिक कार्यकारणोभयविरोधी सयोगविभागशब्दज प्रदेशवृत्ति ।" —प्रश० भा० पृ० १४८ । ३ भो मूर्तस्याश्रोत्र–म० २ । ४ –प्यते स–म० २ । ५ एकादिकाव्य –म० २ । "एकादिव्यवहार-हेतुसंख्या ..."—प्रश० भा० पृ० ४८ । ६ अनेकद्रव्यादिपु तु म० २ । अनेकसंख्या तु आ०, क० ।

रूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः। अनेकद्रव्याश्रयास्त्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः। अपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च विनाशः क्वचित्त्वाश्रयविनाशादिति।

§ ४७४. प्राप्तिपूर्विका ह्यप्राप्तिर्विभागः,[1] अप्राप्तिपूर्विका च प्राप्तिः संयोगः।[2] एतौ च द्रव्येषु यथाक्रमं विभक्तसंयुक्तप्रत्ययहेतू। अन्यतरोभयकर्मजौ विभागसंयोगौ च यथाक्रमम्।

§ ४७५. परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम्[3]। तच्चतुर्विधं, महदणु दीर्घं ह्रस्वं च। तत्र महद्द्विविधं, नित्यमनित्यं च। नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम्। अनित्यं द्व्यणुकादिषु द्रव्येषु। अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम्। परमाणुमनःसु पारिमाण्डल्यलक्षणं[4] नित्यम्। अनित्य द्व्यणुक एव। बदरामलकबिल्वादिषु बिल्वामलकबदरादिषु च क्रमेण यथोत्तरं महत्त्वस्याणुत्वस्य च व्यवहारो[5] भाक्तोऽवसेयः, आमलकादिषूभयस्यापि व्यवहारात्। एवमिक्षौ समिद्वंशाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोर्भाक्तत्वं ज्ञेयम्।

पदार्थों को देखकर 'यह एक यह एक और यह एक' ऐसी अनेक पदार्थों के एकत्वको विषय करनेवाली अपेक्षाबुद्धि होती है। इस अपेक्षाबुद्धिसे उन पदार्थों से द्वित्व आदि सख्याएँ उत्पन्न होती है। जब यह अपेक्षा बुद्धि नष्ट हो जाती है तब सख्याका भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि द्वित्व आदि संख्याएँ रूपादिकी तरह घडेके पूरे समय तक स्थिर नही रहती। वे तो जो व्यक्ति देखता है उसकी उपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न हो कर उपेक्षा बुद्धिके समाप्त होते ही नष्ट हो जाती है। जिन दो जलके बुद्‌बुदोमे किसी व्यक्तिकी अपेक्षा बुद्धिसे द्वित्व संख्या उत्पन्न हुई थी और वे बुद्‌बुद जब दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो गये तब वह द्वित्व सख्या भी आधारभूत द्रव्यके नाशसे ही नष्ट हो जायगी।

§ ४७४ जो पदार्थ आपसमे सयुक्त थे—मिले हुए थे, उनका बिछुड जाना—अलग-अलग हो जाना विभाग है। जो पदार्थ बिछुडे हुए है उनका आपसमे मिल जाना सयोग है। ये पदार्थो मे क्रमसे 'विभक्त—बिछुडे हुए और संयुक्त—मिले हुए' यह प्रत्ययव्यवहार कराते है। सयोग और विभाग किसी एक पदार्थमे क्रिया होनेसे भी होते है जैसे ठूँठपर पक्षीका बैठ जाना और उड जाना तथा दोनो पदार्थो मे क्रिया होनेसे भी होते है जैसे दो पहलवानो का कुश्ती लडते समय आपसमे मिलना तथा बिछुडना।

§ ४७५. हलका, भारी, छोटा, बडा, लम्बा आदि माप और नापके व्यवहारमे कारणभूत गुण परिमाण है। महत्—बडा, अणु—छोटा, दीर्घ—लम्बा, और ह्रस्व—ठिगनाके भेदसे परिमाण चार प्रकारका है। महापरिमाण दो प्रकारका है—एक नित्य और दूसरा अनित्य। आकाश काल दिशा और समस्त आत्माओमे सर्वोत्कृष्ट नित्य महापरिमाण है। द्व्यणुक आदि द्रव्योमे अनित्य महापरिमाण है। अणुपरिमाण भी नित्य और अनित्य दोनो ही प्रकारका होता है। परमाणु और मनमे नित्य अणुपरिमाण होता है। इसकी 'पारिमाण्डल्य' सज्ञा है अर्थात् अणुपरिमाण गोल होता है। अनित्य अणुपरिमाण केवल द्व्यणुकमे ही होता है बेर आँवला बेल आदि मध्यम परिमाणवाले द्रव्योमे एक दूसरेकी अपेक्षा जो छोटा और बडा या दोनो प्रकारके व्यवहार होते है वे गौण है मुख्य नही है, अनियत है। वही आँवला बेरकी अपेक्षा बड़ा भी है और बेलकी अपेक्षा छोटा भी। इसी तरह ईखमे समित्यज्ञमे जलायी जानेवाली छोटी-छोटी छिपटियोंकी अपेक्षा लम्बापन होनेपर भी लम्बे बाँसकी अपेक्षा ठिगना—छोटापन भी है अत उसमे लम्बा और छोटा दोनो ही व्यवहार गौण है अनियत है।

---

१ प्राप्तिपूर्विकाप्राप्तिर्विभाग।"—प्रश० भा० पृ० ६१। २ "अप्राप्तयो प्राप्तिसयोग।"—प्रश० भा० पृ० ६०। ३ "परिमाण मानव्यवहारकारणम्।"—प्रश० भा० पृ० म० २। ४. नित्य द्व्यणुक—म० २। ५ -रो विभक्तो आ०, क०,-रो भक्तो म० २। ६ -योर्भक्तत्व म० २।

§ ४७६. ननु महद्दीर्घयोस्त्र्यणुकादिषु वर्तमानयोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेषः । महत्सु दीर्घमानीयतां दीर्घेषु महदानीयतामिति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्ति तयोः परस्परतो भेदः । अणुत्वह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनामध्यक्ष[1] एव ।

§ ४७७. संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशादत्रेदं पृथगित्यपोद्ध्रियते, तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वम्[3] । इदं परमिदमपरमिति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतः, तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वं[4] च । [5]द्वितयमप्येतत् दिक्कृतं कालकृतं च । तत्र दिक्कृतस्येत्थमुत्पत्तिः-एकस्यां दिशि स्थितयोरेकस्य द्रष्टुरपेक्षया संनिकृष्टमवधिं कृत्वैतस्माद्विप्रकृष्टस्य परेण दिक्प्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, विप्रकृष्टं चावधिं कृत्वैतस्मात्संनिकृष्टस्यापरेण दिक्प्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते । कालकृतं त्वेवमुत्पद्यते-वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयोर्मध्ये युवानमवधिं कृत्वा चिरकालीनस्य स्थविरस्य परेण कालप्रदेशेन योगात्परत्वमुत्पद्यते, स्थविरं चावधिं कृत्वाल्पकालीनस्य यूनोऽपरेण कालप्रदेशेन योगादपरत्वमुत्पद्यते ।

§ ४७८. [6]बुद्धिर्ज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम् । सा द्विविधा-विद्याविद्या च । तत्राविद्या[7]

---

§ ४७६ शंका—अणुक आदिमे रहनेवाले महत्त्व और दीर्घत्वमें तथा द्व्यणुकमे रहनेवाले अणुत्व और ह्रस्वत्वमे परस्पर क्या भेद है ?

समाधान—'बडोमेसे लम्बेको ले आओ, लम्बोमेसे बडेको ले आओ' ऐसे दो प्रकारके व्यवहारोसे महत्त्व और दीर्घत्वमे विशेपता है । दीर्घत्व केवल लम्बेपनकी अपेक्षा है जब कि महत्त्वमे लम्बाई चौडाई दोनो ही विवक्षित है । द्व्यणुकका प्रत्यक्ष तो योगियोको हो होता है अत वे हो उसमे रहनेवाले ह्रस्वत्व और अणुत्वकी विशेषताको साक्षात् देखते है । वह शब्दोसे कही जाने लायक नही है ।

§ ४७७ आपसमे संयुक्त भी द्रव्य जिसके कारण 'ये दोनो स्वरूपसे पृथक् है' इस पृथक-भेद व्यवहारके विषय होते है वह अपोद्धारव्यवहार भेदव्यवहार करानेवाला गुण पृथक्त्व है । 'यह पर—दूर या जेठा, अपर—समीप या लहुरा' इस परापर शब्दके प्रयोगमें तथा परापरज्ञानमे कारण भूत गुण क्रमशः परत्व और अपरत्व है । परत्व और अपरत्व दोनो ही दिशा और कालकी अपेक्षासे उत्पन्न होते है । दिशाके द्वारा परत्वापरत्वकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—एक कोई देखनेवाला व्यक्ति जब एक ही दिशामे दो आदमियोको क्रमसे खडा हुआ देखता है तो समीपवर्ती पुरुषकी अपेक्षा दूरवर्ती पुरुषको पर—अधिक दिशाके प्रदेशोका सयोग होनेसे पर—दूर समझना है तथा दूरवर्तीकी अपेक्षा निकटवर्तीको अपर—कम दिशाके प्रदेशोका सयोग होनेसे अपर—निकट समझता है । अतः क्रमश दूरवर्ती और निकटवर्ती पदार्थमे पर और अपर दिशाके प्रदेशोके संयोगसे परत्व और अपरत्व गुणोकी उत्पत्ति होती है । इन्हीके कारण 'यह इससे दूर है या यह इससे पास है' यह दूर निकट-व्यवहार होता है । कालकृत परत्वापरत्वकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जिस किसी भी दिशा या देशमे मौजूद जवान और बूढेमे जवानकी अपेक्षा चिरकालीन बूढेमे पर—अधिककालका सयोग होनेसे परत्व—जेठापन—की उत्पत्ति होती है तथा बूढेकी अपेक्षा लहुरे जवानमे अपर—कम कालका सयोग होनेसे अपरत्व—लुहरापन—की उत्पत्ति होती है ।

§ ४७८ बुद्धि ज्ञानको कहते है । ज्ञान स्वय अपने स्वरूपको नही जानता किन्तु वह

---

1 —मध्यमभेद म० २ । २. रका – म० २ । ३. पृथक्त्वमपोद्धारव्यवहारकारणम् ।" —प्रश० भा० पृ० ५९ । ४ परत्वमपरत्व च परापराभिधानप्रत्ययनिमित्तम् । तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृत च ।"—प्रश० भा० पृ० ६६ । ५ द्वितीयम –म० २ । ६. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः ।" —प्रश० भा० पृ० [illegible] । ७. "अविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा।"—प्रश० भा० पृ० ८४।

चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। [1]विद्यापि चतुर्विधा–प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रमाणाधिकारे व्याख्यास्येते। अतीतविषया स्मृतिः[2]। सा च गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्। ऋषीणां व्यासादीनामतीतादिष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु यत्प्रातिभं तदार्षम्[3]। तच्च प्रस्तारेणर्षीणां, कदाचिदेव तु लौकिकानां, यथा कन्यका ब्रवीति 'श्वो मे भ्राता (आ) गन्तेति हृदयं मे कथयति' इति। आर्षं च प्रत्यक्षविशेषः।

§ ४७९. अनुग्रहलक्षणं सुखम्[4]। आत्मन उपघातस्वभावं [5]दुःखं, [6]तच्चामर्षदुःखानुभवविच्छायताहेतुः। स्वार्थं परार्थं चाप्राप्तप्रार्थनमिच्छा[7]। तस्याश्च कामोऽभिलाषो रागः संकल्पः कारुण्यं वैराग्यं वञ्चनेच्छा [8]गूढभाव इत्यादयो भेदाः।

§ ४८०. कर्तुः फलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवान्

ज्ञानान्तर-अनुव्यवसायके द्वारा गृहीत होता है। बुद्धि दो प्रकारकी है—१ विद्या, २ अविद्या। संशय विपर्यय अनध्यवसाय और स्वप्नके भेदसे अविद्या चार प्रकारकी है। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक-अनुमान, स्मृति और आर्षरूपसे विद्याके भी चार ही भेद हैं। प्रमाणकी चर्चामें प्रत्यक्ष और अनुमानका निरूपण करेंगे। अतीत पदार्थको जाननेवाली स्मृति होती है। यह अनुभवके द्वारा गृहीत पदार्थको जाननेके कारण गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण नहीं है। व्यास आदि महर्षियोंको अतीत अनागत आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका तथा परमसूक्ष्म पुण्य पाप आदिका जो प्रतिभासे ही इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही स्पष्ट ज्ञान होता है उसे आर्षज्ञान कहते हैं। यह प्रातिभज्ञान प्रायः ऋषियोंको ही होता है। कभी साधारण लोगोंको भी होता है। जैसे कोई कन्या एकाएक कहे कि 'कल हमारा भाई आयगा, मेरा हृदय कहता है कि वह अवश्य आयगा।' आर्षज्ञान प्रत्यक्षरूप ही है।

§ ४७९. अनुग्रह-अनुकूल अनुभवको सुख कहते हैं। जिससे आत्माको आघात हो ऐसा लगे वह दुःख है। यह दुःख क्रोध असहिष्णुता दुःखानुभव मनमलीनता तथा निस्तेजपन आदिमें कारण होता है। अपने लिए या दूसरेके लिए अप्राप्त पदार्थके प्राप्त होनेकी चाहको इच्छा कहते है। काम अभिलाष राग संकल्प कारुण्य वैराग्य ठगनेकी इच्छा गूढ भाव आदि इच्छाके ही नाना रूप हैं।

§ ४८०. कर्ताको क्रियेका फल देनेवाला, आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला परोक्ष, पुण्य और पाप रूपसे विभक्त, तथा अपना फल देकर नष्ट होनेवाला—अपने कार्यभूत

१. "विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।" —प्रश० भा० पृ० ९९। २ 'लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति।" —प्रश० भा० पृ० १२८। ३. 'आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते।' —प्रश० भा० पृ० १२९। ४ 'अनुग्रहलक्षणं सुखम्।' —प्रश० भा० पृ० १३०। ५ "उपघातलक्षणं दुःखम्।' —प्रश० भा० पृ० १३१। ६ [illegible] – [illegible]। ७ स्वार्थं परार्थं चाप्राप्तप्रार्थनमिच्छा। 'मैथुनेच्छा कामः। अभ्यवहारेच्छाभिलाषः। पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः। अनासन्नक्रियेच्छा संकल्पः। स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्। दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्। परवञ्चनेच्छा उपधा। अन्तर्निगूढेच्छा भावः।' —प्रश० भा० पृ० १३१। ८ [illegible]।

परोक्षोऽदृष्टाख्यो गुणः। [1]तत्र धर्मः [2]पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञान-विरोधी, अन्त्यस्यैव सुखस्य सम्यग्विज्ञानेन धर्मो नाश्यते, अन्त्यसुखकालं यावत् धर्मस्यावस्थानात्। स च पुरुषान्तःकरणसंयोगविशुद्धाभिसंधिजो वर्णाश्रमिणां प्रतिनियतसाधननिमित्तः, साधनानि तु श्रुतिस्मृतिविहितानि सामान्यतोऽहिंसादीनि, विशेषतस्तु ब्राह्मणादीनां पृथक्पृथग्यजनाध्ययनादीनि ज्ञातव्यानि।

§ ४८१. अधर्मोऽप्यात्मगुणः[3] कर्तुरहितः प्रत्यवायहेतुरतीन्द्रियोऽन्त्यदुःखसंविज्ञानविरोधी।

§ ४८२. प्रयत्न[4] उत्साहः, स च सुप्तावस्थायां प्राणापानप्रेरकः[5] प्रबोधकालेऽन्तःकरणस्येन्द्रियान्तरप्राप्तिहेतुर्हिताहितप्राप्तिपरिहारोद्यमः शरीरविधारकश्च।

§ ४८३. [6]संस्कारो द्वेधा, भावना स्थितिस्थापकश्च। भावनाख्य आत्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च दृष्टानुभूतश्रुतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानकार्योन्नीयमानसद्भावः। स्थितिस्थापकस्तु मूर्तिमद्द्रव्यगुणः स च घनावयवसंनिवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थितमपि प्रयत्नतः

सुख-दुःखादि फलसे हो जिसका विनाश होना है आत्माका गुण अदृष्ट कहलाता है।[1] अदृष्ट दो प्रकारका है एक धर्म और दूसरा अधर्म। धर्म पुरुषका गुण है, कर्ताके प्रिय हित तथा मोक्षमे कारण होता है, अतीन्द्रिय है, अन्तिम सुखका यथार्थ विज्ञान होनेसे इसका नाश होता है, जब तक तत्त्वज्ञानकी पूर्णता नही होती तब तक धर्मका कार्य सुख बराबर चालू रहता है, तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी प्रारब्धकर्मोके फलरूप अन्तिमसुख तक बराबर धर्म ठहरता है। अन्तिमसुखको उत्पन्न करनेके बाद धर्मका तत्त्वज्ञानसे नाश हो जाता है। यह पुरुष और अन्तःकरणके संयोगसे विशुद्ध विचारोके द्वारा वर्णाश्रमधर्मका श्रुतिस्मृति विहित मार्गसे पालन करनेपर उत्पन्न होता है। इसके साधन सामान्यरूपसे तो श्रुति और स्मृतियोमे बताये गये अहिसा आदि हैं और विशेपरूपसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदिके पूजन अध्ययन शस्त्रधारण आदि भिन्न-भिन्न आचार है।

§ ४८१ अधर्म भी आत्माका गुण है, कर्ताको अहित रूप है तथा विघ्न एवं आपत्तियोमे कारण होता है, अतीन्द्रिय है और अन्तिम दुःखके सम्यग्ज्ञानसे नष्ट होनेवाला है। तत्त्वज्ञानके बाद प्रारब्धकर्मके फलस्वरूप अन्तिम दुःखको उत्पन्न करके तत्त्वज्ञानके द्वारा अधर्मका नाश हो जाता है।

§ ४८२ प्रयत्न—उत्साह कार्य करनेका उद्यम। यह सोते समय श्वासोच्छ्वास लिवाता है, जागते समय अन्तःकरणको भिन्न-भिन्न इन्द्रियोसे सयोग कराता है, हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहारके लिए उद्यम कराता है तथा शरीरको धारण करनेमे सहायक होता है।

§ ४८३ सस्कार—असर दो प्रकारका है—१ भावना, २ स्थितिस्थापक। अनुभव आदि ज्ञानोसे उत्पन्न होनेवाला तथा स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानोको उत्पन्न करनेवाला भावना नामक सस्कार है। देखे गये सुने गये तथा जाने गये पदार्थोके स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिसे इस सस्कारका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस सस्कारके विना स्मरण आदि नही हो सकते। स्थिति-स्थापक सस्कार मूर्तिमान् पदार्थोका गुण है। जिसके कारण घने अवयव वाली स्थायी वस्तुको दूसरी तरह रखने पर भी फिर जैसीकी तैसी हो जाती है वह जैसी वस्तु स्थित थी उसी तरह

---

१ गुण धर्म म० २। २ "धर्म पुरुषगुण ..." —प्रश० भा० पृ० १२८। ३. "अधर्मोऽप्यात्मगुण ..."—प्रश० भा० पृ० १४३। ४. "प्रयत्न संरम्भ उत्साह इति पर्याया। स द्विविधो—जीवनपूर्वक इच्छाद्वेषपूर्वकश्च।"—प्रश० भा० पृ० १२२। ५. न प्रेरक म० २। ६. "संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च।" —प्रश० भा० पृ० १२६।

पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति स्थितिस्थापक उच्यते। दृश्यते तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थानं संस्कारवशात्। एवं धनुःशाखाशृङ्गदन्तादिषु [1]भुग्नापवर्तितेषु च वस्त्रादिषु तस्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यते।

§ ४८४. प्रज्वलनात्मको द्वेषः[2] यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते। द्रोहः क्रोधो मन्युरक्षमामर्ष इति द्वेषभेदाः।

§ ४८५. स्नेहोऽपां[3] विशेषगुणः संग्रहमृद्वादिहेतुः। अस्यापि गुरुत्ववत् नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः।

§ ४८६. गुरुत्वं[4] जलभूम्योः पतनकर्मकारणमप्रत्यक्षम्। तस्याबादिपरमाणुरूपादिवत् नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः।

§ ४८७. [5]द्रवत्वं [6]स्यन्दनकर्मकारणं त्रिद्रव्यवृत्तिः। तद्द्वेधा–सहजं नैमित्तिकं च। सहजमपां द्रवत्वम्। नैमित्तिकं तु पृथिवीतेजसोरग्निसंयोगजं यथा सर्पिषः सुवर्णत्रप्वादेश्चाग्निसंयोगाद्द्रवत्वमुत्पद्यते।

वस्तुका स्थापन करानेवाला सस्कार स्थितिस्थापक है। जैसे बहुत दिनो तक लपेट कर रखे हुए ताडपत्र आदिको फैला कर छोडने पर सस्कारके कारण वे फिर जैसेके तैसे लिपट जाते हैं। धनुषको खीचकर छोड़ने पर वह जैसा का तैसा इसी सस्कारके कारण हो जाता है। वृक्षकी डाली को नीचेसे पकड़कर हिलाकर छोड दीजिए, वह इसी सस्कारके कारण जहाँकी तहाँ स्थित हो जायगी। सीग या दाँतको हिलाकर छोड दीजिए वह जहाँका तहाँ जम जायगा। लिपटे हुए कपडेको उकेलकर छोड दीजिए इस सस्कारमे वैसा ही फिर लिपट जायगा। इन उदाहरणोमे स्थितिस्थापक संस्कारका कार्य साफ-साफ दिखाई देता है।

§ ४८४ द्वेष प्रज्वलनात्मक होता है। द्वेपके कारण आत्मा क्रोधसे तमतमा उठती है—भीतर ही भीतर जलने लगती है। द्रोह क्रोध अहंकार अक्षमा असहिष्णुता आदि द्वेपके ही रूपान्तर हैं।

§ ४८५ स्नेह—चिकनाई, जलका विशेप गुण है। यह आटे आदिकी पिण्डी बनानेमे तथा पदार्थोको माँजनेमे उन्हे स्वच्छ करनेमे कारण होता है। यह गुरुत्वकी तरह नित्य भी है तथा अनित्य भी है। परमाणुओके स्नेह नित्य है तथा कार्यद्रव्योका अनित्य।

§ ४८६ गुरुत्व—भारीपन जल और पृथिवीको नीचे गिरनेमे कारण होता है। यह अतीन्द्रिय होता है। जिस तरह जल आदि परमाणुओके रूपादि नित्य तथा कार्यद्रव्य अनित्य हैं उसी तरह गुरुत्व भी परमाणुगत नित्य है तथा कार्य द्रव्यगत अनित्य है।

§ ४८७ स्यन्दन—चूने या बहनेमे कारण भूत गुण द्रवत्व है। यह पृथिवी जल और अग्नि तीन द्रव्योमे रहता है। द्रवत्व दो प्रकारका है—एक तो सहज—स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। जलमे स्वाभाविक द्रवत्व है। पृथिवी और तेजमे अग्निके सयोगमे द्रवत्व उत्पन्न होता है। घी सोना लाख सीसा आदि अग्निके सयोगसे पिघलकर बहने लगते हैं। उनमे नैमित्तिक द्रवत्व है।

---

१ भुग्ना (भुक्ता) प—आ०। २ "प्रज्वलनात्मको द्वेषः।"—प्रश० भा० पृ० १३३। ३ "स्नेहोऽपां विशेषगुणः।"—प्रश० भा० पृ० १३५। ४ "गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्।" —प्रश० भा० पृ० १३३। ५ "द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्।" —प्रश० भा० पृ० १३४। ६ स्पन्दन – म० २।

§ ४८८. वेगः[1] पृथिव्यप्तेजोवायुमनःसु[2] मूर्तिमद्द्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते, नियतदिक्क्रियाकार्यप्रबन्धहेतुः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविरोधी च। तत्र शरीरादिप्रयत्नाविर्भूतकर्मोत्पन्नवेगवशादिषोरपान्तरालेऽपातः, स च नियतदिक्क्रियाकार्यसंबन्धोन्नीयमानसद्भावः। लोष्टाद्यभिघातोत्पन्नकर्मोत्पाद्यस्तु शाखादौ वेगः।

§ ४८९. केचित्तु[3] संस्कारस्य त्रिविधस्य भेदतया वेगं प्राहुः। तन्मते चतुर्विंशतिरेव गुणाः। [4]शौर्यौदार्यकारुण्यदाक्षिण्यौन्नत्यादीनां च गुणानामेष्वेव प्रयत्नबुद्ध्यादिषु गुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम्।

§ ४९०. स्पर्शादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसंबन्धो द्रव्याश्रितत्वं निष्क्रियत्वमगुणत्वं च। तथा स्पर्शरसगन्धरूपपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहवेगा मूर्तगुणाः। बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाद्वेषशब्दा अमूर्तगुणाः। [5]संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयगुणा इत्यादि गुणविषयं विशेषस्वरूपं स्वयं [6]समवसेयम् ॥६३॥

§ ४९१. अथ कर्मव्याचिख्यासुराह—

[7]उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम्।
पञ्चविधं कर्मैतत्परापरे द्वे तु सामान्ये[8] ॥६४॥

---

§ ४८८. पृथिवी जल अग्नि वायु और मन रूप मूर्त द्रव्योमे प्रयत्न पूर्वक अभिघात—टक्कर लगानेसे क्रिया होती है और क्रियासे वेग उत्पन्न होता है। इसी वेगके कारण फेके गये पत्थर आदि निश्चित दिशामे ही जाते है इधर-उधर नही। यह वेग पदार्थोकी नियत दिशामे ही गति कराता है। किसी स्पर्शवाले पृथिवी आदि मूर्त पदार्थोसे टकरानेके कारण वेग रुककर नष्ट हो जाता है। शरीर आदिकी चेष्टासे उत्पन्न होनेवाली क्रियासे बाणमे क्रिया और वेग उत्पन्न होता है। इस वेगके कारण बाण बीचमे नही गिरकर सीधा लक्ष्य तक पहुँच जाता है। धनुषको खीचकर जब बाण छोडा जाता है तब वह वेगके कारण लक्ष्य तक जा पहुँचता है। इस तरह बाण आदिकी नियत दिशामे क्रिया होना ही वेगकी सत्ता सिद्ध कर देता है। पत्थर आदिकी चोटसे वृक्षोकी डालियोमे क्रिया होकर वेग उत्पन्न होता है।

§ ४८९ कोई आचार्य सस्कारके ही वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये तीन भेद करते है, वेगको स्वतन्त्र गुण नही मानते। इनके मतसे चौबीस ही गुण हैं। शूरता उदारता करुणा कुशलता उन्नति आदिका इन्ही प्रयत्न बुद्धि आदि गुणोमे अन्तर्भाव हो जाता है अत चौबीससे अधिक गुण नही है।

§ ४९० स्पर्श आदि सभी गुणोमे गुणत्वका समवाय है, ये सभी द्रव्याश्रित है, निष्क्रिय तथा निर्गुण है। स्पर्श रस गन्ध रूप परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह और वेग ये मूर्त द्रव्योके गुण है। बुद्धि सुख दु ख इच्छा धर्म अधर्म प्रयत्न भावना द्वेष और शब्द अमूर्त द्रव्योके गुण है। सख्या परिमाण पृथक्त्व सयोग और विभाग ये मूर्त और अमूर्त दोनो ही द्रव्योके खण्ड है। इस तरह गुणोका विशेष स्वरूप स्वय समझ लेना चाहिए ॥६३॥

§ ४९१. अब कर्मपदार्थका व्याख्यान करते है—

उत्प्रेक्षण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म है। परसामान्य और अपरसामान्यके भेदसे दो प्रकारके सामान्य है ॥६४॥

---

१. "वेगो मूर्तिमत्सु पञ्चसु ..." —प्रश० भा० पृ० १३६। २. मनोमूर्ति – म० २। ३ प्रशस्तपादभाष्यकारा।—प्रश० भा० पृ० १३६। ४. कारुण्यौन्नत्यादि – म० २। ५. परिणाम – म० २। ६ द्रष्टव्यम्—प्रश० भा० पृ० ३८–९३। ७ "उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।"—वैशे० सू० १।१।७। ८ "सामान्यं द्विविधम् परमपरञ्च।"—प्रश० भा० पृ० १६०।

§ ४९२. व्याख्या—उत्क्षेप –ऊर्ध्वं क्षेपणं मुशलादेरूर्ध्वं नयनमुत्क्षेपणं [1]कर्मेत्यर्थः। तद्विपरीतोऽवक्षेपोऽधोनयनमित्यर्थः। ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं कर्माकुञ्चनम्। स्वार्थे कप्रत्यय आकुञ्चनकम्। येन वक्रोऽवयव्यृजुः संपद्यते तत्कर्म प्रसारणम्। यदनियतदिग्देशैः संयोगविभागकारणं तद्गमनम्। अनियतग्रहणेन [2]भ्रमणपतनस्यन्दनरेचनादीनामपि गमन एवान्तर्भावो विभावनीयः। पञ्चविधमेव कर्म क्रियारूपमेतदनन्तरोक्तम्।

§ ४९३. अथ सामान्यमुच्यते। तुशब्दस्य व्यस्तसंबन्धात्सामान्ये तु द्वे परापरे—परमपरं च द्विविधं सामान्यमित्यर्थः ॥६४॥

§ ४९४. अथ परापरे व्याख्याति—

> तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
> निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥६५॥

§ ४९५. व्याख्या—तत्र-तयोः परापरयोर्मध्ये परं—सामान्यं सत्ताख्यम्[3]। इदं सदिदं सदित्यनुगताकारज्ञानकारणं सत्तासामान्यमित्यर्थः। तच्च त्रिषु द्रव्यगुणकर्मसु पदार्थेषु सत्सदित्यनु-[4]वृत्तिप्रत्ययस्यैव कारणत्वात्सामान्यमेवोच्यते, न तु विशेषः। अथापरमुच्यते 'द्रव्यत्वादि' द्रव्यत्वं

---

§ ४९२. उत्क्षेप—ऊपरकी ओर फेंकना। मूसल आदिको ऊपरकी ओर ले जानेवाली क्रिया उत्क्षेपण है। उत्क्षेपणसे उलटी अर्थात् नीचे पटकनेवाली क्रिया अवक्षेप—अवक्षेपण है। सीधी अँगुली आदिको टेढा करनेवाली क्रिया आकुचन—सिकोडना है। स्वार्थमे 'क' प्रत्यय होनेसे आकुचनको ही आकु चनक कहते है। जिस क्रियासे टेढी चीज—सिकुडी हुई वस्तु फिर सीधी हो जाय उसे प्रसारण—फैलाना कहते है। अनियत—जिस किसी भी दिशामे टेढे-मेढे तिरछे आदि रूपसे होनेवाली सभी क्रियाएँ गमन है। उत्क्षेपणमे ऊपरके आकाश प्रदेशो से संयोग तथा नीचेके आकाश प्रदेशोसे विभाग होता है। अवक्षेपणमे ऊपरी प्रदेशोसे विभाग तथा नीचेके प्रदेशोसे सयोग होता है। आकुचनमे वस्तुके मूल प्रारम्भके अपने ही प्रदेशोसे संयोग होकर अन्य आकाश प्रदेशोसे विभाग होता है। प्रसारणमे मूल प्रदेशोसे विभाग हो कर अन्य अग्रभागके आकाश प्रदेशोसे सयोग होता है। गमनमे अनियत दिशावादी सभी तरफके आकाश प्रदेशोसे सयोग विभाग होते हैं। गमनके लक्षणमे 'अनियत' शब्द होनेसे भ्रमण, पतन, स्यन्दन, चूंना, रेचन—झरना आदि विविध क्रियाओका गमनमे ही अन्तर्भाव हो जाता है। यह पाँच प्रकारका कर्म क्रिया रूप है।

§ ४९३. 'तु' शब्दका सम्बन्ध 'सामान्य' शब्दसे करना चाहिए। अर्थात्—सामान्य तो पर और ऊपरके भेदसे दो प्रकारका है ॥६४॥

§ ४९४ अब पर और अपर सामान्यका निरूपण करते हैं—

उनमे सत्ता तो परसामान्य है तथा द्रव्यत्व गुणत्व आदि अपर परमार्थ दृष्टिसे नित्य द्रव्यमे रहनेवाले अन्त्य विशेष हैं ॥६५॥

§ ४९५ पर और अपर सामान्यमे सत्ता परसामान्यरूप है। सत्ता 'यह सत् है यह सत् है' इस सद्रूपसे अनुगतज्ञानकी उत्पत्तिमे कारण होता है। द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थोमे 'सत् सत्' इस सदाकार अनुगतका ही कारण होनेसे सत्ता केवल सामान्यरूप ही है न कि विशेषरूप भी। द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि अपरसामान्य हैं। द्रव्यत्व पृथिवी आदि नौ ही द्रव्योमे

१—प्रश० भा० पृ० १८८। २ –स्पन्दन म० २। ३ "तत्र सत्तासामान्यं परमनुवृत्तिप्रत्ययकारणमेव।" —प्रश० भा० पृ० १६७। ४ वृत्तिप्रयोगस्यैव म० १, म० २, प० १, प० २।

गुणत्वं कर्मत्वं चापरं [1]सामान्यम्, तत्र नवसु द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यमिति बुद्धिहेतुर्द्रव्यत्वम् । एवं गुणेषु गुणत्वबुद्धिविधायि गुणत्वं, कर्मसु च कर्मत्वबुद्धिकारणं कर्मत्वम् । तच्च द्रव्यत्वादिकं स्वाश्रयेषु द्रव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात्सामान्यमप्युच्यते, स्वाश्रयस्य च विजातीयेभ्यो गुणादिभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुतया विशेषोऽप्युच्यते । ततोऽपरं सामान्यमुभयरूपत्वात्सामान्यविशेषसंज्ञां लभते । अपेक्षाभेदादेकस्यापि सामान्यविशेषभावो न विरुध्यते । एवं पृथिवीत्वस्पर्शत्वोत्क्षेपणत्वगोत्वघटत्वादीनामप्यनुवृत्तिव्यावृत्ति[2]हेतुत्वात्सामान्यविशेषभावः सिद्ध इति । अत्र सत्तायोगात्सत्त्वं यदिष्यते तद्द्रव्यगुणकर्मस्वेव न पुनराकाशादिषु, आकाशकालदिक्षु हि वस्तुस्वरूपमेवास्तित्वं[3] स्वीक्रियते व्यक्त्यैक्यादिकारणैः । तथा चोदयनः—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति. ।
रूपहानिरसबन्धो जातिबाधकसग्रह ॥१॥" [प्रश० किरणा० पृ० ३३]

§ ४९६. अस्य व्याख्या—**व्यक्तेरभेद** [1]एकमनेकवर्ति सामान्यम् । आकाशे व्यक्तेरभेदान्न जातित्वम् । पृथिवीत्वे जातौ यदि भूमित्वमुच्यते, तदा तुल्यत्वम्[4] । परमाणुषु जातित्वेऽङ्गीकृते[6] पार्थिवाप्यतैजसवायवीयत्वयोगात्सङ्करः । सामान्ये यदि सामान्यमङ्गीक्रियते, तदा मूलक्षि(क्ष)ति-

'द्रव्य द्रव्य' इस अनुगत बुद्धिमे कारण होता है। गुणत्वसे स्पर्श आदि गुणोमे 'गुण गुण' यह अनुगताकार बुद्धि होती है। कर्मत्व उत्क्षेपणादि कर्मोमे 'कर्म कर्म' इस अनुगत बुद्धिमे कारण होता है। द्रव्यत्व आदि अपने आधारभूत द्रव्य आदिमे अनुगत प्रत्यय करानेके कारण सामान्य रूप होकर भी उनकी विजातीय गुण आदिसे व्यावृत्ति भी कराते है अतः ये विशेष भी कहलाते है। अपरसामान्य सामान्य और विशेष दोनो रूप होनेके कारण 'सामान्यविशेष' भी कहलाता है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओसे एक ही सामान्यमे सामान्यरूपता तथा विशेषरूपता दोनो ही धर्म निर्विरोध सिद्ध हो जाते है। इसी तरह पृथिवीत्व स्पर्शत्व उत्क्षेपणत्व गोत्व घटत्व आदि भी स्वव्यक्तियोमे अनुगतप्रत्यय तथा विजातीय व्यक्तियोसे व्यावृत्त प्रत्यय करानेके कारण अपरसामान्य या सामान्यविशेष है। द्रव्य गुण और कर्म तीन ही पदार्थ सत्ताके समवायसे सत् माने जाते है। आकाश आदिमे जाति नही मानते, आकाश काल और दिशामे स्वरूपात्मक अस्तित्व रहता है क्योकि आकाश आदि एक एक ही व्यक्तियाँ हैं। उदयनाचार्यने निम्नलिखित कारण जातिके बाधक बताये है—'व्यक्तिका एक—अकेला होना, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असम्बन्ध ये जातिके बाधक कारण है।"

§ ४९६ व्याख्या—व्यक्तिका अकेलापन जातिमे बाधक है; क्योकि सामान्य तो अनेक व्यक्तियोमे रहता है। आकाश काल आदि एक एक हैं अतः इनमे आकाशत्व कालत्व आदि जातियाँ नही रहती। पृथिवीमे पृथिवीत्व और भूमित्व नामकी समानार्थक दो जातियाँ नही रहती; क्योकि—दोनोकी व्यक्तियाँ तुल्य हैं तथा वे दोनो समानार्थक हैं। अत पृथिवीत्वसे तुल्यता होनेके कारण भूमित्व अतिरिक्त जाति नही है। एक दूसरेके अत्यन्ताभावमे पायी जानेवाली जातियोका एक स्थानपर समावेश होना सकर है जैसे घटमे परमाणुत्वका अत्यन्ताभाव है, इसमें पृथिवीत्व जाति पायी जाती है। जलपरमाणुओमे पृथिवीत्वका अत्यन्ताभाव है इसमे परमाणुत्व पाया जाता है। परन्तु पार्थिव परमाणुओमे परमाणुत्व और पृथिवीत्व दोनोका समावेश है अतः सकर दोप

१ "अपर द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात्सामान्य विशेषश्च भवति। प्रश० भा० पृ० १६५। २ वृत्तिहेतु – भ० १, भ० २, प० १, प० २, क०। ३ -त्वमङ्गीक्रियते भ० २। ४ -त्वमिति सा – भ० २। ५. 'तुल्यत्वम् तुल्यत्वात् न जातित्वम्' इत्यधिकम् क्वचित् आ० टि०। ६. -ङ्गीक्रियमाणे वा – भ० २।

कारिणी अनवस्थितिः। विशेषेषु यदि सामान्यं स्वीक्रियते, तदा विशेषस्य रूपहानिः। यदि समवाये जातित्वमङ्गीक्रियते, तदा संबन्धाभावः। केन हि संबन्धेन तत्र सत्ता संबध्यते। समवायान्तराभावादिति।

§ ४९७. परे पुनः प्राहुः—सामान्यं त्रिविधं, महासामान्यं सत्तासामान्यं सामान्यविशेषसामान्यं च। तत्र महासामान्यं षट्स्वपि पदार्थेषु पदार्थत्वबुद्धिकारि। सत्तासामान्यं त्रिपदार्थसद्बुद्धिविधायि। सामान्यविशेषसामान्यं तु[1] द्रव्यत्वादि। अन्ये त्वाचक्षते त्रिपदार्थसत्कारी सत्ता, सामान्यं द्रव्यत्वादि, सामान्य-विशेषः पृथिवीत्वादिरिति। लक्षणभेदादेतेषां सत्तादीनां द्रव्यगुणकर्मभ्यः[2] पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्।

§ ४९८. 'अथ' इत्यानन्तर्ये। विशेषस्तु निश्चयतः—तत्त्ववृत्तित एव विनिर्दिष्टः, न पुनर्घटपटकटादिरिव व्यवहारतो विशेषः। तुशब्दोऽनन्तरोक्तसामान्यादस्यात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वेन भृशं वैलक्षण्यं सूचयति। यत एव निश्चयतो विशेषः[3], तत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यः' इति। तत्र नित्य-

---

होनेसे परमाणुत्व जाति नही मानी जाती। परमाणुत्वको जाति माननेसे उसका पृथिवीत्व जलत्व अग्नित्व और वायुत्व इन सभीसे साकर्य होता है, अत परमाणुत्व एक धर्मविशेष है न कि जाति। जातिमे जाति माननेसे अनवस्था दूषण आता है। यह अनवस्था मूलतः सामान्यपदार्थका ही लोप कर देगी। विशेष पदार्थमे यदि जाति मानी जाय, तो विशेष पदार्थका 'स्वतः व्यावर्तक होना' यह स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। क्योकि जिन पदार्थो मे जाति रहती है वे जातिके द्वारा ही अन्य पदार्थो से व्यावृत्त होते है, स्वत नही। यदि विशेषमे भी जाति मानी जायगी तो यह भी स्वत व्यावृत्त नही हो सकेगा किन्तु जातिके द्वारा व्यावृत्त होगा। अत 'स्वत व्यावर्तकत्व' रूप स्वरूपकी हानि होनेसे विशेषपदार्थमे जाति नही मानी जाती। समवायमे जाति माननेमे सम्बन्धाभाव नामक दूषण आता है। सत्ता अन्य पदार्थो मे समवाय सम्बन्धसे रहती है। समवाय तो एक ही है, तब सत्ता किस सम्बन्धसे समवायमे रहेगी? इस तरह द्रव्यादि तीन पदार्थो मे ही सत्ता समवाय सम्बन्धसे रहती है। बाकी सामान्य आदि पदार्थ स्वरूपसत् है।

§ ४९७ कोई आचार्य तीन प्रकारका सामान्य मानते है—१ महासामान्य, २ सत्तासामान्य, ३ सामान्यविशेषसामान्य। महासामान्य छहो पदार्थोमे रहता है तथा उनमे 'पदार्थ पदार्थ' इस पदार्थत्व बुद्धिको उत्पन्न करता है। सत्तासामान्य 'द्रव्य गुण और कर्म' इन तीन पदार्थोमे सत् सत्' बुद्धि उत्पन्न करता है। द्रव्यत्व आदि अपरसामान्य सामान्यविशेष है ये प्रतिनियत द्रव्य आदिमे 'द्रव्य द्रव्य' आदि अनुगत बुद्धि करते है। किन्ही आचार्योका मत है कि—सत्ता 'द्रव्य गुण कर्म' इन तीन पदार्थो मे 'सत् सत्' बुद्धि करती है अत यह सत्तारूप महासामान्य है। द्रव्यत्व आदि सामान्य रूप है तथा पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष रूप है। द्रव्य गुण और कर्मसे सत्ता आदिके लक्षण भिन्न है अत ये द्रव्य आदिसे भिन्न है, स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

§ ४९८. 'अथ'—'इसके बाद'। विशेष पदार्थ निश्चयत—तात्त्विक दृष्टिसे ही कहा गया न कि घट, पट, चटाई आदिकी तरह व्यावहारिक दृष्टिसे। 'तु' शब्दसे सूचित होता है कि यह विशेष पदार्थ अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि करानेके कारण सामान्य पदार्थसे अत्यन्त विलक्षण है। जिस कारणसे विशेषका निरूपण तात्त्विक दृष्टिसे किया जा रहा है उसी कारणसे वह नित्य द्रव्यमे रहने वाला तथा अन्त्य है। जिनका न तो कभी उत्पाद ही होता है और न विनाश ही, उन सदा उत्पाद विनाश रहित परमाणु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनमे इस विशेष पदार्थकी वृत्ति—निवास

---

१. सामान्यं तु म० २। २ –भ्यः अनदार्थान्तर म० १ म० २। ३ 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव।" —प्रश० भा० पृ० ४।

द्रव्येषु विनाशारम्भरहितेष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु वृत्तिर्वर्तनं यस्य स नित्यद्रव्यवृत्तिः । तथा परमाणूनां जगद्विनाशारम्भकोटिभूतत्वात् मुक्तात्मनां मुक्तमनसां च संसारपर्यन्तरूपत्वादन्तत्वम्, अन्तेषु भवोऽन्त्यो विशेषो विनिर्दिष्टः—प्रोक्तः, अन्तेषु स्थितस्य विशेषस्य स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात्। वृत्तिस्तु तस्य सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यत एव । अत एव नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्य इत्युभयपदोपादानम् । विशेषश्च द्रव्यं द्रव्यं प्रत्येकैक एव वर्तते नानेकः, एकेनैव विशेषेण स्वाश्रयस्य व्यावृत्तिसिद्धेरनेकविशेषकल्पनावैयर्थ्यात् । सर्वनित्यद्रव्याण्याश्रित्य पुनर्विशेषाणां बहुत्वेऽपि जातावत्रैकवचनम् । तथा च प्रशस्तकरः—

§ ४९९. "अन्तेषु भवा अन्त्या', स्वाश्रयस्य [1]विशेषकत्वात् विशेषा, विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममन.सु प्रतिद्रव्यमेकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतव', यथास्मदादीना गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावय[2]वसयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा, यथा गौः शुक्लः, शीघ्रगतिः [3]पीनककुद्मान्, [4]महाघण्ट इति । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु[5] परमाणुषु मुक्तात्ममन सु चान्यनिमित्तासंभवाद्येभ्यो निमित्तेभ्य' प्रत्याधारं विलक्ष-

है । अन्त—आखिरी चोजोमे रहनेवाला अन्त्य कहलाता है । संसारका प्रलय होनेपर तथा ससारकी शुरूआतमें परमाणु ही परमाणु पाये जाते है अतः इनको 'अन्त' कहते है। इसी तरह मुक्त जीवोंकी आत्माएँ तथा मुक्त जीवोके मन भी संसारका अन्त कर चुके है अतः ये भी 'अन्त' कहे जाते है । इन सभी अन्त—आखिरी चीजो मे विशेष पदार्थ व्यावृत्त बुद्धि कराता है, इनमे उसका रहना है अतः यह 'अन्त्य' कहा जाता है । इन अन्त—आखिरी अवस्थामे मिलनेवाले परमाणु आदिमे विशेष पदार्थका कार्य साफ-साफ मालूम होता है; क्योंकि ये सभी परमाणु आदि तुल्यगुण, तुल्य क्रिया तथा तुल्य आकृति आदि वाले हैं, अत' इनमे अन्य निमित्तोसे व्यावृत्त बुद्धि तो हो ही नही सकती । इसलिए इनमे विशेषपदार्थ ही व्यावृत्त वुद्धि कराता है और योगियोको वह इनमे साफ साफ दिखाई देता है । यह विशेष पदार्थ सभी परमाणु आदि नित्य द्रव्योमे रहता है पर 'अन्त'—आखिरी पदार्थोमे इसका स्फुटतर प्रतिभास होता है अतः 'नित्यद्रव्यवृत्ति और अन्त्य' दोनो विशेषण दिये गये है । प्रत्येक नित्य द्रव्यमे एक-एक ही विशेष पदार्थ रहता है अनेक नही । जब इस एक ही विशेषसे उस नित्य द्रव्यकी अन्य पदार्थोसे व्यावृत्ति हो जाती है तब उसमे अनेक विशेष मानना निरर्थक ही है । इस तरह सभी नित्य द्रव्योमे एक-एक के हिसावसे कुल विशेष अनन्त है फिर साधारण रूपसे कथन करनेके लिए 'विशेष ' इस एकवचनका प्रयोग संग्रहकी अपेक्षा किया है ।

§ ४९९. प्रशस्तपाद भाष्यकारने कहा है कि—"विशेष अन्त—आखिरी वस्तुओमे रहनेके कारण अन्त्य है । अपने आश्रयभूत पदार्थकी अन्यसे व्यावृत्ति कराते हैं इसलिए विशेष—भेदक है । ये उत्पाद और विनाशसे रहित परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नित्यद्रव्योमे प्रत्येकमे एक-एक करके रहते हैं और अत्यन्त व्यावृत्त वुद्धि करानेमे कारण होते हैं । जिस तरह हम लोगोको गौ आदिमें अश्व आदिसे जाति, आकृति, गुण, क्रिया ,विशिष्ट अवयव, गलेमे घण्टी आदिके सयोग आदिसे विलक्षण वुद्धि होती है कि 'यह गौ है, सफेद है, जल्दी चलती है, इसके वडी कांधौर है, इसके गलेमे घण्टा वँधा है' उसी तरह हम लोगोंसे विशिष्ट ज्ञानवाले योगियोको समानआकृति, समानगुण तथा समानक्रिया वाले नित्य परमाणुओमे मुक्तात्माओं तथा मुक्तजीवोंके मनोमे अन्य जाति आदि व्यावर्तक निमित्तोका अभाव होनेसे जिनके कारण प्रत्येक परमाणु

१ -षकत्वात् म० २ । २. -यविसंयोगिनि- म० २ । यवसंयोगिनि- म० १. प० १, प० २ । ३ पीनककुद्- म० १ म० २ प० १, प० २ । ४ महाघण्ट म० २ । ५ -पु म- म० २ ।

णोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः।" [प्रश० भा० पृ० १६८] इति।

§ ५००. अन्ये तु 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः' इति सूत्रमेवं व्याचक्षते। नित्यद्रव्येष्वेव वृत्तिरेव येषामिति सावधारणं वाक्यमेतत्। नित्यद्रव्यवृत्तय इति पदमन्त्यपदस्य विवरणमेतत्, तथा चोक्तम्[2]—"नित्यद्रव्याण्युत्पत्तिविनाशयोरन्ते व्यवस्थितत्वादन्तशब्दवाच्यानि तेषु भवास्तद्वृत्तयो विशेषा अन्त्याः [ ] इत्याख्यायन्त[3] इति। अमी चात्यन्तव्यावृत्तिहेतवो द्रव्यादिभ्यो वैलक्षण्यात्पदार्थान्तरम् ॥६५॥

§ ५०१. अथ समवायं स्वरूपतो निरूपयति—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्।
संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स हि भवति समवायः[4] ॥६६॥

§ ५०२. व्याख्या—केचिद्धातुपारायणकृतो 'यु अमिश्रणे' इति पठन्ति, तत एवायुतसिद्धानामित्यादि वैशेषिकीयसूत्रे अयुतसिद्धानामपृथक्सिद्धानामिति व्याख्यातम्। तथा 'लोकेऽपि भेदाभिधायी युतशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते, द्वावपि भ्रातरावेतौ युतौ जातावित्यादि। ततोऽयमत्रार्थः। 'इह' वैशेषिकदर्शने 'अयुतसिद्धानाम्' अपृथक्सिद्धानां, तन्तुषु समवेतपटवत् पृथगाश्रयानाश्रिता-

---

आदिमें 'यह विलक्षण है यह विलक्षण है' यह विलक्षण बुद्धि होती है उन्हे अन्त्य विशेष कहते हैं। इसी विशेष पदार्थके कारण पहले देखे गये परमाणुमे देशान्तर तथा कालान्तरमे 'यह वही परमाणु है' यह प्रत्यभिज्ञान भी निर्बाध रूपसे होता है।

§ ५००. कोई व्याख्याकार "नित्यद्रव्यमे रहनेवाले अन्त्य विशेष हैं, इस सूत्रमे 'नित्यद्रव्यवृत्तय.' को अन्त्यपदका विवरण मानकर ऐसा व्याख्यान करते हैं—" नित्यद्रव्यमे ही इन विशेषोकी वृत्ति हो है, इस तरह 'नित्यद्रव्यवृत्तय.' पद उभयत. अवधारणात्मक—निश्चयात्मक है। 'नित्यद्रव्यवृत्तय.' पद अन्त्यपदका विवरण—खुलासा अर्थ बताता है। कहा भी है—नित्यद्रव्य उत्पाद और विनाशसे परे हैं अतः इन्हे 'अन्त' कहते हैं। 'अन्त'मे रहनेवाले अर्थात् नित्यद्रव्यमे रहनेवाले विशेष पदार्थ 'अन्त्य' भी कहे जाते हैं।" ये विशेष पदार्थ अत्यन्त व्यावृत्त बुद्धि करानेके कारण द्रव्यादिपदार्थोंसे विलक्षण हैं. स्वतन्त्र पदार्थ हैं ॥६५॥

§ ५०१ अब समवायके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अयुतसिद्ध और आधाराधेयभूत पदार्थोंके 'यह इसमे है' इन इहेद प्रत्ययमे कारणभूत सम्बन्ध समवाय कहलाता है ॥६६॥

§ ५०२. कोई धातुपाठी 'यु' धातुका अमिश्रण अर्थमे भी पाठ करते हैं। इसीलिए वैशेषिक सूत्रके 'अयुतसिद्धानाम्' पदका व्याख्याकारोने 'अपृथक् सिद्ध' अर्थ किया है। लोक व्यवहारमे भी युतशब्दका फलित अर्थ भेद ही होता है। जैसे 'ये दोनो भाई युत—इकट्ठे उत्पन्न हुए हैं' इसका अर्थ ही है कि दोनोकी सत्ता पृथक्-पृथक् हैं दोनो भिन्न-भिन्न हैं। युत—संयुक्त तो दो भिन्न सत्तावाले ही पदार्थ हो सकते हैं एकमे तो सयुक्त या युत व्यवहार नही देखा जाता। इसलिए अयुत

---

१. -णोऽयमिति म० २, क०। २ "उत्पादविनाशयोरन्ते व्यवस्थितत्वात् नित्यद्रव्याणि [illegible] भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृत्।"—वैशे० उप० १।२।६। ३ -न्ते नित्यं द्रव्यवृत्तय इति [illegible] म० २। ४ 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः। [illegible] धर्मि [illegible] इव।'—प्रश० भा० पृ० ५।

नामिति यावत् आधाराश्चाधेयाश्च आधाराधेया ते भवन्ति स्म । 'आधाराधेयभूताः' ते च ते भावाश्चार्थाः तेषां यः 'संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः' इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं 'स हि' स एव 'भवति समवायः' संबन्धः । यतो हीह तन्तुषु पटः, इह पटद्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वं, इह गुणे गुणत्वं, इह कर्मणि कर्मत्वं, इह द्रव्येष्वन्त्या विशेषा इत्यादि विशेषप्रत्यय उत्पद्यते, स पञ्चभ्यः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं समवाय इत्यर्थः । स चैको विभुर्नित्यश्च विज्ञेयः ॥६६॥

§ ५०३. तदेवं षट्पदार्थस्वरूपं प्ररूपितम् । संप्रति प्रमाणस्य सामान्यतो लक्षणमाख्यायते । अर्थोपलब्धिहेतुः [1]प्रमाणमिति । अस्यायमर्थः—अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका [2]सामग्री तदेकदेशो वा[3] बोधरूपोऽबोधरूपो वा ज्ञानप्रदीपादिः साधकतमत्वात्प्रमाणम् । एतत्कार्यभूता[4] वा यथोक्तविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिः प्रमाणस्य सामान्यलक्षणं, तथा स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् । इन्द्रियजत्वलिङ्ग[5]जत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति ।

यह अर्थ हुआ कि—वैशेषिक दर्शनमे अयुतसिद्ध—अपृथक्सिद्ध—जिन पदार्थोंकी भिन्न-भिन्न स्थिति नही है, जो तन्तु और पटकी तरह अभिन्न आश्रयमे ही रहते है भिन्न-भिन्न आधारोंमें नहीं रहते उन आधार-आधेयभूत पदार्थो मे 'इन तन्तुओमें कपड़ा है' इत्यादि प्रत्ययका जो सम्बन्ध असाधारण कारण होता है उसे समवाय कहते है। इस समवायसे ही 'इन तन्तुओमें कपड़ा है, इस पटमे गुण और क्रिया है, इन द्रव्य-गुण-कर्ममें सत्ता है, इस द्रव्यमें द्रव्यत्व है, इस गुणमें गुणत्व है, इस कर्मंमे कर्मत्व है, इन नित्य द्रव्योमें विशेष है' इत्यादि इहेद प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। अत' अवयव-अवयविभूत द्रव्योमें गुण और गुणीमे, क्रिया और क्रियावान्में, सामान्य और सामान्यवान्मे, विशेष और विशेषवान् पदार्थो मे रहनेवाला नित्य सम्बन्ध द्रव्यादि पांच पदार्थोसे पृथक् है। यह एक, नित्य तथा व्यापक है ॥६६॥

§ ५०३. इस तरह षट् पदार्थोके स्वरूपका निरूपण करके अब प्रमाणका सामान्य लक्षण कहते है। अर्थोपलब्धिमे जो पदार्थ कारण होते है वे सभी प्रमाण है। अव्यभिचारी आदि विशेषणोंसे युक्त अर्थोपलब्धिको उत्पन्न करनेवाली ज्ञानरूप या अज्ञानरूप पूरी सामग्री या सामग्रीका एकदेश साधकतम होनेसे प्रमाण है। इस सामग्रीमें बोधरूप ज्ञान आदि तथा अचेतन दीपक आदि सभी शामिल है। पूरी सामग्री तथा उसका एक एक भी हिस्सा अर्थोपलब्धिमे साधकतम होनेसे प्रमाणभूत है। अथवा इस सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाली निर्दोष अर्थोपलब्धि ही प्रमाणका सामान्यलक्षण है। यह निर्दोष अर्थोपलब्धि अपनी कारणभूत सामग्रीको प्रमाणाभाससे व्यावृत्त कराती है। यही अर्थोपलब्धि जब इन्द्रियोसे उत्पन्न होती है तब प्रत्यक्ष कही जाती है तथा जब यह लिंगसे उत्पन्न होती है तब अनुमान कही जाती है। तात्पर्य यह कि सामान्य अर्थोपलब्धि ही इन्द्रियजत्व और लिंगजत्व विशेषणसे विशिष्ट होकर प्रत्यक्ष और अनुमानरूप प्रमाणविशेषका लक्षण हो जाती है।

---

१. "उपलब्धिहेतुश्च प्रमाण।" —न्यायभा० पृ० ९९। न्यायवा० पृ० ५। २. "अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" —न्यायमं० प्रमाण० पृ० १२। ३. [illegible] वा म० २, क०। ४. —ता यथोक्त — म० २। ५. —जत्वादिविशेषिता सै —प० १, प० २। —जत्वादिविशेषणविशिष्टा सै — म० १ म० २।

§ ५०४. अथ प्रमाणसंख्यां प्राह—

प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैष संक्षेपः परिकीर्तितः ॥६७॥

§ ५०५. व्याख्या—अमीषां-वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा-द्विविधम् । चः पुनरर्थे । कथमित्याह 'प्रत्यक्षं' । तथेति समुच्चये । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकं च तत्र प्रत्यक्षं द्वेधा, ऐन्द्रिय योगजं च । [1]ऐन्द्रियं-घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनःसंनिकर्षजमस्मदादीनां प्रत्यक्षम् । तद्द्वेधा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । तत्र वस्तुस्वरूपालोचनमात्रं निर्विकल्पकम् । तच्च[2] न सामान्यमात्रं गृह्णाति भेदस्यापि प्रतिभासनात्, नापि स्वलक्षणमात्रं सामान्याकारस्यापि संवेदनात्, व्यक्त्यन्तरदर्शने प्रतिसंधानाच्च, किं तु सामान्यं विशेषं चोभयमपि गृह्णाति, [3] परमिदं सामान्यमयं विशेष इत्येवं विविच्य न प्रत्येति, सामान्यविशेषसंबन्धिनोरनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मयोरग्रहणात् । सविकल्पकं तु सामान्यविशेषरूपतां विविच्य प्रत्येति, वस्त्वन्तरैः सममनुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मौ प्रतिपद्यमानस्यात्मन इन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः ।

---

§ ५०४. अब प्रमाणकी सख्या बताते है—

वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते है । इस तरह वैशेषिक मतका सक्षेपसे निरूपण हुआ ॥६७॥

§ ५०५. इन वैशेषिकोके यहाँ दो प्रकारके प्रमाण है । च = फिर । 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक है । प्रत्यक्ष तथा लिगसे उत्पन्न होनेवाला लैगिक-अनुमान ये दो प्रमाण है । प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१ इन्द्रियज २ योगज । हम लोगोको नाक, जीभ, आँख, कान, मन और स्पर्शन इन्द्रियोके सन्निकर्षसे होनेवाला इन्द्रिय प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—१ निर्विकल्पक २ सविकल्पक । वस्तुके स्वरूपका साधारणरूपसे आलोचन करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है । यह केवल सामान्य या मात्र विशेषको ही विषय नही करता । इसमे सामान्यकी तरह विशेष आकारका भी भान होता है । दूसरी व्यक्तिको देखकर 'यह उस जेसी है' इतर प्रत्यभिज्ञानसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्विकल्पकमे स्वलक्षण विशेषकी तरह सामान्य—साधारण धर्मोका भी प्रतिभास होता है । इस तरह निर्विकल्पकमे सामान्य और विशेष दोनोका भान होनेपर भी 'यह सामान्य है तथा यह विशेष है', 'यह इसके समान है तथा इससे विलक्षण है' इस तरह सामान्य और विशेषका पृथक्-पृथक् प्रतिभास नही होता । इसमे सामान्य और विशेष सम्बन्धो अनुगत धर्म तथा व्यावृत्तधर्मोका परिज्ञान नही होता । यही कारण है कि निर्विकल्पकमे 'यह बडा है' इत्यादि शब्दात्मक व्यवहार नही होते । सविकल्पक प्रत्यक्ष सामान्य और विशेषका पूरा-पूरा पृथक्करण करता है । 'यह उससे समान है यह उससे विलक्षण है' इस रूपमे अनुगत और व्यावृत्त धर्मोको जाननेवाले आत्माको इन्द्रियोसे सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है ।

---

१ "द्रव्ये तावद् त्रिविधे महत्यनेकद्रव्यवत्त्वोद्भूतरूपप्रकाशचतुष्टयसन्निकर्षाद् धर्मादिसामग्र्ये च स्वरूपालोचनमात्रम् सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनःसन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते सद् द्रव्यं पृथिवी विषाणी शुक्लो गौर्गच्छतीति ।" —प्रश० भा० पृ० ९५ । २ तच्च मा – म० २ । ३ ति (यदि) परमिदं आ०,-ति यदि परमिद म० १, प० १, प० २, क०,—ति यदपरमिद म० २ ।

§ ५०६. [1]योगजमपि प्रत्यक्षं द्वेधा, युक्तानां प्रत्यक्षं वियुक्तानां च[2]। तत्र युक्तानां समाधिमैकाग्र्यमाश्रितानां योगजधर्मबलादन्तःकरणे शरीराद्बहिर्निर्गत्यातीन्द्रियार्थैः समं संयुक्ते सति यदतीन्द्रियार्थदर्शनं तद्युक्तानां प्रत्यक्षम्[3]। ये चात्यन्तयोगाभ्यासोचितधर्मातिशयादसमाधिं प्राप्ता अप्यतीन्द्रियमर्थं पश्यन्ति, ते वियुक्ताः। तेषामात्ममनइन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकं यत्प्रत्यक्षं तद्वियुक्तानां प्रत्यक्षम् एतच्चोत्कृष्टयोगिनोऽवसेयं, योगिमात्रस्य तदसंभवादिति। विस्तरस्तु न्यायकन्दलीतो विज्ञेयः।

§ ५०७. लैङ्गिकस्य पुनः स्वरूपमिदम्। लिङ्गदर्शनाद्यदव्यभिचारित्वादिविशेषणं ज्ञानं तद्यतः परामर्शज्ञानोपलक्षितात्कारकसमूहाद्भवति तल्लैङ्गिकमनुमानमिति यावत्। तच्चैवं भवति। "अस्येदं कार्यं कारणं सयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्।" [वैशे० सू० ९।२।१] तत्र कार्यं कारणपूर्वकत्वेनोपलम्भादुपलभ्यमानं कारणस्य गमकं, यथायं नदीपूरो वृष्टिकार्यो [4]विशिष्टनदीपूरत्वात् पूर्वोपलब्धविशिष्टनदीपूरवत्। कारणमपि कार्यजनकत्वेन पूर्वमुपलब्धेरुपलभ्यमानं कार्यस्य लिङ्गं यथा विशिष्टमेघोन्नतिर्वर्षकर्मणः। तथा धूमोऽग्नेः संयोगी। समवायी चोष्ण-

---

§ ५०६. योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—एक तो युक्त योगियोका और दूसरा वियुक्त योगियोंका। समाधिमे अत्यन्त तल्लीन एकाग्रध्यानी योगियोका चित्त योगसे उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट धर्मके कारण शरीरसे बाहर निकलकर अतीन्द्रिय पदार्थोसे सयुक्त होता है। इस सयोगसे जो उन युक्त—ध्यान मग्न योगियोको अतीन्द्रिय पदार्थोका ज्ञान होता है उसे युक्तयोगि प्रत्यक्ष कहते हैं। जो योगी समाधि—उपयोग लगाये बिना ही चिरकालीन तीव्र योगाभ्यासके कारण सहज ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखते जानते है वे वियुक्त कहलाते है। इन पुराने योगियोके अपने दीर्घ योगाभ्याससे ऐसी विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वे सदा अतीन्द्रियार्थो का दर्शन करते है। उन्हे इसके लिए किसी समाधि आदिके लगानेकी आवश्यकता नही होती। इन वियुक्त—समाधिमे लीन न होकर भी विशिष्ट शक्ति रखनेवाले—योगियोको आत्मा मन इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे दूर देशवर्ती अतीत और अनागतकालीन तथा सूक्ष्म परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का जो ज्ञान होता है वह वियुक्त-योगिप्रत्यक्ष है। यह उत्कृष्ट योगियोके ही होता है, योगिमात्रको इसके होनेका नियम नही है। इसका विस्तृत वर्णन न्यायकन्दलीमे देखना चाहिए।

§ ५०७. लिंगको देखकर जो अव्यभिचारी—निर्दोष ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमिति कहते है। यह अनुमिति जिस परामर्श-व्याप्ति-विशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञान-आदि कारक समुदायसे उत्पन्न होती है उस अनुमितिके करणको लैंगिक-अनुमान कहते है। यह अनुमान कार्य कारण आदि अनेक प्रकारका होता है। 'यह इसका सम्बन्धी है' इस नियत सम्बन्धितापूर्वक होनेवाले कार्य कारण सयोगी समवायी विरोधी आदि अनेक प्रकारके अनुमान है। कार्य सदा कारणपूर्वक देखा जाता है, बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नही होती अत. कार्यको देखकर कारणका अनुमान होता है। जैसे—यह नदीकी वाढ वृष्टिके कारण आयी है क्योकि यह विशिष्ट वृष्टिसे होनेवाली तिनके लकड़ी आदिको वहानेवाली फेनयुक्त वाढ है जैसे गत वरसातमे आयी हुई नदीकी वाढ। कारण भी कार्यको उत्पन्न करता है। कई वार अविकल तथा अप्रतिवद्ध सशक्त कारणको कार्य उत्पन्न करते हुए देखा है। अत. आज भी कारणको देखकर कार्यका अनुमान हो

---

१ अस्मद्विशिष्टाना तु योगिना युक्ताना योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथ स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते वियुक्ताना पुनश्चतुष्टयसंनिकर्षाद्योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते।" —प्रश० भा० पृ० ९७।

२ च समाधि – भ० २। ३. ये त्वत्यन्तयोगाभ्यासो धर्मा – भ० २, ये त्वत्यन्तयोगाभ्यससेवितधर्मा – भ० १, ये त्वत्यन्तयोगाभ्यासोचितधर्मा – प० १, प० २। ४ [illegible]

वारिस्थं तेजो गमयतीति। विरोधी च [1]यथाऽहिर्विस्फूर्जनविशिष्टो नकुलादेर्लिङ्गं वह्निर्वा ावस्येति। 'अस्येदम्' इति सूत्रे च कार्यादीनामुपादानं लिङ्गनिदर्शनार्थं कृतं न पुनरेताव- लिङ्गानीत्यवधारणार्थम्। यतः कार्यादिव्यतिरिक्तान्यपि लिङ्गानि सन्ति, यथा चन्द्रोदयः द्धेः कुमुदविकाशस्य च लिङ्गम्, न च चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धिकुमुदविकाशौ च मिथः कार्यं कारणं वन्ति, विशिष्टदिग्देशकालसंयोगात्कल्लोलपत्रविस्तारलक्षणानामुदकवृद्धिविकाशानां[2] स्वस्व- भ्य एवोत्पत्तेः। शरदि च जलस्य नैर्मल्यमगस्त्योदयस्य[3] लिङ्गमित्यादि तत्सर्वं 'अस्येदम्' देन गृहीतं विज्ञेयम्। अस्य साध्यस्येदं संबन्धीति कृत्वा यद्यस्य[4] देशकालाद्यविनाभूतं तत्तस्य नत्यर्थः। ततः 'अस्येदम्' इति सूत्रस्य नाव्यापकतेति। विशेषार्थिना तु न्यायकन्दली विलोक्- शब्दादीनां तु प्रमाणानामनुमान एवान्तर्भावात् [5]कन्दलीकाराभिप्रायेणैतत्प्रमाणद्वितयमत्रा- चार्यः। व्योमशिवस्तु प्रत्यक्षानुमानशाब्दानि त्रीणि प्रमाणानि प्रोचिवान्। उपसंहरन्नाह— कमतस्य' इत्यादि। वैशेषिकमतस्यैषोऽनन्तरोक्त संक्षेपः परिकीर्तितः—कथितः।

है। वर्षा होगी क्योकि बरसनेवाले काले-काले विशिष्ट मेघ घिर आये है। धूम अग्निका है अतः धूमको देखकर अग्निका अनुमान सयोगी अनुमान है। गरमजलके उष्ण स्पर्शसे प्रविष्ट अग्निका अनुमान समवायी अनुमान है। उष्णस्पर्श अग्निका समवायी है। फुफकारते पको देखकर समीपमे नौलेका अनुमान अथवा अग्निसे ठण्डके अभावका अनुमान विरोधी ा है। 'अस्येदम्' इस सूत्रमे कार्य-कारण आदि कुछ हेतुओका नाम तो उदाहरणके निमित्त गये हैं, उससे यह नियम नही करना चाहिए कि—कार्य आदि पाँच ही लिग है, क्योकि ादि हेतुओसे भिन्न भी सैकडो हेतु होते है जो अपने अविनाभावी साध्यका यथार्थ अनुमान है। जैसे चन्द्रका उदय समुद्रके ज्वार-भाटे तथा कुमुदके प्रफुल्लित होनेका अनुमान कराता चन्द्रोदय न तो समुद्रवृद्धि और कुमुद विकासका कार्य ही है और न कारण हो। अमुक श काल आदिके सयोगसे चन्द्रका उदय समुद्रकी लहरें तथा कमलके पत्तोका फैलाव भावसे अपने-अपने कारणोसे ही उत्पन्न होते है। हाँ, इनमे अविनाभाव अवश्य है अत- बलसे चन्द्रोदयसे उनका अनुमान हो जाता है। इसी तरह शरद् ऋतुमे जलकी निर्मलतासे के उदयका अनुमान होता है। यह जलकी निर्मलता अमुक वायु आदि कारणोसे उत्पन्न ी अविनाभाव सम्बन्धके कारण अगस्त्योदयका अनुमान करा देती है। अगस्त्योदय और लीन जलकी निर्मलतामे परस्पर कोई कार्य-कारण भाव नही है, दोनो ही अपने-अपने े उत्पन्न होते हैं। ये सभी कार्य-कारण आदिसे अतिरिक्त लिग 'अस्येदम्'—यह इसका है' इस सामान्य अविनाभाव सूचक पदसे गृहीत हो जाते है। 'इस साध्यका यह है' इस रूपसे जो जिसके देश काल आदिसे अविनाभाव रखता है वह उसका लिग होता । अस्येदम्' सूत्रसे समस्त लिगोका सग्रह हो जानेके कारण यह अव्याप्त—अपर्याप्त नही है र्वथा पूर्ण है। इनका विशेष विवरण प्रशस्तपाद भाष्यकी न्यायकन्दली टीकामे देखना । आगम-आदि प्रमाण भी अपने सम्बन्धी पदार्थमे परोक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति करानेसे अनुमानमे ही अन्तर्भूत है। प्रमाणोकी यह दो सख्या कन्दलीकार श्रीधर आचार्यके मतसे यी है। व्योमवती टीकाकार व्योमशिवाचार्य तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन को मानते है। इस तरह यह वैशेषिक मतका सक्षिप्त कथन है।

यथाऽप्यहिर्विस्फू – म० २। २ वृद्धिविका – म० २। ३ दयवि – म० २। ४ यदविनाभू – २।

§ ५०८. अथात्राप्यनुक्तं किंचिदुच्यते । व्योमादिकं नित्यम् । प्रदीपादि कियत्कालावस्थायि । बुद्धिसुखादिकं च क्षणिकम् । चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्माः आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसंबन्धेन संबद्धाः, स च समवायो नित्यः [1]सर्वगत एकश्च । सर्वगत आत्मा । बुद्धिसुखदुःखेच्छाधर्माधर्मप्रयत्नभावनाख्यसंस्कारद्वेषाणां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः । परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ द्रव्यपर्यायौ च प्रमाणगोचरः । द्रव्यगुणादिषु षट्सु पदार्थेषु स्वरूपसत्त्वं वस्तुत्वनिबन्धनं विद्यते । द्रव्यगुणकर्मसु च सत्तासंबन्धो वर्त्तते सामान्यविशेषसमवायेषु च स नास्तीति ॥६७॥

§ ५०९. [2]षट्पदार्थी कणादकृता तद्भाष्यं प्रशस्तकरकृतं तट्टीका कन्दली श्रीधराचार्यीया, किरणावली तूदयनसंदृब्धा, व्योमवतिर्व्योमशिवाचार्यविरचिता, लीलावतीतर्कः श्रीवत्साचार्यीयः, आत्रेयतन्त्रं चेत्यादयो वैशेषिकतर्काः ।

[3]इति श्रीतपागणनभोगणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिकृतायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकायां वैशेषिकमतनिर्णयो नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥

---

§५०८. मूल ग्रन्थकारने जिन बातोका निर्देश नही किया है, उनका भी कुछ वर्णन इस प्रकार है—आकाश आदि नित्य है। दीपक आदि कुछ काल तक ठहरनेवाले—कालान्तरस्थायी हैं। बुद्धि, सुख आदि क्षणिक है। चैतन्य आदि धर्म आत्मासे तथा रूपादि धर्म घट आदिसे अत्यन्त भिन्न होकर भी उनमे समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। समवाय नित्य, एक तथा सर्वगत है। आत्मा सर्वव्यापी है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, भावना नामक संस्कार और द्वेष इन आत्माके नौ विशेष गुणोका अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है। सामान्य और विशेप-द्रव्य गुण कर्म परस्पर भिन्न हैं। ये ही द्रव्य-सामान्य और पर्याय-विशेष परस्पर विभिन्न रहकर भी प्रमाणके विषय होते हैं। द्रव्य, गुण आदि छहो पदार्थोमे 'वस्तु' व्यवहार करानेवाला स्वरूप सत्त्व होता है। सत्ताका समवाय मात्र द्रव्य, गुण और कर्ममे ही होता है। सामान्य विशेष और समवायमें सत्ताका समवाय नही होता, ये स्वरूप सत् है।

§५०९. कणादकृत षट्पदार्थी—वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तकरकृत प्रशस्तपादभाष्य, श्रीधराचार्यविरचित प्रशस्तभाष्यकी न्यायकन्दली टीका, उदयनाचार्यरचित किरणावली टीका, व्योमशिवाचार्यकृत व्योमवती टीका, श्रीवत्साचार्यकृत लीलावती तर्क, आत्रेयतन्त्र आदि वैशेषिकोके प्रमुख तर्कग्रन्थ है ॥ ६७ ॥

इति तपागणरूपी आकाशके सूर्य श्रीदेवसुन्दरसूरिके चरणोपासक श्रीगुणरत्नसूरिके द्वारा रची गयी षड्दर्शनसमुच्चयकी इस तर्करहस्यदीपिका नामकी टीकामें वैशेषिकमतनिर्णय नामक पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

---

१ सर्वगतश्च मा० २ । २. सप्तपदार्थी मा० २ । ३ इति तर्करहस्यदीपिकाया गुणरत्नसूरिविरचिताया वैशेषिकमतप्रकटनो नाम पञ्चम प्रकाश मा० २ ।

अर्हम्

अथ षष्ठोऽधिकारः

§ ५१०. अथ मीमांसकमतं जैमिनीयापराह्वयं प्रोच्यते। जैमिनीया वेषेण साख्या इवैकदण्डास्त्रिदण्डा धातुरक्तवाससो मृगचर्मोपवेशनाः कमण्डलुधरा मुण्डशिरसः संन्यासिप्रभृतयो द्विजाः। तेषां वेद एव गुरुर्न पुनरन्यो वक्ता गुरुः। [1]त एव स्वयं तव संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषन्ते। यज्ञोपवीतं च प्रक्षाल्य त्रिर्जलं पिबन्ति।

§ ५११. ते द्विधा, एके याज्ञिकादयः पूर्वमीमांसावादिनः, अपरे तूत्तरमीमांसावादिनः। तत्र पूर्वमीमांसावादिनः कुकर्मविवर्जिनो[2], यजनादिषट्कर्मकारिणो[3], ब्रह्मसूत्रिणो गृहस्थाश्रमसंस्थिताः शूद्रान्नादिवर्जका भवन्ति। ते च द्वेधा भाट्टाः प्राभाकराश्च षट् पञ्च प्रमाणप्ररूपिणः।

§ ५१२. ये तूत्तरमीमांसावादिनः, ते वेदान्तिनो ब्रह्माद्वैतमेव मन्यन्ते। "सर्वमेतदिदं ब्रह्म"[4] [छान्दो० ३।१४।१] इति भाषन्ते प्रमाणं च यथा तथा वदन्ति। एक एवात्मा सर्वशरीरेषूपलभ्यत इति जल्पन्ति।

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥ [त्रि० ता० ५।१२]

---

§५१०. अब मीमांसक—जैमिनीय मतका वर्णन करते है। ये साख्य परिव्राजकोकी तरह एक-दण्डधारी और त्रिदण्डधारी होते हैं, ये गेरुआ वस्त्र पहनते हैं, मृग चर्म पर बैठते है, कमण्डलु रखते है तथा सिर मुँड़ाते हैं। इनके सन्यासी आदि द्विज होते है। इनका वेद ही गुरु है, वेदके सिवाय अन्य कोई वक्ता सर्वज्ञ आदि गुरु नही है। इसलिए ये अपने-आप सन्यासदीक्षा लेते हैं। स्वय सन्यास लेते समय ये 'तुम्हे सन्यास दीक्षा दी गयी' इस वाक्यका उच्चारण करते हैं। यज्ञोपवीतको धोकर तीन बार जल पीते हैं।

§ ५११. ये पूर्व मीमासावादी तथा उत्तर मीमासावादीके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पूर्वमीमांसावादी यज्ञ आदि क्रियाकाण्डमे मुख्य रूपसे प्रवृत्ति करते हैं, याज्ञिक क्रियाकाण्डी हैं। ये कुकर्मोंसे निवृत्त होकर यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह ब्राह्मण कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले तथा ब्रह्मसूत्रको धारण करनेवाले होते हैं। ये गृहस्थाश्रममें रहते हैं तथा शूद्रके अन्न, जल आदिका परहेज रखते है। मीमासकोंमे कुमारिल भट्टके शिष्य भाट्ट प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोको मानते है तथा प्रभाकर गुरुके शिष्य प्राभाकर अभाव प्रमाणके सिवाय बाकी पाँच प्रमाणोको स्वीकार करते है।

§५१२ उत्तरमीमांसावादी वेदान्ती मात्र अद्वैत ब्रह्मको मानते है। उनका कौमी नारा है 'सर्वमेतदिद ब्रह्म—यह सब कुछ ब्रह्मरूप है'। अपनी शक्ति-भर इस अद्वैतको युक्तियोंसे सिद्ध करनेका प्रयत्न भी करते हैं। उनका कहना है कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियोंके शरीरमे भासमान होता है। कहा भी है—"एक ही भूतात्मा सिद्ध ब्रह्म प्रत्येक भूत—प्राणी आदिमे रम रहा है। वही

---

१ तत एव भा० १, म० २, प० १, प० २। २ वर्जिता यज – म० २। ३. कर्मणा ता – म० २।
४ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।" — छान्दोग्योप० ३।१४।१। त्रि० म० ना० ५।२। "ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्।" —मैत्र्युप० ४।६।३।

इति, वचनात् । "पुरुष एवेदं[2] सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" [ऋक्० १०।९०।२] इति वचनाच्च । आत्मन्येव लयं मुक्तिमाचक्षते, न त्वपरां कामपि मुक्तिं मन्यन्ते[3] । ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्धाभिधीयन्ते कुटीचर-बहूदक-हंस-परमहंस-भेदात् । तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमानपरिग्रही सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुट्यां निवसन् कुटीचर[4] उच्यते । कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेहनैरस्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीनीरस्नायी बहूदकः कथ्यते । ब्रह्मसूत्रशिखाभ्यां रहितः कषायाम्बरदण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानस्तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् हंसः समुच्यते । हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया[5] दण्डधार ईशानीं[6] दिशं गच्छन् शक्तिहीनतायामनशनग्राही वेदान्तैकध्यायी परमहंसः

एक रूपसे तथा अनेक रूपसे जलमे चन्द्रमाकी तरह चमचमाता है ।" "जो कुछ हो चुका तथा जो होनेवाला है वह सब ब्रह्म ही है" ब्रह्ममें लय हो जाना ही मुक्ति है । इस ब्रह्मलयावस्थाके सिवाय अन्य किसी प्रकारकी मुक्ति वेदान्तियोंको इष्ट नही है । ये ब्राह्मण ही होते हैं तथा 'भगवत्' शब्दसे पुकारे जाते हैं । इनके कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहस ये चार भेद होते है । त्रिदण्डधारी, शिखा रखनेवाले, ब्रह्मसूत्रको धारण करनेवाले, यजमानोके यहाँ भोजन करनेवाले, घरको त्यागकर कुटिया बनाकर रहनेवाले कुटीचर कहे जाते हैं । ये एकाध बार अपने पुत्रके यहाँ भी भोजन कर लेते है । बहूदकोंका वेष कुटीचरोके समान ही होता है । ये ब्राह्मणोंके घर भिक्षावृत्तिसे नीरस भोजन करते हैं, विष्णुको जपते है । बहूदक—बहुत जलवाली नदीमे स्नान करनेके कारण बहूदक कहे जाते है । हंस साधु ब्रह्मसूत्र तथा शिखा नही रखते, ये कषायले वस्त्र पहनते है, दण्ड धारण करते हैं, गाँवमे एक रात तथा नगरमें तीन रात निवास करते हैं, धुआँ निकलना बन्द हो जाने पर, आग बुझ जाने पर ब्राह्मणोंके घर भिक्षावृत्तिसे भोजन करते है । ये कठिन तपस्याओसे शरीरको कृश करके देश-विदेश विहार करते रहते है । हस साधुओंको जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है तव वे ही परमहंस कहे जाते है । परमहंस साधु ब्राह्मण-शूद्र चारो वर्णोके यहाँ भिक्षाभोजन करते हैं । ये इच्छानुसार कभी दण्ड ले भी लेते हैं कभी नही भी लेते । जब ये अशक्त हो जाते है तव ईशान दिशामे जाकर अनशन—उपवास ग्रहण कर लेते है । इनके अध्ययनका एकमात्र

---

१ म० त्रि० ११ । २ एवेदं सर्व क० । ३ मन्वते म० २ । ४ "कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत् । पात्र विसृजेत् । पवित्रं विसृजेत् । दण्डाँल्लोकाश्च विसृजेदिति होवाच । अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत् । ऊर्ध्वगमन विसृजेत् । औषधवदशनमाचरेत् । त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत् । संधि समाधावात्मन्याचरेत् । सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति ॥"—आरुणि० २ । "कुटीचको बहूदको हस परमहस तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति । कुटीचक शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधर कौपीनकन्थाधर पितृमातृगुर्वाराधनपर. पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपर श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्ड । बहूदक शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी हसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी । परमहंस. शिखायज्ञोपवीतरहित. पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणव दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपर सर्वत्यागी । तुरीयातीतो गोमुख फलाहारी । अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर. कुणपवच्छरीरवृत्तिक । अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वक सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपर स्वरूपानुसंधानपर । आतुरो जीवति चेत् क्रमसंन्यास कर्तव्य कुटीचकबहूदकहसाना ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीना संन्यासविधि । परमहंसादित्रयाणा च कटिसूत्रं न कौपीन न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्ड सार्ववर्णैकभैक्ष्याटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधि. ।" —ना० प० उ० ५।१ । शाट्यायनी० ११ । ५ दण्डधार आ० । ६ ऐशानीं म० २ ।

समाख्यायते। एतेषु चतुर्षु परः परोऽधिकः। एते च चत्वारोऽपि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनैक-व्यसनिनः शब्दार्थयोर्निरासायानेका युक्तीः स्फोरयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे यथा व्यवतिष्ठन्ते तथा खण्डन-तर्कादवसेयम्[1]। नात्र तन्मतं वक्ष्यते इह तु सामान्येन शास्त्रकारः पूर्वमीमांसावादिमतमेव विभणिषुरेवमाह—

§ ५१३. जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत्॥६८॥

§ ५१४. व्याख्या—जैमिनीयास्तु ब्रुवते। सर्वज्ञादीनि विशेषणानि यस्य स सर्वज्ञादि-विशेषणः सर्वज्ञः सर्वदर्शी वीतरागः सृष्ट्यादिकर्ता चेत्यादिविशेषण[3]वान् कोऽपि प्रागुक्तदर्शनसंमत-देवानामेकतरोऽपि देवो—दैवतं[4] न विद्यते, यस्य देवस्य वचो—वचनं मानं—प्रमाणं भवेत्। प्रथमं [5]तावद्देव एव वक्ता न वर्तते, कुतस्तत्प्रणीतानि वचनानि संभवेयुरिति भावः। तथाहि—पुरुषो न सर्वज्ञः मानुषत्वात् रथ्यापुरुषवत्।

§ ५१५ अथ किंकरायमाणसुरासुरसेव्यमानता त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकछत्रचामरादिविभू-त्यन्यथानुपपत्तिरस्ति सर्वज्ञे विशेष इति चेत्; मायाविभिरपि कीर्तिपूजालिप्सुभिरिन्द्रजाल-वशेन तत्प्रकटनात्। यदुक्तं त्वद्यूथ्येनैव समन्तभद्रेण—

विषय है वेदान्त। दिन-रात ब्रह्मके स्वरूपका विचार करते रहते हैं। इन चारोंमें क्रमशः कुटीचर-से बहूदक, बहूदकसे हंस तथा हंससे परमहंस उत्कृष्ट होते हैं। ये चारों ही मात्र ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि-में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इन्हें ब्रह्माद्वैतके साधनकी चिरकालीन आदत हो जाती है। ये ब्रह्मके सिवाय अन्य शब्द या पदार्थोंके निराकरणके लिए अनेकों युक्तियोंका जाल फैलाकर आखिरमें अनिर्वचनीय ब्रह्मकी सिद्धिमें वादकी समाप्ति करते हैं। अनिर्वचनीय तत्त्वकी सिद्धि तथा परपदार्थ खण्डनका युक्तिजाल खण्डनखण्डखाद्य नामक तर्क ग्रन्थ देखना चाहिए। यहाँ उनके मतका कथन नहीं किया जायेगा। यहाँ तो ग्रन्थकार सामान्य रूपसे पूर्वमीमांसक मतके व्याख्यान की इच्छासे उसीका निरूपण करते हैं—

§५१३. जैमिनीय मतानुयायी कहते हैं कि सर्वज्ञत्व आदि गुणोंका धारक कोई देवता ही नहीं है, जिसके वचन प्रमाण माने जा सकें॥ ६८॥

§५१४ जैमिनीय तो कहते हैं कि—सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोंवाले कोई सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग या सृष्टिकर्ता आदि विशेषणवाले, जैन आदि दर्शनोंने बताये हुए एक भी देवकी सत्ता नहीं है जिनके वचनोंको सच्चा प्रमाणभूत माना जाय। जब बोलनेवाला अतीन्द्रियार्थका प्रतिपादन करनेवाला यथार्थवक्ता कोई देव ही नहीं है तब कोई भी आगम सर्वज्ञ प्रणीत कैसे कहा जा सकता है? अतः यह अनुमान स्पष्ट ही किया जा सकता है कि—कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह मनुष्य है जैसे कि गली-गली चक्कर काटनेवाला कोई आवारा मूर्ख आदमी।

§५१५. शंका—भाई साधारण गलीके घुमक्कड़ आवारेको हम भी सर्वज्ञ नहीं कहते। हम तो उस महान् व्यक्तिको सर्वज्ञ मानते हैं, जिसकी सुर और असुर सेवा—चाकरी करते हैं तथा जिसके पास त्रिलोकके साम्राज्यका सूचन करनेवाली छत्र चमर सिंहासन आदि विभूतियाँ पायी जाती हैं। देव और दानवोंका सेवक होना तथा छत्र, चमर आदि लोकोत्तर विभूतियाँ सर्वज्ञताके बिना हो ही नहीं सकती। अतः इन अविनाभावी विभूतियोंके आधारसे आप सर्वज्ञकी सत्ता क्यों नहीं मानते?

---

1 [illegible] म० २। 2 [illegible] म० २। 3 [illegible] म० २।
4. [illegible] म० २। 5 [illegible] म० २।

"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥" [आप्तमी० श्लो० १]

अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया विशोध्यमानस्य निर्मलत्वम्, एवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्य[1]भ्यासेन विगतमलत्वात्सर्वज्ञत्वं किं संभवेदिति मतिः, तदपि न; अभ्यासेन हि शुद्धेस्तारतम्यमेव भवेत्, न पुनः परमः प्रकर्षः। न हि नरस्य लङ्घनमभ्यासतस्तारतम्यवदप्युपलभ्यमानं सकललोकविषयमुपलभ्यते। उक्तं च[2]—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनशतं गन्तु शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥१॥

§ ५१६ अथ मा [3]भून्मानुषस्य सर्वज्ञत्वं, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनां तु तदस्तु। ते हि देवाः, संभवत्यपि तेष्वतिशयसंपत्। यत्कुमारिलः[4]—

"अथापि दिव्यदेहत्वाद्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥१॥"

समाधान—आपकी बुद्धि बाहरी चमत्कारोसे चमत्कृत हो रही है। मायावी इन्द्रजालिया जादूगर भी अपनी कीर्ति, पूजा आदिके लोभसे इन्द्रजालके द्वारा छत्र, चमर आदि विभूतियोंको प्रकट कर सकते है तथा करते भी हैं। वे देवोके द्वारा अपनी सेवा-टहल भी दिखा सकते हैं। तो क्या इन बाहरी चमत्कारोसे उन्हे भी सर्वज्ञ मान लिया जाय? आपके ही आचार्य श्रीसमन्तभद्रने कहा है कि—"देवोका आना, आकाशमे अधर विहार करना, तथा छत्र, चमर आदि विभूतियाँ तो मायावी जादूगरोमे भी पायी जाती है। अतः मात्र इन विभूतियोसे आप हम जैसे परीक्षकोंके महान् पूज्य नही हो सकते।"

शंका—जिस तरह कोई अनादिकालका मलीन भी सोना सुहागा, तेजाब आदिसे मिट्टीकी घरियामे पकानेसे साफ करते-करते सौटंचका निर्मल आबदार सोना हो जाता है उसी तरह सतत ज्ञानाभ्यास तथा योग आदि प्रक्रियाओसे आत्मा भी धीरे-धीरे कर्ममलसे रहित होकर शुद्ध हो सकती है। ऐसी शुद्ध आत्मा ज्ञानावरण रूप मलके हट जानेसे क्या सर्वज्ञ नही बन सकती? सर्वज्ञताके लिए ज्ञानावरणका नाश ही मुख्य रूपसे अपेक्षित होता है।

समाधान—अभ्याससे शुद्धिकी तरतमता—कमोवेशी तो हो सकती है पर उसका परम प्रकर्ष होना अत्यन्त असभव है। अभ्यास करनेसे थोडा-बहुत हेर-फेर ही संभव है। कोई मनुष्य ऊँचा कूदनेका कितना ही अभ्यास क्यो न करे, पर वह कभी भी सारे लोकको नही लाँघ सकता। यह तो हो सकता है कि उसकी ऊँचा कूदनेकी शक्तिमें तरतमता—कुछ अधिक विकास हो जाय, वह चार हाथकी जगह आठ हाथ कूदने लगे, पर सारे लोकके कूदनेका परम प्रकर्ष कभी भी नही हो सकता। कहा भी है—"जो मनुष्य अभ्यास करते-करते दस हाथ ऊँचा उछल जाता है, वह सैकड़ों अभ्यास करने पर भी सौ योजन ऊँचा नही कूद सकता।"

§ ५१६ शंका—अच्छा, यदि साधारण मनुष्योंको अभ्याससे सर्वज्ञता उत्पन्न नही हो सकती, तो न सही, पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि तो देव हैं, उनमे तो सर्वज्ञता रूपी अतिशय हो ही सकता है। वे अलौकिक दिव्य पुरुष हैं। कुमारिलने स्वयं ही कहा है कि "यदि दिव्य देहवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि सर्वज्ञ हो भी जाये तो भी साधारण मनुष्यमे सर्वज्ञता कैसे सिद्ध

---

१. -ज्ञानेन म० १, प० १, प० २। —द्यवभासेन म० २। २. श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तमिति कृत्वा तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८२६) उद्धृत। ३. अथ मानुष्यस्य न सर्वज्ञत्वं म० २। ४. श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तत्वेन तत्त्वसंग्रहे (का० ३२०८) उद्धृत। प्रमाणमी० पृ० १२।

इति तदपि न रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानां कामासेवनविह्स्तानामसंभाव्यमिदमेषामिति।

§ ५१७. न च प्रत्यक्षं [1]तत्साधकम् "सबद्ध वर्त्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना" [मी० प्रत्यक्ष० सू० श्लो० ८४] इति वचनात्। न चानुमानम्; प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः। न चागमः, सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तदागमस्यापि विवादास्पदत्वात्। न चोपमानम्, तदपरस्यापि सर्वज्ञस्याभावादेव। न चार्थापत्तिरपि, सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपन्नपदार्थस्यादर्शनात्। ततः प्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तेरभावप्रमाणगोचर एव सर्वज्ञः। प्रयोगश्चात्र–नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ॥६८॥

§ ५१८. यदि देवस्तद्वचनानि च न सन्ति, तर्हि कुतोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमित्याशङ्क्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद्द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥

§ ५१९. व्याख्या—तस्मात् ततः कारणात्। कुतो हेतुतः। इत्याह–अतीन्द्रियार्थानाम् इन्द्रिय-

---

हो सकती है ?" तात्पर्य यह कि कुमारिलका झुकाव स्पष्ट रूपसे ब्रह्मा, विष्णु आदि दिव्य शरीरियो को सर्वज्ञ माननेकी ओर है। अत इन्हे सर्वज्ञ मान ही लेना चाहिए।

समाधान—राग-द्वेष मूलक शिष्टानुग्रह तथा दुष्ट निग्रह करनेवाले कामसेवन आदि विकारो-से युक्त सरागी ब्रह्मा, विष्णु आदिमे सर्वज्ञताकी बात करना सचमुच सर्वज्ञताका परिहास करना ही है।

§ ५१७ सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करनेकी शक्ति प्रत्यक्ष आदि किसी भी सदुपलम्भक प्रमाणमे नही है। प्रत्यक्ष तो असम्बद्ध तथा अवर्तमान सर्वज्ञकी सत्ता नही साध सकता, क्योकि "सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थ ही चक्षुरादि इन्द्रियोसे गृहीत होते हैं।" यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। प्रत्यक्षके द्वारा देखे गये पदार्थमें ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है अत अत्यन्त परोक्ष सर्वज्ञको जाननेकी हिम्मत अनुमान भी नही कर सकता। जब सर्वज्ञ ही विचाराधीन है तब सर्वज्ञ प्रणीत आगम असिद्ध होनेके कारण सर्वज्ञका साधक नही हो सकता। दूसरा कोई सर्वज्ञ नही दिखाई देता, जिससे उपमान सर्वज्ञकी सदृशता मिलाकर उसकी सत्ता साध सके। सर्वज्ञका साधक कोई अविनाभावी पदार्थ भी नही दिखाई देता, जिसके बल पर अर्थापत्ति सर्वज्ञकी सत्ता साधनेको तैयार हो सके। इस तरह सद्भावको साधनेवाले प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणोका विषय न होनेके कारण प्रमाणपञ्चकाभावमूलक अभाव प्रमाण ही सर्वज्ञको विषय करके उसकी सत्ता समूल उखाड फेंकेगा। इस तरह यह निर्बाध रूपसे कहा जा सकता है कि—सर्वज्ञ है ही नही, क्योकि वह सदुपलम्भक प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणोका विषय नही होता, जैसे कि खरगोशका सीग ॥ ६८ ॥

§ ५१८ यदि सर्वज्ञ और सर्वज्ञ प्रणीत आगम नही है तब अतीन्द्रिय पदार्थोका परिज्ञान कैसे होगा ? इस शकाका परिहार करते हुए कहते हैं—

इस तरह जब अतीन्द्रिय पदार्थोको कोई साक्षात्कार करनेवाला है ही नहीं, तब नित्य वेदवाक्योंसे ही अतीन्द्रियार्थोका यथावत् परिज्ञान हो सकता है ॥ ६९ ॥

§५१९ जब इन्द्रियोके अगोचर अतीत अनागतकालीन पदार्थ, आत्मा, पुण्य-पाप, राग, स्वर्ग, नरक, परमाणु आदि देश काल स्वभावसे विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने-

---

1 "सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥ न चागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात् । नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥" —मी० श्लो० चोदना० श्लो० ११७-८।

विषयातीतपदार्थानामात्मधर्माधर्मकालस्वर्गनरकपरमाणुप्रभृतीनां साक्षात् [1]स्पष्टप्रत्यक्षाववोधेन द्रष्टुः ज्ञातुरभावतः असद्भावाद्धेतोः नित्येभ्यः अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावेभ्यः अवधारणस्येष्ट-विषयत्वाद्वेदवाक्येभ्य एव यथार्थत्वविनिश्चयः अर्थानामनतिक्रमेण यथार्थं तस्य भावो यथार्थत्वं यथावस्थितपदार्थत्वं तस्य विशेषेण निश्चयो भवति। नित्यत्वेनापौरुषेयेभ्यो वेदवचनेभ्य एव यथावदतीन्द्रियाद्यर्थज्ञानं भवति, न पुनः सर्वज्ञप्रणीतागमादिभ्यः सर्वज्ञादीनामेवाभावादिति भावः। यथाहुस्ते[2]—

"अतीन्द्रियाणामर्थाना साक्षाद्द्रष्टा न विद्यते ।
वचनेन हि नित्येन य पश्यति स पश्यति ॥१॥"

§ ५२०. [3]नन्वपौरुषेयानां वेदानां कथमर्थपरिज्ञानमिति चेत्। अव्यवच्छिन्नानादिसंप्रदायेनेति ॥६९॥

§ ५२१. अथैतदेव दृढयन्नाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या धर्मसाधनी ॥७०॥

§ ५२२. व्याख्या—अत एव सर्वज्ञाद्यभावादेव पुरा पूर्वं वेदपाठः ऋग्यजुः[4]सामाथर्वणानां पाठः प्रयत्नतः कार्यः। ततः किं कर्तव्यमित्याह–'ततो धर्मस्य' इति। ततो वेदपाठादनन्तरं धर्मस्य

वाला कोई पुरुषविशेष हो नही है तव उत्पाद-विनाशसे रहित सदा स्थिर रहनेवाले वेदवाक्योसे ही जिस प्रकार पदार्थ स्थित है ठीक उसी रूपसे उनका यथावत् वास्तविक निश्चय होता है। सभी वाक्य इष्टका अवधारण करते है अत: वेदवाक्योका ही अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादनमे एकमात्र अधिकार समझना चाहिए। वेद अपौरुषेय है, इन्हे किसी पुरुषने नही बनाया है, ये नित्य है। इन सदा एक रूप रहनेवाले अपौरुषेय नित्य वेद वाक्योसे ही धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोका यथावत् परिज्ञान हो सकता है न कि सर्वज्ञके द्वारा कहे गये किसी आगमसे, क्योकि जब सर्वज्ञ ही नही है तव तत्प्रणीत आगमकी सम्भावना ही नही की जा सकती। कहा भी है—"अतीन्द्रिय पदार्थो का साक्षात्कार करनेवाला कोई सर्वद्रष्टा नही है। अत नित्य वेदवाक्योसे जो अतीन्द्रिय पदार्थो को देखता है, जानता है वही सच्चा देखनेवाला है—अतीन्द्रियदर्शी है।"

§ ५२० यद्यपि वेद अपौरुषेय है उनका कोई आदि प्रणेता नही है फिर भी उनके अर्थ तथा पाठकी परम्परा अनादिकालसे अविच्छिन्न रूपसे वरावर चली आती है, उसमे कभी कोई व्यवधान या विच्छेद नही पड़ा अत: उसके अर्थका यथार्थ निर्णय हो जाता है।

§ ५२१ इसी वातको और भी स्पष्ट करते है—

इसीलिए सवसे पहले प्रयत्नपूर्वक वेदोका स्वरोके अनुसार पाठ करना चाहिए। इसके वाद धर्मको सिद्ध करनेके लिए धर्मकी जिज्ञासा—जाननेकी इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए ॥ ७० ॥

§५२२. चूँकि सर्वज्ञ आदिका अभाव है इसलिए सर्वप्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारो वेदोका ह्रस्वदीर्घादि स्वरोके अनुसार पाठ करना चाहिए, इन्हे कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। वेदोको घोक लेनेके वाद धर्मको जाननेकी इच्छा करनी चाहिए। धर्म तो अतीन्द्रिय

---

१ स्पष्टं प्र- म० २। २ "तस्मादतीन्द्रियार्थाना ··" इति पाठभेदेन श्लोकोऽयं कुमारिलोक्तमिति तत्त्वसंग्रहे (पृ० ८२८) उद्धृतः। ३. नन्वपौरुषेयाना कथं परि- म० २। ४ सामाथर्वणा वेदाना म० १, म० २, प० १, प० २।

जिज्ञासा कर्तव्या। धर्मो ह्यतीन्द्रियः, ततः स कीदृक्केन प्रमाणेन[1] वा ज्ञास्यत इत्येवं ज्ञातुमिच्छा कार्या। सा कीदृशी धर्मसाधनी–धर्मसाधनस्योपायः ॥७०॥

§ ५२३. यतश्चैवं ततस्तस्य निमित्तं परीक्ष्यं निमित्तं च नोदना[2]। निमित्तं हि द्विविधं जनकं ग्राहकं च। अत्र तु ग्राहकं ज्ञेयम्। एतदेव विशेषिततरं प्राह—

नोदनालक्षणो[3] धर्मो नोदना तु क्रियां प्रति।
प्रवर्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत् ॥७१॥

§ ५२४. व्याख्या—नोद्यन्ते प्रेर्यन्ते श्रेयःसाधकद्रव्यादिषु प्रवर्त्यन्ते जीवा अनयेति नोदना–वेदवचनकृता प्रेरणेत्यर्थः। धर्मो नोदनया लक्ष्यते ज्ञायत इति नोदनालक्षणः। धर्मो ह्यतीन्द्रियत्वेन नोदनयैव लक्ष्यते नान्येन प्रमाणेन, प्रत्यक्षादीनां विद्यमानोपलम्भकत्वात्, धर्मस्य तु कर्तव्यतारूपत्वात्, कर्तव्यतायाश्च त्रिकालशून्यार्थरूपत्वात्, त्रिकालशून्यकार्यरूपार्थविषयविज्ञानोत्पादिका [4]चोदनेति मीमांसकाभ्युपगमात्। अथ नोदनां व्याख्याति 'नोदना तु क्रियां प्रति' इत्यादि। नोदना पुन[5]. क्रियां हवनसर्वभूताहिंसनादानादिक्रियां प्रति प्रवर्तकं वचो वेदवचनं प्राहुर्मीमांसका भाषन्ते।

है अतः वह 'किस प्रमाणसे कैसे जाना जा सकता है?' यह जिज्ञासा करनी चाहिए। यही धर्म-जिज्ञासा, धर्मसाधनका आद्य उपाय है। जब धर्म जिज्ञासा हो जायगी तब धर्मके जाननेके उपायोंकी खोज की जानी चाहिए। अतीन्द्रिय धर्मके जाननेके उपाय प्रत्यक्ष आदि तो हो ही नहीं सकते ॥ ७० ॥

§ ५२३. उसके जाननेका एकमात्र निमित्त है नोदना—वेद। निमित्त दो प्रकारके होते हैं—एक तो जनक—उत्पन्न करनेवाले और दूसरे ग्राहक—ज्ञान करानेवाले। यहाँ वेद धर्मका ग्राहक-निमित्त ही विवक्षित है।

अब इसीका विशेष विवेचन करते हैं—

धर्म नोदना रूप है। क्रियाके प्रवर्तक वचनोंको नोदना या चोदना कहते हैं। जैसे 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र यज्ञ करे' यह वचन अग्निहोत्र यज्ञ रूपी क्रियामें पुरुषकी प्रवृति कराता है अतः यह वचन नोदना—प्रेरणात्मक है ॥ ७१ ॥

§ ५२४. जिसके द्वारा जीव कल्याणकारी द्रव्य आदिमें प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं उन वैदिक वचनोंसे होनेवाली प्रेरणाको नोदना या चोदना कहते हैं। नोदनाके द्वारा धर्म लक्षित होता है अतः धर्मको नोदना लक्षण कहा है। धर्म अतीन्द्रिय होनेके कारण नोदना—वैदिक वचनोंसे ही जाना जाता है, अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण विद्यमान पदार्थोंके जाननेवाले हैं। धर्म कर्तव्यतारूप है तथा कर्तव्यता त्रिकालशून्य अर्थरूप है। मीमांसकोंने स्वयं बताया है कि चोदना—नोदना त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थका ज्ञान उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह कि कर्तव्यता शुद्ध कार्यरूप है उसमें भूत-भविष्यत् या वर्तमान कालका कोई सम्पर्क नहीं है, अतः वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं हो सकती, वह तो वेदवाक्योंके द्वारा ही जानी जा सकती है। हवन, सब प्राणियों पर दया, दान आदि क्रियाओंमें प्रवर्तक—प्रवृत्ति करानेवाले वेद वचनोंको नोदना या चोदना कहते हैं। तात्पर्य यह कि हवन आदि क्रियाओंमें उनकी सामग्री जुटानेमें जो वेदवाक्य प्रेरक होते हैं उन्हें नोदना कहते हैं। वचनोंकी प्रवर्तकता दृष्टान्तसे बताते

१ न विज्ञास्य – म० १, म० २, प० १, प० २। २ चोदना म० २। ३ "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥ चोदना—इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। आचार्यचोदितः करोमि—इति हि दृश्यते।" —मी० सू० शाबरभा० १।१।२। ४. नोदनेति म० २। ५ मीमांसकानुम–म० १, म० २, प० १, प० २, क०। ६ पुनर्हवन म० २।

हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं सैव नोदनेति भावः। प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति 'स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत्' इति। यथेत्युपदर्शनार्थः। स्वः स्वर्गं कामो यस्य स स्वःकामः पुमान् स्वःकामः सन्। अग्नि–वह्निं यजेत्–तर्पयेत्। अत्रेदं श्लोकबन्धानुलोम्येनेत्थमुपन्यस्तम्। अन्यथा त्वेवं भवति। "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम." [मैत्र्यु० ६।३] इति प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात्। निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" [ ] इति। एवं न वै हिंस्रो भवेत् इत्याद्यपि। आभिर्नोदनाभिर्नोदितो यदि यथा नोदनं यैर्द्रव्यगुणकर्मभिर्यो हवनादौ प्रवर्तते निवर्तते [1]वा, तदा तेषां द्रव्यादीनां तस्याभीष्ट[2]स्वर्गादिफलसाधनयोग्यतैव धर्म इत्यभिधीयते। एतेन वेदवचनैः प्रेरितोऽपि यदि न प्रवर्तते[3] न निवर्तते वा विपरीतं वा प्रवर्तते, तदा तस्य नरकाद्यनिष्टफलसंसाधनयोग्यतैव द्रव्यादिसंबन्धिनी पापमित्युच्यत इत्यपि ज्ञापितं[4] द्रष्टव्यम्। इष्टानिष्टार्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माधर्माविति हि मीमांसकाः। उक्तं च शाबरे— "य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते" [शाबरभा० १।१।२] अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्मः इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना। भट्टोऽप्येतदेवाह[5]—

> "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
> नोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेव धर्मता ॥१॥" [मी०श्लो० चोदना सू०श्लो०१९१]

है। 'यथा' शब्द उदाहरण दिखानेके लिए प्रयुक्त होता है। स्व·—स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष अग्निका तर्पण करे। श्लोकमे अक्षरोकी संख्या नियत रहती है अतः 'स्वःकामोऽग्नि यजेत्' यह कह दिया है। वास्तविक रूपमे वह कथन 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम.'—स्वर्गाभिलाषी अग्निहोत्र यज्ञ करे, इस प्रवर्तक वेदवाक्यका ही द्योतक है। वेदवचन निवर्तक भी होते है अत· नोदना प्रवर्तक तथा निवर्तक दोनो ही रूप होती है। जैसे 'किसी प्राणीको न मारे', 'हिसक न बने' इत्यादि। इन नोदना—प्रेरणात्मक वाक्योसे प्रेरित होकर जो पुरुष प्रेरणाके अनुसार जिन द्रव्य गुण और क्रियाओसे हवन आदिमे प्रवृत्ति तथा हिसा आदिसे निवृत्ति करता है उन द्रव्य, गुण और क्रियाओमे रहनेवाली इष्ट स्वर्गादिफलोके साधन होनेकी योग्यता ही धर्म है। पुरुष रूप द्रव्य जिन बुद्धि आदि गुणोसे समिध तथा हवनीय द्रव्यको इकट्ठा करनेकी हलन-चलन क्रिया करता है उन सब द्रव्य, गुण और क्रियाओमे स्वर्गादिफलके साधन होनेकी जो योग्यता—शक्ति है वही धर्म कहलाती है। इससे यह भी सूचित होता है कि वैदिक वचनोको सुनकर उनसे प्रेरणा पाकर भी जो पुरुष जब हवन आदिमे प्रवृत्ति या हिंसा आदिसे निवृत्ति नही करता अथवा अन्य कार्यो मे प्रवृत्ति करता है तब उसकी अन्यथा प्रवृत्तिमे साधनभूत द्रव्य गुण और क्रियाओकी जो नरक आदि अनिष्ट फलोमे साधन होनेकी योग्यता—शक्ति है उसे पाप या अधर्म कहते है। तात्पर्य यह कि इष्ट साधन पदार्थोको योग्यताको धर्म तथा अनिष्ट साधन पदार्थोकी योग्यता—शक्तिको अधर्म कहते है। यह शक्ति तो अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय न होकर वेदसे ही जानी जाती है। शाबरभाष्यमे कहा है कि—"जो श्रेयस्कर हो वही धर्म है।" इस वाक्यसे शबर स्वामीने द्रव्य, गुण आदिकी इष्ट अर्थको सिद्ध करनेकी योग्यता ही धर्म शब्दके द्वारा प्रतिपादित की है। कुमारिल भट्टने भी यही कहा है कि—"पुरुषकी प्रीतिको श्रेय कहते हैं। यह प्रीति नोदना—वेदवाक्यके द्वारा प्रतिपादित यागादिमे उपयुक्त होनेवाले द्रव्य, गुण और क्रियाओसे उत्पन्न होती है अत. स्वर्गादिरूप प्रीतिके साधन द्रव्य, गुण आदिमे ही धर्मरूपता है। यद्यपि ये द्रव्य, गुण और क्रियाएँ इन्द्रियगम्य

---

१ वा तेषा तदा द्र–म० २। २ –ष्टफलस्वर्गादिफल म० १, म० २, प० २, क०। –३. ते विप –म० २। ४. ज्ञातव्यं म० २। ५. तदाह म० २।

"[1]एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता।
श्रेय साधनता ह्येषा नित्य वेदात्प्रतीयते ॥२॥
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः।" [मी०श्लो० चोदना सू० श्लो० १३-१४

इति ॥७१॥

§ ५२५ अथ विशेषलक्षणं प्रमाणस्याभिधानीयं, तच्च सामान्यलक्षणाविनाभूतम्, तत प्रथमं प्रमाणस्य [2]सामान्यलक्षणमभिधीयते। 'अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम्' इति। अनधिगत अगृहीतो योऽर्थो बाह्य· स्तम्भादिस्तस्याधिगन्तृ आधिक्येन संशयादिव्युदासेन परिच्छेदकम्। अन धिगतार्थाधिगन्तृ प्रागज्ञातार्थपरिच्छेदकम्. समर्थविशेषणोपादानाज्ज्ञानं विशेष्यं लभ्यते, अगृहीतार्थ ग्राहकं ज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः। अत्र 'अनधिगत' इति पदं धारावाहिज्ञानानां गृहीतग्राहिणा प्रामाण्य पराकरणार्थम्। 'अर्थ' इति ग्रहणं संवेदनं स्वसंविदितं भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, किन्तु नित्यं परोक्षमेवेति ज्ञापनार्थम्। तच्च परोक्षं ज्ञानं [3]भाट्टमतेऽर्थप्राकटचफलानुमेयम्[4] प्रभाकरमते संवेदनाख्यफलानुमेयं वा प्रतिपत्तव्यम्।

है फिर भी उनका इन्द्रियगम्य रूप धर्म नही है। किन्तु वेदके द्वारा प्रतिपादित उनकी श्रेय· साधनता ही धर्म है। वेद द्रव्यगुणादिकी श्रेय -साधनताका सदा प्रतिपादन करता है अत· द्रव्य, गुण आदि श्रेय साधन रूपसे ही धर्म कहे जाते हैं। यही कारण है कि उनकी वह श्रेय साधनता रूप शक्ति, जिसे धर्म कहते है, इन्द्रियोका विषय नही होती" ॥ ७१ ॥

§ ५२५. प्रमाणोके विशेष लक्षणका कथन सामान्य लक्षणके कथन पूर्वक होता है, पहले प्रमाणका सामान्य लक्षण कहते है। "नही जाने गये अनधिगत पदार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है" अनधिगत—नही जाने गये खभा आदि बाह्य पदार्थोको संशय आदिका निराकरण कर अधिकतासे विशेषताके साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। यद्यपि लक्षण वाक्य मे 'ज्ञान' पद नही है फिर 'अगृहीत पदार्थको जाननेवाला' इस समय विशेषणकी सामर्थ्यसे विशेष्यभूत ज्ञानका बोध हो जाता है। तात्पर्य यह कि अगृहीत पदार्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। अनधिगत पदसे गृहीत—जाने गये पदार्थोको जाननेवाले गृहीतग्राहिधारावाहि ज्ञानोकी प्रमाणताके निराकरण के लिए दिया गया है। 'अर्थ' पदसे सूचित होता है कि ज्ञान केवल अर्थको ही जानता है अपने स्वरूपको नही। ज्ञान स्वसवेदी नही है, क्योकि अपने-आपमे क्रियाका विरोध है। वह तो नित्य ही परोक्ष है। भाट्टमतमे इस परोक्ष ज्ञानका अर्थ प्राकट्य नामक फलसे अनुमान होता है। ज्ञानके द्वारा जब पदार्थ जाना जाता है तब वह ज्ञात होता है और उसमे ज्ञातता या प्राकट्य नामका धर्म उत्पन्न होता है। इसी प्राकट्यसे ज्ञानके स्वरूपका अनुमान होता है। यदि ज्ञान न होता तो पदार्थमे ज्ञातता या प्राकट्य उत्पन्न नही हो सकता। प्राभाकर मतमे उस परोक्ष ज्ञानका प्रमाणके सवेदन रूप फलसे अनुमान होता है।

---

१ एषामिन्द्रिय –म० । २ "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहित-गृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम् इति प्रमाणलक्षण सूचितम्।"–शास्त्रदी० पृ० १५२। "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाण इति भट्टमीमासका आहु।"–सि० चन्द्रोदय, पृ० २०। ३. मते प्राकट्य –म० २। ४ प्रभाकरमते –म० , प० १, प० २, आ०, क०। "अप्रत्यक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः, न हि बहिर्देशमवेतं प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिम्।" –शाबरभा० १।१।५ "अर्थापत्ति ज्ञानस्य प्रमाणम् [illegible] अर्थस्य ज्ञातत्वान्यथानुपपत्तिप्रभवा। प्रागर्थस्य ज्ञातत्वाभावान्नोत्पद्यते। ज्ञाते त्वर्थे पश्चाज्ज्ञानमनुमानमर्थापत्तिर्वावगम्यते"–मी० श्लो० टी० सू० १।१।५। शून्यवाद श्लो० १८१-१८२। "नान्यथा हि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नेति सिद्धत्वप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्।"–शास्त्रदी० १।१।५। ५ "तस्मात् बुद्धिविषयं प्रत्यक्षं, [illegible] हि तत् [illegible] सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः [illegible]।"–शाबर भा०, पृ० ६२। बृहती १।१।५।

§ ५२६. अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं तन्नामानि तत्संख्यां चाह[1]—

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥

§ ५२७. व्याख्या—प्रत्यक्षानुमानशाब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि[2] षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः संमतानीत्यध्याहारः । चकाराः समुच्चयार्थाः । तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्रभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतां मन्यमानोऽभिमन्यते । षडपि तानीति भट्टो भाषते ॥७२॥

§ ५२८. अथ प्रत्यक्षस्य लक्षणमाचष्टे—

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां संप्रयोगे सतां सति ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥७३॥

§ ५२९. व्याख्या—'तत्र' इति निर्धारणार्थः । इयमत्राक्षरघटना-सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणा बुद्धिजन्मप्रत्यक्षमिति। [3]श्लोके तु बन्धानुलोम्येन व्यस्तनिर्देशः। सतां विद्यमानानां वस्तूनां संबन्धिनि [4]संप्रयोगे संबन्धे सति आत्मनो जीवस्येन्द्रियाणां यो बुद्ध्युत्पादः तत्प्रत्यक्षमिति । सतामित्यत्र सत इत्येकवचनेनैव प्रस्तुतार्थसिद्धौ षष्ठीबहुवचनाभिधानम् बहूनामप्यर्थानां संबन्ध इन्द्रियस्य संयोगः क्वचन भवतीति ज्ञापनार्थम् । अत्र जैमिनीयं सूत्रमिदम्—"सत्सप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।" [मी० सू० १।१।४] इति । व्याख्या—सता विद्यमानेन वस्तुनेन्द्रियाणा संप्रयोगे संबन्धे सति पुनरस्य यो ज्ञानोत्पादः, तत्प्रत्यक्षम् ।

---

§ ५२६. अब प्रमाण विशेषके लक्षणोकी या प्रमाणके विशेष लक्षणोकी कहनेकी इच्छासे पहले उनके नाम तथा उनकी संख्या बताते है—

जैमिनिमतमे प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण है ॥ ७२ ॥

§ ५२७. जैमिनि मुनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोको माना है । 'च' शब्द समुच्चयार्थक है । प्रभाकर अभावको प्रत्यक्षके द्वारा ग्राह्य मान कर अर्थापत्ति पर्यन्त पाँच ही प्रमाण स्वीकार करते है । भाट्ट अभावको भी प्रमाण मानते है, इनके मतमे छह हो प्रमाण है ॥७२॥

§ ५२८. अब प्रत्यक्षका लक्षण कहते हे—

विद्यमान पदार्थोसे इन्द्रियोका सम्बन्ध—सन्निकर्ष होनेपर आत्माको जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष कहते है । लैङ्गिक—लिंगसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको अनुमान कहते है ॥७३॥

§ ५२९ तत्र—जैमिनि मतमे । श्लोकमे छन्द रचनाके अनुरोधसे प्रत्यक्षके लक्षण शब्दोका वेसिलसिले निर्देश किया है, पर वस्तुत उन का क्रम इस प्रकार है—'सतां संप्रयोगे सति आत्मनोऽक्षाणा बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्' विद्यमान वस्तुओके सम्बन्ध होनेपर आत्माको इन्द्रियोके द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष है । यद्यपि 'सत ' ऐसा एकवचनका प्रयोग करनेसे भी वर्तमान पदार्थोसे इन्द्रियोके सन्निकर्षका सूचन हो सकता था फिर भी 'सताम्' यह बहुवचनका प्रयोग इस वातकी खास सूचना देता है कि—कभी-कभी, कही-कही वहुत पदार्थोके साथ भी इन्द्रियोका सम्बन्ध होता है । जैमिनिका प्रत्यक्षसूत्र यह है—सत्संप्रयोगे सति पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" विद्यमान वस्तुसे इन्द्रियोका सम्वन्ध होने पर पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।

---

१ च प्राह म० २ । २. -नि जै -म० २ । ३. श्लोकेऽनुबन्धानु-म० २ । ४ —नि प्रयोगे भ० १, म० २, प० १, प० २, क० १ । ५ इन्द्रियस -म० २ ।

§ ५३०. अयमत्र भावः–यद्विषयं विज्ञानं तेनैवार्थेन संप्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षाभासं त्वन्य[1]संप्रयोगजं यथा मरुमरीचिकादिसंप्रयोगजं जलादिज्ञानमिति। अथवा स[2]त्संप्रयोगजत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वमुच्यते। तत्र सति–विद्यमाने सम्यक्प्रयोगः अर्थेष्विन्द्रियाणां व्यापारो योग्यता वा, न तु नैयायिकाभ्युपगत एव संयोगादिः। तस्मिन्सति शेषं प्राग्वत्। इतिशब्दः प्रत्यक्षलक्षणसमाप्तिसूचकः।

§ ५३१. अथानुमानं लक्षयति पुनःशब्दस्य व्य[3]स्तसंबन्धात्। अनुमानं पुनर्लैङ्गिक[4]म् लिङ्गाङ्कितं लैङ्गिकम्। लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानमित्यर्थः। तत्रेदमनुमानलक्षणस्य सू[5]चामात्रमुक्तम्। संपूर्णं त्वित्थं तल्लक्षणम् "ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृ[6]ष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्" [शाबर भा० १।१।५] इति शाबरमनुमानलक्षणम्। व्याख्या—अवगतसाध्यसाधनाविनाभावसंबन्धस्य पुंस एकदेशस्य साधनस्य दर्शनादसंनिकृष्टे प[7]रोक्षेऽर्थे बुद्धिर्ज्ञानमनुमानमिति ॥७३॥

§ ५३२. अथ शाब्दमाह—

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं तु कीर्तितम्।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ॥७४॥

§ ५३३. व्याख्या—शाश्वतः अपौरुषेयत्वान्नित्यो यो वेदः तस्मादुत्था उत्थानं यस्य तच्छाश्वतवेदोत्थम्। अर्थाद्वेदशब्दजनितं ज्ञानं शाब्दं प्रमाणम्। अस्यैवं लक्षणम्—"शब्दज्ञानादसन्नि-

---

§ ५३० भावार्थ—जिस पदार्थका ज्ञान होता है उसी अर्थसे इन्द्रियोंका सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष होता है। अन्य पदार्थसे सम्बन्ध होनेपर अन्य पदार्थका ज्ञान होना प्रत्यक्षाभास है जैसे मरुस्थल की रेत और सूर्यकी किरणो आदिसे सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न होनेवाले भ्रान्त जल ज्ञान आदि। अथवा, सत्सम्प्रयोगजका अर्थ है विद्यमान पदार्थोंकी उपलब्धि करनेवाला। विद्यमान पदार्थमे इन्द्रियोके सम्यक् प्रयोग-व्यापार या योग्यताको सत्सम्प्रयोग कहते है न कि नैयायिकके द्वारा माने गये सयोग आदि सन्निकर्षोंको ही। श्लोकमे आया हुआ 'इति' शब्द प्रत्यक्ष के लक्षणकी समाप्तिका सूचक है।

§ ५३१ पुन शब्द पहले कहे गये अनुमानका सूचन करता है। लिंगसे उत्पन्न होनेवाले लैंगिक ज्ञानको अनुमान कहते है। लिंगसे लिंगी—साध्यका ज्ञान अनुमान है। यह अनुमानके लक्षण की साधारण सूचना है। पूरा लक्षण तो शाबर भाष्यमे इस प्रकार बताया है—'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्'—साध्य और साधनके अविनाभावका यथार्थ परिज्ञान रखनेवाले पुरुषको एकदेश-साधनके देखनेसे असन्निकृष्ट—परोक्ष साध्य अर्थका ज्ञान होना अनुमान कहलाता है ॥७३॥

§ ५३२ अब आगमका लक्षण कहते हैं—

नित्य वेदसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको शाब्द—आगम कहते हैं। प्रसिद्ध अर्थकी सदृशतामे अप्रसिद्धकी सिद्धि करना उपमान है ॥७४॥

§ ५३३ शाश्वत—अपौरुषेय नित्य वेदमे उत्पन्न होनेवाला, अर्थात् वेदके शब्दोंसे होनेवाला ज्ञान शाब्द प्रमाण है। शाबरभाष्यमे शाब्दका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे

---

१ –न्यसंयोगज म० १, म० २, प० १, प० २। २ सत्प्रयोग–म० २। ३ व्यस्त ग–म० २। ४ –क दर्शनिगानमनु–म० २। ५ सूचामात्र—प० १, प० २ सूत्रमात्र— म० २। ६ –कृष्टे परोक्षेऽर्थे बुद्धिरनुमानलक्षणम् म० २। ७ परोक्षार्थे म० २।

कृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्" [शाबरभा० १।१।५] इति[1] । अयं शब्दोऽस्यार्थस्य वाचक इति यज्ज्ञानं तच्छब्दज्ञानम् । तस्मादनन्तरं शब्दे श्रुते ज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे अप्रत्यक्षेऽप्यर्थे घटादौ बुद्धिज्ञानं शाब्दं प्रमाणम् । शब्दादप्रत्यक्षे वस्तुनि यज्ज्ञानमुदेति तच्छाब्दमित्यर्थः । अत्र मते शब्दस्येदं स्वरूपं प्ररूप्यते । नित्या आकाशवत्सर्वगताश्च वर्णाः । ते च ताल्वोष्ठादिभिरभिव्यज्यन्ते न पुनरुत्पाद्यन्ते । विशिष्टानुपूर्वीका वर्णाः शब्दः । नित्यः[2] शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकसंबन्ध इति ।

§ ५३४. अथोपमानमाह 'उपमानं तु' इत्यादि । उपमानं पुनः कीर्तितम् । तत्किंरूपमित्याह 'प्रसिद्धार्थस्य' इत्यादि । प्रसिद्ध उपलब्धोऽर्थो गवादिर्यस्य पुंसः स प्रसिद्धार्थः ज्ञातगवादिपदार्थ इत्यर्थः । तस्य गवयदर्शने साधर्म्याद्गवयगतसादृश्यात्परोक्षे गवि अप्रसिद्धस्य पुरानुपलब्धस्य सादृश्यसाधनं ज्ञानम् । अस्येदं सूत्रं "उपमानमपि सादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" [शाबरभा० १।१।८] इति । गवयसादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे परोक्षस्य गोः सादृश्ये गोस्मरणस्येति । गवि स्मरणं यस्य पुंसः स गोस्मरणः तस्य गोस्मरणवत इत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । तत्रेदं तात्पर्यम्–येन प्रतिपत्त्रा गौरुपलब्धो न गवयो न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवय' इति श्रुतम्, तस्यारण्ये पर्यटतो गवयदर्शने प्रथम उपजायते परोक्षे गवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौः' इति, तदुपमानमिति । तस्य[3] विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः, तद्विशिष्टं वा

बुद्धि. शाब्दम्' 'यह शब्द इस अर्थका वाचक है' इस संकेतज्ञानको शब्दज्ञान कहते हैं। इस संकेत ग्रहणके बाद शब्दको सुननेपर जो परोक्ष अर्थका भी ज्ञान होता है उसे शाब्द प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष भी घट-पटादि पदार्थोंका शाब्द ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि शब्दसे होनेवाले अप्रत्यक्ष वस्तुविषयक ज्ञानको शाब्द कहते हैं। मीमांसक लोग वर्णोंको आकाशकी तरह नित्य तथा सर्वगत मानते हैं। तालु, मुख, नासिका आदिसे ये वर्ण प्रकट होते हैं, इनकी उत्पत्ति नहीं होती। विशिष्ट आनुपूर्वी-रचना वाले वर्ण ही शब्द कहलाते हैं। शब्द भी नित्य है। शब्द और अर्थका वाच्यवाचक सम्बन्ध भी नित्य है।

§ ५३४ उपमानका लक्षण—प्रसिद्ध—उपलब्ध है गौ आदि पदार्थ जिसको उस प्रसिद्धार्थ–गौ आदिको अच्छी तरहसे जाननेवाले पुरुषको गवय—रोजको देखते ही गवयमे रहनेवाली समानता-से परोक्ष गौमें गवयके सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यद्यपि गौमें गवयकी समानता मौजूद थी परन्तु उपमानके पहले पुरुषको उसकी समानताका ज्ञान नहीं था। उपमान प्रमाणसे 'गौ इस गवयके समान है' यह सादृश्य ज्ञान हो जाता है। उपमानका लक्षणसूत्र यह है 'उपमानमपि सादृश्यादसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य'—गवयकी सदृशतासे परोक्ष—सामने अविद्यमान गौके सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यह उपमान गौका स्मरण करनेवाले पुरुषको ही होता है। तात्पर्य–जिस प्रतिपत्ता—जाननेवाले ज्ञाताने गौको तो देखा है पर आज तक गवयको नहीं देखा और न 'गायके समान गवय होता है' इस अतिदेश—परिचय वाक्यको ही सुना है उस पुरुषको एक दिन जंगलमें घूमते समय एकाएक गवय दिखाई देता है। वह पहले ही पहले गवयको देखकर उससे परोक्ष गौकी समानता मिलाता है और समझ लेता है कि—'इसके समान गौ है' यह परोक्ष गौमें होनेवाला गवय-सादृश्यज्ञान उपमान कहलाता है।

---

1 "शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् ।" –शाबर भा० १।१।५। 2 "अपौरुषेय शब्दस्यार्थेन संबन्धः ।" –शाबरभा० १।१।५। 3 "तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते । विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमान-

सादृश्यमिति। अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं, यतोऽत्र गवयविषयेण प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसंनिहितस्य गोः सादृश्यम्। यदपि तस्य पूर्वं गौरिति प्रत्यक्षमभूत् तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम्। तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृ परोक्षे गवि गवयदर्शनात्सादृश्यज्ञानम् ॥७४॥

§ ५३५. अथार्थापत्तिलक्षणमाह—

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥७५॥

§ ५३६. व्याख्या—प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैर्दृष्टः प्रसिद्धो योऽर्थः, तस्यानुपपत्त्या-अन्यथासंभवेन तु-पुनः कस्याप्यन्यस्य अदृष्टस्यार्थस्य कल्पना यद्बलेन यस्य ज्ञानस्य बलेन सामर्थ्येन क्रियते। 'दृष्टाद्यनुपपत्त्या' इति पाठे तु दृष्टः प्रमाणपञ्चकेन आदिशब्दात् श्रुतः शब्दप्रमाणेन तस्य दृष्टस्य श्रुतस्य चार्थस्यानुपपत्त्या कस्याप्यर्थस्य कल्पना यद्बलेन क्रियत इति प्राग्वत्। असावदृष्टार्थकल्पनारूपं ज्ञानमेवार्थापत्तिरुदाहृता। अत्रेदं सूत्रम्— "अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना" [शाबरभा० १।१।५] इति। अत्र प्रमाणपञ्चकेन दृष्टः शब्देन श्रुतश्चार्थौ मिथोवैलक्षण्यज्ञापनार्थं पृथक्कृत्योक्तौ स्तः। शेषं सुगमम्। इदमुक्तं भवति-प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कविज्ञातोऽर्थो येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः।

§ ५३७. तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिः[3] यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शानुपलम्भ दाहशक्तियोगः

सादृश्यविशिष्ट गौ या गोविशिष्ट सादृश्य उपमानका प्रमेय—विषय है। यह उपमान अनधिगत—अभी तक अज्ञात—पदार्थको जाननेके कारण प्रमाण है; क्योंकि गवयको जाननेवाले प्रत्यक्षने तो मात्र गवयको ही जाना है वह परोक्ष गौकी सदृशताको नहीं जानता। पहले जो गोविषयक प्रत्यक्ष हुआ था उसने तो गवयको स्वप्नमें भी नहीं जाना था। गोविषयक प्रत्यक्षके लिए जब गवय अत्यन्त परोक्ष था तब उसके द्वारा गवयकी अपेक्षा गौमें सादृश्यज्ञान हो ही नहीं सकता था। इस तरह 'गवयके समान गौ है' यह प्रतीति न तो गवय प्रत्यक्षके द्वारा ही पहले हुई है और न गो प्रत्यक्षके द्वारा ही। अतः गवयको देखकर परोक्ष गौमें होनेवाला सादृश्य ज्ञान अगृहीतग्राही होनेसे प्रमाण है ॥७४॥

§ ५३५. अब अर्थापत्तिका लक्षण कहते हैं—

र्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिरध्यक्षपरिच्छेद्या नाप्यनुमानादिसमधिगम्या[1] अप्रत्यक्षया शक्त्या सह कस्यचिदर्थस्य संबन्धासिद्धेः । [2]अनुमानपूर्विकार्थापत्तिः यथादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमाने ततोऽनुमानाद्गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्यावसीयते । [3]उपमानपूर्विकार्थापत्तिः यथा 'गवयवद्गौः' इत्युक्तेरर्थाद्वाहदोहादिश[क्ति]योगस्तस्य प्रतीयते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरितीतरनामिका यथा शब्दादर्थप्रतीतौ शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । [4]अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन[5] संबन्धसिद्धावर्थान्नित्यत्वसिद्धिः पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । [6]अभावपूर्विकार्थापत्तिः यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादर्थाद्बहिर्भावः । अत्र च चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते, पञ्चम्या नित्यता, षष्ठ्या गृहाद्बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यत इत्येवं षट्प्रकारार्थापत्तिः । अन्ये तु [8]श्रुतार्थापत्ति[9]मन्यथोदाहरन्ति, पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इति वाक्यश्रवणाद्रात्रिभोजनवाक्यप्रतीतिः[10], श्रुतार्थापत्तिः । [11]§ गवयोपमितस्य गोस्त-

---

छू करके अग्निमे दाहक—जलानेकी शक्तिकी कल्पना 'अग्निमे दाहक शक्ति है अन्यथा दाह नही हो सकता था' इस अर्थापत्तिसे की जाती है।' अतीन्द्रिय शक्तिका प्रत्यक्षसे तो परिज्ञान हो ही नही सकता। अतीन्द्रिय परोक्ष शक्तिके साथ किसी पदार्थका अविनाभाव भी पहलेसे गृहीत नही है, अत शक्तिका अनुमान भी नही किया जा सकता । अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति—देवदत्तका एक देशसे दूसरे देशमे पहुँचना गतिपूर्वक देख कर सूर्यके भी एक देशसे देशान्तर पहुँचनेसे गमन करनेका अनुमान होता है। इस अनुमित गतिके द्वारा गमन शक्तिकी कल्पना 'सूर्यमे गमन शक्ति है अन्यथा वह गति नही कर सकता' इस अर्थापत्ति से की जाती है। उपमानपूर्विका अर्थापत्ति—'गवयकी तरह गौ है' इस उपमानवाक्यके अर्थसे गौमे बोझा ढोना तथा दूध देने आदिकी शक्तिकी कल्पना करना। यदि उसमे बोझा ढोने और दूध देनेकी शक्ति नही है तो वह गाय ही नही हो सकती। शब्दपूर्विका अर्थापत्ति—शब्दसे अर्थकी प्रतीति देखकर शब्द और अर्थके वाच्यवाचक सम्बन्धकी कल्पना करना। इसे श्रुतार्थापत्ति भी कहते है। अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति—शब्दपूर्विका अर्थापत्तिसे शब्द और अर्थके सम्बन्धको जानकर उस सम्बन्धके बलसे शब्दको नित्य और अपौरुषेय सिद्ध करना। शब्द यदि पौरुषेय—पुरुषकृत होगा तो उसमे नित्यसम्बन्ध नही बन सकेगा। अभावपूर्विका अर्थापत्ति—जीवित देवदत्तको घरमें न देखकर उसके बाहर होनेकी कल्पना करना। इनमे उपमानपूर्विका अर्थापत्तिपर्यन्त चार श्रुतार्थापत्तियोसे शक्तिकी सिद्धि की जाती है। पाँचवी अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्तिसे नित्यता तथा छठवी अभावपूर्विका

---

१. –गम्या प्रत्यक्षश –म० २। –गम्या प्रत्यक्षया श –प० १, प० २, क०, आ०। २ 'वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता।" —मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ३। ३ "गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता।" —मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ४। ४ –शब्दयो –म० २। ५ "अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात्। शब्दे बोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् ॥ अभिधान्यथा सिद्ध्येदितिवाचकशक्तताम्। अर्थापत्त्यावगम्यैवं तदनन्यगते पुन ॥ अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चय ॥" —मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ७–८। ६ –न सिद्धा– म० २। ७ "प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्। गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ॥ तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्।" —मी० श्लो० अर्थापत्ति० श्लो० ८–९। ८ "पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ। रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥" —मी० श्लो० अर्थापत्ति श्लो० ५१। ९ –त्तिमेवेदा– म० २। १० –प्रतिपत्ति म० १, म० २, प० १, प० २। ११. § एतदन्तर्गत पाठो नास्ति म० १, म० २, प० १, प० २।

ज्ञानग्राह्यताशक्तिरुपमानपूर्विकार्थापत्तिरिति]। इयं च षट्प्रकाराप्यर्थापत्तिर्नाध्यक्षम्, अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थविषयत्वात्। अत एव नानुमानमपि, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तस्य, ततः प्रमाणान्तरमेवार्थापत्तिः सिद्धा ॥७५॥

§ ५३८. अथाभावप्रमाणं स्वरूपतः प्ररूपयति—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं[1] तत्राभावप्रमाणता ॥७६॥

§ ५३९. व्याख्या—सदसदंशात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादीनि पञ्च प्रमाणानि सदंशं गृह्णते न पुनरसदंशम्। प्रमाणाभावलक्षणस्त्वभावोऽसदंशं गृह्णीते न पुनः सदंशम्। "अभावोऽपि प्रमाणाभावरूपो नास्तीत्यर्थस्यासंनिकृष्टस्य प्रसिद्ध्यर्थं प्रमाणम्" [मी० श्लो० ११२] इति वचनात्।

§ ५४०. अन्ये पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति। प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोऽभावः प्रतिषेध्यमानाद्वा तदन्यज्ञानम्, आत्मा वा विषयग्रहणरूपेणानभिनिर्वृत्तस्वभाव इति। तत्र प्रस्तुतश्लोकस्यायमर्थः— प्रमाणपञ्चकं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र भूतलादावाधारे घटादेराधे-

---

अर्थापत्तिसे घरसे बाहर देवदत्तकी सत्ता सिद्ध की जाती है। कुछ आचार्य श्रुतार्थापत्तिका दूसरा ही उदाहरण देते हैं—'मोटा देवदत्त दिनको भोजन नहीं करता' इस वाक्यको सुनकर उसके रात्रिमें भोजन करनेकी कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति है। इसी तरह गवयसे उपमित होनेवाली गायमें उपमान ज्ञानके ग्राह्य होनेकी शक्तिकी कल्पना करना उपमानपूर्विका अर्थापत्ति मानते हैं। यह छहों प्रकारकी अर्थापत्ति अतीन्द्रियशक्ति आदिको विषय करनेके कारण प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती। चूँकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है अतः यह अनुमान रूप भी नहीं है। इस तरह अर्थापत्ति स्वतन्त्र प्रमाण ही है ॥७५॥

§ ५३८. अब अभाव प्रमाणका स्वरूप बताते हैं—

वस्तुकी सत्ताके ग्राहक प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण जिस वस्तुमें प्रवृत्ति नहीं करते उसमें अभावप्रमाणकी प्रवृत्ति होती है ॥७६॥

यस्य ग्रहणाय न जायते न प्रवर्तते, तत्र आधेयवर्जितस्याधारस्य ग्रहणेऽभावप्रमाणता अभावस्य प्रामाण्यम् । एतेन निषिध्यमानात्तदन्यज्ज्ञानमुक्तम् । तथा 'प्रमाणपञ्चकं यत्र' इति पदस्यात्रापि संबन्धाद्यत्र वस्तुरू[1]पे घटादेर्वस्तुनो रूपेऽसदंशे ग्राहकतया न जायते, तत्रासदंशेऽभावस्य प्रमाणता । एतेन प्रमाणपञ्चकाभाव उक्तः । तथा प्रमाणपञ्चकं 'वस्तुसत्तावबोधार्थं' घटादिवस्तुसत्ताया अवबोधाय न जायते[2]-असदंशे न व्याप्रियते तत्र सत्तानवबोधेऽभावस्य प्रमाणता । अनेनात्मा विषयग्रहणरू[3]पेणापरिणत उक्तः । एवमिहाभावप्रमाणं त्रिधा प्रदर्शितम् । तदुक्तम्—

> "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
> सात्मनो [ऽ] परिणामो वा, विज्ञान वान्यवस्तुनि ॥१॥
> [मी० श्लोक० अभाव० श्लो० ११]

§ ५४१. अ[4]त्र साशब्दोऽनुत्पत्तेर्विशेषणतया योज्य इति स[5]म्मतिटीकायामभावप्रमाणं यथा त्रिधोपदर्शितं तथेहापि तद्दर्शितम् ।

§ ५४२. रत्नाकरावतारिकायां तु प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिरित्य[6]स्यैवोक्तस्य बलेन द्विधा तद्वर्णितमास्ते । त[7]त्र सशब्दः पुल्लिङ्गः प्रमाणाभावस्य विशेषणं कार्य इति । तत्त्वं तु बहुश्रुता जानते ।

§ ५४३. अथ येऽभावप्रमाणमेकधाभिदधति तन्मतेन प्रस्तुतश्लोको व्याख्यायते । प्रमाण-

---

भूतल आदि आधारमे घटादि रूप आधेयके ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त नही होते उस घटादि आधेयसे शून्य शुद्ध भूतलके ग्रहण करनेके लिए अभावकी प्रमाणता है । इस अर्थसे निषिध्यमान घटसे अन्य—भिन्न शुद्ध भूतलका ज्ञान ही अभाव प्रमाण होता है । 'प्रमाणपञ्चक यत्र' इस पदका सम्बन्ध यहाँ भी होता है । अर्थात्—जिस वस्तुरूप-घटादि वस्तुके असदशमे पाँच प्रमाणोकी प्रवृत्ति नही होती उस असदशमे अभाव प्रमाण होता है । इससे पाँच प्रमाणोके अभावरूप अभाव प्रमाणका कथन हुआ । इसी तरह घटादि वस्तुओकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए जब पाँच प्रमाण उत्पन्न नही होते तव सत्ताका अनवबोध—अज्ञान रहने पर अभावको प्रमाणता है । इस अर्थमे आत्माकी विषय ग्रहण रूप परिणति न होना ही अभाव प्रमाण है । इस तरह अभाव प्रमाण तीन प्रकारका कहा गया है । कहा भी है—प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोकी अनुत्पत्तिको प्रमाणाभाव—अभाव प्रमाण कहते हैं । अथवा आत्माकी विषय ग्रहण रूपसे परिणति न होना या घटादि निषेध्य पदार्थोसे भिन्न शुद्ध भूतल आदि वस्तुओका परिज्ञान होना भी अभाव प्रमाण है ।"

§ ५४१. श्लोकमे 'सा' शब्द अनुत्पत्तिका विशेषण है । सन्मति-तर्ककी टीकामें अभाव प्रमाणका इसी तरह तीन प्रकारसे व्याख्यान किया है । हमने भी उन्हीके अनुसार यहाँ तीनो प्रकार बता दिये है ।

§ ५४२. रत्नाकरावतारिकामे प्रत्यक्षादिकी अनुत्पत्तिको ही दो रूप मानकर उसी श्लोकसे अभाव प्रमाणके दो ही प्रकार बताये है । 'स.' शब्द पुल्लिङ्ग है अत. वह प्रमाणाभावका विशेषण है । अभाव प्रमाण दो प्रकारका है या तीन प्रकारका इसका मर्म तो बहुश्रुत आचार्योके ग्रन्थोसे ही समझ लेना चाहिए ।

§ ५४३. अब जो अभाव प्रमाणको एक ही प्रकारका मानते हैं उनके मतसे इस श्लोकका

---

१ -रूपेऽसदंशे म० २ । २ -ते तत्र सत्ता -म० २ । -ते न व्याप्ति -म० १, प० १, प० २ । ३ -रूपेण परि- आ० । ४. अत्र सशब्दो आ०, क० । ५ सन्मति० टी०, पृ० ५८० । ६. -स्यैवानुक्तस्य म० २ । ७. तत्र शब्द म० २ ।

पञ्चकं प्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकं यत्र यस्मिन् वस्तुरूपे[1] घटादिवस्तुरूपे न जायते न व्याप्रियते। वस्तुरूपं द्वेधा, सदसद्रूपभेदात्। अतो [2]द्वयो रूपयोरेकतरव्यक्तये प्राह 'वस्तुसत्ता' इत्यादि। वस्तुनो घटादेः सत्ता सद्रूपता सदंश इति यावत्, तस्या अवबोधार्थं सदंशो हि [3]प्रत्यक्षादिपञ्चकस्य विषयः, स चेत्तेन न गृह्यते, तदा तत्र वस्तुरूपे शेषस्यासदंशस्य ग्रहणाभावस्य प्रमाणतेति।

§ ५४४. 'वस्त्वसत्तावबोधार्थं' इति क्वचित्पाठान्तरम्। तत्रायमर्थः–प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुनो रूपे न व्याप्रियते, तत्र वस्तुनो यासत्ता असदंशः, तदवबोधार्थमभावस्य प्रमाणतेति। अनेन च[4] [5]त्रिविधेनैकविधेन वाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटाभावो गम्यते। न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, [6]भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात्।

§ ५४५. अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यत इत्यनुमानग्राह्योऽभाव इति चेत्, न; साध्यसाधनयोः कस्यचित्संबन्धस्याभावात्। तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव।

§ ५४६. अभावश्च प्रागभावा[7]दिभेदभिन्नो वस्तुरूपोऽभ्युपगन्तव्यः, अन्यथा कारणादिव्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते॥१॥

व्याख्यान करते हैं। जब घटादि वस्तुके सदंशमे प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोका व्यापार नही होता तब उस वस्तुके शेष—अभावांशमे अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। वस्तुके दो रूप होते है—एक सदात्मक और दूसरा असदात्मक। वस्तुका सदात्मक अंश प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोका विषय होता है। जब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाण उस सदंशको ग्रहण नही करते तब बचे हुए असदंशको अभाव प्रमाण विषय करता है।

§ ५४४. कही-कही 'वस्त्वसत्तावबोधार्थम्' यह पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ यह होता है—जिस वस्तुके स्वरूपको ग्रहण करनेके लिए प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोका व्यापार नही होता, उस वस्तुके असदंशको जाननेके लिए अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। इस तरह तीन प्रकारके या एक ही प्रकारके अभाव प्रमाणसे किसी भूतल आदि प्रदेशमे घडेका अभाव जाना जाता है। इन्द्रियोका संयोग वस्तुके भावांशसे ही होता है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा अभावांश नही जाना जा सकता। प्रत्यक्षके द्वारा अभावका विषय किया जाना बाधित है।

§ ५४५. घडेकी अनुपलब्धि रूप लिंगसे किसी भूतल आदि प्रदेश रूपी धर्मीमे घडेके अभावको साध्य मानकर 'इस प्रदेशमे घडा नही है क्योकि अनुपलब्ध है' इस अनुमानसे अभावको ग्रहण करना भी असम्भव है, क्योकि साध्य और साधनका अविनाभाव पहलेसे गृहीत नही हो पाता तथा साध्य-साधनमे कोई कार्य कारण भाव आदि सम्बन्ध भी नही है। इसलिए अभावको स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

§ ५४६. अभाव प्रमाणका विषयभूत अभाव पदार्थ वस्तुरूप है तथा वह चार प्रकारका है—१ प्रागभाव, २ प्रध्वंसाभाव, ३ अन्योन्याभाव, ४ अत्यन्ताभाव। यदि ये चार अभाव न हो तो संसारमे कारण कार्य तथा घट, पट, जीव, अजीव आदिकी प्रतिनियत व्यवस्थाका लोप होकर

---

१ –रूपे न जायते न व्या– म० १, म० २, प० १, प० २। २ द्वयोरेकतर– म० २। ३ –दि प्रमाण– म० २। ४ –नैव व्या– मा० २। ५ त्रिविधेनैकधा– म० २। ६ भावांशेन प्रमाण– म० २। "न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः। भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि।" –मी० श्लो० अभाव० श्लो० १८। ७ –दिभि– म० २।

यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यौ यतस्त्वयम् ।
तस्मादगवादिवद्वस्तुप्रमेयत्वाच्च गृह्यताम् ॥२॥
न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता ।
कार्यादीनामभावः को भावो यः [1]कारणादिना ॥३॥
[2]वस्तु(स्त्व) संकरसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यं समाश्रिता ।
[3]क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥४॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥५॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते ॥६॥" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० २-९]

यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत् तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् ।

"क्षीरे दधि भवेदेव दध्नि क्षीर घटे पटः ।
शशे शृङ्ग पृथिव्यादौ चैतन्य मूर्त्तिरात्मनि ॥७॥

समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। ये समस्त कार्यकारण आदि व्यवहार सर्वलोक प्रसिद्ध हैं इनका लोप करनेसे वस्तुमात्रका अभाव हो जायगा। कहा भी है—"यदि प्रागभाव आदिके भेदसे अभावके चार भेद न होते तो संसारमे यह कार्य है, यह कारण है इत्यादि व्यवहार नही हो सकते थे। कार्यके प्रागभावको कारण तथा प्रागभावके प्रध्वंसको ही कार्य कहते हैं। यदि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न हों तो कारण कार्य व्यवहार किसके बलपर किया जायगा? अथवा, अभाव वस्तु है, क्योकि उसमें गौ आदिको तरह 'अभाव अभाव' यह अनुवृत्त—सामान्य प्रत्यय और 'प्रागभाव' प्रध्वसाभाव' यह व्यावृत्त—विशेष प्रत्यय होते है तथा वह प्रमाणका विषय है प्रमेय है। अवस्तुके तो ये प्रागभाव आदि भेद हो ही नही सकते। अतः चूँकि इसके प्रागभाव आदि अवान्तर भेद है इसीलिए यह वस्तु है। घट आदि कार्योंका अभाव ही मृत्पिण्ड आदि कारणोका सद्भाव है। तात्पर्य यह कि अभाव सर्वथा तुच्छ न होकर भावान्तर रूप है। घड़ेका अभाव शुद्ध भूतल रूप है। कार्यका अभाव कारणके सद्भाव रूप है। वस्तुओंका अपने-अपने नियत स्वरूपमें स्थिर रहना उनका आपसमे नही मिलना ही अभावकी सत्ताका सबसे जबरदस्त प्रमाण है। दूध आदि कारणोमें दही आदि कार्योका न होना ही प्रागभाव है। यदि प्रागभाव न होता तो दूधमें भी दही मिलना चाहिए था। दही आदि कार्योमे दूध आदि कारणोंका नही मिलना प्रध्वंसाभाव है। यदि प्रध्वंसाभाव न होता तो दूधका नाश न होकर दही अवस्थामे भी उसका सद्भाव रहना चाहिए था। गाय आदिमे घोड़े आदिका अभाव अन्योन्याभाव है। खरगोशके सिरके अवयवोमे वृद्धि तथा कठिनता न होकर निम्न—समतलमे रहना ही सीगका अत्यन्ताभाव है। सिरके अवयवोका कठिन होकर बढने लगना आगेको निकल आना ही सीग कहलाते हैं। जब सिरके अवयव समतलमे रहेगे कठिन तथा बढेगे नही तब वही सिरकी समतलता ही शशशृंगका अत्यन्ताभाव कही जाती है। यदि इनका व्यवस्थापक अभाव प्रमाण न हो तो वस्तुकी नियत व्यवस्थाकी आशा ही नही की जा सकती। अभावोका लोप करनेसे तो सभी पदार्थ सब रूप हो जायेंगे उनका कोई नियामक ही नही रहेगा। उस समय तो—"दूधमे दही, दहीमे दूध, घड़ा ही कपड़ा, खरगोशके मस्तक पर सीग, पृथिवीमे चेतनता, आत्मामे मूर्तत्व, जलमे गन्ध, अग्निमें रस, वायुमे रूप, रस,

---

१ -दि न भ० १, प० १, प० २। -दित न० २। २ "वस्त्वसंकरसिद्धिश्च" -मी० श्लो०।
३ क्षीरोदध्यादि आ०, क०।

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि [1]संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥८॥" [मी०श्लो०अभाव०श्लो०५-६]इति ।

§ ५४७ अथ निरंशसदेकरूपत्वाद्वस्तुनोऽध्यक्षेण सर्वात्मना ग्रहणे कोऽपरो सदंशो यत्राभावः प्रमाणं भवेदिति चेत्; न, स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः[2], अन्यथा वस्तुत्वायोगात् । न च सदंशात्सदंशस्याभिन्नत्वात्तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति वाच्यम्, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि [3]भेदाभ्युपगमात् । तदेवं प्रत्यक्षाद्य[4]गृहीतप्रमेयाभावग्राहकत्वात् प्रमाणाभाव. प्रमाणान्तरमिति ।

§ ५४८.अथोक्तमपि किंचिद्व्यक्तये लिख्यते–अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम् । [5]पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरं तु फलम् [6]सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रमाणगोचरः[7] । नित्यपरोक्षं ज्ञानं हि भाट्टप्रभाकरमतयोरर्थप्राकट्याख्यसंवेदनाख्यफलानुमेयम् । वेदोऽपौरुषेयः । वेदोक्ता हिंसा धर्माय । शब्दो नित्यः ।

गन्ध, आकाशमे स्पर्श आदिका प्रसग होनेसे सारी लोकव्यवस्था नष्ट हो जायगी । यदि अभावकी सत्ता न मानी जायगी तो यह प्रतिनियत लोकव्यवहार नही हो सकेगा ।"

§ ५४७ शका—वस्तु तो मात्र सद्रूप है। उसमे एक ही सदश है अन्य असदंश है ही नही। अत जब वह निरश वस्तु पूरे रूपसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे ही गृहीत हो जाती है तब उसमे ऐसा कौन-सा असदश बचता है जिसे जाननेके लिए अभावको प्रमाण माना जाय ?

समाधान—वस्तु न तो निरश है और न केवल सदशवाली ही। वस्तुमे तो सत् और असत् दोनो ही अश है। वस्तुमे स्वरूपकी दृष्टिसे सदश है तथा परवस्तुओकी दृष्टिसे असदश। यदि वस्तु स्वरूपसे सत् न हो तो फिर वह कुछ भी नही रहेगी, सर्वथा असत् हो जायगी। इसी तरह यदि वस्तु पररूपसे असत् न हो तो स्व और परका विभाग ही नही रहेगा। तात्पर्य यह कि सदसदात्मक मानने पर ही उसमे वस्तुत्व रह सकता है।

शका –जब सदशसे असदश अभिन्न है तब प्रत्यक्षादिसे सदशका ग्रहण होनेपर असदशका ग्रहण तो अपने आप हो जायगा, उसको जाननेके लिए अभाव प्रमाणकी क्या आवश्यकता है ? धर्म और धर्मीमे तादात्म्य होनेसे धर्मोका भी परस्पर तादात्म्य हो ही जाना चाहिए।

समाधान—यद्यपि सदश और असदश रूप धर्मोका धर्मी अभिन्न है एक ही है परन्तु उनका परस्पर भेद भी है। अतः धर्मीकी दृष्टिसे परस्पर तादात्म्य होने पर भी स्वरूपकी दृष्टिसे दोनो ही धर्म जुदे-जुदे है। अतः सदशका प्रत्यक्षादिसे ग्रहण होने पर भी असदश अगृहीत रहता है और उसी असदशके ग्रहणके लिए अभाव प्रमाणकी आवश्यकता है। इस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे अगृहीत प्रमेयाभाव—अभाव नामक प्रमेयको ग्रहण करनेवाला प्रमाणाभाव—अभाव नामक प्रमाण स्वतन्त्र सिद्ध हो जाता है।

सर्वज्ञो नास्ति अविद्यापरनाममायावशात्प्रतिभासमानः सर्वः प्रपञ्चोऽपारमार्थिकः। परब्रह्मैव परमार्थसत् ॥७६॥

§ ५४९. उपसंहरन्नाह—

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥७७॥

§ ५५०. व्याख्या—अपिशब्दान्न केवलमपरदर्शनानां संक्षेपो निवेदितो जैमिनीयमतस्याप्ययं संक्षेपो निवेदितः। वक्तव्यस्य बाहुल्यादल्पीयस्यस्मिन् सूत्रे समस्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्संक्षेप एव[1] प्रोक्तः। अथ प्रागुक्तमतानां सूत्रकृन्निगमनमाह[2] 'एवं' इत्यादि। एवम् इत्थमास्तिकवादानां जीवपरलोकपुण्यपापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं वक्तव्याभिधानं संक्षेपकीर्तनं कृतम्[3] ॥७७॥

§ ५५१. अत्रैव विशेषमाह—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

§ ५५२. व्याख्या—अन्ये केचनाचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं पार्थक्यं न मन्यन्ते। एकदेवतत्वेन तत्त्वानां मिथोऽन्तर्भावनेऽल्पीयस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो

जिस तरह सीपमे चाँदीकी सत्ता न होकर उसका प्रतिभास होता है उसी तरह यह जगत् अपनी वास्तविक सत्ता न रखकर भी अविद्यासे प्रतिभासित होता है। जगत्प्रपंच मिथ्या है। ब्रह्म ही परमार्थ सत् है ॥ ७६ ॥

§ ५४९ उपसहार—

इस तरह जैमिनि मतका संक्षिप्त कथन समाप्त हुआ। इसके साथ ही साथ आस्तिकदर्शनोका निरूपण भी समाप्त होता है ॥ ७७ ॥

§ ५५० अपिशब्दसे सूचित होता है कि केवल अन्य दर्शनोका ही कथन नही किया है किन्तु जैमिनिदर्शनका भी यह सक्षिप्त कथन किया गया है। कहना तो बहुत कुछ था, परन्तु ग्रन्थकी मर्यादाको देखते हुए इस सक्षिप्त सूत्र ग्रन्थमे संक्षिप्त कथन करना ही उचित है। पहले कहे गये मतो का उपसहार करते हैं—इस तरह जीव, परलोक, पुण्य, पाप आदिके अस्तित्वको माननेवाले बौद्ध, नैयायिक, साख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इन छह आस्तिकदर्शनोका सक्षेपसे कथन किया गया है ॥७७॥

§ ५५१. विशेष वक्तव्य—

कोई आचार्य नैयायिक और वैशेषिक दर्शनको दो नही मानकर इन्हे एक ही मानते हैं, इनमे भेद नहीं करते, उनकी दृष्टिसे पाँच ही आस्तिकवादी दर्शन है ॥७८॥

§ ५५२ कोई-कोई आचार्य नैयायिक मतसे वैशेषिक मतको पृथक् नही मानते। उनका तात्पर्य है कि—दोनो ही एक देवताको मानते है, दोनो ही एक-दूसरेके तत्त्वोका अन्तर्भाव कर

---

१. प्रोक्तमताना म० २। २ –ह एवमित्यमा –म० २। ३. कृत ॥७७॥ इति तर्करहस्यदीपिकाया गुणरत्नसूरिविरचिताया मीमासकमतदर्शनो नाम षष्ठ प्रकाश। न वैशेषिका नाक्षपादा न साख्या न लोकायतिका नापि बौद्धा भवन्ति। न मीमासकास्त्वातुमेतं पतन्त विशुद्धन्त्वनेकान्तरूपस्त्वमीश ॐ नम पार्श्वपरमेश्वराय। अत्रैव विशेषमाह म० २।

मतेद्वयमेवेच्छन्तीत्यर्थ । तेषाम्–आचार्याणां मते आस्तिकवादिनः पञ्चैव न पुनः षट् ॥७८॥

§ ५५३. अथ दर्शनानां संख्या षडिति या जगत्प्रसिद्धा सा कथमुपपादनीयेत्याशङ्क्याह–

षड्दर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

§ ५५४. व्याख्या—ये नैयायिकवैशेषिकयोर्मतमेकमाचक्षते तन्मते षड्दर्शनसंख्या तु–षण्णां दर्शनानां संख्या पुनर्लोकायता नास्तिकास्तेषां यन्मतं तस्य [2]क्षेपे मीलन एव । किलेत्याप्तवादे । पूर्यते [3]पूर्णीभवेत् । तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते स्वरूपतः प्ररूप्यते । अत्राद्यपादे सप्ताक्षरं छन्दोऽन्तरमिति न छन्द शास्त्रविरोधः शङ्कनीयः ॥७९॥

□

अथ लोकायतमतम्

§ ५५५ प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते[4]। कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजान्ताश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते । चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते । केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति

लेते हैं, अत इनमे बहुत थोड़ा ही भेद रह जाता है। अत यही उचित है कि इनको पृथक् न मानकर एक ही मानना चाहिए। इन आचार्योंके मतसे आस्तिकदर्शन पांच ही होते हैं न कि छह ॥७८॥

§ ५५३ 'जब आस्तिकदर्शन पाँच ही हैं तब दर्शनोकी जगत्प्रसिद्ध षट् सख्या कैसे बनेगी ? ससारमे तो 'षड्दर्शन' ही प्रसिद्ध है' इस शकाका समाधान करते हैं—

इन आचार्योंके मतमे पाँच आस्तिकदर्शनोमे छठवाँ नास्तिक चार्वाकदर्शन मिलानेपर दर्शनोकी छह संख्या पूर्ण होती है, इसीलिए चार्वाक मतका भी निरूपण करते हैं ॥७९॥

§ ५५४ जो आचार्य नैयायिक मत और वैशेषिक मतको एक ही मानते हैं उनके मतमे दर्शनोकी छह सख्या पांच आस्तिकदर्शनोमे लोकायत इस दृश्य लोकको ही माननेवाले नास्तिकदर्शनके मिलानेपर ही पूर्ण होती है। इसीलिए चार्वाकमतका स्वरूप कहते हैं। इस श्लोकके पहले पादमे सात अक्षर हैं अत ऐसा ही कोई आर्षछन्द मानना चाहिए। इसे अनुष्टुप् छन्द मानकर छन्द शास्त्रके विरोधकी सम्भावना नही करनी चाहिए। यह आर्षग्रन्थ है ॥७९॥

□

निगदन्ति । तन्मते भूतेभ्यो [1]मदशक्तिवच्चैतन्यमुत्पद्यते । [2]जलबुद्बुदवज्जीवाः । चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति । ते च मद्यमांसे भुञ्जते [3]मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते । वर्षे वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे[4] सर्वे संभूय यथानामनिर्गमं [5]स्त्रीभिरभिरमन्ते । धर्मं कामादपरं न मन्वते । तन्नामानि चार्वाका लोकायता इत्यादीनि । 'गल चर्व अदने' चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः । "मयाकश्यामाक" [ ] इत्यादिसिद्धहैमोणादिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता लौकायतिका इत्यपि । बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति ।

§ ५५६. अथ तन्मतमेवाह—

कहते है । इनके मतमे इन भूतोके विशिष्ट संयोगसे ही महुआ आदिके सडानेपर शराबमे मादकशक्तिकी तरह भूतोमे ही चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है । जिस तरह जलमे बुलबुले उत्पन्न होते और विलीन होते रहते है उसी तरह जीव भी इन्ही भूतोसे उत्पन्न होकर इन्हीमे लीन होते रहते है । चैतन्य विशिष्ट शरीरका नाम ही आत्मा है । ये शराब पीते हैं, मास खाते है तथा माता आदि अगम्या स्त्रियोसे व्यभिचार करनेमे नही चूकते । ये लोग वाममार्गियोंकी तरह अगम्यागमन, शराब पीना तथा मांस भक्षण आदि धर्मबुद्धिसे करते है । ये लोग प्रतिवर्ष किसी नियत दिनमे इकट्ठे होते है । और जिस स्त्रीका नाम जिस पुरुषके साथ निकल आवे वह उसके साथ रमण करता है । ये सब स्त्री और पुरुषोके नाम एक-एक कागजके टुकडे पर लिखकर दो पृथक् कूडोमे रख देते है और आंख मूंदकर एक स्त्रीका नाम और एक पुरुषका नाम निकालते है । इस विधिसे जिस स्त्रीका जिस पुरुषके साथ नाम निकल आता है वे दोनों चाहे माँ बेटे ही क्यो न हो शराब पीकर मैथुन सेवन करते है । यह इनका सामूहिक व्यभिचारका पर्व दिन माना जाता है । काम सेवनके सिवाय इनका और कोई दूसरा धर्म नही है । चार्वाक लोकायत आदि नामोसे व्यवहृत होते हैं । गल और चर्व धातुएँ भक्षणार्थक है । अत चर्वन्ति—खाना-पीना मौज उडाना ही जिनका एक मात्र लक्ष्य है, जो पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय वस्तुओको वास्तविक नही मानते वे चार्वाक हैं । 'मयाकश्यामाक' आदि सिद्ध हेमव्याकरणके औणादिक सूत्रसे 'चार्वाक' शब्द निपात संज्ञक सिद्ध होता है । साधारण विचारशून्य मूर्ख लोगोको तरह आचरण करनेवाले लोकायत या लौकायतिक कहलाते है । चार्वाकोके गुरु बृहस्पति हैं । अत बृहस्पतिके द्वारा प्रणीत मतका अनुसरण करनेके कारण ये बार्हस्पत्य भी कहे जाते है ।

§ ५५६ अब इनके मतका निरूपण करते है—

---

१ "मदशक्तिवच्चैतन्यमिति ।" —प्रकरण प० पृ० १४६ । न्यायमं० पृ० ४ ७ । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३ । न्यायकुमु० पृ० ३४२ । "चतुर्भ्य. खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते । किण्वादिभ्य. समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ॥" —सर्वदर्शनस० पृ० ५ । "तेभ्य एव तथा ज्ञान जायते व्यज्यतेऽथवा ।" —तत्त्वस० "तेभ्यश्चैतन्यमिति, तत्र केचिद् वृत्तिकारा व्याचक्षते उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्, अन्ये अभिव्यज्यते इति ।" —तत्त्वसं० पं० पृ० ५२० । ब्रह्मसू० शां० भा० ३।३।५३। प्रमेयक० पृ० ११७ । २. "यत "जलबुद्बुदवज्जीवाः ।" यथैव हि समुद्रादौ नियामिकादृष्टरहिता पदार्थसामर्थ्यवशाद् वैचित्र्यभाजो बुद्बुदा प्रादुर्भवन्ति यथा सुखदु खवैचित्र्यभाजो जीवा, पुन कायाकारपरिणतभूतव्यतिरिक्ता नित्यादिस्वभावा तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् ।"—न्यायकुमु० पृ० ३४२ । ३. मात्रादगम्यगमन —आ०, मात्राद्यगम्यानागमन —म० २, मात्राद्यगमन -प० १, प० २ । ४ दिने सर्वे म० २ । ५ स्त्रीभी रमन्ते म० २ ।

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥८०॥

§ ५५३. व्याख्या—लोकायता नास्तिका एवम् इत्थं वदन्ति । किमित्याह । न जीवोऽस्ति चैतन्यलक्षणः परलोकयायी नास्ति पञ्चमहाभूतसमुद्भूतस्य चैतन्यस्येहैव भूतनाशे नाशात् परलोकानुसरणासंभवात् । जीवस्थाने देव इति पाठे तु देवः सर्वज्ञादिर्नास्ति । तथा न निर्वृतिर्मोक्षो नास्तीत्यर्थः । अन्यच्च धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ न विद्येते पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । न चैव पुण्यपापयोः फलं स्वर्गनरकादिकमस्ति, धर्माधर्मयोरभावे कुतस्त्यं तत्फलमिति भावः ॥८०॥

§ ५५४. सोल्लुण्ठं यथा ते स्वशास्त्रे प्रोचिरे तथैव दर्शयन्नाह—तथा च तन्मतम् ।

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥८१॥

§ ५५५. 'तथा च' इत्युपदर्शने । तन्मतं प्रक्रान्तनास्तिकमतम् । तत्किमित्याह अयं–प्रत्यक्षो लोको मनुष्यलोकः । एतावानेव एतावन्मात्र एव । यावान् यावन्मात्रः । इन्द्रियगोचरः इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेषां गोचरो विषयः, पञ्चेन्द्रियविषयीकृतमेव वस्तु विद्यते

लोकायत—चार्वाक कहते हैं कि जीव, मोक्ष, धर्म, अधर्म तथा पुण्य और पापका फल आदि कुछ भी नहीं है ॥८०॥

§ ५५३. नास्तिक लोग कहते हैं कि—इस लोकसे परलोकमें जानेवाला चेतनालक्षणवाला कोई जीव नामका स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। पृथिवी आदि पाँच महाभूतोंके विशिष्ट मिश्रणसे उत्पन्न होनेवाला जीव इन भूतोंके साथ यहीं इसी लोकमें नष्ट हो जाता है परलोक तक उसका जाना असम्भव है। कहीं 'जीव' की जगह 'देव' पाठ है। सर्वज्ञ आदि विशेषणोंवाला कोई देव नहीं है। इसी तरह निर्वृति–मोक्ष भी नहीं है, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप आदि कुछ भी नहीं हैं और न पुण्य-पापके फल स्वर्ग-नरक आदि हैं। जब धर्म-अधर्म ही नहीं हैं तब स्वर्ग-नरक कहाँसे आयगे ? जड़ ही नहीं है तब फलकी बात निरर्थक ही है ॥८१॥

§ ५५४. चार्वाक लोग जिस तरह दूसरोंकी हँसी करते हुए अपने शास्त्रोंमें तत्त्वनिरूपण करते हैं उसका थोड़ा नमूना बताते हैं—

जितना आँखोंसे दिखाई देता है इन्द्रियोंसे गृहीत होता है उतना ही लोक है। जो मूर्ख लोग अनुमानकी चर्चा करते हैं उन्हें भेड़ियेके पैरके कृत्रिम चिह्नोंसे उसकी व्यर्थता बता देनी चाहिए ॥८१॥

नापरं किमपि । लोकग्रहणाल्लोकस्थाः पदार्थसार्था ग्राह्याः । ततो यत्परे जीवं पुण्यपापे तत्फलं स्वर्गनरकादिकं च प्राहुः, तन्नास्ति, अप्रत्यक्षत्वात् । अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेत् । शशशृङ्ग-वन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । न हि पञ्चविधेन प्रत्यक्षेण मृदुकठोरादिवस्तूनि तिक्तकटुकषायादिद्रव्याणि सुरभिदुरभिभावान् भूभूधरभुवनभूरुहस्तम्भाम्भोरुहादिनरपशुश्वापदा-दिस्थावरजङ्गमपदार्थसार्थान् विविधवेणुवीणादिध्वनींश्च विमुच्य जातुचिदप्यन्यदनुभूयते । यावता च भूतोद्भूतचैतन्यव्यतिरिक्तश्चैतन्यहेतुतया परिकल्प्यमानः परलोकयायी जीव. प्रत्यक्षेण नानुभूयते, तावता जीवस्य सुखदुःखनिबन्धनौ धर्माधर्मौ तत्प्रकृष्टफलभोगभूमी स्वर्गनरकौ पुण्यपापक्षयोत्थ-मोक्षसुखं चोपवर्ण्यमानानि आकाशे विचित्रचित्रविरचनमिव कस्य नाम न हास्याय[1]हानि । ततो येऽत्रास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमपि जीवादिकमाद्रियमाणा. स्वर्गापवर्गादिसुखलिप्सया विप्रलब्धबुद्धयः शिरस्तुण्डमुण्डनदुश्चरतरतपश्चरणाचरणसुदुःसहतपनातपसहनादिक्लेशैर्यत्सौवं जन्म क्षपयन्ति, तत्तेषां महामोहोद्रेकविलसितम् । तदुक्तम्—

> "तपांसि यातनाश्चित्रा. संयमो भोगवञ्चना ।
> अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥१॥[2]
> यावज्जीवेत्सुख जीवेत्तावद्वैषयिकं सुखम् ।[3]
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः ॥२॥"

का सद्भाव है ही नही । कोमल कठोर आदि छूने लायक पदार्थ, तीता कडवा कषायला आदि चखने लायक पदार्थ, सुगन्धित और दुर्गन्धित आदि सूँघे जानेवाले पदार्थ, पृथिवी पहाड जगत् वृक्ष खम्भा कमल आदि, मनुष्य पशु श्वापद आदि स्थावर—स्थित रहनेवाले और जगम—चलने-फिरनेवाले, आँखोसे दिखने लायक पदार्थ तथा अनेक प्रकारके वीणा बाँसुरी आदिके सुनने लायक शब्दोको छोड़कर ससारमे बचता ही क्या है ? इन्ही पदार्थोका ही समुदाय जगत् है, इनसे अतिरिक्त किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थकी सत्ता नही है। जब पृथिवी आदिसे उत्पन्न होनेवाले चैतन्यसे भिन्न कोई स्वतन्त्र अतीन्द्रिय परलोकगामी जीव ही प्रत्यक्ष अनुभवमे नही आता उसका साक्षात्कार नही होता तब उसके सुख-दुःखके कारण धर्म और अधर्म, उत्कृष्ट धर्म और अधर्मके फल भोगनेके स्थान स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप दोनोके नाशसे होनेवाला मोक्ष सुख इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थोकी कल्पना तो उसी तरह हास्यास्पद तथा उपेक्षणीय है जिस तरह आकाशमें अनेक रगोसे विचित्र चित्र बनानेकी खयाली कल्पना । इस तरहकी अननुभूत बातोको सुनकर किस समझदारको हँसी न आयगी ? इसीलिए जो लोग छूने चाटने सूँघने देखने तथा सुननेके अयोग्य—जिन्हे न छू सकते है न चाट सकते हैं न सूँघ सकते है न देख सकते है और न सुन ही सकते है ऐसे अतीन्द्रिय जीवादि पदार्थोकी कल्पना करके स्वर्ग मोक्ष आदिके सुखकी चाहसे ठगे जाकर भ्रष्ट बुद्धिसे शिर दाढी मुडाकर कठोर तप तपते है, दुश्चर व्रत धारण करते है, गरमीकी कठोर धूप आदिको सहन करते है तथा और भी नाना प्रकारके क्लेशोको सहकर इस मनुष्य जन्मको बिगाडते है उनकी मूर्खता तथा महामोहके तीव्र उदयको देखकर उन बेचारो पर दया आती है । कहा भी है—विविध तप केवल निरर्थक दारुण यातनाएँ सहना ही है । संयम भोगोसे वचित रह जाना है तथा अग्निहोत्र आदि क्रियाएँ लडकोके खिलवाड़ जैसी ही मालूम होती हैं । इसलिए जब तक जियो तब तक सुखसे जियो, खूब विषय सुख भोगो । जब यह देह जल जायगी शरीर

१ त्प्याद्विपल-म० १, प० १, प० २, आ०, क० । २ तथा चाभाणक —अग्निहोत्र त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् । बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥" —सर्वदर्शनसं० पृ० ५ । ३ "यावज्जीवं सुख जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥ इति लोकगाथाम् ।"—सर्वदर्शनसं० पृ० २ ।

इत्यादि ततः सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव तात्त्विक इति ॥

§ ५६०. अथ ये परोक्षे विषयेऽनुमानादीनां प्रामाण्येन जीवपुण्यपापादिकं व्यवस्थापयन्ति न जातुचिद्विरमन्ति तान् प्रबोधयितुं दृष्टान्तं प्राह 'भद्रे वृकपदं पश्य' इति। अत्रायं संप्रदायः — कश्चित्पुरुषो नास्तिकमतवासनावासितान्तःकरणो निजां जायामास्तिकमतनिबद्धमतिं स्वशास्त्रोक्तयुक्तिभिरनिशं प्रसह्य प्रतिबोधयति। सा तु यदा न प्रतिबुध्यते तदा स इयमनेनोपायेन प्रतिभोत्स्यत इति स्वचेतसि विचिन्त्य निशायाः पश्चिमे यामे तया समं नगरान्निर्गत्य तां प्रत्यगादीत्। 'प्रिये! य इमे नगरवासिनो नराः परोक्षविषयेऽनुमानादिप्रामाण्यसाधनचणा लोकेन च बहुश्रुततया व्यवह्रियमाणा विद्यन्ते, पश्य तेषां चारुविचारणायां चातुर्यम्' इति। ततः स नगरद्वारादारभ्य चतुष्पथं यावत् त्वरतरप्रसृमरसमीरणसमीभूतपांशुप्रकरे राजमार्गे द्वयोरपि स्वकरयोरङ्गुलित्रयं मीलयित्वा स्वशरीरस्योभयोः पक्षयोः पांशुषु न्यासेन वृकपदानि प्रचक्रे। ततः प्रातस्तानि पदानि निरीक्ष्यास्तोको लोको राजमार्गेऽमिलत्। बहुश्रुता अपि तत्रागता जनान् प्रत्यवोचन् 'भो भो वृकपदानामन्यथानुपपत्त्या नूनं निशि 'वृकः कश्चन वनतोऽत्रागच्छत्' इत्यादि। ततः स तास्तया-

छूट कर नष्ट हो जाएगा तब इसका फिर मिलना कठिन है। इसलिए आगेके सुखकी झूठी इच्छासे मौजूद अवसर को नहीं चूकना चाहिए। इसलिए यह बात सुनिश्चित है कि इन्द्रियगोचर पदार्थ ही तात्त्विक हैं उन्हींकी वास्तविक सत्ता है।

भाषमाणान्निरीक्ष्य निजां भार्यां जजल्प। हे भद्रे प्रिये वृकपदं 'अत्र जातावेकवचनं' पश्य निरीक्षस्व कि तदित्याह। यद्-वृकपदं वदन्ति जल्पन्त्यबहुश्रुता लोकरूढ्या वहुश्रुता अप्येते परमार्थमज्ञात्वा भाषमाणा अबहुश्रुता एवेत्यर्थः। 'यद्वदन्ति बहुश्रुताः' इति पाठे त्वेवं व्याख्येम्—लोकप्रसिद्धा बहुश्रुता इति, तथा ह्येते वृकपदविषये सम्यगविदितपरमार्था बहवोऽप्येकसदृशमेव भाषमाणा अपि बहुमुग्धजनध्यान्ध्यमुत्पादयन्तोऽपि च ज्ञाततत्त्वानामादेयवचना न भवन्ति। तथा बहवोऽप्यमी वादिनो धार्मिकछद्मधूर्ताः परवञ्चनैकप्रवणा यत्किंचिदनुमानागमादिभिर्दार्ढ्यमादर्श्य जीवाद्यस्तित्वं सदृशमेव भाषमाणा अपि मुधैव मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलभ्यसुखसंततिप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसंकटे पातयन्तो बहुमुग्धधार्मिकव्यामोहमुत्पादयन्तोऽपि च [3]सतामवधीरणीयवचना एव भवन्तीति। ततः सा पत्युर्वचनं सर्वं मानितवती ॥८१॥

§ ५६१ तदनु च तस्याः स पतिर्यदुपदिष्टवान् तदेव दर्शयन्नाह—

पिब खाद च चारुलोचने, यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
न हि भीरु गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

बुद्धिसे विचारकर उपस्थित लोगोसे कहा कि—भाइयो, रातमें कोई भेड़िया जगलसे नगरमे अवश्य आया है, यदि नही आया होता तो उसके पैरके चिह्न कहाँसे आते? पासमे खड़ा हुआ चार्वाक उन पण्डितोकी इस अट-सट वातचीतकी ओर अपनी पत्नीका ध्यान खीचता हुआ हँसीसे वोला कि—हे भद्रे प्रिये, इन भेडियेके पैरोको देखो। ये यद्यपि पैरके चिह्न वहुत है फिर सामान्य रूपसे कथन करनेके लिए एकवचनका प्रयोग किया। बहुश्रुत रूपसे प्रसिद्ध होकर भी वस्तुतः अव वहुश्रुत पोगा पण्डित इन्हे भेडियाके पैर बता रहे हैं। ये तत्त्वको नही समझनेके कारण वस्तुतः अवहुश्रुत ही है। 'यद्वदन्ति बहुश्रुता' ऐसा भी पाठ मिलता है। इस पाठका अर्थ यह करना चाहिए—ये लोकमे वहुश्रुत रूपसे प्रसिद्ध पण्डित इन्हे भेड़ियाके पैर बता रहे है। जिस प्रकार ये लोग भेडियाके पैर और मनुष्यके द्वारा किये गये कृत्रिम चिह्नोका भेद नही समझकर जो एकने कह दिया उसीका अनुगमन कर गतानुगतिक हो इन्हे भेडियाके पैर ही मानकर स्वय ठगे जा रहे है तथा वहुत-से मूर्ख लोगोको अज्ञानके गड्ढेमे ढकेल रहे है और जिस तरह ये इस प्रकारको मूर्खतापूर्ण वातोसे भेडियाके पैर और कृत्रिम चिह्नोके भेदको समझनेवालोंकी हँसी और उपेक्षाके पात्र होते हैं ठीक उसी तरह ये बहुत-से धर्मकी आड़मे स्वार्थ साधन करनेवाले धूर्त लोग दूसरोको ठगनेके लिए तथा अपना स्वार्थ साधनेके लिए स्वर्ग आदिके सुखोका लोभ दिखाकर इन भोले प्राणियोंको 'यह भक्ष्य है यह अभक्ष्य है, यह गम्य है यह अगम्य है, यह हेय है यह उपादेय है,' इत्यादि अपनी वुद्धिसे कल्पित भक्ष्याभक्ष्य आदिकी भूलभुलैयामे डाल कर अपना उल्लू सीधा करते है। इस तरह ये वहुत-से मूर्ख धार्मिकोकी वुद्धिको अपनी कुशलतासे कावूमे करके इन्हे अनेक तरहसे ठगते हैं, परन्तु जिन्हे वास्तविक तत्त्वज्ञान है उन समझदारोके तो उपेक्षा एवं तिरस्कारके पात्र ही होते है। इस तरह चार्वाकने अपनी स्त्रीकी आस्तिक वुद्धिको पलट दिया। वह मूढ स्त्री अपने पतिके वचनोपर ठीक उसी तरह विश्वास करने लगी जैसे कि वह स्वर्ग और नरक आदिपर करती थी।

§ ५६१ इसके वाद उसके पतिने उस स्त्रीको जो उपदेश दिया, उसे ध्यानसे सुनिए—

हे सुलोचने, इसलिए आनन्दसे जो चाहो पियो और जो मनमे आये खाओ। हे सुन्दरि, यह चार दिनकी जवानी वीत जानेपर वापिस नहीं आयगी। जो गया वह फिर तुम्हे नहीं मिल सकता। स्वर्ग और नरकके चक्करमे पड़कर इस परोसे हुए थालको मत छोड़ो। यह शरीर

---

१. -त्रा भ -म० २। २ -जनानामाध्यमु -म० २। ३. सतामनवधारणीय -म० २।

§ ५६२. व्याख्या—हे चारुलोचने शोभनाक्षि पिब पेयापेयव्यवस्थालोपेन मदिरादेः पानं कुरु। न केवलं पिब खाद च भक्ष्याभक्ष्यविभागनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय च। [illegible] विनाशस्वभावेन भोगानुपभोगेन स्वयौवनं सफलीकुर्विति वदेत् [illegible]। यत् यौवनादिकम् अतिक्रान्तं हे प्रधानाङ्गि तद्वस्तुतस्ते तव न भविष्यति [illegible]। चारुलोचने वरगात्रीति संबोधनद्वयम् [illegible] पौनरुक्त्यमदोष। उक्तञ्च—

[illegible] ।
[illegible] ॥१॥ [ ]

§ ५६३. अथ स्वेच्छाविरचिते पाने खादने भोगसेवने च सुखाय परलोके [illegible], दुःखं च सति सुकृतसञ्चये भवान्तरे भोगसुखयौवनादिकमिति पराशङ्कां परिहर्तुं प्राह। नहि—नैव हे भीरु! परलोकात् नरकादिभयाद् [illegible]! गतम्—इह भवात् अतिक्रान्तं सुखयौवनादि निवर्तते परलोके पुनरप्युपढौकते। परलोकसुखलिप्सया तपश्चरणादिकष्टक्रियाभिः ऐहिकसुखोपेक्षा व्यर्थेत्यर्थः।

§ ५६४. अथ शुभाशुभकर्मपारतन्त्र्येण जीवितानुं [illegible] स्थितेनापि परलोकेऽपि स्वकर्महेतुकं सुखदुःखादि विदितव्यमेवेत्याशङ्क्याह। समुदयमात्रं समुदायो भूतचतुष्टयसंयो-

---

पृथिवी आदि का समुदाय है और यहीं खतम हो जानेवाला है। परलोक तक नहीं जायेगा। अतः निर्द्वन्द्व होकर दिल खोलकर खाओ. पिओ और मौज करो ॥८२॥

स्तन्मात्रम्। मात्रशब्दोऽवधारणे। इदं प्रत्यक्षं कलेवरं शरीरम् एवास्तीत्यध्याहारः, न पुनर्भूतचतुष्टयसंयोगमात्रादपरो भवान्तरयायी शुभाशुभकर्मविपाकभोक्ता काये कश्चन जीवो विद्यते। भूतचतुष्कसंयोगश्च विद्युदुद्योत इव क्षणतो दृष्टो नष्टः। तस्मात्परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेत्यर्थः ॥८२॥

§ ५६५. अथ प्रमेयं प्रमाणं चाह— किं च,

> पृथ्वी जलं[1] तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम्।
> आधारो भूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥८३॥

§ ५६६. व्याख्या—'किं च' इत्यभ्युच्चये। पृथ्वी भूमिः, जलम् आपः, तेजो वह्निः, वायुः पवनः, भूतचतुष्टयम्। एतानि भूतानि चत्वारि आधारो भूमिरेतेषां भूतानामाधारोऽधिकरणं भूमिः पृथ्वी। 'चैतन्यभूमिरेतेषाम्' इति पाठे[2] तु चतुष्टयं किंविशिष्टं चैतन्यभूमिः चैतन्योत्पत्तिस्थानम्, भूतानि संभूयैकं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः। एतेषां चार्वाकाणां मते 'प्रमाणभूमिरेतेषाम्' इति पाठान्तरे तु भूतचतुष्टयं प्रमाणभूमिः प्रमाणगोचरस्तात्त्विक एतेषां मते[3]। मानं तु प्रमाणं पुनरक्षजमेव प्रत्यक्षमेवैकं न पुनरनुमानादिकं प्रमाणम्। हिशब्दोऽत्र विशेषणार्थो वर्तते। विशेषः पुनश्चार्वाकैर्लोक[4]यात्रानिर्वाहणप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते क्वचन न पुनः स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिक[5]मनुमानमिति ॥८३॥

नास्तिक पति—मुग्धे, पृथिवी जल आग और हवाके विशिष्ट संयोगसे बने हुए शरीरको छोडकर अन्य कोई जीव नामका पदार्थ है ही नहीं, जो इस लोकसे परलोक जाकर शुभ और अशुभ कर्मोके फलको भोगेगा। जो कुछ है सो यह शरीर ही है। और यह शरीर क्या है, बिजलीकी चमककी तरह हम हमेशा इसे नष्ट होता हुआ देखते है। कितने ही शरीर प्रतिदिन नष्ट होते है, चितामे जले और खाक हो गये। इस शरीरमे भूतोके सयोगसे उत्पन्न हुई चेतना भी बिजलीकी चमककी तरह जब कभी भी समाप्त हो सकती है। इसलिए परलोकका झगड़ा छोडो। उसे किसने देखा है? जो सामने है, सो खाओ पीओ और मस्तीसे भोग भोगो ॥८२॥

§ ५६५. अब इनके प्रमाण और प्रमेयका निरूपण करते हैं—

किंच-और भी। पृथिवी जल अग्नि और वायु ये भूतचतुष्टय ही तत्त्व है। पृथिवी सबकी आधार है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है ॥८३॥

§ ५६६. किंच शब्द–अभ्युच्चय–'और भी' अर्थमे प्रयुक्त होता है। पृथिवी जल आग और हवा ये चतुष्टय ही तत्त्व है। पृथिवी इन भूतोका आधार है। 'चैतन्यभूमिरेतेषाम्' यह पाठ भी देखा जाता है। चार्वाकोके मतमे ये भूतचतुष्टय चैतन्यकी भूमि–उत्पत्तिके स्थान है। ये सब मिलकर एक चैतन्यको उत्पन्न करते है 'प्रमाणभूमिरेतेपाम्' इस पाठका 'इन चार्वाकोके मतमे भूतचतुष्टय ही प्रमाणभूमि–प्रमाणके विषय अर्थात् प्रमेय है तत्त्व हैं।' यह अर्थ होगा। ये लोग इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षको ही एकमात्र प्रमाण मानते हे अनुमान आदिको नही। 'हि' शब्द विशेप बातको सूचित करता है। वह विशेष बात यह है कि–चार्वाक लोक व्यवहारके निर्वाहके लिए धूम आदिसे अग्नि आदि लौकिक पदार्थोके अनुमानको प्रमाण मान लेते है। हाँ, स्वर्ग अदृष्ट आदि अतीन्द्रिय अलौकिक पदार्थोके अनुमानको व्यभिचारी तथा अप्रमाण कहते है ॥८३॥

---

१ जल तेजो भ० २। २ पाठान्तरे तु भ० २। ३ मते तु प्रमाणं भ० २। ४. –कनिर्वा –भ० २। ५ [illegible]

§ ५६७. अथ भूतचतुष्टयीप्रभवा¹ देहे चैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयताम्। इत्याशङ्क्याह—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥८४॥

§ ५६८. व्याख्या—पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणानि यानि भूतानि तेषां संहतिः समवाय संयोग इति यावत् ²तया हेतुभूतया। तथा तेन प्रकारेण या देहस्य परीणति ³परिणामस्तस्याः सकाशात् चिदिति योगः। यद्वद्यथा सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो⁴ मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिः उन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा चित् चैतन्यमात्मनि शरीरे। अत्रात्मशब्देनानेकार्थेन शरीरमेव ज्ञातव्यं, न पुनर्जीवः। अयं भावः—भूतचतुष्टयसंबन्धाद्देहपरीणामः, ततश्च देहे चैतन्यमिति। अत्र परीणतिशब्दे ⁵घञभावेऽपि बाहुलकादुपसर्गस्य दीर्घत्वं सिद्धम्। पाठान्तरं वा—

"पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसंभवः।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता॥" पृथिव्यादिभूतसंहत्यां⁶ सत्यां तथा शब्द पूर्वश्लोकापेक्षया समुच्चये, देहादिसंभवः। ⁷आदिशब्दाद्भूभूधरादयो भूतसंयोगजा ज्ञेयाः। सुराङ्गेभ्यो यद्वन्मदशक्तिर्भवति, तद्वद् भूतसंबन्धाच्छरीर आत्मता सचेतनता स्थिता व्यवस्थितेति। यदुवाच वाचस्पतिः—"पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञा,⁸ तेभ्यश्चैतन्यम्" इति ॥८४॥

§ ५६७ अब भूतचतुष्टयसे उत्पन्न होनेवाले शरीरमें चैतन्यकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया बताते हैं—

जिस तरह महुआ आदि मादक सामग्रीसे मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी तरह पृथिवी आदि भूतोंके विशिष्ट संयोगसे देहाकार परिणमनसे शरीरमें चैतन्य उत्पन्न होता है ॥८४॥

§ ५६८ पृथिवी जल अग्नि और वायु इन भूतोंके विशिष्ट संयोगसे भूतोंका शरीराकार रूपसे परिणमन होता है। जिस प्रकार गुड़ धातकी आदि शराबकी सामग्रीसे मादकशक्ति होती है उसी तरह शरीरमें चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है। 'आत्मा' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। अतः यहाँ आत्मा शब्दका शरीर अर्थ ही लेना चाहिए न कि जीव। तात्पर्य यह कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे देह बनती है फिर देहमें चैतन्य उत्पन्न होता है। परीणति शब्दमें परि उपसर्गको विकल्पसे दीर्घ हो गया है। इस श्लोकका यह पाठान्तर भी देखा जाता है—'पृथिव्यादिभूतसंहत्या तथा देहादिसंभवः। मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता॥' अर्थात् पृथिवी आदि भूतोंका संयोग होनेपर देह आदि उत्पन्न होते हैं। पृथिवी पहाड़ आदि सभी पदार्थ भूतोंके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार मदिराकी सामग्रीसे मदशक्ति होती है उसी तरह भूतोंके विशिष्ट सम्बन्धसे शरीरमें आत्मता या सचेतनता आदि है। वाचस्पतिने कहा है—"पृथिवी जल अग्नि और वायु ये चार तत्त्व हैं। इनके समुदाय—विशिष्ट संयोगसे शरीर इन्द्रिय और विषयसंज्ञक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे चैतन्य होता है" ॥८४॥

§ ५६९. एवं स्थिते तथोपदिशन्ति तथा दर्शयन्नाह—

तस्माद्दृष्टपरित्यागाद्यददृष्टे प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

§ ५७०. व्याख्या—यस्माद्भूतेभ्यश्चैतन्योत्पत्तिः तस्मात्कारणाददृष्टपरित्यागात्-दृष्टं प्रत्यक्षानुभूतमैहिकं[1] लौकिकं यद्विषयजं सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे परलोकसुखादौ तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्ये यत्प्रवर्तनं प्रवृत्तिः तल्लोकस्य विमूढत्वम् अज्ञानमेवेति चार्वाकाः प्रतिपेदिरे प्रतिपन्ना । यो हि लोको विप्रतारकवचनोपन्यासत्रासितसंज्ञानो हस्तगतमिहत्यं सुखं विहाय स्वर्गापवर्गसुखप्रेप्सया तपोजपध्यानहोमादौ यद्यतते, तत्र तस्याज्ञानतैव कारणमिति [2]तन्मतोपदेशः ॥८५॥

§ ५७१. अथ[3] ये शान्तरसपूरितस्वान्ता निरुपमं शमसुखं वर्णयन्ति, तानुद्दिश्य यच्चार्वाका ब्रुवते तदाह—

साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात्परो न हि ॥८६॥

§ ५७२. व्याख्या—साध्यं ध्यानं द्वेधा, उपादेयं हेयं च । उपादेये धर्मशुक्लध्यानयुगे हेये चार्तरौद्रध्यानयुगे । अथवा साध्ये साधनीये [4]कार्ये, उपादेये पुण्यकृत्ये तपःसंयमादौ, हेये च पापकृत्ये विषयसुखादिके क्रमेण वृत्तिनिवृत्तिभ्यां प्रवर्तननिवर्तनाभ्यां जने लोके या प्रीतिः मनःसुखं जायते समुत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां मते [5]निरर्था निःप्रयोजना निःफलातात्त्विकीत्यर्थः । हिर्यस्मात् धर्मः

---

§ ५६९ इस तरह तत्त्वोका व्याख्यान करके चार्वाक लोग जो कर्त्तव्य बताते है उसे ध्यानसे सुनिए—

चार्वाक कहते है कि—इसलिए दृष्ट-भोगोको छोड़कर जो लोग अदृष्ट परलोकके सुखके लिए प्रवृत्ति करते है वे अत्यन्त मूर्ख है ॥८५॥

§ ५७०. चूँकि भूतोसे ही चैतन्य उत्पन्न होता है अत. दृष्ट—प्रत्यक्ष सिद्ध लौकिक विषयसुखोको छोडकर अदृष्ट परलोकके सुखके लिए तपश्चरण आदि कष्टकर क्रियाओमे प्रवृत्ति करना महामूढता तथा अज्ञानकी पराकाष्ठा है । चार्वाक लोग सदा यही कहते है कि भविष्यत्की आशासे वर्तमानको छोडना मूर्खता है । जो लोग इन धूर्तोके बहकावमे आकर अपने सम्यग्ज्ञानको तिलाजलि देकर सामने उपस्थित विषय भोगोको छोड़कर स्वर्ग मोक्षके सुखकी झूठी चाहसे तप जप ध्यान होम आदि करनेका प्रयत्न करते है उनकी इस निरर्थक प्रवृत्तिका सबसे बड़ा कारण उनकी मूढ बुद्धि या बुद्धिभ्रंश ही है । यही उनके मतके उपदेशका सार है ॥८५॥

§ ५७१ जो शान्त रससे आप्लावित हृदय होकर तप जप आदि कार्योसे निरुपम शान्ति सुखकी प्राप्ति बताते है उनके प्रति चार्वाकोका यह उपदेश है—

कर्त्तव्यमे प्रवृत्ति तथा अकर्त्तव्यसे निवृत्ति होनेपर जो मनुष्योको आत्म-सन्तोष होता है उसे चार्वाक लोग निरर्थक बताते है । उनके यहाँ तो कामसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म नही है ॥८६॥

§ ५७२ साध्य-ध्यान दो प्रकारका होता है—एक उपादेय, दूसरा हेय । धर्मध्यान और शुक्लध्यान उपादेय हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान हेय । अथवा साधनीय उपादेय तप सयम आदि उपादेय कार्योमे प्रवृत्ति तथा विषय सुख आदि हेय पाप कर्मोसे निवृत्ति करनेपर मनुष्योको जो आत्मसुख या मन.सन्तोष होता है वह चार्वाकोकी दृष्टिमे निरर्थक है, नाचोज है, मिथ्या है ।

---

१ –मैहलोकि –म० २ । २ तन्मते उप –म० २ । ३ द्वे स्वान्तरस –म० २ । ४ कार्ये पुण्य– –म० २ । ५ –र्था नि फला म० २ ।

कामात्-विषयसुखसेवनान्न परः काम एव परमो धर्मः, तज्जनितमेव च परमं सुखमिति भाव । अथवा ये धर्मप्रभावादिह लोकेऽपीष्टानिष्टकार्ययोः सिद्ध्यसिद्धी वदन्ति, तान्प्रति यच्चार्वाका जल्पन्ति तद्दर्शयन्नाह—'साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्याम्' इत्यादि । तपोजपहोमादिभिः साध्यस्य प्रेप्सितकार्यस्य या वृत्तिः सिद्धिर्या च तैरेव तपोजपादिभिरनिष्टस्य साध्यस्य विघ्नादेर्निवृत्ति असिद्धिरभाव इति यावत्ताभ्यां साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या जने प्रीतिर्जायते सा निरर्था । अर्थशब्दस्य हेत्वर्थस्यापि भावान्निर्हेतुका निर्मूला । तेषां मते हियंस्माद्धर्मः कामान्न पर इति प्राग्वत् ॥८६॥

§ ५७३. उपसंहरन्नाह—

> लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
> अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥८७॥

§ ५७४. व्याख्या—एवम् अमुना प्रकारेण अपेः समुच्चयार्थत्वान्न केवलमन्यमतेषु संक्षेप उक्तो लोकायतमतेऽप्ययमनन्तरोक्तः संक्षेपो निवेदितः । ननु बौद्धादिमतेषु सर्वेष्वपि संक्षेप एवात्र यद्युच्यते तर्हि विस्तरेण तत्परमार्थः कथमवभोत्स्यते । इत्याशङ्क्याह—'अभिधेय' इत्यादि । अभिधेयस्य-सर्वदर्शनवाच्यस्यार्थस्य तात्पर्यार्थः-अशेषविशेषविशिष्टः परमार्थः परि समन्तात्पूर्वापर्येणालोच्यः स्वयं विमर्शनीयः । अथवा 'लोचृङ् दर्शने' इति धातुपाठादालोच्यस्तत्तत्तदीयशास्त्रेभ्योऽवलोकनीयः सुबुद्धिभिः सुनिपुणमतिभिः संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वादस्य सूत्रकरणस्येति ।

क्योंकि उनके मतमे काम-विषयभोग भोगनेसे बढ़कर कोई धर्म नही है और न विषयसुखसे बढ़कर कोई दूसरा सुख ही । अथवा, जो लोग धर्मके प्रभावसे ही इस लोकमे व्यापारमे लाभ पुत्रोत्पत्ति आदि कार्योकी सिद्धि तथा पापसे व्यापारमे हानि एवं अन्य शुभ कार्योमे विघ्न मानते है उनके प्रति चार्वाक लोग कहते है कि आप लोगोकी यह कल्पना निर्मूल तथा निष्फल है । तप जप होम आदिसे इच्छित मनोरथोकी पूर्ति तथा मरी रोग आदि विघ्नोका अभाव मानना और उन तप जप आदि कार्योके करनेसे मन.सन्तोष मानना निरर्थक है । तप संयम धर्म आदि करनेपर भी बहुत लोग दु खी देखे जाते है तथा परम अधार्मिक लोग सुखी देखे जाते है अत धर्मसे सुख आदि कहना निर्हेतुक तथा निर्मूल है । चार्वाकोके मतमे विषयसेवन ही सबसे बड़ा धर्म है ॥८६॥

§ ५७३ उपसंहार—

इस तरह लोकायत मतका भी संक्षेपसे कथन किया है । सुबुद्ध विचारकोको चाहिए कि वे सभी दर्शनोके अभिधेय वक्तव्यके तात्पर्य और विस्तारकी अच्छी तरह पर्यालोचना करके जो युक्तिसंगत हो उसका अनुसरण करें ॥८७॥

अथवा सर्वदर्शनसंमतानां[1] स(त)त्त्वानां परस्परं विरोधमाकर्ण्य । किं कर्तव्यता मूढानां प्राणिनां यत्कर्तव्योपदेशमाह 'अभिधेय' इत्यादि–अभिधेयं सर्वदर्शनसंबन्धी प्रतिपाद्योऽर्थः तस्य यस्तात्पर्यार्थः सत्यासत्यविभागेन व्यवस्थापितस्तत्त्वार्थः स पर्यालोच्यः । सम्यग्विचारणीयो न पुनर्यथोक्तमात्रो निर्विचारं ग्राह्यः । कैः । सुबुद्धिभिः सुष्ठु शोभना मार्गानुसारिणी पक्षपातरहिता बुद्धिः मतिर्येषां ते सुबुद्धयः, [2]तैर्न पुनः कदाग्रहग्रहिलैः । यदुक्तम्—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र[3] तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥" [ ] इति ।

§ ५७५. अयमत्र भावार्थः—सर्वदर्शनानां परस्परं[4] मतविरोधमाकर्ण्य मूढस्य प्राणिनः सर्वदर्शनस्पृहयालुतायां निजदर्शनैकपक्षपातितायां वा दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम्, अतो मध्यस्थवृत्तितया विमर्शनीयः सत्यासत्यार्थविभागेन तात्त्विकोऽर्थः, विमृश्य च श्रेयस्करः पन्थाभ्युपगन्तव्यो यतितव्यं च तत्र कुशलमतिभिः ।

खूब गहराईके साथ विचार करके उनका सत्यासत्य निर्णय करना चाहिए । यह नही कि जिसने कह दिया उसे आँख मूँद कर बिना विचारे ही मान लिया । जो समझदार है दुराग्रहसे मुक्त है उनका कर्तव्य है कि वे सभी दर्शनोका मध्यस्थ भावसे अध्ययन और विचार करके उनका सत्यासत्य निर्णय करें । किसी भी दर्शनकी बातको 'अमुक आचार्यने कहा है' इसीलिए आँख मूँदकर बिना विचारे नही मानना चाहिए । कहा भी है—"जो दुराग्रही है साम्प्रदायिक ग्रहसे जिसकी बुद्धि विकृत हो रही है वह उसकी बुद्धिने जिस पदार्थको जिस रूपसे ग्रहण कर रखा है वही युक्तियोकी यद्वा तद्वा खीचतान करता है । उसका मूलमन्त्र होता है कि 'जो मेरा है या मैने जाना है वही अन्तिम सत्य है ।' इसलिए वह युक्तियोकी खीचतान करके अपने मतको सिद्ध करनेका अनुचित प्रयत्न करता है । परन्तु जो मत पक्षपातसे रहित है, मध्यस्थ भावसे अपनी बुद्धिका समतोलन कर उपयोग करते है उन समझदारोकी बुद्धि तो जिस पदार्थको युक्तियाँ जिस रूपसे सिद्ध करती है उसको उसी रूपसे माननेके लिए सदा प्रस्तुत रहती है । इनका सिद्धान्त होता है कि 'जो सत्य सिद्ध हो वही मेरा है, युक्ति सिद्ध वस्तुको पूर्वग्रहसे सर्वथा मुक्त होकर स्वीकार करनेके लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए । तात्पर्य यह कि—सभी दर्शनोके परस्पर विरोधको सुनकर मूढ प्राणी या तो सभी दर्शनोको आँख मूँदकर सत्य मान बैठेगा या फिर साम्प्रदायिक भावसे अपने मतका दुराग्रह कर बैठेगा । दोनो ही अवस्थाओमे स्वर्ग मोक्षका साधन अत्यन्त कठिन है, क्योकि सभी दर्शनोकी परस्पर विरोधी क्रियाओका अनुष्ठान असम्भव होनेके कारण या तो वह क्रियाशून्य होकर निरुद्योगी हो जायगा या फिर अपने सम्प्रदायकी अपरीक्षित क्रियाओका आचरण करके मिथ्या चारित्री हो जायगा । निश्चेष्ट होना तथा मिथ्या आचरण करना दोनो ही लक्ष्य तक नही पहुँचा सकते ।

§ ५७५ इसलिए समझदार व्यक्तियोका यह आद्यकर्तव्य है कि वे मध्यस्थ भावसे तात्त्विक अर्थका अच्छी तरह विचार करे और सत्यासत्यका निर्णय करके श्रेयस्कर मार्गको चुने तथा उसके अनुसार आचरण करके अपना और परका कल्याण करे । ॥८७॥

---

१ –ताना परस्प –म० २, क० । २. तैस्कदाग्रह –म० २ । ३. तत्र यत्र म० २ । ४ –स्परमत म० २ ।

इति श्री'तपागगगगनाङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिपदपद्मोपजीविश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्यदीपिकायां षड्दर्शनसमुच्चयटीकाया जैमिनीयचार्वाकीयमतस्वरूपनिर्णयो नाम षष्ठोऽधिकारः ॥

तत्समाप्तौ च समाप्तेयं तर्करहस्यदीपिकानाम्नी षड्दर्शनसमुच्चयवृत्तिः ॥

इति श्री तपागगरूपी आकाशके सूर्य श्री देवसुन्दरसूरिके चरणोपजीवी श्री गुणरत्न सूरि द्वारा रची गयी षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका नामकी टीकामें जैमिनीय और चार्वाकके मतके स्वरूपका निर्णय करनेवाला छठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

इस अधिकारकी समाप्तिके साथ ही साथ यह तर्करहस्यदीपिका नामकी षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति भी समाप्त होती है ॥

परिशिष्ट १

श्रीमणिभद्रकृता लघुवृत्तिः

सज्ज्ञानदर्पणतले विमलेऽत्र यस्य ये केचिदर्थनिवहाः प्रकटीबभूवु ।
तेऽद्यापि भान्ति कलिकालजदोपभस्मप्रोद्दीपिता इव शिवाय स मेऽस्तु वीर. ॥१॥
जैन यदेकमपि बोधविधायि वाक्यमेवं श्रुति. फलवती भुवि येन चक्रे ।
चारित्रमाप्य वचनेन महत्तराया. श्रीमान् स नन्दतु चिर हरिभद्रसूरि. ॥२॥
सनिधेहि तथा वाणि षड्दर्शनाङ्कषड्भुजे । यथा षड्दर्शनव्यक्तिस्पष्टने प्रभवाम्यहम् ॥३॥
व्यासं विहाय संक्षेपरुचिसत्त्वानुकम्पया । टीका विधीयते स्पष्टा षड्दर्शनसमुच्चये ॥४॥

इह[1] हि श्रीजिनशासनप्रभावनाविभावकप्रभोदयभूरियशाश्चतुर्दशशतप्रकरणकरणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरि षड्दर्शनप्रमाणपरिभाषास्वरूपजिज्ञासुशिष्यहितहेतवे प्रकरणमारिप्समानो [3]निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यर्थ स्वपरश्रेयोऽर्थ च समुचितेष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयमाह[4]—

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थं सक्षेपेण निगद्यते ॥१॥

[5]अर्थो निगद्यतेऽभिधीयत इति सवन्ध । अर्थशब्दोऽत्र अभिधेयवाचको ग्राह्य ।

"अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" [ ] इत्यनेकार्थवचनात् । 'मया' इत्यनुक्तस्यापि गतार्थत्वात् । किंविशिष्टोऽर्थ । सर्वदर्शनवाच्य इति । सर्वाणि च तानि दर्शनानि बौद्धनैयायिकजैन[6]वैशेपिकसाख्यजैमिनीयादीनि समस्तमतानि वक्ष्यमाणानि तेषु वाच्य कथनीय । किं कृत्वा । जिनं नत्वा । सामान्यमुक्त्वा विशेपमाह । कं जिनम् । वीरं वर्द्धमानस्वामिनम् । वीरमिति साभिप्रायम् । प्रमाणवक्तव्यस्य परपक्षोच्छेदादिसुभटवृत्तित्वात् । भगवतश्च दु खसंपादिविषमोपसर्गसहिष्णुत्वेन सुभटरूपत्वात् । तथा चोक्तम्—

"विदारणात्कर्मततेर्विराजनात्तप.श्रिया विक्रमतस्तथाद्भुतात् ।
भवप्रमोदः किल [7]नाकनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधाम् ॥" [ ] इति ।

युक्तियुक्त [8]ग्रन्थारम्भे वीरजिननमस्करण प्रकरणकृत. । यद्वा आसन्नोपकारित्वेन युक्ततरमेव श्रीवर्द्धमानतीर्थकृतो नमस्करणम् । तमेव विशिनष्टि । किंभूतम् । सद्दर्शन सत् शोभन[9] दर्शनं शासनं सामान्यावबोधलक्षण ज्ञानं सम्यक्त्व वा यस्य स तमिति । ननु दर्शनचारित्रयोरुभयोरपि मुक्त्यङ्गत्वात् किमर्थ सद्दर्शनमित्येकमेव विशेपणमाविष्कृतम् । न[10], दर्शनस्यैव प्राधान्यात् । यत्सूत्रम्—

"भट्टेण चरित्ताउ[11] दंसणमिह द्दिढयरं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥" [ ]

इति तद्विशेषणमेव युक्तम् । पुन [12]किंभूतम् । स्याद्वाददेशकम् । स्यात् विकल्पितो वाद स्याद्वाद सदनित्यानित्याभिलाप्यानभिलाप्यसामान्यविशेषात्मकस्त दिशति भविकेभ्य उपदिशति इस्तम् । अत्रादिमार्द्धे

---

१ इह हि श्री–भ० १ । २. नाविर्भाव–प० १,२ । ३ निर्विघ्न प० १, २ । ४.–ह तथाहि प० १,२ । ५ व्याख्या अ–प० १, २ । ६. –कसाख्यजैनवै–प० १, २ । ७. नाकिना–मु०, भ० २ । ८. ग्रन्थारम्भे म० २ । ९ शोभमान मु०, म० १, २ । १० ननु प० २ । ११ भट्टेण चरित्ताउ दमणं च गहियव्व प० २ । १२ –न वयम्भू–प० २ ।

नास्तीति प्रच्छन्नमिदम् । सङ्गतमिति दर्शनमायतो सङ्गतार्थिका ... । किं शेषैः
[illegible] । व्याख्येयमिति वचनादिदं । शेषैः
[illegible] इति प्रथमश्लोकार्थः ॥

अथ तानि दर्शनानि कतिसंख्यान्याह—

> दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।
> देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥२॥

अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि । एवकारोऽवधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तं सूत्रे—

> "असिइसयं किरियाणं अकिरियवाईण हुंति चुलसीई ।
> अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥" [ ]

इति त्रिषष्ट्यधिका त्रिशती पाषण्डिनाम् । बौद्धानां चाष्टादश निकायभेदा नैयायिकवैशेषिक-योगानां सांख्यानामादयो भेदाः । जैमिनीयेऽपि भट्टप्रभाकरादयो बहवो भेदाः ।

> "उच्चल मारिको वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
> वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः ॥"

अपरेऽपि बहवोऽर्हच्चीवरहंसपरमहंसभाटाचार्याः बहवोऽन्तर्भेदाः । अपरेऽपि दर्शनभेदा देवता-तत्त्वप्रमाणादिभिन्नतया बहुभेदाः प्रादुर्भवन्ति, तथापि परमार्थतन्मीमांसने देवतातत्त्वभेदात् षडेवैतानि दर्शनानि उच्यन्ते । ननु मतभेदानामनियतो भेदानुपेक्ष्य कियत् षडेवेत्याह । मूलभेदव्यपेक्षया । मूलभेदाः [illegible] षड्संख्यात्मका अपेक्षया नानाभिन्नेष्वर्थे । तानि च दर्शनानि मनीषिभिः पण्डितैर्ज्ञातव्यानि [illegible] । केन प्रकारेणेति । देवतातत्त्वभेदेन । देवता दर्शनाधिष्ठायिका तत्त्वानि च [illegible] तेषां भेदस्तेन पृथक्-पृथक् दर्शनदेवतादर्शनतत्त्वानि च ज्ञेयानीत्यर्थः ॥२॥

तेषामेव दर्शनानां नामान्याह—

> बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
> जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥३॥

तत्र तस्मिन् बौद्धमते सौगतशासने । तावदिति प्रक्रमे सुगतो देवता बुद्धो देवता बुद्धभट्टारको दर्शनादिकर. किलेत्याप्तप्रवादे । तमेव विशिनष्टि[1] । कथंभूतस्तत्त्वनिरूपकत्वेन । प्ररूपको दर्शक. कथयितेति यावत् । केषामित्याह—आर्यसत्यानाम् । आर्यसत्यनामधेयाना तत्त्वानाम् । कतिसंख्यानामिति चतुर्णां चतूरूपाणाम् । किंरूपाणामित्याह । दुःखादीनां दु खसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानाम् । आदिशब्दोऽत्रयवार्थोऽत्र । यदुक्तम्—

"सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ॥" [ ]

एवंविध सुगतो बौद्धमते देवता ज्ञेय इत्यर्थ' ॥४॥

आदिममेव तत्त्वं विवृण्वन्नाह—

दु ख ससारिण' स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

दु खं किमुच्यत इत्याशङ्कायां संसारिणः स्कन्धाः । संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीला स्कन्धा. प्रचयविशेषा । ससारेऽमी चयापचयरूपा भवन्तीत्यर्थ. । ते च स्कन्धा. पञ्च प्रकीर्तिताः पञ्चसंख्या कथिता । के त इत्याह । विज्ञानं वेदना संज्ञा सस्कारो रूपमेव चेति । तत्र विज्ञानमिति-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं सर्वक्षणिकत्वज्ञानम् । यदुक्तम्—

"यत् सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे
सत्ताशक्तिरिहार्थकर्मणि मिते. सिद्धेषु सिद्धा च सा ।
नाप्येकैव विधान्यथापि परकृत्नैव क्रिया वा भवेद्
द्वेधापि क्षणभङ्गसंगतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥" [ ] इति ।

विज्ञानम् । वेदनेति-वेद्यत इति वेदना पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धा सुखदु.खानुभवरूपा[2] । तथा च भिक्षुर्भिक्षामटंश्चरणे कण्टके लग्ने प्राह—

"इत एकनवते. कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हत' ।
तेन[3] कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव. ॥" [ ] इत्यादि ।

सज्ञेति-सज्ञानामकोऽर्थ । सर्वमिद सासारिकं सचेतनाचेतनस्वरूपव्यवहरणं संज्ञामात्रं नाममात्रम् । नात्र कलत्रपुत्रमित्रभ्रात्रादिसबन्धो घटपटादिपदार्थसार्थो वा पारमार्थिक । तथा च तत्सूत्रम् । "तानीमानि भिक्षव संज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं कल्पनामात्रं संवृति-मात्रमतीतोऽध्वानागतोऽध्वा सहेतुको विनाश आकाशं पुद्गला." [ ] इति । सस्कार इति-इह परभवविपय. संतानपदार्थनिरीक्षणप्रबुद्धपूर्वानु[4]भूतसंस्कारस्य प्रमातु स एवायं देवदत्त, सैवेयं दीपकलिके सादृश्याकारेण ज्ञानोत्पत्ति संस्कार' । यदाह—

"यस्मिन्नेव हि सतान आहिता कर्मवासना ।
फल तत्रैव संधत्ते कार्पासे रक्तता यथा ॥" [ ] इति

रूपमिति-रूपरूपायमाणपरमाणुप्रचय । बौद्धमते हि स्थूलरूपस्य जगति विवर्तमानपदार्थजातस्य तद्दूषणोपपत्तिभिर्निराक्रियमाणत्वात् परमाणव एव तात्त्विका । च पुनरर्थ[5] । एवेति पूरणार्थ[5] ॥५॥

दु खनामधेयमार्यसत्य पञ्चभेदतया निरूप्य अथ समुदयतत्त्वस्य स्वरूपमाह—

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्य. समुदयः स संमतः ॥६॥

यतो यस्माल्लोके रागादीना रागद्वेषमोहानामखिल. समस्तो गणः समुदेत्युद्भवति । [6]कीदृगित्याह ।

१ –ष्टि तत्त्वनिरूपकत्वेन कथंभूतो देवता प्ररू–ग० १, २ । २ तत्कर्मणो विपा–प० १, २ । ३ पूर्वभवानुभव० म० १. २. मु० । ४ –र्थे– प० १, २ । ५. –स्वभावा– प० १, २ । ६ कीदृश इ– प० १, २ ।

[illegible] अयमात्मा, इदं चात्मीयं मदीयम् इत्यादि[illegible] अयं च परो मदीय इत्यादि-
मानो रागद्वेषादिनिबन्धनं तदाभ्यन्तरं रागादीनां गणः । आत्मात्मीयस्वरूपेण [illegible]
स हेतुरूपो यतः समुदेति स समुदयः समुदयो नाम तत्त्वं मन्यते बौद्धैरिति ॥६॥

अथ तृतीयचतुर्थतत्त्वे पद्येनाह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या ।
स मार्ग इति विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥७॥

सर्वसंस्काराः क्षणिकाः । सर्वेषां [illegible] निरंशोऽनित्य-
क्षणेषु स एवायम् इत्याद्यनित्याध्यवसायेन ये संस्काराः ज्ञानसन्ताना उत्पद्यन्ते ते [illegible] क्षणिकाः ।
अत्र प्रमाणयन्ति सर्वं सत् क्षणिकम् अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति [illegible] क्षणिकत्व-
विशेषकम् । विशेषोऽपि परिणामः [illegible] घटादिकं मुद्गरादिना [illegible]
विनश्यन्नाकलय्यते । तत्र योऽसौ पाश्चात्यः विनाशस्वभावः स यद्युत्पत्तिसमये विद्यते न वा । यदि
विद्यते चेत्, आपतितं तदुत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनश्वरत्वम् । [illegible]
[illegible] । [illegible] एव तस्य स्वभाव इति [illegible] ।
एवं मुद्गरादिव्यापारसम्पातेऽपि न विनाशो जात [illegible] । [illegible]
[illegible] क्षणक्षयिणः पदार्थाः । प्रयोगस्त्वेवम् । यद्यत् उत्पत्तिसमयेऽपि
विनश्वरम्, विनश्वरस्वभावत्वात्, [illegible] तदुत्पत्तिसमयेऽपि [illegible]
विनश्वरस्वभावं च [illegible] इति स्वभावहेतुः ।

ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति ज्ञानम् । उच्यते—[illegible]
[illegible] पूर्वक्षणप्रध्वंस एव [illegible]
[illegible] । तेन [illegible]
[illegible] पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः [illegible] प्रादुर्भवति । [illegible]
[illegible] स एवायमिति प्रतीतिः । तथेहापि किं न [illegible] । [illegible]
[illegible] क्षणिका इति । युक्तियुक्ता च क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना इति । प्रस्तुतमिहाह । एवं या
वासना स मार्गो नामार्यसत्यम्, इह बौद्धमते, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । [illegible]
चतुर्थमार्यसत्यमाह । निरोधः किमित्याशङ्कायां मोक्ष उच्यते । सोऽपवर्गः । सर्वक्षणिक[illegible]
वासनारूपो निरोधो नामार्यसत्यमभिधीयत इत्यर्थः ॥७॥

अथ तत्त्वानि व्याख्याय तत्सम्बन्ध्यायतनान्याह—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥८॥

तत्त्वानि व्याख्यायाधुना प्रमाणमाह—

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये यथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ।।९।।

तथेति प्रस्तुतानुसंधाने । सौगतदर्शने बौद्धमते । द्वे प्रमाणे विज्ञेये । च शब्द पुनरर्थे । तदेवाह— प्रत्यक्षमनुमानं च । अक्षमक्षं प्रति गतं प्रत्यक्षमैन्द्रियकमित्यर्थः । अनुमीयत इत्यनुमानं लैङ्गिकमित्यर्थः । यतः सम्यग्ज्ञानं निश्चितावबोधो द्विधा द्विप्रकार[1] । सम्यग्ग्रहणं मिथ्याज्ञाननिराकरणार्थम् । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेवेत्यर्थः ।।९।।

पृथक्पृथग्दर्शनापेक्षलक्षणसांकर्यभीरु कीदृक् प्रत्यक्षमत्र ग्राह्यमित्याशङ्कायामाह—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम् ।
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसंज्ञितम् ।।१०।।

तत्र प्रमा[2]णोभय्या प्रत्यक्षं बुद्ध्यतां ज्ञायतां शिष्येणेति । किंभूतं कल्पनापोढं शब्दसंसर्गवती प्रतीति कल्पना, तयापोढं रहितं निर्विकल्पकमित्यर्थः । अन्यच्चाभ्रान्तं भ्रान्तिरहितं रगरगायमाणपरमाणुलक्ष[3]णं स्वलक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तद् घटपटादिबाह्यस्थूलपदार्थप्रतिबद्धं च ज्ञानं सविकल्पकम् । तच्च बाह्यस्थूल[4]ार्थानां तत्तन्मतानुमानोपपत्तिभिर्निराकरिष्यमाणत्वात् । नीलाकारपरमाणुस्वरूपस्यैव तात्त्विकत्वात् ।

ननु यदि बाह्यार्था न सन्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं [5]घटपटशकटादि[6]बाह्यस्थूलप्रतिभास इति चेत्; निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो व्यवहाराभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति । यदुक्तम्—

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।।" [ ] इति ।
"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ।।" [ ] इति ।
[7]तदुक्तम्—निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षम् । [ ] इति ।

अनुमानलक्षणमाह—तु पुनः त्रिरूपात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपाल्लिङ्गतो धूमादेरुपलक्षणाद्यल्लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमान[8]संज्ञितमनुमानप्रमाणमित्यर्थः । सूत्रे लक्षणं नान्वेषणीयमिति चरमपाद[9]स्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोष इति ।।१०।।

रूपत्रयमेवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि [10]विभाव्यन्ताम् ।।११।।

हेतोरनुमानस्य त्रीणि रूपाणि [11]विभाव्यन्तामिति संबन्ध । तत्र पक्षधर्मत्वमिति । साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष । यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वत पक्ष, तत्र धर्मत्वम् । [12]धूमवत्त्वं वह्निमत्त्वेन व्याप्तं धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीत्यर्थ[13]। सपक्षे[14]सत्त्वमिति यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेश ।

१ –र प्रत्य– म० १, म० २ । २ –णोभये प० १ । ३ –क्षणस्व– प० १ । ४ –लपदार्थाना मानतोप– प० २ । ५ घटकटश– प० १, म० १, म० २ । ६ –दिस्थूल– म० १, म० २, प० १ । ७ युक्त– म० १ । यदुक्त– म० २ । ८ –सज्ञकम– म० २ । ९ –मपास्य म० १, प० १, प० २, मु० । १० –भाव्यताम् म० १, म० २ । ११ –भाव्यतामिति म० १, म० २ । १२ वह्निमन्व धूमवत्त्वेन म० १, म० २, प० १, प० २ । १३ –तीति पक्ष इत्य–प० १, प० २, म० १ म० २ । १४. सत्त्वं यो मु० ।

नित्यञ्चेत्, अविकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यञ्चेत्, तस्याप्यन्येनोत्पादकान्तरेण भाव्यमनित्यत्वादेव तस्याप्यन्येनेति नित्यानित्यवादविकल्पशिल्पशतस्वीकारे कल्पान्तेऽपि न [1]जल्परसमाप्ति । तस्मान्नित्य एव भगवान् । अन्यच्च, एकोऽद्वितीयो बहूना हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्पर पृथक् पृथग्[2]न्योन्यमसदृशमतिव्यापारतयैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति भगवानेक एवेति युक्तियुक्त नित्यैकेति विशेषणम् ।

तथा सर्वज्ञ इति सर्वपदार्थाना सर्वविशेषज्ञाता । सर्वज्ञत्वा[3]भावे हि विविसितपदार्थोपयोगयोग्यजगत्प्रसृमरविप्रकीर्णपरमाणुकणप्रचयगम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया याथातथ्येन पदार्थनिर्माणरचना दुर्घटा । सर्वज्ञश्च सन् सकलप्राणिना '[4]समीलितसमुचितकारणकलापानुरूपपारिमाण्डल्यानुसारेण कार्य[5]वस्तु निर्मिमाण. स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयो सुखदु खोपभोग[6] च ददान' केषा नाभिमत । तथा [7] चोक्तम्—

"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
[8]अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु.खयो. ॥" [ ] इति ।

भूयोऽपि विशेषयन्नाह 'नित्यबुद्धिसमाश्रय.' इति शाश्वतबुद्धिस्थानम् । क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षितया[9] मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्वप्रसक्तिरिति[10] । ईदृग्गुणविशिष्ट शिवो [11]नैयायिकमतेऽभ्युपगन्तव्य ॥१३॥

अथ तत्त्वानि प्ररूपयन्नाह—

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेय च सशयश्च प्रयोजनम् ॥१४॥
दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥१५॥
जातयो निग्रहस्थानान्येषामेव[12] प्ररूपणा ।
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥१६॥

अमुत्रास्मिन् प्रस्तुते नैयायिकमते षोडश तत्त्वानि प्रमाणादीनि प्रमाणप्रभृतीनि । तद्यथेति । बालावबोधाय नामान्यप्याह—प्रमाण-प्रमेय-सशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान्निश्श्रेयससिद्धिरिति षोडश । एषामेवं प्ररूपणेति । [13]तत्त्वानामेवम् अमुना प्रकारेण प्ररूपणा नाममात्रप्रकटनमित्यर्थ. ।

[14]अथैकैकस्वरूपमाह । तत्रादौ प्रमाणस्वरूप प्रकटयन्नाह—अर्थोपलब्धिहेतुः[15] प्रमाणं स्यात् । अर्थस्य पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञान तस्य हेतु' कारण प्रमाणं [16]स्याद् भवेत् । परापरदर्शनापेक्षया प्रमाणानामनियतत्वात्संदिहानस्य सख्यामुपदिशन्नाह-तच्चतुर्विधमिति । तत्प्रमाणं [17]चतुर्विधं ज्ञेयमिति ॥१४–१६॥

प्रत्यक्षमनुमान [18]चोपमान शाब्दिक तथा ।

व्याख्या [19]—प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव, केवलमुपमया सह इत्युपमानं प्रमाणम् । अथ प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह—

तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिकम् ॥१७॥

---

१. –ल्पपरिस–म० १, म० २ । २ –गन्यान्यसदृश–प० १, प० २ । –गन्योन्यासदृश–प० २ । –गन्योन्यसदृश–म० १, म० २ । ३. –ज्ञताभावे प० १ । ४ समीलित–प० १ । ५ कार्यं प० १ । ६ –ग द–मु०, म० १, म० २ । ७ –था च त्वद्यूथ्योक्त–म० १, म० २ । ८. अन्यो मु०, प० १, प० २ । ९ –पेक्षतया प० २ । १० –क्तेरिति प० १ । ११. –ते देवोऽभ्यु–प० २ । १२ –मेव प० १ । १३. –नाममु–प० १, प० २, मु० । १४ –कस्य स्व–म० १, म० २ । १५. –तुस्स्या–प० २ । १६ स्यादिति मु० प० १, प० २, । १७ चतुर्भेद प० २ । १८. च शाब्द चोपमया सह प० २ । च शाब्दमुपमया सह प० १ । १९ इय व्याख्या नास्ति मु०, प० १, प० २ ।

"गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वरा ।
तुङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥" [न्यायम०   ]

इत्यादयोऽपि वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥२०॥

शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह—

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूरान्मेघो वृष्टो यथोपरि ॥२१॥

[1]यत्कार्यात् फलात्कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतुपदार्थाविगमनं तच्छेषवदनुमानं मतं कथितं नैयायिकशासने । यथा तथाविधनदीपूरादुपरि मेघो वृष्टस्तथाविधप्रवहत्सलिलसभारभरितो यो नदीपूरः सरित्प्रवाहस्तस्मादुपरि शिखरिशिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत् । अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं च पर्वतोपरि मेघो वृष्ट इति । उक्तं च नैयायिकैः —

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहुलशैवालफलशाड्वलसंकुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न[3] निवेदितुम् ॥" [   ] इति ॥२१॥

तृतीयानुमानमाह—

यच्च सामान्यतो दृष्टं तदेवं गतिपूर्विका ।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ॥२२॥

च पुनरर्थे । यत् सामान्यतो दृष्टमनुमानं तदेवममुना[4] वक्ष्यमाणप्रकारेण । यथा पुंसि पुरुषे देवदत्तादौ देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका । एकस्माद्देशान्तरगमनं गमनपूर्वकमित्यर्थः । यथोज्जयिन्या प्रस्थितो देवदत्तो माहिष्मती पुरीं प्राप्तः । सूर्येऽपि सा तथेति, यथा पुंसि तथा सूर्येऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते । यद्यपि गगने ननरतं सूर्यस्य नेत्रावलोक[5]प्रसरणाभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदयाचलात् सायमस्ताचलचूलिकावलम्बनं गतिं सूचयति । एवं सामान्यतोदृष्ट[6]मनुमानं ज्ञेयमित्यर्थः ॥२२॥

अथ क्रमायातमपि शाब्दप्रमाणं स्वल्प[7]वक्तव्यत्वादुपेक्ष्यादावुपमानलक्षणमाह—

प्रसिद्ध[8]वस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं [9]तदाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥२३॥

[10]तदुच्यमानमुपमानमाख्यातं कथितम् । यत्तदोर्नित्य[11]संबन्धात् । [12]यत्किंचित् अप्रसिद्धस्य साधनम् उपमानमानस्यार्थस्य ज्ञापनं क्रियते । प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादिति[13], प्रसिद्धा (द्ध) आबालगोपालाङ्गनाविदितोऽसौ धर्मोऽसाधारणलक्षण[14] तस्य साधर्म्यं समानधर्मत्वं[15] तस्मादित्युपमानमाख्यातम् । दृष्टान्तमाह—यथा, गौर्गवयस्तथेति । यथा कश्चिदरण्यवासी [16]नागरिकेण कीदृग्गवय इति पृष्टः, न च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह यथा गौस्तथा गवयः, खुरककुदलाङ्गूलसास्नादिमान् यादृशो गौस्तया जन्मसिद्धो [17]गवयोऽपि[18] ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयस्य साधनमिति ॥२३॥

---

१ [illegible]—म० १, म० २ । २ —र्णं प—प० १ । ३ नो प० २ । ४ —ना प्र—म० २, प० १, प० २, मु० । ५ —प्रसरणा—म० १ । ६ —ष्टं नामानु—म० १ । ७ —व्यक्तव्या—मु०, प० १, प० २, म० २ । ८ —[illegible]—म० १ । ९ [illegible]—म० २, प० १, प० २, मु० । १०. तदुपमान-[illegible]—प० १ । ११ —[illegible]—म० १ । १२ [illegible]—मु०, प० २. म० १, म० २ । १३ —[illegible]—मु०, प० १, प० २, म० २ । १४ —[illegible]—प० १, प० २ । १५ —व तन इति [illegible]—म० १ । —[illegible]—प० २ । १६ नाग[illegible] प० २ । १७ —मप्रसि—प० २ । १८ —पि [illegible]—प० १, प० २, म० १ ।

उपमानं व्याख्याय शाब्दमानमाह—

शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥२४॥

तु पुनराप्तोपदेशः शाब्दम् । [illegible] [illegible] [illegible] तदुक्तम् [illegible] । एवमुक्तप्रकारेण मानं प्रमाणं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं [illegible] ।

अथ प्रमेयमाह—प्रमेयं [illegible] आत्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि [illegible] प्रमेयं तु [illegible] । आत्मा च [illegible] । [illegible] प्रमेयाणां [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] प्रमीयते । [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] ॥२४॥

संशयादिस्वरूपमाह—

किमेतदिति संदिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः ।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

[illegible] पदार्थ [illegible] [11] [illegible] आह—किमेतदिति । स्थाणुर्वा पुरुषो वेति य संदिग्धः प्रत्ययः [12] स संशयो नाम [illegible] इति । प्रयोजनमाह—यत्तु वस्तु प्रयोजनं नाम तत्त्वं यत्किमित्याह—अर्थित्वात् [illegible] साध्यं [illegible] प्रवर्तते । [illegible] । न हि निष्फलकार्यारम्भं [illegible] । एवं प्रवर्तनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥२५॥

दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः ।
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः सर्वतन्त्रादिभेदतः ॥२६॥

व्याख्या—तु पुनरेष दृष्टान्तो नाम वस्तु भवेत् । यत्किमिति । विवादविषयो [12] यस्य [illegible] वचने वादगोचरो न भवति । [illegible] भवति न वेति विवादो न भवतीत्यर्थः । तावच्चान्वयव्यतिरेकतर्कोऽर्थः स्खलति यावन्न [13] स्पष्टं दृष्टान्तोपष्टम्भः । उक्तं च—

'तावदेव चलत्यर्थो[14] मन्तुर्गोचरमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥'

एष दृष्टान्तो ज्ञेयः ।

सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत् । कथमित्याह—सर्वतन्त्रादिभेदतः इति । सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति प्रथमो भेदः । आदिशब्दाद्भेदत्रयमिदं ज्ञेयम् । यथा प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति । अमी चत्वारः सिद्धान्तभेदाः । नाममात्रकथनमिदम्, विस्तरस्त्वन्येभ्यस्तु [15] विशेषो ज्ञेयः ॥२६॥

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपमाह—

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया [16] निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संशयोपरमो भवेत् ॥२७॥
यथा काकादिसंपातात् स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं संदेहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥

अवयवाः पञ्चेति संबन्धः । पूर्वार्द्धमाह—[1]प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमनं चेति पञ्चावयवाः । तत्र प्रतिज्ञा पक्षः, कृशानुमानयं[2] सानुमानित्यादि । हेतुर्लिङ्गवचनम्, [3]धूमवत्त्वादित्यादि । दृष्टान्त उदाहरणवचनम्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा [4]महानसप्रदेश इत्यादि । उपनयो हेतोरुपसंहारक वचनम्, धूमवांश्चायमित्यादि । निगमनं हेतूपदेशेन पुनः साध्यधर्मोपसंहरणं तस्माद्वह्निमानित्यादि । इति पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणम्[5], इति अवयवतत्त्वं ज्ञेयमिति । तर्कः संशयोपरमो भवेत् । यथा काकेत्यादि । दूराद्दूरगोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयस्तस्योपरमेऽभावे सति तर्को भवेत् तर्को नाम तत्त्वं स्यात् । कथमित्याह—यथेति । दूरादूर्ध्वस्थ पदार्थं विलोक्य स्थाणुपुरुषयोः संदिहानोऽवहितीभूय विमृशति । काकादिसंपातादादिशब्दाद्वल्युत्सर्पणादयः स्थाणुधर्मा ग्राह्याः । वायसप्रभृतिसंबन्धादत्र स्थाणुना[6] भाव्यं कीलकेन भवितव्यम् । पुरुषे हि शिरःकम्पनहस्तचालनादिभिः[7] काकपातानुपपत्तेः । एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति । ऊर्ध्वमित्यादि पूर्वोक्तलक्षणाभ्यां संदेहतर्काभ्यामूर्ध्वमुत्तर[8] यः प्रत्ययः, स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति प्रतीतिविषयः, स निर्णयः निर्णयनामा तत्त्वविशेषो ज्ञेयः । यत्तदावर्थसंबन्धादनुक्तावपि ज्ञेयौ ॥२८॥

वादतत्त्वमाह—

> आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
> यः कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः ॥२९॥

असौ वाद उदाहृतः कथितस्तज्ज्ञै[9]रित्यर्थः । यः कः । इत्याह—कथाभ्यासहेतुः । कथा प्रामाणिकी तस्या [10]अभ्यासहेतुः कारणम् । कयोः आचार्यशिष्ययोः । आचार्यो गुरुरध्यापकः, शिष्यश्चाध्येता [11]विज्ञेय इति । कस्मात् । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् । पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञादि [12]परिग्रहः, प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षवादिप्रयुक्तप्रतिज्ञादि[13]प्रतिपन्थिकोपन्यासप्रौढिः तयोः परिग्रहात्स्वग्रहादित्यर्थः । आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे । शिष्यश्चोत्तर[14]पक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति । एवं निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादि[15]निरपेक्षतया अभ्यासनिमित्तम् । पक्षप्रतिपक्ष[16]परिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः स वादो ज्ञेयः ॥२९॥

अथ तद्विशेषमाह—

> विजिगीषुकथाया[17] तु च्छलजात्यादिदूषणम् ।
> स जल्पः सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षवर्जिता ॥३०॥

स जल्प इति संबन्धः । [18]यत् तु विजिगीषुकथायां विजयाभिलाषिवादिप्रतिवादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्या सत्या छलजात्यादिदूषणम् । छलं त्रिप्रकारम्—वाक्छलं, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति, जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दूषणजालमुत्पाद्य निराकरणम् । अभिमत च स्वपक्ष[19]स्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैः परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम् । तथा चोक्तम्—

---

१ प्रतिज्ञा हेतुर्दृष्टान्त उपनयो म० १, प० १ । २ –यं पर्वत इत्यादि प० २ । ३ –त्त्वादिति प० २ । ४ –स इत्यादि प० १, प० २, म० १ । ५. –णम् अव–मु०, प० १, म० १, म० २ । ६ –णुना कीलकेन भाव्य पुरु– म० २ । ७ –दिभिया का–म० १ । ८ –र्ध्वमनन्तर य प० १, प० २, म० २ । ९ –तज्ज्ञैरिति य किमित्याह प० १, प० २, म० २ । १०. –स का–मु० । –स्या–प० १ । –ये वा –म० २ । ११. विज्ञेय मु०, म० १, म० २ । १२ –दिसंग्रह प० १, प० २ । १३ –प्रत्युक्तो–मु०, प० १, प० २, म० १ । १४–सनङ्गीकृत्य प० २ । १५ –द्यनपेक्षितया म० २ । १६ –ग्रहेण म० २ । १७ –या तु मु०, म० १, म० २ । १८ यत् वि–मु०, प० १, प० २, म० १ । १९ –पक्षमेव स–म० २ ।

"दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः[1] ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥" इति ।

संकटे प्रस्तावे च सति छलादिभिरपि [illegible] । परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसंभव-स्तस्मात् छलादिभिरपि जयः । सा वितण्डा तु सा प्रतिपक्षविवर्जिता[2] । सा पुनर्वितण्डा, या । किम् । विजिगीषुकथैव प्रतिपक्षस्थापनाहीना[3] । वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतिपक्षस्थापनेन विवर्जिता रहितेति प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा इत्यर्थः । वैतण्डिको हि स्वपक्षमनभ्युपगच्छन् यत्किंचिद्वादेन परोक्तमेव[4] दूषयतीत्यर्थः ॥३०॥

हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥३१॥

हेत्वाभासा ज्ञेया इति । के ते । इत्याह—असिद्धाद्याः, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासा ज्ञेयाः । तत्र पक्षे यस्य च सत्ता नास्ति सोऽसिद्धः । विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । [5]प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः । [6]विशेषाग्रहणे हेतुत्वेन प्रयुज्यमानः[7] प्रकरणसमः । उदाहरणानि स्वयमभ्यूह्यानि ।

छलं कूपो नवोदक इति परोपन्यस्तवादे स्वाभिप्रायान्तरकल्पनया वचनविघातश्छलम् । कथ-मित्याह—वादिना कूपो नवोदक इति प्रत्यग्रार्थाभिप्रायेण नवशब्दप्रयोगे[8] छलवादी नवसंख्यामारोप्य दूषयति । कुत एक एव कूपो नवसंख्योदक इति वाक्छलम् । प्रसिद्धार्थत्वेन छलान्तरमप्याह—संभावनया-तिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे[9] हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिदाह—संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति । तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति व्रात्येऽपि सा भवेद्व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम्, उपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति छलत्रयस्वरूपं ज्ञेयमिति ।

जातय इत्यादि । दूषणाभासा जातयः । अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः । [10]यैः, किम् । पक्षादिर्न दूष्यते, आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः[11] समुद्भावयितुं शक्यते केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झगिति तद्दोषतत्त्वानवभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः । सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा साधर्म्य–वैधर्म्य–उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्ति–अप्राप्ति–प्रसङ्ग–प्रतिदृष्टान्त–अनुत्पत्ति–संशय-प्रकरण – अहेतु–अर्थापत्ति–अविशेष-उपपत्ति–उपलब्धि–अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य-कार्यसमाः । तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' इति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्—नित्यः शब्दो निरव-यवत्वात् आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दः न पुनः आकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वात् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्यत्रैव प्रयोगे स एव हेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात् अनित्यं हि सावयवं दृष्टं[12] घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्दः न पुनस्त-

१ –ण्डादोपम–मु०, प० १, प० २, म० १ । २ –क्षवर्जिता म० २ । ३ –नाही-म० २ । ४ –क्त दू–म० १, म० २, मु० । ५ प्रत्यक्षादिवि–प० २ । प्रत्यक्षाणमवि–प० १, म० २ । ६ विशेषाग्रहण म० २ । ७ –न प्र–म० २ । ८ गे कृते छ–म० २ । ९ न्यस्य हे–म० २ । १० यै प–मु०, प० १, प० २, म० १ । ११ –प उ–म० १, म० २ । १२ –ष्ट यथा घ–म० १, म० २, प० १ ।

द्वैधर्म्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः। तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं [1]कञ्चित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमा जातिं प्रयुङ्क्ते। यदि घटवत्कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव [2]मूर्तोऽपि भवेत्, न चेन्मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेत्, [3]नो चेत् मूर्तो घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे धर्मान्तरो त्कर्षमापादयति। अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेत्। नो चेत् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे [4]श्रावणत्वं धर्ममपकर्षति। वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः। ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते। यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादि[5]र्न तादृग् घटधर्मो यादृग् घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मौ हि तुल्यौ कर्तव्यौ। अत्र तु विपर्यासः, यतो यादृग्घटधर्मः कृतकत्वादि न तादृक् शब्दधर्मः। घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वम्। शब्दस्य हि ताल्वोष्ठादिव्यापारजमिति। धर्मान्तर[6]विकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः। यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कव[7]शय्यादि, किञ्चित्कठोर[8]कुठारादि एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादिकम्, किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति। साध्य[9]साम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः। यदि यथा[10]घटः तथा शब्दः [11]प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति। शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न [12]साध्यं साध्यस्य[13]दृष्टान्तः स्यात्। न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात् सुतरामदृष्टान्त इति। प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती। यथा यदेतत्कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं[14]प्राप्य साधयत्यप्राप्य[14] वा। प्राप्य[14]चेत् द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न तदसदसतोरिति, द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा। [1] अप्राप्य तु साधनमयुक्तम्, अतिप्रसङ्गादिति। अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह— यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे [15]इदानीं किं साधनं तत्साधने किं साधनमिति। प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह—यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्टः एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति। न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात्। अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः। यथानुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते, तदेव हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति[16]। साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा[17] या जातिर्यथा पूर्वमुदाहृता, सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति। यथा किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दः, [18]किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाधर्म्या[19]न्निरवयवत्वान्नित्य इति। द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या[20] प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति। तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम्। त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः। यथा हेतुः साधनम्, तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा[21] सह वा भवेत्। यदि पूर्वम्, असति साध्ये तत्कस्य साधनम्। अथ पश्चात्साधनम्, पूर्वं तर्हि 'साध्यं तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन। अथ युगपत्साध्यसाधने, तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न [22]भवेदिति। अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा

---

१ –कि–भ० २। २. मूर्तो भ–प० १। ३ न प० २। ४ –वणत्व–मु०, प० १, प० २, भ० १। ५ –दिना न तादृग् घटधर्मो न ता–मु०, प० १, प० २, भ० १। ६ –न्तरे वि- मु०, प० १, प० २, भ० १। ७ वस्त्रादि भ० २। ८ कठिन कु–भ० २। ९ –साधर्म्यापा–प० १। १० यथा घ–मु०, प० २, भ० १। ११ प्राप्त भ० २। १२ साध्य भ० २। १३ –स्य दृष्टान्तो विरुद्धलक्षणत्वान्न दृष्टा–मु०। १४ –प्य प० २, भ० १, मु०। १५ –कत्वमिदा–मु०, प० १, प० २, भ० १। १६ –न्यस्ये–भ० २। १७ वा जातिपूर्व–प० २, भ० १, भ० २। १८ उत तद्वैधर्म्यादाका–भ० १, भ० २। १९ –साम्या–भ० १, भ० २। २०. –पनाबु–प० १। २१. –श्चात् सह वा भ० १, भ० २। २२. भवति भ० २।

येन केनचिद्रूपेण[1] परो विपक्षो निगृह्यते परवादी वचननिग्रहे पात्यते तन्निग्रहस्थानमाख्यातं कथितमिति । कतिचिद्भेदान्[2] नामतो [3]निर्दिशन्नाह—प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेद[4]वत् । हानिसन्यास-विरोधा प्रतिज्ञाशब्देन संबध्यन्ते । आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति । एतद्दूषणजालमुत्पाद्यते येन तन्निग्रहस्थानम् । यदुक्तं—"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्यायसू०]। तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धि दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्ति साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् । [5]तद्धि निग्रहस्थान द्वाविंशतिभेदम् । तद्यथा—प्रतिज्ञाहानि , प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध प्रतिज्ञासंन्यास., हेत्वन्तरम्, अर्थान्तर, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननु-भाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपो मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोग , अपसिद्धान्त', हेत्वाभासश्च[6] । तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्म स्वदृष्टान्तेऽभ्यु[7]पगतवत' प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्य शब्द ,ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्य दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकी कृते यद्येव ब्रूयात् सामान्यवत् घटोऽपि नित्यो भवति, स एव ब्रुवाण. शब्दा-नित्यत्वप्रतिज्ञा जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तिरसाधनमभिदधत प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थान भवति । अनित्य. शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनैव व्यभिचारेणोदिते यदि ब्रूयाद् युक्त सामान्यमैन्द्रियिक नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति, सोऽयमनित्य शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञात प्रतिज्ञान्तरमसर्वगत शब्द इति प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थान भवति । यथा गुणव्यतिरिक्त द्रव्य रूपादिभ्योऽर्थान्तिरस्यानुपलब्धेरिति, सोऽय प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो यदि गुणव्यतिरिक्त द्रव्य कथ रूपादिभ्योऽर्थान्तिरस्यानुपलब्धि , अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तिरस्यानुपलब्धि कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति तदय प्रतिज्ञा[9]विरुद्धाभिधानात्पराजीयते । पक्षसाधने परेण दूषिते [10]तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासन्यासो नाम निग्रहस्थान भवति । यथा अनित्य शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह 'अनित्य शब्द' इति प्रतिज्ञासन्यासात् पराजितो भवतीति । अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थान भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्येऽस्य[12] व्यभिचारेण दूषिते जातिमत्त्वे सतीत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । प्रकृतादर्थादर्थान्तिर तदी(तदनौ)पयिकमभिदधतोऽर्थान्तिरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्य शब्द कृतकत्वादिति हेतु । [13]हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्त पदम्,पद च नामतद्धितनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य[14]नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तिरेण निगृ[15]ह्यत इति । अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्र निरर्थकं नाम निग्रहस्थान भवति । यथा अनित्य शब्द कचतटपाना गजडदववत्त्वाद् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथा अर्थशून्य-त्वान्निग्रहाय[16] कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा । यत्साधनवाक्य दूषणवाक्य वा [17]त्रिवारमभिहितमपि पर्षत्प्रति-वादिभ्या बोद्धु न शक्यते [18]तदविज्ञातार्थ नाम निग्रहस्थान भवति । पूर्वापरासगतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठित-वाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थान भवति, दश दाडिमानि षडपूपा इति । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचन-क्रमस्य व्युत्क्रमेण अवयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकाल नाम निग्रहस्थान भवति । स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेरपि जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात् । पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये [19]तदेकतमेनानुमानावयवेन हीन न्यून नाम निग्रहस्थान भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञादीना पञ्चानामपि साधनत्वात् । एकेनैव

१ –रूपेण म० २ प० १, प० २ । २. –द्भेदानेव ना–प० १, प० २, म० २ । ३. निदर्शयन्नाह प० २ । ४ –भेद प० २ । ५ तच्च म० १, म० २ । ६. –श्च प० २, म० १, मु० । –[illegible] प० २ । ८ –[illegible] म० २, प० १ प० २ । ८ –गतोयम–म० १, म० २ । ९ –न्येन [illegible]–प० १ प० २, म० २ । १०. –ज्ञाहेत्वोर्वि–प० १, प० २, म० २ । ११ –द्धारणा– म० २ । १२ [illegible]–प० १ प० २, म० २ । १३. हेतुर्हि–म० १, मु० । १४ प्रस्तुतार्थपरिहारेण ना– प० २ १५ [illegible] प० २ । १६ –[illegible] प० १. प० २, मु०, म० १ । १७ त्रिरभि– म० २ । १८ –[illegible]–प० १, प० २ म० २ । १९ तदन्यतमेनान्यवचनेन प० १, प० २, म० २ ।

हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तर वा वदतोऽधिक नाम निग्रहस्थान भवति । शब्दार्थयो पुनर्वचन पुनरुक्त नाम निग्रहस्थान भवति । अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्द पुनरुच्चार्यते यथा अनित्य शब्दोऽनित्य शब्द इति । अर्थपुन[1]रुक्त तु यत्र सोऽर्थ प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुन पर्यायान्तरेणोच्यते यथा अनित्य शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोष । यथा [2]हेतूपदेशात् प्रतिज्ञाया पुनर्वचन निगमनमिति । [3]पर्षदाविदितस्य वादिभिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारण तदननुभाषण नाम निग्रहस्थान भवति । पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञान तदज्ञान नाम निग्रहस्थान भवति । अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तर ब्रूयात् । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यननुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् । परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थान भवति । कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थान भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथा विच्छिनत्तीद [4]मम करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथा विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते । स्वपक्षे [5]परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे [6]प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते, भवानपि चौर पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मन [7]परापादितचौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते । निग्रहप्राप्तस्यानिग्रह पर्यनुयोज्योपेक्षण नाम निग्रहस्थान भवति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्य नोदनीय 'इदते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येव वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति य स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते । अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगान्निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थान भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्स [8]एवाभूतदोषोद्भावनान्निगृह्यत इति । सिद्धान्तमभ्युपेत्य[अ]नियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम्[9]। य प्रथम कचित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते,[10] तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपालम्भाय[11] वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते । हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् इति । भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानाना द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति[12] ।

अथोपसंहरन्नाह—

> नैयायिकमतस्यैव समास कथितोऽधुना ।
> साख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥३३॥

एवम् इत्थंप्रकारतया **नैयायिकमतस्य** [13]शैवशासनस्य **समास** सक्षेपोऽधुना **कथितो** निवेदित साम्प्रतमेव निष्ठित इत्यर्थ । **इदानीं पुनरयं समास सांख्याभिमतभावानाम् उच्यते** । साख्या कापिला इत्यर्थ । तदभिमता[14]स्तदभीष्टा ये भावा पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषा सक्षेपोऽत्र पर कथ्यत इत्यर्थ ॥

तदेवाह[15]—

> एतेषा या समावस्था सा प्रकृति किलोच्यते ।
> प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्या वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३४॥

एतेषां साख्याना **प्रकृति** प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाना लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणा[16] परस्परोपकाराणा सत्त्वरजस्तमसा त्रयाणामपि गुणाना **या साम्यावस्था** समतयावस्थिति. **सा किल प्रकृतिरुच्यते**, किलेत्याप्तप्रवादे, सा प्रकृति कथ्यते । अन्यच्च सा **प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्या वाच्या** [17]प्रधानशब्देन अव्यक्तशब्देन च

---

१. –स्वत्वे तु–म० १ । २ हेतुनिर्दे–प० २ । ३ –दावेदि–मु० । ४ मे म० १, म० २ । ५. परोत्पादि–प० १, प० २ । ६ प्रतीतिमा–मु० । ७ परोत्पादि–प० २ । ८ –त्रामद्भूत प० १, प० २ । ९ –न भवति प० १, म० १, म० २ । १०. –मुपाक्र–मु० । ११ –लम्भो यथा मि–मु० । १२ इत्यर्थ प० १, प० २ । १३ शिव–मु०, म० २ । १४ तद्दर्शनाभी–प० १, प० २, म० १ । १५. एतदेवाह म० १ । १६ –र्माणा स–मु०, म० २ । १७ प्रधानाव्य–प० २, मु०, म० २ ।

प्रकृतिराख्यायते । शास्त्रे प्रकृतिं प्रधानमव्यक्तं चेति [1]पर्याया न तत्त्वान्तरमित्यर्थः ।[2] तथा नित्यस्वरूपिका शाश्वतभावतया प्रसिद्धेत्यर्थः । उच्यते च नित्या नानापुरुषाश्रया च तद्दर्शनेन प्रकृतिर्यदाह—

"तस्मान्न [3]बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥" इति ।

दर्शनस्वरूपमाह—

साङ्ख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥३५॥

केचित्सांख्या निरीश्वरा ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते [4]केवलाध्यात्मवेदिनः । केचित्पुनरीश्वरदेवता महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः । [5]सर्वेषामपि । तेषां केवलनित्यात्म[6]वादिनामीश्वरदेवतानां च सर्वेषां साङ्ख्यमतानुसारिणां शासने तत्त्वानां पञ्चविंशतिः स्यात् । तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकं बीजमिति सर्ववादिसंवादः । यदुक्तम् ।

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥"

तन्मते पञ्चविंशतिस्तत्त्वानीत्यर्थः ।

गुणत्रयमाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
प्रसादतोषदैन्यादिकार्य[7]लिङ्गं क्रमेण तत् ॥३६॥

तावदिति प्रक्रमे । तेषु तत्त्वेषु सत्त्वं सुखलक्षणं रजो दुःखलक्षणं तमश्चेति मोहलक्षणं प्रथमं तावत् गुणत्रयम् सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयं ज्ञेयम् । तद् गुणत्रयं क्रमेण परिपाट्या, प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं गुणत्रयेणेदं लिङ्गत्रयं क्रमेण जन्यते । सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यलिङ्गं वदननयनादिप्रसन्नता सत्त्वगुणेन स्यादित्यर्थः । रजोगुणेन तोषः स चानन्दपर्यायः, तल्लिङ्गानि स्फूर्त्यादीनि रजोगुणेनाभिव्यज्यन्त इत्यर्थः । तमोगुणेन च दैन्यं जन्यते 'हा दैव नष्टोऽस्मि, वञ्चितोऽस्मि' इत्यादिव[8]चनविच्छायतानेत्रसंकोचादिव्यङ्ग्यं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति । दैन्यादीत्यादिशब्देन दुःखत्रयमाक्षिप्यते, तद्यथा आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा[9], आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्,[10] आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकमिति ।

अनेन दुःखत्रयेणाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते अतस्तान्येव तत्त्वान्याह—

ततः संजायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहंकारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

ततो गुणत्रयाभिघाताद् बुद्धिः संजायते यका बुद्धिर्महानिति उच्यते महच्छब्देन कीर्त्यत इत्यर्थः । एवमेतन्नान्यथा, गौरेव[11] नाश्वः, [12]स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येवं निश्चयस्तेन पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायः सा

१ पर्यायान्तरमि–प० १, प० २, म० १ । २. यथा प० १, प० २ । ३ –ते नापि मु– प० १, म० १ । ४ केवलात्म प० १ । ५ सर्वेषामिति प० २, म० १, म० २ । ६ –त्मवेदि–प० २ । ७ कार्यं लि–म० २ । ८ –वचोवि–प० २, म० १ । ९ द्विधा प० २ । १०. –निर्मितम् प० १, प० २, म० १ म० २ । ११ गौरेवायं प० १, प० २, म० १ । १२ स्थाणुरेवायं प० १, प० २, म० १ ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सांख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम् । [1]प्रकृतिर्महानहंकारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, [2]मनस्त्वेकम्, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्चभूतानि, चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि रूपं यस्येति, एवंविधा प्रकृतिः कथितेत्यर्थः । पञ्चविंशतितमं तत्त्वमाह—अन्यस्त्विति । अन्योऽकर्ता पुरुषः, प्रकृतेरेव संसरणादिधर्मत्वात् । यदुक्तं—प्रकृतिः करोति प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्मुच्यते, न तु पुरुषः, पुरुषोऽबद्धः पुरुषो मुक्तः । पुरुषस्तु—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥"

पुरुषगुणानाह—विगुण इति । सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः । तथा भोक्ता भोगी, एवंप्रकारः पुमान् तत्त्वं पञ्चविंशतितमं तत्त्वमित्यर्थः । तथा नित्यचिदभ्युपेतः, नित्या चासौ चिच्चैतन्यशक्तिस्तया-ऽभ्युपेतः सहितः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते । सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते । आह च [3]पातञ्जले, "शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रतिभासते" [योगभा०] इति मुख्यतस्तु चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या, बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदस्वभावत्वात् चिच्छक्तिसंनिधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवावभासते । वादमहार्णवोऽप्याह—

"बुद्धिदर्पणसंक्रान्तम[4]र्थप्रतिबिम्बकम् ।
द्वितीयदर्पणकल्पे[5] पुरुषे ह्यधिरोहति ॥"

तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु [6]विकारोत्पत्तिरिति । तथा चासुरिः—

"विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः [7]स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

"पुरुषोऽविकृतात्मैव[8] स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सांनिध्यादुपाधेः स्फटिकं यथा ॥" [ ] इति

नित्यचिज्ज्ञानगुणत [illegible] ।

[illegible] नित्येऽप्यात्मनि भृत्यगतयोर्जयपराजययोरिव तत्फलकोशलाभादिसंबन्धेन स्वामि-[illegible] दोषः ।

सांख्योपसंहारमाह—

पञ्चविंशतितत्त्वानि सांख्यस्यैव[10] भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

तदेवाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः ।
हतमोहमहामल्ल केवलज्ञानदर्शनः ॥४५॥
सुरासुरेन्द्रसपूज्य सद्भूता[1]र्थोपदेशकः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥४६॥

तत्र तस्मिन् जैनमते जिनेन्द्रो देवता कृत्स्नकर्मक्षय कृत्वा परमं पदं समाप्त इति मवन्ध. । जिनेन्द्र इति जयन्ति रागादीनिति जिना. सामान्यकेवलिनस्तेपामिन्द्र स्वामी तादृगासदृगचतुस्त्रिगदतिगय[2]नपल्- हितो जिनेन्द्रो देवता दर्शनप्रवर्तक आदिपुरुष , एप कीदृक्[3] सन् शिव संप्राप्त इति परासाधारणानि विगेपणा- न्याह—रागद्वेषविवर्जित इति राग सासारिकस्नेहोऽनुग्रहलक्षण , द्वेपो वैराग्याद्यनुबन्धान्निगहलक्षण , ताभ्या विवर्जितो रहित । एतावेव.दुर्जयौ दुरन्तभवसपातहेतुकतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये प्रसिद्धौ । यदाह—

"को दुक्खं पाविज्जा कस्स न सुक्खेहि विम्हहो हुज्जा ।
को य न लभेज्ज मुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥" [ ] इति ।

तथा हतमोहमहामल्लः मोहनीयकर्मोदयात्[4] हिसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादिव्यामोहो मोहः स एव [5]दुर्जेयत्वान्महामल्ल इव महामल्ल , हतो[6] मोहमहामल्लो येनेति स तथा । रागद्वेपमोहसद्भावादेव न चान्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्तचङ्गतया प्रतिभासन्ते, तत्सद्भावश्च तेपु सुज्ञेय एव । यदुक्तम्—

"रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषो [7]द्विपाद् दारणहेतिगम्यः ।
मोह. कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवस्य[8] स चैवमर्हन् ॥"

इति रागद्वेषमोहरहितो भगवान् । तथा केवलज्ञानदर्शनः । धवखदिरपलाशादिव्यक्तिविशेपाववोधो ज्ञानम् । वनमिति सामान्याववोधो दर्शनम् । केवलशब्दश्चोभयत्र संवध्यते । केवलमिन्द्रियादिज्ञानानपेक्ष ज्ञान दर्शन च यस्येति । केवलज्ञानकेवलदर्शनात्मको हि भगवान् करतलकलितविमलमुक्ताफलवद्द्रव्यपर्यायविशुद्ध- मखिलमिदमनवरत जगत्स्वरूप पश्यतीति केवलज्ञानदर्शन इति पदं साभिप्रायम् । छद्मस्थस्य[9] हि प्रथम दर्शनमुत्प- द्यते, ततो ज्ञान, केवलिनस्त्वादौ ज्ञान ततो दर्शनमिति । तथा सुरासुरेन्द्रसंपूज्य । [10]सेवावधानसावधान- निरन्तरढौकमानदासायमानदेवदानवनायक[11]वन्दनीय । तादृशैरपि पूज्यस्य मानवतिर्यक्खेचरकिन्नरनिकर[12] संसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति । तथा सद्भूतार्थोपदेशक । सद्भूतार्थान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्यविशेप- सदसदभिलाप्यानभिलाप्याद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति य स इति ।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक च सदिति अभिमन्यमानो जैन. एकान्तनित्यपक्षमेकान्तानित्यपक्षं चेत्थं विघटयति । तथा हि—वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्व लक्षणम् । तच्च नित्यैकान्ते न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थि- रैकरूपो हि नित्यः, स च क्रमेणार्थक्रिया कुर्वीताक्रमेण वा । अन्योन्यव्यतिरिक्तधर्माणामर्थाना प्रकारान्तरेणोत्पा- दाभावात् । तत्र न क्रमेण, स हि कालान्तरभाविनी क्रिया प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य काल- क्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो [13]वासामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थो पि हि तत्तत्सहकारिसमवधाने त तमर्थं करोतीति चेद्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् 'सापेक्षमसमर्थम्' [ ] इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽ- पेक्ष्यन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत्तानपेक्षत इति चेत् तत्कि स भावोऽसमर्थ समर्थो वा । समर्थ- श्चेत्कि [14]सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि, तान्यपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति । ननु समर्थमपि वीजमिलाजला[15]निलादि-

---

१ –र्थप्रका– प० २ । २ –म्पन्महि–म० १, प० १, प० २ । ३ –क् शिव मु०, म० २ । ४ –याच्च मु०, प० १, प० २, म० २ । ५ दुर्जय– प० १ । ६ मोहो महा– मु०, म० २ । ७ द्विपा दा –मु०, म० २ । ८. देव स स चेव– प० १, प० २, म० १ । ९ अन्यस्य मु०, म० २ । १० सेवाविधान-- मु०, प० १, प० २, म० २ । ११ नवव–मु०, म० २ । १२ करसरसरसे– प० १, म० २ । १३ वा सामर्थ्याप्रासे मु०, म० २ । १४. सहकारिप्रेक्षणादीनि मु० । १५ –लाजलादि– प० १, प० २, म० १ ।

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥" [ ] इति ।

तथा सामान्यैकान्तं, विशेषैकान्तं, भिन्नौ सामान्यविशेषौ चेत्थं निराचष्टे । तथा हि—विशेषाः सामान्याद्भिन्ना अभिन्ना वा । भिन्नाश्चेत्, मण्डूकजटाभारानुकाराः । अभिन्नाश्चेत्, तदेव तत्स्वरूपवदिति सामान्यैकान्तः । सामान्यैकान्तवादिनस्तु द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च ।

पर्यायनयान्वयिनस्तु[1] भाषन्ते विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थास्ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्ण[स]संस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायान्यत्किंचिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति—

"एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥"

समानाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यत इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम् । किं च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकम्, अनेकं वा । एकमपि सर्वगतम्, असर्वगतं वा । सर्वगतं चेत्, किं न व्यक्त्यन्तरालेऽप्युपलभ्यते । सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरप्यविशेषात् । असर्वगतं चेत् विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च । अथानेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात्, तर्हि विशेषा एव स्वीकृता अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणं तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं[2] लक्ष्यते । न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते, तस्य निष्क्रियत्वात् । वाहदोहादिकासु[3] अर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् । तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा । भिन्नं चेत् अवस्तु, विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाभावात् । अभिन्नं चेत् विशेषा एव तत्स्वरूपवदिति विशेषैकान्तवादः ।

तदुभयैकान्तवादः प्रमाणबाधात्। न हि [illegible] सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः । यदाह —

> "द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
> क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा[1] ॥" [ ] इति ।

[illegible] । सोऽयमन्ध-गजन्यायः । येऽपि च [illegible]त्वानी-[illegible]तुमपि क्षमाः ।

[illegible]र्थनिर्दिष्टम्, तथानित्यत्व-[illegible]सदृशपरिणामात् । [illegible] विसदृशपरिणामदर्शना-द्विशेषः, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनादनुगतः, तेन समानो गौरयं, गोऽनेन समान इति प्रतीतिः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति । न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथंचिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव पृथग्व्यपदेशादि-भाक्त्वात् । विशेषा अपि [illegible] सामान्यात्पृथक् [illegible] । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्, तदा तेषामसर्वगतत्वेन[4] ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य [illegible], प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च परस्परं कथंचिदव्यतिरेको [illegible]तत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्त-त्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकात् तेऽप्येकरूपा इति । एकत्वं च सामान्यस्य सङ्ग्रहनयार्पणात्सर्वत्र विज्ञेयम् । अनेकत्वं च प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् प्रति-व्यक्तिभेदात् । एवं नासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद्विवक्षितम्, तदास्मत्पक्षप्रवेशः[5] । कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथंचिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपावकदृष्टा-न्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तयोरपि कथंचिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकारात्, पयस्त्वपावक-त्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तदुभयमपीति[6] । तथा च कथं न सामान्यविशेषा-त्मकत्वं वस्तुनो घटत इति । उक्तं च—

> "दोहिं वि णएहिं णीयं सत्थमुलूगेण तहवि मिच्छत्तं ।
> जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खं ॥" तथा ।
> "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् ।
> सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥"

तथैकान्तसत्त्वमेकान्तासत्त्वं च वार्त्तमेव । तथा हि सर्वभावानां हि सदसदात्मकत्वमेव स्वरूपम् । एकान्तसत्त्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्तासत्त्वे च निःस्वभावता भावानां स्यात् । तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्, पररूपेण चासत्त्वात् सदसदात्मकं वस्तु सिद्धम् । यदाहु —

> "सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
> अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥" [ ] इति ।

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकान्तात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः ।

---

१ केनचेति–मु० । २ –चिद्भिन्न–प० २ । ३. यदि–प० २ । ४ गतत्व ततो मु०, प० १, प० २, भ० २ । ५ –त्कक्षाप्र–प० १, प० २, भ० १ । ६. –त्वाशवि–प० १, प० २, भ० १ ।

"जे एगं जाणइ से[1] सव्वं जाणइ जे[2] सव्वं जाणइ[3] से एगं जाणइ ।" तथा—

"एको भाव. सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥" [ ] इति ।

सुघटं सदसदनेकान्तात्मकं वस्तु । अनयैव भङ्ग्या स्यादस्तिस्यान्नास्तिस्यादवक्तव्यादिसप्तभङ्गीविस्त-रस्य जगत्—पदार्थसार्थव्यापकत्वाद् अभिलाप्यानभिलाप्यात्मक[4]मप्यूह्यमिति ।

सद्भूतार्थोपदेशक इति, कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वेति । कृत्स्नानि सर्वाणि घात्यघात्यादीनि यानि कर्माणि जीवभोग्यवेद्यपुद्गलास्तेषा क्षय निर्जरण विधाय । परमं पदं मोक्षपदं संप्राप्तः । अपरे हि सौगतादयो मोक्ष-मवाप्यापि तीर्थनिकारादिसंभवे भूयो भूयो भवमवतरन्ति । यदाहु —

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥" [ ] इति ।

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाज, कर्मक्षयाभावात् । न हि तत्त्वत कर्मक्षये पुनर्भवावतार. । यदुक्तम्—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥ [ ] इति ।

उक्तं च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामुकाना प्रबलमोहविजृम्भितम् । यथा—

"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारितभी[5]रनिष्टम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥" [ ] इति ।

अर्हंश्च भगवान् कर्मक्षयपूर्वमेव शिवपदं प्राप्त इति ।

तत्त्वान्याह—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ ।
बन्ध[6]श्च निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ॥४७॥

तन्मते जैनमते नव तत्त्वानि सम्भवन्तीति ज्ञेयम् । नामानि निगदसिद्धान्येव ।

जीवाजीवपुण्यतत्त्व[7]मेवाह—

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् ।
[8]कर्त्ता शुभाशुभं कर्म भोक्ता कर्मफलस्य च ॥४८॥
चैतन्यलक्षणो जीवो, यश्चै[9]तद्वैपरीत्यवान् ।
अजीव स समाख्यात , पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥४९॥ युग्मम् ।

तत्र जैनमते, चैतन्यलक्षणो जीव इति संबन्ध । विशेषणान्याह—ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न इति । ज्ञानमादिर्येषा धर्माणामिति ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा [10]धर्मा गुणास्तेभ्योऽय जीवश्चतुर्दशभेदोऽपि कथंचिद्भिन्नः कथंचिदभिन्न इत्यर्थ । एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमस्त्येवेत्यभिन्नत्वं ज्ञानादिभ्यः परापेक्षया पुनरज्ञानवत्त्वमिति भिन्नत्वम् । लेशतश्चेत्सर्वजीवेषु न ज्ञानवत्त्वं तदा जीवोऽजीवत्व प्राप्नुयात् । तथा च सिद्धान्त —

---

१ सो मु० प० १, प० २, म० १ । २. जो मु०, प० १, प० २, म० १ । ३. सो मु० प० १, प० २, म० १ । ४ –कमप्यू–म० २ । ५. –भीरु न–म० २ । ६ बन्धो विनि–प० १, प० २ । बन्धो नि– म० २ । ७ –तत्त्वमाह– प० १, म० २ । ८. शुभाशुभकर्मकर्त्ता म० १ । ९ तद्विपरीतवान् प० २, म० २ । १० धर्मगुणा– ।

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योन्यानुगमात्कर्मसंबन्धो यो द्वयोरपि ॥५१॥

तु पुनस्तन्निरोध आस्रवद्वारप्रतिरोधः संवरः तत्त्वम् । संवरप्रकृतयस्तु सप्तपञ्चाशत्तद्यथा—

"समिइगुत्तिपरीसहजइधम्मभावणाचरित्ताणि ।
पणतिगदुवीसदसबार पञ्चभेएहिं सगवण्णा ॥"

पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयो द्वाविंशतिः परीषहा दशविधो यतिधर्मः द्वादश भावनाः पञ्च चारित्राणीति प्रकृतयः । बन्धो नाम जीवस्य प्राणिनः कर्मणो वर्द्धमानस्यान्योन्यानुगमात् परस्परं क्षीरनीरन्यायेन लोलीभवनाद् यो द्वयोरपि जीवकर्मणोः संबन्धः संयोगः स बन्धो नाम तत्त्वमित्यर्थः । स च चतुर्विधः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् ।

"स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः ॥" [ ] इति
इत्यादिः स बन्धो ज्ञेयः ।

निर्जरामोक्षौ चाह—

बद्धस्य कर्मणः शाटो यस्तु सा निर्जरा मता ।
आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥५२॥

यः पुनर्बद्धस्य स्पृष्टबद्धनिधत्तनिकाचितादिरूपेणार्जितस्य कर्मणस्तपश्चरणध्यानजपादिभिः शाटः क्षपणं सा निर्जरा मता पूर्वसूरिभिरिति । सा पुनर्द्विविधा, सकामाकामभेदेन । तु पुनर्देहादेरात्यन्तिको वियोगो मोक्ष उच्यते । स च नवविधो यथा—

"संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतर भागो भावो अप्पाबहुं चेव ॥" [ ] इति

सव्याख्यान इति मन्तव्यः । बाह्यप्राणानामात्यन्तिकापुनर्भावित्वेनाभावः शिव इत्यर्थः । ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा च द्वितीयतत्त्वान्तर्भूतत्वात् मोक्षतत्त्वाभाव इति चेत्; न, मोक्षे हि द्रव्यप्राणानामेवाभावः । भावप्राणास्तु नैसर्गिकास्तस्यामपि सन्त्येव । यदुक्तम्—

"यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यसिद्धत्वदर्शनज्ञानैः ।
आत्यन्तिकैः संयुक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ॥
ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि ।
तस्मात्तज्जीवत्वं हि नित्यं सर्वस्य जीवस्य ॥" [ ] इति ।

अत्र देहादिवियोगो मोक्षः आदिशब्दादिन्द्रियधर्माधर्मविरहोऽपीति पदार्थः ।

॥

दृष्टान्ताना पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् । अनन्तधर्मात्मकत्व चात्मनि तावत्साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्व भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्तत्वमसख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादय सहभाविनो धर्मा, हर्षविषाद-शोकसुखदु खदेवनारकतिर्यङ्नरत्वादयस्तु क्रमभाविन. । धर्मास्तिकायादिष्वप्यसख्येयप्रदेशात्मकत्व गत्याद्युप-ग्रहकारित्व मत्यादिज्ञानविषयत्व तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्व निष्क्रियत्वमित्यादय. । घटे पुनरामत्वं पाकजरूपादिमत्त्वं पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवत्व जलादिधारणाहरणसामर्थ्य मत्यादिज्ञान[1]विषयत्वं नवत्व पुराणत्वमित्यादय. । एवं सर्वपदार्थेषु नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थाश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् । शब्देष्वप्युदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसवृत[2]घोषनादाघोषाल्पप्राणमहाप्राणतादय, तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादय-श्चावसेया । अस्य हेतोरनेकान्तप्रचण्डमुद्गर[3]घातदलितशक्तित्वेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादीना कण्टकाना-मनवकाश एवेत्येव[4]विधपर्यायानन्त्यसुभग वस्तु जिनशासने प्रमाणविषय इत्यर्थ. ।

लक्ष्यनिर्देशं कृत्वा लक्षणमाह—

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ५६ ॥

तत्र प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देश. । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशमिति लक्षणनिर्देश । परोक्षोऽ-क्षगोचरातीत, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तया साक्षात्कृततयेति यावत् । [5]अर्य्यत इत्यर्थो गम्यत इति हृदयम्, अर्थ्यत इति वाऽर्थो दाहपाकाद्यर्थक्रियार्थिभिरभिलष्यत इति तस्य । ग्राहकं, व्यवसायात्मकतया परिच्छेदकं यज् ज्ञानं तदीदृशमिति ईदृगेव प्रत्यक्षमिति सटङ्क[6] । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसकीर्णता-मध्यक्षस्य परिहरति । तस्यासाक्षात्कारितयाऽर्थग्रहणरूपत्वादिति । ईदृशमिति । अमुना[7] तु पूर्वोक्तन्यायात् सावधारणत्वेन विशेषणकदम्बकसचिवज्ञानोपदर्शनात् परपरि[8]कल्पितलक्षणयुक्तस्य प्रत्यक्षता प्रतिक्षिपति । एव च यदाहु. "इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" [ ] तथा "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।" [ ] इत्यादि । तदयुक्तमित्युक्तं भवति । अपूर्वप्रादुर्भावस्य प्रमाणबाधितत्वादत्यन्तासता शशविषाणादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादिदमात्म-रूपतया विद्यमानमेव विशेषकृद्धेतुकलापसंनिधानात् साक्षादर्थग्रहणपरिणामरूपतया[10] विवर्तते[11], तथा चोत्पन्न-जन्म[12]रूपादिविशेषण न सभवेत् । अथैवविधार्थसूचकमेवैतदित्याचक्षीथास्तथा सत्यविगानमेवेत्यास्ता तावत् ।

अधुना परोक्षलक्षण दर्शयति इतरदित्यादि । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञान प्रत्यक्षमुक्तम् । तस्मादि-तरदसाक्षादर्थग्राहक ज्ञानं परोक्षमिति ज्ञेयमवगन्तव्यम् । [13]तदपि स्वसवेदनापेक्षतया प्रत्यक्षमेव, बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयन्नाह-ग्रहणेक्षयेति । इह ग्रहण प्रक्रमाद्बहि प्रवर्त्तनमुच्यते, अन्यथा विशेषण-वैयर्थ्यात्, तस्येक्षा अपेक्षा तया बहि-प्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदयमर्थो यद्यपि स्वयं प्रत्यक्ष तथापि लिङ्गशब्दादिद्वारेण बहिर्विषयग्रहणे असाक्षात्कारितया व्याप्रियत इति परोक्षमित्युच्यत इत्यर्थ ।

पूर्वोक्तमेव वस्तुतत्त्वमनन्तधर्मात्मकतया दृढयन्नाह—

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त [14]यत्सत्तदिष्यते ।
अनन्तधर्मक वस्तु तेनोक्तं मानगोचर ॥५७॥

---

१ ज्ञानज्ञेयत्व–प० १, प० २, म० १, म० २ । २ –घवदघोषताल्प- प० १, प० २, म० १, म० २ । ३ –रापातपात–प० २, –राघातपात–प० २ । ४ –व धर्मपर्याया–प० २ । –त्वविधपर्यायात्यन्तसु–मु० । –व विधपर्यायानयनु–म० १ । ५ अर्यत म० १, म० २ । ६ –ना पू–म० २ । ७ –रणेन म० २, प० १, प० २ । ८ –वदम्बनचिवल्लक्षणज्ञा–मु० । ९ –तस्य युक्तेरय मु० । १० –या निव–मु० । ११ विवर्तेत प० १, प० २, म० २ । १२ न्मादिवि–म० १ । १३ एतदपि म० १, म० २, प० १, प० २ । १४ यत्तन्मदि– म० १ ।

येन कारणेन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते तेन कारणेनानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणविषय उक्तं कथितमिति संबन्धः । उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च, उत्पादव्ययध्रौव्याणि तैर्युक्तं मेलस्तदेव सत्त्वमिति प्रतिभा इष्यते केवलज्ञानिभिर्जिनमत इति । वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथा हि—सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते, वा परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्—

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥" [ ]

इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा । यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् । न भिद्यन्ते चेत् तथापि कथमेकं[1] वस्तु त्र्यात्मकम् । तथा च यदुत्पादादयो भिन्नाः, कथमेकं [2]त्र्यात्मकम् । अथोत्पादादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्र्यात्मकमिति चेत्; तदयुक्तम्, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाभ्युपगमात् । तथा हि—उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्, असत आत्मलाभः, सतः [3]सत्ताविरहो द्रव्यरूपतयानुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथा ह्युत्पादः केवलो नास्ति [4]स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेवेत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥" [आप्तमी० ५९–६०] इति

व्यतिरेकश्च यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति तद्वस्त्वेव न यथा खरविषाणं यच्चैवं तच्चैवमिति । अत एवानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः प्रोक्तम् । अनन्ता धर्माः पर्यायाः सामान्यविशेषलक्षणा यस्य तदनन्तधर्मकं वस्त्विति । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्यैवानेकधर्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनार्थं च, भूयोऽनन्तधर्मकपदप्रयोगो न पुनः पाश्चात्यपद्योक्तानन्तधर्मकपदेन[5] पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति पद्यार्थः ।

ग्रन्थस्य बालावबोधार्थफलत्वा[6]दथोपसंहरन्नाह—

जैनदर्शनसंक्षेप [7]इत्येष कथितोऽनघः ।
[8]पूर्वापरविघातस्तु यत्र क्वापि न विद्यते ॥५८॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, एष प्रत्यक्षलक्ष्यो जैनदर्शनसंक्षेपः कथितः, विस्तरस्याशक्यत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् । उपयोगसारः संक्षेपो निवेदितः । [9]किंभूतोऽनघो निर्दूषणः सर्वज्ञकल्पस्य सर्वज्ञमूलत्वेन दोषकालुष्यानवकाशात् । तु समुच्चयार्थे । यत्र पुनः पूर्वापरविघातः क्वापि न विद्यते, पूर्वस्मिन्नंशे परस्मिन्[10] प्रान्ते च

१. –कं त्र्या– भ० १, प० ३, प० २ । २. त्र्या– प० । ३. सत्ताविपो– भ० १, भ० २ । ४. –तिविनाश– प० २ । ५. –धर्मपदेन प० १, प० २, भ० १, भ० २ । ६. –कलकला–सु० । ७. गदितोऽधुना भ० १, भ० २ । ८. –पराघा– भ० १, भ० २ । ९. किंविशिष्टोऽन– प० १, प० २, भ० १ । १०. स्मिंश्च प्रान्ते वि– प० १, प० २, भ० १ ।

[illegible] विरुद्धार्थता यत्र दर्शने क्वापि पर्यन्तग्रन्थेऽपि परस्परविसंवादो[1] नास्ति, आस्ता तावत्केवलिभाषितेषु द्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेष्वपि सुसंबद्धार्थत्वाद् विरुद्धार्थदौर्गन्ध्याभाव[2]। अयं भावो, यत् [3]परतैर्थिकाना मूलशास्त्रेष्वपि न युक्तियुक्तता पश्याम किं पुन पाश्चात्यविप्रलम्भकग्रथितग्रन्थकथासु[4], यच्च[5] क्वापि कारुण्यादिपुण्यकर्मपुण्यानि च वचांसि कानिचिदाकर्णयामस्तान्यपि त्वदुक्तसूक्तसुधापयोधिमन्थोद्गतान्येव रत्नानीव संगृह्य [6]स्वात्मान रत्नवन्तम् इव बहु मन्वाना मुधा प्रगल्भन्ते [7]यदाहु श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादा —

"सुनिश्चित नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तवैव ता. पूर्वमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाण जिनवाक्यविप्रुष. ॥" [ ] इति परमार्थ. ।

अथ वैशेषिकमतस्य देवतादिसाम्येन नैयायिकेभ्यो ये विशेष न मन्यन्ते तान् बोधयन्नाह—

देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणा [8]तत्त्वेषु विद्यतेऽसौ [9]निर्दिश्यते ॥५९॥

शिवदेवतासाम्येऽपि, तन्त्रादिविशेषविशिष्टत्वाद् वैशेषिकास्तेषा वैशेषिकाणां काणादानां नैयायिकै-रक्षपादैः समं सार्द्धं देवताविषये शिवदेवताभ्युपगमे भेदो विशेषो नास्ति, तत्त्वेषु शासनरहस्येषु भेदो विद्यते । [illegible] । असौ विशेषो नैयायिकेभ्य पृथग्भावो निर्दिश्यते[8] प्रकाश्यत इत्यर्थ ।

तान्येव तत्त्वान्याह—

द्रव्य गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्क हि तन्मते ॥६०॥

तन्मते वैशेषिकमते हि निश्चयेन तत्त्वषट्क ज्ञेयमिति संबन्ध । कथमित्याह—द्रव्यं गुण इत्यादि । प्रथमतत्त्व द्रव्य नाम, तद्वाच्येऽपि सामान्यादेवम्[10] । द्वितीयतत्त्व गुणो नाम तथेति भेदान्तरसूचने । तृतीय तत्त्व कर्मसंज्ञम् । चतुर्थं च तत्त्व सामान्यम् । चतुर्थमेव चतुर्थक [11]स्वार्थे क प्रत्यय । चः समुच्चये । [illegible] विशेषसमवायौ । विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्व । इति तद्दर्शने तत्त्वानि षड् ज्ञेयानि ।

कर्मसामान्यभेदानाह—

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥६४॥

पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यवरोधः । तु पुनः सामान्ये द्वे द्विसंख्ये । के ते इत्याह—परापरे । परं चापरं च परापरे परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ।

एतद्व्यक्तिं विशेषव्यक्तिं चाह—

तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत्[1] ॥६५॥

तत्र तयोर्मध्ये परं सत्ता भावो महासामान्यमिति चोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् । [2]अपरसामान्यं द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथा हि । द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति । एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम् । एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो[3] व्यावृत्तेश्च विशेषः । एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं तदपेक्षया नीलत्वादिकम् । एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तमानत्वात् कर्मत्वं सामान्यं, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं कर्मत्वापेक्षयोत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् । तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कथं युक्तचेति चेत्, उच्यते—न द्रव्यं सत्ता द्रव्यादन्येत्यर्थः, एकद्रव्यत्वाद् एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः । द्रव्यत्ववद्, यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किं तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्तापि । वैशेषिकाणां हि, अद्रव्यं वा द्रव्यम् अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम् । तत्राद्रव्यं द्रव्यमाकाशं दिगात्मा कालो मनः परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वान्न द्रव्यम् । एवं न गुणः सत्ता, गुणेषु भावाद् गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुणः स्यात् न तर्हि गुणेषु वर्तेत निर्गुणत्वाद् गुणानाम्, वर्तते च गुणेषु सत्ता, 'सन् गुणः' इति प्रतीतेः । तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्, कर्मत्ववत् । यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत, निष्कर्मत्वात्कर्मणाम्, वर्तते च कर्मसु भावः, 'सत्कर्म' इति प्रतीतेः । तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता । अथ विशेषपदार्थमाहार्याऽर्द्धेन—विशेषस्त्विति । निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत् । विनिर्दिशेत् कथयेद् आचार्यः इति ज्ञेयम् । कथमित्याह—अन्त्यो विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तिरिति । तथा हि । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तकारः[4], अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । [5]यथा अस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिक्रियावयवोपचयापचयः अवयवविशेषसंयोगनिमित्तासंभवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकालविप्रकर्षदृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषा इति । अमी च विशेषा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः व्यावृत्तेरेव हेतुत्वादित्यर्थः[6] ।

समवायपदार्थव्यक्तिलक्षणमाह—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम्[7] ।
संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः स समवायः ॥६६॥

इह प्रस्तुतमते, अयुतसिद्धाना[8]माधाराधेयभूतभावानामिह प्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवायः । यथेह तन्तुषु पट इत्यादि प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः । यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानः पटाद्याधार्य

१ —दिष्ट म० १, म० २ । २. अपरं सा मु०, म० २, प० १, प० २ । ३ व्यावृत्तित्वाद्वि—प० १ । व्यावृत्तत्वाच्च वि— प० २ । ४. —कर, म० १ । ५ तथा मु०, म० २ । ६. —दिति पदार्थ म० १, प० १, प० २ । ७ —माधेयाधारभू— म० १, म० २ । ८ धार्याधारभू— म० १ ।

तन्त्वाद्याधारे सवध्यते, यथा छिदि क्रिया छेद्येनेति । अयुतसिद्धानामिति । परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानां-श्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इति । परस्परवैधर्म्यं तु विविक्तैरभ्यूह्यम् । षण्णामपि पदार्थाना स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वाद् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यत इति ।

प्रमाणव्यक्तिमाह—

प्रमाणं च द्विधामीषा प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैव संक्षेपः परिकीर्तित· ॥६७॥

यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षयात्रोभे एव निगदिते । अमीषां वैशेषिकाणा प्रमाण द्विधा द्विप्रकारम् । च पुनरर्थे । कथमित्याह प्रत्यक्षमेक प्रमाण, तथेति द्वितीयभेदपरामर्शे, लैङ्गिकमनुमानम् । उपसहरन्नाह—एवमिति । एवमिति प्रकारसूचन, यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया वहु वक्तव्य, तथाप्येवममुना प्रकारेण **वैशेषिकमतस्य संक्षेपः परिकीर्तितः** कथित इति ।

षष्ठ दर्शनमाह—

जैमिनीया पुन प्राहु सर्वज्ञादिविशेषण· ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

जैमिनिमुनेरमी इति जैमिनीया. । पुत्रपौत्राद्यर्थे तद्धित ईयप्रत्यय । जैमिनिशिष्याश्चैके उत्तरमीमांसावादिन , एके पूर्वमीमासावादिन । तत्रोत्तरमीमासावादिनो वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिन शब्दार्थखण्डनाय युक्ती खेटयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे व्यवतिष्ठन्ते । यदाहु —

"अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं[1] सदसत्तत[2]: ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं[3] तदसत्तत· ॥
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।
एक ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयत: क्वचित् ।
आस्ते न [4]वीरधीरस्य भङ्ग. सङ्गरकेलिपु ॥

एव वादिप्रतिवदिनो

समन्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदनु गतिस्तद्वद्वस्तुधोव्यवहारयो· ॥
उपपादयितु तैस्तैर्मतैरशङ्कनीययो [५] ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवा गतिस्तयो. ॥

इत्यादिप्रलयकालानिलक्षुभितचरमसलिलराशिकल्लोलमालानुकारिण परब्रह्माद्वैतसाधकहेतूपन्यासा [illegible] जनयन्त क्व पर्यवस्यन्ति तास्तु युक्तय सूत्रकृतानुल्लिङ्गितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च [illegible], अभियुक्तैस्तु खण्डनमहातर्कादवनेया । पूर्वमीमासावादिनश्च द्विधा प्राभाकरा भाट्टाश्च क्रमेण [illegible]प्रमाण[illegible] । अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमासावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् । ते पुनर्जैमिनीया, प्राहु [illegible], [illegible]मित्याह—सर्वज्ञादिविशेषण कोऽपि देवो न विद्यते यस्य वचो वचन मानं [illegible] भवेत् । सर्वज्ञादिविशेषण इति । सर्वज्ञादिना गुणेन विशेष्य[6] इति । आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्म[illegible] [illegible] कोऽपि देवो नास्ति यत्वचन प्रमाणतामनुभवेत्, [6]मानुपतनुत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वाद् [illegible] । [illegible]साद्भाव इत्यर्थ । इद [illegible]मानताद्युपलक्षणेन

---

[1] [illegible] प० १, प० २ । [2] [illegible]— म० १, म० २ । [3] —[illegible] प० १, प० २ । [4]. धीरवीरस्य प० १, प० २ । [5] [illegible] प० १, प० २ । [6] —[illegible]— म० १, म० २, प० १, प० २ । [illegible]—प० १, प० २, म० १, म० २ ।

त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकच्छत्रचामरादिविभूत्यन्यथानुपपत्तेश्चास्ति[1] कश्चित् पुरुषविशेष सर्वज्ञ इति चेत्; त्वद्यूथ्योक्तवचनप्रपञ्चोपन्यासैरेव निरस्तत्वात् । यथा—

"देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥" [ ]

अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया [2]शोध्यमानस्य निर्मलत्वमेवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वात्[त्व] किं न सभवेदिति मति , तदपि न ह्यभ्यासमात्रसाम्ये शुद्धेरपि[3] तदेव तादवस्थ्यम् । यदुक्तम्—

"गरुत्मच्छाखामृगयोर्लङ्घनाभ्याससंभवे ।
समानेऽपि समानत्व लङ्घनस्य न विद्यते ॥" [ ]

न च सुतरा चरणशक्तिमानपि पङ्गुरखर्वपर्वतशिखर[4]मधिरोढु क्षम । उक्त च—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥"

अथ मा भवतु मानुषस्य सर्वज्ञत्व ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामस्तु । ते हि देवा , सभवत्यपि तेष्वति[5]शायिसपत् । यदाह कुमारिल —

"अथापि [6]वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥"

[7]एतदपि न, रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानामसंभाव्यमिदमेषामिति । न च प्रत्यक्ष तत्साधकम्, 'संबद्ध वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' [ ] इति वचनात् । न चानुमानम्, प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्ते[8] । न चागम , सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानम् तदभावादेव । अर्थापत्तिरपि न, सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुप[9]पन्नलिङ्गस्यादर्शनात् । यदि परमभावप्रमाणगोचर सर्वज्ञ इति स्थितम् । प्रयोगश्चात्र— नास्ति सर्वज्ञ , प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ।

अथ कथ यथावस्थिततत्त्व[10]निर्णय इत्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थाना साक्षाद् द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चय[11] ॥६९॥

तस्मात्प्रामाणिकपुरुषाभावादतीन्द्रियार्थानां चक्षुरगोचरपदार्थाना साक्षाद् द्रष्टुर्ज्ञातु सर्वज्ञादे' पुरुषस्याभावाद् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथार्थत्वविनिर्णयो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचन 'भवति' इत्यध्याहार । अपौरुषेयत्व च वेदानाम्—

"अपाणिपादो ह्यमनो गृहीता पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥" [ ]

इत्यादिभावनया रागद्वेषादिदोषतिरस्कारपूर्वकं भावनीयमिति ।

---

१ –श्चास्ति विशिष्ट सर्वज्ञ प० २ । –श्चास्ति विशेष सर्वज्ञ प० १, म० १ । २ –या विशो– प० १, प० २, म० १ । ३ –पि ताद – प० १, प० २, म० १, म० २ । ४ –शिखामधि– प० १, प० २, मु० । ५ –शयसम्प– प० १, प० २, म० १, म० २ । ६ देवदेहत्वात् प० २ । वेदहेतुत्वात् मु० । ७ तदपि न भ० १, म० २, प० १, प० २ । ८ तत्प्रवर्तनात् प० २ । ९ –पपत्तिलि– प० १ । १० –तत्त्वज्ञाननि –प० १, प० २ म० १, म० २ । ११ –निर्णय म० १, म० २ ।

अथ यथावस्थितार्थव्यवस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठ प्रयत्नत ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ॥ ७० ॥

यतो हेतोर्वेदाभिहितानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णय., अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नतो यत्नाद्वेदपाठः कार्यः 'ऋग्यजु.सामाथर्वाणो वेदास्तेषा पाठ कण्ठपीठलुठत्पाठप्रतिष्ठा, [1]नानुश्रवणमात्रेण सम्यगवबोधस्थिरता[2], ततोऽनन्तरं[3] साधनीयपुण्योपचयहेतुधर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा कर्तव्या विधेया वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थ ।

वेदोक्तधर्मोपदेशमेवाह—

नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्तकं वच, प्राहु स्वःकामोऽग्नि[4] यजेद्यथा ॥ ७१ ॥

नोदनैव लक्षण यस्य स नोदनालक्षणो धर्मः । तत्स्वरूपमेव सूत्रकृदाह । तु पुन[5]र्नोदनाक्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः प्राहुः । वेदोक्तस्वर्गादिसाधकाम्नायस्य क्रियाप्रवर्तकं वचनं नोदनामाहुरित्यर्थ । शिष्यानुकम्पया तत्सूत्रेणैव दृष्टान्तयन्नाह—स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा । यथा येन प्रकारेण स्वःकाम स्वर्गाभिलाषी जनोऽग्निं यजेद् अग्निकार्यं कुर्यात् । यथाऽहुस्तत्सूत्रम् । अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति ।

प्रमाणान्याह—

प्रत्यक्षमनुमान च[6] शब्दश्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिने. ॥ ७२ ॥

जैमिनेः पूर्ववेदान्तवादिन , षट् प्रमाणानि ज्ञेयानीति सबन्ध. । यद्यपि प्राभाकराणा मते पञ्च[7] प्रमाणानि, भाट्टानामेव षट्, तथाप्यत्र ग्रन्थकृत्सामान्यत षट्संख्यामाचष्टे । प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव ।

निरुक्तमाह—

'तत्र प्रत्यक्षमक्षाणा सप्रयोगे सता मति[8] ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमान लैङ्गिक पुनः ॥ ७३ ॥

तत्र प्रमाणषट्के, अक्षाणामिन्द्रियाणा, सप्रयोगे पदार्थे. सह सयोगे, सतामनुपहितेन्द्रियाणा या मतिर्बुद्धिरिदमित्यवबोध , तत्प्रत्यक्ष प्रमाण 'भवति' इत्यध्याहार । यत्तदावनुक्ताप्यर्थसंबन्धात् ज्ञेयौ । सतामिति—विदुषामदुष्टेन्द्रियाणामित्यर्थ । एतावता मरुमरीचिकाया जलभ्रम , शुक्तौ रजतभ्रमश्चेन्द्रियार्थसंप्रयोगजोऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्ष तत्प्रमाणकोटिमधिशेते । अनुमानमाह—आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुन. । आत्मा यदनुमिमीते स्वय तदनुमानमित्यर्थ । अनुमानलैङ्गिकयोः [9]शाब्दभेदेऽप्यनुमीयत इत्यनुमानं लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकमिति व्युत्पत्तिभेदाद्भेदो ज्ञेय उभयशब्दकथनं तु बालावबोधार्थमेवेति ।

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमान प्रकीर्तितम् ।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य [10]भाजनम् ॥ ७४ ॥

शाब्दमागमप्रमाण शाश्वतवेदोत्थ शाश्वतान्नित्याद्वेदाज्जातम् । आगमप्रमाणमित्यर्थ । शाश्वतत्वं च वेदानामपौरुषेयत्वादेव । उपमानमाह—यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यात् साम्यादप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं प्रमाण प्रकीर्तितं कथितम् । यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरोऽप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरिकं प्राह—'यथा गौस्तथा गवय' इति । यथा भो खुरककुदलाङ्गूलसास्नादिमन्तं पदार्थं गामिति जानासि, गवयोऽपि तथास्वरूपो ज्ञेय इत्युपमानम् । अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसंबन्धार्थमध्याहार्यौ ।

---

१ नन् श्र—म० १, म० २ । न तु श्र—प० १ । न तु श्रवणसम्य—प० २ । २. —स्थिरत्व म० १, म० २ । ३ —न्तर धर्मना—प० १. प० २, म० १, म० २ । ४. यथा यजेत् प० २, म० १, म० २ । ५ —र्नादि क्रिया प० १ । ६ तु शाब्दश्चो—म० १, म० २ । ७ पञ्चैव म० १, म० २ । ८. मति म० २ । ९ शब्दार्थे—सु०. म० १, म० २ । १०. भाजनम्—सु० ।

अर्थापत्तिमाह—

> दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
> क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥ ७५ ॥

असौ पुनरर्थापत्तिरुदाहृता कथिता, अर्थापत्तिप्रमाणं प्रोक्तमित्यर्थः । यद्बलेन [1]कस्याप्यदृष्टस्यार्थस्य कल्पना क्रियते सघटना विधीयते, कया दृष्टार्थानुपपत्त्या दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षादिभ्यो योऽर्थो देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्या अघटमानतया अन्यथानुपपत्त्या इत्यर्थः । यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनत्वस्यान्यथानुपपत्त्या रात्रावयं भुङ्क्त इत्यर्थ इत्यत्र, दृष्टं पीनत्वं विना भोजनं दुर्घटं, दिवा च न भुङ्क्ते, अतो रात्रावयमदृष्टं भोजनं ज्ञापयतीत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ।

अथाभावप्रमाणमाह—

> प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
> वस्तु[2]सत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ ७६ ॥

यत्र वस्तुरूपे, अभावादौ पदार्थे प्रमाणपञ्चकं पूर्वोक्तं न जायते, तत्राभावप्रमाणता ज्ञेयेति सबन्धः । किमर्थमित्याह—वस्तुसत्तावबोधार्थम् । वस्तुनोऽभाव[3]रूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भाव तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतारणं तदर्थं तद्धेतोरित्यर्थः । ननु कथमभावस्य प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षं तावद्भूतलमेवेदं घटादि न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति किं विषयमाश्रित्याभावप्रामाण्यं स्यात् । मुण्डभूतले घटाभावमाश्रित्येति चेत्, मैवम्, घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः ।

तदुक्तम्—

> "न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः ।
> भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥
> गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
> मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥" [ ] इति ।

नास्तिताज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य, केवलं भावांश इन्द्रियसंनिकर्षजत्वेन पञ्चप्रमाणगोचरसंचरिष्णुतामनुभवन्नाबालगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं व्यवहारं प्रवर्तयति । अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात् केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणव्यपदेशमश्नुत इति सिद्धमभावस्यापि युक्तियुक्ततया प्रामाण्यमिति ।

उपसंहरन्नाह—

> जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
> एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥ ७७ ॥

अपिशब्दात् केवलमपरदर्शनानां जैमिनीयमतस्याप्ययं संक्षेपो निवेदितः कथितः । वक्तव्यस्य बाहुल्याट्टीकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् संक्षेप एव प्रोक्तोऽस्ति । अथ सूत्रकृत्सम्मत[4]संक्षेपमुक्त्वा निगमनमाह । एवमिति । एवमित्थम्, आस्तिकवादिनामिह परलोकगतिपुण्यपापास्तिक्यवादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपकीर्तनं कृतं, संक्षेपेण वक्तव्यमभिहितमित्यर्थः ।

विशेषान्तरमाह—

> नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
> न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥ ७८ ॥

अन्ये आचार्या नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते दर्शनाधिष्ठात्रेकदैवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां मतापेक्षया आस्तिकवादिनः पञ्चैव ।

---

१. कस्याप्यर्थ–म० २ । २ वस्त्वसत्ता–प० २ । ३ –रूपमु–प० २ । ४. –स्मत सं–म० १, म० २ ।

दर्शनानां षट्संख्या जगति प्रसिद्धा[1] सा कथं फलवतीत्याह—

षड्दर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपात्कथ्यते तेन तन्मतम् ॥ ७९ ॥

ये नैयायिकवैशेषिकयोरेकरूपत्वेनाभेदं मन्यमाना दर्शनपञ्चकमेवाचक्षते, **तन्मते षड्दर्शनसंख्या लोकायतमतक्षेपात्पूर्यते** । तु पुनरर्थे, किलेति परमाप्ताम्नाये, तेन कारणेन **तन्मतं** चार्वाकमतं **कथ्यते** तत्स्वरूपमुच्यत इति ।

तदेवाह—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥ ८० ॥

लोकायता नास्तिका [2]**एवम**मुना प्रकारेण **वदन्ति** कथमित्याह **देवः**—सर्वज्ञादिर्नास्ति, **निर्वृति**र्मोक्षो नास्ति, अन्यच्च, **न विद्येते**, कौ **धर्माधर्मौ**, धर्मश्चाधर्मश्चेति द्वन्द्वः । पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । **पुण्यपापयो**र्धर्माधर्मयोः **फलं** स्वर्गनरकादिरूपं नेति **नास्ति**, तदपि[3] पुण्यपापयोरभावे कौतस्त्यं तत्फलमित्यादि । तच्छास्त्रोक्तमेव सोल्लुण्ठं दर्शयन्नाह—**तथा च तन्मतम्** ।

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

तथा चेत्युपदर्शने । **तन्मतं** प्रस्तावान्नास्तिकमतम् । कथमित्याह—

अयं लोकः संसार **एतावानेव** एतावन्मात्र एव **यावान्** यावन्मात्र[4]**मिन्द्रियगोचरः** । इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पञ्चविधं तस्य गोचरो विषयः । पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरं किंचन[5] । अत्र लोकग्रहणाल्लोकस्थपदार्थसार्थस्य संग्रहः । [6]तथा परे पुण्यपापसाध्यं स्वर्गनरकाद्याहुः, तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेच्छशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । तथा हि—स्पर्शनेन्द्रियेण तावन्मृदुकठोरशीतोष्णस्निग्धरूक्षादिभावा उपलभ्यन्ते । रसनेन्द्रियेण तिक्तकटुकषायाम्लमधुरास्वादलेह्यचूष्य[7]पेयादयो वेद्यन्ते । घ्राणेन्द्रियेण मृगमदमलयजघनसारागुरुप्रभृतिसुरभिवस्तुपरमलोद्गारपरम्परा परिचीयन्ते । चक्षुरिन्द्रियेण भूभूधरपुरप्राकारघटपटस्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिमनुष्यपशुश्वापदादिस्थावरजङ्गमपदार्थसार्था अनुभूयन्ते । श्रोत्रेन्द्रियेण तु प्रथिष्ठगाथकपथपथिकप्रथ्यमानतालमानमूर्च्छनाप्रेङ्खोलनाखेलन्मधुरध्वनय आकर्ण्यन्ते । इति पञ्चप्रकारप्रत्यक्षदृष्टमेव वस्तुतत्त्वं प्रमाणपदवीमवगाहते । शेषप्रमाणानामनुभवाभावादेव निरस्तत्वाद् गगनकुसुमवत् । ये चास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमप्याद्रियमाणाः स्वर्गमोक्षादिसुखपिपासानुबन्धचेतोवृत्तयो दुश्चरतरतपश्चरणादिकष्टपिष्टिकया स्वजन्म क्षपयन्ति, तन्महासाहसं तेषामिति । किं चाप्रत्यक्षमप्यस्तितयाभ्युपगम्यते चेज्जगद[10]नपद्रुतमेव स्यात् । दरिद्रो हि स्वर्णराशिर्मेऽस्तीत्यनुध्याय हेलयैव दौःस्थ्यं दलयेत्, दासोऽपि स्वचेतसि स्वामितामवलम्ब्य स्वस्य किङ्करतां निराकुर्यादिति, न कोऽपि स्वानभिमतमालिन्यमनुभवीत । एवं न कश्चित्सेव्यसेवकभावो दरिद्रिधनिभावो वा स्यात् । तथा च जगद्व्यवस्था[11]विलोपप्रसंग इति सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव प्रमाणम् । ये चानुमानागमादिप्रामाण्यमतुमन्वाना पुण्यपापव्यापारप्राप्यस्वर्गनरकादिसुखासुखं व्यवस्थापयन्तो वाचाटा न विरमन्ति, तान् प्रति दृष्टान्तमाह । **भद्रे वृकपदं पश्येति** । यथा हि कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शन[12]समुद्भूतकुतूहलां दयितां मन्थरतरप्रसृमरसमीरणममीकृतपांशुप्रकरे स्वकराङ्गुलिन्यासेन वृकपदाकारान्ता विधाय प्राह—हे भद्रे ! वृकपदं पश्य । कोऽर्थः । यथा तस्या अविदितपरमार्थाया मुग्धाया

१ —सा कथं फलतो—प० १, प० २, मु० । २ एवमनुमानैव—प० १ । ३. एतदपि—प० १, प० २, म० १, म० २ । ४. —मा इ—प० १, प० २ । ५ किञ्चित्—म० १ । ६ —र्थस—प० १, प० २, म० १, म० २ । ७ तत्चापरे—प० १, प० २, म० १, म० २ । ८ पानाद—प० १, प० २ । ९ —ष्टमदृष्टमप्याद्रियमाणा प० २ । —दिमुर्वपिष्टिका प० १, प० २, म० १, म० २ । १०. —नपल्लन— मु० [illegible]— प० १, प० २ । ११ न्धानोन— प० १, प० २ । १२. समुत्पन्न— म० १, म० २ ।

इति निरस्ते तदुपदेशपूर्वकमुपसंहारमाह—

तस्माद् दृष्टपरित्यागाददृष्टे यत् प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

तस्मादिति पूर्वोक्तानुसारेण एवं तस्मात्तेन कारणाद् दृष्टपरित्यागाद् दृष्टं पेयापेयखाद्याखाद्यगम्यागम्यानु-सरणप्रत्यक्षानुभाव्यं यत्सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्यपरलोकसुखादौ प्रवर्तनं प्रवृत्तिः । इति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् पूर्वार्द्धे यत्सम्बन्धो ज्ञेयः । तल्लोकस्य विमूढत्वमज्ञानत्वं चार्वाका लौकायतिका प्रतिपेदिरे प्रतिपन्नाः । मूढलोका हि विप्रतारकवचनोपन्यासवासितज्ञानाः [सांसारिकं सुखं परित्यज्य व्यर्थं स्वर्गमोक्षपिपासया तपोजपध्यानहोमादिभिरिहत्यं सुखं हस्तगतमुपेक्षन्त इति ।

साध्यावृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मते तेषां सा चाकाशात् परा न हि ॥८६॥

साध्यस्य मनोऽभिमतस्य कस्यचिद्वस्तुन आवृत्तिः प्राप्तिः, कस्यचिद्वस्तुनोऽनभीष्टस्य निवृत्तिरभावः, ताभ्यां जने लोके या प्रीतिर्जायते उत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां निरर्थिका निरभिप्राया शून्या मताभीष्टा । पर-लोकजन्यपुण्यपापसाध्यं सुखदुःखादिकं सर्वथा न विद्यत इत्यर्थः । सा च प्रीतिराकाशाद् गगनात् परा न हि यथा आकाशं शून्यं तथैवापि प्रीतिरभावरूपैवेत्यर्थः ।

उपसंहरन्नाह—

लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थं पर्यालोच्य सुबुद्धिभिः ॥८७॥

परिशिष्टम् २

षड्दर्शनसमुच्चयावचूर्णिः

श्रीमद्वीरजिनं नत्वा हरिभद्रगुरुं तथा । किंचिदर्थप्यिते युक्त्या षड्दर्शनसमुच्चयम् ॥

सत् शोभनं दर्शनं सामान्याववोधलक्षणं ज्ञानं सक्तं [सम्यक्त्वं] लोचनं वा यस्य, जिनो रागादिजेतृत्वात्, वीरमिति साभिप्रायं प्रमाणवक्तव्यस्य पक्षेच्छेदादि [परपक्षोच्छेदादे.] सुभटवृत्तित्वात् भगवतश्च दु:ससंपादिविषमोपसर्गसहिष्णुस्तन[त्वेन]सुभटत्वात् । यदुक्तम्—"विदारणात् कर्मततेर्विराजनातप श्रिया [रूपश्रिया] विक्रमतस्तयाद्भुतात् । भवत्प्रमोदः किल नाकिनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधानम् (धा तम्) ॥ स्याद्विकल्पितो वादः स्याद्वाद , सदसन्नित्यानित्यादि. त दिशति यस्तम् । सर्वाणि च तानि दर्शनानि च बौद्धादीनि तद्वाच्य अर्थाभिधेय. अर्थाभिधेय वस्तु [अर्थोऽभिधेयरै] वस्तुप्रयोजननिवृत्तिस्त्वि[ष्वि]-त्यनेकार्थ सक्षेपेणैव, विस्तरकरण दुरवगाहम् ॥१॥ प्रसिद्धानि दर्शनानि षडेव । एवावधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तम्—"असियसयं किरियाय अक्किरियवाईणमाह चुलसीए। अन्नाणी सत्तट्ठी वेणइआणञ्च वत्तीस ।" इत्यादि । मूलभेदापेक्षया मूलभेदानाश्रित्य, वैभाषिकसू(सौ)-त्रान्तिकबहूद[क]कुटीचरहंसपरमहंसभा[भ]ट्टप्रभाकरादिसंभवश्चैतदन्तर्गत एव । देवता दर्शनाधिष्ठायक । तत्त्वानि रहस्यानि मोक्षसाधकानि ॥२॥ बुद्धो देवतास्येति बौद्धम् । न्यायादनपेत नैयायिकम् । साख्य कापिलदर्शनम् । जैनो देवतास्येति जैनम् । वैशेषिक कणादि[द]दर्शनम् । जैमिनिऋषिमतं जैमिनीय भाट्ट दर्शनम् । च समुच्चये ॥३॥ चतुर्णा दु खसमुदय.(य)मार्गनिरोधलक्षणानाम् आर्यसत्याना तत्त्वाना प्ररूपक कथयिता सुगतो नाम । आदिशब्दोऽत्र अवयवार्थ , यदुक्तम्—"सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वेषु मेधावी [धीमत] आदिशब्द तुं लक्षयेत् [योजयेत्] ॥४॥ संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीला । स्कन्धा प्रचयविशेषा । दु ख ते पञ्च [च] पञ्च । विशिष्टं ज्ञानं विज्ञान सर्वक्षणिकत्वज्ञानम् । यदुक्तम् "यत्सत्तत् क्षणिकं यथा जलधर सन्तश्च भावा इमे ।" वेद्यत इति वेदना, पूर्वभवपुण्यपापपरिणामवद्धा सुखदु खानुभवरूपा । तथोक्तम्—"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हुत । तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भ(भि)-क्षव. ॥" संज्ञेति सर्वं वा चेतनाचेतन [सचेतनाचेतन] सज्ञामात्र नाममात्रम्, नात्र पुत्रकलत्रभ्रातृत्वादि [तादि] घटपटादिर्वा पारमार्थिका [क] । पूर्वानुभूतरूप सस्कार , स एवायं देवदत्त इत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्ति सस्कार. सैवेयं दीपकलिकेति रूपम् इति रगरगायमाणपरमाणपरमाणुप्रचय., बौद्धमते हि स्थूलरूपपदार्थस्य निराक्रियमाणत्वाद चेतन[त्वेन]परमाणव एव तात्त्विकाः । रागद्वेषमोहाना समस्तो गणो यस्मात् समुदेति समुद्भवति । अयमात्मा अयमात्मीय पदे पदसमुदायोपचारात्, अपर [अय पर] परकीय इति भावो रागद्वेषनिवन्धन स समुदय ॥६॥ सर्वेषा घटपटादोना स एवायमिति ये संस्कारा ज्ञानसतानास्ते क्षणिका , सर्वं सत् क्षणिकम् अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, एवं या वासना स मार्ग । तुशब्द पश्चा(षाश्चा)त्यार्थसग्रहार्थं पूर्वं समुच्चयार्थे । निरोधो मोक्ष । सर्वक्षणिकत्वनैरात्म्यवासनारूप [मार्ग.] ॥७॥ पञ्चेन्द्रियाणि प्रसिद्धानि । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शरूपा विषया । मानस चित्तम् धर्मायतनं धर्मप्रधानमायतन चेत्यादि । एतानि द्वादशायतनानि तत्त्वानन्तर निरूप्यन्ते ॥ ८ ॥ तथा सौगतदर्शने द्वे प्रमाणे । च. पुनरर्थे । अक्षमक्ष प्रतिगत प्रत्यक्षम् ऐन्द्रियकम् । अनुमीयतेऽनुमान लैङ्गिकम् । सम्यग्ज्ञानं निश्चितार्थवोधो द्विविध एव [द्विधा यत] ॥ ९ ॥ शब्दसंसर्गवती प्रतीति कल्पना तयापोढ रहित निर्विकल्पकम्, अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम्, रगरगायमाणपरमाणुलक्षणस्वरूपं [स्व] लक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्, वाह्ये स्थूलपदार्थ[र्थग तज्ज्ञान] गतं ज्ञानं सविकल्पक भ्रान्त च । तु पुन त्रिरूपात् पक्षधर्मत्वं-सपक्ष[क्षे]सत्त्व[त्त्वं]विपक्षव्यावृत्तिरूपात् लिङ्गतो धूमादे वी[यत्] लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमानम् । सूत्रे लक्षणं नेक्षणं[णीयं] तेन चरमपदस्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोष ॥१०॥ साध्यधर्मवि-

मिष्टो धर्मी पक्ष, यथा 'अद्रिरयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वतः पक्षः धर्मत्व वह्निमत्त्व धूमवत्त्वेन व्याप्तम्। सपक्षे[स]त्त्वमिति, यो यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसे, धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे सत्वं वह्निमत्वम्। विपक्षे नास्तिता यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये वह्निमत्त्वं व्यावर्त्तमान व्याप्यं धूमवत्वमादाय व्यावर्तते ॥११॥ अयं संक्षेपो निवेदित कथितः, बौद्धाना राद्धान्त. सिद्धान्त. [तस्य] [तद्वाच्यः] तद्वाच्यम्, इतो नैयायिकस्य विशेषशैवशासनस्य ॥१२॥ अक्षपादा नैयायिकाः। सृष्टि प्राणो(णि)ना समु[नामु] त्पत्ति, संहार तद्विनाश तत्करोतीति। विश्वस्य हि कश्चित् स्रष्टा संहर्ता विज्ञेय, केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्प-द्यमानापारप्राणिगणस्य भुवनत्रयेऽप्यमात्वमिति [प्राणिगणस्यापारत्वात्] संहारकर्तापि कश्चिदभ्युपगन्तव्य. जगतः कार्यत्वाच्च। शिव ईश्वर। विभु [सर्व]व्यापकः। नित्यश्चासौ एकश्चेति, [अ]प्रच्युतानुत्पन्नस्थिर-[स्थि]रस्वभावं हि नित्यम्, एकोऽद्वितीय बहूना घटाना[घटना]युक्तेः। सर्वज्ञ. स सर्वविशेषज्ञानात्[तात्] शाश्वत-बुद्धिस्थानम्, क्षणिकबुद्धित्वे हि पराधीनता ॥१३॥ अत्र नैयायिकमते प्रमाणादीनि षोडशतत्त्वानि यथाक्रमं व्या-ख्यायमानानि। नामानि सुगमानि। एवम् अमुना प्रकारेण प्रकटनमार्यस्य[मर्थस्य]पदार्थस्योपलब्धिज्ञानि तस्य हेतुः कारण प्रमाण चतुर्विधम्। १४-१६॥ चतु प्रमाणि[णि] (णाना) नामानि। अथ प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह— इन्द्रिय चार्थश्चेति तयो सन्निकर्षात् संयोगादुत्पन्नम्, इन्द्रियार्थयोर्हि नैकदा (टचात्) संयोगाज्ज्ञानम्। यदुक्तम्—"आत्मा सहे(हैं)ति मनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चे इ]न्द्रियम [मि]तिक्रम एव शीघ्र।

योगोऽयमेव मनसा किमगम्यमस्ति यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥"

अव्यभिचारि[र]ण ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, शुक्तिशकले कलधौतबोधो व्यभिचारी। व्यवसायात्मकं व्यवसायात्मक मजलधरणितले जलहार[ज्ञानं] व्यवहारासाधकत्वादप्रमाणम्। व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितम्। पुनरनुमान तत्पूर्व (वं) प्रत्यक्षपूर्व त्रिप्रकारम् ॥१७-१८॥ पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टम्। तत्र त्रिषु मध्ये कारणात् मेघा[घात् कार्य]नद्वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यमनुमानं निदर्शनेन द्रढयति ॥ १॥ रोलम्बा भ्रमरा, गवल माहिष शृङ्गम्, व्याला गजा. सर्पाश्च[वा], तमाला वृक्षा, मलिना अर्थात् कृष्णा त्विट् येषाम्। एवंभूता दृश्यलक्षणेन परेऽन्युन्नतस्वर्गजिनत्वा[ना]दया विशेषा ज्ञेया ॥ २० ॥ यथा[यच्च] कार्यात्फलात् कारणानुमान फलोत्पत्तिहेतुपदार्थावगमन तच्छेषवत्। यथाविधप्रवहत्सलिलनदीपूरात् उपरिशिखरिशिखरोपरि जलाभिवर्षणज्ञानम् ॥ २१ ॥ च पुनरर्थे। सामान्यतोदृष्ट तदनुमान यथा पुनि देवदत्तादौ देशान्तरस्वास्तिर्गति-पूर्विका दृष्टा स ॥ उज्जयिन्या. प्रस्थिता[तो] माहिष्मती प्राप[प्त.]। तथा सूर्योदया (सूर्यस्य उदया) [सूर्येपि उदयात्] गगनस्थाचलगमन [गमन] ज्ञापयति ॥ २२ ॥ क्रमागतमपि शाब्दप्रमाणमुपेक्ष्य उपमानमाह—

स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशय, तदुपरमे काकादिपतनावलोकनेन आदिशब्दात् स्थाणुधर्मो[र्मा] ग्राह्य', अत्र कीलकेन भाव्यम्, पुरुषस्य शिर:कम्पनहस्तनाडनादिदर्शनात्। स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति य. प्रतीति-विषय। [स निर्णय.] ॥२७-२८॥ कथा प्रामाणिकी तस्या अभ्यासकारण या सा वाद पक्ष प्रतिज्ञा प्रति-पक्ष प्रतिज्ञोपन्यासप्रतिपक्षी तयो नगहात्, निग्राहकजयपराजयानपेक्षगुरुशिष्ययो. ॥२९॥ विजयाभिलाषिणो वादिनः प्रतिवादिनश्च प्राश्निकप्रमाणोपन्यासगोष्ठी छल त्रिधा—वाक्छलम्, सामान्यछलम्, उपचारछलम्। जातय २४ भेदा। आदे[दिशब्दात्] निग्रहस्थानानि[दि]। एतं कृत्वा परपक्षनिराकरण दूषणोत्पादेन[पादनेन] स्वमात[मत]स्थापनेन स्व[न]जल्प। सा वितण्डा, या वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिषेधप्रतिवादिस्वमतप्रतिपक्षरहिता ॥३०॥ हेतुरूपवदाभासन्ते हेत्वाभासा पञ्च। पक्षे[क्ष] धर्मत्व नास्ति सोऽसिद्ध। विपक्षे सन् प्रतिपक्षे [सपक्षे] वा [चा] सन् विरुद्ध। पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिक। प्रत्यक्षागमविरोध कालात्ययापदिष्ट। विशेषाग्रहण हेतुत्वेन प्रयुज्यमान प्रकरणसम। परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघात छलम्। नवोदक प्रत्य-ग्रोदक नवसंख्यामारोप्य दूषयति। मञ्चा क्रोशन्तीति छलम्। अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्ते आभासमात्र-त्वादेव पक्ष न दूषयन्ति जातय [जाति] साधर्म्यादि। 'अनित्य शब्द कृतकत्वात् घटवत्' वादिनेत्युक्ते प्रतिवाद्याह—नित्य शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्। न चात्र हेतु घटवदनित्यत्वे आकाशवन्नित्यत्वे नित्यत्वेऽप्याकाशवत् वास्ति ॥३१॥ येन केनचिद्रूपेण विपक्षो निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाशब्द सबध्यते—प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोध इत्यादि। हेतौ अनैकान्तिके कृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तधर्मेऽभ्युपगच्छन प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानम्, यथा अनित्य. शब्द ऐन्द्रियकत्वात् घटवदिति प्रतिज्ञा साधनाभासवादी वदन् परेण 'सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टम्' इति हेतावनेकान्ते कृते यद्येव ब्रूयात् 'सामा-न्यवद् घटोऽपि नित्यो भवति' इति ब्रुवाण शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञा त्यजेत् 'पक्षसाधनदूषणोद्धाराशक्तया प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञान्तरम् निग्रहस्थानम्। यथानित्य शब्द ऐन्द्रियकत्वेन तथैव सामान्येनानैकान्तिकतया-मुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह अनित्य शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यास। प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध प्रतिज्ञाविरोध. निग्रहस्थानम्। यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्य रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध। यदि गुणद्रव्यातिरिक्त तदेय प्रतिज्ञा विरुद्धाभिधानात् पराजीयते ॥३२॥ पूर्वार्धं सुगमम्। सास्या क(का)पिला, अपि[आदि]पुरुषनिमित्तेय सज्ञा। तदभीष्ट[भीष्टाश्च]पञ्चविंशतितत्त्वादिभावाना सक्षेप कथ्यते ॥३३॥ ईश्वरं देवता ये [तया] न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवादिनः। केचित्पुन ईश्वरदेवता। तेषामुभयेषामपि तत्त्वाना पञ्च-विंशतिर्भवति। तत्त्व ह्यपवर्गसाधकम्। यदुक्तम्—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रति। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र सशय ॥ ३४ ॥ तावदिति प्रक्रमे। गुणत्रयम्, क्रमेण परिपाट्या विशेषयति। सत्त्वं प्रसाद[द]कार्यलिङ्गम्, वदननयनादिप्रसन्नता जनिरजसि [न] तदा आनन्दपर्याय। तमोगुणे वा[च] दैन्य वयो वियता [चो विच्छायता] नेत्रसकोचादि। एतेनैव[न च] आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक[दैव]लक्षण दु खत्रयमाक्षिप्यते ॥ ३५ ॥ एतेषा सत्त्वरजस्तमसा[मोगुणाना] प्रीत्यप्रीतिरूपविषयरूपाणा[विषादरूपाणां] समतयावस्थिति सा किल प्रकृतिरुच्यते। प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्या वाच्या [शब्दवाच्या-] प्रकृतिः प्रधानमव्यक्त चेति नामान्तरम्। शाश्वतभावतया प्रसिद्धा नित्या, नानापुरुषाश्रया या च प्रकृति. ॥ ३६ ॥ ततो गुणत्रयाभिघातान्महानिति बुद्धिरुत्पद्यते। एवमेतन्नान्यथा, गौरेवाय नाश्व स्थाणुरेवाय न पुरुष इति निश्चयेन पदार्थप्रतिपत्ति। तस्या. ८ रूपाणि—धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि सत्त्वभूतानि अधर्मादीनि च-असात्त्विकानि। ततो बुद्धेरहकारोऽभिमानात्मक तस्मादहकारात् षोडशकगणमाह ॥ ३७ ॥ बुद्धिप्रधा-नानि बुद्धिसहचराण्येवेति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाणि। स्पर्शन त्वगिन्द्रियम्। कर्म-क्रियासाधनानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। पायुरपानम्। उपस्थ प्रजननम्। वच पाणिपादा (हस्ता) प्रसिद्धा। मन एकादशम्। पञ्चतन्मात्राणि शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्यानि। एवं षोडशको गु(ग)णः ॥ ३८-३९ ॥ पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम्। शब्दतन्मात्रादाकाशम्, शब्दो ह्यम्बरगुण। स्पर्शतन्मात्राद्वायु। रसतन्मात्रादाप। रूप-तन्मात्रात्तेज। गन्धतन्मात्राद्भूमि। शब्दतन्मात्रासहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायु शब्दस्पर्शगुण। शब्दस्पर्शसहित-रूपतन्मात्रात्तेज। शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शरूपगुणसहित [रस] तन्मात्रादाप शब्दस्पर्शरूप[रस]

गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरससहितगन्धतन्मात्रात् पृथिवी शब्दस्पर्शरस[रूपगन्ध]गुणा जायते ॥ ४० ॥ प्रकृतेर्महानहंकारः पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि [पञ्चकर्मेन्द्रियाणि] मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च भूतानि, २४ तत्त्वानि रूप यस्य तत्प्रधानं प्रकृतिः कथिता। पञ्चविंश तत्त्वं पुरुषः अन्य. अकर्ता। प्रकृतिरेव करोति बध्यते मुच्यते च। पुरुषस्तु "अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय। अकर्ता निर्गुण सोऽपि[सूक्ष्म] आत्मा कापिलदर्शने॥" अन्य. प्रकृतिरेव कर्ता तु पुनर्न पुरुष। विगुण सत्त्वरजस्तमो-रूपगुणत्रयविकल.। भोक्ता भोगी। नित्य यासौ चिच्चैतन्यशक्ति तयाभ्युपेतः सहित'। आत्मा हि स्वबुद्धेरव्यतिरिक्त मन्यते। सुखदुःखादयो विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ संक्रामन्ति। बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्या चैतन्यशक्ति प्रतिबिम्बते। तत सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते ॥४१॥ तत्त्वोपसंहारमाह—पूर्वार्ध सुगमम्। अत्र सांख्यमते प्रकृतिपुरुषयोर्वर्तनं पड्ग्वन्धयोरिव। यथा पड्ग्वन्धौ सयुतावेव कार्यक्षमौ न पृथक्, तथा प्रकृतिनरौ। प्रकृत्युपात्त पुरुषो भुड्क्त इत्यर्थ ॥४२॥ प्रकृत्या सह विरहे पुरुषस्य मोक्ष। एतस्या. प्रकृतेर्विषयमान्तरं ज्ञानं बन्धविच्छेदाद् भवति। बन्धस्त्रिविध. प्राकृतिकवैकारिकदाक्षणिकभेदात्। प्रकृतावात्मज्ञानात् प्राकृतिक। भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धिविकारान् पुरुषबुद्ध्योपासते वैकारिकः। इष्टापूर्ते दाक्षिण। पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी त्रिविधबन्धच्छेदात् परमब्रह्मज्ञानानुभवः। प्रमाणत्रयम्, प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यम्, लैङ्गिकमनुमानम्, शाब्दं चागमस्वरूपम् ॥४३॥ चः समुच्चये। न केवल बौद्धनैयायिकयो सांख्यमतस्यापि संक्षेपः कथितः। सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीति साभिप्रायम्। अपराणि दर्शनानि—"पुराणं मानवो धर्म. साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभि॥" इत्याद्यविचारपदवीमाद्रियन्ते। जैनस्त्वाह—"अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेद न विचार्यते। निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात् परीक्षाया बिभेति किम्" जैनो युक्तिमवीवगाहते—"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य. परिग्रह ॥ ४४ ॥ देवतत्त्वमाह—जयन्ति रागादीन् जिना केवलिन. तेषामिन्द्र स्वामी। राग सांसारिक स्नेह। द्वेषो वैरानुबन्ध तद्रहित। धवखदिरपलाशादिविशेषावबोधो ज्ञानम्, वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम्। केवलशब्दोभ (शब्द उभ) यत्र संबध्यते। केवलम् इन्द्रियज्ञानानपेक्षम्। छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शन ततो ज्ञानम्, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनम् ॥ ४५ ॥ मोहनीयकर्मोदयाद् हिंसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि युक्तिकाङ्क्षादिमोह. स एव मल्ल, स हि येन रागद्वेषमोहसद्भावादेवमन्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्तितया प्रसिद्धा.। सुरासुरसेव्यमानत्वमानुषङ्गिकफलम्। सद्रूपान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्यविशेषाद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति यः सर्वाणि धनधान्यादीनि कर्माणि जीवयोग्यावद्यपुद्गला. तेषा क्षय विधाय मोक्ष संप्राप्त। अपरे सौगतादयः मोक्ष प्राप्ता अपि स्वतीर्थतिरस्कारदर्शने पुनर्भवमवतरन्त. श्रूयन्ते, न तेषा कर्मक्षय। कर्मक्षये हि भवावतार. कुतः ॥ ४६ ॥ तत्त्वान्याह। तन्मते जैनमते तत्त्वानि ज्ञेयानि निगदसिद्धनामानि ॥ ४७ ॥ जीवादिस्वरूपमाह। जैनमते चैतन्यलक्षणो जीव इति संबन्ध.। ज्ञानदर्शनचारित्रधर्मणा गुणाभिन्नो भिन्नश्च। स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमभिन्न ज्ञानादिभ्य, परापेक्षयाज्ञानवत्त्व भिन्नम्, लेशतोऽपि यदि सर्वजीवेषु न न ज्ञानं तदा जीव अजीवत्वं प्राप्नुयात्। विवृत्ति परिणाम. सुरनरनारकतिर्यक्षु एकेन्द्रियादिजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामाननुभवति जीवः। शुभं सातवेद्यम् अशुभमसातवेद्यम्, एवंविधं कर्म करोतीति कर्तृभूत। स्वोपार्जितपुण्यपापफलभोक्ता, न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता ॥ ४८ ॥ चेतनास्वभावत्व लक्षण यस्य सूक्ष्मबादरएकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियाः सञ्ज्ञसञ्ज्ञिन. पञ्चेन्द्रिया पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशजीवभेदा.। अस्माद्यो विपरीतोऽचेतनादिलक्षण. स अजीव धर्माधर्माकाशपुद्गला स्कन्धदेशदेशगुणा, अद्धा केवलपरमाणवश्चेति चतुर्दश जीवभेदा। सत् शोभनं सातवेद्य कर्म तस्य पुद्गलाः दलपाटकानि ते च ॥ ४९ ॥ तु पुन पुण्यप्रकृतिविसदृशं पापम्, ८२ भेदा। मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा हेतव। यस्तैर्मिथ्यात्वादिभिर्बन्धस्य हेतु कर्मबन्ध स आस्रव ४२ भेदा। पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वार कषाया., पञ्च व्रतानि, मनोवचनकाया., पञ्चविंशतिक्रिया कायिक्यादय इति ॥ ५० ॥ आस्रवद्वारप्रतिरोध संवर ५७ भेदा। तु पुनरर्थ। यो जीवस्य कर्मणा बद्धस्य परस्पर क्षीरनीरन्यायेन लोलीभावात् संबन्धो योग. स बन्धो नाम, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा। प्रकृति. परिणाम स्यात् ॥ ५१ ॥ यः पुनर्बद्धस्य मृ वृ निधत्तनिकाचितादिरूपस्य कर्मणस्तपश्चरणध्यानादिभि ...

क्षपणं सा निर्जरा सकामाकामभेदेन द्विधा। तु पुनः। देहादिसकलकर्मसंबन्धे आत्यन्तिको वियोगो मोक्षो ९ विदुः। ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा मोक्षाभाव , न, द्रव्यप्राणानामेवाभावः, भावप्राणास्तु क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यज्ञानादयो निष्कर्मावस्थायामपि सन्त्येव ॥ ५२ ॥ सम्यक्श्रद्धानम् सम्यक्त्वम् श्रद्धत्ते अविपरीतत्वेन मनुते, जानन्नपि अश्रद्दधानो मिथ्यादृष्टिः। सम्यक्त्वं ज्ञानं च सम्यग्योग , ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य निष्फलत्वात् सम्यक्चारित्रमपि मोक्षहेतुत्वेन संगृहीतम् ॥ ५३ ॥ तदेवमुपदर्शने। पवित्रतमत्वेन तद्भावस्य कर्मक्षयनिमित्तत्वेन पुंस जीवस्य ये ज्ञानदर्शनचारित्रं समस्तं मोक्षमार्ग मन्तव्यम् युक्ते। सम्यगिति ज्ञानादीनामविपरीतता, ज्ञानादित्रयं मोक्षमार्ग , न केवलं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा मोक्षहेतुः किन्तु समुदितं त्रयम् ॥ ५४ ॥ तस्मिन् प्रस्तुतमते प्रमाणे। अश्नुते व्याप्नोति वा व्याप्नोति सकलक्षेत्रकालभावान् ज्ञानात्मा जीव । अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियाणि प्रतिगतं प्रत्यक्षम् इन्द्रिया-[ण्याश्रित्य]श्रितव्यवहारमात्रकम्। अवधिमनःपर्ययकेवलानि प्रत्यक्षं प्रमाण[त] सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं चेन्द्रियानिन्द्रियादयो भेदा अनुमानादिकविशेषप्रकाशक[त] स्मरणादीनामन्तर्भावः। अस्मात् परं परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदमिति। मतिश्रुतज्ञानेऽपि परोक्षे। तु पुन । जिनमते प्रमाणयो प्रत्यक्षपरोक्षयो विषयो गोचर वस्तुतत्त्व पदार्थजातम्, अनन्ता त्रिकालविषयत्वादपरिमितो[ना] धर्मा सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्याया आत्मा स्वरूप यस्य अनन्तधर्मकत्व साध्यो धर्म , सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति साधनम्। ततो [न्त] र्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभि किं प्रयोजनम् ? य[त]दनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्सदपि न स्यात् यथा आकाश-पुष्पम्। आत्मादीनां साकारानाकारोपयोगकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जगत्प्रसिद्धा धर्मा ॥५५॥ अक्षगोचरातीतत्व [त] परोक्ष तदभावोऽपरोक्ष तथा साक्षात्कारितया अर्थस्य वस्तुनो ग्राहकम् ईदृशं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अन्यथोक्तप्रत्यक्षनिषेध । इतर[द]साक्षात्कारितया स्वसंवेदनबहिःपर्यालोचनया परोक्षम् ॥ ५६ ॥ येन कारणेन यत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक तत् सत् सत्त्वरूपमुच्यते तेन कारणेन अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणगोचर । सर्ववस्तुषु उत्पत्तिविपत्तिसत्तासद्भावात् उत्पत्त्यादित्रययुक्तस्यैवानन्तधर्मता तेनैव पुनरनन्तधर्मात्मकत्वमुक्तं न पौनरुक्त्यम् ॥५७॥ जिनदर्शनस्य सक्षेप प्रोक्त विस्तरस्य अगाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् अ ना यानि दू[षणो निर्दू]षणा [ण] सर्वज्ञमूलत्वात् [तु पुन] समुच्चये, आदौ प्रा र ते [प्रान्ते] च परस्पर[वि]रुद्धघंत[र्घता] यत्र न, आस्ता केवलिप्रणीते छद्मस्थप्रणीतेऽप्यङ्गादिके न दोषलव परेषा [परस्पर] शास्त्राणि परस्पर-विरोधाघ्रात[तत्वे]न व्याघ्रा[घ्र] इव दु शक्या कर्णे धर्तुम् ॥ ५८ ॥ वैशेषिकाणा काणादाना नैयायिकैः सम शिवदेवविषयो भेदो नास्ति तत्त्वेषु आगमरहस्येषु तु भेदो निर्दिश्यते ॥ ५९ ॥ तन्मते वैशेषिकमते तु निश्चित च तत्त्वषट्कम्, नामानि सुगमार्थानि ॥६०॥ नवविध द्रव्य पञ्चविंशतिगुणाश्चेति [श्च नि] गदसिद्धान्येव संस्कारस्य वेगभावनास्थित[ति]स्थापकभेदात् त्रिविधोऽपि[त्रैविध्येऽपि] सस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वम्। शौर्यौदार्यादीना गुणानामेष्वेवान्तर्भावात् नाधिक्यम् ॥ ६१-६३ ॥ पञ्चापि कर्मभेदा. स्पष्टा एव। गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोध'। तु पुन सामान्ये द्वे परसामान्यमपरसामान्य चेत्यर्थ ॥ ६४ ॥ एतद्व्यक्ति[क्त]-विशेषंव्यक्ति चाह—तत्र परं सत्ता भावो महासामान्यम्, [अपरसामान्य] च द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि द्रव्यत्व नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्य गुणकर्मभ्यावृत्तत्वाद् विशेष.। एवं द्रव्यत्वापेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम्। चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्व सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो निवृत्तेश्च विशेष । गुणत्वापेक्षया नील[रूप]त्वादिकम्। एवं कर्मादीन्यपि। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतव । ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरा [रम्]। अन्त्ये[न्ते]षु भवा अन्त्या , स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषा.। गवादिषु अश्वादिभ्य तुल्याकृतिक्रियावयवोपचयसंयोगविलक्षणोऽयं प्रत्ययव्यावृत्ते[त्ति]विशेष ॥६५॥ इह[इतर] प्रस्तुतमते अयुतसिद्धाना परस्परपरिहारेण पृथगाश्रया[ना]श्रितानाम् आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतु सबन्धो य स समवाय । इह तन्तुषु पट इत्यादौ समवाय'। स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमान पटाद्याधार्यं तन्वाद्याधार[रे] संबध्यते यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति। षण्णामपि पदार्थाना स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वात् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यते विस्तर ॥६६॥ यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि तथापि श्रीधरमतापेक्षयाऽत्रोभे एव निगदिते। च पुनरर्थे। अमीषा वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा—प्रत्यक्षमेकम् लैङ्गिकमनुमानं

द्वितीयम्। एवमिति प्रकारवचनम्। यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं तथापि तथाप्येवममुना पूर्वोक्त-प्रकारेण वैशेषिकमतस्य संक्षेपः परिकीर्तितः कथितः ॥ ६७ ॥ षष्ठं दर्शनमाह। जैमिनिमुनेरमी जैमिनीयाः, पुत्रपौत्राद्यर्थे तद्धित ईयप्रत्यय। जैमिनिशिष्याश्चैके पूर्वमीमासावादिनः। एके उत्तरमीमासावादिनो ते हि पुरुषाद्वैतवादसाधनव्यसनिन शब्दार्थखण्डकाः। पूर्वमीमासावादिनो द्विधा प्राभाकर[रा]भट्टाश्च क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपका। अत्र तु सामान्येनैव[न] सूत्रकृत् पूर्वमीमासावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान्। तन्मते प्राहु.—सर्वज्ञत्वादिविशेषणोपपन्न' कोऽपि नास्ति मानुषत्वावि[द्वि]शेषेण विप्रलम्भकत्वात् द्रव्यपुरुषाद्य-भाव. [सर्वज्ञत्वादिविशिष्टपुरुषादिभाव] यदुक्तं प्रमाणं भवेद् वाक्यम्। अथ कथं यथावस्थिततत्त्व'र्णय ॥६८॥ तस्मात् प्रामाणिकपुरुषाभावात् अतीन्द्रियार्थानां चक्षुराद्यगोचरपदार्थानां साक्षाद् दर्शकस्य सर्वज्ञादे पुरुषस्या-भावात् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेयवचनेभ्यो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं भवतीत्य-ध्याहारः ॥ ६९ ॥ अथ यथावस्थिततत्त्वार्थस्यापकं तत्त्वो[तथो]पदेशमाह। अत एव [यतो] हेतो' वेदाभिहित-तत्त्वानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णय। अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नाद् वेदपाठः कार्यः, ऋग्यजुसामाथर्वणवेदानां पाठ कण्ठ-पीठोलोचन[पीठोलुण्ठनम्] न तु [ननु] श्रवणमात्रेण ततोऽनन्तरं धर्मसाधनापुण्योपचयहेतु.। धर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य ज्ञातुमिच्छा कर्त्तव्या वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥ नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षण'। तु पुन' नोदना क्रिया प्रति प्रवर्तकं वच, वेदोक्तं भवति, नोदना पुन क्रिया हवनसर्वभूताहिंसनदानादिप्रतिक्रिया प्रतिप्रवर्तकं प्रेरक वचो वेदवचन प्राहु' मीमासका भापन्ते। हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं सैव नोदनेति भावः। प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति स्वःकामोऽग्निं यजेदिति। अथेति उपदर्शनार्थ'। स्व स्वर्गं कामना यस्य स स्व'काम. पुमान् स्वःकामः सन् अग्निं वह्निं यजेत् तर्पयेत्। अत्रेदं श्लोकबन्धानुलोम्येनेत्यमुपन्यस्तम्, अन्यथा त्वेव भवति—अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति। प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात् निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा न हिंस्यात् सर्वभूतानि। अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षु' प्रथमं तन्नामानि तत्संख्या चाह, प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमाना-र्थापत्त्यभावलक्षणानि षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः' संमतानीत्यध्याहार। चकार' समुपयोगार्थ। तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्राभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतान्नन्यमानोऽभिमन्यते षडपि तानि तं भट्टो भाषते। अथ प्रत्यक्षप्रमाणस्य क्षणमाचष्टे। तत्र प्रमाणषट्कम् अक्षाणामिन्द्रियाणा वेदोक्तस्वर्गसाधकाम्नायस्य क्रिया-प्रवर्त्तकं वचनं नोदना तामाहु दृष्टान्ते न स्पष्टयति ॥७१॥ प्रमाणान्याह। जैमिने' षट्प्रमाणानि ज्ञेयानि, यद्यपि प्रभाकराणा मते पञ्च, भाट्टाना षट्; तथापि ग्रन्थकृत् सामान्यत. षट्संख्यामाचष्टे। प्रमाणनामानि निगदप्रसिद्धान्येव ॥७२॥ तत्र प्रमाणषट्के अक्षाणामिन्द्रियाणां प्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे यथा[या] बुद्धिरिद-मिदमित्यवबोध तत्प्रत्यक्षम्। सत्तामदुष्टेन्द्रियाणामिति। एतावता मरुमरीचिकाजलवत् [कायो जलभ्रमः] शुक्तौ रजतभ्रमश्च इन्द्रियार्थसंप्रयोगेऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं प्रमाणम्। आत्मा यदनुमीयते [यदनुमिमीते] स्वय तदनुमानमित्यर्थ। लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकम्। व्युत्पत्तिभेदाद्भेद'। उभयशब्दकथनं बालावबोधार्थम् ॥ ७३ ॥ शब्दमागमप्रमाणं शाश्वताद्वेदाज्जातम्, वेदानां च शाश्वतत्वम्, अपौरुषेयत्वादेव। यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यात् साम्यात् [साहार्यात्] अप्रसिद्धस्य वस्तुन साधनं तदुपमानं यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचर अप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरकं प्राह यथा गौर्गवयस्तथा। अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसंबन्धादध्याहार्यौ ॥ ७४ ॥ यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्य कल्पना संघटना विधीयते। दृष्ट. परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्योऽर्थ देवदत्ते पीनत्वादि तस्यानुपपत्त्याघटमानतया अन्यथानुपपन्नेत्यर्थ. यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते रात्राववश्यं भुङ्क्त इत्यर्थापत्ति प्रमाणम् ॥७५॥ यत्र वस्तुरूपेऽभावादौ पदार्थे पूर्वोक्तप्रमाणपञ्चकं न वर्तते तत्राभावप्रमाणता ज्ञेया। किमर्थम्। वस्त्वसत्ताव [स्तुसत्यव]बोधार्थम्, वस्तुनो भावस्वरूपस्य मुण्ड-भूतलादे सत्ता घटाद्यभाव [व]बद्भाव. तस्यावबोध. प्रामाणिकतयात(प)थावतरणं[तावतरण] तदर्थं तद्धेतो.। ननु अभावस्य कथ प्रामाण्यम्। प्रत्यक्षं तावद् भूतलमेवेद घटादि न भवतीति अन्वयद्वारेण [अन्वयव्यतिरेकेण द्वारेण] वस्तुपरिच्छेद, तदधिकमभावैकरूपं निराचष्टे। नैवं घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धे नास्तिताग्रहणा-न्तरे प्रामाण्यमेव भावस्य मानसोत्पन्नम् ॥ ७६ ॥ उपसंहरन्नाह। अपिशब्दात् केवलमपरदर्शनाना जैमिनी-

यमतस्यापि कथित । वक्तव्यस्य बाहुल्या[बहुल्या]द्ग्रन्थगौरवे सामस्त्येनानभियोगात् । एवमा[नियमा]स्तिक-वादिनाम् इह परलोकगतिपुण्यपापास्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपोत्कीर्तन कृतम् ॥ ७७ ॥ विशेषान्तरमाह । अन्ये आचार्या नैयायिकमतात् वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते । दर्शनाधिष्ठा-नैकदैवतत्वात् । पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां मतेनास्तिका आस्तिकवादिन पञ्चैव । दर्शनानां षट्संख्या कथ फलवतीत्याह ॥ ७८ ॥ तन्मते नैयायिकवैशेषिकाभेदमन्यमानाचार्यमते षड्दर्शनसंख्या लोकायितमत-क्षेपात् पूर्यते । तु पुनरर्थे । निगद्यमानमते । तेन कारणेन तन्मतं नास्तिकमतं उच्यते ॥ ७९ ॥ लोकायिता नास्तिका एवममुना प्रकारेण वदन्ति—देव सर्वज्ञादि निर्वृतिर्मोक्ष , धर्मश्च अधर्मश्च द्वन्द्व , पुण्यपापयो. फलं स्वर्गनरकादिकं च नास्ति । धर्माधर्माभावे तयोस्तु न फलम् ॥ ८० ॥ तन्मते लोकायि[य]तमते अयं लोक संसार. एतावन्मात्र एव यावन्मात्र इन्द्रियगोचर । इन्द्रियं स्पर्शनादिकम्, तस्य गोचरो विषय , पञ्चेन्द्रियव्यक्ती-कृतमेव वस्त्वस्ति नापरम् । लोकयात्रा लोकव्यवहारो ग्रह । अपरे पुण्यपापजन्या स्वर्गनरकादय । तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमपि चेन्मतम्, तदा शशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । दृष्टान्तमाह—यथा कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शनकुतूहला दयिता सकौतुकमाकलय्य प्रातः करेण भूम्या वृकपदाकारं विधाय मुग्धामवादीत्—भद्रे वृकपदं पश्य । तथा परवञ्चनप्रवणा मायाधार्मिका स्वर्गादिप्राप्तये तपश्चरणाद्युपदेशेन मुग्धजन प्रतारयन्ति ॥ ८१ ॥ परमार्थवेदिन इद वाक्यम्–यद्गीत यौवनादि तन्न ते । किन्तु जराजीर्णत्वादि भावि । हे भीरु, गतम् इह भवातिक्रान्त सुन्दयौवनादि परलोके न तौर ? भूताना समुदयो मेल [ज्ञ] तन्मा-त्रम्, केवल [कलेवर] भूतचतुष्टया[धिक]स्याभावान्न पूर्वभवादिसबन्ध शुभाशुभकर्मजन्या[न्य] ॥८२॥ पृथ्वी जलमिति, पृथ्वी भूमि , जलमाप , तेजो वह्नि , वायु पवन एतानि चत्वारि भूतानि एतेषामाधारोऽधि-करणभूमि भूतानि सभूय एक चैतन्य जनयन्ति । एतन्मते प्रमाणम्, प्रत्यक्षमेव एक प्रमाण न पुनरनुमानादि-कम् । हि शब्दोऽत्र विशेषार्थो वर्तते । विशेष पुनश्चार्वाकै लोकयात्रानिर्वाहणप्रवण धूमाद्यनुमानमिष्यते । क्वचन, न पुन' स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति । चैतन्यमाह । पूर्वार्धं सुगमम् । एतेषा चार्वाकाणा चेतनो-त्पत्तिकारण भूतचतुष्टयम् । चत्वार्यपि सभूय चैतन्यमुत्पादयन्ति । तु पुन । मति प्रमाणम् अक्षमेव ॥८३॥ ननु भूतचतुष्टयसयोगेऽपि[गे]कथ चैतन्योत्पत्तिरित्याह-पृथिव्यादिचतुर्भूताना महती मेले सति । तथेत्युपदर्शने । देहादि-सभव । आदिशब्दाद् भूधरादिपदार्था अपि । यथा येन प्रकारेण गुडाद्येभ्यो गुडघातक्यादिभ्यो मद्य[द]शक्ति-उन्मादकत्व भवति[तीति] तथा भूतचतुष्टयसबन्धाच्छरीर आत्मन स्थिता चे[सचे]तनता ॥८४॥ तस्मादिति पूर्वोक्तानुस्मरणपूर्वक दृष्टपरित्यागात् प्रत्यक्षसुखत्यागात् अदृष्टे [तपश्चरणादिकष्टे] प्रवृत्ति. । च समुच्चये । तल्लोकस्य विमूढत्व चार्वाका प्रतिपेदिरे । प्रतज्ञातत [तवन्त] ॥८५॥ साध्यस्य मनीषितस्य कस्यचिद्वस्तुनो वृत्ति प्राप्ति अनभीष्टस्य निवृत्तिरभाव ताभ्या जने या प्रीतिरुत्पद्यते सा तेषा चार्वाकाणा निरर्था । श्रेण्या [निरर्थका । शून्या] पूर्वभवार्जितपुण्यपापाभावात्[भ एव] । सा च प्रीतिराकाशरूपा शून्येत्यर्थ । धर्मस्य कामादन्यस्याभावात् ॥ ८६ ॥ एवं लोकायितमतसक्षेप कथित । एत षड्दर्शन[नोत्पन्न]विकल्पे सति अभिधेयतात्पर्यार्थ मुक्त्यङ्गतत्त्वसारार्थ [र्यतातत्त्वमारार्थ] चिन्तनीय बुद्धिमद्भि ॥ ८७ ॥

इति षड्दर्शनसमुच्चयावचूर्णि समाप्ता ॥ छ ॥ श्री ॥

परिशिष्टम् ३

कारिकानुक्रमणिका

परिशिष्टम् ४

उद्धृतवाक्यानुक्रमणिका



परिशिष्टम् ४

विशेष शब्द-सूची

[ह]



परिशिष्टम् ५

संकेत-विवरणम्

अनुयोग० : अनुयोगद्वारसूत्रम्, आगमोदय समिति, सूरत

अनेकान्तवादप्र० : अनेकान्तवादप्रवेशः, हेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली, पाटन

अनेकान्तजयप० : अनेकान्तजयपताका, प्र० द्वि० भाग, ओरियण्टल सीरिज, बडोदा

अमर० . अमरकोश, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

अयोगव्य० : अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका, रायचन्द्र-शास्त्रमाला, बम्बई

अष्टश०, अष्टसह० : अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गत), निर्णयसागर, बम्बई

अष्टसह० . अष्टसहस्री, निर्णयसागर, बम्बई

आप्तप० . आप्तपरीक्षा, वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली

आप्तमी० आप्तमीमांसा (अष्टसहस्र्यन्तर्गत), निर्णय-सागर, बम्बई

आ० मलय० · आवश्यकनिर्युक्तिः मलयगिरिटीका, देवचन्द्र लालभाई फण्ड, सूरत

ऋग्वेद पुरुषसू० सायणभा० ऋग्वेदः [पुरुषसूक्त सायणभाष्ययुक्त] वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

कालो० : काललोकप्रकाश , देवचन्द्र लालभाई फंड, सूरत

केवलिभु० : केवलिभुक्तिप्रकरणम्, जैनसाहित्य संशोधकपत्रे मुद्रितम्

क्षणभं० सि० · क्षणभङ्गसिद्धि:, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

गच्छा० वृ० गच्छाचारप्रकीर्णकवृत्ति., आगमोदय समिति, सूरत

गो० कर्म० गोम्मटसार कर्मकाण्ड, रायचन्द्र शास्त्र-माला, बम्बई

चरक सं० · चरक संहिता, निर्णयसागर, बम्बई

चतु:श० : चतुःशतकम्, विश्वभारती शान्तिनिकेतन

चित्सु० · तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

जैनतर्कभा० : जैनतर्कभाषा, सिंघी जैन सीरिज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

जैनतर्कवा० : जैनतर्कवार्तिकम्, सिंघी जैन सीरिज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

त० वा० : तत्त्वार्थवार्तिकम्, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

त० सू० : तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धयन्तर्गत)

त० सू० भा० : (तत्त्वार्थाधिगम) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य, देवचन्द्र लालभाई फंड, सूरत

त० श्लोक० : तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

तत्त्वसं० : तत्त्वसंग्रह, ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा

तत्त्वसं० प० तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, ओरियण्टल सीरीज, बडौदा

तत्त्वोप० : तत्त्वोपप्लवसिंह, ओरियण्टल सीरिज, बडौदा

तन्त्ररह० . तन्त्ररहस्यम्, ओरियण्टल सीरिज, बडौदा

तन्त्रवा० : तन्त्रवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

ति० प० तिलोयपण्णत्ती, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर

तैत्ति० · तैत्तिरीयसंहिता, निर्णयसागर, बम्बई

द्रव्यसं० . द्रव्यसंग्रह , रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई

धवला० धवला टीका, जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती

धर्मसं० · धर्मसंग्रहिणीवृत्ति , आगमोदय समिति, सूरत

नन्दि० मलय० · नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका, आगमोदय समिति, सूरत

नयवि० : नयविवेक, मद्रास यूनिवर्सिटी सीरिज, मद्रास
न्यायकलि० : न्यायकलिका, सरस्वती भवन, काशी
न्यायकुसु० : न्यायकुसुमाञ्जलि, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायकुमु० . न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
न्यायदी० : न्यायदीपिका, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली
न्यायमं० . न्यायमञ्जरी, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायम० प्रमे० : न्यायमञ्जरीप्रमेयप्रकरणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायम० प्रमाण० : न्यायमञ्जरी प्रमाणप्रकरणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायमुक्ता० दिन० : न्यायमुक्तावली दिनकरी, निर्णयसागर, बम्बई
न्यायली० : न्यायलीलावती, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायवा० . न्यायवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायवा० ता० टी० . न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायसार न्यायसार, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
न्यायावता० . न्यायावतार, सिंघी जैन सीरिज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
न्यायभा० न्यायभाष्यम्, गुजराती प्रेस, बम्बई
न्यायवा० ता० टी० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायवि० वि० . न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायबि० न्यायबिन्दु, जायसवाल सीरिज, पटना
न्यायबि० टी० : न्यायबिन्दुटीका, जायसवाल सीरिज, पटना
न्यायसू० न्यायसूत्रम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
न्यायभा० ता० टी० . न्यायभाष्य, गुजराती प्रेस, बम्बई
प्रभाकरवि० प्रभाकर विजय, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी संस्था, कलकत्ता
प्रकरणप० : प्रकरणपंजिका, चौखम्बा सीरिज, वाराणसी
प्रज्ञा० मलय० प्रज्ञापनासूत्रमलयगिरिटीका, आगमोदय समिति, सूरत
प्र० वार्तिकाल० प्रमाणवार्तिकालंकार, जायसवाल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पटना
प्र० वा० स्ववृ० टी० : प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, किताब महल, इलाहाबाद
प्रमाणवा० : प्रमाणवार्तिकम्, बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना
प्रमाणसमु० : प्रमाणसमुच्चय, जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना
प्रमाणप० : प्रमाणपरीक्षा, जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता
प्रमाणमी० : प्रमाणमीमांसा, भारतीय विद्याभवन, काशी
प्रमाणसं० प्रमाणसंग्रह, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
प्रमेयक० प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर, बम्बई
प्रमेयरत्नमा० . प्रमेयरत्नमाला, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, काशी
प्रव० टी० प्रवचनसारटीका (जयसेनीया) रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई
प्रश० भा०, कन्द० : प्रशस्तपादभाष्यकन्दलीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
प्रश० किर० : प्रशस्तपादभाष्यकिरणावलीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
प्रश० भा०, व्यो० . प्रशस्तपादभाष्य व्योमवतीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
पात० महाभा० . पातञ्जलमहाभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
बृहत्कल्प० मलय० . बृहत्कल्पभाष्यम्, आत्मानन्द सभा, भावनगर
बृ० सर्वज्ञसि० : बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (लघीयस्त्रयादिसंग्रहान्तर्गत), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
बृहदा० . बृहदारण्यकोपनिषत्, निर्णयसागर, बम्बई

ब्रह्मसू० शां० भा० . ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, निर्णयसागर, बम्बई

ब्रह्मसू० शां० भा० रत्नप्रभा : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, निर्णयसागर, बम्बई

बोधिचर्या० पं० पृ० बोधिचर्यावतारः, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

भग० भगवतीसूत्रम्, आगमोदय समिति, सूरत

भगवद्गी० : भगवद्गीता, आनन्दाश्रम, पूना

मनु० : मनुस्मृति, निर्णयसागर, बम्बई

महाभा० : महाभारतम्, निर्णयसागर, बम्बई

माध्यमिक० वृ० माध्यमिकवृत्ति, बिब्लोथिका बुद्धिका, रशिया

मी० श्लो० मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मी० श्लो० उपमान० मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० : मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

मुण्डक० मुण्डकोपनिषत्, निर्णयसागर, बम्बई

मूलाचा० . मूलाचार, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

मैत्रा० मैत्रायण्युपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई

यश० यशस्तिलकम्, निर्णयसागर, बम्बई

युक्त्यनुशा० : युक्त्यनुशासन, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई

योगद० व्यासभा० योगदर्शनव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगभा० योगदर्शनव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगभा० तत्त्ववैशा० . योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी

योगद० व्यासभा० योगदर्शनव्यासभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

[illegible] माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला, बम्बई

रत्नाकराव० : रत्नाकरावतारिका, यशोविजय ग्रन्थ-माला, भावनगर

राजवा० : राजवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

वादन्याय . वादन्यायः, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ

विधिवि० : विधिविवेक, लाजरस प्रेस, काशी

विधिवि० न्यायकणि० : विधिविवेक टीका न्याय-कणिका, लाजरस प्रेस, काशी

विवरणप्र० · विवरणप्रमेयसंग्रह, विजयानगरम् सीरिज, काशी

विशेषा० : विशेषावश्यकभाष्यम्, यशोविजय ग्रन्थ-माला, काशी

विसुद्धि० : विसुद्धिमग्गो, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

वैशे० सू० . वैशेषिकसूत्रम्, चौखम्बा सीरिज, काशी

वैशे० उप० : वैशेषिकसूत्रस्य उपस्कार, चौखम्बा सीरिज, काशी

व्या० प्र० . व्याख्याप्रज्ञप्ति, आगमोदय समिति, सूरत

शाबरभा० · शाबरभाष्यम्, आनन्दाश्रम, पूना

शास्त्रदी० . शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर, बम्बई

शास्त्रवा० यशो० · शास्त्रवार्तासमुच्चय, देवचन्द्र लालभाई, सूरत

शास्त्रवा० श्लो० : शास्त्रवार्तासमुच्चय, देवचन्द्र लालभाई, सूरत

श्वेता० : श्वेताश्वतरोपनिषद्, निर्णयसागर, बम्बई

षड्० बृह० · षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति', आत्मानन्द सभा, भावनगर

षट्प्रा० टी० : षट्प्राभृतटीका, माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला, बम्बई

सप्तभंगीत० : सप्तभंगितरंगिणी, रायचन्द्र शास्त्र-माला, बम्बई

सर्वद० : सर्वदर्शन, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना

सर्वद० . सर्वदर्शनसंग्रह., भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना

सर्ववेदान्तसि० : सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह. (प्रकरण-संग्रहान्तर्गत), ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना

सर्वार्थसि० . सर्वार्थसिद्धि , भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सन्मति० टी० · सन्मतितर्कटीका, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
संक्षेपशा० टी० : संक्षेपशारीरकटीका, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्यका० . सांख्यकारिका, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्यप्र० भा० : सांख्यप्रवचनभाष्यम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्य० माठर० : सांख्यकारिका माठरवृत्ति, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्यतत्त्व कौ० · सांख्यतत्त्वकौमुदी, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्यसं० : सांख्यसंग्रह, चौखम्बा सीरिज, काशी
सांख्यसू० वि० · सांख्यसूत्रविवरणम्, चौखम्बा सीरिज, काशी
सिद्धिवि० टी० : सिद्धिविनिश्चयटीका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सौन्दर० सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्, पंजाब यूनिवर्सिटी सीरिज, काशी
स्था० · स्थानाङ्गसूत्रम् आगमोदय समिति, सूरत
सूत्र० · सूत्रकृतांग, आगमोदय समिति, सूरत
स्त्रीमु० : स्त्रीमुक्तिप्रकरणम्, जैनसाहित्य संशोधक मुद्रित, अहमदाबाद
स्या० मं० : स्याद्वादमञ्जरी, रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई
स्या० र० . स्याद्वादरत्नाकर., आर्हत्प्रभाकर कार्यालय, पूना
हेतुवि० . हेतुबिन्दुटीका, ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा
हैम० · हैमकोश , भावनगर, काशी

and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 6. Super Royal pp 16 + 140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs 3.50 P.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism Prākrit Text, Sanskrit Chāyā Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No 1. Super Royal pp 10 + 162 + 244. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1950. Price Rs. 8/-

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Jñānapītha Mūrtidevī Pāli Granthamālā No 1, Vol. 1. Super Royal pp 16 + 384. Bhāratīya Jñanapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or **Thirukkural :**

An ancient Tamil Poem of Thevar It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by Prof. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp 8 + 36 + 440. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1951. Price Rs. 5/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D) is an outstanding scholar, poet and teacher, and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindi Translation, Introduction, Verse Index etc by Pt PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos 8, 9 and 14. Super Royal. Second edition, Vol. I. pp 8 + 68 + 746, Vol. II : pp. 8 + 556, Vol. III. pp 24 + 708, Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs [illegible]

Vasunandi Śrāvakācāra :

[illegible] Vasunandi (c. Samvat first half of 12th century) in 546 gāthās [illegible]

Harivamsa Purana :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛsna and Pāndavas The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp, 12+16+812+160. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1962 Price Rs. 16/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommatasāra Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Tīkā of Pandita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśesārtha Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp 32+160. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964 Price Rs 6/-

Upāskādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapītha Mūrtīdevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Granth No 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratīya Jñānapītha, Kashi 1964. Price Rs. 12/-.

Bhojcaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja, by Rājavallabha (15th century A D) Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt Director General of Archaeology in India and S. SANKARNARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No 29 Super Royal pp 24 + 192. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964 Price Rs 8/-

Satyaśāsana-parīkṣā :